चौखम्बा संस्कृत सीरीज ११२

लक्ष्मीतन्त्रम्

'सुधा'-हिन्दीव्याख्योपेतम्

सम्पादक एवं व्याख्याकार
डॉ० सुधाकर मालवीयः

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
वाराणसी

लेखक के विषय में-

डॉ० सुधाकर मालवीय का जन्म (१९४४ ई०) कड़ा, शैनी, इलाहाबाद में हुआ है। आपके पिता स्व० प्रो० पं० रामकुबेर मालवीय (भूतपूर्व साहित्य विभागाध्यक्ष, का० हि० वि० वि० और वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय) थे जो आपके आद्यगुरु भी हैं। आपने काशी हिन्दु विश्वविद्यालय से एम.ए. संस्कृत विश्वविद्यालय से साहित्याचार्य की उपाधि प्राप्त की।

वैदिक कृतियाँ-१. ऐतरेयब्राह्मणम् सायणभाष्य एवं हिन्दी सहित,(उ० प्र० संस्कृत अकादमी द्वारा पुरस्कृत), २. पारस्करगृह्यसूत्रम, हरिहरगदाधरभाष्य एवं हिन्दी सहित, ३. ऋग्वेद प्रथमाष्टक, संस्कृत-हिन्दी सहित, (पुरस्कृत)४. गोभिलगृह्यसूत्रम्, संस्कृत-हिन्दी सहित (पुरस्कृत)।

साहित्य कृतियाँ-१. कर्णभार, (पुरस्कृत), २. स्वप्नवासवदत्तम्, ३.मध्यमव्यायोग, ४. दूतवाक्य, ५. यज्ञफलम् ६. दशरूपकम्, धनिककृत अवलोक एवं हिन्दी सहित (पुरस्कृत), ७. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ८.पञ्चतन्त्रम्, संस्कृत-हिन्दी सहित, ९. अमरकोश (प्रथम काण्ड) हिन्दी सहित, १०. उदारराघवम्, कल्याणमल्लकृत, ११. नाट्यशास्त्रम्, टिप्पणी एवं श्लोकार्धानुक्रमणी सहित, १२. कुमारसम्भवम्,मल्लिनाथ कृत संजीवनी एवं हिन्दी टीका सहित १३. किरातार्जुनीयम्, मल्लिनाथ कृत घण्टापथ एवं हिन्दी टीका सहित।

तान्त्रिक कृतियाँ-१. क्रमदीपिका, केशव काश्मीरककृत, गोविन्दकृत संस्कृत टीका एवं हिन्दी सहित, (पुरस्कृत) २. माहेश्वरतन्त्रम्, हिन्दी सहित, ३. मन्त्रमहोदधि 'नौका'-संस्कृत एवं हिन्दी सहित, ४. शारदातिलकतन्त्रम्, राघवभट्ट कृत संस्कृत एवं हिन्दी टीका सहित, ४. रुद्रयामलम् (उत्तरतन्त्रम्), हिन्दी व्याख्या सहित (पुरस्कृत), ५. कर्पूरस्तव, महाकालकृत, संस्कृत एवं हिन्दी सहित। ६. लक्ष्मीतन्त्रम्, हिन्दी-विमर्श सहित।

निबन्ध रचनाएँ - १. Different Enterpretations of the Rgvedic Mantra "चत्वारी शृङ्गाः" और २. "हंसः शुचिषत्" मन्त्र की विभिन्न व्याख्याएँ हैं।

चौखम्बा संस्कृत सीरीज
११३

पाञ्चरात्रागमान्तर्गतं

लक्ष्मीतन्त्रम्

'सुधा'-हिन्दीव्याख्योपेतम्

सम्पादकः व्याख्याकारश्च

डॉ० सुधाकर मालवीयः

एम. ए., पीएच.डी., साहित्याचार्य,
संस्कृतविभागः, कलासंकायः
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
वाराणसी

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES
113

LAKṢAMĪTANTRAM

(A PĀÑCARĀTRA ĀGAMA)
With '**Sudha**'-Hindi Commentary

Edited & Translated by

Dr. SUDHAKAR MALAVIYA

M.A., Ph.D., Sahityacarya
Department of Sanskrit, Arts Faculty
Banaras Hindu University
Varanasi – 5

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
VARANASI – 221001

लक्ष्मीनारायण
को
समर्पित श्रद्धा-सुमन

एको नारायणः श्रीमाननादिः पुष्करेक्षणः ।
ज्ञानैश्वर्यमहाशक्तिवीर्यतेजोमहोदधिः ॥
आत्मा स सर्वभूतानां हंसो नारायणो वशी ।
तस्य सामर्थ्यरूपाहमेका तद्धर्मधर्मिणी ॥
साहं सृष्ट्यादिकान् भावान् विदधाना पुनः पुनः ।
आराधिता सती सर्वांस्तारयामि भवार्णवात् ॥

(लक्ष्मीतन्त्र २८।३-५)

श्रीमान् अनादि पुष्करेक्षण एक नारायण ही ज्ञान, ऐश्वर्य, महाशक्ति वीर्य और तेज के महासमुद्र हैं । वे हंस नारायण और वशी हैं । समस्त प्राणियों की आत्मा हैं । उनकी सामर्थ्य स्वरूपा मैं अकेली तद्धर्मधर्मिणी हूँ । उस प्रकार के स्वभाव वाली मैं बारम्बार सृष्ट्यादि कार्यों को करती हुई भी आराधना करने पर सभी को इस संसार सागर से तार देती हूँ।

प्राक्कथन

असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्माऽमृतं गमय ॥—उप०

'हम असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमरत्व की ओर जायँ' । यह तभी सम्भव है जब हम शक्ति की उपासना के द्वारा जगदम्बा के समीप पहुँच जायँ और हम चिन्तन करें कि भगवती महामाया की ज्योति ही सारे संसार में व्याप्त हैं । वस्तुत: परा और अपरा शक्ति से ही विश्व का निर्माण हुआ है । अत: मानव शक्ति की आराधना तथा शक्ति संचय की चेष्टा अनादिकाल से करता आ रहा है । शक्तिहीन मानव अथवा देवता का जीवन व्यर्थ है । परब्रह्म परमेश्वर भी आदिशक्ति महामाया की सहायता से ही सृष्टि का संचालन, पालन और संहार करते आ रहे हैं ।

श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और पाञ्चरात्र आगम के अनुसार परमात्मा की तीन शक्तियाँ हैं—श्रीदेवी, भूदेवी और नीला देवी । ये तीनों देवियाँ शील, शक्ति और सौन्दर्य की प्रतीक हैं । ऋग्वेद के दशम मण्डल एवं शुक्ल यजुर्वेद में **पुरुष सूक्त, श्रीसूक्त, भूसूक्त तथा नीलासूक्त** आए हैं । उपनिषदों के अनुसार **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** कहा गया है । ब्रह्म में सत्यता (= अस्तित्व), ज्ञान (= चैतन्य) और अनन्तता (= नि:सीमता) है । ब्रह्म में ज्ञातृत्व और अनुभूति है किन्तु क्रियाशक्ति नहीं है । भगवत्तत्व के अन्तर्गत जो श्रीतत्त्व, शक्तितत्त्व और महामाया तत्त्व है, वे ही सर्वत्र क्रियाशक्ति प्रदान करते हैं । परमात्मा यदि जगत्पितां है तो भूदेवी (= आद्या प्रकृति अथवा महामाया) भी जगन्माता है ।

मानव सृष्टि का शृङ्गार है । उसके अन्तस्तल में महामाया की एक ज्योति जल रही है, जो उसे निम्न स्तर से ऊपर उठकर सत्कर्म करने की ओर प्रेरित करती रहती है और जीवन यात्रा में उसका पथ प्रदर्शन करती है । भवसागर के मोहजनित अनन्त धूलिकणों से आच्छादित वातावरण में यह ज्योति क्षीण एवं मटमैली हो जती है । शक्ति की उपासना से यह ज्योति और भी

जाज्वल्यमान हो जाती है । यदि शक्ति की उपासना अथवा तन्त्र या योग के माध्यम से इन अन्तर्निहित शक्तियों को जागृत किया जाय तो मनुष्य देवत्व में परिणत हो जायेगा । इडा और पिङ्गला नाड़ियों के बीच में स्थित सुषुम्ना नाड़ी में जो षट्चक्र है उनका भेदन कर शतदल कमल में होकर यदि जीव सहस्रदल-कमल (बृहत् मस्तिष्क) में प्रविष्ट हो जाय तो हृदय (कमल) की विषय वासना जन्य लौकिक गाँठ स्वत: खुल जायेगी और मनुष्य सर्वज्ञ तथा शक्तिशाली बन जायेगा ।

शक्ति की उपासना में हमें अपनी इच्छाओं और प्रवृत्तियों का सर्वथा दमन नहीं करना पड़ता है । केवल उन्हें परिमार्जित करना पड़ता है । अत: शक्ति की उपासना प्रवृत्तिमार्गीय साधना है । इस साधना में हमारी प्रवृत्तियाँ दूषित और कलुषित न हों—इसका विशेष ध्यान रखना पड़ता है । इस साधना में केवल वैराग्य की शुष्कता ही नहीं है, सौंदर्य और माधुर्य भी है तथा रस और मधु भी है । भगवती की विधिवत् आराधना से जीवन का चरम उत्कर्ष उपलब्ध होता है । इस विधिवत् आराधना की प्रक्रिया ही पाञ्चरात्र आगमगत लक्ष्मीतन्त्र में प्रस्तुत है ।

महालक्ष्मी को देवियों में सबसे प्रधान माना जाता है । देव्यथर्वशीर्ष उपनिषद् में **'महालक्ष्म्यै च विद्महे सर्वशक्त्यै च धीमहि । तन्नो देवी प्रचोदयात्'** कहा गया है और देवी आराधना का प्रधान ग्रन्थ **'दुर्गा-सप्तशती'** भी **'सर्वस्याद्या महालक्ष्मी'** आदि नामों में इन्हीं को मूल प्रकृति मानता है । सम्पूर्ण जगत् में भगवान् विष्णु की शक्ति व्याप्त है—

एतत् सर्वमिदं विश्वं जगदेतच्चराचरम् ।
परब्रह्मस्वरूपस्य विष्णोः शक्तिसमन्वितम् ॥

(विष्णुपुराण ६.७.६०)

यह सम्पूर्ण चराचर जगत् परब्रह्म स्वरूप भगवान् विष्णु का उनकी शक्ति से सम्पन्न 'विश्व' नामक रूप है । समष्टि शक्ति भगवान् विष्णु की शक्ति है । वह महालक्ष्मी हैं—

अवष्टम्भो गदापाणिः शक्तिर्लक्ष्मीर्द्विजोत्तमा ।

भगवान् की शक्ति भगवत्स्वरूपा हैं । श्रीदेवी भगवान् विष्णु से कभी पृथक् नहीं होती । वाणी और अर्थ, नियम एवं नीति, बुद्धि और बोध, धर्म और सत्क्रिया की भाँति भगवान् श्रीहरि भगवती देवी से सदैव संयुक्त रहते हैं—

अर्थोविष्णुरियं वाणी नीतिरेषा नयो हरिः ।
बोधो विष्णुरियं बुद्धि धर्मोऽसौ सत्क्रिया त्वियम् ॥

(वि.पु. १.८.१८)

पाञ्चरात्रागमान्तर्गत लक्ष्मीतन्त्र में भी यही कहा गया है—

लक्ष्म्या सह हृषीकेशो देव्या कारणरूपया ।
रक्षकः सर्वसिद्धान्ते वेदान्तेऽपि च गीयते ॥ १ ॥

लक्ष्मीतन्त्र २४.२८

लक्ष्मीतन्त्र का प्रस्तुत संस्करण इदंप्रथमतया कृत हिन्दी व्याख्या एवं विमर्श के सहित प्रस्तुत है । इस ग्रन्थ का मूल आड्यार संस्करण पर ही आधृत है। सुधा हिन्दी व्याख्या एवं विमर्श में पूर्णरूप से आड्यार संस्करण से सहायता ली गई है । इसके लिए मैं उन विद्वानों का हृदय से आभारी हूँ । प्रस्तुत संस्करण में नव पद्म का चित्र आदि प्रस्तुत है जिसमें संयुक्ता गुप्ता के अंग्रेजी व्याख्यान के पुनर्मुद्रित संस्करण से सहायता ली गई है । मैं इन विदुषी का अत्यन्त आभारी हूँ ।

तन्त्र एवं आगमशास्त्र के इस अनुपम ग्रन्थ की हिन्दी व्याख्या एवं सम्पादन करके मैं अपने आपको अत्यन्त भाग्यशाली मानता हूँ, क्योंकि पाञ्चरात्र शास्त्र के मनन एवं संयोजन में समय का सदुपयोग हुआ । इस ग्रन्थ में जो कुछ भी मेरी गति हो सकी है या मैं इसे कुछ समझ सका हूँ, इसमें मेरे पूज्य गुरुवर्य पं० हीरामणि मिश्र का ही कृपाप्रसाद है । तन्त्र एवं आगमशास्त्र में मुझे गति प्रदान करने वाले उन गुरुवर्य के चरणों में मेरा शतशः नमन है ।

पाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र आगम शास्त्र का अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ जो इस रूप में आज विद्वानों के समक्ष प्रकाशित होकर आ सका है उसके लिए मैं चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस के पूर्व संचालक स्व० श्रीबिट्ठलदासजी गुप्त का अत्यन्त अनुगृहीत हूँ । उन्होंने ही इस ग्रन्थ के हिन्दी व्याख्यान के लिए मुझे प्रेरित किया था । सम्प्रति चौखम्बा कृष्णदास अकादमी के संचालक द्वय श्री ब्रजमोहनदास गुप्त एवं श्री कमलेश कुमार गुप्त को अत्यन्त धन्यवाद है जो यह ग्रन्थ इस साज सज्जा के साथ विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत है । १९९२ ई० में सौ वर्ष पूर्ण करने वाली इस संस्था के भविष्य को सुरक्षित रखने वाली चौथी एवं पाँचवीं पीढ़ी में प्राप्त चि० सचिन कुमार गुप्त एवं

श्रीकौशिक गुप्त को आशीर्वाद है और भगवान् से प्रार्थना है कि अपने पूर्वजों के द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर इसी प्रकार अनवरत सरस्वती की सेवा करते रहें। मैं अपने सहयोगी सम्पादक श्रीचक्रपाणी भट्ट को उनके प्रूफ-संशोधन के सहयोग के लिए धन्यवाद प्रकाश करना नहीं भूल सकता। मेरे चिरञ्जीव श्रीरामरञ्जन एवं श्रीचित्तरञ्जन ने कम्प्यूटर कार्य तथा ग्रन्थ सम्पादन में मेरी अत्यन्त सहायता की है। इनकी माता का नैतिक एवं आध्यात्मिक सहयोग सदैव बना रहा। भगवान् विष्णु एवं भगवती महालक्ष्मी इनका निरन्तर अभ्युदय करें एवं सदैव प्रसन्न रखें। अन्ततः लक्ष्मीनारायण से प्रार्थना है कि इस ग्रन्थ से मानवमात्र का अजस्र कल्याण हो।

नरसिंहो महादेवो महादेवार्तिनाशनः।
मुदे परो महालक्ष्म्या देवावर नतोऽस्तु मे॥

समस्त देवगणों की विपत्ति को दूर करने वाले देवगणों से वन्दित महालक्ष्मी सहित नृसिंह देव हमें निरन्तर हर्ष प्रदान करते रहें।

विद्वद्वशंवदः

सुधाकर मालवीयः
बी. ३१/२१ ए, लंका
वाराणसी—२२१००५

दीपावली
२५.१०.२००३
कार्त्तिक कृष्ण त्रयोदशी
वि०सं० २०६०
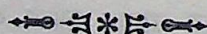
भूमिका

नृसिंह उत्सङ्गसमुद्रजायां समुद्रजद्वीपगृहे निषण्णः ।
समुद्रजोहीनमतिः सदाव्यात् समुद्रभक्ताखिलसिद्धिदायी॥

क्षीरसागर के मध्य में स्थित श्वेतद्वीप के मण्डप में अपनी गोद में स्थित लक्ष्मी के साथ विराजमान प्रसन्नता से पूर्ण भगवान् नृसिंह मेरी सदैव रक्षा करें जो अञ्जलि आदि मुद्राओं से पूजा करने वाले अपने भक्तों को समस्त सिद्धियाँ प्रदान करते हैं वह भगवान् नृसिंह मुझे रजोगुणरहित सद्बुद्धि दें ।

पाञ्चरात्रागम

पाञ्चरात्रशास्त्र का अध्यापन पाँच दिन एवं रात्रियों में पूर्ण होने के कारण 'पाञ्चरात्र' शास्त्र नाम पड़ा । जैसा कि ईश्वरसंहिता में वचन है—

पञ्चायुधांशास्ते पञ्च शाण्डिल्यश्चौपगायनः ।
मौञ्जायनः कौशिकश्च भारद्वाजश्च योगिनः ॥
.....पञ्चापि पृथगेकैकदिवारात्रं जगत्प्रभुः ।
अध्यापयामास यतस्तदेतन्मुनिपुङ्गवाः ।
शास्त्रं सर्वजनैर्लोके पञ्चरात्रमितीर्यते ॥

(ईश्वरसंहिता २१.५१९-५३३)

मार्कण्डेयसंहिता में भी ऐसा ही कहा है—

सार्धकोटिप्रमाणेन कथितं तस्य विष्णुना ।
रात्रिभिः पञ्चभिः सर्वं पञ्चरात्रमतः स्मृतम् ॥ (पृ०४)

पञ्चकाल प्रक्रिया प्रतिपादित होने से इस शास्त्र का नाम पाञ्चरात्र पड़ा है । दोनों ही पक्ष में रात्रि शब्द का अर्थ अहोरात्र ही है । यह पक्ष आचार्य की सूक्ति में प्रतिपादित है—

पञ्चकालव्यवस्थित्यै वेङ्कटेशविपश्चिता ।

श्रीपाञ्चरात्रसिद्धान्तव्यवस्थेयं समर्थिता ॥

(पाञ्चरात्ररक्षा, पृ० ४४)

भारद्वाजसंहिता में भी ऐसा ही कहा है—

प्रथमं ब्रह्मरात्रं तु द्वितीयं शिवरात्रकम् ।
तृतीयमिन्द्ररात्रं तु चतुर्थं नागरात्रकम् ॥
पञ्चममृषिरात्रं तु पञ्चरात्रमिति स्मृतम् ।
एवं जातमृषिश्रेष्ठ पञ्चरात्रं पुरा युगे ॥

(भारद्वाजसंहिता २.१२.१३)

सनत्कुमारसंहिता में 'नागरात्र' का उल्लेख नहीं है ।

पाञ्चरात्र शास्त्र-विभाग—लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार पाञ्चरात्र शास्त्र के तीन विभाग है—१. दिव्य पाञ्चरात्र, २. मुनिभाषित पाञ्चरात्र और ३. मानुष पाञ्चरात्र ।

पाञ्चरात्र शास्त्र के तीन ग्रन्थ सात्त्वतसंहिता, पौष्करसंहिता एवं जयाख्य-संहिता इनमें से **दिव्य पाञ्चरात्र** के अन्तर्गत आते हैं क्योंकि भगवान् नारायण के द्वारा साक्षात् रूप से यह प्रतिपादित है । इनसे अन्य ब्रह्मादि के द्वारा प्रतिपादित होने से ईश्वरसंहिता, पारमेश्वरसंहिता एवं भारद्वाज आदि संहिता **मुनिभाषित पाञ्चरात्र** हैं । पाञ्चरात्रशास्त्र से अन्य ग्रन्थ आप्त मनुष्यों द्वारा कहे जाने के कारण **मानुष पाञ्चरात्र** के अन्तर्गत आते हैं । ये तीनों ही पाञ्चरात्रशास्त्र, दिव्यशास्त्र तथा सिद्धान्त पाञ्चरात्र शास्त्र के नाम से पुकारे जाते हैं । जैसा कि लक्ष्मीतन्त्र में कहा है—

दिव्यशास्त्राव्यधीयीत निगमांश्चैव वैदिकान् ।
सर्वाननुचरेत्सम्यक् सिद्धान्तानात्मसिद्धये ॥

(लक्ष्मीतन्त्र २८.२९)

दिव्य शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए । वैदिक निगमों का स्वाध्याय करना चाहिए और आत्मसिद्धि के लिये मन्त्र आगमादि सिद्धान्तों का स्वाध्याय करना चाहिए ।

आराधना के समय भगवान् वासुदेव एवं सङ्कर्षण आदि व्यूह के भेद से पुनः मन्त्र, आगम, तन्त्र एवं तन्त्रान्तर ये चार भेद पाञ्चरात्र के माने जाते हैं ।

पाञ्चरात्र आगम में भगवत्, सात्वत, एकान्तिक और परम ऐकान्तिक इन

चार शब्दों का व्यवहार होता है । इनमें से भागवत् शब्द का अर्थ महाभारत में इस प्रकार है—

द्वादशाक्षरतत्त्वज्ञश्चतुर्व्यूहविभागवित् ।
अच्छिद्रपञ्चकालज्ञः स वै भागवतः स्मृतः ।।

(महाभा०, आश्वमेधिक पर्व ११८.३३)

द्वादशाक्षर मन्त्र—ॐ नमो भगवते वासुदेवाय के तत्त्व को जानने वाला, वासुदेव, सङ्कर्षण आदि चतुर्व्यूह के विभाग तथा पञ्चकाल का तत्त्वज्ञ साधक भागवत् शब्द से व्यवहृत होता है ।

सत् शब्द से वासुदेव परब्रह्म को कहा जाता है । उन परब्रह्म वासुदेव से युक्त साधक को सात्वत शब्द से अभिहित किया जाता है । वस्तुतः पाञ्चरात्र-शास्त्र में षाड्गुण्य तथा चातुर्व्यूह आदि स्वार्थिक तद्धितान्त शब्दों का प्रयोग बहुशः प्राप्त होता है । उसी प्रकार सत्वन्त इस अर्थ में सात्त्वत (= वासुदेवा-राधक) शब्द का प्रयोग है । इन्हीं प्रयोगों को देखकर ही भगवान् पतञ्जलि ने महाभाष्य में **'प्रियतद्धिताः दक्षिणात्याः'** (महाभाष्य १.१.१) में कहा है ।

वासुदेव में ही एक मात्र भक्ति होने से एकान्तिक शब्द का व्यवहार होता है । इन्हीं को परम ऐकान्तिक भी कहा जाता है ।

पाञ्चरात्रशास्त्र में पादविभाग—

इस शास्त्र के ग्रन्थ 'संहिता' 'उपनिषद्' या 'तन्त्र' शब्द से व्यवहित होते हैं । उनमें **पाद्मसंहिता** आदि में ज्ञान, योग, क्रिया एवं चर्या-इन चारों पादों का प्रतिपादन मिलता है । संक्षिप्त रूप से इन्हीं चार विषयों का प्रतिपादन पाञ्चरात्र आगम ग्रन्थों में प्राप्त होता है । **ज्ञानपाद** में वासुदेव आदि चतुर्व्यूह एवं व्यूहान्तर के स्वरूप एवं उनकी महिमा के संबन्ध में विचार किया गया है। **योगपाद** में उनकी उपासना का प्रकार वर्णित है । **क्रियापाद** में उनके अर्चा विग्रह एवं मन्दिर निर्माण का विवेचन है । **चर्यापाद** में उनकी आराधना की विधि बताई गई है ।

पाञ्चरात्रसंहिताएँ—

पाद्म, मार्कण्डेय, कपिञ्जल, भारद्वाज एवं हयशीर्ष संहिता तथा विष्णु तन्त्र आदि में बहुधा इस शास्त्र की संहिताओं का नाम और उनके भेद आए हैं जिनका आकारादि क्रम से संग्रह इस प्रकार है—

१ अगस्त्यसंहिता
२ अङ्गिरःसंहिता
३ अच्युतसंहिता
४ अत्रिसंहिता
५ अधोक्षजसंहिता
६ अनन्तसंहिता
७ अनिरुद्धसंहिता
८ अम्बरसंहिता
९ अरुणसंहिता
१० अहिर्बुध्न्यसंहिता
११ आग्नेयसंहिता
१२ आनन्दसंहिता
१३ ईश्वरसंहिता
१४ उत्तरगार्ग्यम्
१५ उपेन्द्रसंहिता
१६ उमासंहिता
१७ उमामहेश्वरसंहिता
१८ उशनःसंहिता
१९ ऐन्द्रसंहिता
२० औपगायनसंहिता
२१ कण्वसंहिता
२२ कपिञ्जलसंहिता
२३ कपिलसंहिता
२४ कात्यायनसंहिता
२५ कामतन्त्रम्
२६ कालिकातन्त्रम्
२७ काश्यपसंहिता
२८ कुबेरतन्त्रम्
२९ कुमारतन्त्रम्
३० कूर्मतन्त्रम्
३१ कृष्णसंहिता
३२ केशवतन्त्रम्
३३ क्रतुतन्त्रम्
३४ गजेन्द्रसंहिता
३५ गणेशसंहिता
३६ गरुडध्वजसंहिता
३७ गरुडसंहिता
३८ गान्धर्वतन्त्रम्
३९ गार्ग्यसंहिता
४० गालवसंहिता
४१ गोविन्दसंहिता
४२ गौतमीयतन्त्रम्
४३ चतुर्मूर्तिसंहिता
४४ जनार्दनसंहिता
४५ जयाख्यसंहिता
४६ जयोत्तरसंहिता
४७ जाबालसंहिता
४८ जामदग्न्यसंहिता
४९ जैमिनीयसंहिता
५० ज्ञानार्णवसंहिता
५१ तत्त्वसागरसंहिता
५२ तार्क्ष्यसंहिता
५३ त्रिपुष्करसंहिता
५४ त्रिविक्रमसंहिता
५५ त्रैलोक्यमोहनतन्त्रम्
५६ त्रैलोक्यविजयसंहिता
५७ दक्षसंहिता
५८ दत्तात्रेयसंहिता
५९ दधीचिसंहिता
६० दामोदरसंहिता
६१ दुर्गातन्त्रम्
६२ दुर्वासःसंहिता
६३ देवलसंहिता
६४ धनंजयसंहिता
६५ ध्रुवतन्त्रम्
६६ नलकूबरसंहिता
६७ नारदीयसंहिता
६८ नारदोत्तरसंहिता
६९ नारसिंहसंहिता
७० नारायणतन्त्रम्
७१ नैर्ऋततन्त्रम्
७२ पञ्चतत्त्वसंहिता
७३ पञ्चप्रश्नसंहिता
७४ पद्मनाभसंहिता
७५ पद्मोद्भवतन्त्रम्
७६ परमपुरुषसंहिता
७७ परमसंहिता
७८ पाणिनीयसंहिता
७९ पाद्मसंहिता
८० पारमेश्वरसंहिता
८१ पाराशर्यसंहिता
८२ पारिषदसंहिता
८३ पिङ्गलसंहिता
८४ पुण्डरीकाक्षसंहिता
८५ पुरुषसंहिता
८६ पुरुषोत्तमसंहिता
८७ पुलस्त्यसंहिता
८८ पुलहसंहिता
८९ पुष्कलसंहिता
९० पुष्टितन्त्रम्
९१ पैङ्गलसंहिता
९२ पैप्पलसंहिता
९३ पौष्करसंहिता
९४ प्रद्युम्नसंहिता
९५ प्रह्लादसंहिता
९६ प्राचेतससंहिता

९७ बलभद्रसंहिता
९८ बृहस्पतिसंहिता
९९ बोधायनसंहिता
१०० ब्रह्मसंहिता
१०१ ब्रह्माण्डसंहिता
१०२ भागवतसंहिता
१०३ भारद्वाजसंहिता
१०४ भार्गवसंहिता
१०५ भूततन्त्रम्
१०६ भूमिसंहिता
१०७ मत्स्यतन्त्रम्
१०८ मधुसूदनतन्त्रम्
१०९ मनुसंहिता
११० मरीचिसंहिता
१११ महाज्ञानसंहिता
११२ महातन्त्रम्
११३ महापुरुषतन्त्रम्
११४ महालक्ष्मीतन्त्रम्
११५ महासनत्कुमारसंहिता
११६ महीप्रश्नसंहिता
११७ महेन्द्रतन्त्रम्
११८ माङ्गलिकतन्त्रम्
११९ माधवसंहिता
१२० मायातन्त्रम्
१२१ मेदिनीपतिसंहिता
१२२ मायावैभवतन्त्रम्
१२३ मार्कण्डेयसंहिता
१२४ मार्कण्डेयसंग्रहसंहिता
१२५ माहेश्वरसंहिता
१२६ मिहिरसंहिता
१२७ मुकुन्दसंहिता
१२८ मूलसंहिता
१२९ मेरुसंहिता
१३० मैत्रेयसंहिता
१३१ मौद्गलसंहिता
१३२ यज्ञमूर्तितन्त्रम्
१३३ यमसंहिता
१३४ याज्ञवल्क्यतन्त्रम्
१३५ योगरहस्यतन्त्रम्
१३६ योगहृदयतन्त्रम्
१३७ राघवसंहिता
१३८ रोमशसंहिता
१३९ लक्ष्मीतन्त्रम्
१४० लक्ष्मीतिलकम्
१४१ लक्ष्मीनारायणतन्त्रम्
१४२ लक्ष्मीपतितन्त्रम्
१४३ लाङ्गलसंहिता
१४४ लैङ्गतन्त्रम्
१४५ वसुतन्त्रम्
१४६ वागीशतन्त्रम्
१४७ वामदेवसंहिता
१४८ वामनसंहिता
१४९ वायवीयसंहिता
१५० वाराहसंहिता
१५१ वारुणतन्त्रम्
१५२ वाल्मीकितन्त्रम्
१५३ वासिष्ठसंहिता
१५४ वासुदेवसंहिता
१५५ विप्लवसंहिता
१५६ विरिञ्चिसंहिता
१५७ विश्वसंहिता
१५८ विश्वामित्रसंहिता
१५९ विष्णुतत्त्वसंहिता
१६० विष्णुतन्त्रम्
१६१ विष्णुतिलकम्
१६२ विष्णुयोगतन्त्रम्
१६३ विष्णुरहस्यम्
१६४ विष्णुवैभवम्
१६५ विष्णुसंभवम्
१६६ विष्णुसंहिता
१६७ विष्णुसद्भावतन्त्रम्
१६८ विष्णुसारतन्त्रम्
१६९ विष्णुसिद्धान्ततन्त्रम्
१७० विष्वक्सेनसंहिता
१७१ विहगेन्द्रसंहिता
१७२ वीरसंहिता
१७३ वैकुण्ठसंहिता
१७४ वैजयन्तीसंहिता
१७५ वैनतेयसंहिता
१७६ वैभवसंहिता
१७७ वैहायससंहिता
१७८ व्याससंहिता
१७९ शक्रसंहिता
१८० शाकटायनसंहिता
१८१ शाकलसंहिता
१८२ शाण्डिल्यसंहिता
१८३ शातातपसंहिता
१८४ शान्तितन्त्रम्
१८५ शाबरतन्त्रम्
१८६ शाश्वतसंहिता
१८७ शुकप्रश्नसंहिता
१८८ शुकरुद्रसंहिता
१८९ शुक्रसंहिता
१९० शेषसंहिता
१९१ शौनकीयसंहिता
१९२ श्रीकरसंहिता

इनसे अन्य भी ग्रन्थ **पाञ्चरात्ररक्षा** में उल्लिखित हैं जैसे—२२० कालोत्तर संहिता, २२१ चित्रशिखणिसंहिता, २२२ जयसेन संहिता, २२३ तेजोद्रविण संहिता, २२४ सात्यकितन्त्रम्, २२५ सौमन्तवसंहिता । अहिर्बुध्न्यसंहिता के उपोद्घात में श्रोडर महोदय ने जिन ग्रन्थों का परिगणन किया है, यहाँ उन्हें भी देखना चाहिए ।

पाञ्चरात्रागमों में भगवदर्चा का अधिकार—

पाञ्चरात्रागमों में भगवत्पूजा तो सर्वसाधारण है । यह पूजा पाञ्चरात्र तान्त्रिक मन्त्रों के द्वारा की जा सकती है । यहाँ विशेष यह है कि पाञ्चरात्रशास्त्रों में भगवद् अर्चा में वैदिक एवं तान्त्रिक दोनों ही मन्त्रों का विधान है । जहाँ वैदिक एवं तान्त्रिक दोनों ही मन्त्रों का विधान है । जहाँ वैदिक मन्त्रों में तीन वर्णों का ही अधिकार था वहाँ तान्त्रिक मन्त्रों में त्रैवर्णिकों या अत्रैवर्णिकों सभी का अधिकार है ।

पाञ्चरात्रागमों के प्रवक्ता—

पाञ्चरात्रागम ईश्वर द्वारा स्वयं प्रोक्त हैं । जैसा महाभारत में कहा भी है—

सांख्यस्य वक्ता कपिल.....पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य
वक्ता नारायणः स्वयम्—शान्तिपर्व ३५९.६५-६८

इस प्रकार स्वयं ही नारायण ने इस शास्त्र को आविष्कृत किया है । महाभारत में वहीं पर यह भी कहा गया है कि वेदान्त के सार को लेकर भगवान् लक्ष्मीनारायण ने भक्तों के ऊपर अनुग्रह करके इस पाञ्चरात्रशास्त्र को प्रवर्तित किया—

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम् ।
सांख्ययोगकृतान्तेन पञ्चरात्रानुशब्दितम् ॥
वेदान्तेषु यथासारं संगृह्य भगवान् हरिः ।
भक्तानुकम्पया विद्वान् संचिक्षेप यथासुखम् ॥

—महाभारत, शान्तिपर्व ३४८.६३-६४

पाञ्चरात्रशास्त्र का काल—

'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' ४.३.९८ इस सूत्र में पाणिनि द्वारा भगवान् वासुदेव की पूजा का उल्लेख होने से पाणिनि के काल अर्थात् ईसा से दो हज़ार वर्ष पूर्व इस शास्त्र का अस्तित्व विद्यमान था । वासुदेव यह नाम 'संज्ञैषा भगवतः' इस प्रकार महाभाष्य का उल्लेख होने से और वासुदेव की पूजा पाञ्चरात्रान्तर्गत होना निर्विवाद है । पाणिनि का काल विद्वानों ने ईसा से पूर्व चतुर्थ शतक स्वीकार किया है ।

लक्ष्मीतन्त्र—

इस तन्त्र में महर्षि अत्रि से अनुसूया ने लक्ष्मी का महात्म्य पूछा है । इन्हीं का माहात्म्य पचास अध्यायों में वर्णित है ।

उपनिषद् के समान पाञ्चरात्र आगमों में वासुदेव को ब्रह्म के रूप में वर्णित किया गया है । यही पाञ्चरात्रशास्त्रों का आगम तत्त्व है अर्थात् दार्शनिक परिप्रेक्ष्य है जिसके कारण इन्हें 'पाञ्चरात्रागम' की संज्ञा दी जाती है । लक्ष्मीतन्त्र में लक्ष्मीनारायण का ब्रह्मत्व द्वितीय अध्याय में इस प्रकार वर्णित है—

येन सोऽहंस्मृतो भावः परमात्मा सनातनः ।
स वासुदेवो भगवान् क्षेत्रज्ञः परमो मतः ॥
विष्णुर्नारायणो विश्वो विश्वरूप इतीर्यते ।
अहंतया समाक्रान्तं तस्य विश्वमिदं जगत् ॥
वस्त्ववस्तु च तन्नास्ति यन्नाक्रान्तमहंतया ।
इदंतया यदालीढमाक्रान्तं तदहन्तया ॥

(लक्ष्मीतन्त्र २.५-७)

उन्हें ही विष्णु, नारायण, विश्व और विश्वरूप कहा जाता है । यह सारा विश्व उन्हीं की अहन्ता से व्याप्त है ।

जिससे अहंभाव का स्मरण होता है वही परमात्मा है, वही भगवान् वासुदेव

कहे जाते हैं, जिन्हें परं तथा क्षेत्रज्ञ भी कहा जाता है ।

इस जगत् में कोई भी ऐसी वस्तु या अवस्तु नहीं हैं, जो 'अहन्ता' से आक्रान्त न हो । इदन्तया प्रतीत होने वाला यह सारा जगत् उस 'अहन्ता' से आक्रान्त है ।

सर्वतः शान्त एवासौ निर्विकारः सनातनः ।
अनन्तो देशकालादिपरिच्छेदविवर्जितः ॥
महाविभूतिरित्युक्तो व्याप्तिः सा महती यतः ।
तद् ब्रह्म परमं धाम निरालम्बनभावनम् ॥

(लक्ष्मीतन्त्र २.८-९)

शोक, मोह, जन्म-मृत्यु और सुख-दुःख इन छह तरङ्गों से रहित होने के कारण वह 'अहन्ता' सर्वथा शान्त है, निर्विकार और सनातन है । देशकाल आदि से परिच्छिन्न न होने के कारण वह अनन्त है ।

उस अहन्ता की व्याप्ति महती है, इसलिये उसे 'महाविभूति' कहते हैं । उसका कोई आलम्बन नहीं है, इसलिये वही ब्रह्म है, वही परम धाम (तेजःस्वरूप) है ।

निस्तरङ्गामृताम्भोधिकल्पं षाड्गुण्यमुज्ज्वलम् ।
एकं तच्चिद्घनं शान्तमुदयास्तमयोज्झितम् ॥
अपृथग्भूतशक्तित्वाद् ब्रह्माद्वैतं तदुच्यते ।
तस्य या परमा शक्तिर्ज्योत्स्नेव हिमदीधितेः ॥

(लक्ष्मीतन्त्र २.१०-११)

वह सर्वथा प्रशान्त अमृतसागर के समान है, षाड्गुण्य और उज्ज्वल है, उदय और अस्त से विवर्जित है, शान्त है, एक अद्वितीय और चिद्घन है । अर्थात् अपने से अपृथक् रूप रहने वाले सिद्धशक्ति अहंता से विशिष्ट और पृथक् रूप से रहने के कारण विशिष्ट भी एक वह अद्वैतब्रह्म हैं, जैसे चन्द्रमा में रहने वाली ज्योत्स्ना उससे पृथक् तथा अपृथक् रहकर भी उसी में आश्रित रहती है ।

वस्तुतः लक्ष्मीतन्त्र में परब्रह्म विष्णु की शक्तिभूता महालक्ष्मी से सृष्टि कर्तृत्व प्रतिपादित है । जैसे चन्द्रमा की चाँदनी चन्द्र से अलग नहीं है और सूर्य की प्रभा जैसे सूर्य से अलग नहीं है उसके समान ही वासुदेव से अलग करके उनकी शक्ति को नहीं जाना जाता है । उनका नित्य सम्बन्ध होने से

सर्गादि कर्तृत्व में भगवती का ब्रह्म में ही पर्यवसान होता है । श्री के ही द्वारा स्वयमेव यह कहा गया है—

व्यापारस्तस्य देवस्य साहमस्मि न संशयः ।
मया कृतं हि यत्कर्म तेन तत्कृतमुच्यते ।
अहं हि तस्य देवस्य स्मृता व्याप्रियमाणता ॥

—लक्ष्मीतन्त्र ११.६-७

इस प्रकार उन देव के भवदुत्तर प्रकार का यतः मैं उन्मेष (= विकास) करती हूँ अतः मैं उन देव का व्यापार हूँ, इसमें संशय नहीं । मैं जो भी कर्म करती हूँ, वह उन्हीं का किया हुआ माना जाता है, अतः मैं ही उन देवाधिदेव की व्याप्रियमाणता (= संलग्नता) कही जाती हूँ ।

पाञ्चरात्र सिद्धान्त बिना लक्ष्मी के प्रतिपादित ही नहीं है । लक्ष्मीतन्त्र के दूसरे अध्याय में कहा भी है—

भवन्नारायणो देवो भावो लक्ष्मीरहं परा ।
लक्ष्मीनारायणाख्यातमतो ब्रह्म सनातनम् ॥

—लक्ष्मीतन्त्र २-१५

ब्रह्म भवद्-भावात्मक हैं, तदनन्तर उनका शाश्वत पद है । उसमें जो भवत् है वह नारायण देव हैं और जो भाव है वह मैं लक्ष्मी हूँ । इसलिये लक्ष्मी से विशिष्ट श्री नारायण ही परब्रह्म हैं । निःश्रीक नारायण परब्रह्म नहीं कहे जाते ।

सङ्कर्षणादयो व्यूहाः साहंताः प्राङ् निरूपिताः ।
त्रयश्च चतुरात्म्यं तच्चत्वारोऽमी सुरेश्वर ।
एतावद्भगवद् वाच्यं निस्तत्त्वं तत्त्वमुत्तमम् ॥

(लक्ष्मीतन्त्र ७.७-८)

जिसे शान्ति नाम से भी कहा जाता है, वही सनातनी देवी मैं हूँ । जो अन्य सङ्कर्षणादि देव है, उनकी अहन्ता शक्ति का निरूपण कर आई हूँ । इसका तात्पर्य यह है कि शान्तावस्था वाले भगवान् वासुदेव हैं और उनकी उदितावस्था व्यूह है, उनमें रहने वाली शक्तियाँ उनसे अभिन्न हैं । प्रथम भगवत्तत्व—सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध—ये तीन व्यूह, तथा एक भगवान् वासुदेव इन्हें मिला कर ये चार भेद वाले हैं । जो अन्य तत्त्वों से सर्वथा परे किन्तु उत्तम तत्त्व है । इन्हीं को **भगवान्** शब्द से कहा जाता है ।

पाञ्चरात्र आगमों की परम्परा में लक्ष्मीतन्त्र सामान्य तया जयाख्यसंहिता तथा सात्त्वतसंहिता का अनुसरण ही है । वस्तुतः शाक्तागम परम्परा में दुर्गा, भद्रकाली एवं योगमाया तो महालक्ष्मी के ही अपरपर्याय हैं । जैसा कि लक्ष्मी तन्त्र के चतुर्थ अध्याय में कहा भी है—

महालक्ष्मीः समाख्याता साहं सर्वाङ्गसुन्दरी ।
महाश्रीः सा महालक्ष्मीश्चण्डा चण्डी च चण्डिका ॥
भद्रकाली तथा भद्रा काली दुर्गा महेश्वरी ।
त्रिगुणा भगवत्पत्नी तथा भगवती परा ॥
एताः संज्ञास्तथा चान्यास्तत्र मे बहुधा स्मृताः ।
विकारयोगादन्याश्च तास्ता वक्ष्याम्यशेषतः ॥

(लक्ष्मीतन्त्र ४.३९-४१)

सभी अङ्गों से मनोहर रूप धारण करने के कारण मुझे लोग **महालक्ष्मी** नाम से पुकारते हैं । वहीं मैं महालक्ष्मी **चण्डा, चण्डी, चण्डिका, भद्रकाली, भद्रा, काली, दुर्गा, महेश्वरी, त्रिगुणा, भगवत्पत्नी, भगवती, परा** आदि नामों से भी जानी जाती हूँ । इसके अतिरिक्त नाना विकारों के योग से मेरे अन्य भी बहुत से नाम हैं । उन्हें भी मैं कहती हूँ ।

लक्षयामि जगत्सर्वं पुण्यापुण्ये कृताकृते ।
महनीया च सर्वत्र महालक्ष्मीः प्रकीर्तिता ॥
महद्भिः श्रयणीयत्वान्महाश्रीरिति गद्यते ।
चण्डस्य दयिता चण्डी चण्डत्वाच्चण्डिका मता ॥

(लक्ष्मीतन्त्र ४.४२-४३)

मैं सम्पूर्ण चराचर जगत् के पुण्य-पाप तथा शुभ-अशुभ कर्म को देखती रहती हूँ । मैं सर्वत्र ही महनीय (पूज्य) हूँ । इसलिये विद्वज्जन मुझे **महालक्ष्मी** कहते हैं । अपनी महत्ता से मैं सारे जगत् में श्रवणीय (कीर्त्तनीय) हूँ इसलिये आगमवेत्ता मुझे **महाश्री** कहते हैं । चण्ड अर्थात् महारुद्र की दयिता (= पत्नी) हूँ इसलिये **चण्डी** कहलाती हूँ तथा चण्ड अर्थात् क्रोध के कारण मैं **चण्डिका** भी कही गई हूँ ।

कल्याणरूपा भद्रास्मि काली च कलनात्सताम् ।
द्विषतां कालरूपत्वादपि काली प्रकीर्तिता ॥
सुहृदां द्विषतां चैव युगपत्सदसद्विधेः ।

भद्रकाली समाख्याता मायाश्चर्यगुणात्मिका ॥

(लक्ष्मीतन्त्र ४.४४-४५)

मैं सबका कल्याण करने के कारण भद्र (कल्याणरूपिणी) हूँ सज्जनों की रक्षा के कारण **भद्रकाली** हूँ । इतना ही नहीं शत्रुओं के लिये कालरुप होने के कारण भी **काली** कही जाती हूँ ।

मित्र का सत् (उपकार) तथा शत्रु का असत् (अपकार) एक साथ करती हूँ । इसलिये **भद्रकाली** भी कही जाती हूँ । आश्चर्य गुणों से युक्त होने के कारण **माया** कही जाती हूँ ।

महत्त्वाच्च महामाया मोहनान्मोहिनी मता ।
दुर्गा च दुर्गमत्वेन भक्तरक्षाविधेरपि ॥
योजनाच्चैव योगाहं योगमाया च कीर्तिता ।
मायायोगेति विज्ञेया ज्ञानयोजनतो नृणाम् ॥

(लक्ष्मीतन्त्र ४.४६-४७)

अपनी माया से महान् होने के कारण मुझे **महामाया** और सब को मोहित करने के कारण मुझे **मोहिनी** कहा जाता है । दुर्गम होने के कारण तथा अपने भक्तों की रक्षाविधि में दुष्टों का संहार करने के कारण मैं **दुर्गा** कही जाती हूँ ।

परमात्मा में योजना के कारण अथवा स्वरूप ज्ञान में युक्त करने के कारण मैं योगा या **योगमाया** हूँ, अथवा मनुष्यों के ज्ञान में योजना करने के कारण मैं योगमाया हूँ ।

लक्ष्मीतन्त्र का अहिर्बुध्न्य संहिता से अविनाभाव सम्बन्ध है । **'जितं ते'** आदि श्लोक इसका प्रमाण है लक्ष्मीतन्त्र में सात्त्वत संहिता का नाम निर्देशपूर्वक (१.१९) उल्लेख है और जयाख्य संहिता से बहुत कुछ उद्धृत भी किया गया है । भगवान् बुद्ध और तारा लक्ष्मीनारायण के ही युगल रूप समझे जाते हैं । सम्भवतः ईसा पूर्व छठी शती में बुद्ध रूप में विष्णु का अवतार ग्रहण करने की चर्चा भागवत पुराण में स्वीकृत रही है ।

कृष्ण द्वारा कुब्जा से उत्पन्न उपश्लोक ने जो सात्त्वत आगम के प्रवर्तक माने जाते हैं, उन्होंने महर्षि नारद से भक्ति तत्त्व का अध्ययन किया था और सात्त्वत आगम नामक एक ग्रन्थ भी लिखा था जिसका उल्लेख श्रीमद्भागवत् पुराण की श्लोकबद्ध टीका **'नारायणीयम्'** में **मेलपुत्तूर नारायणभट्ट** ने किया

है । **'कृष्णगीति'** नामक ग्रन्थ में भी **मानवेद** ने इस सात्वत परम्परा का उल्लेख किया है ।

आगम के क्रिया, चर्या आदि चार विभागों में से चर्या नामक विभाग का बहुत कम वर्णन है । आगमों में **ज्ञानपाद** की मुख्य चर्चा की गई है और मन्त्र शास्त्र (शब्द ब्रह्म) को पूर्ण रूप से पोषित किया गया है । **क्रियापाद** मात्र प्रतिमा की प्रतिष्ठा एवं उसकी चार रूप से पूजा में प्रतिपादित है । चार रूप है—विग्रह, अर्घ्य पात्र, मन्त्र एवं हवन ।

लक्ष्मीतन्त्र में मुख्य रूप से लक्ष्मी का माहात्म्य ही प्रतिपादित है । लक्ष्मी भगवान् विष्णु की शक्ति होने से उनके समकक्ष ही नहीं बल्कि उनसे भी अधिक हैं । आगम की प्राच्य परम्परानुसार लक्ष्मी विष्णु की प्रकृति हैं और दिव्य शक्ति है । वह विष्णु के शरीर से छः रूपों में प्रकट होती है—१. ज्ञान (Knowledge), २. ऐश्वर्य (Sovereignty), ३. शक्ति (Potency), ४. बल (Strength), ५. वीर्य (Virility), ६. तेजस् (Splendour).

लक्ष्मीतन्त्र के पचासवें अध्याय के अनुसार ऋग्वेद के **पुरुषसूक्त एवं श्रीसूक्त की उत्पत्ति** क्रमशः विष्णु एवं लक्ष्मी के द्वारा बताई गई है । षडैश्वर्य सम्पन्न भगवान् नारायण, जो समस्त जगत् की आत्मा है और उनकी शाश्वत् शक्ति ने शब्दब्रह्म का मन्थन कर समाधी की अवस्था में दो सूक्तों की प्राप्ति की । इस शब्दब्रह्म के मन्थन से विष्णु भगवान् ने पुरुषसूक्त की प्राप्ति की तथा लक्ष्मी ने श्रीसूक्त को अपनाया ।

पाञ्चरात्र-आगम और लक्ष्मी-तन्त्र—

पाञ्चरात्र-आगम वैष्णवधर्म के सर्वप्राचीन मतों में एक है । शक्ति-उपासना का विधान पाञ्चरात्र-आगमान्तर्गत 'लक्ष्मीतन्त्र' में विशेषरूप से विस्तृत निर्देश हुआ है। 'लक्ष्मीतन्त्र' के सत्रहवें अध्याय में भगवती लक्ष्मी कहती हैं कि मैं नारायण की आनन्दमयी पराशक्ति हूँ ।

गायत्री के अकारादि वर्णक्रमों पर आधृत सहस्रनाम आदि के कई भेद हैं। फिर भी इनमें मुख्य शक्तिदेवी श्री, भू, लक्ष्मी एवं ललिता आदि निर्दिष्ट हैं। जिस प्रकार **ईश्वर-संहिता** के दसवें पटल और **नारदीयसंहिता** के अट्ठाईसवें अध्याय में शक्ति-उपासना के क्रम का उल्लेख है, उसी प्रकार **लक्ष्मीतन्त्र** के **प्रथम** और **द्वितीय** अध्यायों में देवी का परमात्मा के साथ सम्बन्ध, विभिन्न नामों की व्युत्पत्ति और व्याख्या तथा विशेष अवसरों पर उनकी पूजा के विधान हैं ।

लक्ष्मीतन्त्र में सम्पूर्ण दुर्गासप्तशती की व्याख्या भी हो गयी है । इसमें पञ्चकाल-प्रक्रिया, शुद्धाध्वा और सृष्टिक्रम का विस्तार से उल्लेख है । प्राकृत-सृष्टिप्रकाश नामक **पञ्चम** अध्याय में संकर्षणादिदेवांश से स्त्री एवं पुरुष की सृष्टि का वर्णन है । देवी का कथन है कि यद्यपि मैं स्वतः शुद्धा चित्शक्ति हूँ तथापि अनादि अविद्या से लिप्त होने के कारण सृष्टि करती हूँ । अविद्या की स्थिति में जन्म एवं जरा आदि से उत्पन्न दुःख जीव को सताता रहता है । जब जीव शुद्ध विज्ञान के सम्बन्ध से तथा शुद्ध कर्म के सम्बन्ध से उस अविद्या का नाश कर देता है, तब आनन्द का उपभोग करता है (५.८५)। **आठवें** एवं **नवम** अध्याय के अन्त में देवी के अवतार का प्रकाश, **दसवें** में परव्यूह- प्रकाश, **तेरहवें** में जीव के स्वरूप का विवरण, **अट्ठारहवें** में समस्त मन्त्रों के रहस्य, उनमें नाद-बिन्दु की शक्ति, वर्णों से मन्त्र देवताओं का आविर्भाव, मातृकाओं का प्रकाश और उनके जप-ध्यान से देवता के सान्निध्य की प्राप्ति का उल्लेख है ।

इक्कीसवें अध्याय में दीक्षा के योग्य गुरु-शिष्य के लक्षण एवं शक्तिपात का विधान बतलाया गया है । **छब्बीसवें** अध्याय तक सात विद्याओं पर प्रकाश डाला गया है । **अट्ठाईसवें** में उपासना के लिये अभिगमन, इज्या, स्वाध्याय, योगसहित पञ्चकाल-कृत्य-आदि अङ्गों का निरूपण हुआ है ।

यों तो पाञ्चरात्र आगम के सभी तन्त्रों में शक्ति-उपासकों के सदाचारों का निर्देश है। वैसे ही इस तन्त्र में भी बतलाया गया है कि शक्ति के उपासक को शीलयुक्त रहकर किसी से द्रोह, लोभ, क्रोध आदि नहीं करना चाहिये और किसी शास्त्रादिमान्य ग्रन्थों की निन्दा भी नहीं करनी चाहिये ।

चौंतीसवें अध्याय में ३८ मुद्राओं का विवेचन है और स्नानविधि बतलाई गयी है । त्रिविध स्नान निरूपण के प्रसङ्ग में मन्त्रस्नान एवं ध्यानस्नान की विशेष चर्चा है । लक्ष्मीतन्त्र के **तीस** से **चालिस** अध्याय तक उपासना में भूतशुद्धि, अङ्गन्यास, अन्तर्याग, बहिर्याग, षोडशोपचार-पूजन, हवन, लोकपालों की पूजा, पितृतर्पण और अनुयाग का विधान है ।

इसके **एकतालीसवें** अध्याय में कहा गया है कि दीक्षा, शक्तिपात और अभिषेक से साधक में अद्भुत शक्ति का संनिवेश होता है । **पैंतालीसवें** अध्याय के अनुसार शक्तियों में महालक्ष्मी और उनकी सखियाँ—कीर्ति, जया, माया और उनकी अनुचरियों का विस्तार से उल्लेख है । **छियालिसवें से पचास अध्यायों** में उन सभी की उपासना और श्रीसूक्त की विशेष महिमा

प्रतिपादित है । श्रीसूक्त की महिमा के विषय में लिखा है कि जैसे गायों में घृत, दुग्ध आदि प्रत्यक्ष महाशक्ति है, कल्पवृक्ष में सभी कामनाएँ संनिहित हैं, समुद्र में रत्न हैं एवं ब्राह्मणों में तेज, तप तथा विद्या है, वैसे ही श्रीसूक्त की महिमा अपार है ।

इक्यावन से सत्तावन अध्यायों में शुद्धतम भाव और उसमें देवोपलब्धि की चर्चा की गई है । देवी की परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी के रूप में विश्व-व्याप्ति की बात भी कही गयी है (५७।२) । शक्ति के उपासक वसिष्ठ, पराशर, भारतीय ज्ञानगङ्गा के भगीरथ—वेदव्यास, शुक, अरुन्धती, पार्वती, कपिल, हिरण्यगर्भ आदि को शक्ति-उपासना से प्राप्त लाभों की चर्चा है । सबसे **अन्त में** एक रूप में नित्यानवद्य, विश्वरूप, सर्वकारण-कारण, निस्तरङ्ग, शुद्ध-बुद्ध-ज्ञानरूप लक्ष्मीनारायण की संयुक्त वन्दना कर ग्रन्थ समाप्त किया गया है—

ॐ नमो विष्णुपत्न्यै च यस्या नारायणः प्रियः ।
नमो नित्यानवद्याय जगतः सर्वहितवे ।
ज्ञानाय निस्तरङ्गाय लक्ष्मीनारायणात्मने ॥

(लक्ष्मीतन्त्र ५७।५५)

विद्वद्वशंवदः

सुधाकर मालवीयः
बी. ३१/२१ ए, लंका
वाराणसी—२२१००५
दूरभाष : २३६९३१८

दीपावली
२५.१०.२००३
कार्त्तिक कृष्ण अमावस्या
वि०सं० २०६०

विषयानुक्रमणिका

अकारादिवर्णक्रमेण वर्णानां सङ्केतसूची

अ	अप्रमेयः, ओङ्कारादि; प्रथमः, विष्णुः, व्यापकः ।
आ	आदिदेवः, आनन्दः, गोपनः, मधुसूदनः ।
इ	इद्धः, इष्टः, त्रिविक्रमः, माया, बिन्दुः, रामः ।
ई	पञ्चबिन्दुः, महामाया, माया, वामनः, विष्णुः ।
उ	उदयः, उद्दामः, भुवनम्, श्रीधरः ।
ऊ	ऊर्जः, ऊर्ध्वलोकेशः, गुहालयः, प्रज्ञाधारः, लोकेशः, हृषीकेशः ।
ऋ	अंकुशः, ऋतधामा, पद्मनाभः, सत्यः ।
ॠ	ज्वाला, पीठम्, प्रसारणः, योगी, विष्टरः ।
ऌ	केशवः, गोप्ता, तारकः, प्रज्ञाधारः, भगवान्, महेश्वरः, लिङ्गत्मा ।
ॡ	दीर्घघोणः, देवदत्तः, नारायणः, विराट्, संप्रसारणम् ।
ए	अविग्रहः, जगद्योनिः, त्र्यश्रः, देवदत्तः, माधवः, मृगेशः ।
ऐ	ऐरावणः, ऐश्वर्यम्, गोधनः, गोविन्दः, योगधाता, योगी, वीरसेनः ।
ओ	ओतदेवः, ओतदेहः, ओदनः, ब्रह्मसाधनः, वासुदेवः, विक्रमी ।
ओं	उद्गीथः, छन्दादिः, तारः, ध्रुवः, प्रणवः, ब्रह्म, ब्रह्मकोशः, व्यापी ।
औ	और्वः, औषधम्, भूधरः, सङ्कर्षणः ।
अं	कपिलाक्षः, चन्द्रार्धः, त्रैलोक्येश्वर्यदः, ध्रुवः, प्रद्युम्नः, बिन्दुः, यष्टिः, व्यापकः, व्यापी, व्योमेशः, संहारः ।
अः	अनिरुद्धः, कलान्तः, परमेश्वरः, विसर्गः, सर्गी, सृष्टिकृत् ।
क	कमलः, करालः, प्रकृतिः, ब्रह्मा, शङ्खिनः ।
ख	खर्वदेहः, गरुडवाहनः, चक्री, विश्वभावनः, वेदात्मा ।
ग	गदध्वंसी, गदाधरः, गदी , गोविन्दः, पञ्चात्मकः ।
घ	गजवाहनः, घर्मांशुः, तेजस्वी, दीप्तिमान्, पञ्चात्मा, पद्मपाणिः ।
ङ	एकदंष्ट्रः, कपिध्वजः, भूतभावनः, भूतात्मा, शार्ङ्गपाणिः ।
च	खड्गधरः, चक्री, चञ्चलः, चन्द्रांशुः, प्रेतनायकः, वक्रतुण्डः ।
छ	कुण्डली, छन्दः, छन्दःपतिः, छलध्वंसी, स्वच्छन्दः ।
ज	अजितः, ककुभः, जन्महन्ता, मुसली, शाश्वतः ।
झ	झषः, झषाशी, सामगः, सामपाठकः, सामवेदात्मा, सुवर्णभाः ।

ञ	ईश्वरः, उत्तमः, चन्द्रधवलः, तत्त्वधारकः, पाशपाणिः, भृगुः ।
ट	आह्लादः, खेटकी, चन्द्री, पर्वतः, विश्वाप्यायकरः, हृदयाह्लादी ।
ठ	कौस्तुभः, तोमरः, दुःसहः, धाराधरः, नेमिः, मेघी ।
ड	अखण्डविक्रमः, झषः, दण्डधारः, पुण्डरीकाक्षः, भूमिः, मौसलः, वनालयः ।
ढ	दृढकर्मा, पुष्पभद्रः, प्रतर्दनः, विश्वरूपः, वृषकर्मा ।
ण	अभयदः, प्रचण्डः, वनमाली, वैकुण्ठः, शास्ता, सुमुखः ।
त	एकनेत्रः,ताललक्ष्मा, विजयः, वैराजः, स्रग्धरः ।
थ	धन्वी, भुवनपालः, रसात्मा, सर्वरोधकः, सुप्रतिष्ठितः ।
द	अत्रिः, दत्तावकाशः, दमनः, दृष्टिः, वैधरः, शान्तिदः ।
ध	धनदः, धर्ता, धाम, पुण्यः, माधवः, शार्ङ्गधृत् ।
न	नरः, नारायणः, पन्थाः, भद्रपाणिः, मानुषेश्वरः, विघ्नेशः ।
नमः	नतिः ।
प	पद्मनाभः, पवित्रः, पश्चिमाननः, पापहननः ।
फ	फुल्लनयनः, विकर्मणः, लाङ्गली, शिखण्डी, श्वेतः ।
ब	कालनेमिजित्, जृम्भलः, पूर्णाङ्गः, मतिमान्, वामनः, ह्रस्वः ।
भ	ध्रुवः, भल्लातकः, भल्लायुधः, सिद्धिप्रदः, सुभद्रः, सूक्ष्मलोचनः ।
म	कालः, दक्षः, प्रधानः, मर्दनः, महाकालः, माधवीपाटलप्रियः ।
य	चतुर्गतिः, पुरुषात्मा, वायुः, शङ्खः, सुसूक्ष्मः ।
र	अनलः, अशेषभुवनाधारः, कालपावकः, महाज्वालः, विश्वात्मा, सर्वदाहकः ।
ल	धरेशः, पीतवर्णः, पुरुषेश्वरः, पुलहः, माहेन्द्रः, विबुधः ।
व	अमृताधारः, कुम्भः, पीयूषात्मा, वराहः, वरुणः, सुधारसः ।
श	पुण्डरीकः, लक्ष्मीः, वित्तवर्धनः, शङ्करः, शान्तः, शुभदः, श्रीवत्सः ।
ष	अग्निरूपः, उग्रात्मा, क्रोधरूपी, नृसिंहः, भास्करः, शत्रुसूदनः ।
स	अमृतः, कलात्मा, तृप्तिः, पूर्णचन्द्रः, शुक्लः, सोमः ।
स्वाहा	ठठ, हुतान्तः ।
ह	दीप्तिमान्, द्वादशात्मा, परमात्मा, प्राणः, भास्करः, सूर्यः ।
ळ	डुण्डुभः, भर्गः, विषमध्वनिः, विष्कम्भः ।
क्ष	अनन्तः, अनन्तेशः, कूटः, गरुडः, नरहरिः, वर्गान्तः ।

शब्दक्रमेण वर्णानां सङ्केतानुक्रमणिका

कपिध्वजः	ङ
कपिलाक्षः	अं
कमलः	क
करालः	क
कलात्मा	स
कलान्तः	अः
कालः	म
कालनेमिजित्	ब
कालपावकः	र
कुण्डली	छ
कुम्भः	व
कूटः	क्ष
केशवः	ऌ
कौस्तुभः	ठ
क्रोधरूपी	ष
ख	
खड्गधरः	च
खर्वदेहः	ख
खेटकी	ट
ग	
गजवाहनः	घ
गदध्वंसी	ग
गदाधरः	ग
गदी	ग
गरुडः	क्ष
गरुडवाहनः	ख
गुहालयः	ऊ
गोधनः	ऐ
गोपनः	आ
गोप्ता	ऌ
गोविन्दः	ग
गोविन्दः	ऐ
घ	
घर्मांशुः	घ
च	
चक्री	च
चक्री	ख
चञ्चलः	च
चतुर्गतिः	य
चन्द्रधवलः	ञ
चन्द्रांशुः	च
चन्द्रार्धः	अं
चन्द्री	ट
छँ	
छन्दः	छ
छन्दःपतिः	छ
छन्दआदिः	ओं
छलध्वंसी	छ
ज	
जगद्योनिः	ए
जगद्योनिः	ऐ
जन्महन्ता	ज
जृम्भलः	ब
ज्वला	ऋ
झ	
झषः	झ
झषः	ड
झषाशी	झ
ठ	
ठठ	स्वाहा
ड	
डुण्डुभः	ळ

पुण्डरीकाक्षः	ड
पुण्यः	ध
पुरुषात्मा	य
पुरुषेश्वरः	ल
पुष्पभद्रः	ढ
पुलहः	ल
पूर्णचन्द्रः	स
पूर्णाङ्गः	ब
प्रकृतिः	क
प्रचण्डः	ण
प्रज्ञाधारः	ऊ
प्रज्ञाधारः	ऌ
प्रणवः	ओं
प्रतर्दनः	ढ
प्रथमः	अ
प्रद्युम्नः	अं
प्रधानः	म
प्रसारणः	ऋ
प्राणः	ह
प्रेतनायकः	च
फ	
फुल्लनयनः	फ
ब	
बिन्दुः	अं
बिन्दुः	इ
ब्रह्म	ओं
ब्रह्मकोशः	ओं
ब्रह्मसाधनः	ओ
ब्रह्मा	क
भ	
भगवान्	ऌ
भद्रपाणिः	न
भर्गः	ळ
भल्लातकः	भ
भल्लायुधः	भ
भास्करः	ष
भास्करः	ह
भुवनम्	उ
भुवनपालः	थ
भूतभावनः	ङ
भूतात्मा	ङ
भूधरः	औ
भूमिः	ड
भृगुः	ञ
म	
मतिमान्	व
मदनः	म
मधुसूदनः	आ
मनुः	औ
महाज्वालः	र
महामाया	ई
महेश्वरः	ऌ
माधवः	ध
माधवः	ए
माधवीपाटलप्रियः	म
मानुषेश्वरः	न
माया	ई
माया	इ
माहेन्द्रः	ल
मुसली	ज
मृगेशः	ए
मेघी	ठ
मोहनाशनः	ध
मौसलः	ड

य

यष्टिः	अं
योगधाता	ऐ
योगी	ऐ
योगी	ऋ

र

रसात्मा	थ
रामः	इ

ल

लक्ष्मीः	श
लाङ्गली	फ
लिङ्गात्मा	ऌ
लोकेशः	ऊ

व

वक्रतुण्डः	च
वनमाली	ण
वनालयः	ड
वराहः	व
वरुणः	व
वर्गान्तः	क्ष
वह्निजाया	स्वाहा
वामनः	ब
वामनः	ई
वायुः	य
वासुदेवः	ओ
विकर्मणः	फ
विक्रमी	ओ
विघ्नेशः	न
विजयः	त
वित्तवर्धनः	श
विबुधः	ल
विराट्	ऌ
विश्वभावनः	ख
विश्वरूपः	ढ
विश्वात्मा	र
विश्वाप्यायकरः	ट
विषमध्वनिः	ळ
विष्कम्भः	ळ
विष्टरः	ऋ
विष्णुः	ई
विष्णुः	अ
विसर्गः	अः
वीरसेनः	ऐ
वृषकर्मा	ढ
वेदात्मा	ख
वैकुण्ठः	ण
वैधरः	द
वैराजः	त
व्यापकः	अ
व्यापकः	अं
व्यापी	अं
व्यापी	ओं
व्योमेशः	अं

श

शङ्करः	श
शङ्खः	य
शङ्खिनः	क
शत्रुसूदनः	ष
शान्तः	श
शान्तिदः	द
शार्ङ्गधृत्	ध
शार्ङ्गपाणिः	ङ
शाश्वतः	ज

शास्ता	ण	सुधारसः	व
शिखण्डी	फ	सुप्रतिष्ठितः	थ
शुक्लः	स	सुभगः	ध
शुभदः	श	सुभद्रः	भ
श्रीधरः	उ	सुमुखः	ण
श्रीवत्सः	श	सुवर्णभाः	झ
श्वेतः	फ	सूक्ष्मः	य
स		सूक्ष्मलोचनः	भ
सङ्कर्षणः	औ	सूर्यः	ह
संप्रसारणम्	ऌ	सृष्ठिकृत्	अः
संहारः	अं	सोमः	स
सत्यः	ऋ	स्रग्धरः	त
सर्गी	अः	स्वच्छन्दः	छ
सर्वदाहकः	र	**ह**	
सर्वरोधकः	थ	हुतभुक्प्रिया	स्वाहा
सामगः	झ	हुतान्तः	स्वाहा
सामपाठकः	झ	हृदयाह्लादी	ट
सामवेदात्मा	झ	हृषीकेशः	ऊ
सिद्धिप्रदः	भ	ह्रस्वः	ब

पाञ्चरात्रागमान्तर्गतं

लक्ष्मीतन्त्रम्

॥ श्रीः ॥

लक्ष्मीतन्त्रम्

प्रथमोऽध्यायः

शास्त्रावतारः

मङ्गलाचरणम्

नमो नित्यानवद्याय जगतः सर्वहेतवे ।
ज्ञानाय निस्तरङ्गाय लक्ष्मीनारायणात्मने ॥ १ ॥

❀ सुधा ❀

महाश्रियं गणपतिं राधां दुर्गां सरस्वतीम् ।
लोकमातॄः प्रमातॄश्च सततं नौमि सिद्धये ॥ १ ॥
यस्याः प्रसादान्मुच्यन्ते योगिनो हतकिल्विषाः ।
तां श्रियं सततं नौमि स्वकीयाभीष्टसिद्धये ॥ २ ॥
शिवा स्वरूपा या देवी प्रकृतिर्या च कथ्यते ।
रौद्रा नित्या च या देवी नियतां प्रणतोऽस्मि ताम् ॥ ३ ॥
मालवीयकुले जातः नाम्ना ख्यातः सुधाकरः ।
लक्ष्मीतन्त्रस्य ग्रन्थस्य सुधां टीकां करोम्यहम् ॥ ४ ॥
दुरूहं तन्त्रशास्त्रं क्व क्व मेऽल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुरस्मि संमोहात् उडुपेनेव सागरम् ॥ ५ ॥
तन्त्रशास्त्रे बुभूत्सूनां भाषाज्ञानं विशेषतः ।
जिज्ञासूनां प्रवेशाय हिन्दीभाषां समाश्रये ॥ ६ ॥
पुंदोषान्मतिदोषाद्वा मुद्रादोषात् तथैव च ।
त्रुटयो यास्तु सञ्जातास्ताः क्षन्तव्याः मनीषिभिः ॥ ७ ॥

मैं उन लक्ष्मीनारायण स्वरूप परमात्मा को नमस्कार करता हूँ जो जगत् के उपादान कारण होकर भी सर्वदा अविकृत (निरवद्य) रहते हैं, वे ही इस

जगत् के निमित्त और उपादान दोनों ही कारण हैं, वे ही सर्वज्ञान स्वरूप हैं और षडूर्मिरहित सर्वथा निश्चल हैं ॥ १ ॥

विमर्शिनी—क्योंकि उपनिषदों में भगवान् को जगत् का निमित्त और उपादान दोनो ही कारण कहा गया है, इससे नित्यजीव की अपेक्षा वैलक्षण्य सूचित किया गया है, जो सर्वज्ञान स्वरूप है । इससे जगत् के कारण में जितने उपायों की आवश्यकता है उन सभी गुण समूहों की भगवान् में पूर्णता बताई गई है । जो परमात्मा सुख-दुःख जन्म-मरण, शोक-मोह रूप छह ऊर्मियों (तरङ्गों) से रहित होने के कारण सर्वथा निश्चल हैं उसे नमस्कार है ।

नम इति = विशिष्टोपायस्य, लक्ष्मीनारायणात्मन इति विशिष्टोपेयस्य च निर्देशः । नित्यानवद्यायेति = नारायणस्य जगदुपादानत्वशङ्कितसविकारत्वनिरासः बद्धमुक्तजीववैलक्षण्यं चोक्तम् । जगतः सर्वहेतवे = इत्यौपनिषदमभिन्ननिमित्तोपादानत्वं नित्यजीववैलक्षण्यं चोक्तम् । ज्ञानायेति = जगत्कारणत्वौपरिकगुणगणपूर्तिः स्वरूपनिरूपकधर्मश्चोक्तः । निस्तरङ्गायेति = षडूर्मिराहित्यं सततपरिणाम्यचिद्वैलक्षण्यं चोक्तम् ॥ १ ॥

खगासनं घृणाधारमीदृशं सोमभूषितम् ।
अकलङ्केन्दुसूर्याग्निं लक्ष्मीरूपमुपास्महे ॥ २ ॥

मैं महाभगवती महाश्री के उस रूप की उपासना करता हूँ जो खगासन (उल्लू अथवा गरुड़) पर विराजमान हैं, जो ईकार के सदृश हैं, घृणाधार (दयामयी अथवा कृपामयी) है, चन्द्रकला सूर्य तथा अग्नि वर्णों से विभूषित हैं। लक्ष्मी नृसिंह रूप की हम उपासना करते हैं ।

विमर्शिनी—उन अकलङ्क आदि से चन्द्रमा की निष्कलङ्कता का प्रतिपादन किया गया है, जो सूर्य और अग्नि स्वरूपा है इससे स्वर, स्पर्श तथा व्यापक वर्णों से यकारादि विभूषित महाश्री को वाक्स्वरूप बतलाया गया है, जैसा कि प्रपञ्चसार में कहा गया है—स्वराख्या इति अर्थात् षोडशस्वर चन्द्र स्वरूप और २५ (क से लेकर म पर्यन्त) स्पर्शसंज्ञक वर्ण सूर्यस्वरूप तथा यकारादि दश व्यापक वर्ण अग्निस्वरूप कहे जाते हैं ॥ २ ॥

ईदृशमित्यादि = ईकाररूपमित्यर्थः । अकलङ्केत्यादि = स्वरस्पर्शव्यापकाक्षररूपमिति देव्या वाक्स्वरूपत्वमुक्तं भवति । यथोक्तं प्रपञ्चसारे—

"स्वराख्याः षोडश प्रोक्ताः स्पर्शाख्याः पञ्चविंशतिः ।
व्यापकाश्च दशैते स्युः सोमेनाग्न्यात्मकाः क्रमात् ॥" इति ॥ २ ॥

अत्रिसमीपे अनसूयया लक्ष्मीमाहात्म्यकथनाय प्रार्थना

वेदवेदान्ततत्त्वज्ञं सर्वशास्त्रविशारदम् ।

सर्वसिद्धान्ततत्त्वज्ञं धर्माणामागतागमम् ॥ ३ ॥
जितेन्द्रियं जिताधारं रागद्वेषावशीकृतम् ।
चतुर्दशाङ्गयोगस्थं प्रसंख्यानपरायणम् ॥ ४ ॥
विद्धे स्वर्भानुना भानौ पुरा तपनतां गतम् ।
निदानं तपसामाद्यं तेजोराशिमनामयम् ॥ ५ ॥
अत्रिमत्रिगुणोपेतमत्रिवर्गस्थमव्ययम् ।
प्रातःसंध्यामुपासीनमृषिं हुतहुताशनम् ॥ ६ ॥

किसी समय वेदवेदान्त के तत्त्वज्ञ, सर्वशास्त्रविशारद, धर्म सिद्धान्त के तत्त्वज्ञाता, धर्मों में आगत श्रेष्ठ आगमशास्त्र में निष्णात, जितेन्द्रिय, आधार चक्र स्थित कुण्डलिनी पर अधिकार रखने वाले, रागद्वेषविवर्जित, भक्ति, चतुर्दश न्यास और योग में परायण, सांख्यशास्त्र में पारङ्गत, सत्त्वादि त्रिगुण से वर्जित, धर्म, अर्थ, काम रूप, त्रिवर्ग की साधना से रहित, मोक्ष मार्ग में निरत, अविकारी, प्रात:सन्ध्या से निवृत्त होकर महर्षि अत्रि सविधि अग्निहोत्र आदि नित्यक्रिया का सम्पादन करने के अनन्तर सुखपूर्वक अपने आसन पर आसीन थे ॥ ३-६ ॥

पतिव्रतानां परमा धर्मपत्नी यशस्विनी ।
ब्रह्मविष्णुमहेशानां जननी कारणान्तरे ॥ ७ ॥
देवैरभिष्टुता शश्वच्छान्तिनित्या तपस्विनी ।
विदुषी सर्वधर्मज्ञा नित्यं पतिमनुव्रता ॥ ८ ॥
पत्युः श्रुतवती तास्ता विविधा धर्मसंहिताः ।
प्रणिपातपुरस्कारमनसूया वचोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥

उसी समय पतिव्रताओं में श्रेष्ठ महर्षि अत्रि की धर्मपत्नी, यशस्विनी, कारणवश ब्रह्मा, विष्णु और महेश को भी अपना पुत्र बना लेने वाली, देवताओं से संस्तुत, शाश्वत शान्ति चाहने वाली, नित्य तपस्या में निरत, विदुषी, सर्वधर्मज्ञा, नित्य पतिदेव की आज्ञा का अनुसरण करने वाली, जो अपने पति अत्रि से तत्तद्धर्मशास्त्रों की संहिताओं को सुन चुकी थीं, उन अनुसूया ने अपने पति महर्षि अत्रि के पास आकर प्रणाम करने के अनन्तर इस प्रकार कहा ॥ ७-९ ॥

विमर्शिनी—महाभारत के आनुशासनिक पर्व में १५६वें अध्याय में अनुसूया की कथा इस प्रकार है—पूर्वकाल में देवता तथा असुरों के युद्ध में सूर्य के आहत हो जाने पर जब असुरों के अस्त्र से देवता लोग घायल होने लगे तब उन देवताओं द्वारा प्रार्थना किये जाने पर जिन्होंने अत्यन्त प्रभावशाली

सूर्य और चन्द्रमा का रूप धारण किया, जो तपस्वियों में सर्वश्रेष्ठ तपस्वी हैं, जो तेजो की राशि तथा आपत्तियों से रहित हैं । उन लक्ष्मीपति विष्णु ने अस्त्र प्रदान किए ॥ ३-९ ॥

चतुर्दशेति = भक्तिन्यासयोगेत्यर्थः । विद्ध इति = अत्र महाभारतानुशासनिके १५६ अध्यायोक्तमनुसन्धेयम् । अत्रिगुणेत्यादिना महर्षेरत्रिनाम्नोऽन्वर्थत्वं व्यज्यते । ब्रह्मेत्यादि = पुरा त्रिमूर्तयोऽनसूयायाः पातिव्रत्यं परीक्षितुमयतन्त । तेन क्रुद्धया तया ते द्विहायनाः शिशवोऽक्रियन्त । ततस्तन्महिषीभिः प्रसादिता सा तान् यथापुरमकरोदिति पौराणिकी कथात्रानुसन्धेया ॥ ४-९ ॥

अनसूया—

भगवन् सर्वधर्मज्ञ मम नाथ जगत्पते ।
त्वत्त एव श्रुता धर्मास्ते ते बहुविधात्मकाः ॥ १० ॥

अनसूया ने कहा—हे भगवन् ! हे सर्वधर्मज्ञः ! हे नाथ ! हे जगत्पते ! आपसे मैंने उन सभी धर्मों को सुन लिया है जिनके बहुत से भेद हैं ॥ १०॥

ज्ञानानि च विचित्राणि फलरूपादिभेदतः ।
एतेभ्यो भगवद्धर्मो विशिष्टो विधृतो मया ॥ ११ ॥

विचित्र फल देने वाले विचित्र स्वरूप वाले ज्ञानों को भी मैंने आपसे सुन लिया है । किन्तु इन सभी से विशिष्ट निवृत्तिप्रधान भगवद्धर्मों को ही मैंने अपने हृदय में धारण किया है ॥ ११ ॥

विमर्शिनी—भगवद्धर्मः = भगवत्प्राप्तिफलो निवृत्तिधर्मः ॥ ११ ॥

त्वया कथयता तास्ता भगवद्धर्मसंहिताः ।
सूचितं तत्र तत्रैव लक्ष्मीमाहात्म्यमुत्तमम् ॥ १२ ॥

आप भगवद्धर्म की संहिताओं की चर्चा करते समय कभी-कभी उन उन प्रसङ्गों पर लक्ष्मी माहात्म्य को सर्वोत्तम कहा करते थे ॥ १२ ॥

रहस्यत्वादपृष्टत्वान्न त्वया प्रकटीकृतम् ।
तदहं श्रोतुमिच्छामि लक्ष्मीमाहात्म्यमुत्तमम् ॥ १३ ॥

एक तो वह रहस्य पूर्ण (अत्यन्त गोपनीय) है, दूसरे मैंने आपसे उसके विषय में अब तक कुछ पूछा भी नहीं और न पूछने के कारण आपने उसके विषय में कुछ कहा भी नहीं । (क्योंकि 'नापृष्टः कस्यचिद ब्रूयात्' यह नियम है अतः) अब उस सर्वोत्तम लक्ष्मीमाहात्म्य को मैं सुनना चाहती हूँ ॥ १३ ॥

विमर्शिनी—अपृष्टत्वादिति = वस्तुतस्तु "नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्" इति विधिरत्राभिप्रेतः ॥ १३ ॥

यत्स्वभावा हि सा देवी यत्स्वरूपा यदुद्भवा ।
यत्प्रमाणा यदाधारा यदुपायाथ यत्फला ॥ १४ ॥

हे महात्मन् ! उन महालक्ष्मी का स्वभाव कैसा है ? वह देवी किंस्वरूपा है ? उनकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई है ? उनके विषय में क्या प्रमाण है ? उनका आधार क्या है ? उनकी प्राप्ति का उपाय क्या है ? और वे किस प्रकार का फल प्रदान करती हैं ? ॥ १४ ॥

तदहं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तो ब्रह्मविदां वर ।
भवेयं कृतकृत्याहं यस्य विज्ञानयोगतः ॥ १५ ॥

हे ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ ! मैं इन सभी बातों को आपसे जानना चाहती हूँ, आप उसे कहिये । जिस विज्ञानयोग को आपसे प्राप्त कर (मैं अपने पास आये हुये) अपने को कृत्यकृत्य समझूँ ॥ १५ ॥

तं मे दर्शय पन्थानमुपसन्नास्म्यधीहि भो ।
इति तस्या वचः श्रुत्वा भगवानत्रिरब्रवीत् ॥ १६ ॥

क्योंकि जब जिज्ञासु, शिष्य बनकर आचार्य के पास समित्पाणि होकर जाता है, तब आचार्य उस उपसन्न हुये शिष्य को 'अधीहि भोः' ऐसा कहकर उपदेश करते हैं । यहीं विधि मन्त्र है । अपनी पत्नी अनसूया के इस वचन को सुनकर भगवान् अत्रि ने कहा ॥ १६ ॥

विमर्शिनी—उपसन्नेति । "तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्" इति श्रुत्यर्थोऽभिप्रेतः । पन्थानमिति । सदुपायमित्यर्थः । "महाजनो येन गतः स पन्थाः" इतिवत् ॥ १६ ॥

अत्रिणा नारदस्य ऋषीणां च संवादरूपस्य पुरावृत्तस्य कथनम्

अत्रिः—

साधु संबोधितोऽस्म्यद्य धर्मज्ञे धर्मचारिणि ।
मया पृष्टेन वक्तव्यमिति नोद्घाटितं पुरा ॥ १७ ॥

हे धर्मज्ञे ! हे धर्मचारिणि ! आपने मुझे यह बात आज स्मरण करा दी कि—'मुझे पूछने पर ही गुप्त रहस्य का प्रतिपादन करना चाहिये । इसलिये उस रहस्य को मैंने उस समय आपसे नहीं कहा' ॥ १७ ॥

अर्हा त्वमसि कल्याणि लक्ष्मीमाहात्म्यमुत्तमम् ।
श्रोतुं श्रुतिशिरःश्रेणिहृदयस्थं सनातनम् ॥ १८ ॥

हे कल्याणि ! आप अवश्य ही श्रुतियों में सर्वश्रेष्ठ उनके अन्तःकरण में

गुप्त रूप से विद्यमान सनातन इस लक्ष्मी के माहात्म्य को सुनने की योग्यता रखती हो ॥ १८ ॥

पुरा मलयशैलस्था मुनयो धर्मतत्पराः ।
श्रुतसात्त्वतविज्ञाना नारदाद्देवदर्शनात् ॥ १९ ॥
अपृच्छन्नेतमेवार्थं भगवन्तं सनातनम् ।
नारदं ब्रह्मसङ्काशं भगवद्धर्मवेदिनम् ॥ २० ॥

पूर्वकाल में मलयाचल पर निवास करने वाले धर्मपरायण महामुनियों ने सत्त्व गुणैकप्रधान सात्त्वत संहिता के सुन लेने के अनन्तर देवदर्शन देवर्षि नारद से वही बात पूछी थी । क्योंकि नारद भी ब्रह्मदेव के समान ही भगवद्धर्म के ज्ञाता थे ॥ १९-२० ॥

ऋषयः—

भगवंस्त्वच्छ्रुतोऽस्माभिः सात्त्वतः सत्त्वसंश्रयः ।
शुद्धो भागवतो धर्मो मोक्षैकफललक्षणः ॥ २१ ॥

देवदर्शन श्री नारद से मलय निवासी महर्षियों ने पूछा—हे भगवन् ! सभी धर्मों के आश्रय स्वरूप भागवद्धर्म को हम लोगों ने सुन लिया जिसका फल एक मात्र मोक्ष है ॥ २१ ॥

विमर्शिनी—सात्त्वतः सत्त्वसंश्रयः । सत्त्वगुणैकप्रधानो धर्म इत्यर्थः । अनेन सात्त्वतशब्दनिर्वचनमपि सूचितम् । यथा—सत्त्व सत्त्वगुणः अस्यास्तीति सत्त्वतः । पर्वतादिवत् मत्वर्थे तप्प्रत्ययः । सत्त्वत एव सात्त्वत इति । तस्यैव विवरणं शुद्धो भागवतो धर्म इति ॥ २१ ॥

तत्र तत्त्वार्थकथने लक्ष्मीमाहात्म्यमुत्तमम् ।
सूचितं तत्र तत्रैव नापृष्टत्वात्प्रकाशितम् ॥ २२ ॥

आपने उस भागवत धर्म के निरूपण के अवसर पर तब प्रसङ्गतः प्राप्त लक्ष्मी माहात्म्य की चर्चा की थी । किन्तु बिना पूछे गोपनीय रहस्य नहीं कहना चाहिये इसलिये उसका उद्घाटन नहीं किया ॥ २२ ॥

इच्छामस्तदिदं श्रोतुं भवसागरतारकम् ।
पद्मिनीवैभवं सर्वं प्रज्ञापयतु नो भवान् ॥ २३ ॥

अब हम लोग भवसागर को पार करने वाले महालक्ष्मी के माहात्म्य को सुनना चाहते हैं । अतः कृपा कर आप उसे कहिये ॥ २३ ॥

नताः स्म शिरसा पादौ तव संसारतारकौ ।

अधीहि भो मुने दिव्यं प्रपन्नास्त्वां चिरं वयम् ॥ २४ ॥

हम लोग संसार सागर से पार उतारने वाले आपके दोनों चरणों में शिर से प्रणाम करते हैं । हे महामुने ! हम आप की शरण में हैं । अतः उस दिव्य रहस्य का प्रतिपादन कीजिये ॥ २४ ॥

विमर्शिनी—चिरमिति । 'नासंवत्सरवासिने ब्रूयात्' इति विधिरभिप्रेतः ॥२४॥

नारदः—

साधु संबोधितोऽस्म्यद्य मुनयः संशितव्रताः ।
प्रसन्नः कथयाम्यद्य लक्ष्मीतन्त्रं सनातनम् ॥ २५ ॥

तब देवर्षि नारद ने कहा—हे व्रतपरायण महामुनिगण ! आप लोगों ने मुझे अच्छा स्मरण कराया । अतः मैं प्रसन्नतापूर्वक सनातन (नित्य से आये हुये) लक्ष्मीतन्त्र को कहता हूँ ॥ २५ ॥

विमर्शिनी—लक्ष्मीतन्त्रमिति ग्रन्थनाम । इदं च तन्त्रं शतकोटिग्रन्थपरिमितात् मूलभूतलक्ष्मीतन्त्रात् सारमुद्धृत्य कथितमिति वक्ष्यतेऽत्रैव (४४-५२) ॥ २५ ॥

यत्र सा दृश्यते देवी स्वरूपगुणवैभवैः ।
पद्मिनी पद्मनाभस्य महिषी पद्मसंभवा ॥ २६ ॥
पुरा दुर्वाससः शापादभिभूते पुरन्दरे ।
निःस्वाध्यायवषट्कारे भ्रष्टश्रीके जगत्त्रये ॥ २७ ॥

पूर्वकाल में महर्षि दुर्वासा के शाप से जब इन्द्र स्वर्ग के राज्य से परिच्युत हो गए, उस समय स्वाध्याय एवं वषट्कार के अभाव में तीनों लोकों की लक्ष्मी विनष्ट हो गई । तात्पर्य यह है कि जगत् में लक्ष्मी का निवास तभी होता है, जब स्वाध्याय और वषट्कार होता रहे । उसके अभाव में सारा जगत् दरिद्र हो जाता है ॥ २६-२७ ॥

दरिद्रे देववर्गे च कृशे धर्मे निसंतते ।
पितामहे सुरैः सार्धं क्षीरोदार्णवमेयुषि ॥ २८ ॥

इस प्रकार धर्म की ग्लानि हो जाने पर तथा उसके विच्छिन्न हो जाने पर समस्त देववर्ग दरिद्र हो गया । तब पितामह ब्रह्मदेव सभी देवताओं को साथ लेकर क्षीरसमुद्र में विष्णु के पास पहुँच गए ॥ २८ ॥

विमर्शिनी—विष्णुपुराण के प्रथम अंश में आख्यायिका इस प्रकार है—पुरेत्यादि = इयमाख्यायिका विष्णुपुराणे प्रथमांशे द्रष्टव्या । निःस्वाध्यायवषट्कारत्व भ्रष्टश्रीकत्वे हेतुः ॥ २७-२८ ॥

बहून् वर्षगणान् दिव्यांस्तप्त्वा तीव्रं महत्तपः ।
संबोधिते जगन्नाथे देवदेवे जनार्दने ॥ २९ ॥

उन लोगों ने वहाँ अनेक दिव्य वर्षों तक बहुत तीव्र महान् तपस्या की तब देवाधिदेव भगवान् विष्णु योगनिद्रा से जागे ॥ २९ ॥

विमर्शिनी—निसंतते = चिच्छिन्न इत्यर्थः ॥ २९ ॥

पितामहेन देवाय कार्ये च विनिवेदिते ।
क्षीरोदे मथिते देवैस्तदादिष्टेन वर्त्मना ॥ ३० ॥

तदनन्तर पितामह ने उन देवाधिदेव से सारा समाचार निवेदन किया । फिर उन लोगों ने भगवान् विष्णु की आज्ञा से क्षीर समुद्र का मन्थन किया ॥ ३० ॥

पारिजाते हयश्रेष्ठे गजेन्द्रेऽप्सरसां गणे ।
कालकूटे समुद्भूते वारुण्याममृते तथा ॥ ३१ ॥
सह चन्द्रमसा देव्यामुत्थितायां महार्णवात् ।
पद्मिन्यां पद्मनाभस्य वक्षःस्थायामनन्तरम् ॥ ३२ ॥
तयावलोकिते देववर्गे श्रियमुपेयुषि ।
तयानवेक्षिते दैत्यवर्गे चैव पराजिते ॥ ३३ ॥

तदनन्तर उस क्षीरसागर से पारिजात, घोड़ों में सर्वश्रेष्ठ उच्चैश्रवाः, ऐरावत, अप्सराये तथा कालकूट नामक विष के उत्पत्ति के अनन्तर वारुणी मदिरा, फिर अमृत, उसके बाद चन्द्रमा के साथ महालक्ष्मी की उत्पत्ति हुई, फिर महालक्ष्मी के भगवान् विष्णु के वक्षःस्थल का आश्रय ले लेने पर जब उन्होंने अपनी दृष्टि देववर्ग पर डाली तब उसी समय देववर्ग श्री सम्पन्न हो गया और दैत्य वर्गों की ओर से दृष्टि फेर लेने के कारण वे दैत्यवर्ग पराजित हो, दरिद्र हो गए ॥ ३१-३३ ॥

विमर्शिनी—अनेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां लक्ष्मीकटाक्षपातस्य सर्वसम्पन्निदानत्वं निरूप्यते—तयावलोकितेति । यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमित्यन्वये यथा देवेषु इति दृष्टान्तः । यदभावे यदभाव इति व्यतिरेके यथा दैत्येषु इति दृष्टान्तः । इममेव विषय-मनन्तरमेव ३५ तमश्लोके वक्ष्यति ॥ ३३ ॥

स्वाराज्यमखिलं प्राप्य मोदमाने पुरन्दरे ।
बृहस्पतिरुपागम्य रहसीदं वचोऽब्रवीत् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार अपना राज्य पुनः प्राप्त कर जब इन्द्र प्रसन्न हो गए तब

देवगुरु बृहस्पति ने एकान्त में इन्द्र के पास जाकर इस प्रकार कहा ॥ ३४ ॥

बृहस्पतिः—

कालेसम्बोधयाम्येतच्छृणु वाक्यं पुरन्दर ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां लक्ष्म्यास्ते कथिता पुरा ॥ ३५ ॥

बृहस्पति ने कहा—हे इन्द्र ! अब उचित काल उपस्थित होने पर आपको उपदेश दे रहा हूँ कि लक्ष्मी जी के ही अन्वय-व्यतिरेक से आपको अपना यह राज्य प्राप्त हुआ है ॥ ३५ ॥

विमर्शिनी—अन्वय व्यतिरेक के द्वारा लक्ष्मी कटाक्षपात ही सर्वसम्पत्ति का मूल इस प्रकार है—यत्सत्त्वे यत्सत्त्वेत्यन्वयः यथा देवेषु । यदभावे यदभाव इति व्यतिरेकः यथा दैत्येषु—तात्पर्य यह है कि जहाँ-जहाँ लक्ष्मी के कटाक्ष का पात होता है वहाँ-वहाँ सर्वसम्पत्ति आती है जैसे अभी-अभी देववर्गों को । किन्तु जहाँ-जहाँ लक्ष्मी के कटाक्षपात का अभाव रहता है वहाँ-वहाँ पराजय और दरिद्रता रहती है जैसे अभी-अभी दैत्यवर्ग का दरिद्र होना । इसी बात को इस ३५वें श्लोक में कह रहे हैं ।

महत्ता महतां नाथ तस्यामायतते स्थितिः ।
न भ्रश्येत यथैवैषा तव राज्यस्थितिः परा ॥ ३६ ॥
तथा यतस्व देवेश शरणं गच्छ पद्मिनीम् ।
एषा हि श्रेयसो मूलमेषा हि परमा गतिः ॥ ३७ ॥

हे देवेन्द्र ! महत्ता रूप स्थिति उस महालक्ष्मी के ही आधीन है । इसलिये आपके इस उत्कृष्ट राज्य का जिस प्रकार विनाश न हो वैसा प्रयत्न करे । हे देवेश ! आप उन महालक्ष्मी की शरण में जाइये क्योंकि यहीं सारे कल्याण गुणों की मूल है और मोक्ष भी इन्हीं के हाथ में है ॥ ३६-३७ ॥

श्रुतीनामभिसंधिश्च सैव देवी सनातनी ।
एषैव जगतां प्राणा एषैव जगतां क्रिया ॥ ३८ ॥

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इस उक्त रीति के अनुसार सभी वेदों का तात्पर्यार्थ भी वही लक्ष्मी है । यही सारे जगत् का प्राण है और यहीं सारे जगत् की क्रिया है ॥ ३८ ॥

विमर्शिनी—श्रुतीनामिति = 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इत्युक्तरीत्या सर्ववेद-तात्पर्यपर्यवसानभूमिरित्यर्थः । उभयोरपृथग्भावान्न वचनविरोधः ॥ ३८ ॥

एषैव जगतामिच्छा ज्ञानमेषा परावरा ।
एषैव सृजते काले सैषा पाति जगत्त्रयम् ॥ ३९ ॥

सारा जगत् इन्हीं की अभिलाषा रखता है, यहीं ज्ञान है, यही परा और अपरा विद्या हैं। यही समय उपस्थित होने पर जगत् की सृष्टि करती हैं और यही समय उपस्थित होने पर तीनों जगत् का पालन करती हैं ॥ ३९ ॥

विमर्शिनी—जगत्कारणत्वस्य ब्रह्मासाधारणत्वसिद्धान्तेऽपि तच्छक्तिरूपत्वेन तदपृथक्सिद्धत्वात् शक्तिकृतस्यापि शक्तिमत्कृतत्वव्यपदेशो युज्यत एव। वक्ष्यते चैतत् सुस्पष्टं देव्यैव (११-६,७) ॥ ३९ ॥

जगत्संहरते चान्ते तत्तत्कारणसंस्थिता।
मातरं जगतामेनामनाराध्य महत् कुतः ॥ ४० ॥

इतना ही नही, उन उन कारणों में स्थित होकर वही जगत् का संहार भी करती हैं। इन जगन्माता की आराधना के बिना कौन महान् हो सकता है अथवा किसको महत्ता प्राप्त हो सकती है ॥ ४० ॥

एतत्तु वैष्णवं धाम यतो नावर्तते यतिः।
एषा सा परमा निष्ठा सांख्यानां विदितात्मनाम् ॥ ४१ ॥

यही 'वैष्णवधाम' हैं जहाँ जाकर योगीजन पुनः फिर नहीं लौटते। यहीं भगवती सांख्यशास्त्र के वेत्ताओं की परमा निष्ठा हैं ॥ ४१ ॥

एषा सा योगिनां निष्ठा यत्र गत्वा न शोचति।
एषा पाशुपती निष्ठा सैषा वेदविदां गतिः ॥ ४२ ॥

यही भगवती योगियों की भी निष्ठा हैं जहाँ योगीजन पहुँच कर किसी प्रकार का शोक नहीं करते। पाशुपतों की यहीं निष्ठा है और यही वेदवेत्ताओं की शरणस्थली (रक्षिका) हैं ॥ ४२ ॥

पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य सैषा निष्ठा सनातनी।
सैषा नारायणी देवी स्थिता नारायणात्मना ॥ ४३ ॥

सम्पूर्ण पञ्चरात्र के उपासकों की यहीं सनातनी निष्ठा हैं। यही नारायणी देवी नारायण की आत्मा रूप बनकर जगत् में स्थित हैं ॥ ४३ ॥

पृथग्भूतापृथग्भूता ज्योत्स्नेव हिमदीधितेः।
तैस्तैर्ज्ञानैः पृथग्भूतैरागमैश्च पृथग्विधैः ॥ ४४ ॥

यहीं चन्द्रमा में रहने वाली ज्योत्स्ना (चाँदनी) बनकर उनसे पृथक् रूप से (धर्मरूप से) अथवा अपृथक् रूप से (धर्मीरूप से) विद्यमान रहती हैं ॥ ४४॥

विमर्शिनी—नारायण्या नारायणात्मनावस्थानं पूर्वश्लोकोक्तमेवोपपादयति—

पृथग्भूतेति अपृथग्भूतेति च । धर्मधर्मिणोरपृथक्सिद्धयोः निष्कर्षविवक्षायां धर्मस्य पृथग्व्यपदेशः । अनिष्कर्षे तु धर्मितया । यथा 'शुक्ल रूपम्, शुक्लः पटः' इति ॥ ४४ ॥

एकैवैषा परा देवी बहुधा समुपास्यते ।
तामुपेहि महाभागां शरणं पद्मसंभवाम् ॥ ४५ ॥

यह परादेवी एक ही है जो बहुत प्रकार से पूजी जाती है । अतः हे देवेन्द्र ! आप उन महाभाग्यशालिनी कमलोद्भवा की शरण में जाइए ॥ ४५ ॥

तपोविशेषैर्विविधैस्तैस्तैश्च नियमैः शुभैः ।
आराध्य महिषीं विष्णोः स्थिरीकुरु निजश्रियम्॥ ४६ ॥

हे देवेन्द्र ! आप अनेक प्रकार के तपोविशेषों से तथा कल्याणकारी नियमों से उन विष्णुपत्नी की आराधना कर अपनी राज्यलक्ष्मी को उनके कृपा प्रसाद से स्थिर कीजिये ॥ ४६ ॥

एषा प्रसादसुमुखी स्वं पदं प्रापयिष्यति ।
अभीप्सितार्थदा देवी कामिनामपि कामदा॥ ४७ ॥

ये भगवती प्रसन्न हो जाने पर अपने भक्तों को अपना पद प्रदान करा देती है क्योंकि यह सभी अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाली है । बहुत क्या ? यह कामियों की कामना को भी पूर्ण कर देती है ॥ ४७ ॥

विमर्शिनी—देवी के प्रसन्न होने का फल परमपद की प्राप्ति है अन्य त्रिवर्ग (धर्म,अर्थ,काम) की प्राप्ति तो आनुषङ्गिक फल है ।

देवीप्रसादे परमपदरूपमोक्षप्राप्तिः, आनुषङ्गिकत्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) फल-प्राप्तिश्चानेनोच्यते ॥ ४७ ॥

नारदः—

इति संबोधितः शक्रो गुरुणा गुरुणा स्वयम् ।
आराधयितुकामस्तां क्षीरोदस्योत्तरं ययौ ॥ ४८ ॥

इतना कहकर नारद पुनः बोले—अत्यन्त महान् बृहस्पति के द्वारा इस प्रकार उपदेश किये जाने पर इन्द्र क्षीरसमुद्र की उत्तर दिशा में तप करने के लिये गए ॥ ४८ ॥

तत्र दिव्यं तपस्तेपे बिल्वमूलनिकेतनः ।
एकपादस्थितो मौनी काष्ठभूतोऽनिलाशनः ॥ ४९ ॥

वहाँ वे बिल्वमूल के नीचे बैठकर एक पैर से स्थित होकर मौन धारण

कर वायुभक्षी बनकर, काष्ठ की तरह निश्चल होकर अनेक दिव्य वर्षों तक तपस्या करने लगे ॥ ४९ ॥

ऊर्ध्वदृग्बाहुवक्त्रश्च नियतो नियतात्मवान् ।
दिव्यं वर्षसहस्रं वै तपस्तेपे सुदुश्चरम् ॥ ५० ॥

उन्होंने तपस्या करते समय अपनी आत्मा को यम एवं नियम से संयमित बना लिया । नेत्र, बाहु और मुख ऊपर की ओर कर लिया । इस प्रकार देवताओं के वर्ष से उन्होंने एक हजार वर्ष तक कठिन तपस्या की ॥ ५० ॥

विमर्शिनी—मनुष्यों का एक वर्ष देवताओं का एक दिन होता है । (द्र. भाग.३.११.११) । देवताओं का एक वर्ष मनुष्यों के ३६० वर्ष के बराबर होता है ॥ ५० ॥

तपसोऽवभृथे तस्य सा देवी पद्मसंभवा ।
प्रसन्नवदना विष्णोर्महिषी दर्शनं ययौ ॥ ५१ ॥

तपस्या पूर्ण करने के पश्चात् जब उन्होंने अवभृथ (यज्ञान्त) स्नान किया तभी प्रसन्नमुख वाली विष्णुपत्नी महालक्ष्मी ने उन्हें अपना दर्शन दिया ॥ ५१॥

अग्रतः संस्थितां देवीं जगतां मातरं पराम् ।
तां शक्रश्चक्षुषा वीक्ष्य विस्मयं परमं ययौ ॥ ५२ ॥

इस प्रकार परब्रह्मस्वरूपिणी जगन्माता महालक्ष्मी को अपने आगे संस्थित देखकर इन्द्र आश्चर्य से चकित हो गए ॥ ५२ ॥

विह्वलः प्रणिपत्याथ प्राञ्जलिर्बलसूदनः ।
श्रियं सूक्तेन तुष्टाव पद्मिनीं पाकशासनः ॥ ५३ ॥

तब बलनिषूदन, पाकशासन इन्द्र ने आश्चर्यचकित होकर हाथ जोड़कर उन महाभगवती को प्रणाम किया और 'श्रीसूक्त' से उनकी स्तुति करने लगे ॥ ५३ ॥

एकान्तभावमापन्नमव्याजां भक्तिमास्थितम् ।
तं वीक्ष्य जगतां माता वाक्यमेतदुवाच ह ॥ ५४ ॥

इस प्रकार सर्वथा निष्कपट रूप से भक्ति करते हुये एकान्त में स्थित उन इन्द्र को देखकर जगन्माता ने इस प्रकार के वचन कहे ॥ ५४ ॥

श्रीः—

वत्स शक्र प्रसन्नास्मि तपसा तव सुव्रत ।

वरं वृणु महाभाग किमिष्टं करवाणि ते ॥ ५५ ॥

श्री ने कहा—हे सुव्रत ! हे वत्स इन्द्र ! मैं आपकी इस तपस्या से परम प्रसन्न हूँ । हे महाभाग ! मुझ से वर माँगो, मैं तुम्हारा कौन सा अभीष्ट पूरा करूँ ॥ ५५ ॥

शक्रेण श्रीदेव्याः सकाशे तन्महिमवर्णनप्रार्थनम्

शक्रः—

अद्य मे तपसो देवि यमस्य नियमस्य च ।
सद्यः फलमवाप्तं यद् दृष्टा भगवती मया ॥ ५६ ॥

इन्द्र ने कहा—हे मातः ! आज मुझे अपने यम नियम का तथा तपस्या का फल सद्यः प्राप्त हो गया जो आप महाभगवती का इस प्रकार दर्शन प्राप्त हुआ है ॥ ५६ ॥

यदि वापि वरो देयस्त्वया मे परमेश्वरि ।
तत्त्वं कथय देवेशि यासि त्वं यत्प्रकारिका ॥ ५७ ॥

हे परमेश्वरि ! यदि आप मुझे वर देना चाहती हैं, तो हे देवेशि ! आप अपने तन्त्र (लक्ष्मीतन्त्र) के विषय में तथा आप जैसी या कैसी हैं ? अथवा आपका स्वरूप जैसा है उस विषय में मुझे बताइए ॥ ५७ ॥

यत्प्रमाणा यदाधारा यदुपाया सनातनी ।
यस्य त्वं तेन वा देवि संबन्धस्तव यद्विधः ॥ ५८ ॥

हे महेश्वरि ! आपका प्रमाण क्या है ? आधार क्या है ? आप किस उपाय से प्राप्त होती हो ? सनातनी आप जिसकी हो और उससे आपका सम्बन्ध क्या है ? उस सम्बन्ध की विधि मुझे बताइये ॥ ५८ ॥

यच्चान्यद्वेदितव्यं ते नानाशास्त्रोपबृंहितम् ।
कथयेश्वरि तत्सर्वमुपसन्नोऽस्म्यधीहि भो ॥ ५९ ॥

हे मातः ! आपके विषय में और जो वेदितव्य बातें नाना शास्त्रों में उपबृंहित (फैली) हैं उसे भी बताइए । मैं आपकी शरण में उपस्थित हूँ । मुझे इस विषय में आचार्य के समान उपदेश कीजिए ॥ ५९ ॥

इति प्रसादिता तेन वत्सेनेव पयस्विनी ।
स्निह्यता मनसा पद्मा पाकशासनमब्रवीत् ॥ ६० ॥

इस प्रकार जैसे एक बछड़ा अपनी गौ माता को प्रसन्न करता है उसी

प्रकार इन्द्र के द्वारा मन के स्नेह से प्रसन्न हुई भगवती महालक्ष्मीजी ने इन्द्र से कहा ॥ ६० ॥

श्रीः—

शृणु शक्र महाभाग या ह्यहं यत्प्रकारिका ।
यस्याहं तेन वा यादृक् संबन्धो मम वृत्रहन्॥ ६१ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे शास्त्रावतारो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

लक्ष्मी ने कहा—हे महाभाग इन्द्र ! मैं जो हूँ, मेरा स्वरूप जैसा है, मैं जिसकी हूँ ! उससे मेरा जैसा सम्बन्ध है ? वह सब कहती हूँ । हे वृत्रहन ! आप सुनिये ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के शास्त्रावतार नामक पहले अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्याय:

शुद्धमार्गप्रकाश:

परमात्मनो वासुदेवस्य श्रियश्च स्वरूपवर्णनम्

श्रीरुवाच—

अस्ति निर्दु:खनि:सीमसुखानुभवलक्षण: ।
परमात्मा परं यस्य पदं पश्यन्ति सूरय: ॥ १ ॥

महाश्री ने कहा—आत्यन्तिकदु:खाभावरूप और अनन्त कल्याणगुणाकर इत्याकारक उभयस्वरूप वाला कोई अनिर्वचनीय परमात्मा है । जिसका पद सूरि लोग (= सिद्धयोगीजन) प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

विमर्शिनी—निर्दु:खेत्यादिना निखिलहेयप्रत्यनीकत्वानन्तकल्याणगुणाकरत्व-रूपोभयलिङ्गत्वं परमात्मन उक्तं भवति ॥ १ ॥

कश्चित्केषांचिदात्मा स्यात्तस्यान्येषां च कश्चन।
तस्याप्यन्य इतीत्थं तु यत्रैषा व्यवतिष्ठते ॥ २ ॥

किन्हीं लोगों के मत में वह आत्मा पद (सर्वनियन्ता) से व्यपदेश्य है तथा अन्य के मत में वह कोई अनिर्वचनीय (जिसे कहा नहीं जा सकता) है । क़िन्हीं के मत में वह आत्मा से अन्य है । इस प्रकार जिसके विषय में लोगों की भिन्न-भिन्न व्यवस्थायें है वह परमात्मा है ॥ २ ॥

विमर्शिनी—आत्मा नियन्तेत्यर्थ: । एषेति व्यवस्थेति शेष: । व्यवतिष्ठते समाप्नोति, स परमात्मेति पूर्वेणान्वय: ॥ २ ॥

अध्वनामध्वन: पारं परमात्मानमूचिरे ।
अहं नाम स्मृतो योऽर्थ: स आत्मा समुदीर्यते ॥ ३ ॥

कोई लोग त्रैवर्गिक अध्वा, मोक्षाध्वा अथवा अर्चिरादि अध्वा से परे उसे

परमात्मा नाम देते हैं। जैसा कि कहा भी है—सोऽध्वन इति, जो सभी अध्वा से परे है वही महाविष्णु का स्थान है जिसका अर्थ 'अहं' है, जिसे आत्मा नाम से भी पुकारा जाता है, अर्थात् जो अहं पदार्थ से जाना जाता है, वह आत्मा है ॥ ३ ॥

विमर्शिनी—अध्वनामिति । त्रैवर्गिकाध्वापेक्षया परमो योऽध्वा मोक्षाध्वा अर्चिरादिः, तस्य पारं प्राप्यमित्यर्थः; "सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" इति वचनात् । "अध्वनामध्वपते" इति श्रुत्युद्धरणमत्र । अहमिति । यः अहंप्रत्ययगोचरः स आत्मेत्यर्थः ॥ ३ ॥

अनवच्छिन्नरूपोऽहं परमात्मेति शब्द्यते ।
क्रोडीकृतमिदं सर्वं चेतनाचेतनात्मकम् ॥ ४ ॥

जिसका परिच्छेद किसी के द्वारा नहीं किया जा सकता, जिसका पर्यवसान अहंवृत्ति में होता है वहीं परमात्मा है । जिसके द्वारा चेतना अथवा चेतनात्मक सारा जगत् क्रोडीकृत है ॥ ४ ॥

विमर्शिनी—अनवच्छिन्नेति । वस्त्वाद्यपरिच्छेदेन योऽहंशब्दापर्यवसानवृत्त्या प्रतीयते स परमात्मेत्यर्थः ॥ ४ ॥

येन सोऽहंस्मृतो भावः परमात्मा सनातनः ।
स वासुदेवो भगवान् क्षेत्रज्ञः परमो मतः ॥ ५ ॥

जिससे अहंभाव का स्मरण होता है वही परमात्मा है, वही भगवान् वासुदेव कहे जाते हैं, जिन्हें परम तथा क्षेत्रज्ञ भी कहा जाता है ॥ ५ ॥

विष्णुर्नारायणो विश्वो विश्वरूप इतीर्यते ।
अहंतया समाक्रान्तं तस्य विश्वमिदं जगत् ॥ ६ ॥

उन्हें ही विष्णु, नारायण, विश्व और विश्वरूप कहा जाता है । यह सारा विश्व उन्हीं की अहन्ता से व्याप्त है ॥ ६ ॥

विमर्शिनी—आह च शक्रोऽन्यत्र—

"त्वयैतद्विष्णुना चाम्ब जगद्व्याप्तं चराचरम्" इति ॥ ६ ॥

वस्त्ववस्तु च तन्नास्ति यन्नाक्रान्तमहंतया।
इदंतया यदालीढमाक्रान्तं तदहंतया ॥ ७ ॥

इस जगत् में कोई भी ऐसी वस्तु या अवस्तु नहीं हैं, जो 'अहन्ता' से आक्रान्त न हो । इदन्तया प्रतीत होने वाला यह सारा जगत् उस 'अहन्ता' से आक्रान्त है ॥ ७ ॥

विमर्शिनी—इदंतयेति = इदंशब्दार्थतया प्रतीतं सर्वं जगदित्यर्थः ॥ ७ ॥

सर्वतः शान्त एवासौ निर्विकारः सनातनः ।
अनन्तो देशकालादिपरिच्छेदविवर्जितः ॥ ८ ॥

शोक, मोह, जन्म-मृत्यु और सुख-दुःख इन छह तरङ्गों से रहित होने के कारण वह सर्वथा शान्त है, निर्विकार और सनातन है । देशकाल आदि से परिच्छिन्न न होने के कारण वह अनन्त है ॥ ८ ॥

महाविभूतिरित्युक्तो व्याप्तिः सा महती यतः ।
तद् ब्रह्म परमं धाम निरालम्बनभावनम् ॥ ९ ॥

उस अहन्ता की व्याप्ति महती है, इसलिये उसे महाविभूति कहते हैं । उसका कोई आलम्बन नहीं है, इसलिये वही ब्रह्म है, वही परम धाम (तेजःस्वरूप) है ॥ ९ ॥

निस्तरङ्गामृताम्भोधिकल्पं षाड्गुण्यमुज्ज्वलम् ।
एकं तच्चिद्घनं शान्तमुदयास्तमयोज्झितम् ॥ १० ॥
अपृथग्भूतशक्तित्वाद् ब्रह्माद्वैतं तदुच्यते ।
तस्य या परमा शक्तिर्ज्योत्स्नेव हिमदीधितेः ॥ ११ ॥

वह सर्वथा प्रशान्त अमृतसागर के समान है, षाड्गुण्य और उज्ज्वल है, उदय और अस्त से विवर्जित है, शान्त है, एक अद्वितीय और चिद्घन है । अर्थात् अपने से अपृथक् रूप रहने वाले सिद्धशक्ति अहंता से विशिष्ट और पृथक् रूप से रहने के कारण विशिष्ट भी एक वह अद्वैतब्रह्म हैं, जैसे चन्द्रमा में रहने वाली ज्योत्स्ना उससे पृथक् तथा अपृथक् रहकर भी उसी में आश्रित रहती है ॥ १०-११ ॥

विमर्शिनी—निस्तरङ्गेत्यादिना भगवतः शान्तोदितावस्थोच्यते । तदेवाह-शान्तमिति ॥ १० ॥ ब्रह्माद्वैतमिति । स्वापृथक्सिद्धशक्त्यहन्ताविशिष्टत्वात् तद्विशिष्टं ब्रह्मैकमेव तत्त्वमित्यर्थः, स्वस्वरूपस्य तदपृथक्सिद्धत्वमेव दृष्टान्तमुखेनाह—ज्योत्स्नेति ॥ ११ ॥

सर्वावस्थागता देवी स्वात्मभूतानपायिनी ।
अहंता ब्रह्मणस्तस्य साहमस्मि सनातनी ॥ १२ ॥

मैं सभी अवस्थाओं में उनके साथ रहती हूँ । उनकी आत्मा से पृथक् निवास नहीं करती । मैं ही उस परब्रह्म की अहंता हूँ, सनातनी हूँ, मैं ब्रह्म का साथ कभी नहीं छोड़ती जब वे राघव बनकर जन्म लेते हैं तो मैं सीता बनकर उनके साथ ही आती हूँ । जब वे श्रीकृष्ण के रूप में अवतरित होते

हैं तब मैं रुक्मिणी बनकर जन्म लेती हूँ । इसी प्रकार अन्य अवतारों में भी मैं उनके साथ ही आती हूँ ॥ १२ ॥

विमर्शिनी—सर्वावस्थागतानपायिनीत्यनेन 'राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्ण-जन्मनि । अन्येषु चावतारेषु विष्णोरेषानपायिनी' इति महर्षिवचनं स्मार्यते ॥१२॥

आत्मा स सर्वभूतानामहंभूतो हरिः स्मृतः ।
अहन्ता सर्वभूतानामहमस्मि सनातनी ॥ १३ ॥

वह हरि सर्वभूतों की आत्मा है, अहङ्कार है और मैं सभी प्राणियों में रहने वाली सनातनी अहन्ता हूँ ॥ १३ ॥

येन भावेन भवति वासुदेवः सनातनः ।
भवतस्तस्य देवस्य स भावोऽहमितीरिता ॥ १४ ॥

जिस भाव (भाव भावना क्रिया एवं उद्देश्य) से भगवान् वासुदेव अवतार ग्रहण करते हैं उन अवतरित होने वाले भगवान् वासुदेव का भाव मैं हूँ—ऐसा कहा जाता है ॥ १४ ॥

भवद्भावात्मकं ब्रह्म ततस्तच्छाश्वतं पदम् ।
भवन्नारायणो देवो भावो लक्ष्मीरहं परा ॥ १५ ॥

भवद् भावात्मक ब्रह्म हैं, तदनन्तर उनका शाश्वत पद है । उसमें जो भवत् है वह नारायण देव हैं और ज़ो भाव है वह मैं लक्ष्मी हूँ ॥ १५ ॥

लक्ष्मीनारायणाख्यातमतो ब्रह्म सनातनम् ।
अहंतया समाक्रान्तो ह्यहमर्थः प्रसिध्यति ॥ १६ ॥

इसलिये लक्ष्मी से विशिष्ट श्री नारायण ही परब्रह्म हैं । निःश्रीक नारायण परब्रह्म नहीं कहे जाते । अहन्ता से समाक्रान्त होने पर ही 'अहम्' इस अर्थ की प्रसिद्धि होती है, अहंता के बिना 'अहं' पदार्थ की स्थिति असंभव है ॥ १६ ॥

विमर्शिनी—श्रीविशिष्टमेव परं ब्रह्म । न तु निःश्रीकमित्यर्थः लक्ष्मीनारायण-योरुभयोरात्महविःशेषित्वेऽपि आग्नावैष्णवादिष्विव विशिष्टस्यैवोद्देश्यत्वात् तस्य चैकत्वात् न शेषिद्वित्वप्रसक्तिरिति भावः ॥ १६ ॥

अहमर्थसमुत्था च साहंता परिकीर्तिता ।
अन्योन्येनाविनाभावादन्योन्येन समन्वयात् ॥ १७ ॥

'अहं' पद का जो अर्थ है वहीं अहन्ता कही जाती है । अहं के बिना अहन्ता की स्थिति नहीं । अहन्ता के बिना 'अहं' की स्थिति नहीं । वही

अविनाभाव कहा जाता है । जब एक की स्थिति दूसरे के बिना न रहे । इसीलिये दोनों का समन्वय कहा जाता है ॥ १७ ॥

तादात्म्यं विद्धि संबन्धं मम नाथस्य चोभयोः ।
अहंतया विनाहं हि निरुपाख्यो न सिध्यति ॥ १८ ॥

महालक्ष्मी ने कहा—हे इन्द्र ! इसलिये हमारा और हमारे नाथ का परस्पर तादात्म्य (अभेद) सम्बन्ध है । अहन्ता के बिना केवल निरुपाधिक ब्रह्म की प्रसिद्धि (स्थिति) संभव नहीं है । लोक में सारी वस्तुयें इदमित्थं रूपेण ही प्रसिद्ध है ॥ १८ ॥

विमर्शिनी—निरुपाख्यो निर्विशेषः । लोके सर्वमपि वस्तु इदमित्थमिति प्रकारविशेषपुरस्कारेणैव सिध्यति; न तु निर्विशेषमिति भावः ॥ १८ ॥

अहमर्थं विनाहंता निराधारा न सिध्यति ।
भवद्भावात्मकं रूपं समस्तव्यस्तगोचरम् ॥ १९ ॥

अहमर्थ के बिना निराधारा (निर्विशेष) अहन्ता की भी स्थिति संभव नहीं है । यह भवद्भावात्मक रूप समस्त (एक में रहने पर) रूप में और व्यस्त (पृथक्-पृथक्) रूप में भी स्पष्ट जाना जा सकता है ॥ १९ ॥

परोक्षमपरोक्षं च जगति प्रविचिन्त्यते ।
निरुन्मेषे निरुन्मेषा साहंता पारमेश्वरी ॥ २० ॥
क्रोडीकृत्याखिलं सर्वं ब्रह्मणि व्यवतिष्ठते ।
उन्मेषस्तस्य यो नाम यथा चन्द्रोदयेऽम्बुधेः ॥ २१ ॥

यह अहं अहन्ता का भाव जगत् में परोक्ष और अपरोक्ष (प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष) दोनों रूपों में ज्ञात होता है । उनके उन्मेष (विकास) न होने पर जो स्वयं उन्मेष रहित हो जावे वही **पारमेश्वरी अहन्ता** है । यह निरुन्मेष की स्थिति तब होती है जब अहन्ता सारे जगत् को अपने में एकत्र कर ब्रह्म में स्थित हो जाती है। उन्मेष उसको कहते हैं जैसे चन्द्रमा के उदय होने पर समुद्र उद्वेलित हो जाता है ॥ २०-२१ ॥

अहं नारायणी शक्तिः सिसृक्षालक्षणा तदा ।
निमेषस्तस्य यो नाम संहतौ परमात्मनः ॥ २२ ॥

मैं नारायण की शक्ति हूँ । मेरी दो शक्तियाँ हैं—प्रथम सिसृक्षा लक्षणा शक्ति (सृष्टि करने की इच्छा), जिससे जगत् की सृष्टि होती है, और दूसरी सुषुप्सा लक्षणा शक्ति, जिससे इस जगत् का संहार होता है वह सुषुप्सा लक्षणा शक्ति कही जाती है ।

विमर्शिनी—परमात्मा जब सिसृक्षा की स्थिति में होते हैं तब उन्हें उन्मेष और जब संहार की स्थिति में होते हैं तब निर्मेष कहा जाता है । नित्य विभूति के विषय में प्रथमा शक्ति का उपयोग और लीला विषय में द्वितीया शक्ति का उपयोग जानना चाहिये । उसी बात को आगे के श्लोक में कहते हैं ॥ २२ ॥

विमर्शिनी—देव्या: शक्तिरूपत्वं पूर्वमुक्तम् । अधुना तद्भेद उच्यते—सिसृक्षाशक्ति: सुषुप्साशक्तिश्चेति । प्रथमया सृष्टि:, द्वितीयया संहारश्च जायते । तत्र नित्यविभूतिविषये प्रथमाया एव प्रवृत्ति: । द्वितीयायास्तु लीलाविभूतावेवोपयोग: ॥ २२ ॥

अहं नारायणी शक्ति: सुषुप्सालक्षणा हि सा ।
सिसृक्षाया ममोद्यन्त्या देवाल्लक्ष्मीपते: स्वयम् ॥ २३ ॥
अव्याहतमसङ्कोचमैश्वर्यं प्रविजृम्भते ।
ज्ञानं तत्परमं ब्रह्म सर्वदर्शि निरामयम् ॥ २४ ॥

षाड्गुण्यस्वरूपकथनम्

ज्ञानात्मिका तथाहंता सर्वज्ञा सर्वदर्शिनी ।
ज्ञानात्मकं परं रूपं ब्रह्मणो मम चोभयो: ॥ २५ ॥

मैं नारायणी देवी जब सिसृक्षा लक्षणा की स्थिति में रहती हूँ तब महालक्ष्मीपति उन महाविष्णु का अव्याहत, सङ्कोचरहित ऐश्वर्य अपने आप विकसित हो जाता है । अत: ज्ञान ही परमब्रह्म है । सर्वदर्शी है । निरामय है। ज्ञानात्मिका और अहन्ता यह शक्ति सर्वज्ञा और सर्वदर्शिनी है । मेरा और उन परब्रह्म परमात्मा का ज्ञानात्मक स्वरूप सर्वोत्कृष्ट है । अत: ज्ञान हम दोनों का स्वरूप है ॥ २३-२५ ॥

विमर्शिनी—ज्ञानादिषु षट्सु गुणेषु ज्ञानं तत्स्वरूपनिरूपकधर्म: । अन्ये गुणास्तु निरूपितस्वरूपविशेषणभूता इति विवेक: । तदेव वक्ष्यत्युत्तरत्र 'शेषमैश्वर्यवीर्यादि ज्ञानधर्म:' इति । ज्ञानाख्यस्य स्वरूपस्य धर्म इत्यर्थ: ॥ २४ ॥

शेषमैश्वर्यवीर्यादि ज्ञानधर्म: सनातन: ।
अहमित्यान्तरं रूपं ज्ञानरूपमुदीर्यते ॥ २६ ॥

छह गुणों में ज्ञान के अतिरिक्त शेष ऐश्वर्य एवं वीर्यादि सहकारी अनपेक्षा उस ज्ञान के सनातन धर्म है । अत: अन्त:करण में रहने वाला एक विशेष स्वरूप ही **ज्ञान** कहा जाता है ॥ २६ ॥

प्रकाशकादिकं रूपं स्फटिकादिसलक्षणम् ।
अतस्तु ज्ञानरूपत्वं मम नारायणस्य च ॥ २७ ॥

जैसे स्फटिक का प्रकाश रूप होता है उसी प्रकार ज्ञान का स्वरूप भी प्रकाशमय है । इसलिये मेरा और नारायण दोनों का ज्ञान ही स्वरूप होता है ॥ २७ ॥

अव्याहतिर्यदुद्यत्यास्तदैश्वर्यं परं मम ।
इच्छेति सोच्यते तत्तत्तत्त्वशास्त्रेषु पण्डितैः ॥ २८ ॥

सिसृक्षा करते समय जिस अव्याहत ऐश्वर्य का उदय होता है उसे ही आगमशास्त्र के पण्डित मेरी **इच्छा** कहते है ॥ २८ ॥

विमर्शिनी—इच्छेति । सिसृक्षाशक्तेरैश्वर्यरूपत्वं पूर्वं चतुर्विंशे श्लोके वर्णितमत्र स्मर्तव्यम् । सिसृक्षा हि स्रष्टुमिच्छा ॥ २८ ॥

जगत्प्रकृतिभावो मे यः सा शक्तिरितीर्यते ।
सृजन्त्या यच्छ्रमाभावो मम तद्बलमिष्यते ॥ २९ ॥

जगत् का जो प्रकृतिभाव है वह मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा मानने पर विकार की संभावना हो सकती है । अतः वह तो हमारी शक्ति है । इतनी बड़ी सृष्टि करने पर भी जो मुझ में शिथिलता या श्रम का अभाव दिखाई पड़ता है वह तो हमारा बल कहा जाता है ॥ २९ ॥

विमर्शिनी—देव्या जगत्प्रकृतिभावो न स्वरूपतः, तथात्वे विकारित्वप्रसङ्गात् । किंतु स्वप्रकारभूतचिदचिदात्मनेति द्रष्टव्यम् । एषैव हि ब्रह्मणो जगत्प्रकृतित्वे गतिः ॥ २९ ॥

भरणं यच्च कार्यस्य बलं तच्च प्रचक्षते ।
शक्त्यंशकेन तत्प्राहुर्भरणं तत्त्वकोविदाः ॥ ३० ॥

जगत् की सृष्टि रूप कार्य को जो मैं धारण करती हूँ पोषण करती हूँ उसे तत्त्व के ज्ञाता बल कहते हैं । इतनी बड़ी सृष्टि का जो मैं भरण-पोषण करती हूँ वह तो मेरी शक्ति का एकमात्र (अंश) है ॥ ३० ॥

विकारविरहो वीर्यं प्रकृतित्वेऽपि मे सदा ।
स्वभावं हि जहात्याशु पयो दधिसमुद्भवे ॥ ३१ ॥

मैं यद्यपि प्रकृति स्वरूपा भी हूँ, किन्तु इतने पर भी मेरे पराक्रम में कोई विकार नहीं होता । जैसे दूध दधि के रूप में परिणत तो होता है किन्तु वह प्रकार अंश का परिणाम है वह प्रकारी का अंश नहीं है ॥ ३१ ॥

विमर्शिनी—विकारविरहित्वं, पूर्वोक्तरीत्या प्रकारांशे परिणामः न तु प्रकार्यंश इति स्वीकारात् । प्रकारिभूते स्वरूप एव परिणाममङ्गीकृत्य अघटितघटनासामर्थ्यात्

विकारामावनिर्वाहस्तु न युक्तिसहः । अत एव "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" इत्यत्रेश्वरोपाधिभूतमायायां प्रकृतित्वमर्थ इति केषांचिदभ्युपगमः ॥ ३१ ॥

जगद्भावेऽपि सा नास्ति विकृतिर्मम नित्यदा ।
विकारविरहो वीर्यमतस्तत्त्वविदां मतम् ॥ ३२ ॥

जगत् के उत्पन्न करने पर भी मेरी प्रकृति में कोई विकृति कभी किसी प्रकार की नहीं होती । तत्त्ववेत्ता लोग पराक्रम तो उसे कहते ही हैं जिसमें किसी प्रकार की विकृति न हो ॥ ३२ ॥

विक्रमः कथितो वीर्यमैश्वर्यांशः स तु स्मृतः ।
सहकार्यनपेक्षा मे सर्वकार्यविधौ हि या ॥ ३३ ॥

विक्रम (पुरुषार्थ) को ही वीर्य कहते हैं जो मेरे ऐश्वर्य का एक अंश है । मेरे सभी कार्यों के विधान में मुझे किसी सहकारी की अपेक्षा नहीं होती ॥ ३३ ॥

तेजः षष्ठं गुणं प्राहुस्तमिमं तत्त्ववेदिनः ।
पराभिभवसामर्थ्यं तेजः केचित्प्रचक्षते ॥ ३४ ॥
ऐश्वर्ये योजयन्त्येके तत्तेजस्तत्त्वकोविदाः ।
इति पञ्च गुणा एते ज्ञानस्य स्तुतयोऽमलाः ॥ ३५ ॥

तत्त्ववेत्ता लोग तेज को मेरा छठवाँ गुण मानते हैं । कोई विद्वान् शत्रु को पराभूत करने वाले सामर्थ्य को तेज कहते हैं । तत्त्ववेत्ता लोग मेरे उस तेज को ऐश्वर्य से सम्बन्धित करते हैं । इस प्रकार मेरे ज्ञान से ये निर्मूल पाँच गुण (ऐश्वर्य, बल, वीर्य, निरपेक्षता और तेज) उत्पन्न हुये हैं ॥ ३४-३५ ॥

ज्ञानाद्याः षड्गुणा एते षाड्गुण्यं मम तद्वपुः ।
उद्यतीत्थं सिसृक्षाया ममायुततमी कला ॥ ३६ ॥

यदि इसमें ज्ञान को भी सम्मिलित कर लिया जाय तब मेरा शरीर छह गुणों से युक्त होकर षाड्गुण्य हो जाता है । जब मैं सृष्टि के लिये उद्यत होती हूँ तब हजारों कलाएँ अपने आप उत्पन्न होने लगती हैं ॥ ३६ ॥

विमर्शिनी—अद्यतीति = उदयं प्राप्तेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

शुद्धसृष्टौ चातुरात्म्यकथनम्

शुद्धाशुद्धात्मको वर्गस्तया क्रोडीकृतोऽखिलः ।
तत्र शुद्धमयं मार्गं व्याख्यास्यामि सुरेश्वर ॥ ३७ ॥

मेरी सृष्टि के दो वर्ग हैं—प्रथम शुद्धात्मक वर्ग है, और द्वितीय अशुद्धात्मक वर्ग। त्रैगुण्यरहित, केवल, शुद्धसत्त्वमयी शुद्धा सृष्टि, जो जड़ रहित (चेतन) और स्वयं प्रकाश है, इसी को नित्य विभूति शब्द से व्यवहार किया जाता है। हे इन्द्र! अब अशुद्धसृष्टि त्रिगुणमयी सृष्टि (मार्ग) की व्याख्या करती हूँ, उसे सुनिए ॥ ३७ ॥

विमर्शिनी—शुद्धसृष्टिः, अशुद्धसृष्टिश्चेति द्विविधा सृष्टिः। तत्र शुद्धा त्रैगुण्यरहिता शुद्धसत्त्वमयी। तस्याः स्वयंप्रकाशत्वादजडत्वमिति केचित्। जडत्वमेवेति परे। अस्या एव नित्यविभूतिरिति व्यवहारः। अशुद्धसृष्टिस्तु त्रैगुण्यमयी जडरूपा लीलाविभूतिरिति व्यवहृता ॥ ३७ ॥

अभिव्यक्तानभिव्यक्तषाड्गुण्यक्रममुज्ज्वलम्।
आलम्बितचतूरूपं रूपं तत्पारमेश्वरम् ॥ ३८ ॥

अभिव्यक्त, अनभिव्यक्त, षाड्गुण्य और उज्ज्वल—ये चार स्वरूप उस शुद्धसृष्टि के आधार हैं जिसे परमेश्वर का स्वरूप भी कहा जाता है ॥ ३८ ॥

विमर्शिनी—इस श्लोक का तात्पर्य इस प्रकार है—शुद्धसृष्टि केवल नित्य विभूति मात्र नहीं है किन्तु उसमें रहने वाले वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नामक व्यूह भी रहते हैं। उक्त व्यूहों में वासुदेव व्यूह में षाड्गुण्य का स्पष्ट रूप से अवभास नहीं होता। उसके बाद में होने वाले व्यूहों में किञ्चित् किञ्चित् क्रमशः अवभास होता है। उनमें किसी व्यूह में गुणों का सम्यक् उन्मेष होता है। इसलिये गुणात्मतया उनका ज्ञान नहीं होता। किसी में क्रम पूर्वक अभिव्यक्ति होने से क्रमाभिव्यक्ति होती है। किसी में गुणों के अत्यन्त प्रकाशित होने से गुण रूप से स्पष्ट परिज्ञान होता रहता है।

न केवलं नित्यविभूतिरेव शुद्धसृष्टिः। किंतु तत्र विद्योतमानाः वासुदेवसङ्कर्षण-प्रद्युम्नानिरुद्धाख्या व्यूहा अपि तथेति मन्तव्यम्। तत्र प्रथमे वासुदेवे षाड्गुण्यक्रमस्य न स्फूटावभासः। तदनन्तरव्यूहेषु तु किंचित्किंचित् क्रमेणेति ज्ञेयम् ॥ ३८ ॥

गुणकल्पनयाध्यस्तो गुणोन्मेषकृतक्रमः।
मूर्तीकृतगुणश्चेति त्रिधा मार्गोऽयमद्‌भुतः ॥ ३९ ॥

उस शुद्धसृष्टि के ये तीन अद्‌भुत मार्ग हैं—प्रथम जिसमें गुणों की कल्पना कर अध्यास (आरोप) किया जाता है, दूसरी शुद्ध सृष्टि गुणों के उन्मेष के क्रम से होती है, तीसरी मूर्त्ति अध्यस्त गुणों से होती है ॥ ३९ ॥

विमर्शिनी—तेषु क्वचित् व्यूहे गुणानां सम्यगनुन्मेषात् न गुणात्मतया

ज्ञानम्। क्वचित्तु क्रमेणोन्मेषात् क्रमादभिव्यक्तिः । क्वचित्तु गुणानामतिप्रकाशात् गुणात्मना परिज्ञानमिति क्रमः ॥ ३९ ॥

युगानि त्रीणि षण्णां यान्याहुर्ज्ञानादिकानि वै ।
समासव्यासतस्तेषां चातुरात्म्यं विविच्यते ॥ ४० ॥
समस्तव्यस्तभेदेन गुणानां तद्युगत्रयम् ।
विवक्ष्यते यदा सा मे शान्तायाश्चातुरात्म्यता ॥ ४१ ॥

ऊपर जो ज्ञान, ऐश्वर्य, बल, वीर्य, स्वातन्त्र्य और तेज—ये छह गुण बताए गए हैं उनमें दो-दो का विभाग करने से तीन युग्म (जोड़े) और बनते हैं । अतः समास (संक्षेप) और व्यास (विस्तार) के क्रम से चार प्रकार की विधि कही गई है । जब समस्त (= संक्षेप) और व्यस्त (= विस्तार) से इन तीन जोड़े वाले गुणों की विवक्षा होती है तब मेरी शान्तावस्था को लेकर चार प्रकार बनते हैं ॥ ४०-४१ ॥

आकृतीरनवेक्ष्यापि गुणानां कल्पनाकृतम् ।
चातुरात्म्यमिदं प्राहुः शान्तायास्तत्त्वचिन्तकाः ॥ ४२ ॥

आकृति को देखे बिना गुणों के द्वारा मेरी शान्तावस्था की कल्पना कर लेनी चाहिये—ऐसा आगमशास्त्र के विद्वानों ने कहा है, अर्थात् जब गुण हैं तब वे बिना आश्रय के रह नहीं सकते । अतः उक्त तीनों जोड़े गुणों का मेरी शान्तावस्था आश्रय है । यह आकृति को बिना देखे कल्पनाकृत है ॥ ४२ ॥

शान्तातिशान्तादुन्मेषो मम रूपाद्युगत्रये ।
क्रमव्यक्तं तदाद्यं मे चातुरात्म्यममूर्तिमत् ॥ ४३ ॥

मेरे शान्त और अतिशान्त रूप से तीनों जोड़े गुणों का क्रम व्यक्त होता है । इसलिये मेरी चौथी अवस्था मूर्ति रहित है ॥ ४३ ॥

अतरङ्गमनिर्देश्यं निःसत्तं सत्त्वमव्ययम् ।
सच्चिन्मात्राख्य उन्मेषः साद्या मे शान्तताच्युतिः ॥ ४४ ॥

जिससे इस अन्तरङ्ग, अनिर्देश्य, सत्तारहित, सत्त्व, अव्यय एवं सच्चिन्मात्र नामक तत्त्व का उन्मेष होता है, वह मेरी कभी च्युत न होने वाली शान्तावस्था है ॥ ४४ ॥

व्यक्तज्ञानबलाख्यायां पूर्वं सङ्कर्षणात्मनि ।
तिलकालकवत्सर्वो विकारो मयि तिष्ठति ॥ ४५ ॥

इसके बाद मेरी दूसरी सङ्कर्षण नामक अवस्था है, जिसमें ज्ञान और बल

की अभिव्यक्ति है, जिसमें काले तिल के समान यह सारा जागतिक विकार स्थित है । तात्पर्य यह कि जैसे काले वर्ण का बिन्दुविशेष चिन्ह, जिसका अत्यन्त छोटा परिमाण है, प्राणियों के शरीर के एकदेश में रहता है, उसी प्रकार यह सारा जागतिक प्रपञ्च मेरे सङ्कर्षण नामक अवस्था के एकदेश में अकिंचित्कर रूप से रहता है, जिसमें ज्ञान और बल का उन्मेष है ॥ ४५ ॥

विमर्शिनी—तिलकालकवदिति । यथा प्राणिनां देहे तिलवत् सूक्ष्मः कालवर्णश्च बिन्दुविशेषोऽत्यल्पपरिमिते क्वचित्कोणे दृश्यते, तद्वत् सर्वोऽपि प्रपञ्चः ममैकदेशे तिष्ठतीत्यर्थः । सङ्कर्षतीति सङ्कर्षण इत्यन्वर्थं नाम । अत्र ज्ञानबलयोः समुन्मेषः ॥ ४५ ॥

तन्मां सङ्कर्षणात्मानं विदुर्ज्ञानबले बुधाः ।
स्वयं गृह्णामि कर्तृत्वमुन्मिषन्ती ततः परम् ॥ ४६ ॥

इसलिये बुद्धिमानों ने सङ्कर्षतीति सङ्कर्षणः (जो ज्ञान और बल को खींच लेवे) इस प्रकार के अन्वर्थ नाम से मुझे कहा है । इसके बाद ज्ञान और बल के उन्मेष हो जाने पर मैं स्वयं सृष्टि का कर्तृत्व ग्रहण करती हूँ ॥ ४६ ॥

प्रद्युम्न इति मामाहुः सर्वार्थद्योतनीं तदा ।
युगं प्रस्फुरितं रूपं तस्मिन्नैश्वर्यवीर्ययोः ॥ ४७ ॥

इसलिये 'प्रकृष्टं द्युम्नं बलं तेजो वा यस्य सः' इस व्युत्पत्ति से बुद्धिमान लोग मुझे प्रद्युम्न कहते हैं । मेरी इस अवस्था में वीर्य और ऐश्वर्य का उन्मेष होता है ॥ ४७ ॥

विमर्शिनी—प्रकृष्टं द्युम्नं बलं तेजो वा यस्येत्यन्वर्थं नाम । सृष्टिकर्तृत्वात् अत्र वीर्यैश्वर्ययोः समुन्मेषः ॥ ४७ ॥

ततस्तया क्रियाशक्त्या लब्धावेशा चिकीर्षया ।
युज्यमानानिरुद्धाख्यां लम्भिता तत्त्वकोविदैः ॥ ४८ ॥

उस समय चिकीर्षा रूप क्रियाशक्ति से मुझ में आवेश उत्पन्न होता है, तब मैं अनिरुद्ध नाम से कही जाती हूँ । ऐसा तत्त्ववेत्ताओं का कहना है । तब मुझ में शक्ति और तेज का उन्मेष होता है ॥ ४८ ॥

विमर्शिनी—अनिरुद्धेति । पालनकर्तैषः । अत्र शक्तितेजसोः समुन्मेषः । तथा च सङ्जगृहुः—"षाड्गुण्याद्वासुदेवः पर इति स भवान्मुक्तभोग्यो बलाढ्याद्-बोधात्सङ्कर्षणस्त्वं हरसि वितनुषे शास्त्रमैश्वर्यवीर्यात् । प्रद्युम्नः सर्गधर्मौ नयसि च भगवन् शक्तितेजोऽनिरुद्धो बिभ्राणः पासि सत्त्वं गमयसि च तथा व्यूह्य रङ्गाधिराज ॥" इति ॥ ४८ ॥

अवस्थाः क्रमशो मे ताः सुषुप्तिस्वप्नजागराः ।
तिस्रो मम स्वभावाख्या विज्ञानैश्वर्यशक्तयः ॥ ४९ ॥

सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इनकी क्रमशः सुषुप्ति, स्वप्न और जागृति अवस्था होती है । किन्तु वासुदेव सर्वदा तुरीयावस्था में ही रहते हैं । उक्त तीनों अवस्थाओं को स्वभाव के नाम से भी कहा जाता है । जिसमें क्रमशः विज्ञान ऐश्वर्य और शक्ति का निवास है ॥ ४९ ॥

विमर्शिनी—सुषुप्तीत्यादि । सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानां सुषुप्त्याद्यधिष्ठातृत्वम् । वासुदेवस्तु तुरीयाधिष्ठातेति विवेकः । अयमेव विभागः माण्डूक्योपनिषदि विश्व-तैजसप्राज्ञतुर्यनामभिर्निर्दिष्टः ॥ ४९ ॥

उन्मिषन्त्यः पृथक्तत्त्वत्रयेण परिकीर्तिताः ।
बलं वीर्यं तथा तेज इत्येतत्तु गुणत्रयम् ॥ ५० ॥
श्रमाद्यवस्थाभावाख्यं ज्ञानादेरुपसर्जनम् ।
इत्थं शान्तोदितावस्थाद्वयभेदजुषो मम ॥ ५१ ॥

इस प्रकार बल, वीर्य और तेज इन तीन गुणों को पृथक् तत्त्व रूप से उन्मेष करने वाली 'सङ्कर्षण' 'प्रद्युम्न' और 'अनिरुद्ध' व्यूहों का वर्णन किया ॥ ५० ॥

श्रमादि अवस्था का अभाव ज्ञानादि अवस्था का उपसर्जन है, अर्थात् मुझ में ज्ञानादि का भी कभी अभाव नहीं होता । इस प्रकार मेरी अवस्था के दो भेद होते हैं—प्रथम शान्तावस्था, द्वितीय उदितावस्था । परन्तु वासुदेवावस्था, शान्तावस्था और व्यूहावस्था उदितावस्था कही जाती है । शान्तोदितावस्था प्रथम व्यूह है और अन्य तीन द्वितीय व्यूह समझना चाहिये ॥ ५१ ॥

विमर्शिनी—शान्तोदितेति । शान्तावस्था परवासुदेवावस्था । उदितावस्था व्यूहावस्था । तत्रापि शान्तोदितावस्थः प्रथमव्यूहः । नित्योदितावस्था अन्ये त्रय इति विशेषः ॥ ५१ ॥

स्वधर्मोर्मिसमुल्लासो न भेदायाम्बुधेरिव ।
प्रायो यद्गुणकर्तव्ये वर्ते कृत्या यया ह्यहम् ॥ ५२ ॥

जैसे समुद्र में अनेक प्रकार के तरङ्ग उठते हैं, उनमें भेद नहीं होता, उसी प्रकार अपने धर्म वाले ऊर्मियों के समुल्लास में भेद नहीं होता ॥ ५२ ॥

तत्र तद्गुणयुग्मं तु मम रूपतयोच्यते ।
अतो ज्ञानबले देवः सङ्कर्षण उदीर्यते ॥ ५३ ॥

उसमें दो दो गुणों का युग्म (जोड़ा) मेरा ही स्वरूप कहा जाता है । इसलिये जिसमें ज्ञान और बल का उन्मेष हो उन्हें **सङ्कर्षण** कहा जाता है ॥ ५३ ॥

ऐश्वर्यवीर्ये प्रद्युम्नोऽनिरुद्धः शक्तितेजसी ।
आद्यस्त्वभिन्नषाड्गुण्यो ब्रह्मतत्त्वापृथक्स्थितौ ॥ ५४ ॥

जिनमें ऐश्वर्य एवं वीर्य का उन्मेष हो उन्हें **प्रद्युम्न** कहा जाता है । जिनमें शक्ति और तेज का उन्मेष हो उन्हें **अनिरुद्ध** कहा जाता है । आदि वाली वासुदेवावस्था यद्यपि षाड्गुण्य से अभिन्न है, तथापि ब्रह्मतत्त्व होने से उसकी स्थिति पृथक् माननी चाहिये ॥ ५४ ॥

एकोऽप्यनुनयौदार्यक्रौर्यशौर्यादिभिर्गुणैः ।
नटः प्रवर्तते यद्वद्वेषचेष्टादिभेदवान् ॥ ५५ ॥

जैसे एक ही नट अनुनय, औदार्य, क्रूरता तथा शूरता आदि गुणों के कारण पृथक् वेष और पृथक् चेष्टा धारण कर भेदवान् जैसा प्रतीत होता है ॥ ५५ ॥

तद्वदेकापि सैवाहं ज्ञानशक्त्यादिभिर्गुणैः ।
सङ्कर्षणादिसद्भावं भजे लोकहितेप्सया ॥ ५६ ॥

उसी प्रकार मैं लोक कल्याण की दृष्टि से एक होते हुये भी ज्ञान शक्त्यादिगुणों से सङ्कर्षणादि रूपों को धारण करती हूँ ॥ ५६ ॥

क्रमशः प्रलयोत्पत्तिस्थितिभिः प्राण्यनुग्रहः ।
प्रयोजनमथान्यच्च शास्त्रशास्त्रार्थतत्फलैः ॥ ५७ ॥

मैं सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—अपने इन तीन रूपों से प्राणियों का प्रलय, उत्पत्ति और स्थिति द्वारा उन पर अनुग्रह ही करती हूँ । इसके अतिरिक्त मेरे इन रूपों का एक और प्रयोजन है—मैं सङ्कर्षण रूप से शास्त्र का उपदेश करती हूँ, प्रद्युम्न रूप से शास्त्रार्थ का प्रवर्चन करती हूँ, और अनिरुद्ध रूप से शास्त्र का पालन भी करती हूँ ॥ ५७ ॥

विमर्शिनी—सङ्कर्षणः प्रलयकर्ता शास्त्रोपदेष्टा च । प्रद्युम्नः सृष्टिकर्ता शास्त्रार्थप्रवर्तयिता च । अनिरुद्धः पालनकर्ता शास्त्रार्थफलनिर्वाहकश्चेति प्रत्येकं व्यापारविभागः ॥ ५७ ॥

दशास्तुर्यसुषुप्त्याद्याश्चतुर्व्यूहेऽपि लक्षयेत् ।
विभवोऽनन्तरूपस्तु पद्मनाभमुखो विभोः ॥ ५८ ॥

सुषुप्ति, स्वप्न, जागृति और चतुर्थी तुरीयावस्था—ये क्रमशः चारों व्यूहों में होती हैं । इतना व्यूहों का वर्णन कर विभु महालक्ष्मी अपना विभव कहती हैं कि मुझ व्यापक शक्ति के पद्मनाभादि अनन्त विभव हैं ॥ ५८ ॥

विमर्शिनी—परव्यूहावुपवर्ण्य विभवः कथ्यतेऽत्र । विभवावताराः पत्तनाभादयो बहवः । मत्स्यकूर्मादयोऽप्यत्रैव परिगणिता अवताराः ॥ ५८ ॥

अनिरुद्धस्य विस्तारो दर्शितस्तस्य सात्त्वते ।
अर्चापि लौकिकी या सा भगवद्भावितात्मनाम् ॥ ५९ ॥

सात्वत (भगवद्धधर्म) में अनिरुद्ध का विस्तार से वर्णन किया गया है । और भगवद्भावित आत्मा वालों के अर्चा का प्रकार भी वहीं बतलाया गया है ॥ ५९ ॥

विमर्शिनी—अर्चा नाम देवालयेषु प्रतिष्ठिता बिम्बविशेषाः ॥ ५९ ॥

मन्त्रमन्त्रेश्वरन्यासात्सापि षाड्गुण्यविग्रहा ।
पराद्यर्चावसानेऽस्मिन्मम रूपचतुष्टये॥ ६० ॥

वह अर्चा भी मन्त्र, मन्त्रेश्वर और न्यास के भेद से उन छह गुणों वाली ही है । मेरे इन चारों रूपों में परादि अर्चा का अवसान हो जाता है ॥ ६०॥

तुर्याद्यवस्था विज्ञेया इतीयं शुद्धपद्धतिः ।
ईषद्भेदेन विज्ञेयं तद्व्यूहविभवान्तरम् ॥
शुद्धेतरं त्वथो मार्गं मम शक्र निशामय ॥ ६१ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे शुद्धमार्गप्रकाशो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

...

इसी में तुरीया, सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत अवस्था समझनी चाहिये । यही शुद्ध पद्धति है । इन व्यूहों के विभव का विस्तार का अन्तर ईषद् भेद से समझना चाहिए । यहाँ तक हमने शुद्ध सृष्टि का वर्णन किया जो केवल सात्विक है । अब हे इन्द्र ! शुद्धेतर सृष्टि के विषय में मुझ से सुनिए ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के शुद्धमार्गप्रकाश नामक दूसरे अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ २ ॥

...

तृतीयोऽध्यायः

त्रैगुण्यप्रकाशः

ज्ञानैश्वर्यशक्तीनां सत्त्वरजस्तमोरूपेण परिवृत्तिः

श्रीरुवाचः—

नित्यनिर्दोषनिःसीमकल्याणगुणशालिनी ।
अहं नारायणी नाम सा सत्ता वैष्णवी परा ॥ १ ॥

लक्ष्मी ने कहा—नित्या, निर्दोष-निःसीम कल्याण गुणशालिनी स्वरूपा मेरा नाम नारायणी है, जो परा वैष्णवी भी कही जाती हैं ॥ १ ॥

देशात्कालात्तथा रूपात्परिच्छेदो न मे स्मृतः ।
संवित्तिरेव मे रूपं सर्वैश्वर्यादिको गुणः ॥ २ ॥

मेरा देशकाल तथा रूप से किसी भी प्रकार का परिच्छेद नहीं किया जा सकता है । मेरा संवित्ति (ज्ञान) ही स्वरूप है और सर्वैश्वर्यादि ही मेरे गुण हैं ॥ २ ॥

विमर्शिनी—स्वरूपनिरूपको धर्मः ज्ञानम् । अन्ये पञ्चापि गुणाः निरूपित-स्वरूपगुणभूता इत्यर्थः ॥ २ ॥

स्वस्वातन्त्र्यवशेनैव विभागस्तत्र वर्तते ।
विज्ञानैश्वर्यशक्त्यात्मा विभागो यः स ईरितः ॥ ३ ॥

उन गुणों का विभाग मेरी अपनी इच्छा के कारण हुआ है । उनका नाम विज्ञान ऐश्वर्य और शक्त्यात्मक है ॥ ३ ॥

विमर्शिनी—इत्थं विभागोऽपि मदिच्छाकृत एवेत्याह—स्वस्वातन्त्र्येति ॥ ३ ॥

विज्ञानैश्वर्यशक्तीनामुन्मेषस्त्वपरोऽधुना ।
अतर्क्याया ममोद्यत्या नियोगानर्हया सदा ॥ ४ ॥

पूर्व में शुद्धसृष्टिकाल में विज्ञान, ऐश्वर्य और शक्ति का एक उन्मेष कहा गया है । अब अशुद्धात्मक त्रैगुण्यात्मक सृष्टि में दूसरा उन्मेष कहा जा रहा है ॥ ४ ॥

विमर्शिनी—अपर इति । पूर्वं शुद्धसृष्टौ एक उन्मेष उक्तः । अधुना अशुद्धात्मकत्रैगुण्यसृष्टावन्य उन्मेष इत्यर्थः ॥ ४ ॥

इच्छयान्यत्कृतं रूपमासीज्ज्ञानादिके त्रिके ।
यथैवेक्षुरसः स्वच्छो गुडत्वं प्रतिपद्यते ॥ ५ ॥

उस शुद्ध सृष्टिकाल में सत्त्वादि गुणों ने अपने को बदल कर विज्ञान, ऐश्वर्य और शक्ति का रूप धारण किया था, जैसे इक्षुरस स्वच्छ होने पर शुद्ध गुड़ का रूप धारण करता है ॥ ५ ॥

विमर्शिनी—ज्ञानादित्रिकरूपं सत्त्वादित्रिकात्मना अन्यथा कृतमासीदित्यर्थः वेदितव्यः ॥ ५ ॥

तद्वत्स्वच्छमयं ज्ञानं सत्त्वतां प्रतिपद्यते ।
रजस्त्वं च ममैश्वर्यं तमस्त्वं शक्तिरप्युत ॥ ६ ॥

उसी प्रकार अशुद्ध सृष्टिकाल में ज्ञान सत्त्व के रूप में, ऐश्वर्य रजोगुण के रूप में और शक्ति तमोगुण के रूप में बदल जाता है ॥ ६ ॥

विमर्शिनी—तदेवाह—तद्वदिति । ज्ञानं सत्त्वतया, ऐश्वर्यं रजस्तया, शक्तिश्च तमस्तया जातमिति भावः ॥ ६ ॥

एते त्रयो गुणाः शक्र त्रैगुण्यमिति शब्द्यते ।
रजःप्रधानं तत्सृष्टौ त्रैगुण्यं परिवर्तते ॥ ७ ॥

हे इन्द्र ! इन्हीं तीनों गुणों को त्रैगुण्य शब्द से कहा जाता है । इस अशुद्धसृष्टिकाल में ये त्रैगुण्य बदल कर रजः प्रधान हो जाते हैं ॥ ७ ॥

विमर्शिनी—त्रैगुण्यमिति चातुर्वर्ण्यमितिवत् स्वार्थे ष्यञ् ॥ ७ ॥

स्थितौ सत्त्वप्रधानं तत् संहृतौ तु तमोमुखम् ।
अहं संविन्मयी पूर्वा व्यापिन्यपि पुरन्दर ॥ ८ ॥

हे पुरन्दर ! मैं पूर्व में व्यापक संविन्मयी होकर भी अशुद्धसृष्टिकाल की स्थिति में सत्त्वप्रधान, संहार काल में तमःप्रधान बन जाती हूँ ॥ ८ ॥

अधिष्ठाय गुणान् सृष्टिस्थितिसंहतिकारिणी ।
निर्गुणापि गुणानेतानधिष्ठायात्मवाञ्छया ॥ ९ ॥
चक्रं प्रवर्तयाम्येका सृष्टिस्थित्यन्तरूपकम् ।

यद्यपि मैं निर्गुणा हूँ तथापि इन तीनों गुणों में प्रविष्ट होकर अपनी इच्छा से सृष्टि, स्थिति और संहारकारिणी बन जाती हूँ । इस प्रकार जगत् का सृष्टि, स्थिति और संहार रूप चक्र का परिवर्तन करती रहती हूँ । यह मेरी लीला है । मैं लीला के लिये ऐसा करती हूँ ॥ ९ ॥

विमर्शिनी—निर्गुणापीति । पूर्वं षाड्गुण्यस्योक्तत्वात् अत्र निर्गुणपदस्य सत्त्वरजस्तमोरूपमिश्रगुणरहितेत्यर्थः । आत्मवाञ्छयेत्यनेन जगत्सृष्ट्यादौ लीलैव प्रयोजनमित्युक्तं भवति । यथाह भगवान् बादरायणः—

''लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'' इति ॥ ९ ॥

शुद्धाशुद्धसृष्टेः प्रयोजनम्, विषमसृष्टौ जीवानां कर्मैव निमित्तम्

शक्रः—

विधाद्वयं समास्थाय ज्ञानाद्ये तु युगत्रये ॥ १० ॥
शुद्धेतरविभागेन किमर्थं त्वं प्रवर्तसे ।
विधयोरनयोः पद्मे संबन्धः कः परस्परम् ॥ ११ ॥
एतत्पृष्टा मया ब्रूहि नमस्ते पद्मसंभवे ।

इन्द्र ने कहा—हे भगवति ! आप इस प्रकार ज्ञान, ऐश्वर्य और शक्ति—इन अपने गुणों के युग्म में दो प्रकार का रूप धारण कर शुद्ध सृष्टिविभाग और अशुद्ध सृष्टिविभाग से क्यों प्रवृत्त होती हैं ? हे पद्मे ! इन दोनों विद्याओं का परस्पर सम्बन्ध क्या है ? हे पद्मसंभवे ! मेरे द्वारा पूछे जाने पर आप इसे बतलाइये । मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ १०-११ ॥

श्रीः—

अनियोज्यं ममैश्वर्यमिच्छैव मम कारणम्॥ १२ ॥

श्री ने कहा—हे शक्र ! मेरा ऐश्वर्य अपरिमित है । अतः इसमें मेरी इच्छा ही कारण है ॥ १२ ॥

मुह्यन्त्यत्र महान्तोऽपि तत्त्वं शृणु तथापि मे ।
ईशेशितव्यभावेन परिवर्ते सदा ह्यहम् ॥ १३ ॥

यद्यपि मेरे इस ऐश्वर्यादिक विषय में बड़े-बड़े सिद्धयोगी भी मोहित हो जाते हैं, तथापि मैं ईश और ईशितव्य भाव में होकर इसमें प्रवृत्त होती

हूँ ॥ १३ ॥

विमर्शिनी—शुद्धेतरसृष्ट्योः संबन्ध उच्यते—ईशेशितव्येति । रक्ष्यरक्षकभाव इत्यर्थः ॥ १३ ॥

ईशो नारायणो ज्ञेय ईशता तस्य चाप्यहम् ।
ईशितव्यं तु विज्ञेयं चिदचिच्च पुरन्दर ॥ १४ ॥

हे पुरन्दर ! भगवान् नारायण ईश हैं, उनमें रहने वाली ईशता मैं हूँ और यह सारा जड़ जगत मेरी ईशितव्य है, ऐसा समझना चाहिये ॥ १४ ॥

चिच्छक्तिस्तु परा तत्र भोक्तृतां प्रतिपद्यते ।
भोग्योपकरणस्थानरूपं तस्या अचित्पदम् ॥ १५ ॥

उसमें चिच्छक्ति परा है । इसलिये वह भोक्तृता को प्राप्त है और अचित्पद उसके भोग्योपकरण का नित्य स्थान है ॥ १५ ॥

अनाद्यया समाविद्धा सा चिच्छक्तिरविद्यया ।
मत्प्रवर्तितया नित्यं चिच्छक्तिर्भोक्तृतां गता ॥ १६ ॥

यतः चिच्छक्ति अनादि अविद्या से ग्रस्त है । वह मेरे द्वारा ही प्रवर्तित है। अतः वह नित्य ही भोक्तृता को प्राप्त है ॥ १६ ॥

अहंममत्वसंबन्धाद्ध्यचित्स्वेनाभिमन्यते ।
अविद्या सा तिरोभावं विद्यया याति वै यदा ॥ १७ ॥

यह चिच्छक्ति 'अहं मम' भाव रखने के कारण अपने को अचित् स्वरूप में मान बैठी है, यही अविद्या है जो विद्या के द्वारा तिरोभूत हो जाती है ॥ १७ ॥

चिच्छक्तिर्निरभीमाना तदा मद्भावमेष्यति ।
तां विद्यां शुद्धमार्गस्थां परव्यूहादिरूपिणी ॥ १८ ॥

जब अविद्या दूर हो जाती है तब उस चिच्छक्ति में अहंता ममता का भाव नहीं रह जाता । फिर तो वह मेरे स्वरूप में मिल जाती है ॥ १८ ॥

प्रवर्तयामि कारुण्याज्ज्ञानसद्भावदर्शिनी ।
रक्ष्यरक्षकभावोऽयं संबन्धो विधयोर्द्वयोः ॥ १९ ॥

तब पर व्यूहादिरूपिणी मैं ज्ञान रूप सद्भाव से देखती हुई अपनी करुणा से चिच्छक्ति रूपा उस महाविद्या को शुद्ध मार्ग में प्रवृत्त करती हूँ । इस प्रकार चिदचिद् दोनों भावों में रक्ष्य-रक्षक भाव का सम्बन्ध है ॥ १९ ॥

विद्या रक्षति शुद्धाद्या रक्ष्यते च विद्यापरा ।
एतत्ते कथितं शक्र किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २० ॥

आदि शुद्धा विद्या रक्षा करने वाली है और दूसरी विद्या की रक्षा की जाती है । इस प्रकार दोनों प्रकार की विद्याओं में रक्ष्य-रक्षक भाव का सम्बन्ध होता है ॥ २० ॥

शक्रः—

ईशेशितव्यभावेन किमर्थं त्वं प्रवर्तसे ।
ईशितव्यं कियद्भेदं किंरूपं तत्र मे वद ॥ २१ ॥

तब इन्द्र ने कहा—हे भगवति ! आप ईश ईशितव्य भाव से क्यों प्रवृत्त होती हो ? ईशितव्य के कितने भेद हैं ? और उसका स्वरूप क्या है ? यह मुझे बतलाइये ॥ २१ ॥

श्रीः—

स्वभावो नानुयोज्योऽयं मम नारायणस्य च ।
ईशोऽहमीशितव्यो न स च देवः सनातनः ॥ २२ ॥

श्री ने कहा—मेरा और नारायण का यह स्वभाव है, हम और सनातन देव विष्णु ईश्वर हैं, किन्तु ईशितव्य नहीं । इसमें संदेह मत कीजिये ॥ २२ ॥

ईशितव्यं द्विधा प्रोक्तं चिदचिद्व्यतिरेकतः ।
चिच्छक्तिर्भोक्तृरूपात्र सा च चिद्रूपधारिणी ॥२३ ॥

चिच्छक्ति—ईशितव्य के चित् और अचित् ये दो भेद हैं । जो भोक्ता-रूप से विद्यमान रहती है वही चिच्छक्ति है तथा उसी को चिद्रूपिणी भी कहते हैं ॥ २३ ॥

भोग्योपकरणस्थानैरचिच्छक्तिस्त्रिधा स्थिता ।
प्रसरन्त्यास्तृतीयं मे सा च पर्व स्मृतं बुधैः ॥ २४ ॥

पर्व—भोग्य उपकरण और स्थान भेद से अचिच्छक्ति तीन प्रकार की होती है मेरी तृतीय स्थान रूप शक्ति फैलती रहती है । उसे आगमशास्त्रवेत्ता पर्व भी कहते हैं ॥ २४ ॥

विभक्ते अपि ते एते शक्ती चिदचिदात्मिके ।
मत्स्वाच्छन्द्यवशेनैव मम रूपे सनातने ॥ २५ ॥

यद्यपि यह चिद् अचिद् शक्ति परस्पर भिन्न-भिन्न हैं, तथापि मेरी इच्छा से मेरे वशीभूत होने के कारण ये दोनों ही मेरे सनातन स्वरूप हैं ॥ २५ ॥

चिच्छक्तिर्विमला शुद्धा चिन्मय्यानन्दरूपिणी ।
अनाद्यविद्याविद्धेयमित्थं संसरति ध्रुवम् ॥ २६ ॥

चिच्छक्ति विमला है, शुद्धा है, चिन्मयी और आनन्दरूपिणी है । अनादि अविद्या से लिप्त रहने के कारण यह संसार में ही चलती रहती हैं ॥ २६ ॥

अचिच्छक्तिर्जडाप्येवमशुद्धा परिणामिनी ।
त्रिगुणापि ममैवेदं स्वाच्छन्द्यात् प्रविजृम्भितम् ॥ २७ ॥

अचिच्छक्ति जड़ होने के कारण अशुद्धा है, परिणामिनी (बदलने वाली) है । यह तीनों गुणें से युक्त होने पर भी मेरी ही है । इसलिये यह स्वच्छन्दतापूर्वक विकसित होती है ॥ २७ ॥

धूमकेतुर्यथा धूमं दीप्यमानो भजेत् स्वयम् ।
शुद्धसंवित्स्वरूपापि भजे साहमचिद्गतिम् ॥ २८ ॥

जैसे जलन स्वभाव वाला (प्रकाश उत्पन्न करने वाला) धूमकेतु धूम उगलने के कारण मलिन होकर धूआँ का स्वरूप धारण करता है, उसी प्रकार शुद्ध संवित्स्वरूप वाली (ज्ञान स्वरूपा) में भी अचित्स्वरूप को धारण करती हूँ ॥ २८ ॥

विमर्शिनी—ज्वलनस्वभावोऽपि धूमकेतुर्यथा मलिनधूमरूपतां प्रतिपद्यते, तथा ज्ञानस्वरूपाप्यहमचिद्भावमापद्य इत्यर्थः ॥ २८ ॥

अनाक्रान्ता विकल्पेन शब्दैरप्यकदर्थिता ।
आध्यानोपाधिनाप्येवं वर्तेऽहमचिदात्मना ॥ २९ ॥

यद्यपि मैं किसी प्रकार के विकल्प से अनाक्रान्त (अनिश्चय) हूँ, अर्थात् मेरी निश्चित सत्ता है और मैं शब्दों द्वारा प्रमाणित भी हूँ । लेकिन ध्यान के आलम्बन के लिये मैं अचित् रूप धारण करती हूँ ॥ २९ ॥

विमर्शिनी—आध्यानोपाधिनेति । मदिच्छारूपोपाधिनेत्यर्थः । ध्यानालम्बनार्थमिति वार्थः । यथा वक्ष्यति—'ध्यानविश्रामभूमयः' (४-२४) इति ॥ २९ ॥

बहिरन्तःपदार्थे हि चित्स्वरूपमखण्डितम् ।
विशिनष्टि तथाप्येतच्चित्रयोपाधिसम्पदा ॥ ३० ॥

बाहरी और भीतरी पदार्थों में मेरा चित्स्वरूप अखण्ड रूप से विद्यमान है फिर भी विचित्र उपाधि सम्पत्ति इसे विशेषित करती है ॥ ३० ॥

स्वातन्त्र्यमेव मे हेतुर्नानुयोज्यास्मि किञ्चन ।

इत्थंप्रभावामेवं मां विदन् बुद्धो भविष्यसि ॥ ३१ ॥

इसमें मेरी स्वतन्त्रता ही हेतु है । मैं किसी के वश में रहने वाली नहीं हूँ । हे इन्द्र ! मेरा इस प्रकार का प्रभाव जानकर आप ज्ञानी बन जाओगे ॥ ३१ ॥

शक्रः—

कथं सृजसि वै लोकान् सुखदुःखसमन्वितान् ।
असृष्टिर्हि वरं यद्वा सृष्टिरस्तु सुखात्मिका ॥ ३२ ॥

इन्द्र ने कहा—हे देवि ! सुख-दुःख मिश्रित लोगों की रचना आप क्यों करती हो ? इसकी अपेक्षा तो सृष्टि न करना ही उत्तम है । अथवा यदि सृष्टि करना आवश्यक हो तो आपको सुख समन्वित सृष्टि करनी चाहिये ॥ ३२ ॥

विमर्शिनी—असृष्टिरिति । अत्र "सृजेच्च सुखमेवैकमनुकम्पाप्रचोदितः" इति श्लोकवार्त्तिकवचनं स्मर्तव्यम् ॥ ३२ ॥

श्रीः—

अनाद्यविद्याविद्धानां जीवानां सदसन्मयम् ।
संचितं कर्म संप्रेक्ष्य मिश्रां सृष्टिं करोम्यहम् ॥ ३३ ॥

महालक्ष्मी ने कहा—अनादि अविद्या से ग्रस्त जीवों का शुभाशुभ संचित कर्म देखकर ही मैं सुख-दुःख मिश्रित सृष्टि करती हूँ ॥ ३३ ॥

शक्रः—

क्षीरोदसंभवे देवि स्वाच्छन्द्यं ते कथं भवेत् ।
कर्म चेत्समवेक्ष्य त्वं विदधासि सुखासुखे ॥ ३४ ॥

इन्द्र ने कहा—हे क्षीरार्णव से संभूत हुई देवि ! यदि प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों को देखकर ही आप सृष्टि करती हैं तब फिर आपकी स्वतन्त्रता कैसे रही ?॥ ३४ ॥

श्रीः—

कुर्वत्या मम कार्याणि कर्म तत्करणं स्मृतम् ।
कर्तुश्च करणापेक्षा न स्वातन्त्र्यविघातिनी ॥ ३५ ॥
निरवद्या स्वतन्त्राहं नानुयोगपदे स्थिता ।
विभजे बहुधात्मानं कर्तृकर्मक्रियादिना ॥ ३६ ॥

महाश्री ने कहा—हे शक्र ! जब मैं सृष्टि कार्य करने में प्रवृत्त होती हूँ तब जीवों के शुभाशुभ कर्म का असाधारण कर्म कारण हो जाते हैं । कारण

की अपेक्षानुसार कार्य करने में मेरी स्वतन्त्रता का विधान नहीं होता । यह सब लीला के लिये करती हूँ । इस विषय में कारण के पूछने की आवश्यकता नहीं है । शान्त (चुप) हो जाओ ॥ ३५-३६ ॥

शक्रः—

यद्वा तद्वास्तु तद्देवि स्वातन्त्र्यं ते यदीदृशम् ।
सृष्टिप्रकारमाख्याहि नमस्ते पद्मसंभवे ॥ ३७ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे त्रैगुण्यप्रकाशो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इन्द्र ने कहा—हे देवि ! जब आपकी इस प्रकार की स्वतन्त्रता है, तब जैसी चाहें वैसी सृष्टि कीजिये । हे पद्मसंभवे ! आपको नमस्कार है । अब आप सृष्टि के प्रकार का वर्णन कीजिये ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के त्रैगुण्यप्रकाश नामक तीसरे अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्याय:

महालक्ष्मी समुद्भूति:

वासुदेवादिव्यूहरूपेषु प्रत्येकं द्वयोर्द्वयोर्गुणयोरुन्मेषः

श्री:—

निर्मलाकाशकल्पाहं निःसमानन्दचिन्मयी ।
अहं नारायणी नाम भावोऽहं तादृशो हरेः ॥ १ ॥

श्री ने कहा—हे इन्द्र ! मैं स्वच्छ आकाश के सदृश हूँ । मेरे आनन्द की कोई सीमा नहीं है । मैं चिन्मयी हूँ, मेरा नाम नारायणी है और मैं विष्णु का अहंभाव हूँ ॥ १ ॥

न शान्ता नोदिता नापि मध्यमाहं चिदात्मिका ।
तादृशस्य हरेर्विष्णोः स्वरूपमखिलात्मनः ॥ २ ॥

न मेरी शान्तावस्था है । न मेरी उदितावस्था है । मैं उनके मध्य में रहने वाली चिदात्मिका शक्ति हूँ । अखिलात्मा प्रकार के उन भगवान् विष्णु की स्वरूपा हूँ ॥ २ ॥

तस्याचित्रैकरूपस्य विकल्पपदवीजुषः ।
अचित्राहं तदाकारा सर्वतः समतां गता ॥ ३ ॥
तयोर्नौ संविदात्मैव कच्चिदुन्मेष उत्थितः ।
कोटिकोटिसहस्रौघकोटिकोटितमी कला ॥ ४ ॥

अचित्ररूप, नाना प्रकार के नामों से कहे जाने वाले उन विष्णु के आकार की समानता वाली उन्हीं के समान समदर्शिनी मैं अचित्रा हूँ । इस प्रकार के आकार वाले हम दोनों की आत्मा ही कभी उन्मेष रूप हो कर उठी । उसके करोड़ से करोड़वाँ अंश हजारों करोड़ों से करोड़वाँ अंश से एक

कला बनी, जिसे सिसृक्षा कहते हैं ॥ ३-४ ॥

सिसृक्षा नाम तद्रूपा सृष्टिमिष्टां करोम्यहम् ।
एकांशेन विशुद्धाध्वरूपा वर्तेऽहमञ्जसा ॥ ५ ॥
वज्ररत्नप्रभा यद्वत्परिस्फुरति सर्वतः ।
एवं शुद्धमयो मार्गो मम स्फुरति सर्वतः ॥ ६ ॥

तद्रूपा कला मेरी सिसृक्षा है । मैं उसी से अपनी मनचाही सृष्टि करती हूँ और अकस्मात् उसके एक अंश से मैं विशुद्धरूपा बनी रहती हूँ । जैसे वज्ररत्न की प्रभा चारों ओर प्रकाश उत्पन्न करती है उसी प्रकार मेरा यह शुद्धमय मार्ग चारों ओर प्रकाश उत्पन्न करता है ॥ ५-६ ॥

अमेघाकाशसङ्काशान्निष्यन्दोदधिरूपतः ।
मम ज्ञानघनाद्रूपाच्छुद्धा सृष्टिः प्रवर्तते ॥ ७ ॥

यह शुद्धसृष्टि निरभ्र आकाश के समान, सर्वथा तरङ्गरहित स्थिर समुद्र के समान मेरे ज्ञान घन से उत्पन्न होती है ॥ ७ ॥

निर्व्यापारं सदानन्दं शुद्धं सर्वात्मकं परम् ।
व्यज्यते प्रथमं ज्ञानं स सङ्कर्षण उच्यते ॥ ८ ॥

जब मेरे द्वारा सर्वप्रथम व्यापाररहित, सदानन्ददायी, शुद्ध एवं सर्वात्मक ज्ञान का स्फुरण होता है, तब उसे **सङ्कर्षण** कहा जाता है ॥ ८ ॥

हेत्वन्तरानपेक्षं यत् स्वातन्त्र्यं विश्वनिर्मितौ ।
तदैश्वर्यं तदासीन्मे प्रद्युम्नः पुरुषोत्तमः ॥ ९ ॥

किसी हेतु की प्रतीक्षा किये बिना विश्व निर्माण में सर्वथा स्वतन्त्र मेरे जिस ऐश्वर्य का स्फुरण होता है, उसे पुरुषोत्तम **प्रद्युम्न** कहा जाता है ॥ ९ ॥

निलीनचित्ररूपा या सर्वत्र समवस्थिता ।
अव्याहतासीच्छक्तिर्मे सोऽनिरुद्धः प्रकीर्तितः ॥ १० ॥

मेरे द्वारा विलीन, चित्ररूपा, सर्वत्र स्थित रहने वाली, अव्याहत जिस शक्ति का संस्फुरण होता है, उसे **अनिरुद्ध** कहते हैं ॥ १० ॥

सृष्टिस्थित्यन्तकर्तारो विज्ञानैश्वर्यशक्तयः ।
मम रूपममी देवाः पुरुषाः पुष्करेक्षणाः ॥ ११ ॥

सृष्टि, स्थिति और संहार करने वाली, कमल के समान नेत्र वाली—ये विज्ञान, ऐश्वर्य और शक्तियाँ मेरे ही स्वरूप हैं । यही देवता भी हैं ॥ ११ ॥

अतरङ्गार्णवाभासमस्ताम्भोदाम्बरोपमम् ।
रूपं सिसृक्षमाणाया वासुदेवो ममादिमम् ॥ १२ ॥

तरङ्गरहित सर्वथा शान्त समुद्र के समान और बादलरहित सर्वथा स्वच्छ आकाश के समान, ये भगवान् वासुदेव, सृष्टि की इच्छा करने वाले मेरे आदि स्वरूप हैं ॥ १२ ॥

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।
उन्मिषन्ति यदा तुल्यं वासुदेवस्तदोच्यते ॥ १३ ॥

ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज—ये सभी जिसमें समान रूप से संस्फुरित होते हैं उन्हें ही **वासुदेव** कहा जाता है ॥ १३ ॥

तेषां ज्ञानबलोन्मेषे सङ्कर्षण उदीर्यते ।
बिभर्ति सकलं विश्वं तिलकालकवत्स्वतः ॥ १४ ॥
बलमित्येव तन्नाम ततो वेदान्तशब्दितम् ।

उन छह गुणों में जिनमें ज्ञान एवं बल का उन्मेष होता है, उन्हें **सङ्कर्षण** कहा जाता है जो सारे विश्व को काले तिल के समान धारण करते हैं । इसीलिये उनका नाम केवल 'बल' ही है । वेदान्त प्रतिपादित उनका अनन्त नाम इसके बाद का है ॥ १४-१५- ॥

वीर्यैश्वर्यसमुन्मेषे प्रद्युम्नः परिकीर्तितः ॥ १५ ॥
विकारविरहो वीर्यमविकारी ततश्च सः ।

वीर्य और ऐश्वर्य का जिनमें उन्मेष होता है उन्हें **प्रद्युम्न** कहा जाता है । जिसमें किसी प्रकार का विकार न हो उसे वीर्य कहते हैं । इसीलिये वह अविकारी भी कहा जाता है ॥ -१५-१६- ॥

शक्तितेजःसमुन्मेषे ह्यनिरुद्धः स ईरितः ॥ १६ ॥
तेजस्त्वन्यानपेक्षत्वमनिरुद्धत्वमप्युत ।

जिनमें शक्ति और तेज का समुन्मेष हो उन्हें **अनिरुद्ध** भी कहा जाता है । तेज को किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती । रोका भी नहीं जा सकता है । इसलिये उसे अनिरुद्ध भी कहते हैं ॥ -१६-१७- ॥

तेषां व्यापारविशेषाः

शास्त्रं सङ्कर्षणादेव भाति निर्घातशब्दवत् ॥ १७ ॥
तत्क्रिया सकला देवात्प्रद्युम्नात् संभवेद्यतः ।

क्रियाफलमशेषं तदनिरुद्धात्प्रचक्षते॥ १८ ॥

सङ्कर्षण से ही इस प्रकार शास्त्र की निष्पत्ति होती है, जैसे बादल में गर्जन का शब्द होता है। शास्त्र का प्रवर्त्तन देव प्रद्युम्न से होता है और उस शास्त्र के फल का निर्वाह (यथायोग्य वितरण) करने वाले पालन करने वाले भगवान् अनिरुद्ध हैं ॥ -१७-१८ ॥

सृजते ह्यनिरुद्धोऽत्र प्रद्युम्नः पाति तत्कृतम्।
सृष्टं तद्रक्षितं चात्ति स च सङ्कर्षणः प्रभुः ॥ १९ ॥

इस जगत् की सृष्टि अनिरुद्ध करते हैं। उस सृष्टि का पालन प्रद्युम्न करते हैं और उस प्रद्युम्न-रक्षित सृष्टि का संहार सङ्कर्षण प्रभु करते हैं ॥ १९॥

विमर्शिनी—द्वितीय अध्याय में अनिरुद्ध को पालनकर्ता और प्रद्युम्न को जो सृष्टिकर्ता कहा गया है। कल्पान्तर से उसका समाधान कर लेना चाहिए। (द्र० २।४७-४८)

अत्रानिरुद्धस्य सृष्टिकर्तृत्वं प्रद्युम्नस्य पालनकर्तृत्वं चोच्यते । पूर्वं तु द्वितीयाध्याये अनिरुद्धस्य पालनकर्तृत्वं प्रद्युम्नस्य सृष्टिकर्तृत्वं चोक्तम् । तत्तु कल्पान्तरेणेति ध्येयम् ॥ १९ ॥

सृष्टिस्थित्यन्तकार्येण शास्त्रधर्मफलेन च ।
अनुग्रहमिमे देवाः सदा विदधते स्वयम् ॥ २० ॥

सृष्टि, स्थिति और प्रलय रूप कार्य से तथा शास्त्रोत्पत्ति, शास्त्र प्रवर्त्तन एवं शास्त्र रूप फलदातृत्व से अनिरुद्ध, प्रद्युम्न और सङ्कर्षण—ये देवता सर्वदा प्राणियों पर अनुग्रह करते हैं ॥ २० ॥

तेषां षाड्गुण्यमयत्वमप्राकृतविग्रहत्वं च

यद्यप्येकगुणोन्मेषस्तथाप्येते हि षड्गुणाः ।
अन्यूनानधिकाः सर्वे वासुदेवात्सनातनात् ॥ २१ ॥
अङ्गप्रत्यङ्गबुद्ध्यादिर्नैषां भूतमयः स्मृतः ।
षाड्गुण्यमय एवैषां दिव्यो देहः सनातनः ॥ २२ ॥

यद्यपि भगवान् वासुदेव में एक ही गुण का उन्मेष होता है, फिर भी ये छह गुण न न्यून और न अधिक रूप से अर्थात् समानतया एक होकर सनातन वासुदेव में भासित होते रहते हैं। इन देवताओं का अङ्ग-प्रत्यङ्ग तथा अन्तःकरणादि पञ्चभूत निर्मित नहीं है। किन्तु इनका यह देह दिव्य है, सनातन है और षाड्गुण्यमय है ॥ २१-२२ ॥

विमर्शिनी—बुद्धिरत्रान्तःकरणम् । 'नैषां भूतमयः' इति वचनेन "न भूतसङ्घ-संस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः" इति शान्तिपर्ववचनं स्मारितम् ॥ २२ ॥

नैवैषां वास्तवो भेदश्चिन्तनीयो दिवस्पते।
तत्तत्कार्यप्रसिद्ध्यर्थं कृतोऽसौ कल्पनावशात् ॥ २३ ॥

हे देवेन्द्र ! इनमें वास्तविक भेद है ऐसा भी मत सोचना । इनके शरीरों की कल्पना कार्यों की आवश्यकता के अनुसार ही की गई है ॥ २३ ॥

ज्ञानान्नान्यत्तथैश्वर्यं तस्मान्नान्या च शक्तिका ।
मयैताः कल्पिताः शक्र ध्यानविश्रामभूमयः ॥ २४ ॥

ज्ञान से न ऐश्वर्य भिन्न है । न ऐश्वर्य से शक्ति भिन्न है । इनकी कल्पना उपासकों की रुचि के अनुसार आलम्बन (ध्यान) के लिये की गई है ॥ २४॥

विमर्शिनी—ध्यानेति । उपासकानां यथारुच्यालम्बनदानाय तत्र भेदपरिकल्पनेत्यर्थः ॥ २४ ॥

वस्तु पूर्वं ततो भावः पश्चादर्थस्ततः क्रिया ।
चातूरूप्यमिदं श्रेयं सर्वभावेषु सर्वदा॥ २५ ॥

पहले वस्तु, उसके बाद उसका भाव (स्थिति सत्ता), उसके बाद उसका अर्थ, फिर क्रिया—यही सभी पदार्थों के चार रूप होते हैं ॥ २५ ॥

वासुदेवादिरूपेण चतुर्धात्मानमात्मना ।
संविभज्यावतिष्ठेऽहं सर्वमावृत्य संविदा ॥ २६ ॥

मैं स्वयं अपने को वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन चार प्रकारों में विभक्त कर सारे पदार्थों को आच्छादित कर स्थित रहती हूँ ॥ २६॥

व्यूहान्तर विभवार्चानां रूपाणि

वासुदेवादयो देवाः प्रत्येकं तु त्रिधा त्रिधा ।
केशवादिस्वरूपेण विभजन्ति स्वकं वपुः ॥ २७ ॥

वासुदेवादि देवता प्रत्येक अपने शरीर को केशवादि तीन-तीन रूपों में विभक्त करते हैं ॥ २७ ॥

विमर्शिनी—एवं च केशवादिदामोदरान्ता द्वादशापि व्यूहान्तरभूता ध्येयाः ॥

एतद्व्यूहान्तरं नाम पञ्चरात्राभिशब्दितम् ।
कार्यस्य नयने देवा द्वादशैते व्यवस्थिताः॥ २८ ॥

इसे पञ्चरात्र ने व्यूहान्तर नाम से भी अभिव्यक्त किया है । सभी कार्यों का निष्पादन ये द्वादश देवता व्यवस्थित रूप से करते हैं ॥ २८ ॥

विभोरप्यनिरुद्धस्य हिताय जगतां हरेः ।
प्रसरो विभवो नाम पद्मनाभादयः स्मृताः ॥ २९ ॥

जगत् के कल्याण के लिये विभु एवं विष्णु स्वरूप अनिरुद्ध का पद्मनाभादि प्रसर (विस्तार) विद्वानों के द्वारा **विभव** नाम से कहा जाता है ॥ २९ ॥ (द्र० ११।१९-२५)

आविश्याविश्य कुरुते यत्र देवनरादिकम् ।
जगद्धितं जगन्नाथस्तज्ज्ञेयं विभवान्तरम् ॥ ३० ॥

भगवान् जगन्नाथ जो देव नरादिकों में (जैसे दत्तात्रेय वेदव्यासादि रूपों में) बारम्बार प्रविष्ट होकर जगत् का कल्याण करते हैं उसकी विभवान्तर संज्ञा है ॥ ३० ॥

विमर्शिनी—'देवनरादिकम्' इत्यनेन दत्तात्रेयबादरायणादीनामपि विभवान्तरत्वं ध्येयम् ॥ ३० ॥

देवर्षिपितृसिद्धाद्यैः स्वयं वा जगतां हिते ।
निर्मितं भगवद्रूपमर्चा सा शुद्धचिन्मयी ॥ ३१ ॥

देवता, ऋषिगण, पितर एवं सिद्धों के द्वारा जगत् कल्याण के लिये स्वयं तत्तत् क्षेत्रों में व्यक्त होकर भगवान् जिस अर्चा को ग्रहण करते हैं, उसे शुद्धचिन्मयी अर्चा कहती हैं ॥ ३१ ॥

विमर्शिनी—स्वयमित्यनेन स्वयंव्यक्तक्षेत्रस्थार्चा गृह्यन्ते ॥ ३१ ॥

त्रिगुणाया महालक्ष्म्याः स्वरूपनामादिकम्

इत्येष लेशतो मार्गः शुद्धस्ते सम्प्रदर्शितः ।
त्रैगुण्यमपरं मार्गं गदन्त्या मे निशामय ॥ ३२ ॥

हे इन्द्र ! इस प्रकार हमने आपको शुद्ध मार्ग का लेशमात्र प्रदर्शित किया। अब दूसरे, जिसे त्रैगुण्य मार्ग कहा जाता है, उसे सुनिए ॥ ३२ ॥

यत्ते ज्ञानं पुरा प्रोक्तं तत्सत्त्वेन विवर्तते ।
रजस्तया तदैश्वर्यं शक्तिश्चापि तमस्तया ॥ ३३ ॥

पहले हम आप से कह आये हैं कि ज्ञान सत्त्व रूप में, ऐश्वर्य रजो रूप में तथा शक्ति तमो रूप में विपरिणमित होता है ॥ ३३ ॥ (द्र.३. ६-९)

प्राधान्येन रजस्तत्र सृष्टौ सम्परिवर्तते ।
अभितः सत्त्वतमसी गुणौ द्वौ तस्य तिष्ठतः ॥ ३४ ॥

उसमें जब रजो गुण की प्रधानता होती है तब सृष्टि होती है । उस समय सत्त्व और तम ये दो गुण उसके चारों ओर स्थित रहते हैं ॥ ३४ ॥

या सा पूर्वं मया प्रोक्ता कोटिकोटितमी कला ।
तस्याः कोटितमेनाहमंशेन विसृजे जगत् ॥ ३५ ॥
सर्वस्याद्या महालक्ष्मीस्त्रिगुणाहं महेश्वरी ।
रजोरूपमधिष्ठाय सृष्टिमिष्टां करोम्यहम् ॥ ३६ ॥

मैनें जो पहले कहा है कि मेरी करोड़ों के भी करोड़वें अंश की कला होती है उसके भी करोड़वे अंश से मैं जगत् की सृष्टि करती हूँ । त्रिगुणमयी परमेश्वरी महालक्ष्मी स्वरूप मैं ही सबका आदि कारण हूँ । अतः मैं ही रजो रूप में अधिष्ठित होकर अपने अनुकूल यह सारी सृष्टि करती हूँ ॥३५-३६॥

विमर्शिनी—सत्त्वरजतमरूपेणानेन त्रिगुणजगत्सृष्टिकर्तृत्वदशायां महालक्ष्मी-समाख्येति ज्ञायते ॥ ३६ ॥

अग्नीषोममयौ भावौ दिव्यौ स्त्रीपुंसलक्षणौ ।
बिभ्रती चारुसर्वाङ्गी लोकानां हितकाम्यया ॥ ३७ ॥

चारुसर्वांगी मैं ही लोक कल्याण की कामना से स्त्री पुंस लक्षण वाले दिव्य अग्नीषोममय भावों को धारण करती हूँ ॥ ३७ ॥

चतुर्भुजा विशालाक्षी तप्तकाञ्चनसंनिभा ।
मातुलिङ्गं गदां खेटं सुधापात्रं च बिभ्रती ॥ ३८ ॥

तपाये हुये काञ्चन के समान वर्ण वाली, विशाल नेत्री, चार भुजाओं को धारण कर उन हाथों में क्रमशः मातुलिङ्ग (बिजौरे का फल), गदा, खेट (ढाल) एवं पान पात्र और मस्तक पर नाग, लिङ्ग तथा योनि—इन वस्तुओं को भी धारण करती हूँ ॥ ३८ ॥

महालक्ष्मीः समाख्याता साहं सर्वाङ्गसुन्दरी ।
महाश्रीः सा महालक्ष्मीश्चण्डा चण्डी च चण्डिका ॥ ३९ ॥
भद्रकाली तथा भद्रा काली दुर्गा महेश्वरी ।
त्रिगुणा भगवत्पत्नी तथा भगवती परा ॥ ४० ॥
एताः संज्ञास्तथा चान्यास्तत्र मे बहुधा स्मृताः ।
विकारयोगादन्याश्च तास्ता वक्ष्याम्यशेषतः ॥ ४१ ॥

सभी अङ्गों से मनोहर रूप धारण करने के कारण मुझे लोग महालक्ष्मी नाम से पुकारते हैं । वहीं मैं महालक्ष्मी चण्डा, चण्डी, चण्डिका, भद्रकाली, भद्रा, काली, दुर्गा, महेश्वरी, त्रिगुणा, भगवत्पत्नी, भगवती, परा आदि नामों से भी जानी जाती हूँ । इसके अतिरिक्त नाना विकारों के योग से मेरे अन्य भी बहुत से नाम हैं । उन्हें भी मैं कहती हूँ ॥ ३९-४१ ॥

लक्षयामि जगत्सर्वं पुण्यापुण्ये कृताकृते ।
महनीया च सर्वत्र महालक्ष्मीः प्रकीर्तिता ॥ ४२ ॥

मैं सारे जगत् के पुण्य-पाप तथा शुभ-अशुभ कर्म को देखती रहती हूँ । मैं सर्वत्र ही महनीय (पूज्य) हूँ । इसलिये लोग मुझे **महालक्ष्मी** कहते हैं ॥ ४२ ॥

महद्भिः श्रयणीयत्वान्महाश्रीरिति गद्यते ।
चण्डस्य दयिता चण्डी चण्डत्वाच्चण्डिका मता ॥ ४३ ॥

अपनी महत्ता से मैं सारे जगत् में श्रवणीय (कीर्त्तनीय) हूँ इसलिये लोग मुझे **महाश्री** कहते हैं । चण्ड (महारुद्र) की दयिता (पत्नी) हूँ इसलिये **चण्डी** कहलाती हूँ तथा चण्ड (क्रोध) के कारण मैं **चण्डिका** भी कही गई हूँ ॥ ४३ ॥

कल्याणरूपा भद्रास्मि काली च कलनात्सताम् ।
द्विषतां कालरूपत्वादपि काली प्रकीर्तिता ॥ ४४ ॥

मैं सबका कल्याण करने के कारण भद्र (कल्याणरूपिणी) हूँ सज्जनों की रक्षा के कारण **भद्रकाली** हूँ । इतना ही नहीं शत्रुओं के लिये कालरुप होने के कारण भी **काली** कही जाती हूँ ॥ ४४ ॥

सुहृदां द्विषतां चैव युगपत्सदसद्विधेः ।
भद्रकाली समाख्याता मायाश्चर्यगुणात्मिका ॥ ४५ ॥

मित्र का सत् (उपकार) तथा शत्रु का असत् (अपकार) एक साथ करती हूँ । इसलिये **भद्रकाली** भी कही जाती हूँ । आश्चर्य गुणों से युक्त होने के कारण **माया** कही जाती हूँ ॥ ४५ ॥

विमर्शिनी—मायाश्चर्येति । अनेनाश्चर्यावहत्वं मायाशब्दार्थ इत्युक्तं भवति । अनेन मायाशब्दस्य मिथ्यार्थकत्वकल्पनं वार्यते ॥ ४५ ॥

महत्त्वाच्च महामाया मोहनान्मोहिनी मता ।
दुर्गा च दुर्गमत्वेन भक्तरक्षाविधेरपि ॥ ४६ ॥

अपनी माया से महान् होने के कारण मुझे **महामाया** और सब को मोहित करने के कारण मुझे **मोहिनी** कहा जाता है । दुर्गम होने के कारण तथा अपने भक्तों की रक्षाविधि में दुष्टों का संहार करने के कारण मैं **दुर्गा** कही जाती हूँ ॥ ४६ ॥

योजनाच्चैव योगाहं योगमाया च कीर्तिता ।
मायायोगेति विज्ञेया ज्ञानयोजनतो नृणाम् ॥ ४७ ॥

परमात्मा में योजना के कारण अथवा स्वरूप ज्ञान में युक्त करने के कारण मैं योगा या **योगमाया** हूँ, अथवा मनुष्यों के ज्ञान में योजना करने के कारण मैं योगमाया हूँ ॥ ४७ ॥

विमर्शिनी—ज्ञानयोजनत इति । अनेन ''माया वयुनं ज्ञानम्'' इति यास्क-वचनात् मायाशब्दस्य ज्ञानार्थकत्वमुक्तं भवति । ''संभवाम्यात्ममायया'' इत्यत्र आत्मसङ्कल्पेनेत्यर्थवर्णनमप्येतन्मूलकमेव ॥ ४७ ॥

पूर्णषाड्गुण्यरूपत्वात् साहं भगवती स्मृता ।
भगवद्यज्ञसंयोगात् पत्नी भगवतोऽस्म्यहम् ॥ ४८ ॥

षाड्गुण्य से पूर्ण होने के कारण मैं भगवती कही जाती हूँ (षण्णां भग इतीरणात्) । यज्ञ रूप भगवान् से संयुक्त होने के कारण मैं भगवत्पत्नी कही जाती हूँ ॥ ४८ ॥

विमर्शिनी—यज्ञसंयोगादिति । ''पत्युर्नो यज्ञसंयोगे'' इत्यनुशासनसिद्धं रूपम् । भगवद्यज्ञश्च आश्रितजनरक्षणरूपो ज्ञेयः । तत्रास्याः संयोगः पुरुषकार-त्वादिना ॥ ४८ ॥

विशालत्वात्स्मृता व्योम पूरणाच्च पुरी स्मृता ।
परावरस्वरूपत्वात् स्मृता चाहं परावरा ॥ ४९ ॥

विशाल होने के कारण मैं व्योम हूँ । सब प्रकार से पूर्ण होने के कारण मैं पुरी हूँ । परावर स्वरूप होने के कारण मैं परावरा हूँ ॥ ४९ ॥

शकनाच्छक्तिरुक्ताहं राज्ञ्यहं रञ्जनात् सदा ।
सदा शान्तविकारत्वाच्छान्ताहं परिकीर्तिता ॥ ५० ॥

सब कुछ में शक्य होने के कारण मैं शक्ति हूँ । भक्तों का रञ्जन करने के कारण मैं राज्ञी हूँ । मुझ में सब विकार शान्त हो जाते हैं । इसलिये मैं शान्ता कही जाती हूँ ॥ ५० ॥

मत्तः प्रक्रियते विश्वं प्रकृतिः सास्मि कीर्तिता ।

श्रयन्ती श्रयणीयास्मि श्रृणामि दुरितं सताम् ॥ ५१ ॥

यतः सारे विश्व का निर्माण मेरे द्वारा ही होता है । इसलिये लोग मुझे प्रकृति कहते हैं । मैं सब का आश्रय हूँ । मेरा सभी आश्रय लेते हैं । मैं सज्जनों के पापों को नष्ट करती हूँ ॥ ५१ ॥

विमर्शिनी—"श्रि श्रयणे" "शॄ हिंसायाम्" इति च धातुः ॥ ५१ ॥

श्रृणोमि करुणां वाचं श्रृणामि च गुणैर्जगत् ।
शयेऽन्तः सर्वभूतानां रमेऽहं पुण्यकर्मणाम् ॥ ५२ ॥

मैं दीनदुःखियों की करुणापूर्ण वाणी सुनती हूँ और अपने गुणों से जगत् का परिपाक करती हूँ, सभी प्राणियों के अन्तःकरण में निवास करती हूँ तथा पुण्यात्माओं में रमण करती हूँ ॥ ५२ ॥

विमर्शिनी—"श्रु श्रवणे" "शॄ प्रीणने" "शी स्वप्ने" "रम् क्रीडायाम्" इति भावतो विवक्षिताः । श्रीनाम्नि शकारविवरणम्—शयेऽहमिति ॥ ५२ ॥

ईडिता च सदा देवैः शरीरं चास्मि वैष्णवम् ।
एतान्मयि गुणान् दृष्ट्वा वेदवेदान्तपारगाः ॥ ५३ ॥
गुणयोगविधानज्ञाः श्रियं मां संप्रचक्षते।
साहमेवंविधा नित्या सर्वाकारा सनातनी ॥ ५४ ॥

देवताओं द्वारा मैं स्तुत्य हूँ और वैष्णव ही मेरे शरीर हैं । मेरे इतने गुणों को देखकर वेद-वेदान्त में पारङ्गत तथा गुण योग विधान से नामकरण करने वाले विद्वज्जन मुझे श्रीः कहते हैं । इन गुणों वाली मैं नित्या हूँ । मैं ही सर्वाकारा और सनातनी हूँ ॥ ५३-५४ ॥

विमर्शिनी—ईकारविवरणम्—ईडितेति । "ईड स्तुतौ" इति धातु । विष्णोः शरीरं रूपमित्यर्थः ।

गुणत्रयमधिष्ठात्री त्रिगुणा परिकीर्तिता ।
गुणवैषम्यसर्गाय प्रवृत्ताहं सिसृक्षया ॥ ५५ ॥
तप्तकाञ्चनवर्णाभा तप्तकाञ्चनभूषणा ।
निरालोकमिमं लोकं पूरयामि स्वतेजसा ॥ ५६ ॥

सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणों की अधिष्ठान, मुझ को मूल त्रिगुणमयी समझा जाता है । गुणों की विषमता से सृष्टि करने के उद्देश्य से मैं सिसृक्षा कर्म में प्रवृत्त होती हूँ । मैं तपाये गए सुवर्ण के समान कान्तिमयी तथा तपाये गए सुवर्ण के भूषणों से भूषित हूँ । सारे लोक को शून्य तथा

प्रकाश रहित देखकर मैं उसे अपने तेज से पूर्ण कर देती हूँ ॥ ५६ ॥

महालक्ष्मीतो महामायाया महाविद्यायाश्चाविर्भावः

शून्यं तदखिलं लोकं स्वेन पूरयितुं पुरा ।
भरामि त्वपरं रूपं तमसा केवलेन तु ॥ ५७ ॥
सा भिन्नाञ्जनसङ्काशा दंष्ट्राञ्चितवरानना ।
विशाललोचना नारी बभूव तनुमध्यमा ॥ ५८ ॥

सारे संसार को शून्य देखकर उसे अपने तेज से पूर्ण करने के लिये, मैं केवल तमोगुण रूप उपाधि के द्वारा एक अन्य उत्कृष्ट रूप धारण करती हूँ । मेरा वह रूप एक नारी के रूप में प्रकट हुआ । जिसके शरीर की कान्ति बिखरे हुये काजल की भाँति काले रङ्ग की थी । उसका मनोहर मुख दाँतों से परिपूर्ण था, नेत्र बड़े-बड़े और कमर पतली थी ॥ ५७-५८ ॥

खड्गपात्रशिरःखेटैरलंकृतमहाभुजा ।
कबन्धहारा शिरसि बिभ्राणाहिशिरःस्रजम् ॥ ५९ ॥

उसकी चार भुजायें ढाल, तलवार, पान पात्र और शिर (कटे हुये मस्तक) से सुशोभित थी । वह वक्षःस्थल पर कबन्ध (धड़) की तथा मस्तक पर मुण्डों की माला धारण किये हुये थी ॥ ५९ ॥

सा मां प्रोवाच संभूता तामसी प्रमदोत्तमा ।
नाम कर्म च मे मातर्देहि तुभ्यं नमो नमः ॥ ६० ॥

तब इस प्रकार प्रगट हुई प्रमदोत्तमा उस तामसी देवी ने मुझ महालक्ष्मी से कहा—'हे मातः ! आपको बारम्बार नमस्कार है' । हे मातः ! मेरा नामकरण कीजिये और मेरे कर्त्तव्यों का निर्देश कीजिये ॥ ६० ॥

श्रीः—

तामब्रवं वरारोहां तामसीं प्रमदोत्तमाम् ।
ददामि तव नामानि यानि कर्माणि तानि ते॥ ६१ ॥

तब महाश्री ने कहा—हे इन्द्र ! तब मुझ महालक्ष्मी ने उस प्रमदोत्तमा तामसी देवी से कहा, देवि मैं तुम्हारा नामकरण करती हूँ और आपके कर्त्तव्यों का भी निर्देश करती हूँ ॥ ६१ ॥

महाकाली महामाया महामारी क्षुधा तृषा ।
निद्रा कृष्णा चैकवीरा कालरात्रिर्दुरत्यया ॥ ६२ ॥
एतानि तव नामानि प्रतिपाद्यानि नामभिः ।

एभिः कर्माणि ते ज्ञात्वा योऽधीते सोऽश्नुते सुखम् ॥ ६३ ॥

महाकाली, महामाया, महामारी, क्षुधा, तृषा, निद्रा, कृष्णा, कालरात्रि, दुरत्यया—इतने आपके नाम हैं। आपके ये सभी नाम आपके नामों से ही चरितार्थ हो जायेगें। आपके इन नामों से जो आपके कर्मों को जानकर पाठ करेगा, उसे सुख प्राप्त होगा ॥ ६२-६३ ॥

अपर्याप्तमिमं सर्गं मन्यमानाहमादिमम् ।
सत्त्वोन्मेषमयं रूपं भरामि स्मेन्दुसंनिभम् ॥ ६४ ॥

मैंने इस (काली रूप) सर्ग को अपर्याप्त मानकर सत्त्वगुण से एक दूसरा रूप धारण किया जो चन्द्रमा के समान गौरवर्ण का था ॥ ६४ ॥

अक्षमालाङ्कुशधरा वीणापुस्तकधारिणी।
सा बभूव वरा नारी नाम कर्म तदा ह्यदाम्॥ ६५ ॥
महाविद्या महावाणी भारती वाक् सरस्वती ।
आर्या ब्राह्मी महाधेनुर्वेदगर्भा च धीश्च गीः॥ ६६ ॥

वह श्रेष्ठ नारी जब उत्पन्न हुई तब अपने हाथों में अक्षमाला अंकुश वीणा तथा पुस्तक धारण किये हुये थी तब मैंने उसका भी नाम और कर्म प्रदान किया। महाविद्या, महावाणी, भारती, वाक्, सरस्वती, आर्या, ब्राह्मी, महाधेनु, वेदगर्भा, धी और गौ—ये उसके नाम हुये ॥ ६५-६६ ॥

नामानुरूपं कर्म स्यात् सात्त्विक्याः कार्यमद्भुतम्।
वयं तिस्रो जगद्धात्र्यो मातरश्च प्रकीर्तिताः॥ ६७ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे महालक्ष्मीसमुद्भूतिर्नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

उसके नामानुरूप उसके कर्म भी कहे गए हैं। यतः वह सात्विकी है, अतः उसके कार्य भी अद्भुत होते हैं। इस प्रकार हम तीनों जगद्धात्री तथा जगन्माता कही जाती हैं ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के महालक्ष्मीसमुद्भूति नामक चौथे अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

प्राकृतसृष्टिप्रकाशः

सङ्कर्षणादिदेवांशतया स्त्रीपुंसरूपेण देवानां मिथुनत्रयस्याविर्भावः

श्रीः—

या साहंता हरेराद्या सर्वाकारा सनातनी ।
शुद्धानन्दचिदाकारा सर्वतः समतां गता ॥ १ ॥
साहं सिसृक्षया युक्ता स्वल्पाल्पेनात्मबिन्दुना ।
सृष्टिं कृतवती शुद्धां पूर्णषाड्गुण्यविग्रहाम् ॥ २ ॥

श्री ने कहा—जो भगवान् विष्णु की आद्या सर्वाकाररूपा सनातनी (शुद्धानन्दचिदाकारा) सर्वत्र समता को प्राप्त होने वाली विष्णु की अहन्ता हैं वही मैं हूँ । मैं स्वल्प से स्वल्प आत्म बिन्दु द्वारा सृष्टि की रचना की इच्छा कर षाड्गुण्य पूर्ण इस शुद्धा सृष्टि की रचना करती हूँ ॥ १-२ ॥

विमर्शिनी—अत्र शान्तावस्था । द्वितीयश्लोके उदितावस्था । तृतीयश्लोके त्रैगुण्यावस्था महालक्ष्मीसमाख्या । चतुर्थे रजःप्रधानावस्था महाश्रीः महालक्ष्म्यपरपर्याया । तमःप्रधानतया पूर्वाध्यायोक्ता महामाया । पञ्चमे पूर्वाध्यायोक्तसत्त्वप्रधाना महाविद्या ॥ १ ॥

अनुज्झितस्वरूपाहं मदीयेनाल्पबिन्दुना ।
महालक्ष्मीः समाख्याता त्रैगुण्यपरिवर्तिनी ॥ ३ ॥

मैं कभी अपने स्वरूप का त्याग नहीं करती। मेरे अल्प बिन्दु से निर्मित होकर त्रिगुणात्मक में जो परिवर्तित हुई वही **महालक्ष्मी** कही जाती है ॥ ३ ॥

रजःप्रधाना तत्राहं महाश्रीः परमेश्वरी ।
मदीयं यत्तमोरूपं महामायेति सा स्मृता ॥ ४ ॥

उस त्रिगुण में जो रज:प्रधाना है वही महाश्री परमेश्वरी मैं हूँ । मेरा जो तमोगुणात्मक रूप है, उसे **महामाया** कहा जाता है ॥ ४ ॥

मदीयं सत्त्वरूपं यन्महाविद्येति सा स्मृता ।
अहं च ते च कामिन्यौ ता वयं तिस्र ऊर्जिताः ॥ ५ ॥

मेरा जो सत्त्वगुण सम्पन्न रूप है उसे **महाविद्या** कहा जाता है । मैं और वे दोनों (महामाया और महाविद्या) इस प्रकार हम तीनों ही शक्ति सम्पन्ना हैं ॥ ५ ॥

सृष्टवत्यस्तु मिथुनान्यनुरूपाणि च त्रिधा ।
मदीयं मिथुनं यत्तन्मानसं रुचिराकृति ॥ ६ ॥

तदनन्तर हम लोगों ने अपने अपने अनुरूप तीन प्रकार के तीन स्त्री पुरुषों के जोड़े उत्पन्न किये । मेरी मानसी सृष्टि से उत्पन्न हुए यह मिथुन प्रद्युम्न (स्त्री-पुरुष का जोड़ा) आकृति से बड़ा ही मनोहर था ॥ ६ ॥

हिरण्यगर्भं पद्माक्षं सुन्दरं कमलासनम् ।
प्रद्युम्नांशादिदं विद्धि संभूतं मयि मानसम् ॥ ७ ॥

हे इन्द्र ! प्रद्युम्न के अंश से जो मेरी मानसी सृष्टि से उत्पन्न हुआ, वह हिरण्यगर्भ कमलासन पर बैठे हुए थे । कमल के समान उनके नेत्र थे ॥ ७ ॥

धाता विधिर्विरिञ्चश्च ब्रह्मा च पुरुषः स्मृतः ।
श्रीः पद्मा कमला लक्ष्मीस्तत्र नारी प्रकीर्तिता ॥ ८ ॥

वह सुन्दर पुरुष धाता-विधाता, विरिञ्चि और ब्रह्मदेव कहे जाते है और जो नारी थी, वह कमला और लक्ष्मी के नाम से प्रसिद्ध हुई ॥ ८ ॥

सङ्कर्षणांशतो द्वन्द्वं महामायासमुद्भवम् ।
त्रिनेत्रं चारुसर्वाङ्गं मानसं तत्र यः पुमान् ॥ ९ ॥

महामाया में सङ्कर्षण के अंश से जो मानस मिथुन उत्पन्न हुए, उनमें पुरुष बड़ा ही मनोहर रूप वाला, तीन नेत्रों से संयुक्त था ॥ ९ ॥

स रुद्रः शङ्करः स्थाणुः कपर्दी च त्रिलोचनः ।
तत्र त्रयीश्वरा भाषा विद्या चैवाक्षरा तथा ॥ १० ॥

कामधेनुश्च विज्ञेया सा स्त्री गौश्च सरस्वती ।
अनिरुद्धांशसंभूतं महाविद्यासमुद्भवम् ॥ ११ ॥
मिथुनं मानसं यत्तत्पुरुषस्तत्र केशवः ।
विष्णुः कृष्णो हृषीकेशो वासुदेवो जनार्दनः ॥ १२ ॥
उमा गौरी सती चण्डा तत्र स्त्री सुभगा सती ।
ब्रह्मणस्तु त्रयी पत्नी सा बभूव ममाज्ञया ॥ १३ ॥

वह रुद्र, शङ्कर, स्थाणु, कपर्दी एवं त्रिलोचन नाम से विख्यात हुए, जो स्त्री थी, वह ईश्वरात्रयी (भाषा, विद्या, अक्षरा), कामधेनु (स्त्री, गौ) और सरस्वती नाम से विख्यात हुई । महाविद्या ने अनिरुद्ध के अंश से जिस मिथुन को उत्पन्न किया, उसमें जो पुरुष हुए, वह केशव, विष्णु, हृषीकेश, वासुदेव और जनार्दन नाम से विख्यात हुए और जो स्त्री थी, वह उक्त गौरी, सती चण्डा, सुभगा एवं सती नाम से विख्यात हुई । तदनन्तर मेरी आज्ञा से त्रयी (रुद्र की भाषा आदि भगिनी) ब्रह्मदेव की पत्नी हुई ॥ १०-१३ ॥

रुद्रस्य दयिता गौरी वासुदेवस्य चाम्बुजा ।
रजसस्तमसश्चैव सत्त्वस्य च विवर्तनम् ॥ १४ ॥

रुद्र की पत्नी गौरी (कृष्णभगिनी) और वासुदेव की पत्नी महालक्ष्मी (ब्रह्मदेव की भगिनी) हुई । इस प्रकार रज, सत्त्व और तमो गुणों की अदला-बदली हो गई ॥ १४ ॥

प्रधानकालहिरण्यगर्भमहदहङ्कारभूतमात्रेन्द्रियाणां सृष्टिः

आद्यं पर्व तदेतत्ते कथितं मिथुनत्रयम् ।
मध्यमं पर्व वक्ष्यामि गुणानां तदिदं शृणु ॥ १५ ॥

इस प्रकार हे इन्द्र ! मैंने इन तीन मिथुनों वाली सृष्टि का आदि पर्व आप से कहा । अब गुणों का यह मध्यम पर्व आपसे कहती हूँ, उसे सुनिए ॥ १५ ॥

विमर्शिनी—आद्य पर्वेति । राजस्या लक्ष्म्याः प्रद्युम्नांशात् मानसी सृष्टिः—विरिञ्चिः, श्रीश्च । तामस्या महामायायाः सङ्कर्षणांशात् मानसी सृष्टिः—रुद्रः, त्रयी च । सात्त्विक्या महाविद्याया अनिरुद्धांशात् मानसी सृष्टिः—विष्णुः, गौरी च । ततः राजसस्य विरिञ्चेः तामस्या त्रय्या, तामसस्य रुद्रस्य सात्त्विक्या गौर्या, सात्त्विकस्य विष्णोः राजस्या श्रिया चेति दाम्पत्यपरिकल्पनरूपमित्यर्थः । मध्यमं पर्वेति । धात्रा अण्डसृष्टिः । रुद्रेण तद्भेदनम् । तत्र पुनश्च धात्रा अण्डमध्ये प्रधानसृष्टिः । विष्णुना तत्परिपालनरूपमित्यर्थः ॥ १५ ॥

भाषया सह सम्भूय विरिञ्चोण्डमजीजनत् ।
मदाज्ञया बिभेदैतत्स गौर्या सह शङ्करः ॥ १६ ॥

तदनन्तर ब्रह्माणी ने सरस्वती के साथ संयुक्त होकर ब्रह्माण्ड को उत्पन्न किया और परम पराक्रमी भगवान् रुद्र ने गौरी के साथ संयुक्त होकर मेरी आज्ञा से उस अण्ड का भेदन कर दिया ॥ १६ ॥

अण्डमध्ये प्रधानं यत्कार्यमासीत्तु वेधसः।
तदेतत्पालयामास पद्मया सह केशवः ॥ १७ ॥

हे इन्द्र ! उस ब्रह्माण्ड में प्रधान आदि कार्य समूह थे, जिसका पालन केशव ने लक्ष्मी को साथ लेकर किया ॥ १७ ॥

तदेतन्मध्यमं पर्व गुणानां परिकीर्तितम् ।
तृतीयं पर्व वक्ष्यामि तदिहैकमनाः शृणु ॥ १८ ॥

हे इन्द्र ! इस प्रकार गुणों का मध्यमपर्व मैंने आपसे कहा । अब तृतीय पर्व कहती हूँ सावधान होकर सुनिए ॥ १८ ॥

विमर्शिनी—तृतीयं पर्वेति । विष्णोर्नाभिसरोरुहात् हिरण्यगर्भस्य त्रय्या सह प्रादुर्भावः । नाभिपद्मं तदुद्भूतं द्वन्द्वं चेति त्रयं समुदितं महदिति कथ्यते । तस्मादहङ्कारादिक्रमेण प्रपञ्चसृष्टिरूपमित्यर्थः ॥ १८ ॥

अण्डमध्ये प्रधानं हि यत्तत्सदसदात्मकम् ।
त्रैगुण्यं प्रकृतिर्व्योम स्वभावो योनिरक्षरम् ॥ १९ ॥
तदेतत्सलिलीकृत्य तत्त्वमव्यक्तसंज्ञकम् ।
हृषीकेशः स भगवान् पद्मया सह विद्यया ॥ २० ॥
अप्सु संशयनं चक्रे निद्रायोगमुपागतः ।
या सा प्रोक्ता महाकाली सा निद्रा तामसी ह्यभूत् ॥ २१ ॥

अण्ड के मध्य में जो सदसदात्मक त्रिगुण प्रकृति व्योम स्वभाव योनि और अक्षर था उसे जल जैसा बनाकर भगवान् विष्णु ने उसकी अव्यक्त संज्ञा कर दी । फिर वे उसे लेकर महालक्ष्मी के साथ जल में सो गए । जिस निद्रा योग के वशीभूत हो भगवान् विष्णु ने जल में शयन किया था, उसका नाम महाकाली हुआ । वह निद्रा तामसी कही जाती है ॥ १९-२१ ॥

शयानस्य तदा पद्ममभून्नाभ्यां पुरन्दर ।
तत्कालमयमाख्यातं पङ्कजं यदपङ्कजम् ॥ २२ ॥

हे पुरन्दर ! जब अव्यक्त को लेकर महाविष्णु लक्ष्मी के साथ

जलाधिकरण में शयन कर रहे थे, तब उनकी नाभि से एक कमल उत्पन्न हुआ, जो पङ्क से उत्पन्न न होकर भी पङ्कज के नाम से प्रसिद्ध हुआ । वह पद्म कालमय भी कहा जाता है ॥ २२ ॥

जलाधिकरणं पद्ममाधारः पुष्करं तथा ।
चक्रं च पुण्डरीकं चेत्येवं नामानि तस्य तु ॥ २३ ॥

उसके जलाधिकरण पद्म, आधार पुष्कर चक्र और पुण्डरीक इत्यादि भी नाम हैं ॥ २३ ॥

शक्रः—

चिदचित्तत्त्वमाख्यातं चेतनश्चित्प्रकीर्तितः ।
अचित् त्रैगुण्यमित्युक्तं कीदृक् कालोऽपरः स्मृतः॥ २४ ॥

इन्द्र ने कहा—हे महालक्ष्मी ! आपने पहले चित् और अचित् दो तत्त्व कहा था । जो चेतन है, वह चित् और जो त्रिगुण है, वह अचित् है, इतना कहा था । अब यह एक विलक्षण कालतत्त्व क्या है ? इसे बताइये ॥ २४ ॥

अचिदंशोऽपरः कालस्त्रैगुण्यमपरं स्मृतम् ।
बलादिकं तु यत्पूर्वं षाड्गुण्ये त्रिकमीरितम्॥ २५ ॥

अचिदंश वाला काल दूसरा है और त्रिगुणयुक्त अचित् दूसरा है । हमने पहले बलादि षड्गुणों के क्रमशः युग्म को- बल, ऐश्वर्य और वीर्य—इन नामों से तीनों को त्रिक कह दिया है ॥ २५ ॥

विमर्शिनी—त्रिकमिति । बलैश्वर्यवीर्यरूपमित्यर्थः ॥ २५ ॥

तदेतत्कालरूपेण सृष्टौ सम्परिवर्तते ।
स्वतश्चापरिणामीदं त्रैगुण्यं परिणामि तत् ॥ २६ ॥
कालकाल्यात्मकं द्वन्द्वमचिदेतत्प्रकीर्तितम् ।
सृजन्त्या विविधान् भावान्मम देव्या महाश्रियः ॥ २७ ॥

यह त्रिक ही कालरूप से सृष्टि में परिवर्तित होता है । जबकि यह काल स्वतः अपरिणामी (नित्य) है और त्रिगुण परिणामी (अनित्य) है । मुझ महाश्री द्वारा अनेक भावों का सृजन करने में क्षणादिक काल और उस काल का विकार त्रिगुण अचित् कहा जाता है । वही सृष्टि में काल रूप से बदल जाता है । यह काल रूप में परिवर्तित होने पर स्वतः अपरिणामी है । जबकि त्रिगुण परिणामी है । क्षणादि को काल कहते हैं । काल्य काल का विकार है जो त्रिगुणात्मक है । जब मैं महादेवी सृष्टि में विविध भावों की रचना करती हूँ, तब यह काल और काल्य का द्वन्द्व अचित् कहा जाता है ॥ २६-२७ ॥

विमर्शिनी—कालः क्षणादिः । काल्यं त्रिगुणं तद्विकारजातं च ॥ २७ ॥

कालोऽयं करणत्वेन वर्तते मन्मयः सदा ।
तस्मात्कालमयात्पद्माद्विष्णुनाभिसमुद्भवात् ॥ २८ ॥
ब्रह्मा वेदमयं जज्ञे स त्रय्या सह वीर्यवान् ।
हिरण्यगर्भ उक्तो यः पूर्वं लक्ष्मीसमुद्भवः ॥ २९ ॥

यह काल हमारा ही स्वरूप होकर सभी कार्यों में करण रूप से विद्यमान रहता है । तदनन्तर विष्णु के नाभि से उत्पन्न हुये कालमय पद्म से वेदमय ब्रह्म की त्रयी (सरस्वती) के साथ ही उत्पत्ति हुई । हमने जिन्हें पहले महालक्ष्मी से उत्पन्न हिरण्यगर्भ भी कहा है ॥ २८-२९ ॥ (द्र. ५-७)

महाकालीसमुद्भूता या सा नारी त्रयी स्मृता ।
तदेतन्मिथुनं जज्ञे विष्णोर्नाभिसरोरुहात् ॥ ३० ॥

यहाँ जिसे त्रयी कहा गया है वह महाकाली से उत्पन्न हुई है । इस प्रकार ब्रह्मा और त्रयी रूप मिथुन विष्णु के नाभि कमल से उत्पन्न हुये ॥ ३० ॥

पद्मं पद्मोद्भवद्वन्द्वं तदेतत् त्रितयं सह ।
महांस्तामस आख्यातो विकारः पूर्वकैर्बुधैः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार एक पद्म और उस पद्म से मिथुन इन्हें मिलाकर कुल तीन हुये । इन्हें ही पूर्वकाल के बुद्धिमानों ने महान् तामस विकार कहा है ॥ ३१॥

विमर्शिनी—पद्मोद्भवद्वन्द्वं हिरण्यगर्भस्त्रयी च ॥ ३१ ॥

प्राणो हिरण्यगर्भश्च बुद्धिश्चेति त्रिधा भिदा ।
पद्मपुंस्त्रीसमालम्बान्महत्त्वं तस्य शब्द्यते ॥ ३२ ॥

यह महान् तामस प्राण हिरण्यगर्भ और बुद्धि अपने इन तीन भेदों से पद्म पुरुषरूप ब्रह्मा और स्त्री रूप त्रयी का आलम्बन करने पर महान् शब्द से कहा जाता है ॥ ३२ ॥

विमर्शिनी—प्राणः हिरण्यगर्भः बुद्धिरिति महतो भेदाः ॥ ३२ ॥

गुणः प्राणस्य तु स्पन्दो बुद्धेरध्यवसायता ।
धर्मादिकमधर्माद्यं द्वयं पुंसो गुणो मतः ॥ ३३ ॥

प्राण का गुण स्पन्दन (कम्पन) है, बुद्धि का अध्यवसायता (निरन्तर सोचना) और धर्मादि तथा अधर्मादि उस पुरुष रूप हिरण्यगर्भ का गुण है ॥ ३३ ॥

विमर्शिनी—पुंस इति । हिरण्यगर्भस्येत्यर्थः ॥ ३३ ॥

धर्मो ज्ञानं च वैराग्यमैश्वर्यं चेति वर्णितः ।
धर्मादिको गुणो यस्मादधर्माद्याः प्रकीर्तिताः ॥ ३४ ॥

धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य—ये गुण है । इनका वर्णन हम पहले कह आये हैं । इसी प्रकार अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य भी गुण हैं ॥ ३४ ॥

विमर्शिनी—यस्मादिति । धर्मादीनां विपर्यासा अधर्मः, अज्ञानम्, अवैराग्यम्, अनैश्वर्यं चेति ज्ञेया इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

महान्तमाविशन्त्येनं प्रेरयामि स्वसृष्टये ।
प्रेर्यमाणात्ततस्तस्मादहङ्कारश्च जज्ञिवान् ॥ ३५ ॥

जब ये महान् में प्रवेश करते हैं तब मैं उन्हें सृष्टि के लिये प्रेरित करती हूँ । तब मेरी प्रेरणा से उस महान् द्वारा अहङ्कार उत्पन्न होता है ॥ ३५ ॥

पूर्वं यः शङ्करः प्रोक्तो महामायासमुद्भवः ।
या पत्नी तस्य गौरी सा जज्ञेऽभिमतिरत्र तु ॥ ३६ ॥

पहले मैंने महामाया से उत्पन्न शङ्कर को कहा है (द्र.५. ९-१०) और उनकी पत्नी गौरी को भी बताया है । वे इस अहङ्कार से उत्पन्न हुये ॥ ३६॥

विमर्शिनी—अहङ्कारस्यैवाभिमतिरिति गुणः आख्यान्तरं च ॥ ३६ ॥

आविश्यामुमहङ्कारं सृष्टये प्रेरयाम्यहम् ।
स बभूव त्रिधा पूर्वं गुणव्यतिकरात्तदा ॥ ३७ ॥

तब मैंने इस अहङ्कार में प्रविष्ट होकर सृष्टि के लिये प्रेरणा की । तब वह अहङ्कार गुणों के संमिश्रण से तीन प्रकार का हुआ ॥ ३७ ॥

तामसस्तत्र भूतादिस्तस्य सर्वमिदं शृणु ।
भूतादेः शब्दतन्मात्रं तन्मात्राच्छब्दसंभवः ॥ ३८ ॥

तामस अहङ्कार से भूतादि की उत्पत्ति हुई । जिससे इस सारे जगत् का निर्माण होता है । भूतादि से शब्दतन्मात्रा का फिर उस शब्दतन्मात्रा से शब्द की उत्पत्ति होती है ॥ ३८ ॥

विमर्शिनी—तामसाहङ्कारस्य भूतादिरिति, सात्त्विकाहङ्कारस्य वैकारिक इति, राजसाहङ्कारस्य तैजस इति च नामान्तरं बोध्यम् ॥ ३८ ॥

मत्प्रेरिताच्छब्दमात्रात्स्पर्शमात्रं बभूव ह ।

स्पर्शस्तु स्पर्शतन्मात्रात्तन्मात्रात्प्रेरितान्मया ॥ ३९ ॥
तदासीद्रूपतन्मात्रं तस्माच्च प्रेरितान्मया ।
रूपमाविर्बभूवाद्यं रसमात्रं ततः परम् ॥ ४० ॥
रसमात्रान्मया क्षिप्तात्तस्माज्जज्ञे रसस्ततः ।
गन्धतन्मात्रमप्यासीत्तस्माच्च प्रेरितान्मया ॥ ४१ ॥
शुद्धो गन्धः समुद्भूत इतीयं भौतिकी भिदा ।
मात्राणि सूक्ष्मभूतानि स्थूलभूतानि चापरे ॥ ४२ ॥
शब्दादयः समाख्याता गुणाः शब्दादयस्तु ये ।
स्थूलभूतविसर्गास्ते नान्ये शब्दादयो गुणाः ॥ ४३ ॥

फिर मेरी प्रेरणा से शब्दन्मात्रा द्वारा स्पर्श तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है । फिर उस स्पर्शतन्मात्रा से स्पर्श तथा उसी स्पर्शतन्मात्रा से रूपतन्मात्रा की उत्पत्ति हुई । पुनः मेरी प्रेरणा से उस रूपतन्मात्रा से रूप और रसतन्मात्रा की उत्पत्ति हुई, फिर मेरी प्रेरणा से उस रसमात्रा द्वारा रस की उत्पत्ति हुई । तदनन्तर उसी से पुनः गन्धतन्मात्रा की उत्पत्ति हुई । पुनः उसी गन्धतन्मात्रा से केवल शुद्ध गन्ध की भी उत्पत्ति हुई । ये भौतिक सर्ग के भेद हैं । शब्दतन्मात्रादि सूक्ष्म भूत कहे जाते हैं । दूसरे शब्दादि स्थूल भूत कहे जाते हैं । ये शब्दादि स्थूल भूत नष्ट हो जाते हैं । अन्य शब्दादि गुण नष्ट नहीं होते हैं ॥ ३९-४३ ॥

शान्तत्वं चैव घोरत्वं मूढत्वं चेति तत् त्रिधा ।
सत्त्वाद्युन्मेषरूपाणि तानि सूक्ष्मेषु सन्ति न ॥ ४४ ॥

स्थूलभूत—शान्त, घोर और मूढ़ रूप से तीन प्रकार के होते हैं । ये सभी सत्त्वादि गुणों के उन्मेष से उत्पन्न होते हैं । किन्तु सूक्ष्मभूत ऐसे नहीं होते हैं ॥ ४४ ॥

तेन तन्मात्रता तेषां सूक्ष्माणां परिकीर्तिता ।
सुखदुःखादिदायित्वात् स्थूलत्वमितरत्र तु ॥ ४५ ॥

इसीलिये सूक्ष्मभूतों की तन्मात्रता कही गई है । इतर स्थूलभूतों में सुख-दुःख देने की क्षमता होती है ॥ ४५ ॥

स्थूलानामेव भूतानां त्रिधावस्था प्रकीर्तिता ।
सूक्ष्माश्च पितृजाश्चैव प्रभूता इति भेदतः ॥ ४६ ॥

स्थूलभूतों की सूक्ष्म, पितृज और प्रभूत—इन तीन भेदों से तीन अवस्था कही गई है ॥ ४६ ॥

घटाद्या विविधा बाह्याः प्रभूता इति शब्द्यते ।
शुक्लशोणितसंभूता विशेषाः पितृजाः स्मृताः ॥ ४७ ॥

अनेक प्रकार के घट बाहरी होने से प्रभूत कहे जाते हैं । शुक्र, शोणित से उत्पन्न होने वाले विशेष पितृज कहे जाते हैं ॥ ४७ ॥

सूक्ष्मास्तु पञ्चभूताः स्युः सूक्ष्मदेहव्यपाश्रयाः ।
सर्गो भूतादिजो ह्येवं क्रमशः परिकीर्तितः ॥ ४८ ॥

देह में सूक्ष्म रूप से रहने वाले पञ्चभूत सूक्ष्म कहे जाते हैं । इस प्रकार क्रमशः भूतादि से उत्पन्न होने वाले सर्ग का हमने वर्णन किया ॥ ४८ ॥

विमर्शिनी—शब्दतन्मात्रात् शब्दः स्पर्शतन्मात्रं च जातम् । स्पर्शतन्मात्रात् स्पर्शः रूपतन्मात्रं च जातम् । रूपतन्मात्रात् रूपं रसतन्मात्रं च जातम् । रसतन्मात्रात् रसः गन्धतन्मात्रं च जातम् । गन्धतन्मात्रात् गन्धो जात इत्यत्रत्या प्रक्रिया । सांख्यास्तु—भूतादेरेव सर्वेषां तन्मात्राणामुत्पत्तिं वदन्ति । औपनिषद-प्रक्रिया तु—भूतादेः शब्दतन्मात्रम्, तस्मादाकाशः, तस्मात् स्पर्शतन्मात्रम्, तस्माद्वायुः; तस्मात् रूपतन्मात्रम्, तस्मादग्निः, तस्मात् रसतन्मात्रम्, तस्मात् जलम्, तस्मात् गन्धतन्मात्रम्, तस्मात् पृथिवी जातेति ॥ ४८ ॥

अहङ्कारस्य यावंशौ रजःसत्त्वसमाश्रयौ ।
वैकारिक इति प्रोक्तः सात्त्विकोंऽशस्तयोः परः ॥ ४९ ॥
तैजसः कथितः सद्भिस्तयोः सृष्टिमिमां शृणु ।
वैकारिकादहङ्कारादासीच्छ्रोत्रादिधीन्द्रियम् ॥ ५० ॥
कर्मेन्द्रियं च वागादि तैजसात्संप्रवर्तते ।
उभयस्मात्ततश्चासीद् बुद्धिकर्मेन्द्रियं मनः ॥ ५१ ॥

अहङ्कार के जो दो अंश रजोगुण में और सतोगुण में स्थित रहते हैं उनमें रजोगुण में रहने वाला अंश वैकारिक कहा जाता है । सात्विक अंश में रहने वाला अहङ्कार तैजस कहा जाता है जो अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है । वैकारिक अहङ्कार से श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति तथा तैजस अहङ्कार से वागादि कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति कही गई है । उन दोनों (वैकारिक और तैजस अहङ्कार) से बुद्धि और कर्मेन्द्रियात्मक मन की उत्पत्ति हुई है ॥ ४९-५१ ॥

विमर्शिनी—वैकारिकात् ज्ञानेन्द्रियाणां, तैजसात् कर्मेन्द्रियाणां चोत्पत्ति-रिति भेदपरिकल्पनमत्रेति विवेकः । औपनिषदास्तु—सर्वेषामपीन्द्रियाणां वैकारिका-दुत्पत्तिमाचक्षते । तथा मनस उभयेन्द्रियत्वं सांख्यमतरीत्या । औपनिषदमते तु ज्ञानेन्द्रियत्वमेव ॥ ५१ ॥

श्रोत्रं त्वक् चैव चक्षुश्च जिह्वा घ्राणं च पञ्चमम् ।
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चाहुः शक्तिरेषा मदात्मिका ॥ ५२ ॥

श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और पाँचवाँ घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ कही जाती हैं । ये हमारी शक्तियाँ ही हैं ॥ ५२ ॥

वाक् च हस्तौ च पादौ च तथोपस्थं च पायु च ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चाहुः शक्तिरेषा मदात्मिका ॥ ५३ ॥

वाणी, दोनों हाथ, दोनों पैर, उपस्थ एवं पायु—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ कही जाती हैं । ये भी मेरी ही शक्तियाँ है ॥ ५३ ॥

या सा विज्ञानशक्तिर्मे पारम्पर्यक्रमागता ।
बुद्धीन्द्रियाण्यधिष्ठाय विषयेषु प्रवर्तते ॥ ५४ ॥
क्रियाशक्तिश्च या सा मे पारम्पर्यक्रमागता ।
कर्मेन्द्रियाण्यधिष्ठाय कर्तव्येषु प्रवर्तते ॥ ५५ ॥

परम्परा के क्रम से आई मेरी जो विज्ञान-शक्ति है वह बुद्धि और इन्द्रियों में अधिष्ठित होकर विषयों में प्रवृत्त होती है और परम्परा के क्रम से आई हुई मेरी जो क्रियाशक्ति है, वह कर्मेन्द्रियों में अधिष्ठित होकर कर्तव्य रूप विषयों में प्रवृत्त होती है ॥ ५४-५५ ॥

श्रोत्रस्य विषयः शब्दः श्रवणं च क्रिया मता ।
त्वचश्च विषयः स्पर्शः स्पर्शनं च क्रिया मता ॥ ५६ ॥

श्रोत्र का विषय शब्द है, सुनना उसकी क्रिया है, त्वगिन्द्रिय का विषय स्पर्श है और स्पर्श करना उसकी क्रिया है ॥ ५६ ॥

चक्षुषो विषयो रूपं दर्शनं च क्रिया मता ।
जिह्वाया विषयो रस्यो रसनं च क्रिया मता ॥ ५७ ॥

चक्षुरिन्द्रिय का विषय रूप है, देखना उसकी क्रिया है । जिह्वा का विषय रसीला पदार्थ है, स्वाद लेना उसकी क्रिया है ॥ ५७ ॥

घ्राणस्य विषयो गन्ध आघ्राणं च क्रिया मता ।
वृत्तयो विषयेष्वस्य श्रोत्रादेः श्रवणादयः ॥ ५८ ॥

घ्राण का विषय गन्ध है, सूँघना उसकी क्रिया है । श्रोत्रादि इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति ही श्रवणादि क्रियायें हैं ॥ ५८ ॥

आलोचनानि कथ्यन्ते धर्मिमात्रग्रहश्च सः ।

जिनसे धर्मी मात्र का ग्रहण होता है उन्हें आलोचन कहते हैं ॥ ५९ ॥

विमर्शिनी—आलोचनं नाम शब्दादिधर्माणां स्फुटग्रहणमन्तरा वस्तुमात्रग्रहणम् । तदप्यस्फुटमेव । आहुश्च—"अस्ति ह्यालोचनिं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् बालमूकादिविज्ञानसदृशं मुग्धवस्तुकम्" ॥ ५९ ॥

दिक् च विद्युत्तथा सूर्यः सोमो वसुमती तथा ॥ ५९ ॥
अधिदैवमिति प्रोक्तं क्रमाच्छ्रोत्रादिपञ्चके ।
अधिभूतमिति प्रोक्तः शब्दाद्यो विषयः क्रमात् ॥ ६० ॥

श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण—इन ज्ञानेन्द्रियों के क्रमशः दिक्, विद्युत्, सूर्य, सोम और वसुमती अधिदैव कहे जाते हैं तथा उनके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध विषय कहे जाते हैं ॥ ६० ॥

श्रोत्रादिपञ्चकं त्वेतदध्यात्मं परिकीर्तितम् ।
श्रोत्रादेः सात्त्विकात्सृष्टिर्वियदादिव्यपेक्षया ॥ ६१ ॥

श्रोत्रादि पञ्चकों को अध्यात्म भी कहा जाता है । श्रोत्रादि की सात्विक सृष्टि आकाशादि की व्यपेक्षा करके कहीं गई है ॥ ६१ ॥

तेन भौतिकमित्युक्तं क्रमाच्छ्रोत्रादिपञ्चकम् ।
वाचस्तु विषयः शब्दो वचनं च क्रिया मता ॥ ६२ ॥

इसलिये श्रोत्रादि पञ्चक भौतिक कहे जाते हैं । वाणी का विषय शब्द है, बोलना उसकी क्रिया है ॥ ६२ ॥

हस्तेन्द्रियस्य चादेयमादानं च क्रिया मता ।
पादेन्द्रियस्य गन्तव्यं गमनं च क्रिया मता ॥ ६३ ॥

हस्तेन्द्रिय का विषय ग्रहण करना या देना है और लेना तथा देना उसकी क्रिया है । पैर का विषय गन्तव्य है, गमन उसकी क्रिया है ॥ ६३ ॥

उपस्थस्य तदानन्द्यमानन्दश्च क्रिया मता ।
विसृज्यं विषयः पायोर्विसर्गश्च क्रिया मता ॥ ६४ ॥

उपस्थ का विषय आनन्द वाला पदार्थ है और आनन्द ग्रहण करना उसकी क्रिया है, पायु का विषय सृज्य पदार्थ है, विसर्ग उसकी क्रिया है ॥ ६४ ॥

हस्तादिकं पञ्चकं यत्तत्पञ्चविषयात्मकम् ।
अग्निरिन्द्रश्च विष्णुश्च तथैवाद्यः प्रजापतिः ॥ ६५ ॥
मित्रश्चेति क्रमाज्ज्ञेया अधिदेवा विचक्षणैः ।

शब्दः पञ्चात्मकं चैव वागादेर्विषयो हि यः ॥ ६६ ॥
सोऽधिभूत इति प्रोक्तो वागाद्यध्यात्मसुच्यते ।
मनस्तु सहकार्यस्मिन्नुभयत्रापि पञ्चके ॥ ६७ ॥

इस प्रकार दोनों हाथ, दोनों पैर, वाक्, उपस्थ और पायु—ये जो पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं वे पञ्च विषयात्मक है । अग्नि (वाक्), इन्द्र (हाथ), विष्णु (पैर) आद्य प्रजापति (उपस्थ) और मित्र (पायु) के अधिदेव कहे गए हैं । शब्द पाँच प्रकार से बोले जाते हैं । इसलिये पञ्चात्मक हैं जो वाणी के विषय हैं । इन्हें अधिभूत भी कहा जाता है । वागादि अध्यात्म कहे जाते हैं । मन इनका सहकारी है, जो कर्मेन्द्रिय पञ्चक और ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक में रहने से उभयात्मक है ॥ ६५-६७ ॥

ज्ञानेन्द्रियगणैश्चैतद्विकल्पं तनुते मनः ।
विकल्पो विविधा क्लृप्तिस्तच्च प्रोक्तं विशेषणम् ॥ ६८ ॥

यह मन ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर विकल्प उत्पन्न करता रहता है । अनेक प्रकार की कल्पना को **विकल्प** कहते हैं । वह प्रायः विशेषता उत्पन्न करता है ॥ ६८ ॥

धर्मेण सह संबन्धो धर्मिणश्च स उच्यते ।
विकल्पः पञ्चधा ज्ञेयो द्रव्यकर्मगुणादिभिः ॥ ६९ ॥

धर्म के साथ धर्मी का सम्बन्ध विकल्प कहा जाता है । यह विकल्प द्रव्य, गुण और कर्म के भेद से पाँच प्रकार का होता है ॥ ६९ ॥

दण्डीति द्रव्यसंयोगाच्छुक्लो गुणसमन्वयात् ।
गच्छतीति क्रियायोगात्पुमान् सामान्यसंस्थितेः ॥ ७० ॥
डित्थः शब्दसमायोगादितीयं पञ्चधा स्थितिः ।
कर्मेन्द्रियगणैश्चैतत्सङ्कल्पं तनुते मनः ॥ ७१ ॥

जैसे दण्डरूप द्रव्य के संयोग से दण्डी, शुक्ल रूप गुण के संयोग से शुक्ल, गच्छति इस क्रिया के योग से गन्ताः सामान्यतया पुमान्, और शब्द समायोग से डित्थ इस प्रकार शब्द पाँच प्रकार के कहे गए हैं । यह मन कर्मेन्द्रियों के संयोग से सङ्कल्प उत्पन्न करता रहता है ॥ ७०-७१ ॥

औदासीन्यच्युतिर्या सा सङ्कल्पोद्योगनामिका ।
अहङ्कारेण चैतस्मिन्नुभयत्र गणे स्थितिः ॥ ७२ ॥

जिसमें उदासीनता का सर्वथा अभाव हो जिसमें उद्योग (पुरुषार्थ) हो उसे

सङ्कल्प कहते हैं । जब यह अहङ्कार से युक्त हो जाता है तब कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों गुणों में इसकी स्थिति रहती है ॥ ७२ ॥

ज्ञानेन्द्रियगणे सोऽयमभिमानेन वर्तते ।
देशकालान्वयो ज्ञातुरभिमानः प्रकीर्तितः ॥ ७३ ॥

यह सङ्कल्प ज्ञानेन्द्रिय गण में 'सोऽयम्' 'यह वही है' इस प्रकार के अभिमान (अहङ्कार) से युक्त होकर रहता है । ज्ञाता का देश काल का सम्बन्ध अभिमान या अहङ्कार कहा जाता है ॥ ७३ ॥

ममाद्य पुरतो भातीत्येवं वस्तु प्रतीयते ।
कर्मेन्द्रियगणे त्वेष संरम्भेण प्रवर्तते ॥ ७४ ॥

यह हमारे आगे ही दिखाई दे रहा है । इस प्रकार जो वस्तु की प्रतीति कर्मेन्द्रिय गणों में होती है, वह संरम्भ के कारण ही प्रवृत्त होती है ॥ ७४ ॥

सङ्कल्पपूर्वरूपस्तु संरम्भः परिकीर्तितः ।
बुद्धिरध्यवसायेन ज्ञानेन्द्रियगणे स्थिता ॥ ७५ ॥

सङ्कल्प का पूर्वरूप **संरम्भ** कहा जाता है । बुद्धि अध्यवसाय के योग से ज्ञानेन्द्रिय गण में स्थित रहती है ॥ ७५ ॥

बुद्धिरध्यवसायार्थावधारणमुदीर्यते ।
अवधारणमर्थानां निश्चयः परिकीर्तितः ॥ ७६ ॥

अर्थ तत्त्व (वस्तु) के अवधारण (निश्चय) को बुद्धि का **अध्यवसाय** कहा जाता है । अर्थों (वस्तु तत्त्वों) के अवधारण को **निश्चय** कहा जाता है ॥७६॥

कर्मेन्द्रियगणे बुद्धिः प्रयत्नेन प्रवर्तते ।
त्रयोदशविधं ज्ञेयं तदेतत्करणं बुधैः ॥ ७७ ॥

जब बुद्धि में प्रयत्न होता है तब वह बुद्धि प्रयत्न के बल से कर्मेन्द्रिय गण में स्थित हो जाती है । यह करण तेरह प्रकार का होता है । बुद्धिमानों को ऐसा समझना चाहिये ॥ ७७ ॥

विमर्शिनी—५ कर्मेन्द्रिय, ५ ज्ञानेन्द्रिय और मन, बुद्धि और अहङ्कार इस प्रकार कुल तेरह करण हो जाते हैं ॥ ७७ ॥

बाह्यं दशविधं ज्ञेयं त्रिधान्तःकरणं स्मृतम् ।
त्रयोविंशतिरेते तु विकाराः परिकीर्तिताः ॥ ७८ ॥

बाह्य करण दस प्रकार के होते हैं; अन्तःकरण तीन प्रकार का होता है ।

इस प्रकार हमने यहाँ तक तेईस विकारों का वर्णन किया ॥ ७८ ॥

मनुमानवादीनां सृष्टिः

करणानि दश त्रीणि सूक्ष्मांशाः स्थूलसंभवाः ।
एतत्सूक्ष्मशरीरं तु विराजः परिकीर्तितम् ॥ ७९ ॥

सूक्ष्म अंश वाले ये तेरह करण स्थूल से ही उत्पन्न होते हैं । विराट् पुरुष का यही सूक्ष्म शरीर है ॥ ७९ ॥

व्यष्टयः सूक्ष्मदेहाश्च प्रतिजीवं व्यवस्थिताः ।
अपवर्गे निवर्तन्ते जीवेभ्यस्ते स्वयोनिजाः ॥ ८० ॥

प्रत्येक जीव में व्यष्टि (अभिव्यक्ति) और सूक्ष्मदेह व्यवस्थित रहते हैं । वे स्वयं उत्पन्न होते हैं और अपवर्ग की स्थिति में जीवों से निवृत्त हो जाते हैं ॥ ८० ॥

अन्योन्यानुग्रहेणैते त्रयोविंशतिरुत्थिताः ।
महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते ॥ ८१ ॥

महत्तत्व से लेकर विशेष पर्यन्त एक दूसरे के सम्बन्ध से ये विकार तेईस प्रकार के हो जाते हैं । यही ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति करते हैं ॥ ८१ ॥

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिन् प्रजापतिर्जज्ञे विराड् देवश्चतुर्मुखः ॥ ८२ ॥

यह अण्ड सहस्र सूर्य की किरणों के समान चमकीला, सुवर्णमय था । उस अण्ड से चतुर्मुख विराट् प्रजापति का जन्म हुआ ॥ ८२ ॥

विमर्शिनी—अत्र पूर्वोक्त एव सृष्टिक्रमो मन्वादिसृष्ट्या सह सङ्कलय्योच्यते ॥ ८२ ॥

विराजश्च मनुर्जज्ञे मनोस्ते मानवाः स्मृताः ।
मरीचिप्रमुखास्तेभ्यो जगदेतच्चराचरम् ॥ ८३ ॥

उन विराट् से मनु की उत्पत्ति हुई और मनु से मानव हुए । उन्हीं विराट् पुरुष से मरीचि आदि का भी जन्म हुआ जिनसे इस सारे चराचर जगत् की उत्पत्ति हुई ॥ ८३ ॥

प्रकारोऽयं ममोद्यत्या लेशतस्ते प्रदर्शितः ।
स्वतः शुद्धापि चिच्छक्तिः संविद्धानाद्यविद्यया ॥ ८४ ॥

हे इन्द्र ! मैंने यह प्रकार जो अपनी उदितावस्था में हुआ है उसका लेशमात्र आपसे कहा है । यद्यपि मैं स्वतः शुद्धा चित्-शक्ति हूँ तथापि अनादि अविद्या से लिप्त होने के कारण सृष्टि करती हूँ ॥ ८४ ॥

दुःखं जन्मजराद्युत्थं तत्रस्था प्रतिपद्यते ।
शुद्धविज्ञानसंबन्धाच्छुद्धकर्मसमन्वयात् ।
यदा धुनोत्यविद्यां तां तदा सानन्दमश्नुते ॥ ८५ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे प्राकृतसृष्टिप्रकाशो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

...

अविद्या की स्थिति में जन्म एवं जरा (बुढ़ाई) आदि से उत्पन्न दुःख जीव को सताता रहता है । जब जीव शुद्ध-विज्ञान के सम्बन्ध से तथा शुद्ध-कर्म के सम्बन्ध से उस अविद्या का नाश कर देता है तब आनन्द का उपभोग करता है ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के प्राकृतसृष्टिप्रकाश नामक पाँचवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ५ ॥

...

षष्ठोऽध्यायः

षट्कोशप्रकाशः

षण्णां कोशानां नामनिर्देशः

श्रीः—

पूर्णस्तिमितषाड्गुण्यचिदानन्दमहोदधेः ।
अहंताहं हरेराद्या निस्तरङ्गार्णवाकृतेः ॥ १ ॥

श्री ने कहा—जिस चिदानन्द रूप महोदधि का षाडगुण्य (ज्ञान ऐश्वर्यादि) पूर्ण रूप से स्तिमित (संकुचित) हो गया है तथा जो तरङ्गरहित समुद्र के समान शान्त है मैं उस प्रकार के भगवान् की आद्या अहन्ता हूँ ॥ १ ॥

साहमेवंविधा शुद्धा क्वचिदुच्छूनतां गता ।
सिसृक्षालक्षणा देवी स्वतन्त्रा सच्चिदात्मिका ॥ २ ॥
षट्कोशतां समापद्ये सत्ताहं वैष्णवी परा ।
शक्तिर्माया प्रसूतिश्च प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका ॥ ३ ॥
ब्रह्माण्डं जीवदेहश्चेत्येते षट्कोशसंज्ञिताः ।
सिसृक्षा या परा विष्णोरहंतायाः समुद्गता ॥ ४ ॥

यद्यपि मैं इस प्रकार शुद्ध शान्त स्वरूपा हूँ, स्वतन्त्र और सच्चिदानन्द स्वरूपा हूँ तथापि सृष्टि की इच्छा होने पर भी मैं वही परा वैष्णवी सत्ता षटकोशता को प्राप्त हो जाती हूँ । शक्ति, माया, प्रसूति, त्रिगुणात्मिका प्रकृति, ब्रह्माण्ड और जीवदेह इनकी षट्कोश संज्ञा है । तब विष्णु की परा अहन्ता स्वरूपा मुझ में सृष्टि की इच्छा हो जाती है । इन्हीं छह कोशों में प्रथम शक्ति कोश से सङ्कर्षणादि तीन का आविर्भाव होता है ॥ २-४ ॥

विमर्शिनी—शक्तिमायाप्रसूतिप्रकृतिब्रह्माण्डजीवदेहाख्येषु षट्सु कोशेषु शक्तिकोशः शुद्धमार्गप्रवर्तकः । तत्रैव सङ्कर्षणादीनां त्रयाणामाविर्भावः ॥ ३ ॥

शक्तिकोशः

शक्तिः सा प्रथमः कोशः शुद्धमार्गप्रवर्तनी।
कोशः कुलायपर्यायः शरीरापरनामवान्॥ ५ ॥

उन षट्कोशों में जो शक्ति नाम का प्रथम कोश है वह शुद्ध मार्ग का प्रवर्तन करने वाला है । वह एक प्रकार से कुलाय (घोंसला) का अपर पर्याय है जिसका दूसरा नाम शरीर है ॥ ५ ॥

शुद्धेऽस्मिन् प्रथमे कोशे प्रथमोन्मेषलक्षणे ।
अहंमानी परो ह्यासीद्देवः सङ्कर्षणः प्रभुः ॥ ६ ॥

प्रथम व्यूह की उत्पत्ति—प्रथम उन्मेष वाले अत्यन्त शुद्ध इस शक्ति नामक कोश से अहम्मानी प्रभु **सङ्कर्षण देव** की उत्पत्ति होती है ॥ ६ ॥

तिलकालकवत्तत्र विकारो मसृणः स्थितः ।
तस्याहंता तु या देवी साहं साङ्कर्षणी परा ॥ ७ ॥

उनमें जगत् का यह सारा प्रपञ्च अत्यन्त क्षुद्र काले तिल के समान अवस्थित रहता है । मैं उन्हीं की अहन्ता नाम की शक्ति हूँ उसे **साङ्कर्षणी** कहा जाता है ॥ ७ ॥

श्रीरित्येव समाख्याता विज्ञानबलशालिनी ।
यस्तस्या मे समुन्मेषः प्रद्युम्नः स तु कीर्त्यते ॥ ८ ॥

जो श्री नाम से भी विख्यात हैं इनमें विज्ञान बल रहता है उन महाश्री से उत्पन्न होने वाले समुन्मेष का नाम **प्रद्युम्न** है ॥ ८ ॥

विमर्शिनी—सङ्कर्षणस्य महिषी श्रीः । प्रद्युम्नस्य सरस्वती । अनिरुद्धस्य रतिः । वासुदेवस्य शान्तिः ॥ ८ ॥

सङ्कर्षणस्य देवस्य शक्तिकोशाभिमानिनः ।
बुद्धित्वे वर्तते देवः प्रद्युम्नः पुरुषोत्तमः ॥ ९ ॥
भोक्तृभोग्यसमष्टिस्तु निलीना तत्र तिष्ठति ।
मनोभूतस्य देवस्य तस्याहंता तु या स्मृता ॥ १० ॥

शक्ति कोश के अभिमानी देवता सङ्कर्षण के वे पुरुषोत्तम प्रद्युम्न बुद्धि स्थान हैं । मनःस्थानीय उन प्रद्युम्न के शरीर में भोक्तृभोग्य की समष्टि रूप से गुप्त रूप से निवास करने वाली वही मैं उनकी अहन्ता हूँ ॥ ९-१० ॥

साहं सरस्वती नाम वीर्यैश्वर्यविवर्तिनी ।

यो मे तस्याः समुन्मेषः सोऽनिरुद्धः प्रकीर्तितः ॥ ११ ॥

मेरा नाम **सरस्वती** है । मुझ में वीर्य और ऐश्वर्य का निवास है । उसी सरस्वती का जो उन्मेष है उसे **अनिरुद्ध** कहा जाता है ॥ ११ ॥

तस्य सङ्कर्षणस्याहमहङ्कारविधौ स्थिता ।
सङ्कर्षणादयो देवास्त्रय एते पुरातनाः ॥ १२ ॥

उन सङ्कर्षण देव की अहन्ता रूप शक्ति मैं ही हूँ । सङ्कर्षण से लेकर ये तीनों ही देवता पुरातन हैं ॥ १२ ॥

जीवो बुद्धिरहङ्कार इति नाम्ना प्रकीर्तिताः ।
नैवैते प्राकृता देवाः किंतु शुद्धचिदात्मकाः ॥ १३ ॥

इनका नाम क्रमशः बुद्धि, जीव और अहङ्कार है ये प्राकृत (शरीर वाले) देव नहीं है किन्तु शुद्धचिदात्मक शरीर वाले हैं ॥ १३ ॥

आदिव्यूहस्य देवस्य वासुदेवस्य दीव्यतः ।
तत्तत्कार्यकरत्वेन तत्तन्नाम्ना निरूपिताः ॥ १४ ॥

आदि देव भगवान् वासुदेव की लीला से तत् तत् कार्य करने के लिये उन-उन नामों द्वारा उनका निरूपण यहाँ किया गया है ॥ १४ ॥

सर्वे ते षड्गुणाः प्रोक्ताः सर्वे ते पुरुषोत्तमाः ।
पूर्णस्तिमितषाड्गुण्यसदानन्दमहोदधेः ॥ १५ ॥
षण्णां युगपदुन्मेषो गुणानां कार्यवत्तया ।
योऽभूत्स वासुदेवस्तु व्यूहः प्रथमकल्पितः ॥ १६ ॥

ये सभी षड्गुणों से युक्त हैं और सभी पुरुषोत्तम कहे जाते हैं । जिनमें छह गुण लीन रहते हैं, ऐसे वासुदेव स्वरूप स्वरूपानन्द महोदधि से छह गुणों का एक कालावच्छेदेन उन्मेष, जहाँ कार्य की दृष्टि से होता है, उन्हें **वासुदेव** कहा जाता है । यही प्रथम व्यूह हैं ॥ १५-१६ ॥

तस्य शान्तिरहंता तु साहं शक्तिः प्रकीर्तिता ।
शक्तिकोशस्थिता देवाः सूयन्ते यत्र चिन्तिताः ॥ १७ ॥

उनकी **शान्ति** नामक पत्नी मैं ही उनकी अहन्ता शक्ति हूँ । उस शक्ति कोश में रहने वाले ये तीन देवता सृष्टि करते हैं ॥ १७ ॥

यहाँ तक श्री और सरस्वती द्वारा शुद्ध सृष्टि का वर्णन किया गया अब आगे के श्लोक में माया द्वारा अशुद्ध सृष्टि कहते हैं—

मायाप्रसूतिप्रकृतिकोशाः

अनिरुद्धस्य याहंता रतिरित्येव संज्ञिता ।
सैव देवी महालक्ष्मीर्मायाकोशः स उच्यते ॥ १८ ॥

अनिरुद्ध की अहन्ता शक्ति का नाम **'रति'** है यही देवी महालक्ष्मी मायाकोश के नाम से भी कही जाती हैं ॥ १८ ॥

विमर्शिनी—मायाकोशमारभ्याशुद्धसृष्टिः । महालक्ष्म्या राजसत्त्वं प्रपञ्चसृष्टि-निदानत्वं च पूर्वमुक्तम् ॥ १८ ॥

महालक्ष्म्या य उन्मेषो मायाया गुणसंज्ञितः ।
महाकालीमहाविद्याद्वयं सम्परिकीर्त्यते ॥ १९ ॥

माया स्वरूपा महालक्ष्मी का गुण रूप में जो उन्मेष होता है उसे **महाकाली** और **महाविद्या** कहा जाता है ॥ १९ ॥

महालक्ष्मीमहामायामहाविद्यामयो महान् ।
प्रसूतिर्नाम कोशो मे तृतीयः परिपठ्यते ॥ २० ॥

उन महालक्ष्मी का महामाया और महाविद्या रूप दोनों उन्मेष तृतीय प्रसूति कोश से भी पढ़ा जाता है । यह प्रसूति कोश राजसी महालक्ष्मी तामसी महामाया और सात्विकी महाविद्या का समवाय रूप है ॥ २० ॥

विमर्शिनी—प्रसृतिकोशः राजस्या महालक्ष्म्याः, तामस्या महामायायाः, सात्त्विक्या महाविद्यायाश्च समवायरूपः ॥ २० ॥

त्रीण्यत्र मिथुनान्यासन् यानि पूर्वोदितानि ते ।
प्रधानं सलिलीकृत्य यच्छेते पुरुषोत्तमः ॥ २१ ॥
सा प्रोक्ता प्रकृतिर्योनिर्गुणसाम्यस्वरूपिणी ।
विरिञ्चोऽजनयद्यद्वै पूर्वमण्डं स्वमात्मनि ॥ २२ ॥

ये तीन मिथुन जिनका वर्णन पूर्व में कर दिया गया है (द्र. ५।७-१४) जिसे प्रधान कहते हैं और जिसे सलिलमय बनाकर भगवान् पुरुषोत्तम शयन करते हैं । अब उस प्रधान से सृष्टि का निर्माण कहते हैं । उसे ही प्रकृति योनि गुण साम्य स्वरूपिणी कहा जाता है जो पूर्वकाल में अण्ड स्वरूप था जिसकी आत्मा में स्वयं सृष्टिकर्ता भगवान् ब्रह्मदेव उत्पन्न हुये ॥ २१-२२ ॥

विमर्शिनी—त्रीणि मिथुनानि पञ्चमाध्यये सप्तमादिभिः सप्तभिः श्लोकै-र्वर्णितानि । प्रधानमेव प्रकृतिकोश इत्युच्यते । एतासां मायाप्रसूतिप्रकृतीनां तमो-ऽव्यक्तप्रकृतिनामभिरुपनिषत्सु व्यवहारः ॥ २१ ॥

ब्रह्माण्डजीवदेहकोशौ

तदेके प्रकृतिं प्राहुस्तत्त्वशास्त्रविशारदाः ।
महदाद्यैः पृथिव्यन्तैरण्डं यन्निर्मितं सह ॥ २३ ॥

कितने ही आगमतत्त्व विशारद जिसे प्रकृति नाम से पुकारते हैं उसी अण्ड ने महान् से लेकर पृथ्वी पर्यन्त सृष्टि की रचना की ॥ २३ ॥

तद्ब्रह्माण्डमिति प्रोक्तं यत्र ब्रह्मा विराडभूत्।
अङ्गप्रत्यङ्गयुक्तं यच्छरीरं जीविनामिह ॥ २४ ॥

उसी अण्ड को ब्रह्माण्ड भी कहते हैं जिसमें विराट् से ब्रह्मदेव की उत्पत्ति हुई, जिनका अङ्ग-प्रत्यङ्ग जीवधारियों का समष्टि शरीर है ॥ २४ ॥

एषा कोशविधा षष्ठी क्रमशस्तनुतां गता ।
अवरोहाः षडेते मे पूर्णायाः परिकीर्तिताः ॥ २५ ॥

यह कोश की विधि से होने वाली सृष्टि क्रमशः ह्रास को प्राप्त होती रहती है । इस प्रकार पूर्णा सृष्टि का अवरोह क्रम हमने आपसे कहा ॥ २५॥

षट्कोशस्थानां तत्त्वानां स्वरूपम्

आद्ये कोशे स्वयं देवस्त्रिधैवाहंतया स्थितः ।
पञ्चस्वन्येषु कोशेषु जीवा नानाविधाः स्थिताः ॥ २६ ॥

ये जीव अपने (शक्तिकोश) में स्वयं भगवान् तीन अहन्ता रूपों से स्थित रहते हैं अन्य मायादि कोश में अनेक प्रकार के जीवों की स्थिति है ॥ २६ ॥

शुभाशुभविभागोत्थां भजन्ते विविधां दशाम् ।
दिव्यास्तिस्त्रस्त्रयस्तासां मिथुनानि च यानि तु ॥ २७ ॥

ये जीव अपने शुभाशुभ कर्मों के द्वारा अनेक प्रकार की दशाओं को प्राप्त होते रहते हैं । उनमें जो तीन-तीन मिथुन हैं वे दिव्य शरीर वाले हैं ॥ २७ ॥

अण्डमध्येऽवताराश्च तासां तेषां च ये स्मृताः ।
स्वातन्त्र्यनिर्मितास्त्वेते नैव कर्मवशानुगाः ॥ २८ ॥

जिनका तथा जिनकी शक्तियों का अवतरण अण्ड के मध्य में कहा गया है । उनका निर्माण स्वयं आत्मशक्ति से होता है । इस प्रकार वे कर्म परतन्त्र होकर जन्म नहीं लेते ॥ २८ ॥

अप्राकृताश्च ते देहा उभयेषां प्रकीर्तिताः ।

अन्ये पञ्चसु कोशेषु देवाद्याः स्थावरान्तिमाः ॥ २९ ॥
नानास्थानजुषो जीवाः कर्मभिः संसरन्ति ये ।
अधिकारक्षयं नीत्वा शुभपाकवशादिमे ॥ ३० ॥
संप्राप्य ज्ञानभूयस्त्वं योगक्षपितकल्मषाः ।
आरोहन्ति शनैः कोशानारूढा न पतन्ति ते ॥ ३१ ॥
सत्यलोकात्प्रभृत्येते यां भूमिमधिरोहिताः ।
पुनस्ते न निवर्तन्ते तिष्ठन्त्यूर्ध्वं व्रजन्ति वा ॥ ३२ ॥

उन-उन अवतारों तथा उन उनकी शक्तियाँ इस प्रकार दोनों का शरीर अप्राकृत है । अन्य कोशों में रहने वाले देवता से लेकर स्थावर पर्यन्त जीव अपने-अपने कर्मों के वशीभूत होकर अनेक स्थानों में चक्कर काटते रहते हैं। अपने कर्मों के परिपाक हो जाने के बाद जब उनका अधिकार समाप्त हो जाता है, तब वे शुभ कर्म के द्वारा औपनिषद् ज्ञान प्राप्त कर योग के द्वारा अपने पापों को विनष्ट कर क्रमशः ऊपर चले जाते हैं । फिर वे कोश में नहीं जाते और उस स्थान से नहीं गिरते । वे सत्यलोक पर्यन्त जिन जिन लोकों में पहुँचते हैं वहाँ से पुनः नहीं लौटते या तो वहीं रह जाते हैं अथवा ऊपर तक चले जाते हैं ॥ २९-३२ ॥

विमर्शिनी—अधिकारेति । "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्" इति बादरायणसूत्रम् अवगन्तव्यम् ॥ ३० ॥

शक्रः—

क्षीरोदसंभवे देवि पद्मनाभकुटुम्बिनि ।
जीवः को नाम तद् ब्रूहि नमस्ते पद्मसंभवे ॥ ३३ ॥

इन्द्र ने कहा—हे क्षीर समुद्र से उत्पन्न होने वाली ! हे पद्मनाभ की कुटुम्बिनि ! हे पद्मसंभवे ! जीव किसका नाम है ? मुझे बताईये ॥ ३३ ॥

श्रीः—

पूर्णाहन्ता हरेराद्या साहं सर्वेश्वरी परा ।
तस्याः समृताश्चतस्रो मे दशास्त्रिदशपुङ्गव ॥ ३४ ॥

महाश्री ने कहा—हे त्रिदशपुङ्गव ! मैं भगवान् विष्णु की पूर्णाहन्ता हूँ । मैं ही सर्वेश्वरी और परा हूँ । इस प्रकार की मेरी चार अवस्थाएँ बतलाई गई हैं ॥ ३४ ॥

प्रमातेति विधा त्वेका तदन्तःकरणं परा ।
बहिः करणमन्या च चतुर्थी भावभूमिका ॥ ३५ ॥

मेरी एक अवस्था **प्रमाता (जीव)** है दूसरी अवस्था मन, बुद्धि एवं अहङ्कार त्रिविध छह स्वरूप **अन्तःकरण** है । तीसरी अवस्था ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय दश विधियों वाला **करण** हैं और चौथी अवस्था प्रमेय प्रपञ्च समूह वाली **भावभूमिका** है ॥ ३५ ॥

विमर्शिनी—प्रमाता = जीवः । अन्तःकरणं = मनोबुद्ध्यहङ्काररिरूपेण त्रिविधम् । बहिः करणं ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपेण दशविधम् । भावभूमिका = प्रमेयप्रपञ्चजातम् ॥ ३५ ॥

प्रमाता चेतनः प्रोक्तो मत्सङ्कोचः स उच्यते ।
अहं हि देशकालाद्यैरपरिच्छेदमीयुषी ॥ ३६ ॥
स्वातन्त्र्यादेव सङ्कोचं भजाम्यजहती स्वताम् ।
प्रथमस्तत्र सङ्कोचः प्रमातेति प्रकीर्त्यते ॥ ३७ ॥

चेतन प्रमाता कहा जाता है । मैं अत्यन्त संकुचित होकर जिसमें निवास करती हूँ, क्योंकि मैं देशकाल के परिच्छेद से सर्वथा परे हूँ । मैं अपने स्वरूप का त्याग न करती हुई भी अपनी स्वतन्त्रता से संकुचित बनकर जीव रूप में हो जाती हूँ । इस प्रकार मेरे सङ्कोच की प्रथम अवस्था प्रमाता है ॥ ३६-३७ ॥

चिदात्मनि यथा विश्वं मयि लीनमवस्थितम् ।
प्रमातरि तथैवैतद्दर्पणोदरशैलवत् ॥ ३८ ॥

जैसे चिदात्मा में विश्व लीन होकर स्थित रहता है अथवा जिस प्रकार दर्पण में लीन होकर पर्वतादि स्थित रहते हैं उसी प्रकार मुझ प्रमाता में यह सारा विश्व लीन रहता है । (यह दूसरी अन्तःकरणावस्था है) ॥ ३८ ॥

ऐकरूप्यं द्विरूपत्वं त्रिरूपत्वं चतुर्भिदाम् ।
सप्तपञ्चकरूपत्वं प्रमाता यत्प्रपद्यते ॥ ३९ ॥

जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था से जो जीव ३५ स्वरूपों में हो जाता है, उसे बहिःकरणावस्था कहते हैं ॥ ३९ ॥

विमर्शिनी—चत्वारो भेदाः जाग्रदाद्यवस्थाः ॥ ३९ ॥

प्रकाशेनात्मनो ह्येको ग्राह्यग्राहकतावशात् ।
द्वैरूप्यं तत्त्रिरूपत्वं ज्ञानाकारक्रियात्मना ॥ ४० ॥

आत्मा के प्रकाश से ग्राह्यग्राहकतावशात् ज्ञानाकार क्रियात्मा के द्वारा द्विरूप से सप्त पञ्च रूप तत्त्व जो प्रभाता प्राप्त करता है वह उसकी त्रिवृत्भूमिका रूप अवस्था है ॥ ४० ॥

तत्त्वसंख्यापरिगणनम्

सप्तपञ्चकरूपत्वं तत्तत्तत्त्वस्थितौ स्थितम् ।

शक्रः—

कानि तत्त्वानि पद्माक्षि कति कीदृग्विधानि च ॥ ४१ ॥
एतत्पृष्टा मया ब्रूहि नमस्ते सिन्धुसंभवे।

श्रीः—

स्थूलसूक्ष्मविभेदेन भूतानि दश खानि च॥ ४२ ॥
ज्ञानकर्मविभेदेन त्रीण्यन्तःकरणानि च ।
प्रकृतिश्च प्रसूतिश्च माया सत्त्वं रजस्तमः ॥ ४३ ॥
कालश्च नियतिः शक्तिः पुरुषः परमं नभः ।
भगवानिति तत्त्वानि सात्त्वताः समधीयते ॥ ४४ ॥

पुनः इन्द्र ने कहा—हे पद्माक्षि ! कितने तत्त्व है ? और वे किस-किस प्रकार के हैं ? हे सिन्धुसंभवे ! मेरे द्वारा पूछे जाने पर मुझे आप बताईये ।

तब महाश्री ने कहा—स्थूल एवं सूक्ष्म भेद से पञ्च महाभूतों के दश भेद ज्ञानकर्म भेद से दश इन्द्रियों, मन, बुद्धि चित्त के भेद से तीन अन्तःकरण प्रकृति, प्रसूति, माया, सत्त्व, रज, तम, काल, नियति, शक्ति, पुरुष, परम, नभ और भगवान् इतने तत्त्व सात्वत लोग कहते हैं ॥ ४१-४४ ॥

शक्रः—

मया श्रुतानि तत्त्वानि त्वद्वक्त्रसरसीरुहात् ।
व्याचक्ष्वैतानि मे देवि नमस्ते सरसीरुहे ॥ ४५ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे षट्कोशप्रकाशो
नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

...❦...

इन्द्र ने कहा—हे देवेशि ! आपके मुख कमल से मैंने तत्त्वों के नाम सुन लिये । हे पद्मसंभवे ! अब आप इनकी व्याख्या करें ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के षट्कोशप्रकाश नामक छठवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ६ ॥

...❦...

सप्तमोऽध्यायः

प्रमातृकरणप्रकाशनिरूपणम्

तत्त्वानां संग्रहेण स्वरूपकथनम्

श्रीः—

व्याचक्षेऽहं ततः शक्र क्रमशस्तत्त्वपद्धतिम् ।
शुद्धाशुद्धविमिश्रेयं तत्त्वपद्धतिरुच्यते ॥ १ ॥

श्री ने कहा—हे शक्र ! अब मैं तत्त्व के लक्षणों की व्याख्या करूँगी । यह तत्त्व-पद्धति शुद्ध और अशुद्ध दोनों ही प्रकार की सृष्टियों से विमिश्रित होती है ॥ १ ॥

भगवत्तत्त्वनिरूपणम्

निरम्भोदाम्बराभासो निष्पन्दोदधिसंनिभः ।
स्वच्छस्वच्छन्दचैतन्यसदानन्दमहोदधिः ॥ २ ॥

बादलरहित स्वच्छ आकाश के समान, सर्वथा शान्त, महासमुद्र के समान यह भगवान् स्वच्छ, स्वच्छन्द चैतन्य रूप सदानन्द महोदधि है ॥ २ ॥

विमर्शिनी—पूर्वाध्यायोक्तानि पञ्चत्रिंशत् तत्त्वानि व्युत्क्रमेण निरूप्यन्ते । तत्रादावत्र भगवत्तत्त्वनिरूपणम् । भगवत्तत्त्वं च शान्तावस्थः परवासुदेवः, उदितावस्था व्यूहाः, तेषामपृथक्सिद्धा देवी चेति ॥ २ ॥

व्युत्क्रमेण तत्त्वनिरूपणम्

आकारदेशकालादिपरिच्छेदविवर्जितः ।
भगवानिति विज्ञेयः परमात्मा सनातनः ॥ ३ ॥

अब व्युत्क्रम से तत्त्वों का विवेचन करती है—इन सनातन परमात्मा को आकार, देश और काल के परिच्छेद से सर्वथा रहित जानना चाहिए ॥ ३ ॥

तस्याहंता परा तादृग्भगवत्ता सनातनी।
नारायणी परा सूक्ष्मा निर्विकल्पा निरञ्जना॥ ४ ॥

भगवत्ता सनातनी आदि उस प्रकार के गुणों वाली उनकी अहन्ता परा नारायणी है जो सर्वथा निर्विकल्पा और निरञ्जना हैं ॥ ४ ॥

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजोमहोदधिः ।
षण्णां युगपदुन्मेषो गुणानां प्रथमो हि यः ॥ ५ ॥

जिसमें ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य, ऐश्वर्य और तेज इन छह गुणों का सर्व प्रथम युगपद् उन्मेष होता है ॥ ५ ॥

भवद्भावात्मकत्वेन द्विधा स व्यपदिश्यते ।
भवंस्तु वासुदेवोऽत्र भावोऽस्मिन् वासुदेवता ॥ ६ ॥

उसके भवत् तथा भाव रूप से दो भेद होते हैं । इसमें जो भवद् भाव है वह वासुदेव कहे जाते हैं और जो भाव स्वरूप है वह वासु देवता कही जाती है ॥ ६ ॥

शान्तिर्नाम्ना समाख्याता साहं देवी सनातनी ।
सङ्कर्षणादयो व्यूहाः साहंताः प्राङ् निरूपिताः ॥ ७ ॥

जिसे शान्ति नाम से भी कहा जाता है, वही सनातनी देवी मैं हूँ । जो अन्य सङ्कर्षणादि देव है, उनकी अहन्ता शक्ति का निरूपण कर आई हूँ । इसका तात्पर्य यह है कि शान्तावस्था वाले भगवान् वासुदेव हैं और उनकी उदितावस्था व्यूह है, उनमें रहने वाली शक्तियाँ उनसे अभिन्न हैं ॥ ७ ॥

त्रयश्च चातुरात्म्यं तच्चत्वारोऽमी सुरेश्वर ।
एतावद्भगवद्वाच्यं निस्तत्त्वं तत्त्वमुत्तमम् ॥ ८ ॥

प्रथम भगवत्तत्व—सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध—ये तीन व्यूह, तथा एक भगवान् वासुदेव इन्हें मिलाकर ये चार भेद वाले हैं । जो अन्य तत्त्वों से सर्वथा परे किन्तु उत्तम तत्त्व है । इन्हीं को **भगवान्** शब्द से जाना जाता है ॥ ८ ॥

विमर्शिनी—निस्तत्त्वम् = तत्त्वान्तरेभ्यो निष्क्रान्तम्, अतिशयितमित्यर्थः । तदेवाह—तत्त्वमुत्तममिति ॥ ८ ॥

नभस्तु परमं व्योम परमाकाशशब्दितम् ।
यत्र देवो मया सार्धं विभज्यात्मानमात्मना ॥ ९ ॥

क्रीडते रमया विष्णुः परमात्मा सनातनः ।
षाड्गुण्यस्य समुन्मेषः स देशः परमाम्बरम् ॥ १० ॥

द्वितीय भगवत् तत्त्व नभ है, जो परम व्योम है, जिसे परमाकाश भी कहा जाता है । जहाँ देवाधिदेव सनातन भगवान् विष्णु मुझे अलग कर रमा स्वरूपा मेरे साथ स्वयं क्रीडा करते हैं और जहाँ षाडगुण्य का युगपद उन्मेष होता है उस देश को परमाम्बर भी कहते हैं ॥ ९-१० ॥

विमर्शिनी—(द्वितीय परमं नभः तत्त्व) परव्योम्नः षाड्गुण्यसमुन्मेषरूपत्व-कथनेनाजडत्वमभिप्रेतम्; जडत्वपक्षोऽप्यस्ति परेषाम् ॥ १० ॥

पुरुषो भोक्तृकूटस्थः सर्वज्ञः सर्वतोमुखः ।
अंशतः प्रसरन्त्यस्मात्सर्वे जीवाः सनातनाः ॥ ११ ॥

तृतीय भगवत्तत्त्व पुरुष भोक्ता, कूटस्थ, सर्वज्ञ और सर्वतोमुख है । इसके अंश होकर सभी सनातन जीव जगत् में फैल जाते हैं । जीव समष्टि रूप पुरुष हिरण्यगर्भ है ॥ ११ ॥

विमर्शिनी—भोक्तृकूटस्थो जीवसमष्टिरूपः पुरुषो हिरण्यगर्भः ॥ ११ ॥

प्रलये त्वपियन्त्येनं कर्मात्मानो नरं परम् ।
इयं मातृदशा सा मे या ते पूर्वं मयोदिता ॥ १२ ॥

कर्म रूप आत्मा वाले ये ही जीव इसी परस्वरूप नारायण में प्रलयावस्था में पुनः समा जाते हैं । यही हमारी प्रमातृ दशा है जिसे मैंने पूर्व में भी कहा है ।(द्र० ६।३४-३५) यहाँ तक पुरुष नामक तृतीय तत्त्व कहा गया ॥ १२ ॥

महालक्ष्मीः समाख्याता शक्तितत्त्वं मनीषिभिः ।
नियतिस्तु महाविद्या कालः काली प्रकीर्तिता ॥ १३ ॥

मनीषियों ने शक्ति तत्त्व को महालक्ष्मी के नाम से कहा है । महाविद्या काल स्वरूपा है और काली ही नियति कही गई हैं ॥ १३ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयमुदाहृतम् ।
सुखरूपं स्मृतं सत्त्वं स्वच्छं ज्ञानकरं लघु ॥ १४ ॥

सत्त्व, रज और तम इन गुणों का वर्णन पहले कर आई हूँ । सत्त्व सुख स्वरूप है । वह स्वच्छ और ज्ञान देने वाला तथा लघु है ॥ १४ ॥

दुःखरूपं रजो ज्ञेयं चलं रक्तं प्रवर्तकम् ।
मोहरूपं तमो ज्ञेयं गुरु कृष्णं नियामकम् ॥ १५ ॥

रजो गुण का स्वरूप दुःख स्वरूप होता है, जो चञ्चलता और राग उत्पन्न करता है । तम मोह स्वरूप है जो कि गुरु (भारी) काला और नियामक होता है ॥ १५ ॥

माया चैव प्रसूतिश्च प्रकृतिश्चेति वासव ।
पुरस्ताद्व्याकृतं तुभ्यं तदेतत्प्रकृतित्रिकम् ॥ १६ ॥

हे वासव ! माया, प्रकृति और प्रसूति इन तीन प्रकृतियों की व्याख्या मैं पूर्व में कर आई हूँ ॥ १६ ॥

भूतानि दशसंख्यानि तथा खानि त्रयोदश ।
त्रयोविंशतिरप्येते सुस्पष्टं व्याकृता पुरा ॥ १७ ॥

सूक्ष्म एवं स्थूल भेद से दश प्रकार के भूतों की तथा तीन अन्तःकरण सहित दश ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों की इस प्रकार तेईस करणों का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन कर आई हूँ ॥ १७ ॥

विमर्शिनी—इस प्रकार छठे अध्याय के ४२-४५ श्लोकों में कहे गए पैंतीस तत्त्वों की व्याख्या करके वही पैंतीस श्लोक में कहे गए आत्मा की चार दशाओं का निरूपण करते हैं । ७.१८ से लेकर अध्यायान्त तक है ॥ १७ ॥

तदयं मम सङ्कोचः प्रमाता शुद्धचिन्मयः ।
स्वान्तःस्फुरिततत्त्वौघः स्थितो दर्पणवत्सदा ॥ १८ ॥

इस प्रकार मेरा यह सङ्कोच प्रमाता है, शुद्धचिन्मय है और दर्पण के समान स्वच्छ है, जिसके भीतर ये सभी तत्त्व स्फुरित होते रहते हैं ॥ १८ ॥

विमर्शिनी—एवं षष्ठाध्याये ४२, ४३, ४४ तमैः श्लोकैः प्रस्तुतानि पञ्च-त्रिंशतं तत्त्वानि निरूप्य, तत्रैव ३५ तमे श्लोके प्रस्तुता आत्मनश्चतस्रो दशा निरूपयति—तदयमित्यारभ्य यावदध्यायपरिसमाप्ति ॥ १८ ॥

प्रमातृदशायाश्चातूरूप्यत्रैरूप्यद्वैरूप्यैकरूप्याणि

चातूरूप्यं तु यत्तस्य तदिहैकमनाः शृणु ।
आद्यं शून्यमयो माता मूर्छादौ परिकीर्तितः ॥ १९ ॥

उस आत्मा के जो चार स्वरूप हैं, उन्हें एकाग्र चित्त से सुनिए । प्रमाता (चेतन) की जो पहली शून्यावस्था है वह मूर्च्छादि में प्रगट होती है ॥ १९ ॥

ततः प्राणमयो माता सुषुप्तौ परिकीर्तितः ।
प्राणा एव प्रतायन्ते सुषुप्तौ पुरुषस्य तु ॥ २० ॥

इसके बाद प्राणमय प्रमाता (= चेतन) सुषुप्तावस्था में होता है क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में पुरुष में केवल प्राण की प्रतीति होती है ॥ २० ॥

मूर्च्छाविषोपघातादौ प्राणोऽपि विनिवर्त्तते ।
केवलं स्वात्मसत्तैव ततः शून्यस्तदा पुमान् ॥ २१ ॥

विष एवं चोट आदि की अवस्था में मूर्च्छा होने पर प्राण भी नहीं रहते। केवल आत्मा की सत्ता रहती है । उस समय पुरुष शून्य अवस्था में रहता है ॥ २१ ॥

तृतीयोऽष्टपुरीमात्रः स्वप्ने माता प्रकीर्तितः ।
प्राणा भूतानि कर्माणि करणानि त्रयो गुणाः ॥ २२ ॥

तृतीय स्वप्नावस्था में प्रमाता (चेतन) अष्टपुरी मात्र अवस्था में रहता है । इस प्रकार यह प्राण भूत, कर्म और करण इन तीन गुणों वाला हो जाता है ॥ २२ ॥

विमर्शिनी—अष्टपुरीमात्रः । मात्रशब्दः प्रमाणार्थकः; केवलार्थको वा । बाह्यचेष्टारहित इत्यर्थः । अष्टपुर्यश्चानन्तरश्लोके वक्ष्यन्ते ॥ २२ ॥

प्राग्वासना अविद्या च लिङ्गं पुर्यष्टकं स्मृतम् ।
स्वप्नेऽन्तःकरणेनैव स्वैरं हि परिवर्तते ॥ २३ ॥

प्राक्काल की अविद्या रूपा वासना और लिङ्ग (सूक्ष्म) देह इन्हें ही पुर्यष्टक कहा जाता है । स्वप्न में जीव केवल अन्तःकरण की सहायता से जहाँ तहाँ गमन करता रहता है ॥ २३ ॥

विमर्शिनी—लिङ्गं सूक्ष्मशरीरम् ॥ २३ ॥

चेष्टमानः स्वदेहेन देही जाग्रद्दशां गतः ।
चातूरूप्यमिदं पुंसस्त्रैरूप्यमपि मे श्रृणु ॥ २४ ॥

जाग्रदवस्था में देही (आत्मा) अपनी देह से ही चेष्टा करता है । इस प्रकार चार अवस्थाओं में पुरुष के चार रूप होते हैं । अब उसका त्रैरूप्य सुनिए ॥ २४ ॥

ज्ञानक्रियास्वरूपाणां सङ्कोचस्त्रिविधस्तु यः ।
तस्य तद्धि त्रिरूपत्वं तस्य व्याख्यामिमां श्रृणु ॥ २५ ॥

ज्ञान, क्रिया और स्वरूप के भेद से सङ्कोच के तीन प्रकार कहे गए हैं । यही प्रमाता की त्रिरूपता है । हे इन्द्र ! उसकी व्याख्या सुनिए ॥ २५ ॥

मायया ज्ञानसङ्कोच आनैश्वर्यात्क्रियाव्ययः ।
अशक्तेरणुता रूपे त्रिधैव व्यपदिश्यते ॥ २६ ॥

माया से ज्ञान का सङ्कोच होता है और अनीश्वरता से अभीष्ट कार्य करने की सामर्थ्य नहीं रहती और अशक्ति से अणुता रूप होने के कारण आत्मा का त्रैरूप्य हो जाता है ॥ २६ ॥

विमर्शिनी—क्रियाव्ययः = अभीप्सितक्रियाकरणासामर्थ्यम् । आनैश्वर्यमित्यत्र अनीश्वरस्य भाव इत्यर्थे **ष्यञि** उभयपदवृद्धिः । स्वरूपसङ्कोचेनणुरूप इत्युक्त्या जीवस्य स्वाभाविकं विभुरूपत्वमिति न मन्तव्यम्, तस्याणुस्वरूपत्वस्यानेक-प्रमाणसिद्धत्वात् । तस्मादत्र विशिष्याणुरूपत्ववर्णनमसर्वशक्तत्वासर्वज्ञत्वादिपरं वेदितव्यम् । तदेवाशक्तेरित्यनेन विव्रियते ॥ २६ ॥

अणुः किंचित्करश्चैव किंचिज्ज्ञश्चायमित्युत।
द्वैरूप्यमैकरूप्यं च पूर्वमेव निरूपितम् ॥ २७ ॥

अणु परिमाण वाला आत्मा अकिंचित्कर तथा अल्प ज्ञानवान् हो जाता है। इस प्रकार उसका द्वैरूप्य सिद्ध हो जाता है । उसका एकरूपत्व पहले ही कहा जा चुका है (द्र० ६।३६)॥ २७ ॥

करणदशानिरूपणम्

एवं मातृदशा मेऽद्य सविशेषा प्रकीर्तिता ।
आन्तःकरणिकीञ्चैव दशां शक्राद्य मे शृणु॥ २८ ॥

इस प्रकार हे इन्द्र ! मैंने विशिष्ट रूप से मातृदशा (सचेतन) का वर्णन किया (द्र० ६।३८) । अब अन्तःकरण की दशा मेरे द्वारा सुनिए ॥ २८ ॥

विमर्शिनी—पूर्वाध्याये अन्तःकरणदशा द्वितीया निर्दिष्टा । सात्र विव्रियते ॥२८॥

स्वच्छन्दा संविदेवाहं स्वतश्चेतनतां गता ।
हित्वा चेतनतां तां चाप्यवरूढा ततः क्रमात् ॥ २९ ॥

स्वच्छन्द रूप से मैं संवित् (ज्ञान) स्वरूपा हूँ जो अपनी इच्छा से चेतन रूप में परिणत हो जाती हूँ । फिर क्रमशः उस चेतनावस्था को छोड़कर मैं नीचे की ओर उतरती हूँ ॥ २९ ॥

चैत्यसङ्कोचनी चित्तमन्तःकरणमीरितम् ।
मनोबुद्धिरहङ्कार इत्येतत् त्रितयं च तत्॥ ३० ॥

चेतन का भी सङ्कोच करने के कारण मैं चित्त बन जाती हूँ जिसे

अन्तःकरण कहा जाता है । यह अन्तःकरण मन, बुद्धि और अहङ्कार तीन रूपों वाला है ॥ ३० ॥

विमर्शिनी—चैत्यम् = चितो भावः, चैतन्यमित्यर्थः ॥ ३० ॥

विकल्पोऽध्यवसायश्चाप्यभिमानश्च वृत्तयः ।
मनो विकल्पयत्यर्थमहङ्कारोऽभिमन्यते ॥ ३१ ॥

इनकी क्रमशः विकल्प, अध्यवसाय और अभिमान ये वृत्तियाँ है । मन अत्यन्त विकल्प (विविध कल्प) करता रहता है और अहङ्कार अपने को ही सब कुछ समझता है ॥ ३१ ॥

विमर्शिनी—विकल्पः = विविधः कल्पः, अनिर्णयात्मकं ज्ञानम् । अभिमन्यते = स्वकीयत्वेन बुध्यते ॥ ३१ ॥

अध्यवस्यति बुद्धिश्च चेतनाधिष्ठिता सदा ।
बुद्धिरध्यात्ममित्युक्ता निर्णयोऽप्यधिभूतकम् ॥ ३२ ॥

बुद्धि चेतन पर जब अधिष्ठित होती है तब अध्यवसाय (निश्चय) करती है। यह बुद्धि अध्यात्म बतलाई गई है और उसका निर्णय अधिभूत कहा जाता है ॥ ३२ ॥

विमर्शिनी—अध्यवस्यति = निश्चिनोति ॥ ३२ ॥

बुद्धिदर्पणसंलीनः क्षेत्रज्ञश्चाधिदैवतम् ।
अहंकृतिस्तथाध्यात्ममभिमानोऽधिभूतकम् ॥ ३३ ॥

बुद्धि रूप दर्पण में गुप्त रूप से रहने वाला क्षेत्रज्ञ (= आत्मा) अधिदैवत कहा जाता है और अहङ्कार अध्यात्म तथा अभिमान अधिभूत कहे जाते हैं ॥ ३३ ॥

अधिदैवमथो रुद्रो मनोऽध्यात्मं प्रकीर्तितम् ।
विकल्पोऽप्यधिभूतस्तु चन्द्रमा अधिदैवतम् ॥ ३४ ॥

रुद्र अधिदैवत है । मन अध्यात्म कहा गया है । विकल्प अधिभूत कहा जाता है और चन्द्रमा भी अधिदैवत कहा जाता है ॥ ३४ ॥

प्राणसंरम्भसङ्कल्पा गुण एषां क्रियाविधौ ।
प्राणः प्रयत्न इत्युक्तः संरम्भो गर्व उच्यते ॥ ३५ ॥

इनकी क्रिया विधि में प्राण सङ्कल्प और संरम्भ गुण कहा गया है प्रयत्न को प्राण कहते हैं तथा गर्व को संरम्भ कहते हैं ॥ ३५ ॥

फलस्वाम्यस्वरूपश्च गर्वः संरम्भ उच्यते ।
औदासीन्यच्युतिः प्रोक्तः सङ्कल्पो मानसो बुधैः ॥ ३६ ॥

फलस्वामिता और अस्वरूप तथा गर्व इन्हें संरम्भ कहा जाता है । बुद्धिमानों ने उदासीनता से रहित को ही मानस-सङ्कल्प कहा है ॥ ३६ ॥

व्याख्यातेयं द्वितीया मे ह्यान्तःकरणिकी दशा ।
प्रच्यवन्ती ततो रूपादान्तःकरणिकादहम् ॥ ३७ ॥

मैंने द्वितीय अन्तःकरण दशा की व्याख्या इस प्रकार की । जब मैं इस द्वितीय अन्तःकरण की दशा से नीचे उतरती हूँ ॥ ३७ ॥

स्त्यानतां क्रमशः प्राप्ता बहिष्करणसंज्ञिता ।
करणानि तु बाह्यानि व्याख्यातानि मया पुरा ॥ ३८ ॥

तब क्रमशः स्त्यान (जड़ता) अवस्था को प्राप्त होती हूँ, जिसे बहिष्करण भी कहते हैं । बाह्य करणों का व्याख्यान पहले कर आई हूँ ॥ ३८ ॥

ज्ञानेन्द्रियप्रवृत्तौ तु मनआदि प्रवर्तते ।
चक्षुरालोकयत्यर्थं विकल्पयति तन्मनः ॥ ३९ ॥

जब ज्ञानेन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है, तब सबसे पहले मन प्रवृत्त होता है इस प्रकार चक्षु देखने लगता है तब मन उसमें विकल्प करता है ॥ ३९ ॥

आलोकनविकल्पस्थमहङ्कारोऽभिमन्यते ।
अध्यवस्य ततो बुद्धिः क्षेत्रज्ञाय प्रयच्छति ॥ ४० ॥

आलोकन और विकल्प में रहने वाले तत्त्व को अहङ्कार अपना मानता है । इसके बाद बुद्धि निश्चय करके क्षेत्रज्ञ (जीव) को सूचित करती है ॥ ४०॥

विमर्शिनी—अध्यवस्य; अध्यवसाय, अध्यवसायं कृत्वेत्यर्थः ॥ ४० ॥

कर्मेन्द्रियप्रवृत्तौ तु विपर्यस्तः क्रमः स्मृतः ।
सङ्कल्पादेः पराचीना वचनादिक्रिया यतः ॥ ४१ ॥

कर्मेन्द्रिय की प्रवृत्ति में यह क्रम विपरीत रूप से प्रवृत्त होता है जिसमें सङ्कल्पादि के पश्चात् वचनादि क्रिया की प्रवृत्ति होती है ॥ ४१ ॥

विमर्शिनी—पराचीना = पश्चाद्भवा ॥ ४१ ॥

अध्यात्मादिविशेषोऽत्र सर्वः पूर्वमुदीरितः ।
तृतीयेयं विधाख्याता बहिष्करणवर्तिनी ॥ ४२ ॥

इसमें अध्यात्मादि विशेष हम पहले कह आये हैं । इस प्रकार बहिष्करण-वर्तिनी तृतीय विधि की भी व्याख्या मैंने कर दी है ॥ ४२ ॥

प्रमेयकथनम्

चतुर्थीं त्वमिमां कोटिं मेयरूपां तु मे शृणु ।
मेयं तु द्विविधं तावद्बहिरन्तर्व्यवस्थया ॥ ४३ ॥

अब हे इन्द्र ! चतुर्थी जो प्रमेय रूपा अवस्था है, आप मुझ से सुनिए । यह बाहरी और भीतरी भेद से दो प्रकार की होती है ॥ ४३ ॥

विमर्शिनी—मेयेति । इदमेव भावभूमिकेति पूर्वं निर्दिष्टम् ॥ ४३ ॥

बाह्यं तु नीलपीतादि सुखदुःखाद्यथान्तरम् ।
आभिश्चतसृभिश्चाहं विधाभिः स्त्यानतां गता ॥ ४४ ॥

नील पीतादि बाह्यावस्था है । सुख-दुःखादि आन्तरिक अवस्था है । भीतर को रहने वाली चार अवस्थाओं से मैं स्त्यान (= जड़ता) अवस्था में प्राप्त होती हूँ ॥ ४४ ॥

स्वचित्तोत्थविकल्पार्थैः प्रत्यक्षाप्यस्मि विस्मृता ।
सदाचार्योपदेशेन सत्तर्कमनुरुन्धता ॥ ४५ ॥
निरूप्ये निपुणैर्यत्र मेयेऽप्यस्मि तदा स्फुटम् ।
विलाप्य सकलं भावं चेत्यरूपमिमं तथा ॥ ४६ ॥

यद्यपि मैं अपने चित्त में रहने वाले वैकल्पिक विषयों से प्रत्यक्ष रहने वाली हूँ । फिर भी स्त्यानावस्था में अपने को विस्मृत कर देती हूँ । किन्तु आचार्य के उपदेशों से एवं सत्तर्कों के अनुरोध से जिस प्रकार प्रमेयावस्था में मैं अच्छी प्रकार से स्पष्ट हो जाती हूँ उसे स्पष्ट रूप से निरूपण करती हूँ कि सभी भावों का अपने में विलय कर मैं इस अरूप अवस्था में पुनः कैसे हो जाती हूँ ॥ ४५-४६ ॥

विमर्शिनी—चेत्यम् = मेयम् ॥ ४६ ॥

स्वच्छन्दा पूर्णचिद्रूपा प्रकाशेऽहं तदा स्वयम् ।
स्वच्छा स्वच्छतरा साहं ततः करणसंज्ञिता ॥ ४७ ॥

मैं स्वच्छन्द पूर्ण चिदानन्दा रूपा सदा स्वयं प्रकाश करती हूँ । मैं स्वच्छ तथा स्वच्छ से भी स्वच्छ होकर पुनः कारण रूप में आ जाती हूँ ॥ ४७ ॥

ततो मातर्यतिस्वच्छा स्फुरामि स्वच्छचिन्मयी ।

आरोहमवरोहं च भावयन्मामकावुभौ ।
मच्चित्तो मद्‌गतप्राणो मद्‌भावायोपपद्यते ॥ ४८ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे प्रमातृकरणप्रकाशो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

...✿...

तब स्वेच्छा मुझे प्रमाता के योग्य बना देती है और मैं स्वच्छ चिन्मयी होकर स्फुरित होने लगती हूँ । इसका प्रकार आरोह (ऊपर की ओर जाना) और अवरोह (नीचे की ओर उतरना) ये दोनों ही मेरे भाव हैं । इस प्रकार मुझ में जो चित्त लगाता है और मुझ में जो अपने प्राणों को सन्निविष्ट कर देता है वहीं मेरे स्वरूप को प्राप्त करता है ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के प्रमातृकरणप्रकाश नामक सातवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ७ ॥

...✿...

अष्टमोऽध्यायः

लक्ष्म्यवतारप्रकाशः

भगवतो नारायणस्य परव्यूहरूपाणि सर्वाण्यपि शक्त्यविनाभूतानि

शक्रः—

नमस्ते सिन्धुसम्भूते नमस्ते पद्मसम्भवे ।
नमः सरोरुहावासे नारायणकुटुम्बिनि ॥ १ ॥

हे सिन्धु से उत्पन्न होने वाली ! आपको नमस्कार है, हे कमल से उत्पन्न होने वाली ! आपको नमस्कार है, हे कमल में निवास करने वाली । आपको नमस्कार है, हे नारायण कुटुम्बिनि ! आपको नमस्कार ॥ १ ॥

अवतारास्तु ये प्रोक्तास्त्वदीयाः कोशपञ्चके ।
तान्मे विस्तरतः पद्मे पृच्छते वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

हे पद्मे ! आपने जो कोशपञ्चक में अवतारों का वर्णन किया है वह सब मुझ से वर्णन कीजिये । मैं आपसे यह पूछ रहा हूँ ॥ २ ॥

विमर्शिनी—प्रथमः शक्तिकोशो भगवतः पररूपस्य चतुर्व्यूहानां च संबद्ध इति सुविदितमिति कृत्वा तमुपेक्ष्य मायादिपञ्चकोशविषयः प्रश्नः क्रियतेऽत्र—कोशपञ्चक इति ॥ २ ॥

किमर्थाः किंप्रकारास्ते कियन्तः किंस्वरूपकाः ।
तत्त्वं कथय मे देवि सर्वज्ञा ह्यसि शाश्वती ॥ ३ ॥

इन अवतारों का प्रयोजन क्या है ? वे कितने होते हैं ? उनका स्वरूप क्या है ? हे देवि ! आप सर्वज्ञा एवं शाश्वती हो । मुझे बताइये ॥ ३ ॥

श्रीः—

अतरङ्गमनिर्देश्यमप्रकम्प्यमनूपमम् ।
अप्रकारमसंभेद्यमविकल्पमनाकुलम् ॥ ४ ॥
एकं नारायणं ब्रह्म शून्यं शुद्धं निरामयम् ।
यदिदं दृश्यते किंचिच्छ्रूयते वानुमीयते ॥ ५ ॥
प्रमाणत्रयसंबोध्यं भावाभावस्वलक्षणम् ।
चराचरमणु स्थूलं चेतनाचेतनं जगत् ॥ ६ ॥
तदिदं सकलं ब्रह्म नारायणमनुत्तरम् ।
अविद्याविधुरानन्दस्वच्छस्वच्छन्दचिद्घनम् ॥ ७ ॥
भवद्भावात्मकं दिव्यमध्वनः पारमुत्तमम् ।
शक्तिमच्छक्तिभावेन तद् द्विधा व्यवतिष्ठते ॥ ८ ॥

महाश्री ने कहा—जो तरङ्गरहित (सर्वथा शान्त), अनिर्देश्य (वाणी से परे), अप्रकल्प्य (महान्), अनुपम (उपमा से रहित), अप्रकार (भेदरहित), अभेद्य, अविकल्प (निश्चित) अनाकुल (धैर्यशाली) भयरहित, एक (द्वैतरहित) नारायण (जल में शयन करने वाला) है वही शून्य शुद्ध और निरामय है । जो यह सब कुछ दिखाई पड़ता है, जो यह सब सुनाई पड़ता है, जो अनुमान किया जाता है, जो प्रत्यक्ष अनुमान तथा शब्द प्रमाण से गृहीत होता है, जो भाववान् एवं अभाववान् है, चराचर अणु, स्थूल, चेतन एवं अचेतन जगत् है, वह सभी पर ब्रह्म भी वही है, भगवान् नारायण के अतिरिक्त और कुछ नही है । वह अविद्या से रहित है । आनन्दस्वरूप स्वच्छ, स्वच्छन्द, चिदघना, भवद्भावात्मक और दिव्य एवं षडध्वा से परे है । इस प्रकार का अनिर्वचनीय वह शक्ति और शक्तिमान् इन दो भेदों से स्थित है (द्र० ६.१७)॥ ४-८ ॥

विमर्शिनी—प्रसङ्गाद्भगवतः पररूपस्य शक्तिकोशावस्थितिमाह—अतरङ्गमित्यादि । अत्र षष्ठाध्यायसप्तदशश्लोकोक्तमनुसन्धेयम् ॥ ४ ॥ नारायण इत्याख्यातं नारायणम् ॥ ५ ॥ प्रमाणत्रयं प्रत्यक्षानुमानशब्दोः ॥ ६ ॥

शक्तिमत्तत् परं ब्रह्म नारायणमहं भवत् ।
शक्तिर्नारायणी साहमहंता भावरूपिणी ॥ ९ ॥

परब्रह्म नारायण शक्तिमान हैं और भवत् स्वरूप हैं । भगवान् नारायण की अहंता शक्ति मैं नारायणी भावस्वरूपिणी हूँ ॥ ९ ॥

विमर्शिनी—अहम् = अहंप्रतीतिविषयः ॥ ९ ॥

स प्रदेशो न तस्यास्ति येन भूतं मया विना ।

स प्रदेशो न मे कश्चिद्विना तद्येन भूयते ॥ १० ॥

उनका कोई ऐसा प्रदेश नहीं है जो मुझ से रहित हो और मेरा भी कोई ऐसा प्रदेश नहीं है जहाँ वे न हों ॥ १० ॥

विमर्शिनी—विना तत् = तत् ब्रह्म विनेत्यर्थः ॥ १० ॥

एकधा च द्विधा चैव तैस्तैस्तत्त्वाब्धिपारगैः ।
व्यपदिश्यावहे शास्त्रैस्तावावां सर्वकारणम् ॥ ११ ॥

तत् तत् तत्त्वों के शास्त्र समुद्र के पारङ्गत विद्वानों ने हम दोनों का एक प्रकार अथवा दो प्रकार से व्यपदेश किया है । इसलिये वे दोनों अथवा हम दोनों सभी के कारण हैं ॥ ११ ॥

भावोत्तरा क्वचित्सृष्टिः क्वचित्सा भवदुत्तरा ।
भवद्भावोत्तरा क्वापि विद्वांस्तत्र न मुह्यति ॥ १२ ॥

कही सृष्टि भाव के उत्तर (पश्चात्) है तो कही भवत् के उत्तर (पश्चात्) है । कोई भवत् और भाव दोनों के उत्तर में है । अतः विद्वानों को उसमें मोह नहीं होता ॥ १२ ॥

एक एवावतीर्णो हि देवानां कार्यवत्तया ।
नारायणो यदा साहं तत्र तद्भावभाविनी ॥ १३ ॥

जब देवतओं के कार्य के लिये भगवान् नारायण अकेले अवतार लेते हैं तब मैं उनकी भाव भाविनी (नारायण भाव की भाविनी) नारायणी बन कर आती हूँ ॥ १३ ॥

एकैव चावतीर्णाहं यदा देवहितेप्सया ।
अहंतायां मयि व्यक्तः स देवोऽहम्पदार्थवान् ॥ १४ ॥

इसी प्रकार जब देवताओं के कल्याण करने की इच्छा से अकेले मैं अवतरित होती हूँ तब अहन्ता रूप मुझ नारायणी में वे नारायण रूप अहं भाव से अवतरित होते हैं ॥ १४ ॥

अवतीर्णौ यदा तुल्यं देवकार्यचिकीर्षया ।
अन्योन्ययोः स्थितावावां भवद्भावात्मकौ द्वयोः ॥ १५ ॥

जब देवताओं के कार्य (= कल्याण) के लिये हम दोनों साथ-साथ अवतरित होते हैं तब हम दोनों ही एक दूसरे में परस्पर भाव-भावात्मक होकर स्थित रहते हैं ॥ १५ ॥

अनिरुद्धस्य विभवाद्यवतारेषु श्रियोऽपि तत्तदनुगुणावतारग्रहणेन तदनुसरणम्

इत्थं व्यवस्थिते तत्त्वे ह्यवतारगतिं शृणु ।
अनिरुद्धो विभुर्देवो देवदेवः सनातनः ॥ १६ ॥
महाविद्यासमुद्भूतस्तदाहमपि वासव ।
मत्त एव महालक्ष्म्या अभूवं कमलाख्यया ॥ १७ ॥

इस प्रकार हम दोनों का तत्त्व परस्पर व्यवस्थित है । अब हे इन्द्र ! अवतार की प्रक्रिया सुनिए । जब सर्वव्यापक देवाधिदेव अनिरुद्ध महविद्या से उत्पन्न होते हैं, तब हे वासव ! मैं भी अपनी शक्तिभूता महालक्ष्मी से कमला नाम से अवतरित होती हूँ (द्र० ६.१०)॥ १६-१७ ॥

विमर्शिनी—मायाकोशावतारमाह—मत्त एव महालक्ष्म्या इति । अत्र षष्ठाध्यायाष्टादश श्लोकोक्तमनुसन्धेयम् ॥ १७ ॥

ताविमौ दम्पती दिव्यौ पितरौ जगतां मतौ ।
पद्मनाभावतारे तु तावेतौ द्वावयोनिजौ ॥ १८ ॥

तब हम दोनों दिव्य दम्पती के रूप में रहकर सारे जगत् के माता और पिता के रूप में रहते हैं । पद्मनाभावतार काल में हम दोनों अयोनिज रूप में अवतरित होते हैं (द्र० ६.२०)॥ १८ ॥

विमर्शिनी—प्रसूतिकोशावतारमाह—पद्मनाभावतार इत्यादिना । महालक्ष्मीमहाविद्यामहामायानामवतारोऽत्र षष्ठाध्याये विंशश्लोके पूर्वमुक्तः ॥ १८ ॥

नारायणावतारो यः शक्तीशो नाम नामतः ।
प्रकारा बहवस्तस्य सर्वत्राहमनुव्रता ॥ १९ ॥

नारायण का अवतार जिसे नामतः शक्तीश भी कहते हैं उस अवतार के अनेक प्रकार हैं । उन-उन अनेक अवतारों में मैं नारायण के साथ ही आती हूँ । उनका साथ नहीं छोड़ती ॥ १९ ॥

एकधा द्विचतुर्धा च षोढा चैव तथाष्टधा ।
पुनर्द्वादशधा चैव तत्र नामानि मे शृणु ॥ २० ॥

वह अवतार एक, दो, चार, छह, आठ पुनः बारह प्रकार के होते हैं । अब उन प्रकारों के नाम सुनिए ॥ २० ॥

श्रीर्नाम द्विभुजस्याहमङ्कस्था वरवर्णिनी ।
तस्यैवोभयतोरूपे श्रीश्च पुष्टिश्च वासव ॥ २१ ॥

जब उन विष्णु का द्विभुज रूप से अवतार होता है तब मैं अत्यन्त मनोहर श्री नाम से अवतरित होकर उनके अङ्क में निवास करती हूँ । हे वासव ! इस प्रकार उस श्री के ही सृष्टि और पुष्टि ये दो स्वरूप हैं ॥ २१ ॥

चतुर्दिशं तु तस्यैव श्रीः कीर्तिश्च जया तथा ।
मायेति कृत्वा रूपाणि भुज्येऽहं तेन विष्णुना ॥ २२ ॥

मैं उन्हीं नारायण की श्री, कीर्ति, जया तथा माया का रूप बनाकर चारों दिशाओं में उन्हीं विष्णु के साथ भोग भोगती हूँ । इस प्रकार मेरे चार स्वरूप हो जाते हैं ॥ २२ ॥

तस्यैव कोणषट्कस्था षोढाहं शृणु नाम च ।
शुद्धिर्निरञ्जना नित्या ज्ञानशक्तिश्च वासव ॥ २३ ॥
तथापराजिता चैव षष्ठी तु प्रकृतिः परा ।
तस्यैव चाष्टधा दिक्षु साहं रूपैर्व्यवस्थिता ॥ २४ ॥

मैं उन्हीं के षट्कोणों में रहकर छह प्रकार की हो जाती हूँ । हे इन्द्र ! उनके नामों को सुनिए । शुद्धि, निरञ्जना, नित्या, ज्ञानशक्ति, अपराजिता, छठी परा प्रकृति मेरे उस समय के ये नाम हैं ॥ २३-२४ ॥

लक्ष्मीः सरस्वती सर्वकामदा प्रीतिवर्धनी ।
यशस्करी शान्तिदा च तुष्टिदा पुष्टिरष्टमी ॥ २५ ॥

पुनः मैं आठ प्रकार के नामों से व्यवस्थित होकर उन-उन दिशाओं में निवास करती हूँ । उस समय लक्ष्मी, सरस्वती, सर्वकामदा, प्रीतिवर्धनी, यशस्करी, शान्तिदा, तुष्टिदा और अष्टमी मेरे नाम होते हैं ॥ २५ ॥

कोणद्विषट्के तस्यैव स्थिता द्वादशधास्म्यहम् ।
श्रीश्च कामेश्वरी कान्तिः क्रियाशक्तिविभूतयः ॥ २६ ॥
इच्छा प्रीती रतिश्चैव माया धीर्महिमेति च ।
एवं चतुर्भुजस्यापि षोढाहं क्रमशः स्थिता ॥ २७ ॥

पुनः मैं जब उनके बारह कोणों में स्थित रहती हूँ तब मेरे द्वादश नाम इस प्रकार होते हैं—श्री, कामेश्वरी, कान्ति, क्रिया, शक्ति, विभूति, इच्छा, प्रीति, रति, माया, धी और महिमा । इसी प्रकार मैं उन विष्णु के चतुर्भुज रूप धारण में छह प्रकार से क्रमशः स्थित रहती हूँ ॥ २६-२७ ॥

तस्यैव षड्भुजस्याहमष्टबाहोश्च वासव ।
द्विषड्बाहोस्तथा साहं द्विसप्तकभुजस्य च ॥ २८ ॥

तथा षोडशहस्तस्य भुजद्विनवकस्य च ।
विभज्य बहुधात्मानमियद्भेदा व्यवस्थिता ॥ २९ ॥

हे वासव ! इसी प्रकार जब वे ६, ८, १२, १४, १६, १८ भुजाओं को धारण करते हैं तब मैं अपने को अनेक भेदों में विभक्त कर इतने ही भेदों में व्यवस्थित होकर उनमें निवास करती हूँ ॥ २८-२९ ॥

अवतारो हि यो विष्णोः सिन्धुशायीति संज्ञितः ।
स्थिताहं परितस्तस्य चतुर्धा रूपमेयुषी ॥ ३० ॥
लक्ष्मीर्निद्रा तथा प्रीतिर्विद्या चेति विभेदिनी ।

विष्णु का वह अवतार जिसका नाम सिन्धुशायी है, उस अवतार में मैं अपना चार रूप बनाकर उनके चारों ओर स्थित रहती हूँ, उस समय मेरे लक्ष्मी, निद्रा, प्रीति और विद्या ये चार भेद हो जाते हैं ॥ ३०-३१- ॥

विमर्शिनी—प्रकृतिकोशावतारमाह—विन्धुशायीति । अत्र पञ्चमाध्यायैकविंश श्लोकोक्तमनुसन्धेयम् ॥ ३० ॥

अवतारो हि यो विष्णोः श्रीपतिर्नाम नामतः ॥ ३१ ॥
श्रीरित्येवाख्यया तत्र तस्याहं वामतः स्थिता ।
अवतारो हि यो विष्णोर्नामतः पारिजातजित् ॥ ३२ ॥
तदंसस्थकरा तस्य वामोत्सङ्गे हरेः स्थिता ।
अवतारो हि यो विष्णोर्नाम्ना मीनधरः शुभः ॥ ३३ ॥
अनुभ्रमामि तं तत्र साहं नौरूपधारिणी ।

जब विष्णु का श्रीपति नाम से अवतार होता है तब मैं श्री इस नाम से उनकी बाईं ओर स्थित हो जाती हूँ । जब विष्णु का पारिजातजित् नाम का अवतार होता है तब मैं उनके कन्धे पर अपना हाथ रखकर उनकी बाईं ओर स्थित हो जाती हूँ । जब विष्णु का लोक कल्याणकारी मीनधर नामक अवतार होता है तब मैं नाव रूप धारण कर सारे संसार में भ्रमण करती हूँ ॥ -३१-३४- ॥

विमर्शिनी—ब्रह्माण्डकोशावतारमाह—नाम्ना मीनधर इत्यादि ॥ ३३ ॥

त्रैविक्रमोदयो विष्णोरवतारः परः स्मृतः ॥ ३४ ॥
आह्लादजननी गङ्गा तत्पादात्प्रभवाम्यहम् ।
अनन्तशयनो नाम योऽवतारो हरेरहम् ॥ ३५ ॥

इसके बाद जब विष्णु का सर्वश्रेष्ठ त्रिविक्रम नामक अवतार होता है ।

तब मैं उनके पैर से उत्पन्न होकर सबको आल्हादित करती हुई गङ्गा नाम से अवतरित होती हूँ। इसी प्रकार भगवान् का जब अनन्तशयन नाम से अवतार होता है तो मैं श्रीरूप में अवतरित होती हूँ ॥ -३४-३५ ॥

स्थिता चतुर्दिशं तस्य चातुरात्म्यमुपेयुषी ।
लक्ष्मीश्चिन्ता तथा निद्रा पुष्टिश्चेत्याख्यया युता ॥ ३६ ॥

उस समय भी मैं अपने को चार रूपों में प्रविभक्त कर उनके चारों ओर स्थित हो जाती हूँ। लक्ष्मी, चिन्ता, निद्रा और पुष्टि ये उन चार रूपों के नाम हैं ॥ ३६ ॥

इत्येषु सह सिद्धाहमवतीर्णाण्डमध्यतः ।
अवताराः पृथग्भूता यदा ब्रह्माण्डमध्यतः ॥ ३७ ॥
अनुव्रता तथैवाहमवतीर्णा पृथक् पृथक् ।

इस ब्रह्माण्ड के मध्य में जब विष्णु के अवतार होते हैं, तब मैं अपने सिद्ध तत् तत्स्वरूपों से साथ ही अवतार लेती हूँ। जब ब्रह्माण्ड के मध्य में उनके पृथक्-पृथक् रूप से अवतार होते हैं, तब मैं भी पृथक्-पृथक् रूपों से उनकी अनुव्रता (आज्ञाकारिणी) होकर अवतार ग्रहण करती हूँ ॥ ३७-३८- ॥

अवतारो हि यो नाम वराहो वेदविश्रुतः ॥ ३८ ॥
तदाहमपि भूर्नाम पृथग्भूता भजाम्यहम् ।

जब भगवान् का वेद विश्रुत वराहावतार होता है तब मैं उनसे पृथक् 'भू' नाम वाली होकर उनका अनुसरण करती हूँ ॥ -३८-३९- ॥

अवतारो हि यो नाम धर्मो विष्णुः पुरातनः ॥ ३९ ॥
तदाहं भार्गवी नाम ख्यातिजा श्रीः प्रकीर्तिता ।
अवतारो हि यो नाम दत्तात्रेयोऽत्रिनन्दनः ॥ ४० ॥
तदा हि तस्य भोगाय सरसोऽहं समुत्थिता ।
अवतारो हि यो नाम वामनो वैष्णवः शुभः ॥ ४१ ॥
पद्मादहं समुत्पन्ना तदा पद्मेति विश्रुता ।
अवतारो यदा विष्णोर्भार्गवो रामसंज्ञितः ॥ ४२ ॥
तदाहं धरणी नाम शक्तिरासमयोनिजा ।
अवतारो हि यो नाम रामो दाशरथिः शुभः ॥ ४३ ॥
जाता जनकयज्ञेऽहं क्षेत्राद्धलमुखक्षतात् ।
नाम्ना सीतेति विख्याता दशाननविनाशनी ॥ ४४ ॥

जब विष्णु का पुरातन धर्म नामक अवतार होता है तब मैं भृगु की ख्याति नामक पत्नी से भार्गवी श्री के रूप में अवतरित होती हूँ । जब वे विष्णु अत्रि से अनसूया में दत्तात्रेय नाम से अवतार ग्रहण करते हैं तब मैं उनके संभोग के लिये सर (तडाग) रूप से जन्म ग्रहण करती हूँ। इसी प्रकार विष्णु का जब कल्याणकारी वामन रूप में अवतार होता है तब मैं पद्मा से उत्पन्न होकर पद्म नाम से प्रसिद्ध होती हूँ । जब विष्णु का परशुराम रूप से अवतार होता है तब मैं उनकी शक्ति अयोनिजा धरणी के रूप में अवतरित होती हूँ । जब उन विष्णु का दशरथ से अत्यन्त कल्याणकारी राम के रूप में अवतार होता है । तब मैं क्षेत्र में जनक के यज्ञ में हल के अग्रभग (= सीत) से उत्पन्न होकर उन सीता नाम से विख्यात होती हूँ जो दशानन का विनाश करने वाली हैं ॥ ३७-४४ ॥

अवतारो हि यो विष्णोश्चतुर्धा संभविष्यति ।
मधुरायामहं व्यक्तिं चतुर्धैष्यामि वै तथा ॥ ४५ ॥

जब विष्णु का अवतार मथुरा में चार भागों में आगे होगा बलभद्र, श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध तब मैं भी चार भागों में प्रगट होऊँगी ॥ ४५॥

रेवती रुक्मिणी चैव रतिर्नाम्ना तथा ह्युषा ।
अवतारान्तरं यत्तु मोहनं बुद्धसंज्ञकम् ॥ ४६ ॥
ताराहं तत्र नाम्ना वै धारा चैव प्रकीर्तिता ।

उन चारों के नाम रेवती (बलभद्र की शक्ति), रुक्मिणी (श्रीकृष्ण की शक्ति), रति (प्रद्युम्न की शक्ति) और ऊषा (अनिरुद्ध की शक्ति) होगें । इसके अतिरिक्त मोहन अवतार जिसे बुद्धावतार कहा जाता है वहाँ मैं तारा रूप में अवतरित होती हूँ जिसे धारा भी कहा जाता है ॥ ४६-४७- ॥

ध्रुवादयोऽवतारा ये केवला वैष्णवाः स्मृताः ॥ ४७ ॥
तत्तच्छरीरभूताहं तेषां भोग्या व्यवस्थिता ।

इसके अतिरिक्त ध्रुवादि अवतार, जो केवल वैष्णवावतार कहा जाता है, उनके होने पर मैं उनकी शरीर बनकर उनकी व्यवस्थित रूप से भोग्या होती हूँ ॥ -४७-४८- ॥

विमर्शिनी—जीवदेहकोशावतारमाह—ध्रुवादय इति ॥ ४७ ॥

यत्तु मे मोहनं रूपं श्रूयतेऽमृतधारकम् ॥ ४८ ॥
भवद्भावौ तदा तत्र रूपे तुल्योपलक्षितौ ।
देवैः पुरुषरूपेण स्त्रीरूपेण तथेतरैः ॥ ४९ ॥

जब अमृत धारण करने वाला मेरा मोहन स्वरूप प्रगट हुआ, तब वहाँ मैं भवद् एवं भाव इन दोनों रूपों से एक समान देखी जाती हूँ । उस समय देवता लोग मुझे पुरुष रूप में तथा दैत्य लोग स्त्री रूप में देखते हैं, साथ-साथ सिद्धरूप में तथा अलग अलग भी ॥ -४८-४९ ॥

सह सिद्धं पृथक्सिद्धमित्येतज्जन्म मेऽद्भुतम् ।
कीर्तितं तव देवेश केवलं जन्म मे शृणु ॥ ५० ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे लक्ष्म्यवतारप्रकाशो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

...

पृथक् सिद्ध रूप में जिस प्रकार मेरा यह अद्भुत रूप से जन्म होता है, हे देवेश ! मैंने आपसे कहा । अब एकमात्र केवल अवतार के विषय में सुनिए ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के लक्ष्म्यवतारप्रकाश नामक आठवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ८ ॥

...

नवमोऽध्यायः

केवलावतारप्रकाशः

महालक्ष्म्याः महिषमर्दन्यवतारः

श्रीः—

अहं नारायणी देवी नारायणमनुव्रता ।
ज्ञानानन्दक्रियात्मानं ज्ञानानन्दक्रियामयी ॥ १ ॥

श्री ने कहा—ज्ञान, आनन्द, क्रियामयी, नारायणी स्वरूपा मैं—ज्ञान, आनन्द, क्रियामय स्वरूप नारायण की सर्वथा अनुगामिनी हूँ ॥ १ ॥

तस्या मे न विनाभावस्तेन वा तस्य वा मया।
प्रकर्तुं शक्यते काले कस्मिंश्चिद्देश एव वा॥ २ ॥

मैं उनके बिना नहीं रह सकती और वे मेरे बिना नहीं रह सकते । इस प्रकार दोनों का अविनाभाव है । किसी काल अथवा किसी देश में मैं उनसे पृथक् नहीं और वे मुझ से पृथक् नहीं रहते ॥ २ ॥

तत्तत्कार्यवशाच्चैवान्यद्भूताद्भुतरूपकौ ।
आत्मयोगबलात्तौ स्वः सहैव च विनैव च ॥ ३ ॥

तत्-तत् कार्यों के वशीभूत होने के कारण हम दोनों अपने स्वरूप से अन्यत् रूप अथवा अद्भुत रूप धारण करते हैं । वे स्वरूप आत्मयोग के बल से साथ-साथ और उसके बिना भी धारण किये जाते हैं ॥ ३ ॥

ब्रह्मादिर्दत्तवान् यादृक्तपोयोगबलात्कृतः ।
दैत्यादिभ्यो जगद्ध्वंसकरेभ्यो वरमुत्तमम् ॥ ४ ॥

ब्रह्मादि देवताओं ने जगत् के विध्वंसकारी जिन-जिन दैत्यों को उनके तपोयोग के कारण जैसा-जैसा उत्तम वर दिया था ॥ ४ ॥

तादृशं तादृशं रूपमास्थायावां सनातनौ ।
तत्तत्प्रीतिचिकीर्षायै चरावो देवकार्यतः ॥ ५ ॥

तब हम दोनों सनातन देवताओं के कार्य से उन दैत्यों का विनाश करने की इच्छा से वैसा-वैसा रूप धारण कर पृथ्वी पर अवतीर्ण होते हैं ॥ ५ ॥

मायया भावमाच्छाद्य परमार्थं स्वतेजसा ।
अहमेवावतीर्णा हि तत्तद्ध्वंसिजिघांसया ॥ ६ ॥

कभी-कभी केवल मैं ही अपनी माया से अपने परमार्थभाव का आच्छादन कर उन-उन महान् असुरों के विध्वंस की इच्छा से अकेली ही अवतीर्ण होती हूँ ॥ ६ ॥

आदौ देवी महालक्ष्मीः स्मृताहं परमेश्वरी ।
अभूवं च पुनर्द्वेधा कृष्णा ब्राह्मीति रूपतः ॥ ७ ॥

पूर्वकाल में मैं परमेश्वरी महालक्ष्मी एक थी इसके बाद कृष्णा और ब्राह्मी रूप से दो बन गई ॥ ७ ॥

गुणत्रयविभागेन रूपमेतत्परं मम ।

तीनों गुणों के प्रभाव से ये मेरे तीन रूप सर्वोत्कृष्ट हैं ॥ ८- ॥

महालक्ष्मीरहं शक्र पुनः स्वायंभुवेऽन्तरे ॥ ८ ॥
हिताय सर्वलोकानां जाता महिषमर्दनी ।
मदीया शक्तिलेशा ये तत्तद्देवशरीरगाः ॥ ९ ॥
संभूय ते ममाभूवन् रूपं परमशोभनम् ।
आयुधानि च देवानां यानि यानि सुरेश्वर ॥ १० ॥
तच्छक्तयस्तदाकारा आयुधानि ममाभवन् ।
अभिष्टुता सुरैः साहं महिषं जघ्नुषी क्षणात् ॥ ११ ॥

हे इन्द्र ! इसके बाद स्वायंभुव मन्वन्तर में पुनः मैं महालक्ष्मी ही सारे लोक के कल्याण के लिये महिषमर्दिनी के रूप में अवतीर्ण हुई । हे सुरेश्वर ! तद्-तद् देवों के शरीरों में जो मेरे शक्ति के लेश विद्यमान थे, वे ही मेरे तद्-तद् देव रूप बन गए और देवताओं के जो मेरे शक्ति रूप आयुध थे, वे ही तद्-तद् आकार में मेरे आयुध बन गए । तदनन्तर जब मैंने इन इन रूपों और तद्-तद् आयुधों में प्रगट होकर महिष का वध किया, तब उन-उन

देवताओं ने मेरी स्तुति की ॥ -८-११ ॥

महिषान्तकरीसूक्तं सर्वसिद्धिप्रदं तदा ।
'देव्या यया'दिकं दृष्टं सेन्द्रैर्देवैः सहर्षिभिः ॥ १२ ॥

'देव्या यया ततमिदम्' इत्यादि महिषान्तकारी सूक्त सर्वसिद्धिप्रद है जिसे ऋषिगणों के साथ इन्द्रादि देवों ने साक्षात्कार किया था (द्र० सप्तशती ४. २-२७)॥ १२ ॥

विमर्शिनी—इदं च सूक्तं मार्कण्डेयपुराणे देवीमाहात्म्ये चतुर्थाध्याये पठितं द्रष्टव्यम् 'दृष्टं देवैर्महर्षिभिः' इति पाठः सप्तशतीसर्वस्वे ॥ १२ ॥

उत्पत्तिं युद्धविक्रान्तिं स्तोत्रं चेति सुरेश्वर ।
कथयन्ति सुविस्तीर्णं ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥ १३ ॥

हे सुरेश्वर ! वेद के पारङ्गत ब्राह्मण मेरी उस उत्पत्ति, युद्ध एवं आख्यान तथा स्तोत्र को विस्तार रूप से आज तक कहते आये हैं ॥ १३ ॥

एवंप्रभावां देवीं तां स्तुवन् ध्यायन्नमन्नपि ।
लभते च फलं शश्वदाधिपत्यमनश्वरम् ॥ १४ ॥

इस प्रकार के प्रभाव वाली उस देवी की स्तुति ध्यान तथा नमन करने से साधक शाश्वत् अनश्वर आधिपत्य प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

महालक्ष्म्याः महाकाल्यवतारः

योगनिद्रा हरेरुक्ता या सा देवी दुरत्यया ।
महाकालीतनुं विद्धि तां मां देवीं सनातनीम् ॥ १५ ॥

जो देवी भगवान् की योगनिद्रा कही जाती हैं, जो सर्वथा वाणी और मन से परे होती हैं, हे इन्द्र ! आप उन देवी को सनातन स्वरूपा महाकाली समझिए ॥ १५ ॥

मधुकैटभनाशे हि मोहितौ तौ तया तदा ।
जघ्नाते वरलाभेन देवदेवेन विष्णुना ॥ १६ ॥

मधुकैटभ का विष्णु द्वारा विनाश करने के लिये ही महाकाली ने उन दोनों को मोहित किया था । तदनन्तर उनके द्वारा ही वर प्राप्त कर विष्णु ने उन दोनों का बध किया ॥ १६ ॥

विश्वेश्वर्यादिकं सूक्तं दृष्टं तद् ब्रह्मणा सदा ।
स्तुतये योगनिद्राया मम देव्याः पुरन्दर ॥ १७ ॥

हे पुरन्दर ! उस समय मुझ योगनिद्रा की स्तुति के लिये ब्रह्मदेव ने स्वयं 'विश्वेश्वरी जगद्धात्रीम्' इत्यादि सूक्त का साक्षात्कार किया था (द्र० सप्तशती १. ७०-८७) ॥ १७ ॥

विमर्शिनी—इदं चोपाख्यानं मार्कण्डेयपुराणे देवीमाहात्म्ये प्रथमाध्याये पठितम् ॥ १७ ॥

एषा सा वैष्णवी माया महाकाली दुरत्यया ।
स्तुत्या वशीकृता कुर्याद्वशे स्तोतुश्चराचरम् ॥ १८ ॥

यह वैष्णवी माया स्वरूपा महाकाली अगम्य हैं । इनका दर्शन बड़ी तपस्या से होता है । इस स्तुति द्वारा स्तुति करने से वे स्तुति कर्त्ता के वश में चराचर जगत् को कर देती हैं ॥ १८ ॥

अस्या देव्याः समुत्पत्तिश्चरितं स्तोत्रमित्यपि ।
हिताय सर्वभूतानां धार्यन्ते ब्रह्मवादिभिः ॥ १९ ॥

इन महादेवी की उत्पत्ति, चरित्र तथा स्तोत्र को ब्रह्मवादी लोग लोक कल्याण के लिये धारण करते हैं ॥ १९ ॥

महालक्ष्म्याः कौशिक्यवतारः

तामसे त्वन्तरे शक्र महाविद्या हि या परा ।[1]
गौरीदेहात्समुद्भूता कौशिकीति तदा ह्यहम् ॥ २० ॥

हे इन्द्र ! परा विद्या मैं ही तामस मन्वन्तर में गौरी के देह से उत्पन्न होकर उस समय कौशिकी रूप वाली हुई ॥ २० ॥

वधाय दुष्टदैत्यानां तथा शुम्भनिशुम्भयोः ।
रक्षणाय च लोकानां देवानामुपकारिणी ॥ २१ ॥

उस कौशिकी रूप वाली मैंने ही शुम्भ निशुम्भ नामक दैत्यों के वध के लिये लोक की रक्षा के लिये तथा देवताओं के कल्याण के लिये यह अवतार धारण किया था ॥ २१ ॥

मदीयाः शक्तयो यास्ता देवश्रेष्ठशरीरगाः ।
तास्तास्मद्रूपधारिण्यः साहाय्यं विदधुर्मम ॥ २२ ॥

उस समय ब्रह्मा, विष्णु एवं इन्द्रादि देव श्रेष्ठों के शरीर में रहने वाली उन-उन मेरी शक्तियों ने ही उन-उन देवताओं का रूप धारण कर मेरी सहायता

१. 'महाविद्या विद्याय सा' सप्तशती सर्वस्वे पाठः ।

की थी ॥ २२ ॥

ताभिर्निहत्य दैत्येन्द्रान् हन्तव्या ये तथा तथा ।
संहृत्यात्मनि ताः सर्वा मदीया विप्रुषोऽखिलाः ॥ २३ ॥
अहं निजघ्नुषी पश्चात्तयो शुम्भनिशुम्भयोः ।
'देवि प्रपन्नार्तिहरे प्रसीदे'त्यादिकं तथा ॥ २४ ॥

उन-उन दैत्येन्द्रों का वध चाहे जिस तरह से हो उनका वध करना चाहिये। इसलिये मैंने अपनी उन-उन शक्तियों की सहायता से उनका वध किया । फिर उन अपनी शक्तियों को अपने शरीर में समेट लेने के पश्चात् अकेली केवल मैंने ही उन दुष्ट शुम्भ निशुम्भ राक्षसों का वध किया । इसके अनन्तर अग्नि को आगे कर देवताओं ने 'देवि प्रपन्नार्त्तिहरे प्रसाद' (द्र० सप्तशती ११।३) इत्यादि श्लोकों से मेरी स्तुति की जो नारायणी स्तुति कही जाती है ॥ २३-२४ ॥

विमर्शिनी—नारायणीस्तुतिः मार्कण्डेयपुराणे देवीमाहात्म्ये एकादशाध्याये पठिता ॥ २४ ॥

नारायणीस्तुतिर्नाम सूक्तं परमशोभनम् ।
स्तुतयो मे तदा दृष्टा देवैर्वह्निपुरोगमैः[1] ॥ २५ ॥

यह 'नारायणीस्तुति' नामक सूक्त जिसका साक्षात्कार अग्निप्रमुख सभी देवताओं को हुआ था अत्यन्त मङ्गलदायी है ॥ २५ ॥

एषा सम्पूजिता भक्त्या सर्वज्ञत्वं प्रयच्छति ।
कौशिकी सर्वदेवेश बहुकामप्रदा ह्यहम् ॥ २६ ॥

इस कौशिकी नाम वाली मैं भक्तिपूर्वक पूजा करने पर साधक को सर्वज्ञता प्रदान करती हूँ, क्योंकि मैं बहुकामप्रदा हूँ ॥ २६ ॥

उत्पत्तिर्युद्धविक्रान्तिः स्तुतिश्चेति पुरातनैः ।
पठ्यते त्रितयं विप्रैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ॥ २७ ॥

मुझ कौशिक की उत्पत्ति एवं युद्ध का आख्यान तथा स्तुति इन तीनों का पाठ वेद वेदाङ्ग के पारङ्गत पुरातन विद्वान् करते हैं ॥ २७ ॥

महालक्ष्म्याः सुनन्दाख्यविन्ध्यवासिन्यवतारः

वैवस्वतेऽन्तरे चैतौ पुनः शुम्भनिशुम्भकौ ।

---

१. पुरन्दर तदादृष्टं देवैरग्नि पुरोगमैः । सप्तशती सर्वस्वे पाठः । पृ० ३६७

उत्पत्स्येते वरोन्मत्तौ देवोपद्रवकारिणौ ॥ २८ ॥

महादुष्ट यही शुम्भ निशुम्भ जब वैवस्वत मन्वन्तर में पुनः जन्म लेंगे और वर से उन्मत्त होकर देवताओं को उपद्रुत करेगें ॥ २८ ॥

विमर्शिनी—सुनन्दा-रक्तदन्तिका-शताक्षी-शाकंभरी-दुर्गा-भीमा-भ्रामरीणामुपाख्यानानि मार्कण्डेयपुराणे देवीमाहात्म्ये एकादशाध्याये द्रष्टव्यानि ॥ २८-४३ ॥

नन्दगोपकुले जाता यशोदागर्भसंभवा ।
तावहं नाशयिष्यामि सुनन्दा विन्ध्यवासिनी ॥ २९ ॥

तब मैं नन्दगोप के कुल में यशोदा के गर्भ से उत्पन्न होकर विन्ध्याचल पर्वत पर सुनन्दा नाम धारण कर इनका वध करूँगी (द्र० सप्तशती ११।४२)॥ २९ ॥

महालक्ष्म्याः रक्तदन्तिकावतारः

पुनश्चाप्यतिरौद्रेण रूपेण पृथिवीतले ।
अवतीर्य हनिष्यामि वैप्रचित्तान् महासुरान् ॥ ३० ॥

फिर अत्यन्त भयङ्कर रूप से पृथ्वी पर अवतार लेकर मैं विप्रचित्ति नामक दानवों का वध करूँगी ॥ ३० ॥

भक्षयन्त्याश्च तानुग्रान् वैप्रचित्तान् महासुरान् ।
रक्ता दन्ता भविष्यन्ति दाडिमीकुसुमोपमाः ॥ ३१ ॥

उन महाभयङ्कर महादैत्यों को भक्षण करते समय मेरे दाँत अनार के फूल के समान लाल हो जाएँगे (द्र० सप्तशती ११।४४) ॥ ३१ ॥

ततो मां देवताः सर्वे मर्त्यलोके च मानवाः ।
स्तुवन्तो व्याहरिष्यन्ति सततं रक्तदन्तिकाम् ॥ ३२ ॥

तब स्वर्ग में देवता लोग और मृत्यु लोक में मनुष्य सदा मेरी स्तुति करते हुये मुझे रक्तदन्तिका कहेंगे (द्र० सप्तशती ११।४५) ॥ ३२ ॥

महालक्ष्म्याः शाकंभर्यवतारः

तस्मिन्नेवान्तरे शक्र चत्वारिंशत्तमे युगे ।
सर्वतः शतवार्षिक्यामनावृष्ट्यामनम्भसि ॥ ३३ ॥

हे इन्द्र ! पुनः उसी तामस मन्वन्तर के चालिसवें युग में जब सौ वर्ष तक अनावृष्टि के कारण सारा लोक जल से रहित हो जायेगा ॥ ३३ ॥

मुनिभिः संस्मृता भूमौ संभविष्याम्ययोनिजा ।
ततः शतेन नेत्राणां निरीक्षिष्याम्यहं मुनीन् ॥ ३४ ॥

तब मुनियों के द्वारा स्तुति किये जाने पर मैं इस पृथ्वी पर अयोनिजा रूप से अवतार लूँगी और अपने उन सौ नेत्रों से मुनियों की ओर देखूँगी ॥ ३४ ॥

कीर्तयिष्यन्ति मां शक्र शताक्षीमिति मानवाः ।
तदाहमखिलं लोकमात्मदेहसमुद्भवैः ॥ ३५ ॥
भरिष्यामि शुभैः शाकैराविष्टैः प्राणधारकैः ।
शाकंभरीति मां देवास्तदा स्तोष्यन्ति वासव ॥ ३६ ॥

हे इन्द्र ! तब मनुष्य लोग मुझे शताक्षी नाम से कहेंगे । तदनन्तर मैं अपने देह से उत्पन्न कल्याणकारी प्राणधारक शाकों द्वारा सारे मानवों का भरण पोषण करूँगी । ऐसा करने के कारण हे वासव ! देवता लोग शाकम्भरी नाम से मेरी स्तुति करेंगे ॥ ३५-३६ ॥

महालक्ष्म्याः दुर्गावतारः

तत्रैव च हनिष्यामि दुर्गमाख्यं महासुरम् ।
दुर्गा देवीति विख्यातिं ततो यास्याम्यहं भुवि ॥ ३७ ॥

उसी अवतार में मैं दुर्ग नामक महान् असुर का वध करूँगी तब मैं दुर्गा नाम से पृथ्वी पर ख्याति प्राप्त करूँगी ॥ ३७ ॥

शाकंभरीं स्तुवन् ध्यायन् शक्र सम्पूजयन्नमन् ।
अक्षय्यामश्नुते शीघ्रमन्नपानोद्भवां रतिम् ॥ ३८ ॥

हे शक्र ! जो लोग शाकम्भरी की स्तुति ध्यान पूजा एवं वन्दना करते हैं वे शीघ्र ही अक्षय अन्न-पान से उत्पन्न होने वाली तृप्ति प्राप्त करते हैं ॥३८॥

महालक्ष्म्याः भीमावतारः

चतुर्युगे च पञ्चाशत्तमे मुनिभिरर्थिता ।
सुन्दरं चातिभीमं च रूपं कृत्वा हिमाचले ॥ ३९ ॥
रक्षांसि भक्षयिष्यामि मुनीनां त्राणकारणात् ।
ततो मां मुनयः सर्वे स्तोष्यन्त्यानम्रमूर्तयः ॥ ४० ॥

तदनन्तर पुनः उसी तामस मन्वन्तर के पचासवें चतुर्युग में मुनियों के द्वारा संस्तुत होने पर मैं हिमाचल पर्वत पर अत्यन्त सुन्दर किन्तु अत्यन्त

भीम रूप धारण करूँगी । तब मैं उन मुनियों की रक्षा के कारण उन राक्षसों का भक्षण करूँगी । तदनन्तर मुनिगण श्रद्धा से अवनत होकर मेरी स्तुति करेंगे ॥ ३९-४० ॥

महालक्ष्म्याः भ्रामर्यवतारः

'भीमे देवि प्रसीदे'ति भीमामभयदायिनीम् ।
युगे षष्टितमे कश्चिदरुणो नाम दानवः ॥ ४१ ॥

देवता लोग मुझ अभयदायिनी भीमा देवी की स्तुति 'भीमे देवि प्रसीद' (द्र० सप्तशती ११।५२) इस मन्त्र से करेंगे । इसके बाद साठवें चतुर्युग में अरुण नाम का कोई दानव उत्पन्न होगा ॥ ४१ ॥

मनुजानां मुनीनां च महाबाधां करिष्यति ।
तत्राहं भ्रामरं रूपं कृत्वासंख्येयषट्पदा ॥ ४२ ॥
त्रैलोक्यस्य हितार्थाय वधिष्यामि महासुरम् ।
भ्रामरीति च मां लोकास्तदा स्तोष्यन्ति सर्वदा ॥ ४३ ॥

जो मनुष्यों और मुनियों का महान् अपकार करेगा । तब मैं तीनों लोकों का हित करने के लिये छह पैरों वाले असंख्यभ्रमरों का रूप बनाकर उस महादैत्य का वध करूँगी । उस समय सभी लोग मेरी 'भ्रामरी' के नाम से चारो ओर सर्वदा स्तुति करेंगे ॥ ४२-४३ ॥

अवतारस्वरूपज्ञानफलश्रुतिः

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति ।
तदा तदावतीर्याहं हनिष्यामि महासुरान् ॥ ४४ ॥

इस प्रकार जब जब संसार में दानवी बाधा उत्पन्न होगी, तब-तब मैं अवतार लेकर उन-उन महादैत्यों का संहार करूँगी ॥ ४४ ॥

अमी ते लेशतः शक्र दर्शिताः परमाद्भुताः ।
अवतारा निरातङ्का मदीयाः केवलाह्वयाः ॥ ४५ ॥

हे शक्र ! इस प्रकार मैंने परम अद्भुत एवं आतङ्करहित केवल अपने अकेले होने वाले अवतारों का लेशमात्र प्रदर्शन किया है ॥ ४५ ॥

एतेषां परमा प्रोक्ता कूटस्था सा महीयसी ।
महालक्ष्मीर्महाभागा प्रकृतिः परमेश्वरी ॥ ४६ ॥

इन अवतारों में महाभागा महालक्ष्मी का अवतार परम श्रेष्ठ है जो कूटस्थ

और पूजनीय है तथा प्रकृति एवं परमेश्वरी है ॥ ४६ ॥

अमुष्याः स्तुतये दृष्टं ब्रह्माद्यैः सकलैः सुरैः ।
'नमो देव्या'दिकं सूक्तं सर्वकामप्रदं वरम् ॥ ४७ ॥

इन महालक्ष्मी की स्तुति के लिये ब्रह्मादि सभी देवताओं ने 'नमो देव्यै महादेव्यै' (द्र० सप्तशती ५।९-८२) इस सूक्त का साक्षात्कार किया है जो सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वकामप्रद है ॥ ४७ ॥

विमर्शिनी—इदं च मार्कण्डेयपुराणे देवीमाहात्म्ये पञ्चमाध्याये पठितम् ॥४७॥

इमां देवीं स्तुवन्नित्यं स्तोत्रेणानेन मामिह ।
क्लेशानतीत्य सकलानैश्वर्यं महदश्नुते ॥ ४८ ॥

जो मुझ इस प्रकार की देवी (महालक्ष्मी) का इस स्तोत्र से स्तवन करता है उसके सारे क्लेश दूर हो जाते हैं और वह महान् ऐश्वर्य प्राप्त करता है ॥ ४८ ॥

अमुष्याः[1] सावताराया महालक्ष्म्या ममानघ ।
जन्मानि चरितैः सार्धं स्तोत्रैर्वैभववादिभिः ॥ ४९ ॥
कथितानि पुरा शक्र वसिष्ठेन महात्मना ।
स्वारोचिषेऽन्तरे राज्ञे सुरथाय महात्मने ॥ ५० ॥
समाधये च वैश्याय प्रणतायावसीदते ।
भक्तिश्रद्धावता नित्यं वसिष्ठेन कृतेति मे ॥ ५१ ॥
हृदि स्थिता सदा सेयं जन्मकर्मावलिस्तुतिः ।

हे निष्पाप देवेन्द्र ! इस प्रकार महालक्ष्मी के अवतार वाली मुझ देवी के चरित्र, स्तोत्र एवं ऐश्वर्य सहित चरित्रों का वर्णन पूर्वकाल में महात्मा वशिष्ठ ने स्वारोचिष मन्वन्तर में महात्मा सुरथ राजा से तथा महादुःखी एवं प्रणत समाधि नामक वैश्य से भी कहा था । यतः भक्ति एवं श्रद्धा से परिपूर्ण महावशिष्ठ ने यह चरित्र राजा और वैश्य दोनों को सुनाया था । इसलिये उनके द्वारा कहा गया मेरा जन्म एवं कर्मावली और स्तुति मेरे हृदय में सदा के लिये स्थित हो गई है ॥ -४९-५२- ॥

एतां द्विजमुखाच्छ्रुत्वा ह्यधीयानो नरः सदा ॥ ५२ ॥
विधूय निखिलां मायां सम्यग्ज्ञानं समश्नुते ।

---

१. 'यज्जप्त्वा वैश्यसुरथौ परां सिद्धिमवापतुः' अधिकोऽयं पाठः सप्तशती सर्वस्वे ।

सर्वां सम्पदमाप्नोति धुनोति सकलापदः ॥ ५३ ॥

मेरे इन समस्त (तीनों) चरित्रों को ब्राह्मण के मुख से सुनकर तथा अध्ययन कर मनुष्य अपने सम्पूर्ण पापों को विनष्ट कर सभी प्रकार की सम्पत्ति को प्राप्त कर लेता है और अपनी समस्त आपदाओं को नष्ट कर देता है ॥ -५२-५३ ॥

विमर्शिनी—मार्कण्डेयपुराण के दुर्गासप्तशती में देवी के तीन चरित्र कहे गए हैं।

इदं चोपाख्यानं मार्कण्डेयपुराणे देवीमाहात्म्ये प्रथमाध्याये दृश्यते ॥ ५० ॥

मम प्रभावात् सौभाग्यं कीर्तिं चैव समश्नुते ।
केवला अपि यद्येते मदीया विष्णुना विना ॥ ५४ ॥

इतना ही नहीं ब्राह्मण के मुख से मेरे चरित्र को सुनने वाला तथा मेरे चरित्र का निरन्तर अध्ययन करने वाला साधक मेरे प्रभाव से सौभाग्य तथा कीर्त्ति प्राप्त करता है । यद्यपि मेरे ये सभी अवतार (विष्णु के बिना) मात्र अकेले ही हुये हैं ॥ ५४ ॥

न मेऽस्ति संभवः सोऽयमहंभूतः स्थितोऽत्र तु ।
अन्योन्येनाविनाभावादन्योन्येन समन्वयात् ॥ ५५ ॥

ऐसे मैं स्वयं जन्म नहीं लेती हूँ । मैं विष्णु के साथ यहीं उनकी अहन्ता बनकर स्थित रहती हूँ । हम दोनों का परस्पर समन्वय (नित्य सम्बन्ध) रहता है इसलिये परस्पर अविनाभाव है (उनके बिना मैं नहीं और मेरे बिना वे नहीं) ॥ ५५ ॥

मय्ययं देवदेवेशस्तत्राहं च सनातनी ।
इत्येते लेशतः शक्र दर्शिताः सप्रकारकाः ॥ ५६ ॥

ये देव देवेश मुझ में और मैं सनातनी उनमें सर्वदा निवास करती हूँ । हे इन्द्र ! मैंने केवल अंशावतार का चरित्र संक्षेप में इस प्रकार से प्रदर्शित किया है ॥ ५६ ॥

अवतारा मदीयास्ते संभूताः कोशपञ्चके ।
शुद्धे कोशे समुद्भूता भवद्भावात्मकाः परे ॥ ५७ ॥

ये मेरे सभी अवतार कोशपञ्चक में हुये हैं । अन्य भवद्-भावात्मक अवतार शुद्ध कोश में भी हुये हैं ॥ ५७ ॥

तत्राप्येषा स्थितिर्ज्ञेया विष्णोर्मम सह स्थितिः ।
एवंप्रकारां मां ज्ञात्वा प्रत्यक्षां सर्वसंमताम् ॥ ५८ ॥
उपायैर्विविधैः शश्वदुपास्य बहुधात्मिकाम् ।
क्लेशकर्माशयातीतो मद्भावं प्रतिपद्यते ॥ ५९ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे केवलावतारप्रकाशो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

वहाँ पर भी मेरी और विष्णु की साथ-साथ स्थिति रहती है । इस प्रकार से सर्व सम्मत रूप से प्रत्यक्ष हुई एवं अनेक रूप धारण करने वाली मुझे जानकर जो साधक अनेक उपायों से निरन्तर मेरी उपासना करता है वह क्लेश कर्म के आशय से छुटकारा पाकर मेरे स्वरूप को प्राप्त करता है ॥५८-५९॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के केवलावतारप्रकाश नामक नौवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

परव्यूहप्रकाशः

परस्वरूपनिरूपणम्

क्षीरोदमथनायासफलरूपे मधुद्विषः ।
नमश्चन्द्रसहोदर्यै नमस्तेऽमृतयोनये ॥ १ ॥

इन्द्र ने कहा—भगवान् विष्णु के समुद्र मन्थन के आयास के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली, अमृत कारणस्वरूपिणी एवं चन्द्रमा की सहोदरी बहन आप लक्ष्मी को नमस्कार है ॥ १ ॥

भावोत्तराः प्रकारास्ते श्रुतास्त्वद्वक्त्रपङ्कजात् ।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि प्रकारान् भवदुत्तरान् ॥ २ ॥

हे भगवति ! आपके कमल सदृश मनोहर मुख से भावोत्तर प्रकारों को मैंने सुना । अब मैं भवदुत्तर में होने वाले प्रकारों को सुनना चाहता हूँ ॥ २ ॥

वैष्णवा अवतारास्ते किंरूपाः कति वाम्बुजे ।
एतत्पृष्टा मया ब्रूहि नमस्ते पङ्कजासने ॥ ३ ॥

हे महालक्ष्मि ! आपके कितने वैष्णव अवतार हैं ? और उनका स्वरूप क्या है ? हे कमल पर विराजने वाली भगवति ! आपको नमस्कार है । मेरे द्वारा इन बातों के पूछे जाने पर उनका उत्तर दो ॥ ३ ॥

श्रीः—

हन्त ते शक्र वक्ष्यामि प्रकारान् भवदुत्तरान् ।
वैष्णवा अवतारास्ते यावन्तो यद्विधाश्च ते ॥ ४ ॥

श्री ने कहा—हे इन्द्र ! जितने वैष्णव अवतार हैं और वे जिस प्रकार से होते हैं तथा उनके जितने प्रकार हैं, उन भवदुत्तर प्रकारों को मैं कहती हूँ ।

आप सुनिए ॥ ४ ॥

षाड्गुण्यममलं ब्रह्म निर्दोषमजरं ध्रुवम् ।
सर्वशक्ति निरातङ्कं निरालम्बनभावनम् ॥ ५ ॥
तदुन्मिषति वै पूर्वं शक्तिमच्छक्तिभावतः ।
नारायणः परो देवः संस्थितः शक्तिमत्तया ॥ ६ ॥

जो ब्रह्मज्ञानादि षड्गुणों से युक्त, सर्वथा स्वच्छ, निर्दोष, जरारहित ॐकार स्वरूप, सम्पूर्णशक्तियों वाला, आतङ्करहित तथा आश्रयरहित है, वह पूर्वकाल में शक्तिमान् होकर अपनी शक्ति से उन्मेष करता है । शक्तिमान होने से उसे नारायण और परदेवता भी कहा जाता है ॥ ५-६ ॥

स्थिरा शक्तिरहं तस्य सर्वकार्यकरी विभोः ।
तावावां जगतोऽर्थाय बहुधा विक्रियावहे ॥ ७ ॥

मैं उस सर्वव्यापक परमात्मा की सम्पूर्ण कार्य सम्पादन करने वाली स्थिर शक्ति हूँ । वहीं हम दोनों (शक्तिमान् तथा शक्ति स्वरूप) जगत् के कल्याण के लिये या विकार को प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

यथाहमास्थिता भेदैस्तथा ते कथितं पुरा ।
विकारानविकारस्य विष्णोः शृणु मयोदितान् ॥ ८ ॥

जिस प्रकार मैं विकृत होकर महालक्ष्मी, महाकाली और महासरस्वती के भेदों को प्राप्त होती हूँ, वह सब पूर्वाध्याय में कह आई हूँ । अब उन अविकारी विष्णु के विकार रूप अवतारों को सुनिए ॥ ८ ॥

अप्राकृताननौपम्यानचिन्त्यमहिमोज्ज्वलान् ।
स्वां शक्तिं मामधिष्ठाय प्रकृतिं परमाद्भुताम् ॥ ९ ॥
त्रैरूप्येण जगन्नाथः समुदेति जगद्धिते ।
आद्येन पररूपेण व्यूहरूपेण चाप्यथ ॥ १० ॥
तथा विभवरूपेण नानाभावमुपेयुषा ।
व्यापको भगवान् देवो भक्तानुग्रहकाम्यया ॥ ११ ॥
अनौपम्यमनिर्देश्यं वपुः स भजते परम् ।
विश्वाप्यायनकं कान्त्या पूर्णेन्द्वयुततुल्यया ॥ १२ ॥

वे अवतार अप्राकृतिक, उपमारहित, अचिन्त्य महिमा वाले और सर्वथा उज्ज्वल हैं । जब संसार के कल्याणार्थ वे परब्रह्म परमात्मा अत्यन्त अद्भुत प्रकृति स्वरूपा मुझ शक्ति का आश्रय लेकर विकृत होते हैं, तब वे जगन्नाथ तीन रूपों से विकृत होकर अवतरित होते हैं । पहला रूप पररूप, दूसरा

व्यूहरूप और तीसरा विभव रूप है । इस प्रकार व्यापक भगवान् भक्तों पर अनुग्रह की इच्छा से अनेक प्रकार के भावों (शरीरों) से उपमारहित, अनिर्देश्य एवं सर्वोत्कृष्ट रूप धारण करते हैं । उनका उस समय का वह रूप विश्व को आप्यायित करने वाला तथा कान्ति में पूर्णचन्द्र के समान होता है ॥ ९-१२॥

वरदाभयहस्तं च द्विभुजं पद्मलोचनम् ।
रेखामयेन चक्रेण शङ्खेन च करद्वये ॥ १३ ॥
अङ्कितं निर्विकाराङ्घ्रिस्थितं परमशोभनम् ।
अन्यूनानतिरिक्तैः स्वैर्गुणैः षड्भिरलंकृतम् ॥ १४ ॥

वैष्णवी स्वरूपा प्रथम परामूर्ति—पहली परावस्था में अवतरित होने के समय वे अपनी दो भुजाओं में वरद और भयमुद्रा धारण करते हैं । शेष दो हाथों में चक्र और शङ्ख लिये रहते हैं । उनके नेत्र कमल के समान सुन्दर एवं चरण सर्वथा दोषरहित और अत्यन्त शोभित होकर स्थित रहते हैं । इतना ही नहीं, वे अपने छहों ज्ञानादि गुणों से समान रूप से अलंकृत भी रहते हैं ॥ १३-१४ ॥

समं समविभक्ताङ्गं सर्वावयवसुन्दरम् ।
पूर्णमाभरणैः शुभ्रैः सुधाकल्लोलसंकुलैः ॥ १५ ॥
रश्मिभूतैरमूर्तैः स्वैरच्युताद्यैरविच्युतम् ।
एका मूर्तिरियं दिव्या पराख्या वैष्णवी परा ॥ १६ ॥

सभी प्राणियों में समान दृष्टि वाली, शरीर के सभी अवयवों के समान रूप से प्रविभक्त होने के कारण वे सभी अवयवों से सुन्दर तथा अमृत के लहरों के समान शुभ्र आभूषण समूहों से विराजित होते हैं । उन आभूषणों की प्रभा से वे जगमगाते रहते हैं । हे इन्द्र ! यह उन परमात्मा की परा नाम वाली दिव्या वैष्णवी मूर्ति प्रथम भेद वाली है ॥ १५-१६ ॥

योगसिद्धा भजन्त्येनां हृदि तुर्यपदाश्रिताम् ।
अथ व्यूहस्वरूपं ते द्वितीयं वर्णयाम्यहम् ॥ १७ ॥

योगसिद्ध महर्षिजन सर्वथा तुरीयावस्था में रहने वाली उनकी इस मूर्ति का हृदय में ध्यान करते हैं । अब उनकी व्यूह स्वरूपा दूसरी मूर्ति का वर्णन मैं आपसे करती हूँ ॥ १७ ॥

सुषुप्तिस्थानस्वरूपनिरूपणम्

व्यूह्यात्मानं चतुर्धा स्वं देवः प्रागादिभेदतः ।
वासुदेवादिभेदेन सौषुप्ताध्वनि तिष्ठति ॥ १८ ॥

व्यूहस्वरूपा द्वितीय मूर्ति—वे देवाधिदेव पूर्वादिक्रम में दिशाओं में अपने शरीर को चार भागों में विभक्त कर वासुदेवादि भेदों से सुषुप्तावस्था में निवास करते हैं ॥ १८ ॥

संस्थानमादिमूर्तेर्वै सर्वेषां तु समं स्मृतम् ।
षड्गुणं प्रथमं रूपं द्वन्द्वैर्ज्ञानादिसंभवैः ॥ १९ ॥

उन आदिमूर्ति के चारों भागों का संस्थान समान रूप से ही कहा गया है । ज्ञानादिगुणों को दो-दो भागों में विभक्त कर इस प्रकार स्थित छह गुणों वाला उनका प्रथम रूप कहा गया है ॥ १९ ॥

इतराणि स्वरूपाणि कथितानि मया पुरा ।
वह्न्यर्केन्दुसहस्राभमानन्दास्पन्दलक्षणम् ॥ २० ॥
बीजं सर्वक्रियाणां तद्विकल्पानां तदास्पदम् ।
सौषुप्तं चातुरात्म्यं तत्प्रथमं विद्धि वासव ॥ २१ ॥

इसके पहले उनके इतर (बलभद्र, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) तीनों स्वरूपों को कहा गया है । हे वासव ! यह वासुदेव स्वरूप सहस्रों अग्नि, सहस्रों सूर्य और सहस्रों चन्द्रमा के समान देदीप्यमान है । वह सभी क्रियाओं का बीज है उन-उन विकल्पों का वह आस्पद है । इस प्रकार उसकी वह प्रथम सुषुप्तावस्था चार प्रकार की समझनी चाहिये । हे इन्द्र ! ऐसा समझो ॥ २०-२१ ॥

स्वप्नस्थानस्वरूपनिरूपणम्

अथ स्वाप्ने पदेऽप्येवं विभज्यात्मानमात्मना ।
देवः प्रागादिभेदेन वासुदेवादिरूपतः ॥ २२ ॥
समासव्यासभेदेन गुणानां पुरुषोत्तमः ।
सितरक्तसुवर्णाभ्रसदृशैः परमाद्भुतैः ॥ २३ ॥
आदिमूर्तिसमै रूपैश्चतुर्धा व्यवतिष्ठते ।
कैवल्यभोगफलदं भवबीजक्षयङ्करम् ॥ २४ ॥

तदनन्तर स्वप्नावस्था में भी वह पुरुषोत्तम देव वासुदेवादि रूपों द्वारा अपनी आत्मा का स्वयं विभागकर पूर्वादि दिशाओं के भेद से गुणों के समास (संक्षिप्त) व्यास (विस्तृत) भेद से श्वेत, रक्त, सुवर्ण तथा काले बादल के समान आश्चर्यमय, पूर्व रूप में कहे गए रूपों से चार भागों में विभक्त कर स्थित रहते हैं । वह परमात्मा संसार के बीजों को नष्ट करने वाले हैं और कैवल्य (मोक्ष) रूप एवं भोग रूप फल वाले हैं ॥ २२-२४ ॥

चातुरात्म्यं द्वितीयं तत् सुधासंदोहसुन्दरम् ।

जाग्रत्स्थानस्वरूपनिरूपणम्

अथ जाग्रत्पदे देवः सितरक्तादिभेदतः ॥ २५ ॥
चतुर्भुजैरुदाराङ्गैः शङ्खचक्रादिचिह्नितैः ।
नानाध्वजविचित्राङ्गैर्वासुदेवादिसंज्ञितैः ॥ २६ ॥
व्यूहैः स्वं प्रविभज्यास्ते विभुर्नाम स्वलीलया ।

यह द्वितीय चातूरात्म्य रूप सुधा समूह के समान अत्यन्त मनोहर है । इसके बाद वह देवाधिदेव जागृत अवस्था में श्वेत रक्तादि भेदों से चार भुजाओं से, मनोहर अङ्गों से, शङ्ख, चक्रादि चिन्हों से, अनेक प्रकार की ध्वजाओं से तथा विचित्र रूप से शोभित होने वाले अपने अङ्गों से, वासुदेवादि संज्ञक व्यूहों से अपने को प्रविभक्त कर अपनी लीला से विभु नाम से स्थित रहते हैं ॥ २५-२७- ॥

परस्वरूपनिरूपणम्

तत्राद्यं भगवद्रूपं हिमकुन्देन्दुकान्तिमत् ॥ २७ ॥
चतुर्भुजं सौम्यवक्त्रं पुण्डरीकनिभेक्षणम् ।
पीतकौशेयवसनं सुपर्णध्वजभूषितम् ॥ २८ ॥
मुख्यदक्षिणहस्तेन भीतानामभयप्रदम् ।
तथाविधेन वामेन दधानं शङ्खमुत्तमम् ॥ २९ ॥
अपरेण दधानं च दक्षिणेन सुदर्शनम् ।
वामेन च गदां गुर्वीं निषण्णां वसुधातले ॥ ३० ॥
संचिन्तयेत् पुरो भागे वासुदेवमितीदृशम् ।

वासुदेव का ध्यान—उसमें प्रथम भगवद् रूप हिम कुन्द तथा चन्द्रमा के समान कान्तिमान् है । वह भगवद्रूप चार भुजाओं, मनोहर मुखों, कमल के समान नेत्रों वाला, पीताम्बर धारण किये हुये गरुड़ के ध्वजा से भूषित हैं, जो अपने ऊपर की दाहिनी भुजा से अभयमुद्रा, बाई ओर की भुजा में उत्तम शङ्ख और नीचे की ओर की दाहिनी भुजा में सुदर्शनचक्र, बायीं ओर की भुजा में पृथ्वी तक लटकती हुई महती गदा से युक्त हैं । इस प्रकार के भगवान् वासुदेव के स्वरूप को अपने पुरोभाग में ध्यान करना चाहिए ॥ -२७-३१- ॥

सुषुप्तिस्थानस्वरूपनिरूपणम्

सिन्दूरशिखराकारं सौम्यवक्त्रं चतुर्भुजम् ॥ ३१ ॥

अतसीपुष्पसङ्काशवसनं ताललाञ्छितम् ।
मुख्येन पाणियुग्मेन तुल्यमाद्यस्य वै विभोः ॥ ३२ ॥
सीरं तच्चक्रहस्तेऽस्य मुसलं तु गदाकरे ।
दक्षिणे चिन्तयेद्भागे सङ्कर्षणमितीदृशम् ॥ ३३ ॥

सङ्कर्षण का ध्यान—सिन्दूर शिखर के समान आकार वाले, मनोहरमुख, चार भुजाओं से युक्त, अतसी पुष्प के समान नील वस्त्र धारण किये, ताल के चिन्हों वाले, अपनी ऊपर की दाहिनी भुजा में हल, बाई ओर चक्र, नीचे की दाहिनी भुजा में मुसल और बाई भुजा में गदा धारण किये हुये—इस प्रकार के सङ्कर्षण के स्वरूप का दाहिनी ओर ध्यान करे ॥ -३१-३३ ॥

स्वप्नस्थानस्वरूपनिरूपणम्

प्रावृण्निशासमुदितखद्योतनिचयप्रभम् ।
रक्तकौशेयवसनं मकरध्वजशोभितम् ॥ ३४ ॥
सौम्यवक्त्रं चतुर्बाहुं तृतीयं परमेश्वरम् ।
मुख्यहस्तद्वयं चास्य प्राग्वत्तुल्यं महामते ॥ ३५ ॥
वामेऽपरस्मिन् शार्ङ्गं च दक्षिणे बाणपञ्चकम् ।
अपरे चिन्तयेद्भागे प्रद्युम्नमिति कीर्तितम् ॥ ३६ ॥

प्रद्युम्न का ध्यान—वर्षा की रात में दिखलाई पड़ने वाले खद्योत (जुगूनू) के समूहों की कान्ति के समान, रक्त रेशमी वस्त्र धारण किये, मकर की ध्वजा से शोभित, प्रसन्न मुख वाले, चार बाहुओं से युक्त, तृतीय अपने दो हाथों में पूर्व के समान तथा अन्य बायें हाथ में धनुष तथ दाहिने हाथ में पाँच बाण लिये हुये तृतीय परमेश्वर स्वरूप प्रद्युम्न नाम से विख्यात भगवान् का पश्चिम दिशा में ध्यान करे ॥ ३४-३६ ॥

अञ्जनाद्रिप्रतीकाशं सुपीताम्बरवेष्टितम् ।
चतुर्भुजं विशालाक्षं मृगलाञ्छनभूषितम् ॥ ३७ ॥
आदिवत् पाणियुगलमाद्यमस्य विचिन्तयेत् ।
दक्षिणादिक्रमेणाथ द्वाभ्यां वै खड्गखेटकौ ॥ ३८ ॥
दधानमनिरुद्धं तु सौम्यभागे विचिन्तयेत् ।

अनिरुद्ध का ध्यान—काले पहाड़ के समान सुशोभित, मनोहर पीताम्बर से वेष्टित, चार भुजाओं वाले, विशाल नेत्रों से युक्त, मृग लाञ्छन से विभूषित, अपने दो हाथों को पूर्ववत् किये हुए तथा अन्य दक्षिण, वाम हाथों में खड्ग और ढाल धारण किये अनिरुद्ध का उत्तर दिशा में ध्यान करना

चाहिये ॥ ३७-३९- ॥

वनमालाधराः सर्वे श्रीवत्सकृतलक्षणाः ॥ ३९ ॥
शोभिताः कौस्तुभेनैव रत्नराजेन वक्षसि ।
जाग्रत्पदे स्थितं देवं चातुरात्म्यमनुत्तमम् ॥ ४० ॥
स्थित्युत्पत्तिप्रलयकृत्सर्वोपकरणान्वितम् ।
दिव्यं तच्चिन्तयेद्यस्य विश्वं तिष्ठति शासने ॥ ४१ ॥

ये सभी भगवत् स्वरूप बनमाला धारण किये हुये, श्री वत्स नामक चिन्ह से विभूषित वक्षःस्थल पर रत्नराज कौस्तुभ मणि की माला धारण किये, जाग्रत्पद में संस्थित उत्तम चार भेदों वाले देव हैं; ये सभी स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय के करने वाले उपकरणों से युक्त हैं । जिनके शासन में यह सारा विश्व स्थित है, इस प्रकार उनके दिव्य रूप का ध्यान करना चाहिये ॥ -३९-४१ ॥

त्रिविधं चातुरात्म्यं तु सुषुप्त्यादिपदत्रिके ।
सुव्यक्तं तत्पदे तुर्ये गुणलक्ष्यं परं स्थितम् ॥ ४२ ॥
ज्ञानक्रियादिभिर्विष्णोर्लोकाननुसिसृक्षतः ।
व्यूहसंज्ञमिदं रूपं द्वितीयं कथितं मया ॥ ४३ ॥

सुषुप्ति, स्वप्न एवं जाग्रत् इन तीनों पदों में चातुरात्म्य तीन प्रकार का होता है । परव्यूह गुण लक्ष्य है जो तुर्यावस्था में सुव्यक्त होता है । ज्ञान, क्रियादि की सहायता से लोकों की सृष्टि करने वाले भगवान् विष्णु का यह व्यूह संज्ञा वाला द्वितीय रूप मैंने कहा ॥ ४२-४३ ॥

तृतीयं विभवाख्यं तु विश्वमन्दिरमध्यगम् ।
नानाकारक्रियाकर्तृ रूपं विष्णोर्निशामय ॥ ४४ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे परव्यूहप्रकाशो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

विश्वरूपी मन्दिर के मध्य में रहने वाला विभव नामक तीसरा रूप जो नाना प्रकार की क्रियाओं का कर्ता है, अब हे इन्द्र ! सुनिए ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के परव्यूहप्रकाश नामक दसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

विभवप्रकाशः

परव्यूहस्वरूपानुवादः

श्रीः—

निर्दोषो निरधिष्ठेयो निरवद्यः सनातनः ।
विष्णुर्नारायणः श्रीमान् परमात्मा सनातनः ॥ १ ॥

श्री ने कहा—दोषरहित, किसी अधिष्ठान में न रहने वाले, सर्वथा अनवद्य, सनातन, श्रीमान् सनातन, परमात्मा विष्णु नारायण हैं ॥ १ ॥

षाड्गुण्यविग्रहो नित्यं परं ब्रह्माक्षरं परम् ।
तस्य मां परमां शक्तिं नित्यं तद्धर्मधर्मिणीम् ॥ २ ॥
सर्वभावानुगां विद्धि निर्दोषामनपायिनीम् ।
सर्वकार्यकरी साहं विष्णोरव्ययरूपिणः ॥ ३ ॥

हे इन्द्र ! वे ही ज्ञानादि षड्गुणों से युक्त विग्रहवान् नित्य परब्रह्माक्षर हैं, तद्धर्मधर्मिणी उनकी नित्य परमा शक्ति मैं सब प्रकार से उनके भाव के अनुसार चलती हूँ । अत: मैं ही उन विकार रहित महाविष्णु के सभी कार्यों को करने वाली (दासी) हूँ ॥ २-३ ॥

विमर्शिनी—ब्रह्माक्षरशब्दयो: प्रकृतिजीवयोरपि प्रयोगात् तद्व्युदासाय परमिति विशेषणम् ॥ २ ॥

शुद्धाशुद्धमयैर्भावैर्विततत्यात्मानमात्मना ।
परव्यूहादिसंभेदं व्यूहयन्ती हरेः सदा ॥ ४ ॥

इस शुद्धाशुद्धमयी भावों से मैं अपने को जगत् में विस्तृत करती हुई भगवान् को परव्यूह एवं विभवादि भेदों से व्यूहित करती हूँ ॥ ४ ॥

शुद्धषाड्गुण्यमादाय कल्पयन्ती तथा तथा ।
तेन नानाविधं रूपं व्यूहाद्युचितमञ्जसा ॥ ५ ॥

मैं ज्ञानादि षाड्गुण्य को लेकर जैसे-तैसे व्यूहों की कल्पना कर व्यूहादि के उचित एवं उनके नानाविधरूपों का निर्माण करती हूँ ॥ ५ ॥

उन्मेषयामि देवस्य प्रकारं भवदुत्तरम् ।
व्यापारस्तस्य देवस्य साहमस्मि न संशयः ॥ ६ ॥
मया कृतं हि यत् कर्म तेन तत् कृतमुच्यते ।
अहं हि तस्य देवस्य स्मृता व्याप्रियमाणता ॥ ७ ॥

इस प्रकार उन देव के भवदुत्तर प्रकार का उन्मेष (= विकास) करती हूँ। अतः मैं उन देव का व्यापार हूँ, इसमें संशय नहीं । मैं जो भी कर्म करती हूँ, वह उन्हीं का किया हुआ माना जाता है, अतः मैं ही उन देवाधिदेव की व्याप्रियमाणता (= संलग्नता) कही जाती हूँ ॥ ६-७ ॥

इति शक्र परं रूपं व्यूहरूपं च दर्शितम् ।
तृतीयं विभवाख्यं तु रूपमद्य निशामय ॥ ८ ॥

इस प्रकार, हे इन्द्र ! मैंने पररूप और स्थूल रूप दोनों ही प्रदर्शित किया । अब इसके बाद अभी 'विभव' नामक तीसरे रूप को सुनिए ॥ ८ ॥

तुर्यादिजाग्रदन्तं यत् प्रोक्तं पदचतुष्टयम् ।
वासुदेवादिना व्याप्तमनिरुद्धान्तिमेन तु ॥ ९ ॥

विभव रूप तृतीय मूर्ति—तुरीयावस्था से लेकर जाग्रत् अवस्था पर्यन्त जो चार पद कहे गए हैं, वे सभी वासुदेव से लेकर अनिरुद्धपर्यन्त व्यूहों से व्याप्त होते हैं ॥ ९ ॥

तत्र तत्र पदे चैव चातुरात्म्यं तथा तथा ।
अव्यक्तव्यक्तरूपैः स्वैरुदितं ते यथोदितम् ॥ १० ॥

उन-उन पदों में वह चातुरात्म्य जैसे अपने अव्यक्त एवं व्यक्त रूपों से पूर्व में कहा गया है उसी-उसी प्रकार से वह उत्पन्न होता है ॥ १० ॥

विशाखयूपनिरूपणम्

व्यूहाद् व्यूहसमुत्पत्तौ पदाद्यावत्पदान्तरम् ।
अन्तरं सकलं देशं सम्पूरयति तेजसा ॥ ११ ॥

एक व्यूह से अन्य व्यूह की उत्पत्ति में, एक पद से दूसरे पद तक,

जो अन्तर होता है वहीं अन्तर बीच के सारे देश को अपने तेज से परिपूर्ण करता है ॥ ११ ॥

पूजितस्तेजसां राशिरव्यक्तो मूर्तिवर्जितः ।
विशाखयूप इत्युक्तस्तत्तज्ज्ञानादिबृंहितः ॥ १२ ॥

वह श्रेष्ठ तेजोराशि अव्यक्त एवं मूर्तिवर्जित है उसे 'विशाखयूप' कहा जाता है जो तद्-तद् ज्ञानादि से बढ़ता रहता है ॥ १२ ॥

विमर्शिनी—विशाखयूपः = नामाप्राकृते दिव्यलोके भ्राजमानो ज्योतिर्मयः स्तम्भाकारो भगवद्रूपविशेषः । तत्राधोभागमारभ्य ऊर्ध्वभागपर्यन्तं चत्वारि पर्वाणि क्रमेणानिरुद्ध प्रद्युम्नसङ्कर्षणवासुदेवाधिष्ठितानि स्पष्टतरस्पष्टकिंचित्स्पष्टास्पष्टशङ्ख-चक्रादिलक्ष्माणि । प्रतिपर्व प्रागादिक्रमेण चतुर्ष्वपि पार्श्वेषु क्रमेण वासुदेवादयो व्यूहा भ्राजन्ते । एवं विभागश्च योगिनां ध्यानालम्बनार्थं भगवतैव कल्पितः । अस्य च विस्तरः सात्त्वतसंहितायां द्रष्टव्यः ।

अप्राकृत दिव्यलोक में विराजमान 'भगवद्रूप' ज्योर्तिमय स्तम्भ के आकार का स्वरूपविशेष 'विशाखयूप' नाम से कहा जाता है । उसमें नीचे से लेकर ऊपर तक क्रमशः अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, सङ्कर्षण, वासुदेव नामक चार पर्व हैं जो स्पष्टतर, स्पष्ट, किञ्चित स्पष्ट और सर्वथा अस्पष्ट हैं । शङ्ख, चक्रादि, लाञ्छन युक्त उन प्रत्येक पर्व के पूर्वादि चारों दिशाओं में क्रमशः इन वासुदेवादि चारों व्यूहों की स्थिति रहती हैं । यह विभाग योगियों के ध्यानालम्बन के लिये भगवान् स्वयं करते हैं, इसका विस्तार सात्वतसंहिता में देखना चाहिए ।

तस्मिंस्तस्मिन् पदे तस्मान्मूर्तिशाखाचतुष्टयम् ।
वासुदेवादिकं शक्र प्रादुर्भवति वै क्रमात् ॥ १३ ॥

हे शक्र ! उस ज्योतिर्मय विशाखयूप के उन-उन पदो (पर्वो) में उस विशाखयूप से चार मूर्ति वाली वासुदेवादि संज्ञक चार शाखायें क्रमशः निकलती हैं ॥ १३ ॥

एवं स्वप्नपदाज्जाग्रत्पदव्यूहविभावने ।
स्वप्नात्पदाज्जाग्रदन्ते तैजसः पूज्यते महान् ॥ १४ ॥

इस प्रकार स्वप्नपद से जाग्रत्पद तक व्यूह के ध्यान करने में स्वप्नपद से लेकर जाग्रत्पद के अन्त तक वह तैजस महान् विशाखयूप पूजित होता है ॥ १४ ॥

विशाखयूपो भगवान् स देवस्तेजसां निधिः ।
तुर्याद्ये स्वप्नपर्यन्ते चातुरात्म्यत्रिके हि यत् ॥ १५ ॥

यह विशाखयूप के रूप में संस्थित भगवान् तेजों के निधि है । वह भगवान् तुरीयावस्था के आदि से लेकर स्वप्न पर्यन्त पद चतुरात्मा रूप त्रिक में निवास करते हैं ॥ १५ ॥

तत्तदैश्वर्यसम्पन्ने षाड्गुण्यं सुव्यवस्थितम् ।
तदादायाखिलं दिव्यं शुद्धसंवित्पुरःसरम् ॥ १६ ॥
विभजन्नात्मनात्मानं वासुदेवादिरूपतः ।
पुनर्विभववेलायां विना मूर्तिचतुष्टयम् ॥ १७ ॥
विशाखयूप एवैष विभवान् भावयत्युत ।
ते देवा विभवात्मानः पद्मनाभादयो मताः ॥ १८ ॥

यतः उन-उन ऐश्वर्य सम्पन्न में षाड्गुण्य सुव्यवस्थित रहता है । अतः वह विशाखयूप शुद्धसंवित् सहित सम्पूर्ण षाड्गुण्य को लेकर स्वयं अपने को वासुदेवादि रूप में विभक्त करता है, फिर विभव व्यूह का काल उपस्थित होने पर वह उन मूर्तिचतुष्टय के बिना उन विभवों को उत्पन्न करता है । इस प्रकार उत्पन्न हुए वे ही देवगण विभवस्वरूप से पद्मनाभादि नाम से अभिहित होते हैं ॥ १६-१८ ॥

पद्मनाभादिविभवनामनिर्देशः

पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः शक्तीशो मधुसूदनः ।
विद्याधिदेवः कपिलो विश्वरूपो विहङ्गमः ॥ १९ ॥
क्रोडात्मा बडवावक्त्रो धर्मो वागीश्वरस्तथा ।
एकार्णवान्तःशायी च तथैव कमठाकृतिः ॥ २० ॥
वराहो नरसिंहश्चाप्यमृताहरणस्तथा ।
श्रीपतिर्दिव्यदेहोऽथ कान्तात्मामृतधारकः ॥ २१ ॥
राहुजित् कालनेमिघ्नः पारिजातहरस्तथा ।
लोकनाथस्तु शान्तात्मा दत्तात्रेयो महाप्रभुः ॥ २२ ॥
न्यग्रोधशायी भगवानेकशृङ्गतनुस्तथा ।
देवो वामनदेहस्तु सर्वव्यापी त्रिविक्रमः ॥ २३ ॥
नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णस्तथैव च ।
ज्वलत्परशुभृद्रामो रामश्चान्यो धनुर्धरः ॥ २४ ॥
वेदविद्भगवान् कल्की पातालशयनः प्रभुः ।
त्रिंशच्चाष्टाविमे देवाः पद्मनाभादयो मताः ॥ २५ ॥

पद्मनाभ, ध्रुव, अनन्त, शक्तीश, मधुसूदन, विद्याधिदेव कपिल, विश्वरूप,

विहङ्गम, क्रोडात्मा, हयग्रीव (वडवावक्त्र), धर्म, वागीश्वर, एकार्णवान्तःशायी, कूर्म, वराह, नरसिंह, अमृताहरण, दिव्यदेहधारी, श्रीपति, कान्तात्मा, अमृतधारक, राहुजित्, कालनेमिनिहन्ता, पारिजातहारी, लोकनाथ, शान्तात्मा, महाप्रभु दत्तात्रेय, न्यग्रोधशायी, भगवान् एकशृङ्ग, देव वामनदेव, सर्वव्यापी त्रिविक्रम, नर नारायण, हरि, कृष्ण, तेजस्वी फरसा धारण करने वाले परशुराम, धनुर्धारी राम, वेदविद् भगवान् कल्की, प्रभु पातालशयन—ये ३८ संख्या वाले देवता पद्मनाभादि कहे जाते हैं ॥ १९-२५ ॥

विमर्शिनी—एत एव देवा व्यञ्जनाधिष्ठातृतया तत्तन्महिषीभिः सहात्रैव विंशाध्याये वक्ष्यन्ते ।

ये देव अपनी-अपनी पत्नियों के साथ मातृकावर्णों पर अधिष्ठित होकर निवास करते हैं—यह बीसवें अध्याय में कहा गया है ॥ १९ ॥

विभोर्विशाखयूपस्य तत्तत्कार्यवशादिमे ।
स्फूर्तयो विभवाः ख्याताः कार्यं चैषामसङ्करम् ॥ २६ ॥

सर्वव्यापक उन भगवान् विशाखयूप की कार्यसिद्धि के लिये जो स्फूर्ति होती है । उसे ही विभव कहा जाता है, इन सभी विभवों का कार्य साङ्कर्यरहित (पृथक्-पृथक्) होता है ॥ २६ ॥

विभवानां स्थानादि

शुद्धाशुद्धाध्वनोर्मध्ये पद्मनाभो व्यवस्थितः ।
ध्रुवादयोऽपरे देवा विवृता विश्वमन्दिरे ॥ २७ ॥

पद्मनाभ नामक विभव शुद्ध और अशुद्ध अध्वा के मध्य में रहता है, उनसे शेष ध्रुवादि देव विश्वमन्दिर में सर्वत्र फैले रहते हैं ॥ २७ ॥

रूपाण्यस्त्राणि चैतेषां शक्तयश्चापरा विधाः ।
सर्वं तत् सात्त्वते सिद्धं संज्ञामात्रं प्रदर्शितम् ॥ २८ ॥

इनके रूप अस्त्र और शक्तियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं । यह सब सात्वतशास्त्र में कहे गए हैं, हमने केवल नाममात्र यहाँ कहा है ॥ २८ ॥

शाखास्तु वासुदेवाद्या विभोर्देवस्य कीर्तिताः ।
विशाखयूपो भगवान् विततामिः करोति तत् ॥ २९ ॥

उन विभु विशाखयूप देव की वासुदेवादि शाखायें हैं । इसे हम पहले कह आये हैं । भगवान् विशाखयूप देव उन्हीं अपनी विस्तृत शाखाओं से तत्-तत् (= सृष्टि आदि) कार्य करते हैं ॥ २९ ॥

व्यूहान्तराणि

चतसृभ्योऽथ शाखाभ्यः केशवाद्यं त्रयं त्रयम् ।
दामोदरान्तमुद्भूतं तद् व्यूहान्तरमुच्यते ॥ ३० ॥

उन चार शाखाओं में प्रत्येक शाखा से केशवादि तीन-तीन संख्या में दामोदर पर्यन्त जो रूप उत्पन्न होते हैं, वे व्यूहान्तर नाम से कहे जाते हैं ॥ ३० ॥

ताभ्य एव हि शाखाभ्यः श्रियादीनां त्रयं त्रयम् ।
पूर्वत्रयानुरूपेण शक्तीनां च समुद्गतम् ॥ ३१ ॥

उन्हीं शाखाओं में प्रत्येक से श्री आदिक से लेकर तीन-तीन शक्तियाँ पूर्व में कहे गए व्यूहों के अनुसार निर्गत होती हैं ॥ ३१ ॥

परादिविभवान्तानां सर्वेषां देवतात्मनाम् ।
शुद्धषाड्गुण्यरूपाणि वपूंषि त्रिदशेश्वर ॥ ३२ ॥

हे त्रिदशेश्वर इन्द्र ! परादि व्यूहों से लेकर पद्मनाभादि विभवों का जो देवतात्मा है, उन सभी का षाड्गुण्यरूप शरीर है ॥ ३२ ॥

यावन्त्यस्त्राणि देवानां चक्रशङ्खादिकानि वै ।
भूषणानि विचित्राणि वासांसि विविधानि च ॥ ३३ ॥
ध्वजाश्च विविधाकाराः कान्तयश्च सितादिकाः ।
वाहनानि विचित्राणि सत्याद्यानि सुरेश्वर ॥ ३४ ॥
शक्तयो भोगदाश्चैव विविधाकारसंस्थिताः ।
आन्तःकरणिको वर्गस्तदीया वृत्तयोऽखिलाः ॥ ३५॥
यच्च यच्चोपकरणं सामान्यं पुरुषान्तरैः ।
षाड्गुण्यनिर्मितं विद्धि तत्सर्वं बलसूदन ॥ ३६ ॥

हे बलसूदन ! चक्रशङ्खादि जितने भी देवों के अस्त्र और भूषण हैं, विविध प्रकार के विविध वस्त्र, विविध आकार के ध्वज, श्वेत नील, पीतादि शरीर की कान्ति, विचित्र-विचित्र वाहन, भोग देने वाली अनेक प्रकार की शक्तियाँ, अन्तःकरण में रहने वाले वर्ग, उसमें रहने वाली विविध वृत्तियाँ, उनके अन्य पुरुषों के समान ही सामान्य तत्-तत् उपकरण—ये सभी षाड्गुण्यान्वित हैं, ऐसा समझो ॥ ३३-३६ ॥

शुद्धसंविन्मयी साहं षाड्गुण्यपरिपूरिता ।
तथा तथा भवाम्येषामिष्टं यद्धि यथा यथा ॥ ३७ ॥

शुद्ध संविन्मयी, षाड्गुण्यपरिपूरित मैं ही जैसा-जैसा इन विभवों को इष्ट होता है, मैं बिल्कुल वैसा-वैसा ही बन जाती हूँ ॥ ३७ ॥

न विना देवदेवेन स्थितिर्मम हि विद्यते ।
मया विना न देवस्य स्थितिर्विष्णोर्हि विद्यते ॥ ३८ ॥
तावावामेकतां प्राप्तौ द्विधा भूतौ च संस्थितौ ।
विधां भजावहे तां तां यद्यद्यत्र ह्यपेक्षितम् ॥ ३९ ॥

उन देवादिदेव के बिना मेरी स्थिति संभव नहीं है तथा मेरे बिना उन देवाधिदेव विष्णु की स्थिति भी संभव नहीं है । हम दोनों पूर्वावस्था में एक ही रहते हैं । पश्चात दो बनकर स्थित रहते हैं । जहाँ-जहाँ जिस प्रकार की अपेक्षा होती है, वहाँ-वहाँ हम लोग वैसा रूप धारण करते हैं ॥ ३८-३९ ॥

व्यूहाद्यवतारप्रयोजनम्

शक्रः—

सिन्धुकन्ये नमस्तुभ्यं नमस्ते सरसीरुहे ।
परव्यूहादिभेदेन किं प्रयोजनमीशितुः ॥ ४० ॥

इन्द्र ने कहा—हे कमले ! हे सिन्धुकन्ये ! आपको नमस्कार है । भगवान् का परव्यूहादि भेद से अवतरित होने का प्रयोजन क्या है ? ॥ ४०॥

श्रीः—

अनुग्रहाय जीवानां भक्तानामनुकम्पया ।
परव्यूहादिभेदेन देवदेवप्रवृत्तयः ॥ ४१ ॥

श्री ने कहा—हे इन्द्र ! जीवों पर दया करने के लिये तथा भक्तों पर अनुग्रह करने के लिय ही भगवान् की इस प्रकार की प्रवृत्ति होती है ॥ ४१॥

शक्रः—

देवदेवप्रिये देवि नमस्ते कमलोद्भवे।
अनुग्रहाय भक्तानामेकैवास्तु विधा हरेः ॥ ४२ ॥

इन्द्र ने कहा—हे देवदेवप्रिये ! हे कमलोद्भवे ! आपको नमस्कार है । भक्तों के ऊपर मात्र कृपा करने के लिये ही भगवान् का इस प्रकार का अवतार होता है, यह केवल एक ही प्रयोजन क्यों नही है ? ॥ ४२ ॥

श्रीः—

जीवानां विविधाः शक्र संचिताः पुण्यसञ्चयाः ।
संचिन्वन्ति न ते जीवास्तुल्यकालं कथञ्चन ॥ ४३ ॥

श्री ने कहा—हे इन्द्रदेव ! जीवों के नाना प्रकार के संचित पुण्य होते हैं । वे जीवगण उन अपने संचित कर्मों को एक कालावच्छेदेन किसी भी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकते ॥ ४३ ॥

कश्चिद्धि सुकृतोन्मेषात् कदाचित् पुरुषो नृषु ।
श्रीमता कमलाक्षेण जायमानो निरीक्ष्यते ॥ ४४ ॥
अन्यदा पुरुषोऽन्यश्चेत्येवं भिन्नाः शुभाशयाः ।
भेदोऽधिकारिणां पुण्यतारतम्येन जायते ॥ ४५ ॥

मनुष्यों में कोई ही जीव पुरुष रूप में उत्पन्न होने पर कदाचित् ही पुण्य के उन्मेष (= विकास) होने पर कमलेक्षण श्रीमान् भगवान् के द्वारा देखा जाता है । अन्यथा वही पुरुष भगवान् को अन्य ही समझने लगता है, क्योंकि उनके अन्तःकरण भिन्न-भिन्न होते हैं । अधिकारियों में भी इस प्रकार का भेद पुण्य के तारतम्य से उत्पन्न होता है ॥ ४४-४५ ॥

विवेकः कस्यचिन्मन्दो भगवत्तत्त्ववेदने ।
मध्यमस्तु परस्याथ दिव्योऽन्यस्य तु जायते ॥ ४६ ॥

भगवत्तत्त्व के ज्ञान के लिये किसी के पास विवेक का सर्वथा अभाव रहता है यही कारण है कि एक की बुद्धि मध्यम होती है तथा अन्य को भगवत्तत्त्व वेदन में दिव्य ज्ञान होता है ॥ ४६ ॥

ईशानुग्रहवैषम्यादेवं भेदे व्यवस्थिते ।
तत्तत्कार्यानुरोधेन परव्यूहादिभावना ॥ ४७ ॥

ईश्वर के अनुग्रह की विषमता के कारण ही इस प्रकार के भेद उपस्थित होने पर मुझ शक्ति में अधिष्ठित होकर देवाधिदेव विष्णु तत्-तत् कार्य के अनुरोध से परव्यूहादि भावना करते हैं ॥ ४७ ॥

क्रियते देवदेवेन शक्ति मामधितिष्ठता ।
संसिद्धयोगतत्त्वानामधिकारः परात्मनि ॥ ४८ ॥
व्यामिश्रयोगयुक्तानां मध्यानां व्यूहभावने ।
वैभवीयादिरूपेषु विवेकविधुरात्मनाम् ॥ ४९ ॥

क्योंकि जिन्हें योगतत्त्व का अधिकार सिद्ध हो गया है, उन्हीं का (प्रथम स्वरूप) परमात्मा में अधिकार होता है । मिश्रित योगयुक्त वाले मध्यम पुरुषों की व्यूह की भावना में अधिकार है और जिनमें विवेक का सर्वथा अभाव है उनकी विभवादि रूपों में भावना होती है ॥ ४८-४९ ॥

अहंताममतार्तानां भक्तानां परमेश्वरे ।
अधिकारस्य वैषम्यं भक्तानामनुदृश्य सः ॥ ५० ॥
भजते विविधं भावं परव्यूहादिशब्दितम् ।
इति ते लेशतः शक्र दर्शिता उभयात्मकाः ॥ ५१ ॥
भवद्भावोत्तरा व्यूहा मम नारायणस्य च ।

अहन्ता और ममता से सर्वथा व्याकुल भक्तों का परमेश्वर में अधिकार होता है । इस प्रकार भक्तों के अधिकार की विषमता देखकर वह परमात्मा नाना प्रकार के परव्यूहादि भावों (शरीरों) का आश्रय लेता है । हे इन्द्र ! इस प्रकार हमने लेशमात्र आपसे अपने और नारायण के भवदुत्तर तथा भावोत्तर इन उभयात्मक भावों का वर्णन किया ॥ ५०-५२- ॥

शुद्धे शुद्धेतरस्मिंश्च कोशवर्गे मदुद्भवे ॥ ५२ ॥
स्थितिर्नौ दर्शिता तेऽद्य पृथक् सह च केवला ।
एवंप्रकारां मां ज्ञात्वा प्रत्यक्षां सर्वसंमताम् ॥ ५३ ॥
उपायैर्विविधैर्शश्वदुपास्य विविधात्मिकाम् ।
क्लेशकर्माशयातीतो मद्भावं प्रतिपद्यते ॥ ५४ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे विभवप्रकाशो
नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

...

साथ ही मुझ से उत्पन्न इन शुद्ध और शुद्धेतर कोशवर्ग में अपने दोनों की स्थिति भी पृथक् रूप से तथा साथ-साथ रूप से और केवल रूप से भी प्रदर्शित की है । इस प्रकार सर्वसम्मत रूप से प्रत्यक्ष होने वाली और अनेक रूपों वाली मेरी नाना प्रकार के उपायों से उपासना कर साधक पुरुष क्लेश कर्म से मुक्त होकर मुझे प्राप्त कर लेता है ॥ -५२-५४ ॥

विमर्शिनी—क्लेश और कर्माशय बारहवें अध्याय में कहेंगे । क्लेश-कर्माशया अनन्तराध्याये वक्ष्यन्ते ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के विभवप्रकाश नामक ग्यारहवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ११ ॥

...

द्वादशोऽध्यायः

तिरोभावादिशक्तिप्रकाशः

जीवानां क्लेशकर्मविपाकाशयैरभिभवः

शक्रः—

चिच्छक्तिरेव ते शुद्धा यदि जीवः सनातनः।
क्लेशकर्माशयस्पर्शः कथमस्य सरोरुहे ॥ १ ॥

इन्द्र ने कहा—हे महादेवि ! यदि यह सनातन जीव आपकी चिच्छक्ति ही है । तब हे कमले ! तब इसका क्लेश कर्माशय से किस प्रकार स्पर्श होता है ॥ १ ॥

क्लेशाः के कति ते प्रोक्ताः कर्म कीदृक् च किंविधम्।
आशयो नाम को देवि तदेतत् किंफलं स्मृतम्॥

हे भगवति क्लेश क्या है ? उसके कितने भेद हैं ? वे कैसे और किस प्रकार से होते हैं । हे देवि ! यह आशय नामक पदार्थ क्या है ? और इसका फल क्या है ? ॥ २ ॥

सिन्धुकन्ये तदेतन्मे ब्रूहि तुभ्यं नमो नमः ।
सर्वज्ञे न त्वदन्येन वक्तुमेतद्धि शक्यते ॥ ३ ॥

हे सिन्धुकन्ये ! इन सभी बातों को मुझ से कहिये । आपको बारम्बार नमस्कार है । आप सर्वज्ञ हैं । आपको छोड़कर और कोई अन्य इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता ॥ ३ ॥

श्रीः—

अहं नारायणी देवी स्वच्छस्वच्छन्दचिन्मयी ।
स्वतन्त्रा निरवद्याहं विष्णोः श्रीरनपायिनी ॥ ४ ॥

श्री ने कहा—मैं नारायणी देवी स्वच्छा-स्वच्छन्द चिन्मयी स्वतन्त्र निरवद्या हूँ, विष्णु की श्री और उनसे कोश अनपायिनी कभी भी अलग नहीं रहने वाली हूँ ॥ ४ ॥

ईशेशितव्यभेदेन द्विधा रूपं मया कृतम् ।
ईशितव्यं च तद्भिन्नं स्वाच्छन्द्यादेव मे द्विधा ॥ ५ ॥

मैंने ही अपने रूप को ईश एवं ईशितव्य भेद से दो रूप में किया है । ईश और ईशितव्य दोनों ही मेरे भिन्न स्वरूप हैं जो मेरी स्वच्छन्दता से दो रूप वाले हैं ॥ ५ ॥

चिच्छक्तिरेका भोक्त्राख्या परा भोग्यादिरूपिणी ।
कालकाल्यविभेदेन सा द्विधा भेदिता मया ॥ ६ ॥
तत्र काल्यात्मिका शक्तिर्मोहिनी बन्धनी तथा ।
प्रकृतिः सविकारैषा चिच्छक्तिर्बध्यतेऽनया ॥ ७ ॥

पहली चिच्छक्ति भोक्ता स्वरूप वाली है, दूसरी अचिच्छक्ति भोग्य स्वरूपा है, काल और काल्य (काले भवः) भेद से मैंने ही ये दो भेद किये हैं । उसमें काल्यात्मिका-शक्ति मोह में तथा बन्धन में डालने वाली है । वह अचिच्छक्ति प्रकृति है, सविकारा है, यही जीव को बाँधती है अथवा जीव इसी से बाँधा जाता है ॥ ६-७ ॥

क्लिश्यते येन रूपेण चिच्छक्तिर्भोक्तृतां गता ।
स क्लेशः पञ्चधा ज्ञेयो नामान्यस्य च मे शृणु॥ ८ ॥

भोग को प्राप्त होने वाली जो चिच्छक्ति को जिस रूप के द्वारा क्लेश प्राप्त करती है वह क्लेश पाँच प्रकार का होता है । अब उन पाँच प्रकार के क्लेशों के नाम सुनिए ॥ ८ ॥

क्लेशभेदनिरूपणम्

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः ।
अविद्या पञ्चपर्वैषा तमसो गतिरुत्तमा ॥ ९ ॥

तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र ये उनकी संज्ञायें हैं। इसे ही पञ्चपर्व अविद्या कहते हैं, तमो गुण की यहीं सबसे श्रेष्ठ गति है ॥ ९ ॥

असङ्गिन्यपि चिच्छक्तिः शुद्धाप्यपरिणामिनी ।
आविद्धमात्मनो रूपं नैर्मल्येन बिभर्ति सा॥ १० ॥

चिच्छक्ति जो सर्वथा असंगिनी है, शुद्धा है, अपरिणामिनी है, किन्तु

अविद्या से ग्रस्त होने के कारण वह चित् सर्वदा संक्लेश प्राप्त करता है। यद्यपि वह सर्वदा निर्मल है ॥ १० ॥

देव्याः तिरोभावादिशक्तयः पञ्च

शक्रः—

व्याहतामिव पश्यामि चिच्छक्तेः क्लेशसङ्गिताम् ।
मुह्यतीव मनो मेऽद्य तं मोहं छिन्धि पद्मजे ॥ ११ ॥

इन्द्र ने कहा—हे पद्मजे ! चिच्छक्ति क्लेश से आक्रान्त हो मेरा मन मोहित हो रहा है—यह बात तो मुझे असत्य जैसी प्रतीत होती है। अतः मेरे इस संशय को दूर करें ॥ ११ ॥

श्रीः—

स्वतन्त्रा सर्वसिद्धीनां हेतुश्चात्र महाद्भुता ।
शक्तिर्नारायणस्याहं नित्या देवी सदोदिता ॥ १२ ॥

श्री ने कहा—सभी सिद्धियों की हेतुभूता, स्वतन्त्र, महाद्भुता, नित्या, नित्या मैं उन नारायण की महाशक्ति हूँ। यह बात सदैव कहती चली आ रही हूँ ॥ १२ ॥

तस्या मे पञ्च कर्माणि नित्यानि त्रिदशेश्वर ।
तिरोभावस्तथा सृष्टिः स्थितिः संहृतिरेव च ॥ १३ ॥

हे त्रिदशेश्वर ! इस प्रकार के गुण वाले मेरे नित्य के पञ्च कर्म हैं। १. तिरोभाव, २. सृष्टि, ३. स्थिति, ४. संहृति और ५. अनुग्रही—ये मेरे उन पञ्चकर्मों के नाम हैं ॥ १३ ॥

अनुग्रह इति प्रोक्तं मदीयं कर्मपञ्चकम् ।
एतेषां क्रमशो व्याख्यां कर्मणां शक्र मे शृणु ॥ १४ ॥

हे इन्द्र ! अब इन कर्मों को मेरे द्वारा की जाने वाली व्याख्या आप सुनिए ॥ १४ ॥

तिरोभावशक्तिनिरूपणम्

तत्र नाम तिरोभावोऽन्यद्भावः परिकीर्त्यते ।
स्वच्छापि सा मदीया हि चिच्छक्तिर्भोक्तृसंज्ञिता ॥ १५ ॥

अन्यभाव में परिवर्तित हो जाना तिरोभाव कहा जाता है। जैसे स्वच्छ भी मेरी चिच्छक्ति भोग रूप में परिणत हो जाती है ॥ १५ ॥

मदीयया यया शक्त्या वर्तते प्रकृतेर्वशे ।
तिरोभावाभिधाना मे साविद्याशक्तिरुच्यते ॥ १६ ॥
मदीयं भेदितं रूपं सत्यसङ्कल्पया मया ।
योऽवरोहो मदीयस्ते वर्णितः प्रथमः पुरा ॥ १७ ॥

मेरी जिस शक्ति से यह सारा जगत् प्रकृति के वशीभूत हो जाता है । वह अविद्या शक्ति तिरोभाव नाम से कही जाती है । सत्यसङ्कल्प वाली मुझ श्री के द्वारा अवरोह क्रम से जो मुझ से भिन्न रूप में उत्पन्न होता है (जैसे काली, महालक्ष्मी, महासरस्वती, दुर्गा, शाकम्भरी आदि) वह भी तिरोभाव है जिसका वर्णन मैं पहले कर चुकी हूँ ॥ १६-१७ ॥

चिच्छक्तिर्जीव इत्येवं विबुधै परिकीर्त्यते ।
मत्स्वाच्छन्द्यवशादेव तस्य भेदः प्रकीर्तितः ॥ १८ ॥

बुद्धिमान् लोग मेरी चिच्छक्तिं को जीव स्वरूप जो कहा करते हैं, वह भी मेरी स्वेच्छा से भेद रूप में उत्पन्न होता है ॥ १८ ॥

मदीयं चैत्यरूपं यत् सत्यसङ्कल्पया कृतम् ।
मया तदेकीकरणं चिच्छक्तेः क्रियते हि यत् ॥ १९ ॥

अविद्यायाः पञ्च पर्वाणि

अविद्या सा परा शक्तिस्तिरोभाव इति स्मृतः ।
पञ्च पर्वाणि तस्यास्तु सन्ति तानि निबोध मे ॥ २० ॥

सत्यसङ्कल्प वाले मेरे द्वारा निर्मित चित्त का जो चिच्छक्ति के साथ एकीकरण प्रतीत होता है, वह अविद्या शक्ति के द्वारा किया जाता है । उसे तिरोभाव शक्ति कहते हैं । उस अविद्याशक्ति के जो पाँच पर्व हैं हे इन्द्र ! उन पाँच पर्वों के विषय में मुझ से सुनिए ॥ १९-२० ॥

तमस्तु प्रथमं पर्व नामाविद्येति तस्य तु ।
अनात्मन्यस्वभूते च चैत्ये जीवस्य या मतिः ॥ २१ ॥
स्वतयाहंतया चैव तमोऽविद्या च सा स्मृता ।
स्वीकृतेऽहंतया चैत्ये मानो यस्तत्र जायते ॥ २२ ॥
अस्मिताख्यो महामोहो द्वितीयं क्लेशपर्व तत्।
चैत्यचेतनयोरेकभावापत्तिरविद्यया ॥ २३ ॥
मोहोऽस्मिता महामोह इति शब्दैर्निगद्यते ।
सुखानुस्मृतिहेतुर्या वासनास्मितयाहिता ॥ २४ ॥
स रागो रञ्ज्यविषयस्तृतीयं क्लेशपर्व तत् ।

दुःखानुस्मृतिहेतुर्या वासनास्मितयाहिता ॥ २५ ॥
स द्वेषो द्वेष्यविषयश्चतुर्थं क्लेशपर्व तत् ।
दुःखं जिहासतो योगैः प्रेप्सतश्च सुखं तथा ॥ २६ ॥
तदन्तरायैर्वित्रासो मध्ये यो नाम जायते ।
अन्धाख्योऽभिनिवेशः स पञ्चमं क्लेशपर्व तत् ॥ २७ ॥

(१) प्रथम पर्व तम कहा जाता है । उसका नाम अविद्या भी है । जीव अनात्मभूत चित्त में और अस्वभूत (आत्मा रूप में न रहने वाले) चित्त में जब स्वत्तया अहन्ता की बुद्धि करता है, तब उसे तम या अविद्या कहा जाता है । (२) अहन्ता को बुद्धि से जब चित्त में जीव का अभिमान होता है, तब उसमें अस्मिता होने लगती है । उसी को मोह महामोह भी कहा जाता है, यह द्वितीय भेद क्लेश पर्व है । (३) अविद्या के द्वारा चित्त और चेतन (जीव) की एकभावापत्ति को मोह अस्मिता अथवा महामोह कहते हैं जो अस्मिता के द्वारा आहित वासना ही सुखानुभव की हेतु होती है । वही रञ्ज्य का विषय है । उसे राग भी कहते हैं । यह तृतीय क्लेशपर्व कहा जाता है । (४) अस्मिता के द्वारा आहित जो वासना दुःख के अनुभव का हेतु होता है वह द्वेष का विषय होने से द्वेष कहलाता है। जो चतुर्थ क्लेश पर्व का हेतु है । (५) योग के द्वारा दुःख के परित्याग करने की इच्छा से तथा दुःख नाश कर सुख प्राप्त करने की इच्छा से उनके बीच-बीच में जो विघ्न का भय उपस्थित होता रहता है वही अन्ध नामक अभिनिवेश पाँचवाँ क्लेशपर्व कहा जाता है ॥ २१-२७ ॥

कर्मनिरूपणम्

देहमात्मतया बुद्ध्वा ततस्तादात्म्यमागतः ।
रञ्जनीयमभिप्रेप्सुर्जिहासुश्च तथेतरत् ॥ २८ ॥
तदन्तरायवित्रस्तस्तत्प्रतीकारमाचरन् ।
इष्टस्य प्राप्तयेऽनिष्टविघाताय च चेतनः ॥ २९ ॥
यदयं कुरुते कर्म त्रिविधं त्रिविधात्मकम् ।
तत्कर्म गदितं सद्भिः सांख्ययोगविचक्षणैः ॥ ३० ॥

अपने शरीर में ही आत्मबुद्धि मान कर उसमें आत्मा का तादात्म्य स्थापित कर सुख की प्राप्ति तथा उससे इतर दुःखादि के परित्याग करने की इच्छा से उसमें होने वाले विघ्न के भय से उस विघ्न का प्रतीकार करते हुये—इस प्रकार इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट का प्रतीघात करने के लिये चेतन जीव जो त्रिविधात्मक त्रिविध क्रियायें करता है सांख्ययोग के विद्वान् सज्जन लोग उसे कर्म कहते हैं ॥ २८-३० ॥

विपाकनिरूपणम्

तत्प्रसूतं सुखं दुःखं तथा दुःखसुखात्मकम् ।
विपाकस्त्रिविधः प्रोक्तस्तत्त्वशास्त्रविशारदैः ॥ ३१ ॥

उन कर्मों के द्वारा उत्पन्न सुख एवं दुःख या सुख-दुःख उभयात्मक—ये तीन प्रकार के कर्म विपाक तत्त्वशास्त्र के विशारदों ने कहा है ॥ ३१ ॥

आशयनिरूपणम्

वासना आशयाः प्रोक्ताः क्लेशकर्मविपाकजाः ।
अन्तःकरणवर्तिन्यः समन्ताच्छेरते हि ताः ॥ ३२ ॥
जन्यन्ते वासना नित्यं पञ्चभिः क्लेशपर्वभिः ।
सदृशारम्भहेतुश्च वासना कर्मणां तथा ॥ ३३ ॥

क्लेश कर्म के विपाक से उत्पन्न होने वाले आशयों को वासना कहते हैं। ये वासनायें अन्तःकरण में सर्वत्र विद्यमान रहती हैं ॥ ३२-३३ ॥

सुखादिवासना चैव विपाकैर्जन्यते त्रिधा ।
चतुर्भिर्लक्षणैरित्थंभूता क्लेशादिनामकैः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार उक्त चार लक्षणों वाले क्लेशादिविपाक तीन प्रकार की (सुखात्मक-दुःखात्मक उभयात्मक) वासनायें पैदा करते हैं ॥ ३४ ॥

बन्धनी जीवकोशस्य तिरोभावाभिधा विधा ।
शक्त्यानयैव बद्धानां जीवानां मम नित्यदा ॥ ३५ ॥

सृष्टिशक्तिनिरूपणम्

सांतत्येन प्रवर्तन्ते मम सृष्ट्यादिशक्तयः ।
सृष्टिशक्तिर्द्विधा सा मे शुद्ध्यशुद्धिवशान्मया ॥ ३६ ॥

जीवकोश को बाँधने वाली इस मेरी तिरोभाव नाम वाली शक्ति से बद्ध जीवों द्वारा सृष्ट्यादि शक्तियाँ सर्वदा प्रवृत्त होती हैं। यह सृष्टि शुद्ध और अशुद्ध भेदों (दो भेदों) वाली होती हैं ॥ ३५-३६ ॥

विविच्य दर्शिता सा ते सा पुनः सप्तधा स्थिता ।
अनिशं क्रियते त्वेका प्राजापत्येन कर्मणा ॥ ३७ ॥

इसका विस्तारपूर्वक वर्णन आपसे कर आई हूँ। फिर भी इनके सात प्रकार होते हैं। पहली सृष्टि प्राजापत्य कर्म से दिन-रात होती रहती है ॥३७॥

षट्कोशसंभवास्त्वन्यास्तत्तत्कालसमुद्भवाः ।

सर्गक्रमे प्रकृत्युत्थे सृष्टिर्ज्ञेया त्रिधा पुनः ॥ ३८ ॥

अन्य सृष्टियाँ षट्कोशों से तत्-तत् काल में उत्पन्न होती हैं । फिर हे इन्द्र ! प्रकृति द्वारा किये गए सृष्टि कर्म के तीन भेद समझो ॥ ३८ ॥

भाविकी लैङ्गिकी चैव भौतिकी चेति भेदतः ।
यथा न्यग्रोधधानायां त्रैगुण्ये प्रकृतौ तथा ॥ ३९ ॥
या स्थितिर्महदादेः सा भावसृष्टिर्निगद्यते ।
समष्टिव्यष्टिभेदेन लिङ्गं यत्सृज्यते मया ॥ ४० ॥
विराजश्च तथान्येषां भूतानां लिङ्गजा तु सा ।
महदाद्या विशेषान्ता विंशतिश्च त्रयश्च ये ॥ ४१ ॥
पदार्था लिङ्गदेहस्था विराजः परिकीर्तिताः ।
खानां समष्टिभूतानां तथान्तःकरणस्य च ॥ ४२ ॥
त्रिधा स्थितस्य ये येंऽशाः प्रतिजीवं व्यवस्थिताः ।
स्थूलानां चैव भूतानां ये सूक्ष्माः कीर्तिताः पुरा ॥ ४३ ॥
व्यष्टयोऽष्टादशेमाश्च क्लेशाः कर्माणि वासनाः ।
प्राणाश्चेति तदुद्दिष्टं लिङ्गं जीवगणाश्रयम् ॥ ४४ ॥

भाविकी, लैंगिकी और भौतिकी—ये तीन भेद हैं, जैसे न्यग्रोध के बीज में त्रैगुण्य की स्थिति रहती है उसी प्रकार त्रिगुणात्म प्रकृत सृष्टि में महदादि की स्थिति होती है । इसे ही भावसृष्टि कहा जाता है । इसके समष्टि व्यष्टि भेद से मैं लिङ्ग सृष्टि करती हूँ । शून्य भूतों की जो विराट् सृष्टि करती हूँ वह लिङ्गजा सृष्टि है । ये महत्तत्व से लेकर विशेष पर्यन्त जो २३ संख्या वाले हैं जो पदार्थ लिङ्ग-शरीर में रहते हैं, उन्हें विराट् कहा जाता है । समष्टि रूप से स्थित ज्ञानेन्द्रियों का तीन रूप से स्थित अन्तःकरण का जो-जो अंश है वह प्रत्येक जीव में स्थित है । इसी प्रकार स्थूलभूतों का पहले कहा गया जो सूक्ष्म अंश है । ये १८ तथा क्लेश, कर्म, वासना और प्राण उसे लिङ्ग-शरीर कहते हैं, जो जीवगणों का आश्रय है ॥ ३९-४४ ॥

चिच्छक्तयो हि लिङ्गस्थाः संसरन्ति यथा तथा ।
शुद्धे हि भगवज्ज्ञाने जाते सत्कर्मजीविनाम् ॥ ४५ ॥
जीवानां विनिवर्तन्ते लिङ्गान्येतानि नान्यदा ।
विराजः स्थूलदेहो यो ब्रह्माण्डापरनामवान् ॥ ४६ ॥
चतुर्विधानि चान्यानि शरीराणि शरीरिणाम् ।
एषा मे भौतिकी सृष्टिरितीदं सृष्टिचिन्तनम् ॥ ४७ ॥

इस प्रकार लिङ्ग-शरीर में रहकर चित् शक्तियाँ जैसे-तैसे संसार में चक्कर काटती रहती हैं । उत्तम कर्म करने वालों को जब शुद्ध भगवद् ज्ञान प्राप्त हो जाते हैं तब ऐसे सत्कर्मी जीवों के लिङ्ग शरीर अपने आप दूर हो जाते हैं अन्यथा किसी प्रकार लिङ्ग-शरीर का नाश नहीं होता । विराट् का स्थूल देह, जिसका दूसरा नाम ब्रह्माण्ड भी है, वह सारा ब्रह्माण्ड शरीरधारियों के चार प्रकार तथा अन्य प्रकार के भी शरीर मेरी भौतिकी सृष्टि है । यह हमारी पञ्चकर्म के भेदों में दूसरी सृष्टि की प्रक्रिया है ॥ ४५-४७ ॥

स्थितिशक्तिनिरूपणम्

स्थितिर्नाम तृतीया मे शक्तिर्या ते पुरोदिता ।
तस्याः स्वरूपं वक्ष्यामि तन्मे शक्र निशामय॥ ४८ ॥

पहले (द्र.१२-१३) हमने जो स्थिति नाम की तृतीय शक्ति कहा है, अब मैं उसके स्वरूप का वर्णन करती हूँ । हे इन्द्र ! आप उसे सुनिए ॥ ४८ ॥

आद्यसृष्टिक्षणो यस्तु संजिहीर्षाक्षणश्च यः ।
यत्स्थैर्यकरणं नाम तयोरन्तरवर्तिनाम् ॥ ४९ ॥
नानारूपैर्मदीयैः सा स्थितिशक्तिः परा मम् ।
विष्णुना देवदेवेन मया चैव तथा तथा ॥ ५० ॥
या स्थितिः कथिता सा तु प्रथमा तत्त्वचिन्तकैः ।
मन्वन्तराधिपैश्चैव द्वितीया परिकीर्तिता ॥ ५१ ॥

सृष्टि के आदिक्षण से सृष्टि-संहार के क्षण तक, जो मध्य में रहने वाले हैं, उनका मेरे अनेक रूपों द्वारा जो स्थिरीकरण होता है, वहीं मेरी स्थिति शक्ति है । क्योंकि मैं और देवाधिदेव विष्णु के द्वारा जैसे-तैसे उस सृष्टि की स्थिति रखी जाती है । इसलिये तत्त्वचिन्तकों ने उसे प्रथमा स्थिति कहा है । मन्वन्तराधिपों के द्वारा जो सृष्टि की स्थिति की जाती है वह द्वितीया स्थिति कही जाती है ॥ ४९-५१ ॥

मनुपुत्रैस्तृतीयान्या क्षुद्रैरिति चतुर्विध ।
चतुर्थी संहृतीशक्तिस्तस्या भेदमिमं शृणु ॥ ५२ ॥

मनुपुत्रों के द्वारा जो सृष्टि की स्थिति की जाती है वह तृतीया स्थिति है । क्षुद्रों के द्वारा जो सृष्टि की स्थिति की जाती है वह चतुर्थी स्थिति है । इस प्रकार तीसरी स्थिति की चार अवस्थायें कहीं गई । अब पञ्चकर्म के चतुर्थी संहृति के भेद को, हे इन्द्र ! सुनिए ॥ ५२ ॥

संहारशक्तिनिरूपणम्

नाशो जरायुजादीनां भूतानां नित्यदा तु या ।
सा नित्या संहृतिस्त्वन्या शक्र नैमित्तिकी स्मृता ॥ ५३ ॥

जरायुजादि प्राणियों का दिन प्रतिदिन जो नाश होना है उसे नित्य संहार कहा जाता है । इसके अतिरिक्त नैमित्तिक संहार भी होता है (यह संहार का दूसरा भेद कहा गया) ॥ ५३ ॥

त्रैलोक्यविषया सा तु ब्रह्मप्रस्वापहेतुका ।
तृतीया प्राकृती प्रोक्ता महदादिव्यपाश्रया ॥ ५४ ॥
प्रासूती तु चतुर्थी स्यादव्यक्तविषया तु सा ।
मायी या पञ्चमी प्रोक्ता प्रसूतिविषया तु या ॥ ५५ ॥
शाक्ती षष्ठी तु विज्ञेया मायासविषया तु सा ।
सप्तम्यात्यन्तिकी प्रोक्ता विलयो योगिनां मयि ॥ ५६ ॥

त्रिलोक का नाश जिसमें होता है और जिसमें ब्रह्मदेव शयन करते हैं यह तृतीय प्राकृत-संहार कहा जाता है । चतुर्थ प्रासूती नामक संहार है, जो अव्यक्त विषयक है और जो प्रसूति विषयक संहार है, वह पञ्चमी मायी नामक संहार है। षष्ठी शक्ति नामक संहार है, जो माया सहित विषय वाली है । सप्तमी आत्यन्तिक प्रलय है, जिसमें योगीजन मुझ में लीन हो जाते हैं ॥ ५४-५५ ॥

सूक्ष्माणि विनिवर्तन्ते शरीराणि तदा सताम् ।
एषा सप्तविधा शक्र संहृतिस्ते मयोदिता ।
पञ्चम्यनुग्रहाख्या मे शक्तिर्व्याख्यामिमां शृणु ॥ ५७ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे तिरोभावादिशक्तिप्रकाशो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

•••

उस समय उन सज्जन योगिजनों के सूक्ष्म शरीर भी नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार मैंने सात प्रकार के संहारों का वर्णन किया । अब अपनी अनुग्रह नामक पञ्चमी शक्ति का वर्णन करती हूँ । हे इन्द्र ! आप उसे सुनिए ॥ ५७॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के तिरोभावादिशक्तिप्रकाश नामक बारहवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ १२ ॥

•••

त्रयोदशोऽध्यायः

जीवस्वरूपप्रकाशः

अनुग्रहशक्तिनिरूपणम्

श्रीः—

अनुग्रहात्मिका शक्र शक्तिर्मे पञ्चमी स्मृता ।
तामिमां तत्त्वतो वत्स वदामि तव साम्प्रतम् ॥ १ ॥

श्री ने कहा—हे इन्द्र ! पाँचवीं मेरी अनुग्रहात्मिका शक्ति है । हे वत्स ! अब मैं आपके लिये उस शक्ति के विषय में कहती हूँ ॥ १ ॥

अविद्यया समाविद्धा अस्मितादिवशीकृताः ।
मच्छक्त्यैव तिरोभूतास्तिरोधानाभिधानया ॥ २ ॥

ये जीव अस्मिता आदि के द्वारा वशीभूत हो अविद्या से ग्रस्त हैं । इनकी सारी शक्ति मेरी तिरोधान नामक शक्ति से तिरोहित हो जाती है ॥ २ ॥

उच्चान्नीचे पतन्तस्ते नीचादुत्पतयालवः ।
निबद्धास्त्रिविधैर्बन्धैः स्थानत्रयविवर्तिनः ॥ ३ ॥

ऐसी अवस्था में ये ऊँचे से नीचे की ओर अथवा नीचे से ऊपर की ओर अथवा एक जगह बँधे रहने से इस प्रकार तीन बन्धों से बँधे हुये, तीन स्थानों में (ऊँचे-नीचे एक जगह) चक्कर काटते हैं ॥ ३ ॥

संसाराङ्गारमध्यस्थाः पच्यमानाः स्वकर्मणा ।
सुखाभिमानिनो दुःखे नित्यमज्ञानधर्षिताः ॥ ४ ॥

ये जीव सांसारिक अङ्गारों से जलते रहते हैं । अपने-अपने कर्मों के फलस्वरूप परिपाक को प्राप्त होते हैं । यद्यपि ये सुखाभिमानी होते हैं, किन्तु कर्मवशात् नित्य ही विद्या रूप अज्ञान से दुःखी रहते हैं ॥ ४ ॥

ता योनीरनुधावन्तश्चराचरविभेदिनीः ।
अपूर्वापूर्वभूताभिश्चित्रिताभिः स्वहेतुभिः ॥ ५ ॥
देहेन्द्रियमनोबुद्धिवेदनाभिरहर्निशम् ।
जन्मानि प्रबध्नन्तो मरणानि तथा तथा ॥ ६ ॥

चर-अचर के भेदों वाली उन-उन योनियों का भ्रमण करते हैं । ये जीव अपूर्व से अपूर्व अपने विचित्र हेतुओं से देह इन्द्रिय और मानसिक वेदनाओं से दिन-रात जैसे-जैसे जन्म के बन्धन में रहते हैं, वैसे-वैसे ही मरण के बन्धन में भी चक्कर काटते हैं ॥ ५-६ ॥

क्लिश्यमाना इति क्लेशैस्तैस्तैर्योगवियोगजैः ।
उद्यत्कारुण्यसंताननिर्वापिततदागसा ॥ ७ ॥
मया जीवाः समीक्ष्यन्ते श्रिया दुःखविवर्जिताः ।
सोऽनुग्रह इति प्रोक्तः शक्तिपातापराह्वयः ॥ ८ ॥

इस प्रकार जब योग-वियोग, जन्म के समय उन-उन क्लेशों से क्लेश प्राप्त करते हैं, तब मैं अपनी करुणा की परम्परा से उनके सारे अपराधों को क्षमाकर उन जीवों की ओर अपनी कृपादृष्टि डालती हूँ । उस दृष्टि के प्रभाव से वे दुःख विवर्जित हो जाते हैं । इसे ही **अनुग्रह** कहते हैं । इसका दूसरा नाम ही **शक्तिपात** है ॥ ७-८ ॥

कर्मसाम्यं भजन्त्येते प्रेक्ष्यमाणा मया तदा ।
अपश्चिमा तनुः सा स्याज्जीवानां प्रेक्षिता मया ॥ ९ ॥

इस प्रकार मेरे द्वारा देखे जाने के अनन्तर इनके पाप-पुण्यात्मक सारे कर्म समता को प्राप्त हो जाते हैं । जिस समय में इन जीवों के ऊपर मैं अपनी कृपा दृष्टि डालती हूँ, उनका वह शरीर अन्तिम शरीर हो जाता है (फिर वे जन्म नहीं ग्रहण करे) ॥ ९ ॥

अहमेव हि जानामि शक्तिपातक्षणं च तम् ।
नासौ पुरुषकारेण न चाप्यन्येन हेतुना ॥ १० ॥

उस शक्तिपात के क्षण को केवल मैं ही जानती हूँ । वह क्षण (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप) पुरुषार्थ से अथवा अन्य हेतुओं से नहीं जाना जाता ॥ १० ॥

केवलं स्वेच्छयैवाहं प्रेक्षे कंचित् कदाप्यहम् ।
ततः प्रभृति स स्वच्छस्वच्छान्तःकरणः पुमान् ॥ ११ ॥

मैं केवल अपनी इच्छा से किसी समय जिस किसी पुरुष पर अपनी दृष्टिपात करती हूँ, उसी समय यह पुरुष स्वच्छ अन्तःकरण वाला हो जाता है ॥ ११ ॥

कर्मसाम्यं समासाद्य शुक्लकर्मव्यपाश्रयः ।
वेदान्तज्ञानसम्पन्नः सांख्ययोगपरायणः ॥ १२ ॥
सम्यक्सात्त्वतविज्ञानाद्विष्णौ सद्भक्तिमुद्वहन् ।
कालेन महता योगी निर्धूतक्लेशसञ्चयः ॥ १३ ॥

मेरी दृष्टि के पड़ जाने पर वह पुरुष पाप-पुण्य रूप, कर्म की समता प्राप्त कर विशुद्ध कर्म करता हुआ, वेदान्त ज्ञान सम्पन्न, साख्ययोग परायण, भगवद् धर्म ज्ञान से सम्पन्न हो, विष्णु में भक्ति करता हुआ रहता है और समय पर उसके सारे क्लेश विपाक नष्ट हो जाते हैं ॥ १२-१३ ॥

विधूय विविधं बन्धं द्योतमानस्ततस्ततः ।
प्राप्नोति परमं ब्रह्म लक्ष्मीनारायणात्मकम् ॥ १४ ॥

तदनन्तर सांसारिक समस्त बन्धनों को तोड़कर परम तेजस्वी हो वह लक्ष्मीनारायणात्मक परब्रह्म को प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

एषा तु पञ्चमी शक्तिर्मदीयानुग्रहात्मिका ।
स्वाच्छन्द्यमेव मे हेतुस्तिरोभावादिकर्मणि ॥ १५ ॥

यह हमारी अनुग्रहात्मिका पञ्चमी शक्ति है । तिरोभावादि कर्म में हमारी स्वच्छन्दता ही हेतु है ॥ १५ ॥

जीवयाथात्म्यनिरूपणम्

इत्थं शक्र विजानीहि नानुयोज्यमतः परम् ।

शक्रः—

नमः सरोरुहावासे नमो नारायणाश्रये ॥ १६ ॥
नमो नित्यानवद्यायै कल्याणगुणसिन्धवे ।
त्वद्वागमृतसंदोहक्षालितं मे महत्तमः ॥ १७ ॥

हे इन्द्र ! ऐसा समझो । इसके बाद इस विषय में मत पूछो ।

तब इन्द्र ने कहा—हे कमल निवासिनी ! आपको नमस्कार है, हे नारायण का आश्रय लेने वाली, आपको नमस्कार है । नित्य, अनवद्य (निर्दोष) स्वरूप वाली, आपको नमस्कार है । हे कल्याणगुण सिन्धु वाली आपको नमस्कार है । आपके वाणीरूपी अमृत से मेरा महान् अज्ञानान्धकार

विनष्ट हो गया ॥ १६-१७ ॥

भूयोऽहं श्रोतुमिच्छामि चिच्छक्ते रूपमुत्तमम् ।

श्रीः—

एको नारायणो देवः परमात्मा सनातनः ॥ १८ ॥
सदा ज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्त्योजसां निधिः ।
अनादिरपरिच्छेद्यो देशकालस्वरूपतः ॥ १९ ॥

अब इसके बाद पुनः आपके चिच्छक्ति का स्वरूप जानना चाहता हूँ ।

तब श्री ने कहा—परमात्मा सनातन नारायण देव एक हैं । वे सर्वदा ज्ञान, बल, वीर्य, शक्ति और ओजों से परिपूर्ण रहते हैं, अनादि हैं और देशकाल तथा स्वरूप से सर्वथा अपरिच्छेद्य हैं ॥ १९ ॥

तस्याहं परमा देवी षाड्गुण्यमहिमोज्ज्वला ।
सर्वकार्यकरी शक्तिरहन्ता नाम शाश्वती ॥ २० ॥

मैं उनकी षाड्गुण्य परिपूर्णा, परमा, सर्वकार्यकरी हूँ और शाश्वती अहन्ता नाम वाली शक्ति हूँ ॥ २० ॥

संविदेका स्वरूपं मे स्वच्छस्वच्छन्दनिर्भरा ।
सिद्धयो विश्वजीवानामायतन्तेऽखिला मयि ॥ २१ ॥

स्वच्छता और स्वच्छन्दता से परिपूर्ण केवल संवित् (ज्ञान) मेरा स्वरूप है। विश्व के समस्त जीवों की समस्त सिद्धियाँ मुझे प्राप्त करने का प्रयत्न करती हैं ॥ २१ ॥

आत्मभित्तौ जगत्सर्वं स्वेच्छयोन्मीलयाम्यहम् ।
मयि लोकाः स्फुरन्त्येते जले शकुनयो यथा ॥ २२ ॥

मैं अपनी आत्मारूपी भित्ति पर सारे जगत् को अपनी इच्छानुसार प्रगट करती हूँ । जिस प्रकार जल में मछलियाँ स्फुरित होती हैं । उसी प्रकार सारा जगत् मुझ में स्फुरित होता है ॥ २२ ॥

स्वाच्छन्द्यादवरोहामि पञ्चकृत्यविधायिनी ।
साहं यदवरोहामि सा हि चिच्छक्तिरुच्यते ॥ २३ ॥

पञ्चकृत्य सम्पादिनी मैं अपनी स्वच्छन्दता से नीचे अवतरित होती हूँ । जब मैं अवतार लेती हूँ तब वहीं मैं चिच्छक्ति के नाम से अभिव्यक्त होती हूँ ॥ २३ ॥

सङ्कोचो मामकः सोऽयं स्वच्छस्वच्छन्दचिद्घनः ।
अस्मिन्नपि जगद्भाति दर्पणोदरशैलवत् ॥ २४ ॥

यह मेरा स्वच्छ-स्वच्छन्द चिद्घन नामक जो सङ्कोच है । उसमें यह सारा जगत् दर्पण के भीतर जैसे पर्वतादि प्रतिबिम्बित होते हैं उस प्रकार का है ॥ २४ ॥

वज्ररत्नवदेवैष स्वच्छः स्फुरति सर्वदा ।
चैतन्यमस्य धर्मो यः प्रभा भानोरिवामला ॥ २५ ॥

यह चिद्घन वज्ररत्न के समान सर्वदा स्फुरित होता रहता है, इसका चैतन्य धर्म सूर्य की प्रभा के समान स्वच्छ है ॥ २५ ॥

तया स्फुरति जीवोऽसौ स्वत एवानुरूपया ।
विधत्ते पञ्च कृत्यानि जीवोऽयमपि नित्यदा ॥ २६ ॥

उस चिद्घन की प्रभा से यह जीव भी अपनी शक्ति के अनुसार स्फुरित होता रहता है । यह जीव भी निरन्तर पञ्चकृत्य करता रहता है ॥ २६ ॥

जीवानामपि सृष्ट्यादीनि पञ्च कृत्यानि

या वृत्तिर्नीलपीतादौ सृष्टिः सा कथिता बुधैः ।
आसक्तिर्या विषये तत्र सा स्थितिः परिकीर्त्यते ॥ २७ ॥

नील पीतादि विषयों में रहने वाली वृत्ति को ही बुद्धिमानों ने सृष्टि कहा है । विषयों में रहने वाली आसक्ति स्थिति कही जाती है ॥ २७ ॥

गृहीताद्विषयाद्योऽस्य विरामोऽन्यजिघृक्षया ।
सा संहृतिः समाख्याता तत्त्वशास्त्रविशारदैः ॥ २८ ॥

गृहीत विषय से विरक्ति होना अथवा अन्य पदार्थ के ग्रहण में विरक्ति होना इसी को तत्त्वशास्त्र विशारदों ने 'संहृति' कहा है ॥ २८ ॥

तद्वासना तिरोभावोऽनुग्रहस्तद्विलापनम् ।
ग्राह्यग्रसनशीलोऽयं वह्निवद्ग्रसनः सदा ॥ २९ ॥

उन वासनाओं का तिरोहित होना अथवा उनका लय हो जाना यही अनुग्रह कहा जाता है । जैसे आग जब वस्त्र को पकड़ लेती है तब उसे नहीं छोड़ती । इसी प्रकार जिसके ऊपर यह अनुग्रह होता है, वह अनुग्रह उसको नहीं छोड़ता । इस प्रकार अनुग्रह ग्राह्यग्रसनशील है ॥ २९ ॥

पुष्यत्येष सदा जीवो मात्रया मे समिन्धनम् ।

आविद्यं मत्स्वरूपं तु व्याख्यातं ते पुरा मया ॥ ३० ॥

मेरे अनुग्रह से जीव सदा पुष्ट होता रहता है और बढ़ता रहता है । इस प्रकार अविद्या पर्यन्त मेरा स्वरूप है जिसकी व्याख्या मैंने पहले की है ॥३०॥

शुद्धविद्यासमायोगात् सङ्कोचं यज्जहात्यसौ ।
तदा प्रद्योतमानोऽयं सर्वतो मुक्तबन्धनः ॥ ३१ ॥

यह जीव शुद्ध विद्या के योग से अपना सङ्कोच छोड़ देता है । तब बन्धन से मुक्त हो जाने पर वह देदीप्यमान हो जाता है ॥ ३१ ॥

ज्ञानक्रियासमायोगात् सर्ववित्सर्वकृत्सदा ।
अनणुश्चाप्यसङ्कोचान्मद्भावायोपपद्यते ॥ ३२ ॥

पुनः मेरी ज्ञान क्रिया के संयोग से वह सर्वज्ञ और सब कुछ करने में समर्थ हो जाता है । सङ्कोच रहित हो जाने के कारण वह अनणु (महान्) होकर मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेता है ॥ ३२ ॥

यावन्निरीक्ष्यते नायं मया कारुण्यवत्तया ।
तावत्संकुचिताज्ञानः करणैर्विश्वमीक्षते ॥ ३३ ॥

किन्तु जब तक मेरी करुणापूर्ण दृष्टि से वह देखा नहीं जाता है, तब तक उसका ज्ञान संकुचित रहता है, वह केवल इन्द्रियों से ही विश्व को देखता रहता है ॥ ३३ ॥

चक्षुषालोक्य वस्तूनि विकल्प्य मनसा तथा ।
अभिमत्याप्यहङ्काराद् बुद्ध्यैव ह्यध्यवस्यति ॥ ३४ ॥

संकुचित ज्ञान होने से वह जीव वस्तुओं को अपने नेत्र से देखता है; मन से विकल्प करता है, अपने अहङ्कार से अभिमति रखता है और बुद्धि से निर्णय करता है । यह स्थिति जागरावस्था में होती है ॥ ३४ ॥

जागरायामथ स्वप्ने करणैरान्तरैश्चरन् ।
विहाय तत् सुषुप्तौ तु स्वरूपेणावतिष्ठते ॥ ३५ ॥

स्वप्नावस्था में अन्तःकरण द्वारा सञ्चरण करता है, सुषुप्ति अवस्था में उसे छोड़ कर स्वरूप में स्थित हो जाता है ॥ ३५ ॥

अवस्थास्ता इमास्तिस्रः प्राकृत्यो नैव जीवगा ।
तुर्यापि या दशा जीवे समाधिस्थे प्रजायते ॥ ३६ ॥

ये तीनों अवस्थायें प्रकृति में रहने वाली हैं जीवन में नहीं रहती । जब

जीवन समाधि की अवस्था में होता है, तब उसकी तुरीयावस्था होती है ॥३६॥

सापि नैवास्य किं त्वेषा शुद्धसत्त्वव्यवस्थितिः ।
अनवस्थमनाघ्रातमखिलैः प्राकृतैर्गुणैः ॥ ३७ ॥

वह तुर्यावस्था भी जीव में नहीं रहती । किन्तु यह शुद्ध सत्त्व की व्यवस्था है । उसमें जीवन में प्राकृत गुणों से होने वाली अवस्थाये नहीं होती। किं बहुना प्राकृत गुण उसका स्पर्श तक नहीं कर सकते ॥ ३७ ॥

अनौपाधिकमच्छेद्यं जीवरूपं तु चिन्मयम् ।
एवंरूपमपि त्वेतच्छाद्यतेऽनाद्यविद्यया ॥ ३८ ॥
सुदृश्यामात्मभूतां मां नैव पश्यत्यसौ ततः ।

शक्रः—

सुदृश्यासि कथं देवि त्वं प्रमाणातिगा सती ॥ ३९ ॥
वेदान्ता अपि नैव त्वां विदुरित्थं तयाम्बुजे ।

जीव का स्वरूप उपाधि रहित है, अच्छेद्य है, चिन्मय है । यद्यपि वह इस प्रकार का है तथापि अनादि अविद्या उसके स्वरूप को आच्छादित किये रहती है, इस कारण यद्यपि मेरे आत्मस्वरूप का दर्शन सुलभ है फिर भी जीव उसे देख नहीं पाता । इन्द्र ने कहा—हे भगवति जब आप ध्यान से भी परे हो तब आप किस प्रकार सुलभ दर्शन वाली हो । हे कमले आपके इत्थंभूत स्वरूप को तो वेदान्त भी नहीं जानते । 'नेति-नेति' कहते हैं ॥ ३८-३९ ॥

श्रीः—

मां तु शक्र विजानीहि प्रत्यक्षां सर्वदेहिनाम् ।
समाहितमना भूत्वा श्रृणुष्वेदं मतं मम ॥ ४० ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे जीवस्वरूपप्रकाशो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

...✿...

श्री ने कहा—हे इन्द्र ! मैं समस्त जीवधारियों को प्रत्यक्ष देखी जाने के योग्य हूँ । इस मेरे मत को आप सावधान होकर सुनिए ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के जीवस्वरूपप्रकाश नामक तेरहवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ १३ ॥

...✿...

चतुर्दशोऽध्याय:

लक्ष्मीस्वरूपप्रकाश:

लक्ष्म्या: ज्ञानज्ञेयरूपसर्ववस्त्वात्मकत्वम्

श्री:—

ज्ञानस्वरूपो भगवान् देशकालाद्यभेदित: ।
वासुदेव: परं ब्रह्म गुणशून्यं निरञ्जनम् ॥ १ ॥
सुखं सदैकरूपं तु षाड्गुण्यमजरामरम् ।
तस्याहं परमा शक्तिरहंता शाश्वती ध्रुवा ॥ २ ॥

सभी देश कालों में अभिन्न रूप से रहने वाले गुण शून्य, निरञ्जन, परब्रह्म स्वरूप भगवान् वासुदेव, आनन्द स्वरूप, षाड्गुण्य युक्त, अजर और अमर हैं । मैं उनकी परमा शक्ति, शाश्वती, ध्रुवा एवं अहन्ता हूँ ॥ १-२ ॥

व्यापारशक्तिरेषा मे सिसृक्षालक्षणा भवेत् ।
अयुतायुतकोट्योघकोटिकोट्ययुतांशत: ॥ ३ ॥
साहं सृजामि स्वाच्छन्द्याद् द्विधा भेदमुपेयुषी ।
चेत्यचेतनभावेन चिच्छक्तिश्चेतनोऽनयो: ॥ ४ ॥

मैं जब सृष्टि करने की इच्छा करती हूँ तब लोग मुझे उनकी व्यापार शक्ति कहते हैं । अपनी शक्ति की हजारो-हजारों, करोड़ों कोटि समूह के करोड़ों संख्या के हजारवें अंश से मैं चेत्य-चेतन दो भेदों में होकर सर्वप्रथम चित्त और चेतन इन दो की सृष्टि करती हूँ ॥ ३-४ ॥

चेत्यचेतनतां प्राप्ता संविदेव मदात्मिका ।
संविदेव हि मे रूपं स्वच्छस्वच्छन्दनिर्भरा ॥ ५ ॥

मेरी संवित् (ज्ञान) शक्ति ही चेत्य और चेतन रूप को प्राप्त करती है ।

स्वच्छता एवं स्वच्छन्दता पूर्ण संवित् (ज्ञान) ही मेरा पूर्णरूप है ॥ ५ ॥

सा त्विक्षुरसवद्योगात् स्त्यानतां प्रतिपद्यते ।
अतो निनरूप्यमाणं तच्चेत्यं चित्त्वमुपेष्यति ॥ ६ ॥

जिस प्रकार वह इक्षुरस के समान योग के कारण स्त्यानता गुडादि पिण्डीभाव को प्राप्त करता है, उसी प्रकार ऊपर कहा गया चेत्य भी चित्व रूप को प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

यथा हि वह्निना लीढमिन्धनं तन्मयं भवेत् ।
एवं चिता समालीढं चेत्यं चिन्मयतां व्रजेत् ॥ ७ ॥

जैसे अग्नि के द्वारा जलाया गया इंधन (काष्ठ) अग्नि स्वरूप हो जाता है उसी प्रकार इस चित् शक्ति से संयुक्त चेत्य भी चिन्मय हो जाता है ॥ ७॥

नीले पीते सुखे दुःखे चित्स्वरूपमखण्डितम् ।
विशिनष्टि विकल्पस्तच्चित्रयोपाधिसम्पदा ॥ ८ ॥

वह चेत्य नील, पीत, सुख और दुःख में चित् स्वरूप एवं सदा अखण्डित (एक रस) रहता है । उसे विकल्प अपनी विचित्र उपाधि रूप सम्पत्ति (विशेषण) से विशेषित करता है ॥ ८ ॥

विकल्पोऽपि हि मद्रूपं स्वाच्छन्द्यादेव निर्मितम् ।
चेत्यं विकल्प्यते येन बहिरन्तर्व्यवस्थया ॥ ९ ॥

विकल्प भी मेरा ही रूप है जो मेरी स्वतन्त्रता के कारण निर्मित है । इस प्रकार यह विकल्प चेत्य की बाहरी और भीतरी व्यवस्था द्वारा वस्तु को विकल्पित करता है ॥ ९ ॥

न बहिर्नैव चान्तस्तच्चिद्रूपं मम तत् परम् ।
वेद्यवेदकरूपेण भेद्यते मे स्वयं तया ॥ १० ॥

वह चिद्रूप कहीं न बाहर है, न भीतर है, वह तो मेरा परस्वरूप है जो स्वयं मेरे द्वारा वेद्य-वेदक रूप से भिन्न हो जाता है ॥ १० ॥

यद्विकल्पैरनाक्रान्तं यच्छब्दैरकदर्थितम् ।
यदुपाधिभिरम्लानं रूपं तच्चेत्यतां गतम् ॥ ११ ॥

जिसमें विकल्प के लिये कोई स्थान नहीं है जो शब्द शक्ति से सर्वथा परे है, उपाधि (विशेषण) के द्वारा जिसकी स्वच्छता में कोई अन्तर नहीं आता, इस प्रकार मेरा रूप चेत्यभाव को प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

दूरापास्तविकल्पेन चेतसा यत्र भूयते ।
मध्यमां वृत्तिमास्थाय चेत्यं संवित्तया तदा ॥ १२ ॥

समस्त विकल्पों से दूर रहने वाले उस ज्ञानात्मक चेतन द्वारा मध्यम वृत्ति में स्थित होकर चेत्य (कोश) उत्पन्न किया जाता है ॥ १२ ॥

यथा चक्षुःस्थितं रूपं बाह्ये स्वं रूपमीक्ष्यते ।
तथा ज्ञानस्थितं रूपं ज्ञेये स्वं रूपमीक्ष्यते ॥ १३ ॥

जैसे चक्षुः में रहने वाला रूप बाहर अपने रूप को देखना चाहता है, उसी प्रकार ज्ञान में रहने वाला रूप ज्ञेय में अपने को देखता है ॥ १३ ॥

यथा वह्निसमाविष्टं काष्ठं तद्रूपमीक्ष्यते ।
तथा संवित्समाविष्टं चेत्यं संवित्तयेक्ष्यते ॥ १४ ॥

जैसे कोई आग में रहने वाले काठ को अग्निमय देखता है, उसी प्रकार संवित् में समाविष्ट चेत्य (कोश) को संवित्स्वरूप में देखा जाता है ॥ १४ ॥

वेद्यं वेदनतां नीत्वा यदा वेत्त्रा निरूप्यते ।
तदा वित्तिमयी साहं प्रत्यक्षा स्फुटभासिनी ॥ १५ ॥

जब वेत्ता वेद्य वस्तु को ज्ञान का विषय बनाकर उसे कहता है, तब वही मैं ज्ञान स्वरूपा होकर प्रत्यक्ष रूप में भासित होती हूँ ॥ १५ ॥

अहंतैव हि चित्तत्वं वेद्याद्भिन्नं स्वलक्षणम् ।
सा चाहमेव तेनाहं सर्वतः शुद्धचिन्मयी ॥ १६ ॥

अहन्ता ही चित् तत्त्व है जो वेद्य (ज्ञाता) से भिन्न स्वलक्षणवान् है । वह अहन्ता मैं ही हूँ । इसलिये सर्वत्र चिन्मयी हूँ ॥ १६ ॥

संप्लुतेदम्पदद्वीपे प्राप्तैकध्ये चिदम्बुधौ ।
मज्जतां चैव चेत्यानामस्मि हस्तावलम्बनम् ॥ १७ ॥

जल से भरे हुये इदं पद द्वीप वाले, ध्यान मात्र से प्राप्त होने वाले एवं चित् रूपी समुद्र में डूबने वाले सभी चेतनों का मैं ही एकमात्र अवलम्बन हूँ ॥ १७ ॥

मद्ध्यानामृतनिष्यन्दक्षालिताशेषवासनाः ।
मामेवात्मनि पश्यन्ति चेत्यौघग्रसनीं चितम् ॥ १८ ॥

मेरे ध्यानामृत से उत्पन्न पुण्य जल से जिनकी सारी वासनायें नष्ट हो जाती हैं, वे ही चेत्य समूहों को अपने में लीन करने वाली चित् (ज्ञान)

स्वरूपा मुझे अपनी आत्मा में देखते हैं ॥ १८ ॥

मम चित्तैकरूपाया वेद्यवेदकतां जनाः ।
अविद्ययैव मन्यन्ते मत्सङ्कल्पितया पुरा ॥ १९ ॥

मैं मात्र एक चित् (ज्ञान) स्वरूप ही हूँ तथापि लोग सत्संल्पित अविद्या के द्वारा वेद्य और वेदक इन भिन्न दृष्टियों से देखते हैं । यद्यपि मैं सदा चित् स्वरूपा हूँ तथापि विद्वद्जन मुझे मेरे द्वारा सङ्कल्पित अविद्या के द्वारा वेद्य एवं वेदकता का भेद मानते हैं ॥ १९ ॥

न शान्ता नोदिता नापि मध्यमाहं स्वरूपतः ।
मद्विवेकजुषामेवं प्रकाशे जागरास्वपि ॥ २० ॥
परित्यक्तविभागेन निस्तरङ्गेण चेतसा ।
ज्ञाये विकल्प्यमाना तु प्रत्यक्षाप्यस्मि विस्मृता ॥ २१ ॥

यद्यपि मैं स्वरूपतः शान्ती नहीं हूँ, उदीयमाना नहीं हूँ और मध्यमा भी नहीं हूँ, मुझे जानने वाले विद्वानों के भेदरहित चित्त से मैं प्रत्यक्ष भी हूँ, किन्तु बुद्धिमान् लोग मुझ में विकल्प युक्त वे परित्यक्त विभाग के द्वारा तथा तरङ्गरहित चित्त से मुझे विस्मृत कर देते हैं ॥ २०-२१ ॥

पुरः स्थितो यथा भावश्चेतसोऽन्याभिलाषिणः ।
न भासते तथैवाहं न भासे वासनाजुषाम् ॥ २२ ॥

जैसे चित्त में दूसरी अभिलाषा रखने वाला व्यक्ति अपने आगे स्थित किसी भी वस्तु को नहीं देखता है, उसी प्रकार वासना से आक्रान्त (अविद्याग्रस्त) जीव मुझे नहीं देख पाते हैं ॥ २१-२२ ॥

बुभुत्सावान् यथा वृत्तीर्निरुध्यान्यत्र चेतसा ।
प्रत्यक्षमीक्षते वस्तु तथा मां शुद्धसंविदम् ॥ २३ ॥

जैसे ज्ञान की इच्छा रखने वाला व्यक्ति विरुद्ध वस्तुओं की ओर जाने वाली अपनी चित्तवृत्ति को वहाँ से हटाकर अभिलषित वस्तु का प्रत्यक्ष करता है, उसी प्रकार मुझे प्रत्यक्ष देखने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति ज्ञान स्वरूपा मेरा साक्षात्कार कर लेता है ॥ २३ ॥

सदैवाप्रतिबद्धाया भान्त्या एव वपुर्मम ।
प्रत्यक्षं चेत्यसञ्चारकालेऽपि विमलात्मनाम् ॥ २४ ॥

बिना किसी प्रतिबन्ध के भासित होने वाला मेरा ज्ञानस्वरूप शरीर चेत्य के सञ्चरण काल में भी विमलात्माओं को प्रत्यक्ष भासित हो जाता है ॥ २४ ॥

यथा जात्या सितं वस्त्रं रक्तं रागेण केनचित्।
पुनः स्ववर्णमप्राप्य नैव रागान्तरं श्रयेत् ॥ २५ ॥

जैसे स्वभावतः स्वच्छ वस्त्र किसी लाल रङ्ग से रङ्गे जाने पर पुनः वह अपने स्वच्छ रूप को प्राप्त नहीं करता और न दूसरे रङ्ग में रङ्गा ही जा सकता है वैसे ही सांसारिक जन हैं ॥ २५ ॥

नीलाद्येवं विदन् पीतं मध्ये शुद्धचिदात्मनि।
मयि चेन्नैव विश्रान्तः पीतं विद्यात्कथं न्वयम् ॥ २६ ॥

नील को देखने के अनन्तर पीत को देखने की इच्छा वाला व्यक्ति बीच में यदि मुझ चिदात्मा में विश्राम न करे, तो वह पीत वस्त्र को भला किस प्रकार देख सकता है ॥ २६ ॥

तथैवोच्चारयन् वाक्यं वर्णाद्वर्णं कथं व्रजेत् ।
यदि मध्ये न विश्रान्तो मयि शुद्धचिदात्मनि ॥ २७ ॥

इसी प्रकार व्यक्ति वाक्यों के उच्चारण करते समय एक वर्ग से दूसरे वर्ग का उच्चारण शुद्ध एवं चिदात्मा मुझ में विश्राम किये बिना किस प्रकार कर सकता है ॥ २७ ॥

एवं शुद्धा स्वतन्त्रापि यदाकारोपरागिणी।
तत्त्यागापरसञ्चारा मध्ये शुद्धैव भाम्यहम् ॥ २८ ॥

इसी प्रकार जिस राग से मैं उपरक्त हूँ, उसके त्याग से अपर में सञ्चार करने वाली शुद्ध स्वरूपा मैं मध्य में ही भासित होती हूँ ॥ २८ ॥

दक्षिणेतरसञ्चारनिरोधान्मध्यमाश्रितः ।
अग्नीषोमेन्धनो भावः प्रकाशयति मे पदम् ॥ २९ ॥

दक्षिणोत्तर सञ्चार का निरोध कर मध्य में आश्रित मेरा अग्नीषोमेन्धनभाव मेरे पद को प्रकाशित करता है ॥ २९ ॥

धिया ध्येयमनालम्ब्य विषयं चास्पृशन् बहिः ।
यदन्तरा वेदयते तन्मे रूपमनाकुलम् ॥ ३० ॥

बुद्धि के द्वारा ध्येय का आलम्बन किये बिना बाहरी विषयों के स्पर्श के बिना इनके मध्य में मेरा शुद्ध स्वरूप भासित होता है ॥ ३० ॥

अनुवृत्ता तु या सम्यक् तेजस्यपि तमस्यपि ।
भाति भावेऽप्यभावेऽपि सा मे तनुरकर्बुरा ॥ ३१ ॥

जो तेज में तथा तम में समानरूप से अनुवृत्त है, जो भाव और अभाव में सर्वत्र विद्यमान है, वहीं मेरा कर्बुररहित (= दागविहीन) स्वच्छ शरीर है ॥ ३१ ॥

निवृत्तविषयेच्छस्य मद्भक्त्युल्लसितात्मनः ।
आन्तरं यदनालम्बमहंत्वं तद्वपुर्मम ॥ ३२ ॥

विषयेच्छा से निवृत्त भक्ति के द्वारा प्रदीप्त पुरुष का आन्तरिक आलम्बन-रहित 'अहंत्व' यही मेरा शरीर है ॥ ३२ ॥

तदेवाभ्यस्यमानानां देहप्राणाद्यगोचरम् ।
विवेकिनामहंरूपं मद्भावेनावतिष्ठते ॥ ३३ ॥

उसी रूप में अभ्यास करने वाले विवेकियों को देह प्राणादि से अगोचर 'अहंरूप' तत्त्व प्राप्त होता है, जब वह साधक मुझे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है ॥ ३३ ॥

ततस्तेजो यथैवार्कं व्यज्यते न तु जन्यते ।
भावैश्चिद्रूपमप्येवं व्यक्तं नैव च जन्यते ॥ ३४ ॥

जैसे तेजसूर्य का ज्ञान कराता है, उनकी उत्पत्ति नहीं कराता । इसी प्रकार भाव से चित् स्वरूप अभिव्यक्त होता है उससे पैदा नहीं होता ॥ ३४ ॥

भावैर्विना यथा भानुः समुदेति नभःस्थले ।
वैद्यैर्विनैव मे रूपमेवं प्रद्योतते स्वयम् ॥ ३५ ॥

जैसे आकाश मण्डल में सूर्य किसी पदार्थ की सहायता के बिना स्वयं उदित होता है, उसी प्रकार किसी वेद्य (ज्ञानी) गुरु के बिना ही मेरा स्वरूप दिखाई पड़ता है ॥ ३५ ॥

अत्यन्ताच्छस्वभावत्वात् स्फटिकादिर्यथा मणिः ।
उपरक्तो जपाद्यैस्तु स्वेन रूपेण नेक्ष्यते ॥ ३६ ॥
मत्सङ्कल्पसमुद्रिक्तैश्चेत्यैः स्वच्छाहमप्यथ ।
पृथग्जनैर्न लक्ष्यास्मि नैवाहं नास्मि तावता ॥ ३७ ॥

अत्यन्त स्वच्छ स्वभाव वाला स्फटिकादि मणि जैसे जपा (लाल रङ्ग के अड़हुल) के पुष्प से उपरक्त हो जाने पर स्वयं अपने स्वरूप से दिखाई नहीं पड़ता । इसी प्रकार यद्यपि मैं सर्वथा स्वच्छ हूँ तथापि मेरे विषय में चित्त के द्वारा सङ्कल्प न करने वाले उन अन्य मनुष्यों से मैं लक्षित नहीं होती हूँ, क्योंकि मैं वैसी नहीं हूँ ॥ ३६-३७ ॥

कुण्डलादेर्यथा भिन्ना न लक्ष्या कनकस्थितिः ।
न च शक्या विनिर्देष्टुं तथाप्यस्त्येव सा ध्रुवम् ॥ ३८ ॥

जैसे सुवर्ण द्वारा निर्मित कुण्डल सुवर्ण पिण्ड के रूप में दिखाई नहीं पड़ता, इसी प्रकार इदमित्थंरूपेण मेरा भी निर्देश नहीं किया जा सकता । यद्यपि मेरा स्वरूप निश्चित रहता है ॥ ३८ ॥

एवं नित्या विशुद्धा च सुखदुःखाद्यभेदिता ।
स्वसंवेदनसंवेद्या मम संविन्मयी स्थितिः ॥ ३९ ॥

इसी प्रकार नित्या विशुद्धा सुख-दुःखादि से अभिन्न मेरी संविन्मयी (ज्ञान स्वरूपा) स्थिति भी स्वसंवेदन संवेद्य है ॥ ३९ ॥

विज्ञातरि तथा ज्ञाने ज्ञेये जानातिनान्वयः ।
योऽयं मदन्वयः सोऽयं प्रत्यायार्थाविशेषितः ॥ ४० ॥

जैसे कोई विज्ञाता (ज्ञान करने वाले) ज्ञान के विषय और ज्ञेय के विषय में सम्बन्ध की कल्पना नहीं कर सकता, उसी प्रकार मेरा भी सम्बन्ध है जो चिर एवं बिना किसी सम्बन्ध का है ॥ ४० ॥

देशकालक्रियाकाराः प्रसिद्धा भेदहेतवः ।
तान् भेदयति या संवित्तस्या भेदः कुतो भवेत् ॥ ४१ ॥

देश-काल, क्रिया और आकार—ये भेद के हेतु हैं किन्तु जो उनदेश-काल और क्रिया में भी भेद कर सकता है उस संवित् रूप परमात्मा का भेद किस प्रकार कौन कर सकता है ? ॥ ४१ ॥

चेत्यभेदो हि यः कालो भूतादित्रितयात्मकः ।
संविन्महोदधौ सोऽपि विलीनस्तन्मयो भवेत् ॥ ४२ ॥

भूत-भविष्यत् एवं वर्तमान—ये तीनों काल, जो चित् के भेद हैं, ये भी उस संविन्मेहोदधि रूप ज्ञान समुद्र में डूब कर ज्ञानमय हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

यदा हि वर्तमानायां मयि भूतभविष्यती ।
प्रतिक्षिप्ते तदा चेयं नैव स्याद्वर्तमानता ॥ ४३ ॥

जब वर्तमान स्वरूप मुझ में भूत और भविष्यत् काल को प्राप्त हो जाते हैं, तब यह वर्तमान स्थिति नहीं रहती ॥ ४३ ॥

आधारोऽहमशेषाणां नैवाधेयास्मि केनचित् ।
देशोऽप्याधारतः क्लप्तस्ततो मे नैव विद्यते ॥ ४४ ॥

मैं सारे जगत् का आधार हूँ । किन्तु मैं किसी के द्वारा आधेय नहीं होती। मेरा आधार देश है—यह तो समझाने हेतु मात्र कल्पना है, इसलिये मेरा आधार कोई है ही नही ॥ ४४ ॥

काप्यवस्था न मे सास्ति यस्यां संविन्न वर्तते ।
तेन मां चिद्घनामेकां सर्वाकारामुपासते ॥ ४५ ॥

मेरी कोई अवस्था ऐसी नहीं है जिसमें ज्ञान की स्थिति न हो । इसीलिये लोग ज्ञानस्वरूपिणी मेरी उपासना करते हैं ॥ ४५ ॥

कालो देशस्तथाकारः क्रिया कर्ता च कर्म च ।
करणं संप्रदानं च भवेद्यच्च ततः फलम् ॥ ४६ ॥
भोगो भोक्ता च तत्सर्वं विलीनं संविदात्मनि ।
देवा दैत्यास्तथा नागा गन्धर्वा रक्षसां गणाः ॥ ४७ ॥
विद्याधराः पिशाचाश्च भूताश्चेति गणाष्टकम् ।
मनुजा बहुधात्मानो वर्णकर्मादिभेदिताः ॥ ४८ ॥
पशवोऽथ मृगाश्चैव पक्षिणश्च सरीसृपाः ।
स्थावराश्च तथैवान्ये कपूयचरणात्मकाः ॥ ४९ ॥
स्वर्गस्था नरकस्थाश्च लोकाश्चैव चतुर्दश ।
सरिद्द्वीपसमुद्राश्च विविधा ह्यण्डपद्धतिः ॥ ५० ॥
उच्चावचानि तत्त्वानि विविधाः शब्दराशयः ।
भोग्यं भोगोपकरणं भोगस्थानं च यत् स्मृतम् ॥ ५१ ॥
कोशाः षट् कोशजाश्चैव चेतनाचेतनात्मकाः ।
शुद्धाशुद्धमयौ भावौ पुरुषार्थश्चतुर्विधः ॥ ५२ ॥
सर्वं प्रकृतिभिर्नद्धं कालेन कलितं तथा ।
इत्येतत्सकलं वस्तु भावाभावस्वरूपकम् ॥ ५३ ॥
अमन्मयं मन्मयं च मयि लीनमवस्थितम् ।

काल, देश, आकार, क्रिया, कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान और इनसे होने वाले सभी फल, भोग-भोक्ता ये सभी मुझ संविदात्मा में विलीन हो जाते हैं । देवता दैत्य नाग, गन्धर्व, राक्षससमूह विद्याधर पिशाच, भूतादि अष्टकगण, मनुष्य अनेक प्रकारों के वर्ण, कर्मादि भेद, पशु, मृग, पक्षिगण, सरीसृप, स्थावर, अनेक प्रकार के कुत्सित कर्म करने वाले पापीजन, स्वर्ग में रहने वाले तथा नारकीयजन, चौदहों लोक, नदियाँ, सप्तद्वीप, सप्तसमुद्र, अनेक प्रकार के ब्रह्माण्ड, ऊँचे-नीचे प्रकार के तत्त्व, अनेक प्रकार की शब्दराशियाँ, भोग्य,

भोगोपकरण, भोगस्थान कोश, छह प्रकार के कोशज जीव, चेतन-अचेतन, शुद्ध-अशुद्धमय भाव, चारों प्रकार के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पदार्थ, प्रकृति में अनुरुद्ध एवं काल द्वारा निर्मित भावाभावात्मक पदार्थ इत्यादि जो थे वे सभी वस्तुयें तथा मनरहित अचेतन एवं मन्मय चेतन—ये सभी मुझ में लीन होकर स्थित रहते हैं ॥ ४६-५४- ॥

सर्वात्मना सदैवाहं स्वच्छस्वच्छन्दचिन्मयी ॥ ५४ ॥
लक्ष्या सुखमयी शान्ता भावे भावे विपश्चिता ।
एवं व्यवस्थितताया मे तिरोभावाभिधानया ॥ ५५ ॥
बद्धा शक्त्या तु चिच्छक्तिः स्वतो मां नैव विन्दति ।
यदा निर्विद्यते सासौ मदनुग्रहबिन्दुना ॥ ५६ ॥
उपायैर्मां तदाराध्य जीवश्चिच्छक्तिसंज्ञकः ।
संक्षिण्वन् निखिलान्क्लेशान्विधून्वन्वासनारजः ॥ ५७ ॥
संप्राप्य ज्ञानसद्भावं योगक्षपितबन्धनः ।
मामेव परमानन्दमयीं लक्ष्मीं स विन्दति ॥ ५८ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे लक्ष्मीस्वरूपप्रकाशो
नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अतः मैं सर्वात्मना सदा ही स्वच्छ स्वच्छन्द चिन्मयी हूँ । मैं प्रत्येक भावों में सुखमयी एवं शान्त स्वरूपेण स्थित रहती हूँ, जिसे बुद्धिमान ही देख पाते हैं । इस प्रकार व्यवस्थित रूप से रहने वाली मेरी तिरोधान शक्ति से बँधी हुई चिच्छक्ति मुझे देख नहीं पाती । जब मेरे मात्र अनुग्रह के एक बिन्दु से उसे निर्वेद (वैराग्य) होता है । तब जीवशक्ति संज्ञक नाना प्रकार के उपायों से मेरी आराधना कर नाना प्रकार के क्लेशों एवं वासनारज को नष्ट कर योग द्वारा बन्धन काटकर ज्ञान सद्भाव प्राप्त कर परमानन्दमयी लक्ष्मी स्वरूपा मुझे प्राप्त कर आनन्द प्राप्त करता है ॥ -५४-५८ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के लक्ष्मीस्वरूपप्रकाश नामक चौदहवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

उपायप्रकारप्रकाशः

मोक्षोपायप्रश्नः

शक्रः—

नमस्ते पद्मसंभूते नमः कमलमालिनि ।
नमः कमलवासिन्यै गोविन्दगृहमेधिनि ॥ १ ॥

इन्द्र ने कहा—हे पद्मसंभूते ! हे कमलमालिनि, हे कमल पर वास करने वाली ! हे गोविन्द की गृहिणी ! आपको बारम्बार नमस्कार है ॥ १ ॥

नमस्ते कञ्जकिञ्जल्ककल्पितालकविभ्रमे ।
सर्वज्ञे सर्वभूतानामन्तःस्थे सर्वसाक्षिणि ॥ २ ॥

हे नीले कमल के पराग के समान कल्पित अलकों वाली !, हे सर्वज्ञे ! हे सभी प्राणियों के अन्तःकरण में निवास करने वाली !, हे सर्वसाक्षिणि ! आपको बारम्बार नमस्कार है ॥ २ ॥

त्वद्वक्त्रकमलोद्भूतं सर्वं तदवधारितम् ।
तत्त्वत्सृष्टं त्वया त्रातं त्वय्येव लयमेष्यति ॥ ३ ॥

आपके मुख कमल से निकली हुई सारी बातों का ज्ञान मुझे हो गया । आप जिस प्रकार सृष्टि करती हो, रक्षा करती हो और जिस प्रकार यह आप में लय होता है । वह सब मुझे ज्ञात हो गया ॥ ३ ॥

माता मानं मितिमेयं विधा एतास्त्वदात्मिकाः ।
त्वामेवाराध्य जीवास्ते तरन्ति भवसागरम् ॥ ४ ॥

माता, मान, मिति और मेय—ये सभी आपके स्वरूप हैं । हे माते !

जगत् के सारे जीव आपकी आराधना कर इस संसार सागर से पार हो जाते हैं ॥ ४ ॥

एवमादि मया देवि तत्त्वतस्त्ववधारितम् ।
कौतूहलमिदं मेऽद्य वर्तते पद्मसंभवे ॥ ५ ॥

हे महादेवि ! मैंने इन सब बातों को तत्त्व रूप से निश्चित रूप में समझ लिया है । हे पद्मसंभवे ! अब मुझे इस प्रकार का कुतूहल हो रहा है ॥ ५ ॥

तोषणीयासि केन त्वमुपायेनाम्बुजासने ।
परमः पुरुषार्थो यस्त्वत्प्रीतिस्तस्य साधनम् ॥ ६ ॥

हे अम्बुजासने ! आप किन-किन उपायों से तृप्ति को प्राप्त होती हो ? आपको प्रसन्न करने वाले परम पुरुषार्थ मोक्ष का साधन क्या है ? ॥ ६ ॥

विमर्शिनी—परमः पुरुषार्थः = मोक्षः । तस्य त्वत्प्रीतिः साधनम् । यथा चाहुः—

"श्रेयो न ह्यरविन्दलोचनमनःकान्ताप्रसादादृते
संसृत्यक्षरवैष्णवाध्वसु नृणां संभाव्यते कर्हिचित् ।" इति ॥ ६ ॥

त्वत्प्रीतौ क उपायः स्यात्कीदृशः किंविधः स्मृतः ।
एतन्मे सकलं ब्रूहि नमस्ते पद्मसम्भवे ॥ ७ ॥

आपको प्रसन्न करने का उपाय क्या है ? वह कैसा है ? उसके कितने प्रकार हैं ? हे पद्मसंभवे ! इन सभी बातों को मुझे बतलाइये । आपको मेरा नमस्कार है ॥ ७ ॥

मोक्षोपायाः कर्मसांख्ययोगसर्वसन्यासरूपाः

श्रीः—

चातुरात्म्यं परं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
सर्वं सर्वोत्तरं सर्वभूतान्तःस्थमनामयम् ॥ ८ ॥

श्री ने कहा—सच्चिदानन्द लक्षणवान् चार स्वरूपों वाला, सभी प्राणियों के अन्तःकरण में रहने वाला, स्वेतर समस्त वस्तु से विलक्षण, सबका उपादान कारण परब्रह्म है ॥ ८ ॥

विमर्शिनी—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादितैत्तिरीयश्रुतिप्रतिपाद्यं स्वरूपलक्षणमुच्यते—सदित्यादिना । सर्वोपादानत्वात् सर्वात्मत्वाच्च सर्वमित्युच्यते । तथापि स्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षणत्वमाह—सर्वोत्तरमिति ॥ ८ ॥

वासुदेवः परं ब्रह्म नारायणमयं महत् ।
तस्याहं परमा शक्तिरहंतानन्दचिन्मयी ॥ ९ ॥

वासुदेव ही परब्रह्म हैं, महान् वही नारायण स्वरूप हैं, मैं उनकी आनन्द चिन्मयी परमा शक्ति हूँ ॥ ९ ॥

विमर्शिनी—नारायणमयमिति मयट् स्वार्थे ॥ ९ ॥

भिन्नाऽभिन्ना च वर्तेऽहं ज्योत्स्नेव हिमदीधितेः ।
तावावां तत्त्वमेकं तु द्विधा भूतौ व्यवस्थितौ ॥ १० ॥

जैसे चन्द्रमा में रहने वाली चन्द्रिका (चाँदनी) भिन्न और अभिन्न दोनों स्वरूपों से रहती है, उसी प्रकार मैं भी नारायण में भिन्न और अभिन्न रूप से वर्तमान रहती हूँ । वहीं हम दोनों एक तत्त्व वाले हैं ॥ १० ॥

विमर्शिनी—प्रपञ्च इव ब्रह्मण एवावस्थाभेदः श्रीरिति केषांचिन्मतमनभिमत्याह—भिन्नेति ।

किन्तु दो प्रकार का होकर जगत् की व्यवस्था करती हूँ । जैसे प्रपञ्च ब्रह्म का एक भेद है, उसी प्रकार उनसे अभिन्न होकर भी मैं श्री उनका एक भेद हूँ ॥ १० ॥

ब्रह्म नारायणं मां यज्ज्ञानेनैवाप्नुयाद्यतिः ।
पन्था नान्योऽस्ति विज्ञानादयनाय विपश्चिताम् ॥ ११ ॥

नियतात्मा साधक पुरुष उन ब्रह्म नारायण को और मुझे ज्ञान के द्वारा प्राप्त करता है । विद्वानों द्वारा मेरी प्राप्ति का उपाय एक मात्र ज्ञान ही है और कोई दूसरा उपाय नहीं है ॥ ११ ॥

विमर्शिनी—यतिः = नियतात्मवान् । नात्र चतुर्थाश्रमी विवक्षितः । यति शब्द का अर्थ यहाँ सन्यासी न होकर आत्मवान् से है ॥ ११ ॥

ज्ञानं तच्च विवेकोत्थं सर्वतः शुद्धमव्रणम् ।
वासुदेवैकविषयमपुनर्भवकारणम् ॥ १२ ॥

क्योंकि वह ज्ञान विवेक से उत्पन्न होता है, सब प्रकार से शुद्ध है, व्रण (घाव) रहित है, मात्र वासुदेव विषयक है और मोक्ष का कारण है ॥ १२ ॥

विमर्शिनी—विवेकः = ब्रह्मणः सर्वविलक्षणत्वज्ञानम् ॥ १२ ॥

ज्ञाने तस्मिन् समुत्पन्ने विशते मामनन्तरम् ।
तैस्तैरुपायैः प्रीताहं जीवानाममलात्मनाम् ॥ १३ ॥

जब साधक को ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब वह मुझ में प्रवेश कर जाता है । अमलात्मा जीवों के द्वारा किये गए उन-उन उपायों से मैं प्रसन्न होती हूँ ॥ १३ ॥

उद्भावयामि तज्ज्ञानमात्मज्योतिःप्रदर्शकम् ।
उपायास्ते च चत्वारो मम प्रीतिविवर्धनाः ॥ १४ ॥

तदनन्तर आत्म ज्योति को प्रकाशित करने वाला ज्ञान उसमें प्रकट करती हूँ । हे इन्द्र ! मुझे प्रसन्न करने के लिये चार उपाय विहित हैं ॥ १४ ॥

विमर्शिनी—कर्मज्ञानभक्तिन्यासाख्याः चत्वारो योगा अत्र विवक्षिताः । कर्म, ज्ञान, भक्ति एवं न्यास—ये चार योग यहाँ विवक्षित हैं ॥ १४ ॥

शक्रः—

भगवत्यरविन्दस्थे पङ्कजेक्षणकामिनी ।
उपायाः के च चत्वारस्तान्मे दर्शय पङ्कजे ॥ १५ ॥

इन्द्र ने कहा—हे कमल में निवास करने वाली ! हे विष्णुपत्नि ! वे चार उपाय कौन-कौन हैं ? हे कमले ! उन उपायों को मुझे बतलाइये ॥ १५ ॥

श्रीः—

उपायांश्चतुरः शक्र शृणु मत्प्रीतिवर्धनान् ।
यैरहं परमां प्रीतिं यास्याम्यनपगामिनीम् ॥ १६ ॥

श्री ने कहा—हे इन्द्र ! मेरी प्रीति बढ़ाने वाले उन उपायों को आप सुनाइये जिससे मैं कहीं अन्यत्र न जाकर परम प्रसन्नता प्राप्त करती हूँ ॥१६॥

स्वजातिविहितं कर्म सांख्यं योगस्तथैव च ।
सर्वत्यागश्च विद्वद्भिरुपायाः कथिता इमे ॥ १७ ॥

स्वजाति विहित कर्म, सांख्य तथा योग चार उपाय (कर्म, ज्ञान, भक्ति और न्यास यहाँ ये चार विवक्षित हैं) और सर्वत्याग—ये उपाय विद्वानों ने मेरे प्राप्ति के लिये बताए हैं ॥ १७ ॥

कर्माख्योपायनिरूपणम्

चतुर्भिर्लक्षणैर्युक्तं त्रिविधं कर्म वैदिकम् ।
स्ववर्णाश्रमसंबन्धि नित्यनैमित्तिकात्मकम् ॥ १८ ॥
अकामहतसंसिद्धं कर्म तत् पूर्वसाधनम् ।
चतुर्विधस्तु संन्यासस्तत्र कार्यो विपश्चिता ॥ १९ ॥

चार लक्षणों से युक्त (द्र. १५.२०) तीन प्रकार के वैदिक कर्म अपने-अपने वर्ण और आश्रम से सम्बन्धित नित्य नैमित्तिक कर्म कामना के बिना केवल भगवत्प्रीत्यर्थ किये जाने वाले कर्म—ये साधन पहले करने चाहिये। इसके बाद चार प्रकार के सन्यास—ये ही उपाय विद्वानों ने सबसे पहले कहे हैं ॥ १८-१९ ॥

विमर्शिनीः—तीन प्रकार के कर्म कहे गए हैं— नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य। फलविशेष की कामना से किया गया कर्म काम्य कर्म है। कामना के बिना किया गया कर्म अकामहत है। यह केवल भगवत्प्रीत्यर्थ होता है।

लक्षणचतुष्कं विंशे श्लोके वक्ष्यते। नित्यनैमित्तिककाम्यभेदेन त्रैविध्यम् काम्यकर्मसु विशेषमाह—अकामेति। फलविशेषकामनया कृतानि कर्माणि काम्यानि ज्योतिष्टोमादयः। तानि च कामहतानीत्युच्यन्ते। कामनां विना केवलं भगवत्प्रीत्यर्थं कृतानि तान्यकामहतानि। अनेन काम्यानामपि कर्मणां कामनां विनानुष्ठानमनुमन्यते। परं त्वेतदुपायान्तरनिष्ठविषयम्। न्यासयोगनिष्ठानां तु काम्यकर्मणां सर्वथा स्वरूपतोऽपि त्याग एव, न तु कामनां विनाप्यनुष्ठानमिति सिद्धान्तोऽवगन्तव्यः ॥ १८-१९ ॥

मन्त्रोक्तदेवतायां वा प्रकृताविन्द्रियेषु वा।
परस्मिन् देवदेवे वा वासुदेवे जनार्दने॥ २० ॥
पूर्वं कर्तृत्वसंन्यासः फलसंन्यास एव च।
कर्मणामपि संन्यासो देवदेवे जनार्दने ॥ २१ ॥

मन्त्रोक्त देवता में, प्रकृति में, इन्द्रियों में, पर स्वरूप देवदेव वासुदेव जनार्दन में, पूर्वकर्तृत्वन्यास, फल सन्यास एवं देवदेव जनार्दन में अपने समस्त किये गए कर्मों का सन्यास ये चार प्रकार के सन्यास कहे गए हैं ॥२०-२१॥

विमर्शिनी—भगवति वासुदेवे कर्मणां संन्यसनमेव मुमुक्षुभिः कर्तव्यम्। मन्त्रदेवतादौ विन्यसनं तु बुभुक्षुविषयमिति ध्येयम् ॥ २० ॥ 'भगवानेव स्वशेषतैकरसेन मया स्वकीयैश्चोपकरणैः स्वाराधनैकप्रयोजनाय स्वशेषभूतमिदं कर्म स्वयमेव कारयति' इत्यनुसन्धानप्रकारो विवक्षितः।

मुमुक्षुओं को भगवान् वासुदेव में ही कर्तृत्व फल तथा कर्म का न्यास करना चाहिये। भगवान् स्वयं ही अपनी आराधना के लिये मुझको निमित्त बनाकर ऐसा करा रहे हैं। मैं सर्वथा अकिंचित्कर हूँ, यह न्यास (समर्पण) का प्रकार है ॥ २०-२१ ॥

शास्त्रीयमाचरन्नेवं नित्यनैमित्तिकात्मकम्।
मदाराधनकामः सञ्शश्वत् प्रीणाति मां नरः ॥ २२ ॥

इस प्रकार नित्य नैमित्तिकात्मक कर्म शास्त्रीय रीति से करता हुआ मेरा भक्त मुझे अपनी आराधना से प्रसन्न कर लेता है ॥ २२ ॥

इति ते लेशतः प्रोक्तं श्रुतिस्मृतिनिदर्शितम् ।
द्वितीयं सांख्यविज्ञानमुपायं शृणु सांप्रतम् ॥ २३ ॥

हे इन्द्र ! इस प्रकार हमने श्रुति स्मृति में निर्दिष्ट प्रथम उपाय अत्यन्त लेशमात्र कहा । अब इसके बाद द्वितीय सांख्य विज्ञान रूप उपाय सुनिए ॥ २३ ॥

सांख्याख्योपायनिरूपणम्

संख्यास्तिस्रो हि मन्तव्याः सांख्यशास्त्रनिदर्शिताः ।
प्रथमा लौकिकी संख्या द्वितीया चर्चनात्मिका ॥ २४ ॥
समीचीना तु या धीः सा तृतीया परिपठ्यते ।
संख्यात्रयसमूहो यः सांख्यं तत्परिपठ्यते ॥ २५ ॥

सांख्य शास्त्र में निर्दिष्ट तीन संख्यक उपाय मेरी प्रसन्नता के लिये कहे गए हैं । प्रथम लौकिकी, दूसरी चर्चनात्मिका और बुद्धि को ठीक-ठीक तरह मुझ में सावधानी से सन्निविष्ट करना—ये तीन उपाय है, तीन संख्या का समूह होने के कारण इसे सांख्य उपाय कहा जाता है । सांख्य ज्ञान को कहते हैं ॥ २४-२५- ॥

विमर्शिनी—त्रयाणामप्येषां ज्ञानानां विवरणमत्रैव करिष्यते ॥ २४ ॥ संख्याः ज्ञानानि पूर्वोक्तानि । तेषां समूहः सांख्यमित्युच्यते । एतदेव ज्ञानयोग इत्युच्यते ॥ २५ ॥

पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ।
अहङ्कारो महांश्चैव प्रकृतिः परमा तथा ॥ २६ ॥

तत्त्वपरिगणनाख्यसंख्यायां प्रकृतितत्त्वम्

एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ तासां व्याख्यामिमां शृणु ।
प्रकृतिस्त्रिविधा प्रोक्ता माया सूतिर्गुणात्मिका ॥ २७ ॥

अब इस लोक में लोक विषयक संख्या का निदर्शन करते हैं । पृथ्वी जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार, महान् और प्रकृति ये आठ प्रकृतियाँ कही गई हैं । इनकी व्याख्या मुझ से सुनिए । प्रकृति तीन प्रकार की कही गई है—पहली माया, दूसरी प्रसूति और तीसरी त्रैगुणात्मिका ॥ २६-२७ ॥

विमर्शिनी—लौकिकी लोकविषया संख्योच्यतेऽनेन श्लोकेन । उपरितनैः श्लोकैरस्या विवरणं क्रियते ॥ २६ ॥ माया प्रसूतिः त्रैगुण्यमिति प्रकृतिभेदाः । यद्यपि प्रकृतिः सूक्ष्मैव; तथापि तत्रैव सूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमरूपेण त्रैविध्यादेवं व्यवहारः ॥ २७ ॥

निःसक्तासक्तमद्वैतमतरङ्गमनश्वरम् ।
अचेतनानां परमं सौक्ष्म्यं मायेति गीयते ॥ २८ ॥

अचेतनों का निःसक्तता, असक्तता, अद्वैतता, अन्तरङ्गता एवं अनश्वरता—इस प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्मता माया नाम से कही जाती है ॥ २८ ॥

ईषदुच्छूनता तस्याः प्रसूतिरिति गीयते ।
गुणत्रयसमुन्मेषः साम्येन प्रकृतिः परा ॥ २९ ॥

उसकी ईषदुच्छूनता (?) प्रसूति कही जाती है । समान रूप से तीनों गुणों का जिसमें समुन्मेष हो उसे परा प्रकृति (या गुणत्रयात्मिका) कहते हैं ॥ २९ ॥

अव्यक्तमक्षरं योनिरविद्या त्रिगुणा स्थितिः ।
माया स्वभाव इत्याद्याः शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥ ३० ॥

अव्यक्त, अक्षर, योनि, अविद्या, त्रिगुणा, स्थिति, माया, स्वभाव इत्यादि शब्द प्रकृति के पर्यायवाची शब्द हैं ॥ ३० ॥

विमर्शिनी—अवान्तरभेदैः सह सङ्कलय्य प्रकृतिपर्यायनामानि अव्यक्तादीनि । उपनिषदि "अव्यक्तमक्षरे लीयते । अक्षरं तमसि लीयते । तमः परमात्मन्येकीभवति" इति त्रयाणामेषां व्यवहारः क्रियते ॥ ३० ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणा एते त्रयो मताः ।
तत्र सत्त्वं लघु ज्ञेयं सुखरूपमचञ्चलम् ॥ ३१ ॥

सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण कहे गए हैं । उसमें लघु सुखरूप और अचञ्चल (स्थिर) को सत्त्व कहा जाता है ॥ ३१ ॥

प्रकाशो नाम तद्वृत्तिश्चैतन्योग्द्रहणात्मकः ।
रजोऽपि च लघु ज्ञेयं दुःखरूपं च चञ्चलम् ॥ ३२ ॥
प्रवृत्तिर्नाम तद्वृत्तिः स्पन्दहेतुरनश्वरः ।
तमो नाम गुरु ज्ञेयं मोहरूपमचञ्चलम् ॥ ३३ ॥

उसकी वृत्ति प्रकाश है । उसका उन्मेष सचेतनों में होता है । रज भी लघु होता है, दुःखरूप और चञ्चल होता है । प्रवृत्त होना उसकी वृत्ति है एवं स्पन्द का वही हेतु है । वह अनश्वर है । तम अत्यन्त गुरु (भारी) एवं मोह

उत्पन्न करने वाला और अचञ्चल होता है ॥ ३२-३३ ॥

विमर्शिनी—चैतन्यस्य ज्ञानस्य उद्ग्रहणम् उन्मेष इत्यर्थः; वस्तुयाथात्म्यग्रहणशीलतेति यावत् ॥ ३२ ॥

नियमो नाम तद्वृत्तिः क्वचित् स्वापनलक्षणम् ।
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि व्योम्नि च वासव ॥ ३४ ॥
भूतं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ।
एते चित्तमधिष्ठाय गुणा इन्द्रियगास्तथा ॥ ३५ ॥
सुखं दुःखं तथा मोहं विषयस्थाश्च कुर्वते ।
शरीरेन्द्रियतां याता गुणाः कर्माणि कुर्वते ।
इति यस्य मतिर्नित्या स गुणात्ययमश्नुते ॥ ३६ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे उपायप्रकारप्रकाशो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

नियम (बन्धन या बाँधना) उसकी वृत्ति है, शयन कराना (निद्रा) उसका लक्षण है । हे वासव ! पृथ्वी में, स्वर्ग में, आकाश में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो इन तीन गुणों से रहित हो । ये सभी गुण चित्त में प्रविष्ट होकर इन्द्रियों को सञ्चालित करते रहते हैं । यह विषय में स्थित रहते हैं, प्राणियों को सुख-दुःख देते हैं और मोह उत्पन्न करते हैं, यहीं शरीर की इन्द्रियों में प्रविष्ट होकर उनसे कर्म कराते हैं । इस प्रकार जिसकी बुद्धि नित्य विचार करती है, वह इन तीनों गुणों को नष्ट कर देता है ॥ ३४-३६ ॥

विमर्शिनी—नियमः बन्धः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के उपायप्रकारप्रकाश नामक पन्द्रहवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

उपायप्रकारविवरणम्

महत्तत्त्वनिरूपणम्

व्याख्यानं महतः शक्र शृणुष्वावहितो मम ।
वैषम्यस्य समुन्मेषो गुणानां प्रथमो हि यः ॥ १ ॥

श्री ने कहा—हे इन्द्र ! अब सावधान होकर महत् तत्त्व का व्याख्यान सुनिए, तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है और उनका वैषम्य महान् कहा जाता है । गुणों के विषमता का उन्मेष जिसमें होता है वह महान् प्रथम कहा जाता है ॥ १ ॥

विमर्शिनी—अनेन गुणत्रयस्य साम्यावस्थायां प्रकृतिरिति, वैषम्यावस्थायां महानिति च व्यवहार इत्युक्तं भवति ॥ १ ॥

स महान्नाम तस्यापि विधास्तिस्त्रः प्रकीर्तिताः ।
सात्त्विको बुद्धिरित्युक्तो राजसः प्राण एव हि ॥ २ ॥
तामसः काल इत्युक्तस्तेषां व्याख्यामिमां शृणु ।
बुद्धिरध्यवसायस्य प्राणः प्रयतनस्य च ॥ ३ ॥
कालः कलनरूपस्य परिणामस्य कारणम् ।
महतोऽपि विकुर्वाणादहङ्कारो व्यजायत ॥ ४ ॥

उस महान् के तीन प्रकार कहे गए हैं—सात्विक प्रकार, बुद्धि कही जाती है, राजस प्राण कहा जाता है और तामस काल कहा जाता है । अब उनकी व्याख्या सुनिए । बुद्धि, अध्यवसाय, प्राण, प्रयत्न और काल परिणति ही परिणाम में कारण होती है । महत् तत्त्व में विकार उत्पन्न होने पर अहङ्कार की उत्पत्ति हुई ॥ २-४ ॥

विमर्शिनी—कालस्य तामसत्त्वमत्रोच्यते । औपनिषदप्रक्रिया कालस्याप्राकृत-

त्वमेवेति वदन्ति ॥ ३ ॥ कलनं विपरिणतिः । आम्रादिशलाटोः तत्फलात्मना, युवदेहस्य वलिभवृद्धदेहात्मना च या परिणतिः सेत्यर्थः ॥ ४ ॥

अहङ्कारस्य तत्कार्याणां च निरूपणम्

स चापि त्रिविधो ज्ञेयो गुणवैषम्यसंभवात् ।
तामसाद्वियदादिस्तु तन्मात्रगण उज्ज्वलः ॥ ५ ॥

वह अहङ्कार भी गुण की विषमता के कारण तीन प्रकार का है—तामस अहङ्कार से आकाशादि और तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है ॥ ५ ॥

जातः सत्त्वसमुद्रिक्तादूबुद्धीन्द्रियगणो महान् ।
कर्मेन्द्रियगणश्चापि राजसादुभयात्मकम् ॥ ६ ॥
उभयस्मात् समुद्भूतमितीयं तत्त्वपद्धतिः ।
अत्र प्रकृतिरेकैव मूलभूता सनातनी ॥ ७ ॥

सत्त्व अहङ्कार की वृद्धि से पञ्च ज्ञानेन्द्रिय की उत्पत्ति हुई । राजस अहङ्कार से पाँच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति हुई । सात्विक और राजस इन दोनों से मन की उत्पत्ति हुई । इसलिये मन ज्ञानेन्द्रियात्मक कर्मेन्द्रियात्मक दोनों हैं । तत्त्वपद्धति इस प्रकार की कही गई है । इसमें मूलभूता सनातनी प्रकृति एक ही प्रकार की है ॥ ६-७ ॥

विमर्शिनी—कर्मेन्द्रियाणां राजसत्त्वं, मनसः सात्त्विकराजसत्वमिति विभागस्तान्त्रिकैकदेशिनां मतेन । वस्तुतस्तु एकादशापीन्द्रियाणि सात्त्विकानीत्येव बहूनां पाञ्चरात्रिकाणां मतम् । "देवा वैकारिका दश । एकादशं मनश्च" इति विष्णुपुराणे चोक्तम् ॥ ६ ॥ तत्त्वपद्धतिः । अचित्तत्त्वपद्धतिरित्यर्थः । इत्थमत्र विभागः—तत्वं द्विविधम्, अचित्तत्त्वं चित्तत्त्वं चेति । तत्राचित्तत्त्वं चतुर्विंशतिधा—प्रकृतिमहदहङ्कारास्त्रयः, तन्मात्राणि पञ्च, महाभूतानि पञ्च, एकादशेन्द्रियाणीति । चित्तत्त्वं द्वेधा —जीव ईश्वरश्चेति । आहत्य षड्विंशतिस्तत्त्वानि ॥ ७ ॥

महदाद्यास्तु सप्तान्ये कार्यकारणरूपिणः ।
तन्मात्रेभ्यः समुद्भूता विशेषा वियदादयः ॥ ८ ॥
बुद्धिकर्मेन्द्रियगणौ पञ्चकौ मन एव च ।
विकारा एव विज्ञेया एते षोडश चिन्तकैः ॥ ९ ॥

उस प्रकृति से अन्य महदादि सात कार्य और कारण दोनों ही उत्पन्न होते हैं, उन-उन तन्मात्राओं से विशेष आकाश वायु आदि पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है । आकाशादि पञ्चमहाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन— ये सोलह विकार ही है, ऐसा तत्त्वचिन्तकों ने कहा है ॥ ८-९ ॥

चतुर्विंशतिरेतानि तत्त्वानि कथितानि ते ।
यावान्यश्चात्र वक्तव्यो विशेषो यादृशस्त्विह ॥ १० ॥
स सर्वः कथितः पूर्वं तव वृत्रनिषूदन ।
विंशत्या च त्रिभिश्चैव विकारैः स्वैः समन्विता ॥ ११ ॥
इयं प्रकृतिरव्यक्ता कथिता ते सुराधिप ।
व्यक्ताव्यक्तमयी सैषा नित्यं प्रसवधर्मिणी ॥ १२ ॥

प्रकृति महान् अहङ्कार (३) तन्मात्रायें ५, महाभूत पाँच और कर्मेन्द्रिय ५, ज्ञानेन्द्रिय ५, मन १—इस प्रकार कुल २४ तत्त्व कहे गए हैं। हे वृत्रहन्ता ! ये तत्त्व जितनी संख्या में हैं और इनकी जितनी-जितनी विशेषतायें हैं यह सब हम पूर्व में कह आये हैं। अपने से उत्पन्न २३ विकारों से युक्त यह प्रकृति अव्यक्त है। इसे भी हम कह आये हैं। हे सुराधिप ! यह प्रकृति अपनी अवस्था में अव्यक्त और परिणामावस्था में व्यक्त है। इसलिये यह व्यक्त और अव्यक्त दोनों होने से प्रसवधर्म वाली है ॥ १०-१२ ॥

विमर्शिनी—प्रकृत्यवस्थायामव्यक्ता, परिणत्यवस्थायां व्यक्ता। कार्यकारणयोर-भेदादेवमुक्तिः ॥ १२ ॥

विलक्षणा सा विज्ञेया चिच्छक्तिरविनश्वरा ।
स जीवः कथितः सद्भिस्तत्त्वशास्त्रविशारदैः ॥ १३ ॥

कभी भी नाश न होने वाली यह चिच्छक्ति विलक्षणा है। तत्त्वशास्त्र के विशारदों ने इसे ही जीव संज्ञा से कहा है ॥ १३ ॥

अयं स्वरसतः शुद्धः परिणामविवर्जितः ।
कूटस्थश्चिद्घनो नित्यो ह्यनन्तोऽप्रतिसंक्रमः ॥ १४ ॥

यह जीव स्वभाव से शुद्ध है। परिणाम रहित है। कूटस्थ, चिद्घन, नित्य और अनन्त (असंख्य) है और ज्ञानादि गुणों से अपरिच्छिन्न है ॥ १४॥

विमर्शिनी—स्वरसतः = स्वभावतः । अनन्तः; संख्यया ज्ञानादिगुणैश्चा-परिच्छिन्न इत्यर्थः ॥ १४ ॥

इमौ स्वरसतोऽसक्तौ सक्तात्मानाविव स्थितौ ।
प्रकृतिः पुरुषश्चैव महद्भ्यश्च महत्तरौ ॥ १५ ॥

प्रकृति और पुरुष, महान् से भी महत्तर है। इनका यह स्वभाव है कि ये किसी में आसक्ति नहीं रखते। किन्तु आसक्त जैसे दिखाई पड़ते हैं ॥ १५ ॥

लिङ्गग्राह्यावुभौ नित्यावलिङ्गौ चाप्युभावपि ।
साधर्म्यमेवमाद्येवमनयोरुन्नयेद्बुधः ॥ १६ ॥

यद्यपि दोनों ही नित्य हैं, अलिङ्ग हैं, तथापि दोनों लिङ्ग ग्राह्य हैं (लिङ्ग द्वारा ग्रहण किये जाते हैं) बुद्धिमान् पुरुष पहले इनका साधर्म्य इस प्रकार समझे ॥ १६ ॥

वैधर्म्यमनयोः शक्र कथ्यमानं निबोध मे ।
प्रकृतिस्त्रिगुणा नित्यं सततं परिणामिनी ॥ १७ ॥
अविवेकाप्यशुद्धा च सर्वजीवसमा सदा ।
विषयोऽचेतना चैव सुखदुःखविमोहिनी ॥ १८ ॥

अब हे इन्द्र ! इन प्रकृति और पुरुषों का वैधर्म्य कह रही हूँ । आप उन्हें सुनिए । प्रकृति त्रिगुणात्मिका और सतत् परिणामिनी है, अविवेकयुक्त है, अशुद्ध है, सारे जीवों के लिये समान है, यह विषय है और चेतनारहित है और सुख-दुःख के द्वारा जीवों को मोहित करती है ॥ १७-१८ ॥

मध्यस्थः पुरुषो नित्यः क्रियावानप्यविह्वलः ।
साक्षी दृशिस्तथा द्रष्टा शुद्धोऽनन्तो गुणात्मकः ॥ १९ ॥

पुरुष कार्य कारण वर्जित तटस्थ है, नित्य है, क्रिया करने वाला है, किन्तु उसमें लिप्त नहीं होता है । वह साक्षी द्रष्टा, शुद्ध और अनन्त गुणों वाला है ॥ १९ ॥

वैधर्म्यमनयोरेतत् प्रकृतिं चानयोः शृणु ।
या सा सदसदाख्यादिविकल्पविकला ध्रुवा ॥ २० ॥

इस प्रकार इन दोनों का वैधर्म्य कहा गया । अब इनकी प्रकृति सुनिए । जो सत्-असत् आदि विकल्पों से संकुल हैं और ध्रुवा हैं ॥ २०॥

विमर्शिनी—विकल्पविकलेति । विविधपरिणत्यभागिनीत्यर्थः ॥ २० ॥

नित्योदिता सदानन्दा पूर्णषाड्गुण्यविग्रहा ।
अहं नारायणी शक्तिर्विष्णोः श्रीरनपायिनी ॥ २१ ॥

नित्योदिता, सदानन्दा, पूर्व में कहे गए षाड्गुण्य से युक्त विग्रहवती मैं उन भगवान् नारायण की शक्ति हूँ जो विष्णु से अलग कभी नहीं रहती ॥ २१ ॥

मत्तः प्रभवतो ह्येतौ मय्येव लयमेष्यतः ।
साहमेतावती भावैर्विविधैर्विस्तृतिङ्गता ॥ २२ ॥

ये दोनों प्रकृति और पुरुष मुझ से उत्पन्न होते हैं और मुझ में ही लय भी होते हैं । वही मैं महालक्ष्मी विविध उन-उन भावों से संसार में विस्तार

प्राप्त करती हूँ ॥ २२ ॥

नारायणे प्रतिष्ठाय पुनस्तस्मादुदेम्यहम् ।
एको नारायणो विष्णुर्वासुदेवः सनातनः ॥ २३ ॥
अपृथग्भूतशक्तित्वादद्वैतं ब्रह्म निष्कलम् ।
ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजोमहोदधिः ॥ २४ ॥
निस्तरङ्गः सदैवासौ जगदेतच्चराचरम् ।
इति ते सांख्यविज्ञानं लेशतः शक्र दर्शितम् ॥ २५ ॥

मैं उन नारायण में स्थित होकर पुनः उन्हीं से उदय प्राप्त करती हूँ। सनातन वासुदेव विष्णु एक ही हैं । उनसे शक्ति पृथक् नहीं है । इस कारण वे ही अद्वैत ब्रह्म निष्कल है । ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज के समुद्र हैं । वे सदा ही तरङ्गरहित (स्थिर) रहते हैं । यह सारा चराचर जगत् उन्हीं का स्वरूप हैं । हे इन्द्र ! इस प्रकार मैंने सांख्यविज्ञान का लेशमात्र आपको प्रदर्शित किया ॥ २३-२५ ॥

विमर्शिनी—शक्ति और शक्तिमान दोनों में एकत्व होने से अद्वैत है । वस्तुतः यह नारायण ही समस्त चराचर जगत रूप से विराट् के रूप में अवस्थित हैं ।

शक्तिशक्तिमतोरपृथक्सिद्धसंबन्धात् एकत्वम् । अतो नाद्वितीयत्वविरोध इति भावः ॥ २४ ॥ असौ नारायण एव चराचरात्मकजगद्रूपतयावतिष्ठत इति यावत् ॥ २५ ॥

चर्चासम्यग्ज्ञानाख्यसंख्ययोर्निरूपणम्

या तत्त्वगणना संख्या तां पुरा शीलयेद् बुधः ।
ततः साधर्म्यवैधर्म्यस्वरूपप्रभवादिकाम् ॥ २६ ॥
कुर्याच्चचर्चात्मिकां संख्यां शास्त्रतत्त्वोपदेशजाम् ।
चर्चायामिह संख्यायां सिद्धायाममलात्मनि ॥ २७ ॥
उदेति या समीचीना संख्या सत्तत्त्वगोचरा ।
एषा सा परमा संख्या मत्प्रसादसमुद्भवा ॥ २८ ॥

मैंने पूर्व में जो तत्त्वों की गणना की है बुद्धिमानों को उस पर बारम्बार विचार करना चाहिये । तदनन्तर साधर्म्य वैधर्म्य स्वरूप और प्रभवादि विषयों की चर्चा करनी चाहिये । जब संख्या विषयक सांख्यशास्त्र के उपदेश की तत्त्वों की चर्चा सिद्ध (निश्चित) हो जाती है तब सत्तत्व जानी जाने वाली समीचीन (उत्तम) संख्या स्वयं उदित हो जाती है । यह सर्वोत्कृष्ट सांख्यशास्त्र निरूपित

संख्या मेरे प्रसाद से उत्पन्न हुई है ॥ २६-२८ ॥

विमर्शिनी—चर्चा नाम पुनः पुनः परिशीलनम् । ॥ २७ ॥

सांख्यदर्शनमेतत्ते परिसंख्यानमीरितम् ।
एवं हि परिसंख्याय सांख्या मद्भावमागताः ॥ २९ ॥

हे इन्द्र ! इस प्रकार मैंने सांख्यशास्त्र में निर्दिष्ट परिसंख्या का वर्णन किया । इस प्रकार की संख्या का परिसंख्यान कर सांख्यशास्त्र के विद्वानों ने मुझे प्राप्त किया था ॥ २९ ॥

योगाख्योपायनिरूपणम्

उपायो यस्तृतीयस्ते वक्ष्यते योगसंज्ञकः ।
योगस्तु द्विविधो ज्ञेयः समाधिः संयमस्तथा ॥ ३० ॥

हे इन्द्र ! अब मैं अपनी प्राप्ति का तीसरा उपाय, जिसे योग कहते हैं, उसे कहती हूँ, योग दो प्रकार के होते हैं । प्रथम समाधि, दूसरा संयम ॥ ३० ॥

यमाद्यङ्गसमुद्भूता समाधिः संस्थितिः परे ।
ब्रह्मणि श्रीनिवासाख्ये ह्युत्थानपरिवर्जिता ॥ ३१ ॥

यमादि योग के अङ्ग से उत्पन्न स्थिति को समाधि कहते हैं । श्री निवास नामक परब्रह्म परमात्मा में उत्थान (चाञ्चल्य) रहित स्थिति ही समाधि है ॥ ३१ ॥

साक्षात्कारमयी सा हि स्थितिः सद् ब्रह्मवेदिनाम् ।
ध्यातृध्येयाविभागस्था मत्प्रसादसमुद्भवा ॥ ३२ ॥

उस स्थिति का साक्षात्कार ब्रह्मवेत्ताओं को ही होता है । जो ध्याता एवं ध्येय के अभेद सम्बन्ध से प्राप्त होती है ऐसी समाधि मेरी प्रसन्नता से होती है ॥ ३२ ॥

विमर्शिनी—अविभागस्थेति । "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" इत्युक्त-रीत्या परस्य ब्रह्मणोऽविभागेनोपासनमत्राभिप्रेतम् ॥ ३२ ॥

संयमो नाम सत्कर्म परमात्मैकगोचरम् ।
तत्पुनर्द्विविधं प्रोक्तं शारीरं मानसं तथा ॥ ३३ ॥

केवल परमात्मा को साक्षात्कार करने वाला सत्कर्म संयम नाम से अभिहित होता है । वह संयम शारीरिक और मानस भेद से दो प्रकार का

होता है ॥ ३४ ॥

विस्तरेणाभिधास्येते समाधिः संयमस्तथा ।
प्रथमो य उपायस्ते कर्मात्मा कथितः पुरा ॥ ३४ ॥

समाधि और संयम का विस्तारपूर्वक वर्णन आगे करूँगी। मैंने कर्मात्मा नामक प्रथम उपाय आपसे पहले कह दिया है ॥ ३४ ॥

संज्ञानं जनयेच्छुद्धमन्तःकरणशोधनात् ।
तेन हि प्रीणिता साहं सदाचारनिषेवणात् ॥ ३५ ॥

उस कर्मात्मा द्वारा शुद्ध अन्तःकरण के संशोधन से संज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिये सदाचार के सतत् निषेवण से मैं प्रसन्न होती हूँ ॥ ३५ ॥

ददामि बुद्धियोगं तमन्तःकरणशोधनम् ।
सांख्यं नाम द्वितीयो य उपायः कथितस्तव ॥ ३६ ॥
परोक्षः शास्त्रजन्योऽसौ निर्णयो दृढतां गतः ।
प्रत्यक्षतामिवापन्नो मत्प्रीतिं जनयेत्पराम् ॥ ३७ ॥

मैं ही सदाचार सेवन करने वालों को ऐसी बुद्धि देती हूँ जिससे उनका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। मैंने सांख्य नामक जो दूसरा उपाय आपसे कहा है। वह उपाय शास्त्रजन्य है, इसलिये परोक्ष है। निर्णय के कारण दृढ़ होने से वह प्रत्यक्ष जैसा प्रतीत होता है। यह सांख्य नामक उपाय मेरी परम प्रीति उत्पन्न करता है ॥ ३६-३७ ॥

अहं संख्यायमाना हि स्वरूपगुणवैभवैः ।
उद्भावयामि तज्ज्ञानं प्रत्यक्षं यद्विवेकजम् ॥ ३८ ॥

स्वरूप गुण और वैभव से संख्यायमान (परिगणित) होने पर मैं ऐसे ज्ञान का उद्भावन करती हूँ जो विवेकजन्य होकर प्रत्यक्ष हो जाता है ॥ ३८ ॥

तृतीयस्तु समाध्यात्मा प्रत्यक्षोऽविप्लवो दृढः ।
प्रकृष्टसत्त्वसंभूतः प्रसादातिशयो हि सः ॥ ३९ ॥

तृतीय समाधि नामक उपाय प्रत्यक्ष अविप्लव (निर्विघ्न) है और दृढ़ है। वह प्रकृष्ट सत्त्व के द्वारा उत्पन्न होता है तथा मेरे अत्यन्त प्रसाद से वह प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

तृतीयस्य विधा योऽसौ संयमो नाम वर्णितः ।
भोगैः शुद्धैस्त्रिधोद्भूतैरत्यन्तप्रीतये मम ॥ ४० ॥

तृतीय संयम जो योग का दूसरा प्रकार है, वह तीन प्रकार के अत्यन्त शुद्ध भागों से उत्पन्न होता है और मेरी अत्यन्त प्रीति का कारण है ॥ ४० ॥

अहं हि तत्र विश्वात्मा विष्णुशक्तिः परावरा ।
साक्षादेव समाराध्या देवो वा पुरुषोत्तमः ॥ ४१ ॥

मैं विश्वात्मा, परावरा, विष्णु शक्ति ही साधको द्वारा उपासना करने पर साक्षात्कार रूप में प्रगट होती हूँ, अथवा भगवान् पुरुषोत्तम उपासना द्वारा साक्षात् प्रत्यक्ष होते हैं ॥ ४१ ॥

सर्वसन्यासाख्योपायोपक्षेपः

इति ते कथिताः सम्यगुपायास्त्रय ऊर्जिताः ।
शृणूपायं चतुर्थं मे सर्वत्यागसमाह्वयम् ॥ ४२ ॥

हे इन्द्र ! इस प्रकार अत्यन्त शक्तिशाली अपनी प्राप्ति के हेतुभूत तीनों उपायों का वर्णन मैंने आपसे किया । अब सर्वत्याग नामक चतुर्थ उपाय आपसे कहती हूँ, सुनिए ॥ ४२ ॥

तत्र धर्मान् परित्यज्य सर्वानुच्चावचाङ्गकान् ।
संसारानलसंतप्तो मामेकां शरणं व्रजेत् ॥ ४३ ॥
अहं हि शरणं प्राप्ता नरेणानन्यचेतसा ।
प्रापयाम्यात्मनात्मानं निर्धूताखिलकल्मषम् ॥ ४४ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे उपायप्रकारविवरणं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

...

ऊँचे नीचे सभी प्रकार के धर्मों (वर्णधर्म, आश्रमधर्म एवं कुलधर्म) को त्याग कर संसाराग्नि से उत्तप्त साधक मेरी शरण में आवे । इस प्रकार अनन्य चित्त वाले साधक जब मेरी शरण में आ जाते हैं, तब मैं उनका सारा पाप दूर कर देती हूँ और अपने आप उसके बिना किसी प्रयत्न के स्वयं उसे प्राप्त हो जाती हूँ ॥ ४३-४४ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के उपायप्रकारविवरणं नामक सोलहवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ १६ ॥

...

सप्तदशोऽध्यायः

रहस्योपायप्रकाशः

परमपदस्वरूपम्

नमस्ते कमलावासे जनन्यै सर्वदेहिनाम् ।
गृहिण्यै पद्मनाभस्य नमस्ते सरसीरुहे ॥ १ ॥

इन्द्र ने कहा—कमल में आवास करने वाली समस्त प्राणियों की माता भगवान् विष्णु की गृहिणी कमले आपको नमस्कार है ॥ १ ॥

उपायास्ते त्रयः पूर्वे कथिता अवधारिताः ।
व्याचक्ष्वाम्ब चतुर्थं तमुपायं परमम्बुजे ॥ २ ॥

आपके द्वारा कहे हुये तीनों उपायों को मैंने अच्छी तरह जान लिया है, हे कमल से उत्पन्न होने वाली भगवति ! अब उस चतुर्थ उपाय की व्याख्या कीजिए ॥ २ ॥

श्रीरुवाचः—

एको नारायणो देवो वासुदेवः सनातनः ।
चातुरात्म्यं परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमव्रणम् ॥ ३ ॥

श्री ने कहा—सनातन वासुदेव चार स्वरूपों वाले सच्चिदानन्द स्वरूप व्रण रहित (?) एक नारायण देव ही परब्रह्म हैं ॥ ३ ॥

एकाहं परमा शक्तिस्तस्य देवी सनातनी ।
करोमि सकलं कृत्यं सर्वभावानुगामिनी ॥ ४ ॥

मैं उन परब्रह्म परमात्मा की एक ही सनातनी देवी स्वरूपा शक्ति हूँ । मैं उनकी भावना का अनुसरण करती हुई उनका सारा कृत्य करती हूँ ॥ ४ ॥

शान्तानन्तचिदानन्दं यद् ब्रह्म परमं ध्रुवम् ।
महाविभूतिसंस्थानं सर्वतः समतां गतम् ॥ ५ ॥

शान्त, अनन्त चित्स्वरूप ध्रुव जो परब्रह्म महाविभूति (त्रिपाद्विभूति) के संस्थान हैं और सर्वत्र समदृष्टि रखने वाले हैं । मैं उनकी शक्ति हूँ ॥ ५ ॥

विमर्शिनी—महाविभूतिः = नित्यविभूतिः । 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इतिश्रुत्युक्त-रीत्या लीलाविभूत्यपेक्षया तस्या महत्त्वात् महाविभूतित्वम् ॥ ५ ॥

तस्य शक्तिरहं ब्राह्मी शान्तानन्दचिदात्मिका ।
महाविभूतिरनघा सर्वतः समतां गता ॥ ६ ॥

मैं उस परब्रह्म की शान्ता, अनन्ता, चिदात्मिका ब्राह्मी शक्ति हूँ । मैं ही सर्वथा निष्पाप महाविभूति हूँ और सर्वत्र समदृष्टि वाली हूँ ॥ ६ ॥

आश्वासनाय जीवानां यत्तन्मूर्तीकृतं महः ।
नारायणः परं ब्रह्म दिव्यं नयननन्दनम् ॥ ७ ॥

जीव मात्र के आश्वासन (संतारण) के लिये जिन्होंने महःस्वरूपा स्वकीय मूर्ति धारण किया है जो परब्रह्म नारायण सबके नेत्रों को आनन्द देने वाले हैं, मैं उनकी शक्ति हूँ ॥ ७ ॥

तदा मूर्तिमती साहं शक्तिर्नारायणी परा ।
समा समविभक्ताङ्गा सर्वावयवसुन्दरी ॥ ८ ॥

मैं उनकी परा नारायणी मूर्तिमती शक्ति हूँ । सर्वत्र समदृष्टि रखती हूँ । मेरे शरीर के सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग समान रूप में प्रविभक्त हैं तथा मैं सभी शरीरावयवों से सुन्दरी भी हूँ ॥ ८ ॥

तयोर्नौ परमं व्योम निर्दुःखं पदमुत्तमम् ।
षाड्गुण्यप्रसरो दिव्यः स्वाच्छन्द्याद्देशतां गतः ॥ ९ ॥

उन हम दोनों का दुःखरहित सर्वश्रेष्ठ परम व्योम नामक स्थान है । मेरी इच्छा से ही षाड्गुण्य के विस्तार होने के कारण वह अप्राकृत रूप देश बनकर हमारा वासस्थान बन गया है ॥ ९ ॥

विमर्शिनी—मदीयेच्छया षाड्गुण्यप्रसर एवाप्राकृतदिव्यदेशतां प्राप्त इत्यर्थः ॥ ९ ॥

स्वकर्मनिरतैः सिद्धैर्वेदवेदान्तपारगैः ।
अनेकजन्मसंताननिःशेषितकषायकैः ॥ १० ॥

क्लेशेन महता सिद्धैरन्तरायातिगैः क्रमात् ।
संख्याविधिविधानज्ञैः सांख्यैः संख्यानपारगैः ॥ ११ ॥
प्रत्याहृतेन्द्रियग्रामैर्धारणाध्यानशालिभिः ।
यौगैः समाहितैः शश्वत्क्लेशेन यदवाप्यते ॥ १२ ॥

अपने कर्म में निरत रहने वाले, वेद वेदान्त के पारगामी, अनेक जन्मों के द्वारा अपने पापों को नष्ट कर देने वाले, महान् क्लेश के द्वारा सिद्धि प्राप्त करने वाले, सभी अन्तरायों (विघ्नों) से रहित, संख्या विधि के विधान को जानने वाले, संख्यान के पारगामी सांख्यशास्त्रवेत्ता, इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाले, धारणा, ध्यान में निरन्तर संलग्न रहने वाले और योग के द्वारा समाहित ऐसे लोग जिस स्थान को महान् क्लेश से प्राप्त करते हैं ॥ १०-१२ ॥

अच्छिद्राः पञ्चकालज्ञाः पञ्चयज्ञविचक्षणाः ।
पूर्णे वर्षशते धीराः प्राप्नुवन्ति यदञ्जसा ॥ १३ ॥

सर्वथा निर्दोष (पापरहित), अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय एवं योग इन पञ्चकृत्यों को करने वाले, पञ्चकालज्ञ, पञ्चयज्ञ में विचक्षण, धीर लोग सौ वर्षों के बाद जिस स्थान को प्राप्त करते हैं ॥ १३ ॥

विमर्शिनी—अच्छिद्राः; भगवदननुभवरूपच्छिद्ररहिताः । यथोक्तम्—

'यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते ।
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिः सा च विक्रिया ॥'

इति । अभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययोगाख्याः पञ्च कालाः ॥ १३ ॥

यत्तत्पुराणमाकाशं सर्वस्मात् परमं ध्रुवम् ।
यत्पदं प्राप्य तत्त्वा मुच्यन्ते सर्वबन्धनैः ॥ १४ ॥

जो सबसे प्राचीन एवं आकाशरूप है, सबसे परे है, ध्रुव है, तत्त्वज्ञ लोग जिसे प्राप्त कर सब प्रकार के बन्धनों से दूर हो जाते हैं ॥ १४ ॥

सूर्यकोटिप्रतीकाशाः पूर्णेन्द्वयुतसंनिभाः ।
यस्मिन् पदे विराजन्ते मुक्ताः संसारबन्धनैः ॥ १५ ॥

करोड़ों सूर्य के समान जाज्वल्यमान, पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान कान्ति वाले, संसार के सभी बन्धनों से मुक्त महात्मा लोग जिस स्थान पर शोभित होते हैं ॥ १५ ॥

इन्द्रियच्छिद्रविधुरा द्योतमानाश्च सर्वतः ।

अनिष्यन्दा अनाहाराः षाड्गुण्यतनवोऽमलाः ॥ १६ ॥

जिनकी इन्द्रियों में किसी प्रकार का छिद्र (पाप) नहीं है, जो चारों दिशाओं में सर्वदा प्रकाशित रहते हैं, जो निष्यन्दरहित हैं, आहार वर्जित हैं, जिनका शरीर षाड्गुण्यमय तथा उज्ज्वल है ॥ १६ ॥

एकान्तिनो महाभागा यत्र पश्यन्ति नौ सदा ।
क्षपयित्वाधिकारान् स्वान् शश्वत्कालेन भूयसा ॥ १७ ॥
वेधसो यत्र मोदन्ते शङ्कराः सपुरन्दराः ।
सूरयो नित्यसंसिद्धाः सर्वदा सर्वदर्शिनः ॥ १८ ॥
वैष्णवं परमं रूपं साक्षात्कुर्वन्ति यत्र ते ।
अष्टाक्षरैकसक्तानां द्विषट्कार्णरतात्मनाम् ॥ १९ ॥
षडक्षरप्रसक्तानां प्रणवासक्तचेतसाम् ।
जितंतासक्तचित्तानां तारिकानिरतात्मनाम् ॥ २० ॥
अनुताराप्रसक्तानां यत् पदं विमलात्मनाम् ।
अनन्तविहगेशानविष्वक्सेनादयोऽमलाः ॥ २१ ॥
मदाज्ञाकारिणो यत्र मोदन्ते सकलेश्वराः ।

ऐसे एकान्तिक महाभाग उस परम व्योम में जाकर सदा हम दोनों का दर्शन करते हैं । इन्द्रसहित सदाशिव ब्रह्मा बड़े-बड़े विद्वान्, नित्य संसिद्ध, सर्वदा समदृष्टि रखने वाले, विद्वज्जन अपने अधिकार पर्यन्त काल बिताने के बाद जहाँ प्रसन्नतापूर्वक निवास करते हैं और जहाँ रहकर वे वैष्णव रूप का नित्य निरन्तर साक्षात्कार करते हैं । जो एकमात्र (ॐ नमो नारायणाय) इस अष्टाक्षर मन्त्र का एवं एकमात्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) इस द्वादशाक्षर मन्त्र का, 'जितं ते पुण्डरीकाक्ष'—इस जितन्ता षडक्षर मन्त्र का, ह्रीं इस तारिका मन्त्र का, 'श्रीं' इस अनुतारिका मन्त्र का निरन्तर जप करने वाले, अतएव उसमें प्रसक्त विमलात्माओं का जहाँ निवास है, जहाँ अनन्त विहङ्गेश (गरुड़) तथा स्वच्छ अन्तःकरण वाले और मेरी आज्ञा मानने वाले सभी सर्वेश्वर प्रसन्नतापूर्वक रहते हैं ॥ १७-२२- ॥

तत्र दिव्यवपुः श्रीमान् देवदेवो जनार्दनः ॥ २२ ॥
अनन्तभोगपर्यङ्के निषण्णः सुसुखोज्ज्वले ।
विज्ञानैश्वर्यवीर्यस्थैः शक्तितेजोबलोल्बणैः ॥ २३ ॥
आयुधैर्भूषणैर्दिव्यैरद्भुतैः समलंकृतः ।
पञ्चात्मना सुपर्णेन पक्षिराजेन सेवितः ॥ २४ ॥

उस परमव्योम नामक स्थान में दिव्य शरीर धारण किये हुये श्री श्रीमान्, देवदेव, विष्णु परमसुखकारी श्वेत वर्ण की शेषनाग की शय्या पर बैठे हुये हैं, वे विज्ञान, ऐश्वर्य, वीर्य वाले, शक्ति, तेज और बल से उल्वण तथा अनेक प्रकार के आयुधों एवं दिव्य आभूषणों से अलंकृत रहते हैं । जहाँ पञ्चोपनिषत् मन्त्र स्वरूप से श्री गरुड़ उनकी सेवा करते हैं ॥ -२२-२४ ॥

विमर्शिनी—जितंता मन्त्र इस प्रकार है—

जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन ।
नमस्तेऽस्तु हृषीकेष महापुरुष पूर्वज ॥ (२४.६९)

क्षपयित्वेति । अत्र ''यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्'' इति शारीरकसूत्रं तदुपबृंहणानि वचनानि चानुसन्धेयानि ॥ १७ ॥ अष्टाक्षरः = नारायणाष्टाक्षर-मन्त्रः । द्विषट्कार्णः = वासुदेवद्वादशाक्षरमन्त्रः ॥ १९ ॥ षडक्षरः = श्रीविष्णु-षडक्षरमन्त्रः । जितंता ''जितं ते पुण्डरीकाक्ष'' इत्यादिश्लोकरूपमन्त्रः । अस्य महिमादिकमहिर्बुध्न्यसंहितायामुक्तं वेदितव्यम् । तारिका ह्रींमन्त्रः ॥ २० ॥ अनुतारा श्रींमन्त्रः ॥ २१ ॥ पञ्चात्मना पञ्चोपनिषन्मन्त्रस्वरूपेण ॥ २४ ॥

सारूप्यमेयुषा साक्षाच्छ्रीवत्सकृतलक्ष्मणा ।
सेनान्या सेवितः सम्यग्विष्वक्सेनेन दीप्यता ॥ २५ ॥
क्षेमाय सर्वलोकानामाध्यानाय मनीषिणाम् ।
मुक्तयेऽखिलबन्धानां रूपदानाय योगिनाम् ॥ २६ ॥
आस्ते नारायणः श्रीमान् वासुदेवः सनातनः ।
सुकुमारो युवा देवः श्रीवत्सकृतलक्षणः ॥ २७ ॥
चतुर्भुजो विशालाक्षः कीरीटी कौस्तुभं वहन् ।
हारनूपुरकेयूरकाञ्चीपीताम्बरोज्ज्वलः ॥ २८ ॥

विष्णु का ध्यान—साक्षात् श्रीवत्स के चिन्ह से भूषित, शङ्ख चक्रादि धारण कर भगवान् विष्णु के स्वरूप को प्राप्त हुये अपने सेनापति अत्यन्त तेजस्वी विष्वक्सेन से सेवित, सभी का कल्याण करने के लिये मनीषी लोगों के आप्यायन (अभिवृद्धि) के लिये समस्त बन्धनों से मुक्त करने के लिये योगियों को अपना स्वरूप प्रदान करने के लिये श्रीमान् सनातन नारायण वासुदेव उस शेषनाग की शय्या पर बैठे हुये हैं, जो सुकुमार, युवा देव तथा श्रीवत्स के आभूषण से लक्षित हो रहे हैं । जिनकी चार भुजायें हैं, नेत्र विशाल है, किरीट एवं महान् कौस्तुभ धारण किये हुये, हार, नूपुर, केयूर, काञ्ची तथा पीताम्बर से अत्यन्त शोभित है ॥ २५-२८ ॥

वनमालां दधद्दिव्यां पञ्चशक्तिमयीं पराम् ।

सर्वावयवसम्पन्नः सर्वावयवसुन्दरः ॥ २९ ॥
राजराजोऽखिलस्यास्य विश्वस्य परमेश्वरः ।
कान्तस्य तस्य देवस्य विष्णोः सद्गुणशालिनः ॥ ३० ॥
दयिताहं सदा देवी ज्ञानानन्दमयी परा ।
अनवद्यानवद्याङ्गी नित्यं तद्धर्मधर्मिणी ॥ ३१ ॥

सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह स्वरूपा पञ्चशक्तिमयी सर्वोत्कृष्ट बनमालाधारण किये हुये, सर्वावयव सम्पन्न, सर्वावयवसुन्दर तथा इस सम्पूर्ण विश्व के राजराजेश्वर परमेश्वर है । उन सद्गुणशाली परम मनोहर देवाधिदेव विष्णु की ज्ञानानन्दमयी परा स्वरूपा देवी दयिता मैं अनवद्या (निर्दोष) अनवद्याङ्गी (शोभनस्वरूपा) हूँ तथा नित्य ही उनके धर्म में निरत होने से तद्धर्मधर्मिणी हूँ ॥ २९-३१ ॥

विमर्शिनी—सारूप्यं शङ्खचक्रादिना भगवत्सारूप्यम् । तदेवाह—श्रीवत्सेति । इदं च विशेषणद्वयं सेनान्येत्यनेनान्वेति ॥ २५ ॥ सृष्टिस्थितिसंहारनिग्रहानुग्रहाः पञ्च शक्तयः ॥ २९ ॥

ईश्वरी सर्वभूतानां पद्माक्षी पद्ममालिनी ।
शक्तिभिः सेविता नित्यं सृष्टिस्थित्यादिभिः परा॥ ३२ ॥

कमल के समान नेत्रों वाली कमलों की माला धारण करने वाली मैं समस्त प्राणियों की ईश्वरी हूँ । सृष्टि स्थित्यादि शक्तियाँ मेरी नित्य सेवा में लगी रहती हैं ॥ ३२ ॥

विमर्शिनी—ईश्वरीति । ईष्टे इत्यर्थे कर्तरि औणादिको वरट् प्रत्ययः ॥३२॥

द्वात्रिंशता सहस्रेण सृष्टिशक्तिभिरावृता ।
वृता तद्द्विगुणाभिश्च दिव्याभिः स्थितिशक्तिभिः ॥ ३३ ॥

बत्तीस हजार की संख्या में सृष्टि शक्तियाँ मेरे चारों ओर विराजमान रहती हैं । उनसे दूनी संख्या में दिव्य स्वरूप वाली स्थित शक्तियाँ मुझे घेरे रहती हैं ॥ ३३ ॥

ततश्च द्विगुणाभिश्च पूर्णा संहृतिशक्तिभिः ।
नायिका सर्वशक्तीनां सर्वलोकमहेश्वरी ॥ ३४ ॥

उससे भी दूनी संहार, शक्तियाँ मेरे चारो ओर रहकर मुझे घेरे रहती हैं, मैं ही सभी शक्तियों की अधिष्ठात्री हूँ और सारे लोकों की महेश्वरी हूँ ॥ ३४॥

महिषी देवदेवस्य सर्वकामदुघा विभोः ।

तुल्या गुणवयोरूपैर्मनःप्रमथनी हरेः ॥ ३५ ॥

सर्वव्यापक देवाधिदेव विष्णु की महिषी मैं समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली हूँ । मैं वयरूप में विष्णु के समान हूँ तथापि विष्णु का मन मुझे देखकर सकाम हो जाता है ॥ ३५ ॥

तैस्तैरनुगुणैर्भावैरहं देवस्य शार्ङ्गिणः ।
करोमि सकलं कृत्यं नित्यं तद्धर्मधर्मिणी ॥ ३६ ॥

मैं उन भगवान् देवाधिदेव शार्ङ्ग धनुष धारण करने वाले विष्णु के उन-उन गुणों से एवं उन-उन भावों से युक्त होने के कारण तद्धर्मधर्मिणी बनकर उनके सारे कार्यों का सम्पादन करती हूँ ॥ ३६ ॥

न्यासाख्योपायस्य भगवन्नारायणोपदिष्टत्वम्

साहमङ्के स्थिता विष्णोर्देवदेवस्य शार्ङ्गिणः ।
लालिता तेन चात्यन्तं सामरस्यमुपेयुषी ॥ ३७ ॥

मैं उन देवाधिदेव शार्ङ्ग धनुषधारी विष्णु के अङ्क में स्थित होकर लालित होती हूँ । अतः उनका सामरस्य प्राप्त कर सर्वदा ही उनसे लालित रहती हूँ ॥ ३७ ॥

कदाचित् सर्वदर्शिन्याः कृपा मे स्वयमुद्गता ।
क्लिश्यतः प्राणिनो दृष्ट्वा संसारज्वलनोदरे ॥ ३८ ॥

किसी समय संसाराग्नि के मध्य क्लेश में जलते हुये प्राणियों को देखकर समदर्शिनी मेरे मन में अकस्मात् कृपा का आविर्भाव हो गया ॥ ३८ ॥

कथं न्विमे भविष्यन्ति दुःखोत्तीर्णाः सुखोत्तराः ।
संसारपरसीमानमाप्नुयुर्मा कथं न्विति ॥ ३९ ॥

ये प्राणी जो संसार की ज्वाला से उत्तप्त हो रहे हैं, दुःख पा रहे हैं, किस प्रकार इन्हें सुख प्राप्त हो और ये फिर किसी प्रकार संसार सागर की सीमा में पुनः न आवें ॥ ३९ ॥

साहमन्तः कृपाविष्टा देवदेवमचूचुदम् ।
भगवन् देवदेवेश लोकनाथ मम प्रिय ॥ ४० ॥

इस प्रकार की कृपा से आविष्ट होकर मैंने देवाधिदेव उन विष्णु को प्रेरित किया । हे भगवन् ! हे देवदेवेश, हे लोकनाथ, हे मेरे प्रिय ॥ ४० ॥

सर्वादे सर्वमध्यान्त सर्व सर्वोत्तराच्युत ।
गोविन्द पुण्डरीकाक्ष पुराण पुरुषोत्तम ॥ ४१ ॥
दुस्तरापारसंसारसागरोत्तारकारण ।
व्यक्ताव्यक्तज्ञकालाख्यक्लृप्तभावचतुष्टय ॥ ४२ ॥
वासुदेव जगन्नाथ सङ्कर्षण जगत्प्रभो ।
प्रद्युम्न सुभग श्रीमन्ननिरुद्धापराजित ॥ ४३ ॥
नानाविभवसंस्थान नानाविभवभाजन ।
दिव्यशान्तोदितानन्दषाड्गुण्योदयविग्रह ॥ ४४ ॥
स्फुरत्किरीटकेयूरहारनूपुरकौस्तुभ ।
पीताम्बर महोदार पुण्डरीकनिभेक्षण ॥ ४५ ॥
चतुर्मूर्ते चतुर्व्यूह शरदिन्दीवरद्युते ।
अभिरामशरीरेश नारायण जगन्मय ॥ ४६ ॥
अमी हि प्राणिनः सर्वे निमग्नाः क्लेशसागरे ।
उत्तारं प्राणिनामस्मात्कथं चिन्तयसि प्रभो ॥ ४७ ॥

हे सर्वादि ! सर्वमध्यान्त और सबके अन्त में भी विराजमान ! हे गोविन्द !, हे पुण्डरीकाक्ष !, हे पुराण !, हे पुरुषोत्तम !, हे दुस्तर अपार संसार रूप सागर से पार करने में कारणभूत !, हे व्यक्त (स्पष्ट) और अव्यक्त (गुप्त) भाव को जानने वाले !, हे कालनाम वाले !, हे क्लृप्तभावचतुष्टय !, हे वासुदेव !, हे जगन्नाथ !, हे सङ्कर्षण !, हे जगत्प्रभो !, प्रद्युम्न, सुभग, श्रीमन्, अनिरुद्ध, अपराजित, नानाविभव संस्थान, नाना विभव भाजन, शान्त, उदित, आनन्द षाड्गुण्योदय विग्रह, किरीट और केयूर, हार, नूपुर एवं कौस्तुभ से जाज्वल्यमान, पीताम्बर, महोदार, पुण्डरीकनिभेक्षण, चतुमूर्ति, चतुर्व्यूह, शरत्कालीनचन्द्रमा के समान कान्ति वाले, मनोहर शरीर वाले, ईश, नारायण, हे जगन्नाथ ! ये सभी सांसारिक जीव, जो इस क्लेश सागर में डूब रहे हैं, हे प्रभो ! उनके इस क्लेश सागर से उद्धार का उपाय आप किस प्रकार से सोच रहे हैं ॥ ४१-४७ ॥

इत्युक्तो देवदेवेशः स्मयमानोऽब्रवीदिदम् ।
अरविन्दासने देवि पद्मगर्भे सरोरुहे ॥ ४८ ॥
उत्तारहेतवोऽमीषामुपाया विहिता मया ।
कर्म सांख्यं तथा योग इति शास्त्रव्यपाश्रयाः ॥ ४९ ॥

महालक्ष्मी द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर देवदेवेश विष्णु ने मुस्कुराते हुये ऐसा कहा ! हे कमलासने ! हे पद्मगर्भे ! हे कमले ! हे देवि ! मैंने इन

जीवों के संसार सागर से पार करने का उपाय कर्म सांख्य तथा योग, जो शास्त्र निर्दिष्ट भी हैं, वे उपाय बता दिये हैं ॥ ४८-४९ ॥

प्रत्यवोचमहं देवमित्युक्ता पुरुषोत्तमम् ।
देवदेव न ते शक्याः कर्तुं कालेन गच्छता ॥ ५० ॥

तब भगवान् देवाधिदेव विष्णु के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर मैंने (लक्ष्मी) ने कहा—हे देव ! अब उपायों के समय बीत चुके हैं, सांसारिक प्राणी उन उपायों के करने में सर्वथा असमर्थ है ॥ ५० ॥

कालो हि कलयन्नेव स्वतन्त्रो भवदात्मकः ।
ज्ञानं सत्त्वं बलं चैषामायुश्च विनिकृन्तति ॥ ५१ ॥

काल सबको बदलता रहता है, स्वतन्त्र है, 'कालोऽस्मि' के अनुसार वह आपका स्वरूप है जो प्राणियों के ज्ञान, सत्त्व, बल और आयु को समाप्त करता रहता है ॥ ५१ ॥

अन्तःकरणसंस्था हि वासना विविधात्मिकाः ।
तत्तत्कालवशं प्राप्य यातयन्ति शरीरिणः ॥ ५२ ॥

अन्तःकरण में रहने वाली अनेक प्रकार की वासनायें उस काल के वशीभूत हो प्राणियों को यातना पहुँचाती रहती हैं ॥ ५२ ॥

उदासीनो भवानेवं प्राणिनां कर्म कुर्वताम् ।
तत्तत्कालानुकूलानि तत्फलानि प्रयच्छति ॥ ५३ ॥

कर्म करने वाले प्राणियों को देखकर भी आप उदासीन (तटस्थ) हैं । उनके द्वारा किया गया कर्म उन-उन कालों के अनुसार उन्हें कर्मफल देता रहता है ॥ ५३ ॥

येन त्वं बत संरब्धः प्राणिनः पालयिष्यसि।
प्रब्रूहि तमुपायं मे प्रणतायै जनार्दन ॥ ५४ ॥

जिन उपाय से संरब्ध (कोश) होकर आप इन प्राणियों का पालन कर सकते हैं, हे जनार्दन ! उन उपायों को आप, प्रणत रहने वाली मुझ से कहिये ॥ ५४ ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं भगवानुत्स्मयन्निव ।
सरोरुहे विजानीषे सर्वमेवात्मनो गतम् ॥ ५५ ॥

महालक्ष्मी द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर भगवान् ने मुस्कुराते हुये कहा—

हे कमले ! आप मेरे अन्तःकरण की सारी बातें जानती हैं ॥ ५५ ॥

मां तु जिज्ञाससे देवि तथापि शृणु भामिनि।
उपायाश्चाप्यपायाश्च शास्त्रीया निर्मिता मया ॥ ५६ ॥

फिर भी हे देवि ! मुझ से पूछती हैं । तथापि हे भामिनि ! उसे आप सुनिए । प्राणियों के संतारण के लिये मैंने शास्त्रीय रीति से उपाय और अपाय दोनों का निर्माण किया है । पुण्य सम्पादक (ज्योतिष्टोमादिक) उपाय हैं और (पाप सम्पादक जीव हिंसा) अपाय है ॥ ५६ ॥

विमर्शिनी—उपायाः पुण्यसम्पादकाः ज्योतिष्टोमादयः । अपायाः पापसम्पादकाः परहिंसादयः ॥ ५६ ॥

विहिता य उपायास्ते निषिद्धाश्चेतरे मताः ।
अधो नयन्त्यपायास्तं य एनाननुवर्तते ॥ ५७ ॥

जो शास्त्रों में विहित है, वे ही उपाय हैं और जिन्हें शास्त्रों ने निषिद्ध कर रखा है, वे अपाय हैं । जो अपाय का आश्रय करता है उसे वे नीचे (नरकादि में) ले जाते हैं ॥ ५७ ॥

ऊर्ध्वं नयन्त्युपायास्तं य एनाननुवर्तते ।
उपायापायसंत्यागी मध्यमां वृत्तिमाश्रितः॥ ५८ ॥

न्यासस्वरूपम्

मामेकं शरणं प्राप्य मामेवान्ते समश्नुते ।
षडङ्गं तमुपायं च शृणु मे पद्मसंभवे ॥ ५९ ॥

जो उपाय का अनुवर्तन करता है उसे वे उपाय स्वर्गादि ऊपर की ओर ले जाते हैं, जो उपाय और अपाय इन दोनों को परित्यक्त कर मध्यम (तटस्थ रहकर). वृत्ति का आश्रय लेकर मात्र मेरी शरण में आ जाते हैं, वे अन्त में मुझे प्राप्त कर लेते हैं । हे पद्मसंभवे ! अब षडङ्ग उस उपाय को आप मुझ से सुनिए ॥ ५८-५९ ॥

विमर्शिनी—संत्यागीति । पुण्यपापसम्पादकानि काम्यनिषिद्धानि परित्यज्य नित्यनैमित्तिकक्रियापर इत्यर्थः ॥ ५८ ॥ मामेकम् = मामेवेत्यर्थः । एकशब्दोऽवधारणार्थः सन् अन्ययोगव्यवच्छेदे वर्तते । अत्रेदं बोध्यम्—शरणवरणात् पूर्वं मध्यमवृत्त्याश्रयणं भवतु वा, मा वा । अस्ति चेत्, शरणवरणे त्वरामुपजनयति । न चेत्, विलम्बः । शरणवरणानन्तरं तु यावज्जीवं मध्यमवृत्त्याश्रयणमवश्यं कर्तव्यम् । न चेत् विलम्बेन फलं स्यात् । पूर्वकृतानि तु कर्माणि न्यासबलादेव

नश्यन्ति । पश्चात् कृतानि तु प्रामादिकानि न श्लिष्यन्ति । बुद्धिपूर्वकृतान्यपि प्रायश्चित्तापनोद्यानि भवन्ति । अतः चान्द्रायणादिप्रायश्चित्तपरिहरणाय मध्यम-वृत्त्याश्रयणमावश्यकं विधीयत इति ॥ ५९ ॥

न्यासस्य षडङ्गानि, महिमा च

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ॥ ६० ॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ।
एवं मां शरणं प्राप्य वीतशोकभयक्लमः ॥ ६१ ॥

षडङ्ग शरणागति—भगवान् को अनुकूल करने वाले कर्म का सङ्कल्प तथा भगवान् के प्रतिकूल कर्म का परित्याग एवं भगवान् मेरी रक्षा अवश्य करेगें—इस प्रकार का विश्वास, भगवान् ही हमारे रक्षक हैं, अपने को भगवान् में समर्पण और दैन्य—ये छह प्रकार की शरणागति कही गई है । इस प्रकार के आचरण से मेरी शरण में आया हुआ व्यक्ति शोक, भय और दुःख से सदा के लिये मुक्त हो जाता है ॥ ६०-६१ ॥

निरारम्भो निराशीश्च निर्ममो निरहंकृतिः ।
मामेव शरणं प्राप्य तरेत् संसारसागरम् ॥ ६२ ॥

मेरा शरण प्राप्त कर लेने पर निरारम्भ (कार्य का आरम्भ न करने वाला), निराशी (किसी से कुछ भी न चाहने वाला), ममतारहित और अहङ्कार रहित होकर व्यक्ति संसार सागर से पार हो जाता है ॥ ६२ ॥

सत्कर्मनिरताः शुद्धाः सांख्ययोगविदस्तथा ।
नार्हन्ति शरणस्थस्य कलां कोटितमीमपि ॥ ६३ ॥

सत्कर्म में निरन्तर लगे रहने वाले (कर्मयोगनिष्ठ), सांख्यायोगविद (ज्ञानयोगी और भक्तियोगी) ये सभी शरणागत की करोड़वीं कला की भी बराबरी नहीं कर सकते ॥ ६३ ॥

विमर्शिनी—सत्कर्मनिरताः = कर्मयोगनिष्ठाः । सांख्यविदः = ज्ञानयोगिनः, योगविदः = भक्तियोगिनः ॥ ६३ ॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा देवदेवस्य शार्ङ्गिणः ।
प्रीताहमभवं शक्र तदिदं वर्णितं तव ॥ ६४ ॥

शार्ङ्ग धनुष धारण करने वाले भगवान् के इस प्रकार के वचन को सुनकर मुझे जैसी प्रसन्नता हुई वह सब हमने आपसे कह दिया ॥ ६४ ॥

षण्णामङ्गानां स्वरूपम्

शक्रः—

देवप्रिये महादेवि नमस्ते पङ्कजासने ।
आनुकूल्यादिकं भावं मम व्याचक्ष्व विस्तरात् ॥ ६५ ॥

इन्द्र ने कहा—देवप्रिये ! महादेवि ! कमल के आसन पर विराजमान रहने वाली भगवति, अब आप पहले कहे गए आनुकूल्यादि छह भावों का विस्तारपूर्वक वर्णन करें ॥ ६५ ॥

श्रीः—

आनुकूल्यमिति प्रोक्तं सर्वभूतानुकूलता ।
अन्तः स्थिताहं सर्वेषां भावानामिति निश्चयात् ॥ ६६ ॥
मयीव सर्वभूतेषु ह्यानुकूल्यं समाचरेत् ।
तथैव प्रातिकूल्यं च भूतेषु परिवर्जयेत् ॥ ६७ ॥

श्री ने कहा—सभी प्राणियों के भीतर मैं ही निवास करती हूँ, इस प्रकार के निश्चय से न केवल हम दोनों की अनुकूलता प्राप्त करनी चाहिए बल्कि सभी प्राणियों के प्रतिकूल आचरण वाले कर्म का परित्याग भी करना चाहिए ॥ ६६-६७ ॥

विमर्शिनी—आनुकूल्यसङ्कल्पो न केवलमावयोर्विषये । किंतु अस्मच्छेषभूतेषु सर्वेष्वपि भूतेष्वित्याह—सर्वेति ॥ ६६ ॥

त्यागो गर्वस्य कार्पण्यं श्रुतशीलादिजन्मनः ।
अङ्गसामग्र्यसम्पत्तेरशक्तेरपि कर्मणाम् ॥ ६८ ॥

श्रुत (विद्या), शील तथा जन्मादि के गर्व का त्याग कार्पण्य कहा जाता है । इसी प्रकार अपने अङ्ग (सौन्दर्य), सम्पत्ति, शक्ति तथा कर्म का भी त्याग कार्पण्य कहा जाता है ॥ ६८ ॥

अधिकारस्य चासिद्धेर्देशकालगुणक्षयात् ।
उपाया नैव सिध्यन्ति ह्यपाया बहुलास्तथा ॥ ६९ ॥
इति या गर्वहानिस्तद्दैन्यं कार्पण्यमुच्यते ।
शक्तेः सूपसदत्वाच्च कृपायोगाच्च शाश्वतात् ॥ ७० ॥
ईशोशितव्यसंबन्धादनिदंप्रथमादपि ।
रक्षिष्यत्यनुकूलान्न इति या सुदृढा मतिः ॥ ७१ ॥
स विश्वासो भवेच्छक्र सर्वदुष्कृतनाशनः ।

करुणावानपि व्यक्तं शक्तः स्वाम्यपि देहिनाम् ॥ ७२ ॥
अप्रार्थितो न गोपायेदिति तत्प्रार्थनामतिः ।
गोपायिता भवेत्येवं गोप्तृत्ववरणं स्मृतम् ॥ ७३ ॥

देश काल और गुणों के विनष्ट होने के कारण तथा अधिकार की असिद्धि होने के कारण उपाय सफल नहीं होते । इसमें अनेक अपाय विघ्न की भी संभावना है । इसलिये सर्व प्रकार से गर्वरहित होकर दीन बन जाना यह भी कार्पण्य ही है । भगवान् शक्ति सम्पन्न हैं, उनमें निरन्तर कृपा का योग है, मेरा उनका ईश-ईशितव्य भाव है अर्थात् वे मेरे ईश्वर हैं और मैं जीव उनका ईशितव्य (कृपापात्र) हूँ । यह अभी पहली ही कृपा नहीं हैं । कई बार वे मुझपर कृपा भी कर चुके हैं । फिर क्या वे मेरी दुष्कृतों से रक्षा नहीं करेगें ? इस प्रकार की भगवान् में जो दृढ़ निष्ठा हैं, वहीं विश्वास है, जिससे सारा पाप दूर हो जाता है । हे शक्र ! जो स्वामी सभी लोगों की दृष्टि में करुणावान् रूप से प्रसिद्ध है, किन्तु प्रार्थना के बिना वह भी रक्षा नहीं करता । इसलिये उसकी प्रार्थना करना अनिवार्य है, अतः मेरे द्वारा प्रार्थना किये जाने पर वे प्रभु मेरी अवश्य रक्षा करेगें इस प्रकार की वृत्ति को गोप्तृत्व वरण कहा जाता है ॥ ६९-७३ ॥

तेन संरक्ष्यमाणस्य फले स्वाम्यवियुक्तता ।
केशवार्पणपर्यन्ता ह्यात्मनिक्षेप उच्यते ॥ ७४ ॥

उन परमेश्वर के द्वारा संरक्षित होने के दो फल हैं—आत्मनिक्षेप और कारुण्य । उसमें केशवार्पण पर्यन्त स्वाम्यवियुक्तता आत्मनिक्षेप कहा जाता है ॥ ७४ ॥

न्यासस्य पर्यायनामानि

निक्षेपापरपर्यायो न्यासः पञ्चाङ्गसंयुतः ।
संन्यासस्त्याग इत्युक्तः शरणागतिरित्यपि ॥ ७५ ॥

निक्षेप का दूसरा नाम न्यास है, जो पञ्चाङ्ग संयुत होता है । सन्यास त्याग को कहते हैं उसे शरणागति भी कहा जाता है ॥ ७५ ॥

उपायोऽयं चतुर्थस्ते प्रोक्तः शीघ्रफलप्रदः ।
अस्मिन् हि वर्तमानानां विधौ विप्रनिषेविते ॥ ७६ ॥

षण्णामङ्गानामुपकारकत्वम्

पूर्वे त्रय उपायास्ते भवेयुरमनोहराः ।

आनुकूल्येतराभ्यां च विनिवृत्तिरपायतः ॥ ७७ ॥
कार्पण्येनाप्युपायानां विनिवृत्तिरिहोदिता ।
रक्षिष्यतीति विश्वासादभीष्टोपायकल्पनम् ॥ ७८ ॥
गोप्तृत्ववरणं नाम स्वाभिप्रायनिवेदनम् ।
सर्वज्ञोऽपि हि विश्वेशः सदा कारुणिकोऽपि सन् ॥ ७९ ॥
संसारतन्त्रवाहित्वाद्रक्षापेक्षां प्रतीक्षते ।
आत्मात्मीयभरन्यासो ह्यात्मनिक्षेप उच्यते ॥ ८० ॥

यह चतुर्थ आत्मनिक्षेप रूप उपाय शीघ्र फल देने वाला होता है (द्र. १५.१७) इसमें आत्मनिक्षेप (= शरणागति) की स्थिति में (आनुकूल्यस्य सङ्कल्प प्रतिकूलस्य वर्णनम् रक्षिष्यति विश्वासः) ये विधि निषेध रूप तीनों उपाय उतने सफल नहीं हो पाते । क्योंकि आनुकूल्य की स्थिति, प्रातिकूल्य का वर्जन तथा 'रक्षिष्यतीति विश्वासः' इन तीनों उपायों की निवृत्ति अपाय के द्वारा हो सकती है । केवल कार्पण्य मात्र से भी इन उपायों की विनिवृत्ति संभव है जो अभी यहीं कही गई है । 'रक्षिष्यति' इस विश्वास से अभीष्ट उपाय की कल्पना की गई है । गोप्तृत्व वरणं का अर्थ है—अपने अभिप्राय का निवेदन । वह विश्वेश सर्वज्ञ है एवं करुणाकर है । फिर भी संसार तन्त्र के निर्वाह के लिये रक्षा की अपेक्षा करता है । इसलिये सर्वज्ञ और करुणासागर होते हुये भी वह बिना रक्षा की अपेक्षा किये किसी की रक्षा नहीं करता । बिना ब्याज के रक्षा करने की स्थिति में तो पुण्यात्मा और पापात्मा सर्वसामान्य की रक्षा का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा । यदि स्वेच्छया किसी की रक्षा करे और किसी की रक्षा न करे तो उसमें वैषम्य नैर्धण्य दोष की संभावना हो जायेगी, इसलिये प्रभु आर्त्त द्वारा रक्षा की अपेक्षा किये जाने पर ही उसकी रक्षा करते हैं सर्वज्ञता और करुणाकर होने के कारण नहीं । यहीं उनका लोकनिर्वाहक तन्त्र है जिसकी प्रतीक्षा वे करते हैं । अपने आप का तथा आत्मीय का न्यास कर देना (त्याग देना छोड़ देना) इसी का नाम आत्मनिक्षेप है ॥ ७६-८० ॥

विमर्शिनी—शरण्यस्य सर्वज्ञत्वात् करुणाकरत्वाच्च स्वयमेवार्तान् रक्षिष्यतीत्याशङ्क्याह—सर्वज्ञोऽपीति । संसारतन्त्रवाहित्वं नाम लीलाविभूति-निर्वहणम् । व्याजानपेक्षरक्षणे सुकृद्दुष्कृत्साधारण्येन सर्वरक्षणप्रसक्तौ धर्माधर्मकृत्या-कृत्यन्यायान्यायसङ्करप्रसङ्गः । स्वेच्छया कांश्चिदेव रक्षन् अन्यान् न रक्षति चेत् ''समोऽहं सर्वभूतेषु'' इत्युद्घोषयतस्तस्य वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्ग इति भावः ॥ ७९ ॥

हिंसास्तेयादयः शास्त्रैरपायत्वेन दर्शिताः ।
कर्मसांख्यादयः शास्त्रैरुपायत्वेन दर्शिताः ॥ ८१ ॥

शास्त्रकारो ने हिंसा स्तेय आदि को अपाय कहा है और कर्म, ज्ञान आदि को शास्त्रों ने उपाय रूप से प्रदर्शित किया है ॥ ८१ ॥

अपायोपायसंत्यागी मध्यमां स्थितिमास्थितः ।
रक्षिष्यतीति निश्चित्य निक्षिप्तस्वस्वगोचरः ॥ ८२ ॥

अपाय (हिंसादि) एवं उपाय (ज्योतिष्टोमादि) दोनों का त्याग कर मध्यमा वृत्ति (तटस्थ) का आश्रय ग्रहण कर 'मेरी परमात्मा अवश्य रक्षा करेगा', इस प्रकार आत्मा और आत्मीय इन दोनों का निक्षेप (न्यास) कर देवदेवेश परमात्मा को अपना रक्षक समझे ॥ ८२ ॥

न्यासस्वरूपशोधनम्

शक्रः—

बुध्येत देवदेवेशं गोपतारं पुरुषोत्तमम् ।
उपायापाययोर्मध्ये कीदृशी स्थितिरम्बिके ॥ ८३ ॥
अपायोपायतामेव क्रिया सर्वावलम्बते ।
स्वीकारे व्यतिरेके च निषेधविधिशास्त्रयोः ॥ ८४ ॥
दृश्यते कर्मणो व्यक्तमपायोपायरूपता ।

इन्द्र ने कहा—हे अम्बिके ! जिस मध्यमा वृत्ति का आश्रय लेने को आप कहती हो वह उपाय और अपाय के मध्य में होने वाली मध्य स्थिति कैसी होती है ? सभी लोग उपाय और अपाय इन दोनों क्रियाओं का आश्रय लेते हैं । निषेध और विधिशास्त्र में कर्म के स्वीकार और निषेध इन दोनों की उपाय और अपायरूपता स्पष्ट रूप से देखी जाती है ॥ ८३-८५- ॥

विमर्शिनी—निषिद्धस्वीकारे विहितास्वीकारे चापायः । विहितस्वीकारे निषिद्धास्वीकारे चोपायः ॥ ८४ ॥

श्रीरुवाचः—

त्रिविधां पश्य देवेश कर्मणो गहनां गतिम् ॥ ८५ ॥
निषेधविधिशास्त्रेभ्यस्तां विधां च निबोध मे ।
अनर्थसाधनं किञ्चित्किंचिच्चाप्यर्थसाधनम् ॥ ८६ ॥
अनर्थपरिहारं च किंचित् कर्मोपदिश्यते ।
त्रैराश्यं कर्मणामेवं विज्ञेयं शास्त्रचखुषा ॥ ८७ ॥

श्री ने कहा—हे देवेश कर्म की गहन गति तीन प्रकार की होती है । आप मेरे द्वारा कहे गए निषेध और विधिशास्त्रों से उन तीनों को इस प्रकार

समझो । कुछ कर्म अनर्थ के साधन हैं तथा कुछ अर्थ के साधन और कुछ कर्म अनर्थ के परिहार के लिये शास्त्रों में उपदिष्ट हैं । इस प्रकार विज्ञान की दृष्टि से कर्म के तीन प्रकार होते हैं ॥ -८५-८७ ॥

विमर्शिनी—हिंसादि = अनर्थसाधनम् । ज्योतिष्टोमादि = स्वर्गाद्यर्थसाधनम्। प्रायश्चित्तादि = अनर्थपरिहारकम् ॥ ८६ ॥

अपायोपायसंज्ञौ तु पूर्वराशी परित्यजेत् ।
तृतीयो द्विविधो राशिरनर्थपरिहारकः ॥ ८८ ॥

उसमें साधक उपाय और अपाय वाले दो पूर्व के दो राशियों का परित्याग कर देवे । हिंसादि अपाय संज्ञक हैं और ज्योतिष्टोमादि उपाय संज्ञक है । प्रायश्चित्तादि अनर्थ-परिहार संज्ञक है । अनर्थ-परिहार नामक तृतीय कर्म दो प्रकार के कहे गए हैं । चान्द्रायणादि प्रायश्चित्त से उत्पन्न अनर्थ के नाशक होते हैं । नित्य से नैमित्तिकादि आगे होने वाले अनर्थ के परिहार करने वाले होते हैं ॥ ८८ ॥

विमर्शिनी—अनर्थपरिहारकं तृतीयं द्विविधम्—चान्द्रायणादि प्रायश्चित्तम् उत्पन्नानर्थनाशकम् । नित्यनैमित्तिकादि भाव्यनर्थपरिहारकमिति ॥ ८८ ॥

प्रायश्चित्तात्मकः कश्चिदुत्पन्नानर्थनाशनः ।
तमंशं नैव कुर्वीत मनीषी पूर्वराशिवत् ॥ ८९ ॥

इसमें उत्पन्न अनर्थ का नाशक प्रायश्चित्तादि अंश वाला कर्म मनीषी पुरुष को नहीं करना चाहिये । यह उन तीन में प्रथम विधि है । अब उनमें द्वितीय भेद कहते हैं ॥ ८९ ॥

विमर्शिनी—तृतीये प्रथमां विधामाह—प्रायश्चित्तेति ॥ ८९ ॥

क्रियमाणं न कस्मैचिद्यदर्थाय प्रकल्पते ।
अक्रियावदनर्थाय तत्तु कर्म समाचरेत् ॥ ९० ॥

क्रियमाण नित्यनैमित्तिकादि जिस कर्म से कोई लाभ न हो, किन्तु किसी प्रकार का अनर्थ न हो उस कर्म को अवश्य करना चाहिये ॥ ९० ॥

विमर्शिनी—तृतीये द्वितीयां विधामाह—क्रियमाणेत्यादि = नित्यनैमित्तिकरूप-मित्यर्थः ॥ ९० ॥

एषा सा वैदिकी निष्ठा ह्युपायापायमध्यमा ।
अस्यां स्थितो जगन्नाथं प्रपद्येत जनार्दनम् ॥ ९१ ॥

उपाय और अपाय के मध्य रहने वाली यह वैदिकी निष्ठा है । इसी

स्थिति में जगन्नाथ भगवान् के शरण में स्थित होना चाहिये ॥ ९१ ॥

सकृदेव हि शास्त्रार्थः कृतोऽयं तारयेन्नरम् ।
उपायापायसंयोगे निष्ठया हीयतेऽनया ॥ ९२ ॥

सकृत्कृतः (एक बार भी भगवान् के शरण में जाने वाला) इस शास्त्रवचन के अनुसार एक बार भी भगवच्छरणागत होने से पुरुष का उद्धार कर देता है—यह प्रपत्तिरूप निष्ठा उपाय का संयोग और अपाय का संयोग करने वाले पुरुष को हीन बना देता है ॥ ९२ ॥

विमर्शिनी—"सकृत्कृतः शास्त्रार्थः" इति न्यायानुसारेणाह—सकृदेव हीति । अनयेति = प्रपत्तिरूपयेत्यर्थः ॥ ९२ ॥

अपायसंप्लवे सद्यः प्रायश्चित्तं समाचरेत् ।
प्रायश्चित्तिरियं सात्र यत्पुनः शरणं श्रयेत् ॥ ९३ ॥

इस प्रपत्ति रूप निष्ठा में अपाय अपराधी हो जाने पर तत्क्षण प्रायश्चित करे फिर प्रायश्चित्त कर लेने के उपरान्त उस प्रायश्चित्ती को पुनः भगवच्छरणागत का सङ्कल्प करना चाहिये ॥ ९३ ॥

विमर्शिनी—अपायसंप्लव इति = बुद्धिपूर्वापराधसंभव इत्यर्थः ॥ ९३ ॥

उपायानामुपायत्वस्वीकारेऽप्येतदेव हि ।
अविप्लवाय धर्माणां पालनाय कुलस्य च ॥ ९४ ॥
संग्रहाय च लोकस्य मर्यादास्थापनाय च ।
प्रियाय मम विष्णोश्च देवदेवस्य शार्ङ्गिणः ॥ ९५ ॥
मनीषी वैदिकाचारं मनसापि न लङ्घयेत् ।
यथा हि वल्लभो राज्ञो नदीं राज्ञा प्रवर्तिताम् ॥ ९६ ॥

यतः ज्योतिःष्टोमादि को मोक्ष का उपाय मान लेने पर शरणागति की निष्ठा प्रच्युत हो जाती है इसलिये उसे न करे । धर्म में कोई अपराध न हो, कुल का पालन होता रहे । लोक संग्रह बना रहे, मर्यादाओं की रक्षा होती रहे, इसलिये हमारे और श्री विष्णु की प्रीति के लिये बुद्धिमान् वेद प्रतिपादित आचार का कदापि लङ्घन न करे । जिस प्रकार राजा का सेवक राजा की बनाई हुई नदी (नहर) को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचाता ॥ ९४-९६ ॥

विमर्शिनी—वस्तुतस्तु—ज्योतिष्टोमादीनां मोक्षोपायत्वस्वीकारेऽपि निष्ठाप्रच्युतिर्भवत्येव । तस्मात् तानि न कुर्वीत । अयमत्र निर्गलितार्थः—भक्तियोगनिष्ठानां तद्योगमहिम्नेव प्रपत्तियोगनिष्ठानामपि प्रपत्तिमहिम्नैव पूर्वतनानि सर्वाण्यपि बुद्धि-

पूर्वकाण्यबुद्धिपूर्वकाणि च मोक्षविरोधिकर्माणि समूलनाशं नश्यन्ति । प्रपन्नानां प्रायशः प्रपत्तेरनन्तरं तादृशानि कर्माणि न संभवन्त्येव । कदाचिज्जातान्यप्यबुद्धिपूर्वकाणि अश्लिष्टानि भवन्ति । बुद्धिपूर्वकाणि तु पुनः प्रपदनेन नश्यन्ति । अकृतपुनःप्रपदनानां तु स्वल्पदण्डेन तद्भोगात्तन्नाशः । प्रारब्धकर्माण्यपि प्रपन्नस्यार्तितारतम्येन सद्यो वा तद्देहावसाने वा नश्यन्ति । भक्तियोगात् न्यासयोगस्यायं महिमातिशयः—भक्तियोगः प्रारब्धकर्माणि नापोहयितुमलम् । न्यासयोगस्तु प्रारब्धकर्माण्यप्यपोहयितुमलम् । यद्यार्त्यतिशयात् प्रपत्तिकाले सद्यस्तन्नाशोऽपि प्रार्थितः, तदा सद्य एव तानि नश्यन्ति । यदि तद्देहावसने प्रार्थितः, तदा तद्देहावसान एव नश्यन्ति । न तु भक्तियोगनिष्ठानामिव तद्भोगार्थदेहान्तरापादकानि । तथा चाहुः—"साध्यभक्तिस्तु सा हन्त्री प्रारब्धस्यापि भूयसी" इति । किं च वैदिकानि काम्यकर्माणि निष्कामनया भक्तियोगाङ्गतयानुष्ठातुमभ्यनु ज्ञायन्ते । प्रपन्नानां तु निष्कामनयापि तेषामनुष्ठानं स्वरूपविरुद्धमिति ॥ ९४ ॥

लोकोपयोगिनीं रम्यां बहुसस्यविवर्धिनीम् ।
लङ्घयञ्शूलमारोहेदनपेक्षोऽपि तां प्रति ॥ ९७ ॥

राजा का प्रिय सेवक यदि लोकोपयोगिनी रम्य धन-धान्य का प्रवर्धन करने वाली राजा के द्वारा बनाई गई नहर आदि को यदि क्षति पहुँचाता है तो राजा उसे शूली पर चढ़ा देता है, भले ही उसे उस नहर से कोई अपेक्षा न हो ॥ ९७ ॥

एवं विलङ्घयन् मर्त्यो मर्यादां वेदनिर्मिताम् ।
प्रियोऽपि न प्रियोऽसौ मे मदाज्ञाव्यतिवर्तनाम् ॥ ९८ ॥

इसी प्रकार मनुष्य भी ईश्वर प्रतिपादित वेद की मर्यादा का लङ्घन करता है तो वह राजा का प्रिय होने पर भी अप्रिय हो जाता है । क्योंकि उसने मेरी आज्ञा का उल्लङ्घन किया है ॥ ९८ ॥

विमर्शिनी—अयं भावः—नित्यनैमित्तिककर्माणि न सर्वथा फलरहितानि । किन्तु प्रत्यवायोत्पत्तिनिरोधफलानि । आनुषङ्गिकमपि हि प्राजापत्यादिलोकप्राप्तिरूपफलं स्मर्यते । तत्र विनियोगपृथक्त्वात् प्रत्यवायोत्पत्तिनिरोधफलकानि तान्याद्रियन्ते । प्रत्यवायश्च भगवन्निग्रह एव । एवंच भगवन्निग्रहोत्पत्तिनिरोधाय तानि क्रियन्त इति न सर्वात्मना निरर्थकानीति । अतः

"प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते" इति चोद्यस्य नावकाशः ॥ ९८ ॥

उपायत्वग्रहं तत्र वर्जयन् मनसा सुधीः ।
चतुर्थमाश्रयन्नेवमुपायं शरणाश्रयम् ॥ ९९ ॥

बुद्धिमान् पुरुष सब प्रकार के उपायों का आग्रह मन से भी परित्याग कर देवे, केवल शरणाश्रय (शरणागति) का ही आश्रय करे ॥ ९९ ॥

अतीत्य सकलं क्लेशं संविशन्त्यमलं पदम्।
अपायोपायनिर्मुक्तां मध्यमा स्थितिमास्थिता ॥ १०० ॥

अपाय और उपाय इन दोनों प्रकार के प्रयत्नों को छोड़कर मध्यम मार्ग शरणागति का आश्रय ग्रहण करने वाला साधक सारे सांसारिक क्लेशों को पार कर सर्वथा निर्मल पद को प्राप्त कर लेता है ॥ १०० ॥

शरणागतिरग्र्यैषा संसारार्णवतारिणी।
इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ॥ १०१ ॥

मात्र एक शरणागति ही संसार समुद्र से पार करने वाली है, यही अज्ञों को भी शरण देने वाली है और विज्ञों की भी शरणस्थली है ॥ १०१ ॥

इदं तितीर्षतां पारमिदमानन्त्यमिच्छताम्।
प्रायश्चित्तप्रसङ्गे तु सर्वपापसमुद्भवे ॥ १०२ ॥
मामेकां देवदेवस्य महिषीं शरणं श्रयेत्।
उपायाद्विरतः शश्वन्मां चैव शरणं व्रजेत् ॥ १०३ ॥

संसार सागर को पार करने की इच्छा करने वाले साधकों को यही पार करती है। अनन्त पद प्राप्त करने की इच्छा करने वालों को भी यही अनन्त पद प्रदान करती है। पाप हो जाने पर प्रायश्चित के प्रसङ्ग उपस्थित हो जाने पर साधक देवाधिदेव महाविष्णु की पत्नी मुझ लक्ष्मी की शरण में आवे। सभी उपायों को त्याग देवे और केवल मेरे शरण का ही आश्रय ग्रहण करे ॥ १०२-१०३ ॥

तनूकृत्याखिलं पापं मां चाप्नोति नरः शनैः।
अथोपायप्रसक्तश्च भुक्त्वा भोगाननामयान् ॥ १०४ ॥
अन्ते विरक्तिमासाद्य विशते परमं पदम्।
उपायः सुकरः सोऽयं दुष्करश्च मतो मम ॥ १०५ ॥

ऐसा करने से वह सारे पापों को नष्ट कर धीरे-धीरे मुझे प्राप्त कर लेता है। इस उपाय में लगा रहने वाला पुरुष सम्पूर्ण भोगों को भोग कर अन्त में विरक्ति प्राप्त कर परं पद को प्राप्त कर लेता है। यद्यपि यह न्यास योग (आत्मसमर्पण शरणागति आत्मत्याग) क्षणकाल में किया जाता है, तथापि मेरे मत से इसका पालन अत्यन्त दुश्कर है, क्योंकि इसमें महाविश्वास की आवश्यकता होती है जो महाविश्वास अत्यन्त दुरुह है ॥ १०४-१०५ ॥

विमर्शिनी—ननु चिरकालसाध्यस्य भक्तियोगस्य क्षणकालसाध्यस्य न्यासयोगस्य च मोक्षाख्यतुल्यफलत्वं न घटते, गुरुलघूपाययोर्विकल्पायोगात् । तथा सति प्रेक्षावन्तः सर्वेऽपि लघूपाय एव प्रवर्तेरन्, न गुरूपाय इति तद्विधेरननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यं स्यादित्यत्राह—उपायः सुकर इति । यद्यप्ययं न्यासयोगः क्षणकालकर्तव्यत्वात् कर्माद्यनङ्गकत्वाच्च सुकर एव, तथाप्यत्यन्तदुर्लभमहाविश्वासाद्यङ्गापेक्षत्वात् दुरूहमध्यमवृत्त्याश्रयत्वाच्च दुष्कर एवेति भावः । अत्र यद्यपि ज्ञानशक्त्यादिपौष्कल्यतद्राहित्याभ्यामधिकारिभेदात् व्यवस्था सुवचा, तथापि 'इदमेव विजानताम्' इत्यादिना ज्ञानादिमतामपि न्यासयोगविधानात् सा रीतिर्नादृता ॥१०५॥

शिष्टैर्निषेव्यते सोऽयमकामहतचेतनैः ।
अकामैश्च सकामैश्च तस्मात्सिद्ध्यर्थमात्मनः ॥ १०६ ॥
अर्चनीया नरैः शश्वन्मम मन्त्रमयी तनुः ।
प्रविश्य विधिवद्दीक्षां गुरोर्लब्ध्वार्थसम्पदः ।
मन्मयैरर्चयेन्मन्त्रैर्मामिकां मान्त्रिकीं तनुम् ॥ १०७ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे रहस्योपायप्रकाशो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

...

सर्वथा कामना से रहित निष्काम कर्म करने वाले शिष्ट ही इस शरणागति मार्ग का सेवन करते हैं । चाहे निष्काम हो चाहे सकाम हो सभी लोगों को अपनी सिद्धि प्राप्त करने के लिये मेरे मन्त्रात्मक शरीर की अर्चना करनी चाहिये । साधक को गुरु के द्वारा मन्त्र की दीक्षा लेकर उसके अर्थ का ज्ञान कर मेरे स्वरूप वाले मन्त्रों से मेरी मन्त्रमयी शरीर की अर्चना करना चाहिये ॥ १०६-१०७ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के रहस्योपायप्रकाश नामक सत्रहवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ १७ ॥

...

अष्टादशोऽध्यायः

मन्त्रस्वरूपनिरूपणम्

मन्त्रविषयकः प्रश्नः

शक्रः—

नमस्ते पद्मनिलये नमस्ते पद्मसंभवे ।
विदितं वेदितव्यं मे वेदान्तेष्वपि दुर्लभम् ॥ १ ॥

देवेन्द्र ने पुनः कहा—कमल निवासिनी ! आपको नमस्कार है, कमलोद्भवे तुम्हें मेरा नमस्कार । जो वेदितव्य (जानने योग्य ज्ञान) वेदान्त ग्रन्थों में सर्वथा दुर्लभ है, उन सभी बातों को हमने समझ लिया ॥ १ ॥

ब्रूहि मन्त्रमयं मार्गमिदानीं विष्णुवल्लभे ।
यं विज्ञायार्चयेयं ते दिव्यां मन्त्रमयीं तनुम् ॥ २ ॥

हे विष्णुवल्लभे ! अब आप मन्त्रमय मार्ग हमें बतलाइये जिसे जानकर हम आपकी मन्त्रमयी शरीर की अर्चना करें ॥ २ ॥

कुतो मन्त्रसमुत्पत्तिः क्व च मन्त्रः प्रलीयते ।
मन्त्रस्य किं फलं पद्मे केन मध्ये प्रपूर्यते ॥ ३ ॥

इस मन्त्र की उत्पत्ति कहाँ से होती है ? और इसका लय कहाँ होता है ? हे पद्मे ! मन्त्र का फल क्या है ? इसको मध्य में कौन पूरा करता है ? ॥ ३ ॥

कियत्यश्च विधा अस्य परिमाणं कियत् किल ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञभावश्च कीदृशः परमोऽम्बुजे ॥ ४ ॥

इसकी कितनी विधायें (प्रकार) है ? परिमाण क्या है ? हे अम्बुजे !

इसमें क्षेत्र क्षेत्रज्ञ भाव किस प्रकार बनता है ? ॥ ४ ॥

मन्त्रश्च केन संग्राह्य उपदेष्टा च कीदृशः ।
उपासनप्रकारश्च कथमस्याब्जसंभवे ॥ ५ ॥

किसे मन्त्र देना चाहिये, मन्त्र का उपदेश करने वाला कैसा हो ? हे अब्जसंभवे ! मन्त्रों के उपासना का प्रकार कैसा होना चाहिये ? ॥ ५ ॥

उपासनोपयोगी च यावानर्थोऽम्बुजासने ।
सिद्धिसाधनयोगश्च प्रत्ययाश्च तथा तथा ॥ ६ ॥
योगः स्वाध्याययोगश्च रक्षायोगस्तथैव च ।
प्रयाश्चित्तविधिश्चैव श्राद्धकल्पस्तथैव च ॥ ७ ॥
दीक्षाप्रतिष्ठयोः कल्पो यन्त्रकल्पस्तथैव च ।
एतच्च निखिलं यच्चाप्यदृष्टमुपयुज्यते ॥ ८ ॥
प्रब्रूहि तदशेषेण नमस्ते पद्मसंभवे ।
तवैष शिरसा पादौ नतोऽस्मि कमलारुणौ ॥ ९ ॥
शरणं च प्रपन्नोऽस्मि पङ्कजे त्वमधीहि भो ।

हे अम्बुजासने ! मन्त्र की उपासना के लिये उपयोगी किन-किन वस्तुओं की आवश्यकता होती है ? उस-उस प्रकार के सिद्धि के साधन (उपाय) और प्रत्यय (विश्वास) योग, स्वाध्याययोग, रक्षायोग, प्रायश्चितविधि तथा श्राद्धकल्प, दीक्षा, प्रतिष्ठाकल्प और उसी प्रकार यन्त्र एवं कल्प—इन सब बातों को तथा जो अदृष्ट उपयोगी हो, हे पद्मसम्भवे ! उन सभी बातों को कहिये । हे भगवति ! मैं कमल के समान लाल वर्ण वाले आपके दोनों चरणों को नमस्कार करता हूँ । हे पङ्कजे ! मैं आपकी शरणागत हूँ । मुझे इस विषय का अध्ययन कराइए ॥ ६-९ ॥

श्रीरुवाचः—

प्रश्नभारोऽयमतुलस्त्वयोद्दिष्टः पुरन्दर ॥ १० ॥
वाच्यस्ते प्रीतिसंयोगाच्छृणु वक्ष्याम्यशेषतः ।

श्री ने कहा—हे इन्द्र ! यह महान् प्रश्न का भार आपने हमारे ऊपर रख दिया । मैं आपके ऊपर प्रसन्न होने के कारण आपके प्रश्न का उत्तर दे रही हूँ । अब आप उसे सुनिए ॥ -१०-११ ॥

शब्दब्रह्मणः शान्तावस्थत्वम्

अहमित्येव यः पूर्णः पुरुषः पुष्करेक्षणः ॥ ११ ॥

स्वभावः सर्वभावानामभावानां च वासव ।
इदंतयावलीढं यत् सदसज्जगति स्थितम् ॥ १२ ॥
तत्तल्लक्षणवन्तो ये तदहंत्वे विलीयते ।
विलीनेदम्पदद्वीपः प्राप्तैकध्यश्चिदम्बुधिः ॥ १३ ॥

'अहम्' मात्र इतना ही पूर्ण पुरुष विष्णु हैं । हे इन्द्र ! वही सारे भाव पदार्थों का एवं अभाव पदार्थों का स्वभाव है वह 'इदम्' इस प्रतीति का विषय है, जो सत् असत् रूप से संसार में स्थित है । इदंपदार्थभूत सभी अचित्पदार्थ रूप द्वीप इस चित्स्वरूप वासुदेव रूप महासमुद्र में मिलकर उनके साथ एकस्वरूप हो जाते हैं ॥ १२-१३ ॥

विमर्शिनी—इदंतयेति । इदमिति प्रतीतिविषयतयेत्यर्थः । पराक्त्वेनेति यावत्। युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरत्वं हि क्रमेण पराक्त्वप्रत्यक्त्वयोर्लक्षणमामनन्ति ॥ १२ ॥ विलीनेत्यादि; इदंपदार्थभूताः सर्वेऽपि अचित्पदार्थाः; त एव द्वीपाः चिदम्बुधौ वासुदेवे विलीय तेन सहैकत्वं प्राप्ता इत्यर्थः ॥ १३ ॥

निस्तरङ्गोदयोऽनन्तो वासुदेवः प्रकाशते ।
पूर्णाहंतास्मि तस्यैका शक्तिरीश्वरतामयी ॥ १४ ॥

जिसमें तरङ्ग (चञ्चलता) का सर्वथा अभाव है । ऐसे अनन्त वासुदेव सर्वदा प्रकाशित रहते हैं । मैं ईश्वरतामयी मात्र अकेली उनकी अहन्ता शक्ति हूँ ॥ १४ ॥

नित्योदिता सदानन्दा सर्वतः समतां गता ।
सर्वभावसमुद्भूतिः सर्वप्रत्यक्षसम्मता ॥ १५ ॥
या ह्येषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता ।
उद्भूतेषु पदार्थेषु साहमक्रमशालिनी ॥ १६ ॥

मैं नित्य उदय प्राप्त होने वाली हूँ, उदय दो प्रकार के होते हैं— शान्तोदय और नित्योदय । अवतार अवस्था में प्रथम और परावस्था में द्वितीय रूप में रहती हूँ । सदानन्द वाली सर्वत्र समदृष्टि रखने वाली हूँ । जगत् के सारे पदार्थ मुझ से ही उत्पन्न होते हैं । सबमें प्रत्यक्ष रूप से रहने वाली तत्-तत् पदार्थ क्रमरूपिणी जो प्रतिभा है, वह मैं ही हूँ और उद्भत पदार्थों में बिना क्रम के रहने वाली भी मैं ही हूँ ॥ १५ -१६ ॥

विमर्शिनी—नित्योदितेति । उदयो द्विविधः—शान्तोदयः नित्योदयश्चेति । अवतारावस्थायामाद्यः । परावस्थायां द्वितीयः ॥ १५ ॥

अवबोधात्मिकाया मे या प्रत्यगवमर्शिता ।

सा स्फुरत्ता महानन्दा शब्दब्रह्मेति गीयते ॥ १७ ॥

अहंरूप प्रत्यय से जानी जाने वाली ज्ञानात्मिका शक्ति जिसे स्फुरत्ता, महानन्दा और शब्द ब्रह्म कहा जाता है, वह भी मैं ही हूँ ॥ १७ ॥

विमर्शिनी—प्रत्यगवमर्शिता = अहंप्रत्ययगम्यता ॥ १७ ॥

प्रकाशानन्दसाराहं सर्वमन्त्रप्रसूः परा ।
शब्दानां जननी शक्तिरुदयास्तमयोज्झिता ॥ १८ ॥

मैं प्रकाशानन्द का सर्वस्व सारभूत हूँ । सारे मन्त्रों की जन्मदात्री हूँ । परा हूँ । मैं सभी शब्दों की जनयित्री उदयास्तरहित शक्ति हूँ ॥ १८ ॥

व्यापकं यत्परं ब्रह्म नारायणमनामयम् ।
शान्तता नाम यावस्था साहं शान्ताखिलप्रसूः ॥ १९ ॥

अनामय एवं व्यापक नारायण स्वरूप परब्रह्म की जो शान्तता अवस्था है मैं वही शान्ता हूँ और सबकी प्रसवित्री हूँ ॥ १९ ॥

शब्दब्रह्मणो नादबिन्दुमध्यमावैखरीरूपपरिग्रहः

तस्या मे य उदेति स्म सिसृक्षाख्योऽल्प उद्यमः ।
स शब्दार्थविभेदेन शान्त उन्मेष उच्यते ॥ २० ॥

उस प्रकार वाली मुझ में जो सिसृक्षा रूप अल्प उद्यम का उदय होता है, वह शब्दार्थ के भेद से शान्त उन्मेष कहा जाता है ॥ २० ॥

शब्दोदयपुरस्कारः सर्वत्रार्थोदयः स्मृतः ।
अर्थशब्दप्रवृत्त्यात्मा शब्दस्य स्थूलता हि सा ॥ २१ ॥

मुझ में शब्द का उदय पहले होता है और इसके बाद सर्वत्र अर्थ का उदय होता है जिससे अर्थयुक्त शब्द की प्रवृत्ति होती है वही शब्द की स्थूलता है ॥ २१ ॥

विमर्शिनी—शब्दस्योदयः प्रथमम्; अनन्तरमर्थस्येति तान्त्रिकसिद्धान्तः । श्रुतावपि "नामरूपे व्याकरवाणि" इति नामव्याकरणं पूर्वं, ततो रूपव्याकरणमुक्तं वेदितव्यम् ॥ २१ ॥

बोधोन्मेशः स्मृतः शब्दः शब्दोन्मेषोऽर्थ उच्यते ।
उद्यच्छब्दोदयः शक्तेः प्रथमः शान्ततात्मनः ॥ २२ ॥
स नाद इति विख्यातो वाच्यतामसृणस्तदा ।
नादेन सह शक्तिः सा सूक्ष्मेति परिगीयते ॥ २३ ॥

बोध का उन्मेष (कोश) शब्द कहा जाता है, शब्द का उन्मेष (कोश) अर्थ कहा जाता है। शान्तता रूप आत्मा की शक्ति से सर्वप्रथम शब्द-शक्ति का उदय होता है। उसे नाद कहते हैं। इस प्रकार नाद, परावाक् एवं शब्दब्रह्म—ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं। नाद के साथ रहने वाली शक्ति सूक्ष्मा वाक् कही जाती है॥ २२-२३॥

विमर्शिनी—एवं च शब्दब्रह्म, परा वाक्, नाद इति पर्यायाः॥ २३॥

नादात् परो य उन्मेषो द्वितीयः शक्तिसंभवः।
बिन्दुरित्युच्यते सोऽत्र वाच्योऽपि मसृणः स्थितः॥ २४॥

नाद के अनन्तर शक्ति से उत्पन्न होने वाला जो द्वितीय उन्मेष है उसे बिन्दु कहा जाता है जो यहाँ वाच्य होकर अत्यन्त मसृण (कोमल) रूप में स्थित रहता है॥ २४॥

विमर्शिनी—नादानन्तरं यः शक्त्युन्मेषः स बिन्दुरिति पश्यन्तीति चोच्यते॥ २४॥

पश्यन्ती नाम सावस्था मम दिव्या महोदया।
ततः परो य उन्मेषस्तृतीयः शक्तिसंभवः॥ २५॥

वही दिव्या महोदया पश्यन्ती नाम की अवस्था है। यही बिन्दु के बाद शक्ति से उत्पन्न होने वाला तृतीय उन्मेष मध्यमा नाम की अवस्था है॥ २५॥

विमर्शिनी—बिन्दोरनन्तरं शक्त्युन्मेषस्य मध्यमेति नाम॥ २५॥

मध्यमा सा दशा तत्र संस्कारयति सङ्गतिम्।
वाच्यवाचकभेदस्तु तदा संस्कारतामयः॥ २६॥

जो सङ्गति का संस्कार करता है, वही संस्कारता का विकार वाच्य वाचक के भेदों वाला होता है॥ २६॥

चतुर्थस्तु य उन्मेशः शक्तेर्माध्यमिकात् परः।
वैखरी नाम सावस्था वर्णवाक्यस्फुटोदया॥ २७॥

मध्यमा के बाद जो चतुर्थ शक्ति का उन्मेष होता है उसे वैखरी कहते हैं, उस अवस्था में वर्ण तथा वाक्य स्पष्ट रूप से उदीयमान हो जाते हैं॥ २७॥

नादादीनां वासुदेवादयो वाच्याः

अस्ति शक्तिः क्रियात्मा मे बोधरूपानुयायिनी।
सा प्राणयति नादादिं शक्त्युन्मेषपरम्पराम्॥ २८॥

बोध के अनुसार चलने वाली यही मेरी क्रियात्मा शक्ति है जो नाद, बिन्दु एवं पश्यन्ती आदि शक्ति परम्परा को अनुप्राणित करती है ॥ २८ ॥

शान्तरूपाथ पश्यन्ती मध्यमा वैखरी तथा ।
चतूरूपा चतूरूपं वच्मि वाच्यं स्वनिर्मितम् ॥ २९ ॥

इस प्रकार शान्त स्वरूपा पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी मेरी शब्द शक्ति के चार रूप हुये । अतः अपने द्वारा निर्मित होने वाले वाच्य शक्ति के चार रूपों को मैं कहती हूँ, आप सुनिए ॥ २९ ॥

वासुदेवादयः सूक्ष्मा वाच्याः शान्तादयः क्रमात् ।
अहमेकपदी ज्ञेया प्रकाशानन्दरूपिणी ॥ ३० ॥

वासुदेवादि के क्रम से शान्तादि सूक्ष्म वाच्य कहे जाते हैं । जिसमें प्रकाशानन्द स्वरूपिणी एकपदी देवी मैं हूँ ॥ ३० ॥

शब्दब्रह्मतो मन्त्राणामाविर्भावः

वाच्यवाचकभेदेन पुनः सा द्विपदी स्मृता।
ऊष्मान्तःस्थस्वरस्पर्शभेदाच्चाहं चतुष्पदी ॥ ३१ ॥

इसके बाद वही प्रकाशानन्दस्वरूपिणी मैं वाच्य-वाचक भेद से द्विपदी कही जाती हूँ फिर (१) श ष स ह ऊष्मा, (२) य र ल व अन्तःस्थ (३) अ आ आदि स्वर तथा (४) क से लेकर म पर्यन्त वर्ण स्पर्श संज्ञक को लेकर मैं चतुष्पदी हो जाती हूँ ॥ ३१ ॥

विमर्शिनी—शषसहा ऊष्माणः । यरलवा अन्तःस्थाः । अचः स्वराः । कादयो मावसानाः स्पर्शाः ॥ ३१ ॥

अष्टवर्गविभेदाच्च साहमष्टपदी स्मृता ।
अघोषरूपेणान्येन युक्ता नवपदी स्मृता ॥ ३२ ॥

अष्ट वर्ग—(१) स्वर वर्ग; (२) कादि से लेकर पान्त वर्ग (३) पाँच ऊष्म वर्ग, (४) अन्तःस्थ वर्ग इस प्रकार अष्टपदी हो जाती हूँ फिर यम, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा विसर्ग को मिलाकर अघोष कहे जाने वाले वर्ग से युक्त हो जाने पर वही मैं नवपदी हो जाती हूँ । (अब प्रकारान्तर से एकपदी आदि भेदों को पुनः कहते हैं) ॥ ३२ ॥

विमर्शिनी—अष्ट वर्गाः—स्वरवर्गः, कादिपान्तवर्गाः पञ्च, ऊष्मवर्गः, अन्तःस्थवर्गश्चेति । अघोषाश्च—यमाः, जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ विसर्गश्चेति ॥ ३२ ॥

अहमेकपदी दिव्या शब्दब्रह्ममयी परा।
घोषवर्णस्वरूपेण वर्तेऽहं द्विपदी पुनः॥ ३३ ॥

दिव्या एवं परा शब्द ब्रह्ममयी रूप से मैं एकपदी हूँ । घोष वर्ण के स्वरूप से द्विपदी हूँ ॥ ३३ ॥

विमर्शिनी—प्रकारान्तरेणैकध्यादिकमुच्यते । शब्दब्रह्मरूपेणैकरूपा । ध्वनिवर्णात्मना द्विरूपा ॥ ३३ ॥

तक्षती सलिलं सर्वं द्रव्यजातिगुणक्रियाः ।
चतुर्धाभिदधानाहं चतुष्पद्युदिता बुधैः ॥ ३४ ॥

सांख्य प्रसिद्ध सलिल नामक तुष्टि पदार्थ को द्रव्य, जाति, गुण और क्रिया से तक्षण (= सूक्ष्म) करने के कारण द्रव्य, जाति, गुण और क्रिया नाम से चतुष्पदी हूँ ॥ ३४ ॥

विमर्शिनी—तक्षती = तक्षन्ती तनूकुर्वती । सर्वं सलिलं संसरणहेतुं प्राकृततुष्टिम् । सलिलाख्यस्तुष्टिविशेषः सांख्यसमयप्रसिद्धः । अत्र

"गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥"
(ऋ. १.१६४.४१)

इति श्रुतिरनुक्रियते । चतुष्पदी; द्रव्यजातिगुणक्रियाशब्दात्मना चतूरूपा ॥३४॥

नामभावद्वयोपेता साहमष्टपदी स्मृता ।
अविकल्पविकल्पस्था साहं नवपदी स्मृता॥ ३५ ॥

शब्द और अर्थ रूप से उनके द्रव्यादिकों के भेद होने के कारण जोड़ देने पर मैं अष्टपदी हो जाती हूँ, अविकल्प में विकल्प रूप से रहने वाली वही मैं पुनः नवपदी हो जाती हूँ ॥ ३५ ॥

विमर्शिनी—तेषामेव शब्दार्थात्मना प्रत्येकं द्वैविध्ये सङ्कलय्याष्टरूपा ॥ ३५ ॥

व्योम्न्यहं परमे दिव्या ह्यनन्ताक्षरमालिनी ।
इयद्विततिविस्तीर्णा पूर्णाहंताहमादिमा ॥ ३६ ॥

उक्त व्यवस्था केवल इस प्राकृत लोक में ही कही गई है । परमे व्योमन् रूप अप्राकृत लोक में मैं अनन्ताक्षर स्वरूपा हूँ । इस प्रकार मेरी आदिम पूर्ण अहन्ता इतने विस्तार तक विस्तीर्ण हैं ॥ ३६ ॥

विमर्शिनी—एषा च व्यवस्था प्राकृतलोक एव । अप्राकृतलोके तु अनन्ताक्षररूपा ॥ ३६ ॥

मन्त्राणां जननी ज्ञेया भुक्तिमुक्तिप्रदायिनी ।
उद्यन्ति मन्त्रकल्लोला मत्त एव चिदम्बुधेः ॥ ३७ ॥

मेरा इस प्रकार का शब्दब्रह्ममय शरीर सभी मन्त्रों की जननी है । समस्त भोग एवं मोक्ष को देने वाली है । मुझ चित्स्वरूप समुद्र में सभी मन्त्र तरङ्ग रूप से उत्पन्न होते हैं ॥ ३७ ॥

मन्त्राणां सकलशब्दप्रपञ्चकारणत्वम्

मामाश्रित्य विवर्तन्ते यान्ति चास्तं मुहुर्मयि ।
संविदानन्दसंदोहसुन्दराः शब्ददेहकाः ॥ ३८ ॥

ये मन्त्र मेरा ही आश्रय लेकर बढ़ते हैं और थोड़ी देर के बाद मुझ में अस्त भी हो जाते हैं वे सच्चिदानन्द संदोह के समान सुन्दर शब्द (ब्रह्म) देह धारण करने वाले हैं ॥ ३८ ॥

विमर्शिनी—विवर्तन्ते = परिणमन्ति । नात्रान्यपरिभाषितो विवर्तो विवक्षितः, 'त्रैगुण्यं परिणामि तत्' इत्युक्तत्वेन त्रिगुणपरिणामत्वात् शब्दस्य इति विवेकः ॥ ३८ ॥

सामर्थ्यपूर्णाः फलदा मन्त्रात्मानो हि मन्मयाः ।
वर्णाः पदानि वाक्यानि सहप्रकरणाह्निकैः ॥ ३९ ॥
अध्यायाश्च परिच्छेदाः सर्गा उछ्वासकास्तथा ।
पटलाद्या अवच्छेदाः प्रश्नवाकानुवाककाः ॥ ४० ॥
मण्डलानि च काण्डानि संहिता विविधात्मिकाः ।
ऋचो यजूंषि सामानि सूक्तानि च खिलैः समम् ॥ ४१ ॥
शास्त्रतन्त्रात्मकाः शब्दा बाह्याबाह्यागमास्तथा ।
भाषाश्च विविधास्तास्ता व्यक्ताव्यक्तगिरः स्मृताः ॥ ४२ ॥
मन्त्ररूपमिदं शक्र विद्धि मद्रूपवेदिनाम् ।
भावनातारतम्येन मन्त्रमन्त्रिव्यवस्थितिः ॥ ४३ ॥

ये सभी शब्द मन्त्रात्मा होकर मन्त्र मेरे विकार से ही उत्पन्न होते हैं और अपने सामर्थ्य के अनुसार फल देते हैं । वर्ण, पद, वाक्य, प्रकरण एवं आह्निक के साथ अध्याय, परिच्छेद, सर्ग, उच्छ्वास, पटल, अवच्छेद, प्रश्नवाक, अनुवाक, मण्डल एवं काण्ड अनेक प्रकार की संहिताएँ, ऋचाएँ, यजुः, साम, सूक्त एवं खिल भागों के साथ शास्त्र, तन्त्रात्मक शब्द, बाह्य अबाह्य, आगम, अनेक प्रकार की भाषायें, व्यक्त एवं अव्यक्त वाणी—ये सभी

मन्त्रज्ञों के लिये मन्त्र स्वरूप हैं, हे शक्र ! ऐसा समझो । भाव के तारतम्य से मन्त्र और मन्त्रों की व्यवस्था है ॥ ३९-४३ ॥

मां त्रायतेऽयमित्येवं योगेन स्वीकृतो ध्वनिः ।
गुप्ताशयः सदा यश्च मन्त्रज्ञं त्रायते भयात् ॥ ४४ ॥

मां त्रायते अयमिति मन्त्रः इस प्रकार की ध्वनि, योग के अर्थ से निकलती है । जिस मन्त्र का आशय सदा गुप्त रहता है, वह सदा मन्त्रज्ञ की रक्षा किया करता है ॥ ४४ ॥

स मन्त्रः संस्मृतोऽहंताविकासः शब्दजैः क्रमैः ।
पूर्णाहंतासमुद्भूतैः शुद्धबोधान्वयो यतः ॥ ४५ ॥

यह मन्त्र शब्दजन्य क्रम से अहन्ता का विकास कहा जाता है, क्योंकि इसमें पूर्णाहन्ता के समुद्भूत होने से शुद्ध बोध का सम्बन्ध होता है ॥ ४५॥

तारिकादीनां मन्त्राणां कथनम्

सर्वे मन्त्रा मदीयाः स्युः प्रभवाप्ययवेदिनाम् ।
मदीयाश्चान्यदीयाश्च भावनातारतम्यतः ॥ ४६ ॥

उत्पत्ति और संहार क्रम के जानने वालों के लिये ये सभी मन्त्र मेरे ही हैं। यह मेरा है, यह अन्य का है, यह व्यवहार भाव के तारतम्य से समझना चाहिये ॥ ४६ ॥

प्रकृत्यन्वयिनो मन्त्रा मदीयाः स्युः प्रधानतः ।
भवद्भावात्मकं ब्रह्म स्वारस्येन विशन्ति ये ॥ ४७ ॥

प्रधान रूप से प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र मेरे ही होते हैं जो स्वारस्य से भवद्भावात्मक ब्रह्म में लीन हो जाते हैं ॥ ४७ ॥

प्रकृत्यन्वयिनो मन्त्रास्तारिकोत्तारिकादयः ।
मन्त्राः स्वरसतो यान्ति ये भावं भवदुत्तरम् ॥ ४८ ॥

तारिका (ह्रीं) उत्तारिका (श्रीं)—ये सभी प्रकृति से सम्बन्धित हैं जो स्वरसतः भाव और भवदुत्तर रूप को प्राप्त करते हैं ॥ ४८ ॥

तेऽपवर्गप्रदा ज्ञेयास्तारप्रासादकादयः ।
भावोत्तरां समां वापि ये भजन्ति भवत्स्थितिम् ॥ ४९ ॥

आदि में तार (ॐ) अन्त में नमः—ये सभी प्रासादन मन्त्र मोक्ष प्रदान

करने वाले हैं जो भावोत्तर अथवा उसके समान भवदुत्तर गति वाली भवस्थिति में रहते हैं ॥ ४९ ॥

भोगापवर्गदा मन्त्रा ज्ञेयास्ते तारिकादयः ।
विशन्ति भावमेवैके यान्त्येके भवदेव च॥ ५० ॥

तारिका (ह्रीं) इत्यादि मन्त्र भोग और मोक्ष देने वाले है । इनमें कोई साधक एक भाव में तथा कोई एक भवदुत्तर में क्रम से प्रवेश करते हैं ॥५०॥

भुक्तिदा मुक्तिदाश्चैव द्वितये ते व्यवस्थया ।
प्रकृत्यन्वयिनामेवं स्वभावः परिकीर्तितः ।
अभिसंधिबलात् सर्वं द्वितये ते वितन्वते ॥ ५१ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे मन्त्रस्वरूपकथनं
नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

...•••...

ये व्यवस्था के कारण भुक्ति और मुक्ति दोनों ही को प्रदान करने वाले हैं, क्योंकि जिनका प्रकृति से सम्बन्ध होता है उनका ऐसा स्वभाव बन जाता है, ये अभिसन्धि (कोश) के बल से दोनों ही भोग और मोक्ष प्रदान करते हैं ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के मन्त्रस्वरूपकथन नामक अट्ठारहवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ १८ ॥

...•••...

एकोनविंशोऽध्यायः

वर्णोत्पत्तिनिरूपणम्

सृष्टिशक्तेः अनुत्तरादिपञ्चदशस्वराविर्भावः

सिसृक्षालक्षणा पूर्वा पूर्णाहंता हरेरहम् ।
सृष्टिरूपा परा शक्तिरूपेत्येवोदितास्म्यहम् ॥ १ ॥

श्री ने कहा—हे इन्द्र ! जब मैं पूर्व में सिसृक्षावस्था में रहती हूँ, तब विष्णु की शक्ति अहन्ता नाम से विख्यात् होती हूँ । सृष्टि की अवस्था में परा शक्ति नाम से प्रथित होती हूँ ॥ १ ॥

विमर्शिनी—सिसृक्षावस्थायाम् अहंतेति नाम्ना प्रथिता । सृष्ट्यवस्थायां परा शक्तिरिति नाम्ना प्रथिता ॥ १ ॥

दश पञ्च च तुल्या मे दशास्त्रिदशनन्दन ।
अनुत्तरं स्वसंवेद्यं चिद्रूपं मम शाश्वतम् ॥ २ ॥

हे त्रिदशनन्दन इन्द्र ! मेरी समान रूप से पन्द्रह अवस्थायें होती हैं । अकार से लेकर अं, इस बिन्दु तक १५ दशायें जाननी चाहिये । ये सभी अनुत्तर स्वसंवेद्य और शाश्वत मेरा चित्स्वरूप है ॥ २ ॥

विमर्शिनी—दशेत्यादि; अकारादिबिन्द्वन्ताः पञ्चदश दशा ज्ञेयाः । विसर्गस्य दशाप्रकृतित्वात् दशासु न परिगणनमिति ज्ञेयम् ॥ २ ॥

वाक्तत्त्वं तदकारात्मा सर्ववाङ्मयसंभवः ।
तदेवानन्दरूपेण द्वितीयः स्वर इष्यते ॥ ३ ॥

उस चिद्रूप सभी वाणी का तत्त्वभूत प्रथम स्वर अकार है, जिससे समूचे वाङ्मय उत्पन्न होते हैं । उसके आनन्दरूप से दूसरा आकार स्वर उत्पन्न होता है ॥ ३ ॥

इच्छात्मना तृतीयः स्यादीशानात्मा तुरीयकः ।
उन्मेषः पञ्चमः षष्ठ ऊर्जतारूप उच्यते ॥ ४ ॥

इच्छा रूप से तृतीय इकार स्वर उत्पन्न होता है । तदनन्तर ईशानात्मा ईकार रूप चतुर्थ स्वर उत्पन्न होता है । उन्मेष (उकार) पाँचवाँ स्वर और ऊर्जता (दीर्घ ऊकार) यह छठा स्वर उत्पन्न होता है ॥ ४ ॥

चतुष्कं मध्यमं यत्तदिच्छादेरेव विक्रिया ।
अनुत्तरेच्छासंयोगादेकारो नाम जायते ॥ ५ ॥

ऋ ॠ ऌ ॡ—ये मध्य के चार स्वर इच्छादि की विक्रियायें हैं । इसके बाद अनुत्तरेच्छा अ इ के संयोग से एकार स्वर की उत्पत्ति होती है ॥ ५ ॥

विमर्शिनी—चतुष्कमिति । ऋॠऌॡकाररूपमित्यर्थः । तस्मात् तेषां न पृथक् ग्रहणं कृतम् ॥ ५ ॥

तस्यैवानन्दसंयोगाज्जगद्योनिरुदाहृता ।
अनुत्तरोन्मेषयोगादोकारो नाम जायते ॥ ६ ॥
तस्यैवानुत्तरश्लेषात् सद्योजातसमुद्भवः ।
अनुत्तराद्भवन्त्येते विकासा वेद्यसंश्रयाः ॥ ७ ॥

उसी के आनन्द आकार के संयोग से जगद् योनि ऐकार कहा गया है तथा अनुत्तर एवं उन्मेष से ओकार और उसी अनुत्तर आ ई के संयोग से सद्योजात (= औकार) की उत्पत्ति होती है । ये सभी अनुत्तर (अ) के संयोग से विकसित होकर ही वेद्य (ज्ञान के आश्रित) होते हैं ॥ ६-७ ॥

विमर्शिनी—जगद्योनिः = ऐकारः ॥ ६ ॥ सद्योजातः = औकारः ॥ ७ ॥

तादृक्तादृक्समुन्मेषा आनन्दाद्यास्त्रयोदश ।
त्रयोदशतयोन्मेषाः श्रिता वेदनशेषिताम् ॥ ८ ॥
अनुत्तरीं सूक्ष्मदशां स तु पञ्चदशः स्वरः ।
एताः पञ्चदशावस्था विसृष्टेः स्फुरणोद्यमाः ॥ ९ ॥

उस प्रकार के समुन्मेष अकार और आनन्द आकार को छोड़कर १३ की संख्या में होते हैं । यह अनुज्ञानावशेष बिन्दु (अं) यह अनुत्तरी सूक्ष्म दशा है । इस प्रकार कुल (अ से लेकर अं बिन्दु तक) गणना करने से १५ स्वर होते हैं, यह विसृष्टि के स्फुरण रूप प्रयत्न से होने वाली १५ दशायें हैं ॥ ८-९॥

विमर्शिनी—वेदनशेषिताम् = संविद्रूपेण परिशेषिताम् । अस्य सूक्ष्मदशा-मित्युत्तरेणान्वयः । सूक्ष्मदशा = बिन्दुः । स च पञ्चदशः अकारमारभ्य गणने

भवति ॥ ८-९ ॥

दशभिः पञ्चभिश्चैवमङ्गैः पूर्णा सिसृक्षया ।
दैवी सृष्टिमयी शक्तिः कृत्ये कृत्ये कृतोद्यमा ॥ १० ॥

सृष्टि की इच्छा से इस प्रकार उत्पन्न हुई १५ अवस्थाओं से परिपूर्ण होने पर दैवी सृष्टिमयी शक्ति प्रत्येक कृत्य के लिये उद्यम निरत होती है ॥ १० ॥

विमर्शिनी—सिसृक्षया में हेतु में तृतीया विभक्ति हुई है । सिसृक्षयेति हेतौ तृतीया ॥ १० ॥

मादिकान्तव्यञ्जनेभ्यः पुरुषादिपृथिव्यन्ततत्त्वोद्गमः

विसृजत्यास्तु तस्या मे तत्त्वानां पञ्चविंशतिम् ।
पुरुषाद्याः पृथिव्यन्ताः कादिमान्ताः समुद्गताः ॥ ११ ॥

विशेष रूप से सृष्टि की अवस्था में क से लेकर म पर्यन्त २५ वर्ण के उन्मेष से पुरुष से लेकर पृथ्वी पर्यन्त २५ तत्त्व मेरे द्वारा उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ११ ॥

विमर्शिनी—मे इति पञ्चम्यर्थे विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम्; मदित्यर्थः । समुद्गता इत्यनेनान्वेति । कादिमान्ता इति व्युत्क्रमेणान्वयः ॥ ११ ॥

तत्तदक्षरसंस्फूर्तेस्तत्तत्तत्त्वं समुद्गतम् ।
चतुष्कं धारणारूपं यादिवान्तमुदीर्यते ॥ १२ ॥

यादिवान्तेभ्यः धारणाचतुष्कोद्गमः

धारयन्ति यतो मध्ये पुरुषं धारणाः स्मृताः ।
कला किंचित्क्रियारूपा यकारो वातसंज्ञितः ॥ १३ ॥

तद्-तद् अक्षर की संस्फूर्ति से तत्-तत् तत्त्व उत्पन्न हो जाते हैं । 'य र ल व (य से लेकर व तक चार वर्ण) धारण कहे जाते हैं । क्योंकि परदशा से अपरदशा में आते हुये जीव को मध्यम में धारण करते हैं इसलिये इन्हें धारणा कहते हैं । 'यकार' किञ्चित्क्रियारूप कला वाला है । इसे वायु भी कहते हैं ॥ १२-१३ ॥

विमर्शिनी—धारणेति । परदशाया अपरदशामवतरतः पुरुषस्य धारणात् धारणेति समाख्या ॥ १२ ॥

किंचिज्ज्ञानात्मिका विद्या रेफः पावकसंज्ञितः ।
स्तम्भमोहात्मिका माया लकारः पृथिवी मतः ॥ १४ ॥

'र' किञ्चिज्ज्ञान स्वरूप विद्या वाला है । इसको अग्नि भी कहते हैं । 'लकार' स्तम्भन करने वाला है और मोहात्मिका माया स्वरूप है । इसे पृथ्वी तत्त्व भी कहा जाता है ॥ १४ ॥

रञ्जनात्मा रागशक्तिर्वकारो वरुणात्मकः ।
परापरदशामध्ये धारयन्त्यो नरं सदा ॥ १५ ॥

'वकार' रञ्जनात्मक रागशक्ति वाला है । इसे वरुण भी कहा जाता है । इस प्रकार धारणा पर और अपर अवस्था के बीच पुरुष को धारण करता है ॥ १५ ॥

शादिक्षान्ता ब्रह्मपञ्चकाधिष्ठिताः

चतस्रो धारणा ज्ञेयास्ता एतास्तत्त्वकोविदैः ।
शादिक्षान्तं तु विज्ञेयं विशुद्धं ब्रह्मपञ्चकम् ॥ १६ ॥

तन्त्रशास्त्र के जानकारों ने यही चार धारणा कही है । श से लेकर क्ष के अन्त तक (श ष स ह क्ष) पाँच वर्ण विशुद्ध ब्रह्मपञ्चक कहे जाते हैं ॥ १६॥

शषसहोऽनिरुद्धाद्या विज्ञेयास्त्रिदशेश्वर ।
सृजन्त्याः क्षुभितं रूपं सृष्ट्यादौ यन्ममाद्भुतम् ॥ १७ ॥

'श ष स ह' ये अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, बलभद्र और वासुदेव कहे गए हैं । सृष्टि के आदि में सृजन करते समय मेरा रूप क्षुब्ध होकर अद्भुत हो गया ॥ १७ ॥

विमर्शिनी—अनिरुद्धाद्या इति क्रमेणान्वयः । शकारः अनिरुद्धात्मकः ॥१७॥

तेषामेव वर्णानां विशिष्य तत्त्वविशेषकारणत्वम्

क्षोभिका सा महाशक्तिः क्षात्मा सत्यापराह्वया ।
पृथिव्याद्या वियत्प्रान्ता या दिव्याः पञ्च शक्तयः ॥ १८ ॥
बलादिपञ्चकात्मानो दिव्या मत्सत्त्वनामिकाः ।
ज्ञानात्मानो ममोद्यत्यास्ता एताः शादिशक्तयः ॥ १९ ॥

इसलिये 'क्ष' रूप वाली मेरी शक्ति क्षोभिका कही जाती है । उस क्ष रूप आत्मा का दूसरा नाम सत्या है । पृथ्वी से लेकर आकाश पर्यन्त जो दिव्य पाँच महाशक्तियाँ हैं, जो बल ऐश्वर्य वीर्य शक्ति और तेजःस्वरूप हैं, वे मेरे ही सत्त्वों की नाम वाली हैं अतः उदीयमान अवस्था वाली मेरी ये श से लेकर क्ष पर्यन्त वर्णों वाली पाँच महाशक्तियाँ ज्ञानादि स्वरूपों वाली है ॥ १८-१९ ॥

विमर्शिनी—क्षकारस्य सत्यात्मकत्वमाह—क्षोभिकेति ॥ १८ ॥ बलादीति । बलैश्वर्यवीर्यशक्तितेजांसीत्यर्थः ॥ १९ ॥

विसर्गो नाम यः प्रोक्तः पुरा पञ्चदशाङ्गवान् ।
साहं सोममयी शक्तिः किरणायुतसंकुला ॥ २० ॥

पहले जो विसर्ग कहा गया है, वह पञ्चदश अङ्गों वाला है अर्थात् पञ्चदश अङ्गों की प्रकृति है । वही मैं हजारों किरणों से युक्त सोममयी शक्ति हूँ ॥२०॥

सङ्कोचश्च विकासश्च तावेव परिकीर्तितौ ।
अङ्गानामन्तिमो यस्तु प्रोक्तः पञ्चदशो मया ॥ २१ ॥

पूर्व में हमने जो पञ्चदश दशा का वर्णन किया है, उनके अन्त में रहने वाले दो स्वर सङ्कोच (बिन्दु) और विकास (विसर्ग) इन दो नामों से कहे जाते हैं ॥ २१ ॥

विमर्शिनी—बिन्दुः = सङ्कोचः । विसर्गः = विकासः । अन्तिम इति । बिन्दुरित्यर्थः ॥ २१ ॥

आदानशीलं तं विद्धि सूर्यं भोक्तारमञ्जसा ।
सूर्याचन्द्रमसावेतौ बिन्दुसर्गौ पुरन्दर ॥ २२ ॥

हे इन्द्र ! ये बिन्दु और विसर्ग सूर्य और चन्द्रमा दो स्वरूपों वाले हैं । इन्हें आदानशील जानो । इसमें बिन्दु ग्रहण करने वाला संहार कारक सूर्य स्वरूप है ॥ २२ ॥

विमर्शिनी—भोक्तारम् = संहारकमित्यर्थः । बिन्दुः = सूर्यः । विसर्गश्चन्द्रमा इत्यर्थः ॥ २२ ॥

किरणाः सप्त सप्त स्युर्देवयोरनयोर्द्वयोः ।
चतुर्दश स्वराः शिष्टाः सप्त युग्मानि कल्पयेत् ॥ २३ ॥

इन चौदह स्वरों को शिष्ट लोग दो मार्गों में प्रविभक्त करें । इस प्रकार सात-सात किरणों का दो विभाग होता है ॥ २३ ॥

विमर्शिनी—इस प्रकार पहला सप्त स्वर होगा—अ इ उ ऋ ऌ ए ओ दूसरा सप्त आ ई ऊ ॠ ॡ ऐ औ ॥ २३ ॥

तेषु सप्तसु युग्मेषु पूर्वे सप्त पुरन्दर ।
शोषकाः सूर्यरूपाया भोक्त्राख्याया ममांशवः ॥ २४ ॥

हे इन्द्र ! इन दो प्रकार के सप्त गणों में पूर्व सप्तक सूर्य स्वरूप मुझ भोक्ता (संहारकर्ता) की शोषक सात किरणें हैं ॥ २४ ॥

विमर्शिनी—पूर्वे सप्तेति । अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ इति सप्तेत्यर्थः ॥ २४ ॥

उत्तरे सप्त युग्मेषु शीतलाह्लादकारिणः ।
पोषकाः सोमरूपाया भोग्याख्याया ममांशवः ॥ २५ ॥

उन युग्मों में उत्तर वाले सप्तक भोग्या नाम वाले चन्द्र स्वरूप मेरे शीतल आह्लादकारी और पोषक सात किरणें हैं । युग्म रूप से रहने वाले इनमें अकार से लेकर ओकार तक सूर्य किरणात्मक पूर्व सप्तक का गुण और नाम इस प्रकार है ॥ २५ ॥

विमर्शिनी—उत्तरे सप्तेति । आ, ई, ऊ, ॠ, ॡ, ऐ, औ इति सप्तेत्यर्थः ॥ २५ ॥

आलोकस्तीक्ष्णता व्याप्तिर्ग्रहणं क्षेपणेरणे ।
पाक इत्युदिताः पूर्वे किरणाः सूर्यसंभवाः ॥ २६ ॥

आलोक, तीक्ष्णता, व्याप्ति, ग्रहण, क्षेपण, ईरण और पाक—ये उन सूर्य से उत्पन्न होने वाले किरणों के नाम हैं । अब उत्तर युग्म वाले वर्णों की सोम किरणात्मकता तथा गुण का वर्णन करते हैं ॥ २६ ॥

विमर्शिनी—अकाराद्योकारान्तानां सप्तानां युग्मस्थपूर्ववर्णानां सूर्यकिरणात्मकत्वं गुणांश्चाह—आलोक इत्यादि । तथा च जयाख्ये—

"आलोकस्तीक्ष्णता व्याप्तिर्ग्रहणं क्षेपणेरणे ।
पाकः प्राप्तिरिति ह्यष्टौ सूर्यभागे व्यवस्थिताः ।
अकारादिषु ह्रस्वेषु वर्णेष्वेतेष्वनुक्रमात् ॥" (६-१३) इति ।

अत्रानुस्वारमपि संयोज्याष्टत्वमुक्तम् ॥ २६ ॥

द्रवता शीतभावश्च शान्तिः कान्तिः प्रसन्नता।
रसतानन्द इत्येते सप्त चान्द्रमसाः कराः॥ २७ ॥

द्रवता, शीतभाव, शान्ति, कान्ति, प्रसन्नता, रसता और आनन्द—ये सात चन्द्रमा की किरणे हैं ॥ २७ ॥

विमर्शिनी—एवमुत्तरवर्णानां सोमकिरणात्मकत्वं गुणांश्चाह—द्रवतेत्यादिना । जयाख्ये च—

"द्रवता शैत्याभावश्च तृप्तिः कान्तिः प्रसन्नता ।
रसतास्वाद आनन्दो ह्यष्टौ चान्द्रा इमे मताः ॥" (६.१५) इति ।

अत्र विसर्गं संयोज्याष्टत्वं भाव्यम् ॥ २७ ॥

अग्नीषोमात्मकैरेभिः किरणैः कान्तिशालिनी ।
पुमांसं बिन्दुरूपं तमङ्गीकृत्य विशेषणी ॥ २८ ॥
सोमरूपोत्तरा शक्तिकोटिमण्डलमण्डिता ।
महासृष्टिर्महानन्दा प्रवर्तेऽन्त्यस्वरात्मना ॥ २९ ॥

कान्तिशालिनी, विशेषणी, शक्ति कोटि मण्डल से मण्डित, महासृष्टि, महानन्दा स्वरूपा मैं उस बिन्दु स्वरूप को पुरुष मानकर अन्त्य स्वर (विसर्ग) के साथ सृष्टि में प्रवृत्त होती हूँ ॥ २८-२९ ॥

तस्याः प्रवर्तमानाय उद्‍गतं ब्रह्मपञ्चकम् ।
क्षादि शान्तं सुरेशान शक्त्युन्मेषविशेषितम् ॥ ३० ॥

हे इन्द्र ! इस प्रकार सृष्टि के लिये प्रवृत्त हुई मेरे द्वारा शक्ति की उन्मेष की विशेषतापूर्वक 'क्ष' से लेकर 'श' वर्ण पर्यन्त ब्रह्मपञ्चक की उत्पत्ति हुई ॥ ३० ॥

क्ष इत्येव महाक्षोभ उदितः सत्यसंज्ञया ।
वासुदेवाख्यया होऽभूत् साख्यः सङ्कर्षणोदयः ॥ ३१ ॥

प्रथम सत्य संज्ञा से 'क्ष' रूप महाक्षोभ उत्पन्न हुआ । वासुदेव संज्ञा से 'ह' और सङ्कर्षण से 'स' नाम वाला ब्रह्म हुआ ॥ ३१ ॥

विमर्शिनी—क्षादिशान्ताधिष्ठायिब्रह्मपञ्चकनामान्याह—सत्येत्यादिना ॥ ३१ ॥

प्रद्युम्नः षाख्यया ज्ञेयो ह्यनिरुद्धस्तु शाख्यया ।
ता एताः शक्तयः पञ्च पञ्चब्रह्मात्मिकाः पराः ॥ ३२ ॥

प्रद्युम्न संज्ञा से 'ष' तथा अनिरुद्ध संज्ञा से 'श' रूपब्रह्म की उत्पत्ति हुई, यही पञ्चब्रह्मात्मिका पञ्च शक्तियाँ कही जाती है ॥ ३२ ॥

विमर्शिनी—ब्रह्मात्मिकाः = ब्रह्ममय्य इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

स्फूर्तयो मदभिन्नास्ता जगदुत्पत्तिहेतवः ।
ज्वाला इव महावह्नेर्ब्रह्मणो मम शक्तयः ॥ ३३ ॥

जगत् की उत्पत्ति हेतुभूता ये पाँच पञ्चब्रह्मात्मिका शक्तियाँ मेरी ही स्फूर्तियाँ हैं जो मुझ से इस प्रकार अभिन्न हैं जैसे महाबली अग्नि की ज्वाला अग्नि से अलग नहीं है वैसे ही ब्रह्म की शक्ति उनसे अलग होकर नहीं रह मकती ॥ ३३ ॥

विमर्शिनी—ब्रह्मणो ममेति । ब्रह्माभिन्नाया ममेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

चतस्रो धारणा जाता वाद्या यान्ताः पुरन्दर ।
तुर्याद्या जाग्रदन्तास्ता अवस्थाः परिकीर्तिताः ॥ ३४ ॥

हे पुरन्दर ! इसके बाद व से लेकर य तक (व ल र य) ये चार धारणायें उत्पन्न हुई, जो तुरीय, सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रद् अवस्थायें कही जाती है ॥ ३४ ॥

पुमांसं धारयन्त्येता मध्यतो दशयोर्द्वयोः ।
यैषा ब्रह्मदशा प्रोक्ता प्राकृती भादिका च या ॥ ३५ ॥

पर और अपर इन दो दशाओं के मध्य में ये पुरुष को धारण करने के कारण धारणा कही जाती हैं । धारणा अन्तःस्थ 'य र ल व' वर्णों को कहते हैं । यह ब्रह्म और प्राकृत दशा के मध्य में रहती है । भकार से लेकर ककार तक प्राकृत दशा या अपरदशा तथा 'क्ष' से लेकर 'श' तक ब्रह्मदशा या परदशा कही गई है ॥ ३५ ॥

विमर्शिनी—मध्यत इति । परापरदशयोर्मध्ये इत्यर्थः । भादिकेति । भकारादिककारपर्यन्ताधिष्ठातृभूताः प्रकृत्यादिपृथिव्यन्ता ज्ञेयाः ॥ ३५ ॥

मध्ये तयोर्मकाराख्यो धारणानां चतुष्कतः ।
ध्रियते स पुमान् प्रोक्तो जाग्रदादिविभेदवान् ॥ ३६ ॥

प्राकृतदशा और चार प्रकार की धारणाओं के बीच 'मकार' वर्ण की स्थिति है । उसी पुरुष रूप को धारणाये धारण करती हैं जिसकी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था होती है ॥ ३६ ॥

यदि न ध्रियते ताभिर्दशामन्यतरां व्रजेत् ।
ब्राह्मीं वा प्राकृतीं वापि नैव स्यात् संसृतिस्ततः॥ ३७ ॥

यदि ये धारणायें पुरुष को न धारण करें तो वह म स्वरूप जीवन अन्य दशा को प्राप्त करता है । वह ब्राह्मी दशा या प्राकृती दशा को प्राप्त करता है जिससे पुनः वह संसार में आवागमन से मुक्त हो जाता है ॥ ३७ ॥

इत्यर्थं धारणा मत्तः प्रादुर्भूता ममाज्ञया ।
ततो दशाचतुष्कस्थः पुरुषो भोक्तृसंज्ञकः ॥ ३८ ॥

इसीलिये मेरी आज्ञा से 'म' शब्द से धारणा की उत्पत्ति कही गई है । फिर उससे चार दशायें, तदनन्तर पुरुष संज्ञक भोक्ता उत्पन्न होता है ॥ ३८ ॥

विमर्शिनी—अन्तःस्थ य व र ल वर्णों को कहते हैं । ब्रह्म दशा और प्राकृतदशा के मध्य में होने से भी इसको अन्तःस्थ कहा जाता है ।

धारणाः = अन्तःस्थाः । ब्रह्मप्राकृतदशामध्यस्थत्वात् अन्तःस्था इत्युक्ताः । अहिर्बुध्न्ये तु—

"अन्तःस्था इति च प्रोक्ता अन्तःस्थपुरुषेशयः ।"

इति व्युत्पत्त्यन्तरमुक्तम् ॥ ३८ ॥

मत्तो जज्ञे म इत्येवं योग्यो भोगापवर्गयोः ।
भोगानां प्रसवार्थाय पुरुषस्यास्य वासव ॥ ३९ ॥

मुझ से 'म' अर्थात् जीव की उत्पत्ति हुई है, जो भोग और अपवर्ग प्राप्ति की योग्यता रखता है । भोगों के प्रसवार्थ मैंने इस पुरुष को उत्पन्न किया है ॥ ३९ ॥

विमर्शिनी—मत्तो जज्ञे म इत्येवमित्यनेन मशब्दस्य जीववाचकस्य व्युत्पत्तिरभिप्रेता । मनधातोर्निष्पत्तिरप्यन्यत्रोक्ता ॥ ३९ ॥

अचैतन्यं परं सूक्ष्मं गुणसाम्यमनुल्बणम् ।
योनिस्वभावसंज्ञातं मत्तोऽभूद्भ इति स्वयम् ॥ ४० ॥

चैतन्य रहित पर सूक्ष्म गुण साम्य अनुल्बण (अव्यक्त) योनि एवं स्वभाव इस संज्ञा वाला 'भ' वर्ण मुझ से उत्पन्न हुआ है ॥ ४० ॥

विमर्शिनी—अचैतन्यमिति बहुव्रीहिः । अचेतनमित्यर्थः । "अचेतना परार्था च नित्या सततविक्रिया" इत्यन्यत्रोक्तम् । अनुल्बणम् = अव्यक्तमित्यर्थः । योनिः स्वभाव इति च तन्नाम । भ इति = भकारवाच्यत्वेनेत्यर्थः ॥ ४० ॥

भोग्यभोगादिसिद्ध्यर्थं भुञ्जानस्य विपश्चितः ।
बाद्यात् ककारपर्यन्ताद्वर्णग्रामात् पुरन्दर ॥ ४१ ॥

हे इन्द्र ! भोग करने वाले विपश्चितो के भोग्य और भोग की सिद्धि के लिये 'ब' वर्ण से ककार वर्ण पर्यन्त वर्ण समूहों से २३ वर्ण भी मुझ से ही स्पष्ट रूप से उत्पन्न हुये हैं ॥ ४१ ॥

विमर्शिनी—तत्त्वाविर्भावक्रममनुरुध्य बाद्यादित्यादिना वर्णानां व्युत्क्रमेण निर्देशः कृतः ॥ ४१ ॥

व्यक्तानि जज्ञिरे मत्तो विंशतिस्त्रीणि च क्रमात् ।
बुद्ध्यहङ्कारमनसां सृष्टिर्बादित्रयात्तथा ॥ ४२ ॥

प से लेकर तीन वर्णों प फ ब द्वारा क्रमशः बुद्धि, अहङ्कार और मन की सृष्टि हुई है ॥ ४२ ॥

श्रोत्रादेर्नादितान्तेषु पञ्चकस्य समुद्भवः ।
वागादेर्णादिटान्तेषु पञ्चकस्य समुद्भवः ॥ ४३ ॥

'न' से लेकर 'त' पर्यन्त वर्णों द्वारा श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है। 'ण' से लेकर 'ट' पर्यन्त वर्णों से वागादि कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है ॥ ४३ ॥

शब्दाद्याः पञ्चतन्मात्रा ञादिचान्तेषु जज्ञिरे ।
वियदादीनि भूतानि ङादिकान्तेषु जज्ञिरे ॥ ४४ ॥

'ञ' से लेकर 'च' पर्यन्त वर्णों से शब्दादि पाँच तन्मात्राओं की उत्पत्ति हुई है । 'ङ्' से लेकर 'क' पर्यन्त वर्णों द्वारा आकाशादि पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति हुई है ॥ ४४ ॥

बोधः शब्दात्मनोदेति शब्दस्त्वर्थात्मना ततः ।
विद्धि बोधं तु मद्रूपं सर्वेयं मत्ततिस्ततः ॥ ४५ ॥

शब्द से ज्ञान की उत्पत्ति और अर्थ से शब्द की उत्पत्ति होती है । यह बोध (ज्ञान) ही मेरा स्वरूप है । इस कारण ज्ञान स्वरूप से मैं सर्वत्र फैली हुई हूँ ॥ ४५ ॥

वर्णाध्वनस्त्वियं रीतिर्मध्यमा कथिता तव ।
आद्यामन्तां च देवेश गदन्त्या मे निशामय ॥ ४६ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे वर्णोत्पत्तिनिरूपणं नाम एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

...

हे देवेश ! इस प्रकार हमने वर्णाध्वा की मध्यमा रीति का वर्णन आपसे किया । अब उसके आदि रीति तथा अन्त रीति के विषय में मुझ से सुनिए ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के वर्णोत्पत्तिनिरूपण नामक उन्नीसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ १९ ॥

...

विंशोऽध्यायः

मातृकाप्रकाशः

वर्णानां चातुर्व्यूहपरिकल्पनेन वासुदेवादिव्यूहदेवताधिष्ठेयत्वनिरूपणम्

शक्रः—

नमो निखिलनिर्माणत्राणसंहारशक्तये ।
हरेः स्वरूपभूतायै नमस्ते ज्ञानरूपिणि ॥ १ ॥

इन्द्र देव ने कहा—समस्त जगत् की निर्माणकर्त्री एवं पालनकर्त्री और संहारकर्त्री भगवान् की स्वरूपभूते ज्ञानरूपिणि महालक्ष्मी आपको बारम्बार नमस्कार है ॥ १ ॥

त्वत्प्रसादान्मया पद्मे रहस्यं परमं श्रुतम् ।
वर्णाध्वानं यथावन्मे भूयस्त्वं वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

हे पद्मे ! आपकी कृपा से मैंने अत्यन्त गुप्त रहस्य सुन लिया । अब आप वर्णध्वा के विषय में मुझे पुनः बतलाइये ॥ २ ॥

श्रीः—

शृणु वर्णाध्वनो रीतिमाद्यां त्रिदशपुङ्गव ।
प्राप्नोति यत्परिज्ञानात्साधको मत्सरूपताम् ॥ ३ ॥

श्री ने कहा—हे त्रिदशपुङ्गव ! अब वर्णाध्वा की आदि रीति मुझ से सुनिए । जिसके जान लेने से साधक मेरा स्वरूप प्राप्त कर लेता है ॥ ३ ॥

वेद्यवेदकनिर्मुक्तमच्युतं ब्रह्म यत् परम् ।
अनस्तमितभारूपं सर्वाभिन्नमहंपदम् ॥ ४ ॥

वेद्य-वेदक (ज्ञाता-ज्ञेय) भाव से निर्मुक्त अच्युत, जो ब्रह्म पद कहा जाता है और जिसका प्रकाश कभी लुप्त नहीं होता, सबसे अभिन्न वहीं 'अहं' पद है ॥ ४ ॥

अहंता नाम सा शक्तिस्तदभिन्ना सदोदिता ।
अनस्तमितभारूपा वेद्यवेदकवर्जिता ॥ ५ ॥

उससे अभिन्न रहने वाली उसकी शक्ति का नाम अहन्ता है, जो सर्वदा उदीयमान अवस्था में रहती है । उसकी दीप्ति कभी अस्त नहीं होती । अत: वह ज्ञाता और ज्ञेय से वर्जित रहती है ॥ ५ ॥

प्रकाशानन्दसाराहं सर्वत: समतां गता ।
कोटिकोट्ययुतैकांशकोट्यंशे क्षुभिता सती ॥ ६ ॥
शब्दब्रह्मस्वरूपेण स्वशक्त्या स्वयमेव हि ।
मुक्तयेऽखिलजीवानामुदेमि परमेश्वरात् ॥ ७ ॥

इस प्रकार के गुणसङ्घात वाली मैं समस्त प्रकाशों की प्रकाशिका हूँ । सबमें समदृष्टि से रहने वाली हूँ । करोड़ों-करोड़ों अयुत अंश के करोड़हवे अंश से मुझ में क्षोभ होने पर अपनी शक्ति से मैं स्वयं ही शब्द ब्रह्म रूप से समस्त प्राणियों की मुक्ति के लिये परमेश्वर से उत्पन्न होती हूँ ॥ ६-७ ॥

तदव्यक्ताक्षरं विद्धि तन्त्रीशब्दो यथा कल: ।
पृथग्वर्णात्मना याति स्थितये नैकधा स तु ॥ ८ ॥

जैसे तन्त्री का शब्द अव्यक्त रहता है, उसी प्रकार उत्पन्न हुआ वह अव्यक्त अक्षर भी पृथक्-पृथक् वर्णों से जगत् की स्थिति के लिये अनेक रूपों में उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

सूक्ष्मवर्णस्वरूपोऽसौ धारासंतानरूपधृत् ।
पञ्चाध्वकोशमुक्तस्य मन्निष्ठस्य विवेकिन: ॥ ९ ॥
अनुभूतिपदं याति प्रसादात् परमात्मन: ।
मच्चातुरात्म्यनिचयो विज्ञेयो हि तदात्मना ॥ १० ॥

वह सूक्ष्मवर्णस्वरूप अव्यक्त अक्षर धाराप्रवाह की तरह प्रवाहित होता रहता है । पञ्चकोश से विमुक्त मुझ में श्रद्धा रखने वाले तथा विवेकी जनों को परमात्मा की कृपा से उसकी अनुभूति होती है । मेरे चातुरात्म्य का समूह उन वर्णों के द्वारा ज्ञात होता है ॥ ९-१० ॥

विमर्शिनी—पञ्चाध्वान: = भुवनाध्वपदाध्वमन्त्राध्वतत्त्वाध्वकलाध्वान:, पञ्च-कोशा: = मायाप्रसूतिप्रकृतिब्रह्माण्डजीवदेहाख्या: ॥ ९ ॥ चातुरात्म्यं वासुदेव-

सङ्कर्षणादिकम् । तदात्मना = वर्णात्मना । तच्चानन्तरमेव वक्ष्यते ॥ १० ॥

प्रभवाप्ययोगेन भारूपध्वनिलक्षणः ।
सकारान्तस्त्वकाराच्च हकारादान्त एव च ॥ ११ ॥

उत्पत्ति क्रम में भारूप ध्वनि लक्षण अकार से आरम्भ कर सकारान्त पर (स पर) तथा संहार रूप से परा रूप विलक्षण हकार से आरम्भ कर आकार पर समाप्त होता है ॥ ११ ॥

विमर्शिनी—इसका तात्पर्य इस प्रकार समझना चाहिये १६ स्वर, २५ स्पर्श संज्ञक वर्ण अन्तःस्थ चार तथा हकार को छोड़कर ३ ऊष्मा वर्ण—इस प्रकार कुल ४८ अक्षर होते हैं । अकार से आरम्भ कर गणना में ४८ की संख्या सकार पर पूरी हो जाती है । इसलिये १२ के द्वारा भाग देने पर अन्तिम बारहवाँ सकार होगा । इसी प्रकार संहार क्रम से हकार से गणना आरम्भ कर आकार पर ४८ अक्षर पूरे होते हैं । तदनन्तर १२ से भाग देने पर अन्तिम बारहवाँ आकार होगा ।

उत्पत्तिक्रमे ध्वनिलक्षणः । अप्ययक्रमे परारूपेण चिल्लक्षणः । अकारमारभ्य सकारपर्यन्तं गणने अष्टचत्वारिंशत् वर्णा भवन्ति । यथा—स्वराः षोडश, स्पर्शाः पञ्चविंशतिः, अन्तःस्थाश्चत्वारः, हकारं विहायोष्माणस्त्रय इति । एवं हकारमारभ्य दीर्घाकारपर्यन्तगणनेऽपि ॥ ११ ॥

प्रभवे द्वादशान्तस्तु हकारश्चतुरात्मनाम् ।
अकारस्त्वप्यये चैतौ द्वादशान्तावुभौ समौ ॥ १२ ॥

उत्पत्ति क्रम में द्वादशान्त वर्ण हकार तथा संहारक्रम में द्वादशान्त अकार होगा । इस प्रकार हकार और अकार दोनों ही द्वादशान्त वाले वर्ण होंगे । ये सभी वर्ण वासुदेव, बलभद्र, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चारों से अधिष्ठित रहते हैं । उत्पत्ति में द्वादशान्त हकार तथा संहार में द्वादशान्त अकार होगा यह हम पहले कह आये हैं ॥ १२ ॥

विमर्शिनी—चतुरात्मनां वासुदेवादीनां प्रभवे हकारो द्वादशान्तो भवति । अव्यये तु अकारस्तथा । अयं भावः—पूर्वोक्ताष्टचत्वारिंशद्वर्णानां द्वादशधा विभागे प्रतिविभागं चत्वारो वर्णाः सम्पद्यन्ते । एते च क्रमेण वासुदेवादिभिश्चतुर्भिरधिष्ठिता भवन्ति । द्वादशभागान्ते प्रभवे हकारकः लये अकारश्च भवत इति ॥ १२ ॥

वार्णे व्यूहसमूहेऽस्मिन् ज्ञेयं ज्ञानसमाधिना ।
विश्राम उदयो व्याप्तिर्व्यक्तिरा वासुदेवतः ॥ १३ ॥

प्रत्येक विभाग में रहने वाले वासुदेवादि क्रमशः विश्राम, उदय, व्याप्ति

और व्यक्ति रूप में जानना चाहिये । इस वर्ण समूह वाले व्यूह में ज्ञान समाधि से ऐसा विचार करना चाहिये ॥ १३ ॥

विमर्शिनी—प्रतिविभागमस्थिता वासुदेवादयः क्रमेण विश्रामोदयव्याप्तिव्यक्तिरूपा ज्ञेयाः—इति विवेकः ॥ १३ ॥

अत्रैकैकोपरि ज्ञेया मूर्तिर्वै त्वेवमेव हि ।
युक्ता विश्रामपूर्वेण चतुष्केण समासतः ॥ १४ ॥

इसमें एक-एक वर्ण पर एक मूर्त्ति जो चारों प्रकार के विश्रामादि से युक्त हों उसे अधिष्ठित समझना चाहिये ॥ १४ ॥

विश्रामं चिन्तयेद्देवं वासुदेवं सनातनम् ।
अकारं पुण्डरीकाक्षं पूर्वदेवं सनातनम् ॥ १५ ॥

अब उसी को स्पष्ट रूप से इस प्रकार जानना चाहिये—अकार के अधिष्ठातृ देवता पुण्डरीकाक्ष पूर्वदेव सनातन वासुदेव हैं । यही विश्राम स्थान हैं । ऐसा ध्यान करना चाहिये ॥ १५ ॥

विमर्शिनी—तदेव विशदयति—विश्राममित्यादिना ॥ १५ ॥

सङ्कर्षणादितत्त्वानि विश्राम्यन्ति लयेऽत्र हि ।
ततः सङ्कर्षणं देवमाकारमुदयं स्मरेत् ॥ १६ ॥

क्योंकि प्रलय की अवस्था में सङ्कर्षण आदि सभी देवता इनमें विश्राम करते हैं । इसके बाद आकार (वर्ण) में उसके अधिष्ठातृ सङ्कर्षण देव हैं । वही उदय के स्थान हैं—ऐसा ध्यान चाहिये ॥ १६ ॥

उदितो हि स सर्वात्मा प्रथमं सर्वकृत् स्वयम् ।
व्याप्तं प्रद्युम्नदेवं तमिकारं परिचिनतयेत् ॥ १७ ॥

प्रथम सर्वकृत् सर्वात्मा स्वयम् उदित होते हैं । इकार के अधिष्ठाता प्रद्युम्नदेव हैं, जो सर्वत्र व्याप्त हैं—ऐसा ध्यान करना चाहिये ॥ १७ ॥

विविधं व्याप्यते तेन त्रयीकर्मात्मना जगत् ।
अनिरुद्धं व्यक्तिरूपमीकारं तमनुस्मरेत् ॥ १८ ॥

वे अपनी त्रयीकर्मात्मना वेद बोधित मर्यादा से जगत् में व्याप्त रहते हैं । इसके बाद ईकार में अनिरुद्ध का व्यक्ति रूप में ध्यान करे ॥ १८ ॥

व्यज्यन्ते शक्तयो ह्यत्र जगत्सृष्ट्यादयोऽखिलाः ।
दण्डवत्संनिवेशेन संस्थिता ह्येवमेव हि ॥ १९ ॥

हम अनिरुद्ध में जगत् की सृष्टि आदि अखिल शक्तियाँ व्यक्त होती हैं। ये इसी प्रकार सर्वत्र दण्ड के समान सन्निवेश संस्थान से व्यक्त रहते हैं ॥१९॥

आ सकाराच्चतूरूपयुक्ता मे चतुरात्मता।
स्मरेत् प्रभवचिन्तायां हकारं द्वादशान्तकम् ॥ २० ॥

इसी प्रकार सृष्टिक्रम में आकार से लेकर सकार पर्यन्त वर्णों में चारों रूपों से युक्त वासुदेवादि चारों का स्मरण करे। इस सृष्टिक्रम में 'हकार' मातृकावर्ण द्वादशान्त होता है ॥ २० ॥

विमर्शिनी—आ सकारादिति। सकारवर्णपर्यन्तमित्यर्थः ॥ २० ॥

हकारं वासुदेवं तु विश्रामं परिचिन्तयेत्।
सङ्कर्षणं सकारं तमुदयं त्वप्यये स्मरेत् ॥ २१ ॥

अब संहारक्रम में वर्णों के अधिष्ठातृ देवताओं के स्वरूप का क्रम कहते हैं—हकार के अधिष्ठाता वासुदेव हैं उनमें विश्राम की स्थिति है ऐसा ध्यान करना चाहिये ॥ २१ ॥

विमर्शिनी—लयक्रमे चातुरात्म्यनिवेशमाह—हकारमिति ॥ २१ ॥

एवमाकारतो दिव्यां चिन्तयेच्चतुरात्मताम्।
द्विषट्कं धारणानां च द्वादशाध्यात्मलक्षणम् ॥ २२ ॥
सोपानभूतं यत्क्रान्त्वा द्वादशान्ताद्विशेत् परम्।
एषा सा प्रथमा रीतिर्वर्णमार्गस्य दर्शिता ॥ २३ ॥

इसी क्रम से सभी वर्णों में दिव्य चतुरात्मता का ध्यान करे। इन द्वादश धारणाओं को द्वादश अध्यात्म लक्षण सोपान है, साधक इसे पार कर द्वादशान्त पद में प्रवेश करता है। इस प्रकार वर्ण मार्ग के साक्षात्कार की इस प्रथम रीति का प्रतिपादन किया गया ॥ २२-२३ ॥

विमर्शिनी—आकारत इति। आकारवर्णपर्यन्तमित्यर्थः ॥ २२ ॥

सूक्ष्मा तच्चातुरात्मीया भारूपा मन्मयी परा।
मध्यमा पूर्वमेवोक्ता विशेषं तत्र मे शृणु ॥ २४ ॥

यह चार स्वरूपों वाली प्रकाशत्मिका, सूक्ष्मा, परा वर्णमयी रीति है। मध्यमा रीति हमने पूर्व में कह दिया है ॥ २४ ॥

धारणाः पूर्वमुक्ता याश्चतस्रो मत्स्वरूपिकाः।
वकाराख्यानिरुद्धस्य शक्तिः सा रागसंज्ञिता ॥ २५ ॥

मैंने पूर्व में स्व स्वरूपात्मिका जिन धारणाओं को कहा है, उसमें वकार अनिरुद्ध की शक्ति है, जिसे राग भी कहा जाता है ॥ २५ ॥

माया नाम महालक्ष्मीर्लकारापरनामिका ।
विद्या या रेफसंज्ञाता महावाणी तु सा स्मृता ॥ २६ ॥

लकार जो महालक्ष्मी स्वरूपा है जिसे माया भी कहा जाता है । 'रेफ' विद्यास्वरूपा है जिसे महावाणी कहा जाता है ॥ २६ ॥

वातसंज्ञा महाकाली क्रियाशक्तिर्यकारिणी ।
ब्रह्माद्या मूर्तयस्तिस्त्रः पत्न्यस्त्रय्यादयश्च याः ॥ २७ ॥

यकार नाम वाली क्रियाशक्ति महाकाली स्वरूपा है । इसकी वायु संज्ञा है। ब्राह्मी आदि तीन मूर्तियाँ (१९.३२) हैं, जिनकी त्रयी आदि पत्नियाँ हैं ॥२७॥

तज्ज्ञेयं सकलं सूक्ष्ममकारस्यादिमेंऽशके ।
मध्यमे भोक्तृकूटस्थः पुरुषोंऽशे प्रतिष्ठितः ॥ २८ ॥

उन्हें अकार के आदि अंश में सूक्ष्म समझना चाहिये । उस अकार के मध्यम अंश में भोक्ता कूटस्थ पुरुष समझना चाहिये ॥ २८ ॥

संसारी पुरुषः सर्वश्चरमांशेऽवतिष्ठते ।
एषा ते मध्यमा रीतिर्वर्णमार्गस्य दर्शिता ॥ २९ ॥

उसके अन्तिम अंश में संसारी पुरुष का निवास है । इस प्रकार हमने वर्ण मार्ग की मध्यम रीति का प्रदर्शन किया ॥ २९ ॥

चरमामथ वक्ष्यामि रीतिं बलनिषूदन ।
वैखरी चरमा रीतिः प्रयत्नस्थानभेदिनी ॥ ३० ॥

हे इन्द्र ! अब वर्णों के चरम रीति का निर्देश करती हूँ । वैखरी वाणी चरमा रीति कही गई है, जिसमें स्थान और प्रयत्न के भेद रहते हैं ॥ ३० ॥

व्यक्तवाचां समुच्चारे सा स्फुटीभवति ध्रुवम् ।
जीवानां देहबद्धानां तत्तत्सन्मार्गदर्शिका ॥ ३१ ॥

स्पष्ट उच्चारण काल में वैखरी का ज्ञान स्पष्ट रूप में होता है । वह शरीरधारी जीवों के उन-उन सन्मार्गों की दर्शिका है ॥ ३१ ॥

मातृका जायते सेयं विष्णुशक्त्युपबृंहिता ।
विष्णुवत्तत्र पञ्चाशच्छक्तयः परिकीर्तिताः ॥ ३२ ॥

यह वैखरी विष्णु शक्ति से परिवर्द्धित होकर मातृका के रूप में प्रगट होती है । इसीलिये उसमें विष्णु के समान ५० शक्तियाँ कही गई है ॥ ३२ ॥

अधितिष्ठन्ति ये यां च मातृकां वर्णमालिनीम् ।
वासुदेवादयो व्यूहा दश द्वौ केशवादयः ॥ ३३ ॥
स्वराधिष्ठायिनो देवाः शक्तीस्तेषामिमाः शृणु ।
लक्ष्मीः कीर्तिर्जया माया व्यूहशक्तय ईरिताः ॥ ३४ ॥

अब इन वर्ण समूहों वाली मातृकाओं के जो अधिष्ठाता देवता हैं उन्हें सुनिए, वासुदेव व्यूह चार और केशवादि १२ कुल १६ देवता १६ स्वरों के अधिष्ठाता देवता हैं । अब उनकी इन शक्तियों को सुनिए । लक्ष्मी, कीर्ति, जया और माया—ये व्यूह देवताओं की शक्तियाँ है ॥ ३३-३४ ॥

श्रीश्च वागीश्वरी कान्तिक्रियाशान्तिविभूतयः ।
इच्छा प्रीती रतिश्चैव माया धीर्महिमेति च ॥ ३५ ॥
शक्तयः केशवादीनां ता एताः स्वरशक्तयः ।

श्री, बागेश्वरी, कान्ति, क्रिया, शन्ति, विभूति, इच्छा, प्रीति, रति, माया, धी और महिमा—ये १२ केशवादि देवताओं की शक्तियाँ है ॥ ३५-३६- ॥

काद्यधिष्ठायिनो देवान् गदन्त्या मे निशामय ॥ ३६ ॥

अब ककारादि वर्णों के अधिष्ठाता देवों के नाम सुनिए ॥ -३६ ॥

पद्मनाभादिनामानो विष्णवः कादिदेवताः ।
पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः शक्तीशो मधुसूदनः ॥ ३७ ॥
विद्याधिदेवः कपिलो विश्वरूपो विहङ्गमः ।
क्रोडात्मा बडबावक्त्रो धर्मो वागीश्वरस्तथा ॥ ३८ ॥
एकार्णवशयो देवः कूर्मः पातालधारकः ।
वराहो नारसिंहश्चाप्यमृताहरणस्तथा ॥ ३९ ॥
श्रीपतिर्दिव्यदेहोऽथ कान्तात्मामृतधारकः ।
राहुजित् कालनेमिघ्नः पारिजातहरो महान् ॥ ४० ॥
लोकनाथस्तु शान्तात्मा दत्तात्रेयो महाप्रभुः ।
न्यग्रोधशायी भगवानेकशृङ्गतनुस्ततः ॥ ४१ ॥
देवो वामनदेहस्तु सर्वव्यापी त्रिविक्रमः ।
नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णस्तथैव च ॥ ४२ ॥
ज्वलत्परशुधृद्रामो रामश्चान्यो धनुर्धरः ।

वेदविद्भगवान् कल्की पातालशयनः प्रभुः ॥ ४३ ॥
एतेष्वन्त्येषु चत्वारो देवा रामादयो हि ये ।
ते रङ्गयमयोर्जिह्वामूलोपध्मानयोरपि ॥ ४४ ॥

कादि वर्णों के पद्भनाभादि देवता इस प्रकार हैं—पद्भनाभ, ध्रुव, अनन्त, शक्तीश, मधुसूदन, विद्याधिदेव, कपिल, विश्वरूप, विहङ्गम, क्रोडात्मा, बडवावक्त्र (हयग्रीव), धर्म, वागीश्वर, एकार्णवशायी, कूर्मदेव, पातालधारक, वराह, नरसिंह, कान्तात्मा, अमृतधारक, राहुजित्, कालनेमिघ्न, महान् पारिजातहर, लोकनाथ, शान्तात्मा, महाप्रभु, दत्तात्रेय, न्यग्रोधशायी भगवान् एकशृङ्ग, वामन, सर्वव्यापी त्रिविक्रम, नर-नारायण, हरि, कृष्ण, उद्दीप्त फरसा धारण करने वाले परशुराम, धनुर्धारी राम एवं वेदविद् भगवान् कल्की और पातालशायी—ये ३८ ककारादि वर्णों के देवता हैं । अर्थात् क से म तक २५, य से क्ष तक ९=३४ इसके अतिरिक्त रङ्ग, यम, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय ये अतिरिक्त चार वर्ण जिनके अन्तिम परशुरामादि चार अधिष्ठातृदेवता हैं ॥ ३७-४४ ॥

विमर्शिनी—पद्मनाभादयो विभवभेदाः पूर्वमेवैकादशाध्याये पठिता ज्ञातव्याः ॥ ३७ ॥ रङ्गः = अनुनासिकः । यमाः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धा वर्णविशेषाः ॥ ४४ ॥

धीस्तारा वारुणी शक्तिः पद्मा विद्या तथैव च ।
संख्या विश्वा खगा भूर्गौर्लक्ष्मीर्वागीश्वरी तथा ॥ ४५ ॥
अमृता धरणी छाया नारसिंही सुधा तथा ।
श्रीः कीर्तिर्विश्वकामा मा सत्या कान्तिः सरोरुहा ॥ ४६ ॥
माया पद्मासना खर्वा विक्रान्तिर्नरसंभवा ।
नारायणी हरिप्रीतिर्गान्धारी काश्यपी तथा ॥ ४७ ॥
वैदेही वेदविद्या च पद्मिनी नागशायिनी ।
मदंशका इमा देव्यो विज्ञेयाः कादिशक्तयः ॥ ४८ ॥

धी, तारा, वारुणी, शक्ति, पद्मा, विद्या, संख्या, विश्वा, खगा, भू, गौ, लक्ष्मी, वागीश्वरी, अमृता, धरणी, छाया, नारसिंही, सुधा, श्री, कीर्ति, विश्वकामा, मा, सत्या, कान्ति, सरोरुहा, माया, पद्मासना, खर्वा, विक्रान्ति, नरसंभवा, नारायणी, हरि, प्रीति, गान्धारी, काश्यपी, वैंदही, वेदविद्या, पद्मिनी एवं नागशयिनी—इतनी देवियाँ ककारादि वर्णों की शक्तियाँ हैं जो मेरे ही अंशों वाली हैं ॥ ४५-४८ ॥

भवोपकरणैश्चेयं मातृकाधिष्ठिता सुरैः ।
श्रीकण्ठानन्दसूक्ष्माद्यैर्लम्बोदर्यादिशक्तिभिः ॥ ४९ ॥

विनायकैश्च दुर्गाभिः क्षेत्रेशैर्मातृभिस्तथा ।
समयस्थैस्तथा बौद्धैरार्हतैरपि चापरैः ॥ ५० ॥

यह मातृका जगत् के समस्त उपकरणों के साथ इन-इन वर्णाधिष्ठातृ देवताओं से श्रीकण्ठ आनन्द सूक्ष्मादि से, लम्बोदरी आदि शक्तियों से, विनायक दुर्गा क्षेत्रपालों से, मातृगणों से, समयस्थ बौद्धौ एवं अपर आर्हतों से अधिष्ठित है ॥ ४९-५० ॥

यथा हि क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते ।
एवं सर्वे सुरा देवीं मातृकां पर्युपासते ॥ ५१ ॥

जैसे भूखे बालक माता की अपेक्षा रखते हैं, उसी प्रकार सभी देवताओं को मातृका रूप वर्णों की अपेक्षा होती है ॥ ५१ ॥

इयं योनिर्हि मन्त्राणां विद्यानां जन्मभूरियम् ।
तत्त्वानां तात्त्विकानां च ज्ञानानां प्रसवस्थली ॥ ५२ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे मातृकाप्रकाशो नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

...

ये मातृकायें मन्त्रों की योनि (उत्पत्तिस्थान) है । विद्या का स्थान हैं । तत्त्वों की एवं तात्त्विकों तथा ज्ञानों की भी प्रसवस्थली है ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के मातृकाप्रकाश नामक बीसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ २० ॥

...

एकविंशोऽध्यायः

गुरुशिष्यलक्षणम्

षाड्गुण्यस्य चातुर्व्यूहरूपेण
बीजपिण्डसंज्ञापदाख्यमन्त्ररूपेण चाविर्भावः

शब्दार्थव्यक्तिरूपायै षडध्वपरिवर्तिनि ।
अध्वातीतावबोधाख्ये नमस्ते हरिवल्लभे ॥ १ ॥

शब्दार्थों के स्पष्ट स्वरूप वाली, षडध्व (वर्णाध्वा, कालाध्वा, तत्त्वाध्वा, मन्त्राध्वा पदाध्वा और भुवनाध्वा) में निवास करने वाली और अध्वों से अतीत होकर ज्ञान स्वरूप वाली हरिवल्लभे आपको नमस्कार है ॥ १ ॥

विमर्शिनी—षडध्वेति । वर्णकलातत्त्वमन्त्रपदभुवनाख्याः षडध्वानः ॥ १ ॥

वर्णाः प्रकाशिता देवि यथावत् सर्वहेतवः ।
मन्त्रमार्गमिदानीं मे यथावद्वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

हे देवि ! आपने अखिल विश्व के हेतुभूत वर्णों को प्रकाशित किया । अब आप मन्त्रमार्ग का यथावत् वर्णन करें ॥ २ ॥

विमर्शिनी—सर्वेति । शब्दानामर्थानां चेत्यर्थः ॥ २ ॥

श्रीरुवाचः—

एक एव परो देवः श्रीमान् पुरुषसत्तमः ।
षाड्गुण्याम्भोनिधिर्दिव्यः सर्वात्मा सर्वतोमुखः ॥ ३ ॥

श्री ने कहा—श्रीमान् पुरुष सत्तम, पर देवता मात्र एक ही है । वे ज्ञान ऐश्वर्यादि षड्गुणों के समुद्र हैं । वह दिव्य सर्वात्मा और सर्वतोमुख हैं ॥ ३ ॥

तस्याहं परमा शक्तिरहंता श्रीरभेदिनी ।

सर्वाधारा सर्वशक्तिः सर्वज्ञा सर्वतोमुखी ॥ ४ ॥

मैं उनमें सर्वथा अभिन्नरूप से रहने वाली हूँ । सबका आधार, सबकी शक्ति, सर्वज्ञा और सर्वतोमुखी उनकी अहन्ता शक्ति श्री मैं हूँ ॥ ४ ॥

मयि प्रकाशते विश्वं दर्पणोदरशैलवत् ।
बोध एव स्वरूपं मे निर्मलानन्दलक्षणः ॥ ५ ॥

यह इतना बड़ा सम्पूर्ण विश्व दर्पण के भीतर पहाड़ के समान मुझ में प्रविष्ट है । निर्मल और आनन्दस्वरूप लक्षणवान् एव बोध (ज्ञान) ही मेरा स्वरूप है ॥ ५ ॥

इच्छापरवती साहं बोधकांशविवर्तिनी ।
शब्दब्रह्ममयी भूत्वा विवर्तेऽहं कलाध्वना ॥ ६ ॥

स्वच्छन्द होकर भी मैं ज्ञान रूप में परिणत हो जाती हूँ । शब्द ब्रह्ममयी होकर भी मैं कला के रूप में विपरिणमित हो जाती हूँ ॥ ६ ॥

विमर्शिनी—इच्छापरवतीति । स्वच्छन्देत्यर्थः । विवर्तः = परिणामः । कलाध्वनेति । ज्ञानादिगुणात्मनेत्यर्थः ॥ ६ ॥

कला ज्ञानादयः प्रोक्ताः षड्गुणाः पारमेश्वराः ।
तासां त्रिकद्वियोगेन विवर्ते तत्त्ववर्त्मना ॥ ७ ॥

परमेश्वर में रहने वाले ज्ञानादि षड्गुण कला कहे जाते हैं । उन छओ ज्ञानादि के योग से मैं तत्त्वरूप में परिणमित हो जाती हूँ ॥ ७ ॥

विमर्शिनी—त्रिकद्वियोगेन = युगलत्रययोगेनेत्यर्थः ॥ ७ ॥

सङ्कर्षणादयो देवास्तत्त्वानि सुरसत्तम ।
वर्णव्यतिकरैर्भूयो विवर्ते मन्त्रवर्त्मना ॥ ८ ॥

हे सुरसत्तम ! सङ्कर्षणादि देवता ही तत्त्व पद से कहे जाते हैं । तदनन्तर पुनः मैं वर्णों के संयोग से मन्त्र रूप में परिणत हो जाती हूँ ॥ ८ ॥

तस्य मन्त्राध्वनो व्यक्तिं गदन्त्या मे निशामय ।
शब्दब्रह्मविवर्तोऽयं किरणायुतसंकुलः ॥ ९ ॥

उस मन्त्राध्वा की जिस प्रकार अभिव्यक्ति होती है, हे इन्द्र ! उसे सुनिए । यह मन्त्र शब्दब्रह्म का ही विवर्त है, जिसमें कई हजार किरणें होती हैं ॥ ९ ॥

चिल्लक्षणः षड्गुणात्मा तस्य भेदश्चतुर्विधः ।
क्वचिद्बीजं क्वचित्पिण्डं क्वचित्संज्ञा क्वचित्पदम् ॥ १० ॥

उस चिल्लक्षण षड्गुणात्मा मन्त्र के चार भेद हैं । कहीं बीजरूप, कहीं पिण्डरूप, कहीं संज्ञा रूप और कही पदरूप इस प्रकार उसके चार भेद होते हैं ॥ १० ॥

तुर्यं सुषुप्तिः स्वप्नश्च जाग्रदबीजादयः क्रमात् ।
एकस्वरं द्विस्वरं वा स्वरव्यञ्जनयोर्द्वयम् ॥ ११ ॥
बीजं बहुस्वरं वापि विज्ञेयं विबुधेश्वर ।
अन्तरा हरयः पिण्डं क्वचित्स्वरसमायुतम् ॥ १२ ॥

ये बीज, पिण्ड, संज्ञा और पद वाले मन्त्र तुरीय, सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रदवस्था वाले होते हैं । स्वर व्यञ्जन दोनों में, एक स्वर, दो स्वर और बहुत स्वरों से युक्त हो जाने पर बीजमन्त्र होता है । उसके मध्य में रहने वाले केवल व्यञ्जन पिण्डमन्त्र कहे जाते हैं । वे कहीं-कहीं स्वर संयुक्त भी होते हैं ॥ ११-१२ ॥

विमर्शिनी—बीजपिण्डिसंज्ञापदमन्त्राः क्रमेण तुर्यादिजाग्रदन्तपदचतुष्टयसङ्गता ज्ञेया इत्यर्थः ॥ ११ ॥ अन्तरा मध्ये स्थिताः हरयः व्यञ्जनानि पिण्डमन्त्र इत्यर्थः । तस्यापवादमाह—क्वचिदिति ॥ १२ ॥

तत्तद्वाच्याभिधा संज्ञा नमःप्रणवसंयुता ।
क्रियाकारकसंयोगस्तुतिसंबोधलक्षणः ॥ १३ ॥
नानाभिज्ञासमायुक्तः पदात्मा मन्त्र उच्यते ।
एतच्चतुष्टयं मन्त्रं सम्पूर्णं देवतात्मनि ॥ १४ ॥

नमः प्रणव से संयुक्त तत्तद् वाच्यों की अभिधा संज्ञा है । क्रिया कारक से संयुक्त स्तुति और ज्ञान वाले अनेक अभिज्ञा से संयुक्त वर्ण पदात्मा मन्त्र कहे जाते हैं । मन्त्र के ये चारों प्रकार के भेद समस्त देवता वाले मन्त्रों में होते हैं ॥ १३-१४ ॥

विमर्शिनी—पदमन्त्रस्वरूपमाह—क्रियेत्यादि । संबोधः संबोधनम् ॥ १३ ॥ [illegible]ज्ञा संज्ञा ॥ १४ ॥

सा चतुष्टयसंबद्धा सिद्धिमिष्टां प्रयच्छति ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञभावं च मन्त्राणां त्रिदशेश्वर ॥ १५ ॥
विज्ञाय तत्त्वतो मन्त्रान् प्रयुञ्जीत विचक्षणः ।

इन चारों प्रकारों से सम्बन्धित मन्त्र अभीष्ट सिद्धि प्रदान करते हैं । हे त्रिदशेश्वर ! मन्त्रों में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भाव रहता है । इसलिये बुद्धिमान् पुरुष मन्त्र को भलीभाँति समझकर ही उनका प्रयोग करें ॥ १५-१६- ॥

विमर्शिनी—सा = देवता ॥ १५ ॥

शक्रः—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसद्भावं मन्त्राणां वद मेऽम्बुजे ॥ १६ ॥
यद्विज्ञाय न मुह्यन्ति सिद्धिमेष्यन्ति चाचिरात् ।

इन्द्र ने कहा—हे कमले ! मन्त्रों के क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ भाव का वर्णन करें। जिसका ज्ञान कर लेने पर बुद्धिमानों को मोह न होवे और वे स्वल्पकाल में मन्त्रों की सिद्धि कर लेवें ॥ -१६-१७- ॥

श्रीः—

बीजं बीजवतां जीवः शिष्टं क्षेत्रं प्रकीर्तितम् ॥ १७ ॥
निर्बीजानामादि जीवः क्षेत्रं तु परिशेषितम् ।
बीजानां चैव पिण्डानामस्तु क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥ १८ ॥

श्री ने कहा—सभी बीजवान् मन्त्रों का बीज जीव है उससे शेष क्षेत्र कहा जाता है । जिसमें बीजाक्षर नहीं है, उसका आदि अक्षर जीव कहा जाता है शेष क्षेत्र कहा जात्ता है । बीजों और पिण्डों में अकार क्षेत्रज्ञ कहा जाता है । उससे शेष क्षेत्र कहा जाता है ॥ -१७-१८ ॥

विमर्शिनी—बीजवतां मन्त्राणां बीजाक्षरं जीव इत्यर्थः ॥ १८ ॥ आदीति । आद्यक्षरमित्यर्थः । अस्तु = अकारस्त्वित्यर्थः ॥ १८ ॥

शिष्टं तु क्षेत्रमुद्दिष्टमकाररहिते पुनः ।
क्षेत्रज्ञः स्वर उद्दिष्टः केवले च स्वरे पुनः ॥ १९ ॥
जीवः स्यात् प्रथमा मात्रा द्वितीयादि तनुर्भवेत् ।
एकमात्रे तु जीवः स्यात् संस्कारोऽद्भुतलक्षणः ॥ २० ॥

जहाँ अकार नहीं है वहाँ स्वर क्षेत्रज्ञ कहा जाता है । केवल स्वर में प्रथमा मात्रा जीव और शेष उसका शरीर माना जाता है । जहाँ एक ही मात्रा हो, वही केवल जीव होता है, जो सबका संस्कारभूत अद्भुत लक्षणवान् है वहाँ उच्चार्यमाण (वैखरी वाणी) क्षेत्र कहा जाता है ॥ १९-२० ॥

विमर्शिनी—अकाररहिते पुनरिति उत्तरत्रान्वेति । स्वरः; यः कश्चित् स्वर इत्यर्थः । केवले च स्वरे इत्युत्तरत्रान्वेति ॥ १९ ॥ संस्कार इति । मध्यमा वागित्यर्थः । अत्राष्टादशाध्यायस्थः षड्विंशः श्लोकोऽवधेयः ॥ २० ॥

उच्चार्यमाणं क्षेत्रं स्यान्निःस्वरे पिण्डके पुनः ।
प्रथमो जीव उद्दिष्टः शिष्टं क्षेत्रं प्रचक्षते ॥ २१ ॥

जिस पिण्ड मन्त्र में स्वर न हो वहाँ प्रथम अक्षर जीव होता है और शेष को क्षेत्र कहा जाता है ॥ २१ ॥

विमर्शिनी—उच्चार्यमाणमिति । वैखरीत्यर्थः ॥ २१ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसद्भाव एष ते संप्रदर्शितः ।
आदौ मध्ये तथान्ते च त्रिषु वान्यतरत्र वा ॥ २२ ॥

हे इन्द्र ! इस प्रकार हमने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ भाव आपके लिये प्रदर्शित किया जो मन्त्र आदि, मध्य तथा अन्त में होते हैं अथवा आदि, मध्य एवं अन्त इन तीनों में कहीं भी हो सकते हैं ॥ २२ ॥

एषां पिण्डोऽथवा बीजं ते मन्त्राः सार्वकालिकाः ।
बीजाभावे तु मन्त्राणां बीजं कृत्वादिमाक्षरम् ॥ २३ ॥
अनुस्वारयुतं पश्चात् सकलं मन्त्र उच्यते ।

जिसमें पिण्ड अथवा बीज हों वे मन्त्र सार्वकालिक कहे जाते हैं । मन्त्रों में यदि बीज अक्षर न हो तो उसके आदि अक्षर को अनुस्वार से युक्त कर बीज बना लेना चाहिए । तदनन्तर सभी मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिए, जैसे—'गं गणपतये नमः' । यहाँ गं बीजमन्त्र हो जाता है ॥ २३-२४- ॥

विमर्शिनी—यत्र मन्त्रे बीजं नास्ति तत्र प्रथमाक्षरमनुस्वारयुतं बीजमित्यर्थः । यथा—गं गणपतये नमः इत्यत्र गं इति बीजमन्त्रः ॥ २३ ॥

प्रक्रीडयन्ति पुरुषं मन्त्रा रागेण रञ्जितम् ॥ २४ ॥
चतुर्दशविभागस्थे प्राकृते भुवनाध्वनि ।
तुर्यवर्जं सुषुप्त्याद्ये प्राकृते च पदाध्वनि ॥ २५ ॥
आचार्यदृष्टिपातस्थं पुरुषं संयतेन्द्रियम् ।
प्रसादसुमुखा मन्त्रा उत्तार्य भुवनाध्वनः ॥ २६ ॥
पदाध्वनश्च वैराग्यं जनयन्तः पदे पदे ।
क्रमात्तत्त्वकलावर्णपदवीषु नयन्ति तम् ॥ २७ ॥
मान्त्रं प्रासादमासाद्य निर्धूताशेषबन्धनः ।
लक्ष्मीनारायणाख्यं तद्विशति ब्रह्म शाश्वतम् ॥ २८ ॥

मन्त्र में अत्यन्त श्रद्धा रखने वाले पुरुष से मन्त्र स्वयं उनसे क्रीडा करते हैं । चौदह प्रकार के भेदों वाले प्राकृत भुवनाध्वा में तुरीयावस्था को छोड़कर सुषुप्ति आदि अवस्था वाले प्राकृत पदाध्वा में आचार्य की दृष्टि से पवित्र संयतेन्द्रिय साधक पुरुष को प्रसन्न (सिद्ध) करते हैं, ये मन्त्र भुवनाध्वा तथा

पदाध्वा से पारकर पद पद पर उसे वैराग्य उत्पन्न करते हुये क्रमशः तत्त्व में ले जाते हैं फिर वहाँ से उसे कलावर्ण में ले जाते हैं । इस प्रकार पुरुष मन्त्र का प्रसाद (सिद्धि) प्राप्त कर सारे सांसारिक बन्धनों को त्यागकर लक्ष्मीनारायण नामक शाश्वत ब्रह्म में प्रवेश कर जाता है ॥ -२४-२८ ॥

आचार्यलक्षणम्

शक्रः—

आचार्यः कीदृशो देवि शिष्यस्तस्य च कीदृशः ।
मन्त्रेषु कतमो मन्त्रः प्रभवेत् परमाप्तये ॥ २९ ॥
कथं स चोपदेष्टव्य एतद् ब्रूहि नमोऽस्तु ते।

इन्द्र ने कहा—हे देवि ! मन्त्रज्ञ आचार्य कैसा होना चाहिये ? उसका शिष्य कैसा होना चाहिये ? सभी मन्त्रों में कौन से मन्त्र परम पद प्राप्ति के योग्य होते हैं और उस मन्त्र का उपदेश किस प्रकार करना चाहिये । आपको नमस्कार है, मुझे इन बातों को बतलाइये ॥ २९-३०- ॥

श्रीरुवाचः—

सर्वलक्षणसंयुक्तो ब्राह्मणो वेदपारगः ॥ ३० ॥
षट्कर्मनिरतः शान्तः पञ्चकालरतः शुचिः ।
पञ्चरात्रार्थविन्मौनी मन्त्राक्षरकृतश्रमः ॥ ३१ ॥
न स्थूलो न कृशो ह्रस्वो न काणो नैव रोगवान्।
नान्धो न बधिरो मूढो न खल्वाटो न पङ्गुकः ॥ ३२ ॥
न हीनाङ्गोऽतिरिक्ताङ्गो न श्वित्री न च दाम्भिकः ।
न क्रोधनो न दुश्चर्मा न लोभहतचेतनः ॥ ३३ ॥

श्री ने कहा—जो ब्राह्मण सभी लक्षणों से युक्त हो, वेद पारगामी हो, षट्कर्म (भजन एवं अध्यायनादि) में लगा हुआ हो, शान्त, पञ्चकाल (अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग (द्र. १७.१३ टिप्पणी) में निरत हो, शुचि, पञ्चरात्र (भगद्धर्मशास्त्र) का ज्ञाता, मौनी, मन्त्राक्षर में श्रम करने वाला, न स्थूल, न कृश, न ह्रस्व, न काना, न रोगी, न अन्धा, न बधिर, न मूर्ख, न खल्वाट, न लँगड़ा, न हीनाङ्ग, न अधिकाङ्ग, न श्वेत कुष्ठी, न दाम्भिक, न क्रोधी, न दुश्चर्मा और जो लोभी न हो—ऐसा ही ब्राह्मण आचार्य पद के योग्य होता है ॥ -३०-३३ ॥

अकुलीनं दुराचारं शठं जिह्मं च वर्जयेत् ।
दयादान्तिशमोपेतं दृढभक्तिं क्रियापरम् ॥ ३४ ॥

सत्यवाक्छीलसम्पन्नं रेखाकर्मसु कौशलम् ।
जितेन्द्रियं सुसंतुष्टं करुणापूर्णमानसम् ॥ ३५ ॥
आर्यलक्षणसम्पन्नमार्जवं चारुहासिनम् ।
एवंगुणगणाकीर्णं गुरुं विद्यात्तु वैष्णवम् ॥ ३६ ॥

कुलरहित, दुराचारी, शठ और टेढ़े स्वभाव वाला ब्राह्मण सर्वथा आचार्य पद के लिये वर्जित है । दयावान्, इन्द्रियों का दमन करने वाला, भगवान् में दृढ़भक्ति रखने वाला, ब्राह्मणोचित क्रिया में संलग्न, सत्यवादी, शीलवान्, रेखाकर्म में निपुण, जितेन्द्रिय, सुसंतुष्ट, मन में करुणा धारण करने वाला, श्रेष्ठ लक्षण सम्पन्न, कोमल स्वभाव वाला, मन्द स्मितयुक्त—इस प्रकार के वैष्णव लक्षणों से युक्त पुरुष को गुरु बनाना चाहिये ॥ ३४-३६ ॥

शिष्यलक्षणम्

शिष्यश्च तादृशो ज्ञेयः सर्वलक्षणलक्षितः ।
क्षान्तिशीलं सुधीमन्तं क्रोधलोभविवर्जितम् ॥ ३७ ॥
स्नानार्चनरतं नित्यं गुरुशुश्रूषणोद्यतम् ।
विप्राग्निदेवपितृषु भक्तं तर्पणशीलिनम् ॥ ३८ ॥
कुलीनं च तथा प्राज्ञं शास्त्रार्थनिरतं सदा ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं वा भगवत्परम् ॥ ३९ ॥
ईदृग्लक्षणसंयुक्तं शिष्यमार्जवसंयुतम् ।

उपर्युक्त सभी लक्षणों से लक्षित, क्षमावान्, बुद्धिमान्, क्रोध एवं लोभरहित, स्नान अर्चन में निरत, गुरु की शुश्रूषा में सर्वदा उद्यत, ब्राह्मण देवता एवं पितरों में भक्ति रखने वाला, पितृ तर्पण करने वाला, कुलीन, प्राज्ञ, शास्त्र के अर्थ में लगा हुआ, भगवान् में भक्ति रखने वाला, आर्जव (सीधा) से संयुक्त—इस प्रकार के लक्षणों वाला शिष्य होना चाहिये ॥ ३७-४०- ॥

वर्णधर्मक्रियोपेतां नारीं वा सद्विवेकिनीम् ॥ ४० ॥
विद्यादनुमते पत्युरनन्यां पतिमानिनीम् ।
एवंलक्षणकं शिष्यमाचार्यो भगवन्मयः ।
ज्ञापयेद्विधिवन्मन्त्रान् गुरुदृष्ट्या समीक्ष्य तु ॥ ४१ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे गुरुशिष्यलक्षणं
नाम एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

वर्ण एवं धर्म के अनुसार क्रिया करने वाली, ज्ञान वाली, पति का सम्मान करने वाली और अपने पति की आज्ञानुसार चलने वाली ऐसी स्त्री भी शिष्या की योग्यता रखती है। साक्षात् भगवत्स्वरूप आचार्य उपर्युक्त लक्षण लक्षित शिष्य को विधि के अनुसार भली प्रकार से परीक्षा कर मन्त्र प्रदान करना चाहिए ॥ -४०-४१ ॥

विमर्शिनी—अनेन स्त्रीशूद्रयोरपि तान्त्रिकमन्त्रग्रहणे अधिकारो विधीयते। एवं तु तारविषये विशेषो ग्रन्थान्तरेष्ववगन्तव्य: ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के गुरुशिष्यलक्षण नामक इक्कीसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

षडध्वमन्त्रस्वरूपनिरूपणम्

वर्णकलातत्त्वमन्त्रपदभुवनाख्याः षडध्वानः

अनादिनिधने देवि सर्वज्ञे हरिवल्लभे ।
कथं वै ज्ञापयेन्मन्त्रांस्तेषां रूपं च कीदृशम् ॥ १ ॥

इन्द्र ने कहा—हे अनादिनिधने ! हे सर्वज्ञे ! हे हरिवल्लभे ! किस प्रकार मन्त्रों का उपदेश करना चाहिये ? उन मन्त्रों का स्वरूप कैसा होना चाहिये ?॥ १ ॥

समप्रधानता वैषामुत ज्येष्ठकनिष्ठता ।
एतत् पृष्टा मया ब्रूहि नमस्ते सरसीरुहे ॥ २ ॥

इन मन्त्रों में परस्पर साम्यता का भाव है अथवा बड़े-छोटे का विचार है । हे सरसीरुहे ! आपको नमस्कार है । मैंने जो पूँछा है, मुझे इन बातों को बतलाइये ॥ २ ॥

श्रृणु सर्वमशेषेण मत्तस्त्वं पाकशासन ।
यथास्मि मन्त्ररूपाहं यथा च ज्ञापयामि तान् ॥ ३ ॥
परं ब्रह्म परं धाम षाड्गुण्यममलोज्ज्वलम् ।
देशकालानवच्छिन्नमनाकारमनूपमम् ॥ ४ ॥
अहमित्येव तद्ब्रह्म स्वात्मसम्बोधि निर्गुणम् ।
अनादिनिधनं दिव्यं लक्ष्मीनारायणं महत् ॥ ५ ॥
चिदानन्दरसं दिव्यमखण्डमजरामरम् ।
अनुन्मिषद्भवद्भावं ग्राह्यग्राहकवर्जितम् ॥ ६ ॥
स्तिमितं तत् परं ब्रह्म तस्य स्तिमिततास्म्यहम् ।
तत् कदाचित्परं ब्रह्म भवद्भावव्यवस्थया ॥ ७ ॥

उन्मिषत्यजहद्रूपं स्वेच्छयैव कदाचन ।
साहं भावात्मिकाहंता सम्पूज्या परमात्मनः ॥ ८ ॥
उदेमि भवतो देवादिच्छयैव विवस्वतः ।
संभृत्याखिलसंभारमिच्छयैव स्वनिर्मितम् ॥ ९ ॥
स्वभित्तौ लिखितं नीत्वा प्रभवामि षडध्वना ।
वार्णः कलामयश्चैव तात्त्विको मान्त्रिकस्तथा ॥ १० ॥
पादिको भौवनश्चैव षडध्वानः प्रकीर्तिताः ।
परमं यदहंताख्यं संविद्रूपमनामयम् ॥ ११ ॥

श्री ने कहा—हे पाकशासन ! अब आप मुझ से सारी बातों को सुनिए। जिस प्रकार मैं मन्त्र स्वरूपा हूँ तथा जिस प्रकार मन्त्र का मैं उपदेश करती हूँ उसे समझिए । परब्रह्म, पर धाम, षाड्गुण्य, निर्मल, उज्ज्वल स्वरूप, देशकाल से अपरिच्छिन्न, उपमारहित एवं आकाररहित 'अहं' यही ब्रह्म है । परमात्मा का बोधक निर्गुण, जन्ममृत्युरहित, महान्, दिव्य, लक्ष्मीनारायण स्वरूप है । उस चिदानन्दरस, दिव्य, अखण्ड, अजर, अमर, भवद्-भाव के उन्मेष से रहित ग्राह्यग्राहकवर्जित स्तिमित (चाञ्चल्यरहित) परब्रह्म की मैं स्तिमितता हूँ । वह परब्रह्म कभी भवद्भाव की व्यवस्था से और अपने स्वाभाविक स्वरूप को न छोड़ता हुआ अपनी इच्छा से जब प्रगट होता है तब वहीं मैं उस तेजोमय परमात्मा की भावात्मिका अहन्ता के रूप में उदित होती हूँ । तब षडध्वा के रूप में प्रगट होती हूँ ॥ ३-१० ॥

वर्ण, कलामय, तात्त्विक, मान्त्रिक, पादिक और भौवन—ये छह अध्वा कहे गए हैं । उनमें जो ज्ञानस्वरूप, विघ्नरहित, अहन्ता नाम वाला प्रथम उन्मेष है वही वर्णाध्वा कहा जाता है । उन्हीं के तेज से यह समस्त सृष्टि उन्हीं की इच्छा से निर्मित हो जाती है उसी सृष्टि में मैं हे पाकशासन ! जिसकी व्याख्या मैं पहले आपसे कर आई हूँ ॥ १०-१२ ॥

विमर्शिनी—ज्ञापयामीति । आचार्यरूपेण बोधयामीत्यर्थः ॥ ३ ॥ अनूपममिति । अनुपममित्यर्थः ॥ ४ ॥ निर्गुणम्; सत्त्वादिप्राकृतगुणहीनम् ॥ ५ ॥ अनुन्मिषदित्यादि । शान्तपरावस्थायां भवद्भावरूपोन्मेषरहितमित्यर्थः । तथा ग्राह्येत्यादिकमपि भाव्यम् ॥ ६ ॥ उन्मिषति; प्रकाशत इत्यर्थः । अजहदित्यादि । स्वाभाविकं निर्विकारत्वमजहदित्यर्थः ॥ ८ ॥ विवस्वतः; तेजोमयाद्भगवत इत्यर्थः ॥ ९ ॥

तत्राद्यानां त्रयाणामनुवादपूर्वकं मन्त्राध्ववर्णनम्

उन्मेषः प्रथमस्तस्य वर्णाध्वा परिकीर्तितः ।

व्याकृतिर्दर्शिता तस्य पूर्वं ते पाकशासन ॥ १२ ॥
तदेव परमं रूपं मम संविन्मयं महत् ।
विवर्ततेऽध्वभावेन ज्ञानाद्येन कलात्मना ॥ १३ ॥

वही महान् संविन्मय मेरा वर्णाध्व नामक परम रूप ज्ञान नामक अध्वभाव से कला के रूप में विपरिणमित होता है ॥ १३ ॥

ज्ञानादीनां कलानां तु गुणानां परमात्मनः ।
पूर्वं ते कथिता सूक्तिर्यावन्तो यादृशाश्च ते ॥ १४ ॥

परमात्मा के गुणभूत ज्ञानादि कलाओं के विषय में वे जितने हैं और जिस प्रकार है वह सुव्यवस्थित रूप से कह आई हूँ ॥ १४ ॥

अध्वद्वयमुपादाय तद्रूपं मम चिन्मयम् ।
वासुदेवादिरूपेण वर्तते तत्त्ववर्त्मना ॥ १५ ॥

मेरा वह चिन्मय स्वरूप उन दोनों वर्णाध्वा और पदाध्वा को लेकर तत्त्वाध्वा से वासुदेवादि रूप में प्रगट होता है ॥ १५ ॥

विमर्शिनी—अध्वद्वयम् ; वर्णाध्वानं कलाध्वानं चेत्यर्थः । ॥ १५ ॥

व्यूहाश्च विभवाश्चैव यच्चान्यद्भगवन्मयम् ।
तत्त्वाध्वनो विवृत्तिः सा कीर्तिता परमात्मनः ॥ १६ ॥

व्यूह, व्यूहान्तर एवं विभव तथा अन्य जितने भी भगवन्मय है, वे सभी परमात्म स्वरूप तत्त्वाध्वा के व्याख्यान है जिन्हें मैं पहले कह चुकी हूँ । मेरा वही चिन्मय स्वरूप पूर्व के दो अध्वा को लेकर मन्त्र रूप परमाध्वा के रूप में विपरिणमित होता है ॥ १७ ॥

विमर्शिनी—अन्यत् = व्यूहान्तराणि विभवान्तराणि चेत्यर्थः ॥ १६ ॥

पूर्वाध्वद्वयमादाय तदेव मम चिन्मयम् ।
रूपं विवर्तते शश्वन्मान्त्रेण परमाध्वना ॥ १७ ॥
उत्तारणाय जीवानां मग्नानां भवसागरे ।
भोगाय भवसंस्थानां वैराग्यजननाय च ॥ १८ ॥
आराधनस्य सिद्ध्यर्थं मानसालम्बनाय च ।
मन्त्राध्वा परमोदारो मम चिद्रूपलक्षणः ॥ १९ ॥

मन्त्राध्व का प्रयोजन—मेरा यही चिद्रुप स्वरूप मन्त्राध्वा संसार सागर में डूबते हुये मनुष्यों को पार करने के लिये तथा संसार सागर में रहने वाले

जनों के भोग के लिये और वैराग्य उत्पन्न करने के लिये एवं आराधना की सिद्धि के लिये उनके मन के आलम्बन के लिये अत्यन्त उदार है ॥१८-१९॥

विमर्शिनी—मन्त्राध्वप्रयोजनमाह—उत्तारणायेत्यादिना ॥ १८ ॥ मानसालम्बनायेति । शुभाश्रयरूपप्रदर्शनेन योगिनां मानसस्य ध्यानालम्बनप्रदानायेत्यर्थः । एतच्च श्रीविष्णुपुराणे प्रपञ्चितम् ॥ १९ ॥

वासुदेवादिदेवानां मूर्तिभावं व्रजत्यसौ ।
मन्त्राः सर्वे चिदात्मानः सर्वगाः सर्वसाधकाः ॥ २० ॥

यही मन्त्राध्वा वासुदेवादि मूर्तियों के रूप में प्रगट होता है । ये सभी प्रकार के मन्त्र चिदात्मा सर्वगामी और सर्वसाधक हैं ॥ २० ॥

विमर्शिनी—अथ प्रकृतं मन्त्रमहिमानमाह—मन्त्रा इत्यादिना ॥ २० ॥

पदाध्ववर्णनम्

त्रायमाणाश्च मन्तारं गुप्तरूपाश्च शास्त्रतः ।
भोगापवर्गदा ह्येते देवदेवस्य शार्ङ्गिणः ॥ २१ ॥
रूपं मे भगवन्मन्त्रा विज्ञेया मूर्तयोऽमलाः ।
जाग्रत्स्वप्नौ सुषुप्तिश्च तुर्यं चेति चतुष्टयम् ॥ २२ ॥

देवाधिदेव भगवान् विष्णु के शास्त्र में गुप्त रूप से रहने वाले ये मन्त्र मनन करने वालों की रक्षा करते हैं, उन्हें भोग और मोक्ष प्रदान करते हैं । भगवान् के ये सभी मन्त्र मेरी निर्मल मूर्तियाँ हैं । जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया—ये चारो पदाध्वा के स्वरूप हैं ऐसा समझना चाहिये ॥ २१-२२ ॥

विमर्शिनी—महिमवर्णनमुखेन मन्त्रशब्दयौगिकार्थमाह—त्रायमाणाश्चेति । मन्-धातोः त्रैधातोश्च व्युत्पन्न इति भावः । व्युत्पत्त्यन्तरमाह—गुप्तेति । ''मत्रि गुप्त-भाषणे'' इति धातुः ॥ २१ ॥

ज्ञेयं पदाध्वनो रूपं जाग्रब्दाह्येन्द्रियक्रमः ।
बाह्येन्द्रियाणां तमसाभिभूते विभवे सति ॥ २३ ॥
अनतःकरणवृत्तिर्या संस्कारपरिशेषिणी ।
सा स्वप्न इति विज्ञेया तदभावे सुषुपितका ॥ २४ ॥

जाग्रत बाह्य इन्द्रिय का क्रम है । जब समस्त बाह्य इन्द्रियों का व्यापार तमोगुण से अभिभूत हो जाता है तब संस्कार के अभाव के कारण जो अन्तःकरण की वृत्ति है उसे स्वप्न कहा जाता है और स्वप्न के अभाव में वही अन्तःकरण की वृत्ति सुषुप्ति का रूप धारण कर लेती है ॥ २३-२४ ॥

विमर्शिनी—स्वप्नावस्थां निरूपयति—बाह्येत्यादिना ॥ २३ ॥ तदभावे = संस्काराभावे ॥ २४ ॥

तमसानभिभूतस्य सत्त्वस्थस्य विपश्चितः ।
बाह्यान्तःकरणस्थाया वृत्तेरुपरमे सति ॥ २५ ॥
शुद्धसत्त्वप्रसादस्य संततिस्तुर्यसंज्ञिता ।
एवं चतुर्विधे मार्गे निर्दिष्टेऽस्मिन् पदाभिधे ॥ २६ ॥

जब ज्ञानी पुरुष की मनोवृत्ति तमोगुण से अभिभूत न हो और बाह्य एवं अन्तकरण की वृत्ति सर्वथा व्यापाररहित हो तथा केवल शुद्धसत्त्व का प्रसार हो तब तुरीया संज्ञक वृत्ति होती है । इस प्रकार पदाध्वा में चार प्रकार के मार्ग अर्थात् अवस्थाओं का निर्धारण किया गया है ॥ २५-२६ ॥

भुवनाध्ववर्णनम्

तुर्यवर्जं सुषुप्त्यादिरशुद्धां भजते गतिम् ।
मायादिक्षितिपर्यन्ता योक्ता भुवनपद्धतिः ॥ २७ ॥
भुवनाध्वा स विज्ञेयो ह्यशुद्धो मलपङ्किलः ।
प्रक्रीडयन्ति मन्त्रास्ते शश्वद्रागपरं नरम् ॥ २८ ॥

इस प्रकार जब जीव तुरीयावस्था को छोड़कर सुषुप्ति आदि अशुद्ध एवं मलिन अवस्था में पड़ा रहता है, तब माया से लेकर पृथ्वी पर्यन्त भुवन पद्धति उसे अपने में युक्त कर लेती है । इसी को भुवनाध्वा समझना चाहिये । यह सर्वथा अशुद्ध और मल के कीचड़ से सनी रहती है ये मन्त्र (भुवनाध्वा मन्त्र) इस प्रकार के रागयुक्त नरों से सर्वदा क्रीडा करते हैं ॥ २७-२८ ॥

विमर्शिनी—भुवनाध्वानं निरूपयति—मायादीति ॥ २७ ॥

मन्त्रमहिम्नोत्तमपदप्राप्तिः

तत्तद्भोगेन्द्रजालानि दर्शयन्तो विमोहितम् ।
गुरुणा सदयं सम्यग्वीक्षितं करुणादृशा ॥ २९ ॥
उत्तारयन्ति वैराग्यं जनयन्तः पदे पदे ।
ततः शुद्धमयान् मार्गान् प्राप्यन्तः शनैः शनैः ॥ ३० ॥

वे उन-उन भोग के मायामय इन्द्रजाल पुरुषों को दिखाकर मोहित करते रहते हैं किन्तु जब गुरु सदय होकर उन्हें अपनी करुणा की दृष्टि से देख लेते हैं, तब ये भुवनाध्वा मन्त्र उस पुरुष को पग-पग पर वैराग्य

उत्पन्न करते हुये उस भुवनाध्वा से पार उतार कर धीरे-धीरे उसे शुद्ध मार्ग में ले जाते हैं ॥ २९-३० ॥

विमर्शिनी—पदे पदे; जाग्रदादिक इत्यर्थः ॥ ३० ॥

शब्दब्रह्मणि निष्णातं प्राप्येयुः परां श्रियम् ।
एवंविधा महात्मानो मन्त्राः परमपावनाः ॥ ३१ ॥

तब वे मन्त्र रूप शुद्ध शब्दब्रह्म में स्नान किये हुये उस पुरुष को महाश्री की प्राप्ति करा देते हैं । इस प्रकार ये मन्त्र महान् आत्मा वाले हैं जो पुरुषों को पवित्र कर देते हैं ॥ ३१ ॥

विमर्शिनी—शब्दब्रह्मणि; मन्त्रेष्वित्यर्थः ॥ ३१ ॥ परे इति । उत्तमा इत्यर्थः । भवोपकरणानि = सर्गोपकरणभूतानि ॥ ३२ ॥

मन्त्राणामुत्तममध्यमाधमभेदाः

त्रिविधास्ते तु विज्ञेया अधमा मध्यमाः परे ।
भवोपकरणानां ये देवानां मूर्तितां गताः ॥ ३२ ॥
अन्तवत्फलदा मन्त्रास्ते ज्ञेया अधमा बुधैः ।
मन्त्रा विभवदेवानां सशक्तीनां तु मूर्तयः ॥ ३३ ॥
ते ज्ञेया मध्यमा मन्त्रा उत्तमा व्यूहमूर्तयः ।
ये तु ब्रह्मावगाहन्ते लक्ष्मीनारायणात्मकम् ॥ ३४ ॥

ये मन्त्र अधम, मध्यम एवं उत्तम भेद से तीन प्रकार के कहे गए हैं । जो सृष्टि के उपकरण के रूप में प्रगट हो गए हैं और जो नश्वर फल प्रदान करते हैं, बुद्धिमान उन्हें अधम मन्त्र समझे । जो मन्त्र शक्तियों सहित विभव देवताओं की मूर्ति के स्वरूप हो गए हैं, उन्हें मध्यम मन्त्र समझना चाहिये । जो व्यूह की मूर्ति धारण करने वाले मन्त्र हैं वे उत्तम मन्त्र हैं । ऐसे उत्तम मन्त्र लक्ष्मीनारायणात्मक शब्दब्रह्म में सर्वदा स्नान करते हैं ॥ ३२-३४ ॥

भवद्भावव्यवस्थानास्ते मन्त्रा उत्तमोत्तमाः ।
एवं च ज्यैष्ठ्यकानिष्ठ्यं विज्ञेयं मन्त्रकोविदैः ॥ ३५ ॥

जो भगवद्भाव की व्यवस्था वाले मन्त्र हैं वे मन्त्र उत्तमोत्तम हैं । इस प्रकार मन्त्र के ज्ञाता विद्वानों को मन्त्र के ज्येष्ठता और कनिष्ठता का विचार (कर प्रयोग) करना चाहिये ॥ ३५ ॥

उत्तमाः पञ्चरात्रस्था मध्यमास्तु त्रयीमयाः ।
तन्त्रान्तरस्था विज्ञेया अधमाः शास्त्रचक्षुषा ॥ ३६ ॥

पाञ्चरात्र में कहे गए मन्त्र उत्तम प्रकार के हैं । त्रिगुणात्मक मन्त्र मध्यम हैं । तन्त्रों में कहे गए (कम्य कर्म के) मन्त्र शास्त्र की दृष्टि से अधम समझना चाहिये ॥ ३६ ॥

विमर्शिनी—पञ्चरात्रस्था इति । अनन्यपरसात्त्विकतमभागवतोद्देशप्रवृत्तत्वात् तेषामुत्तमत्वम् । त्रयीयमया इति । त्रैगुण्यविषयत्वात्तेषां मध्यमत्वम् ॥ ३६ ॥

कलाङ्गा उत्तमा ज्ञेया अन्याङ्गा मध्यमाः स्मृताः ।
अनङ्गा अधमा मन्त्रा भूयः शृणु सुरेश्वर ॥ ३७ ॥

ज्ञानादि कला अङ्ग वाले मन्त्र उत्तम हैं । इसके अतिरिक्त अन्य अङ्ग वाले मन्त्र मध्यम हैं और जिनमें कलादि कोई अङ्ग नहीं है, वे मन्त्र अधम हैं । हे सुरेश्वर ! अब इसके बाद भी इनका उत्तमत्व सुनिए ॥ ३७ ॥

विमर्शिनी—कलाः = ज्ञानादयः ॥ ३७ ॥

बीजपिण्डादिसंयुक्ता उत्तमाः परिकीर्तिताः ।
बीजाद्यन्यतमान्तःस्था मन्त्रा मध्यमसंज्ञिताः ॥ ३८ ॥

जिसमें बीज एवं पिण्ड दोनों हों वे उत्तम मन्त्र हैं, जिसमें केवल बीज या केवल पिण्ड हो वे मध्यम संज्ञक मन्त्र हैं ॥ ३८ ॥

अबीजादियुता ज्ञेया मन्त्रा अधमसंज्ञिताः ।
एवं मन्त्रविधा ज्ञात्वा ह्याचार्यः शास्त्रलोचनः ।
यथास्वरूपतः शिष्यान् ज्ञापयेदर्थितो मनून् ॥ ३९ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे षडध्वमन्त्रस्वरूपकथनं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

जिसमें बीज न हो और न पिण्ड हों ऐसे मन्त्र को अधम समझना चाहिये । शास्त्रों का ज्ञान रखने वाला आचार्य इस प्रकार मन्त्र के विधियों का ध्यान करता हुआ शिष्य द्वारा प्रार्थना किये जाने पर उनके स्वरूप के अनुसार मन्त्र प्रदान करे ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के षडध्वमन्त्रस्वरूपकथन नामक बाइसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

मातृकाप्रकाशः

मातृकापीठपरिकल्पनम्

श्रीरुवाचः—

व्यापकं यत् परं ब्रह्म लक्ष्मीनारायणं महत् ।
अहंता परमा तस्य शक्तिर्नारायणी ह्यहम् ॥ १ ॥

श्री ने कहा—व्यापक महान् जो लक्ष्मीनारायण ब्रह्म हैं । मैं उनकी 'अहन्ता' नारायणी नामक शक्ति हूँ ॥ १ ॥

अनुग्रहाय लोकानामहमाचार्यतां गता ।
सङ्कर्षणस्वरूपेण शास्त्रं प्रद्योतयाम्यहम् ॥ २ ॥

मैं संसारी जीवों पर दया करने के लिये आचार्यता ग्रहण करती हूँ । सङ्कर्षण स्वरूप से मैं ही शास्त्रों का विस्तार करती हूँ ॥ २ ॥

पुनश्च गुरुमूर्तिस्था सम्यग्विज्ञानशालिनी ।
शक्तिमय्या स्वया दृष्ट्या करुणामन्त्रपूर्णया ॥ ३ ॥
पालयामि गुरुर्भूत्वा शिष्यानात्मोपसर्पिणः ।
तस्माज्ज्ञेयः सदा शिष्यैराचार्योऽसौ मदात्मकः ॥ ४ ॥

तदनन्तर सम्यग् ज्ञान से प्रयुक्त हुई मैं गुरु की मूर्ति धारण करती हूँ और करुणापूर्ण अपनी शक्तिमयी दृष्टि से स्वयं अपने को समर्पित कर देने वाले शिष्यों का पालन करती हूँ । इसलिये शिष्यों को आचार्य मेरा स्वरूप है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ३-४ ॥

शिष्यं संज्ञापयेन्मन्त्रान् यथा तदवधारय ।

आदौ शुद्धे समे स्निग्धे देशे भूदोषवर्जिते ॥ ५ ॥
वर्णानुरूपवर्णाढ्ये गोमयेनोपलेपिते ।
धूपिते शल्यनिर्मुक्ते गन्धपुष्पाद्यलंकृते ॥ ६ ॥
पञ्चगव्येन संसिक्ते चन्दनाद्यनुलेपिते ।
सुमृन्मयीं च घटिकां केवलैः कुसुमैः शुभैः ॥ ७ ॥
प्रणवादिनमोऽन्तेन स्वेन मन्त्रेण पूजयेत् ।
व्याहृत्या परिजप्याथ पूर्वया प्रणवाद्यया ॥ ८ ॥

अब हे इन्द्र ! जिस प्रकार आचार्य शिष्य को दीक्षित करे (मन्त्रोपदेश करें) उसे सुनिए । सर्वप्रथम शुद्ध समतल चिकने पृथ्वी में रहने वाले केश, नख, अस्थि से वर्जित भूप्रदेश में, जो तद् तद् वर्णो के अनुरूप वर्ण वाला हो (ब्राह्मण के लिये श्वेत, क्षत्रिय के लिए रक्त, वैश्य के लिय पीला, शूद्र के लिये काला वर्ण वाला प्रदेश शास्त्र विहित है), ऐसे भूप्रदेश को गोबर से लीपे, धूप से धूपित करे, शल्योद्धार करे और उसे गन्ध पुष्प से अलंकृत करे। पञ्चगव्य से सिक्त कर चन्दनादि से छिड़काव करे । तदनन्तर मिट्टी की बनी हुई घटिका का बिना गूँथे हुये शुभ फूलों से 'ॐ भूम्यै नमः' इस प्रकार के आदि में प्रणव तथा अन्त में नमः लगाकर उस पृथ्वी का पूजन करे । तदनन्तर आदि में प्रणव से युक्त व्याहृति (ॐ भूर्भुवः स्वः) का जप करे ॥ ५-८ ॥

विमर्शिनी—भूदोषाः केशनखास्थिसंसर्गजाः, ऊषरत्वादयश्च ॥ ५ ॥ वर्णानुरूपेत्यादि । ब्राह्मणादिवर्णानुगुणसितादिवर्णयुक्ते इत्यर्थः । तथा चोक्तं परमसंहितायाम्—

"ब्राह्मणस्य सिता भूमिः क्षत्रियस्यारुणा भवेत् ।
पीतवर्णा च वैश्यस्य कृष्णा शूद्रस्य कीर्तिता ॥" (७-५) इति ।

शल्यानि कण्टकादीनि ॥ ६ ॥ केवलैः; विस्रस्तैः, अग्रथितैरित्यर्थः ॥ ७ ॥ पूर्वया = व्याहृत्येत्यर्थः ॥ ८ ॥

मृदं भूमौ प्रसार्याथ गन्धधूपाधिवासितम् ।
चतुरश्रं सुवृत्तं वा द्विहस्तं हस्तमेव वा ॥ ९ ॥
सुसमं मातृकापीठं कृत्वा प्रस्तारयेत्तु ताम् ।
एकैव भिन्नवर्गा या देवी पञ्चदशाक्षरा ॥ १० ॥

तब पूर्वोक्त गन्ध धूपादि से अधिवासित उस मृत्तिका को दो हाथ अथवा एक हाथ के परिमाण में चौकोर अथवा गोले रूप में बराबर-बराबर मातृकापीठ

बनाकर पृथ्वी पर फैला देवे । वह मातृका एक होकर १५ संख्या वाले अक्षरों (स्वरों) तथा ककारादि वर्गों से भिन्न रूप हो जाती है ॥ ९-१० ॥

विमर्शिनी—भिन्नवर्गा; कवर्गाद्यात्मना भिन्नेत्यर्थः ॥ १० ॥

मन्त्राणां जननी साक्षान्मम शब्दमयी तनुः ।
पद्माकारेण वा मन्त्री चक्राकारेण वा स्तरेत् ॥ ११ ॥

वह मातृका सभी मन्त्रों की जननी है और यह मेरा शब्दमय शरीर है । अतः साधक उसे कमल के आकार में अथवा चक्र के आकार में फैलावे ॥ ११ ॥

मातृकापीठेऽक्षरविन्यासः

पौरुषे चक्ररूपं तु पाद्मीं लक्ष्मीमनुक्रमेत् ।
अग्नीषोममयी शक्तिर्विसृष्टाख्या द्विरष्टधा ॥ १२ ॥
स्वराख्यां तां लिखेत्पत्रमरं वा पूर्वदिग्गतम् ।
पृथिव्यादिपुमन्ता ये पञ्च वर्गास्तु कादयः ॥ १३ ॥
अग्न्यादिवायुपर्यन्ते तां लिखेदरपत्रवत् ।
अन्तःस्थधारणारूपं यादिवान्तचतुष्टयम् ॥ १४ ॥
उदग्गतं लिखेत् पत्रमरं वा पूर्ववद्बुधः ।
शाद्यं क्षान्तं तुरीयान्तं यदुक्तं ब्रह्मपञ्चकम् ॥ १५ ॥
तल्लिखेदैशदिक्संस्थमरं पत्रमथापि वा ।
शब्दाख्यं यत्परं ब्रह्म ज्योतिर्मयमनामयम् ॥ १६ ॥
ध्यायेदालोकरूपेण पर्यन्ते चक्रपद्मयोः ।
प्रणवाद्यैर्नमोऽन्तैस्तैरक्षरैस्तत्त्वसंज्ञकैः ॥ १७ ॥
प्रकृतिं त्वर्चयेत्तत्र तत्त्वरूपां तु मां बुधः ।
ततस्तत्कर्णिकामध्ये चिन्तयेन्मन्त्रमातृकाम् ॥ १८ ॥
अनादिनिधनां देवीमहंतां पुरुषोत्तमीम् ।
पाशाङ्कुशधरां देवीं पद्मिनीं पद्ममालिनीम् ॥ १९ ॥
प्रसन्नां पद्मगर्भाभां सर्वलोकमहेश्वरीम् ।
वर्णप्रक्लृप्तावयवां वर्णालङ्कारभूषिताम् ॥ २० ॥

मातृकातनौ अक्षरविन्यासः

शब्दब्रह्म तनुं विद्यात् प्रणवं तु शिरः स्मरेत् ।
अ आ इति भ्रुवौ विद्यादि ई विद्यात्तु चक्षुषी ॥ २१ ॥

उ ऊ कर्णौ ऋ ॠ नासापुटावन्यौ कपोलकौ ।
ए ऐ ओष्ठौ च विज्ञेयौ ओ औ दशनपङ्क्तिके ॥ २२ ॥
अं जिह्वामः समुच्चारं कचवर्गौ करौ स्मरेत् ।
टतवर्गौ पदौ विद्यात् पफौ पार्श्वे स्मरेद्बुधः ॥ २३ ॥
बभौ पश्चात्पुरोभागौ मं नाभिं परिचिन्तयेत् ।
प्राणोष्माणौ यरौ विद्याल्लं हारं परिचिन्तयेत् ॥ २४ ॥

यदि पुरुष रूप में पूजा करनी हो तो चक्र के स्वरूप में यन्त्र निर्माण करे और यदि लक्ष्मी के रूप में पूजा करनी हो तो कमल का आकार बनावे। फिर पूर्व दिशा में कमलाकार में पत्र पर (या चक्राकार में अरे पर) अग्नीषोममयी विसृष्ट नामक शक्ति वाली १६ प्रकारों वाली स्वर नाम से कही जाने वाली मातृका लिखे । पृथ्वी से लेकर पुरुष पर्यन्त २५ तत्त्वों को, कवर्गादि से लेकर पवर्ग पर्यन्त पाँच वर्गों को और अग्निकोण से लेकर वायव्य कोण तक (आग्नेय, दक्षिण, नैर्ऋत्य, पश्चिम, वायव्य) लिखे । चक्राकार होने पर अरे पर लिखे और कमलाकार होने पर पत्र पर लिखे । 'य र ल व' धारणा स्वरूप चार वर्णों को पूर्व की भाँति अरे पर अथवा पत्र पर उत्तर दिशा में लिखे । फिर श ष स ह क्ष इस ब्रह्म पञ्चक को अथवा हकारान्त केवल चार वर्णों को ईशान दिशा में उसी प्रकार अरे पर अथवा पत्र पर लिखे । तदनन्तर उस चक्र के (अथवा कमल के) चारो ओर सर्वत्र शब्द नाम वाले ब्रह्म को, जो ज्योतिर्मय एवं अनामय है, उसका प्रकाश रूप से ध्यान करे । फिर आदि में प्रणव और अन्त में नमः लगाकर उन ककारादि तत्त्वों से (ॐ ककाराय नमः) इस मन्त्र से बुद्धिमान् साधक पुरुष प्रकृति स्वरूपा मेरी पूजा करे और उन-उन कर्णिकाओं के मध्य में मन्त्र मातृकाओं का ध्यान करे ॥ १२-१८ ॥

जन्म-मरण से सर्वथा रहित अहंता स्वरूपा पुरुषोत्तम की स्त्री लक्ष्मी पाश एवं अंकुश अपने हाथों में लिये हुये, कमल की माला धारण किये हुये, कमल पर विराजमान, प्रसन्न कमल के भीतर रहने वाले विसतन्तु के समान स्वच्छ वर्ण वाली, सर्व लोक महेश्वरी, वर्णस्वरूप वाली, वर्णों के आभूषणों को धारण किये हुये, शब्द शरीर धारण करने वाली मुझ मातृका मन्त्र का यह स्वरूप है । उसका इस प्रकार ध्यान करे—

'प्रणव' ॐ उसका शिर है । 'अ आ' उसके दोनों भ्रुव है । इ ई उसके नेत्र हैं । 'उ ऊ' कान हैं । ऋ ॠ दोनों नासापुट हैं तथा अन्य ऌ ॡ कपोल हैं । ए ऐ ओष्ठ हैं तथा ओ औ दाँतों की पंक्तियाँ है । 'अ' जिह्वा है । 'अः' समुच्चार है । कवर्ग चवर्ग हाथ है । टवर्ग तवर्ग पैर हैं । प और

फ दोनों पार्श्व भाग हैं। इस प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति वर्ण मातृका का स्मरण करे। ब भ पीछे के भाग (पीठ) हैं। 'म' नाभिस्थान है एवं य र प्राण और ऊष्मा है तथा 'ल' हार है। इस प्रकार ध्यान करना चाहिये ॥ १९-२४ ॥

विमर्शिनी—पृथिवी ककारः। पुमान् मकारः ॥ १३ ॥ पुरुषोत्तमस्य स्त्री पुरुषोत्तमी ॥ १९ ॥ अन्यौ = ऌॡवर्णावित्यर्थः। अनयोर्नपुंसकत्वान्न नाम्ना निर्देशः ॥ २२ ॥

वकारं कटिसूत्रं तु कुण्डले तु शषौ स्मरेत्।
सकारं हृदयं विद्याद्धृदयस्थं तु हं स्मरेत् ॥ २५ ॥

'वकार' कटिसूत्र है तथा 'श ष' कुण्डल हैं। सकार हृदयस्थान है और ह अन्तःकरण है। ऐसा ध्यान करना चाहिये ॥ २५ ॥

प्रसरन्तीं प्रभां विद्यात् क्षकारं विद्युदुज्ज्वलाम्।
रङ्गं नासाग्रगं विद्याद्यमाख्यं हृदये स्मरेत् ॥ २६ ॥

क्षकार उसका फैलता हुआ उज्ज्वल प्रकाश है। नासा का अग्रभाग अनुनासिक (रङ्ग) है (द्र. पाणिनीय शिक्षा—यथा रङ्ग वर्ण प्रयुज्जीरन् नो ग्रसेत्पूर्वमक्षरम् इत्यादि) 'यम' का हृदय में स्मरण करे ॥ २६ ॥

विमर्शिनी—रङ्गम् = अनुनासिकम् ॥ २६ ॥

जिह्वामूलीयकं जिह्वामूले विद्यादनन्तरम्।
उपध्मानीयकं विद्यादोष्ठयोः क्रमशस्तथा ॥ २७ ॥

जिह्वामूलीय का जिह्वा के मूल में, तदनन्तर उपध्मानीय का दोनों ओष्ठों में क्रमशः स्मरण करे ॥ २७ ॥

मातृकापूजा

शुभैर्वर्णमयैः पद्मैरग्नीषोममयैः कृताम्।
बिभ्रतीं वनमालां च कण्ठात्पादावलम्बिनीम् ॥ २८ ॥
अग्नीषोमार्ककोट्याभं स्फुरद्रत्नविभूषितम्।
मकुटं चिन्तयेद्विद्वान् हकारं पारमेश्वरम् ॥ २९ ॥

अग्नीषोमात्मक कल्याणकारी वर्ण रूपी पद्मों से बनी हुई, कण्ठ से पैर पर्यन्त लटकी हुई वनमाला को धारण किये, करोड़ो सूर्य के समान देदीप्यमान, अग्नीषोमात्मक वर्णरूपी रत्नों से भूषित परमेश्वर के साक्षात् स्वरूप हकार का मुकुट धारण किये हुए मातृका का ध्यान विद्वान् को करना चाहिये ॥२८-२९॥

एवं संस्मृत्य तां देवीं मातृकां मन्त्रमातरम् ।
पूजयेदर्घ्यपुष्पाद्यैरों नमो मन्त्रमातृके ॥ ३० ॥

इस प्रकार सभी मन्त्रों की माता मातृका देवी का ध्यान कर 'ॐ नमो मन्त्र मातृके' इस मन्त्र से उन मातृका की अर्घ्य पुष्पादि द्वारा पूजा करे ॥३०॥

इदमर्घ्यं गृहाणेति भोगैरेवमनुक्रमात् ।
ततः कृताञ्जलिः प्रह्वः प्रणम्याष्टाङ्गवद्भुवि ॥ ३१ ॥

'इदमर्घ्यं ग्रहाण इदमाचमनीयं गृहाण' इत्यादि क्रम से आरम्भ कर इदं नैवेद्यं गृहाण इत्यादि क्रम तक पूजा करने के अनन्तर भूमि पर साष्टाङ्ग प्रणाम करने के पश्चात् हाथ जोड़कर इस प्रकार प्रार्थना करे ॥ ३१ ॥

पद्मस्थे पद्मनिलये पद्मे पद्माक्षवल्लभे ।
सर्वतत्त्वकृताधारे मन्त्राणां जननीश्वरि ॥ ३२ ॥
व्याकुरु त्वं परं दिव्यं रूपं लक्ष्मीमयं मम ।
प्रार्थ्यैवं प्रयतो मन्त्री स्वयं लक्ष्मीमयो भवेत् ॥ ३३ ॥

हे कमल पर विराजमान रहने वाली, हे कमल में निवास करने वाली, हे विष्णु वल्लभे पद्मे ! सर्वतत्त्वो की आधारभूते, हे मन्त्रों की जननि ! हे ईश्वरि ! आप अपना दिव्य लक्ष्मीमय स्वरूप मुझे दिखाईए । आचार्य इस प्रकार लक्ष्मी माता की प्रार्थना कर स्वयं लक्ष्मी स्वरूप बन जावे ॥ ३२-३३ ॥

मन्त्रोद्धारः

मातृकाकृतविन्यासः स्वयं सन्मातृकामयः ।
उद्धरेदीप्सितं मन्त्रं शिष्यस्योपदिशेत्ततः ॥ ३४ ॥

मातृका वर्णों (अकार से लेकर क्षकारान्त वर्णों) से पद्मचक्र में उनका न्यास (निक्षेप) करे । ऐसा करने से स्वयं मातृकामय हुआ आचार्य अभीष्ट मन्त्र का उद्धार कर तदनन्तर शिष्य को उपदेश करे ॥ ३४ ॥

विमर्शिनी—मातृकेत्यादि । अकारादिक्षकारान्तैर्वर्णैः कृतः विन्यासः पद्मचक्रयोः निक्षेपः येन सः ॥ ३४ ॥

बीजपिण्डात्मका मन्त्रा मन्त्रेषु श्रेष्ठतां गताः ।
तत्र श्रेष्ठानि बीजानि पिण्डेभ्योऽपि सुरेश्वर ॥ ३५ ॥

सभी मन्त्रों में जिसमें बीज और पिण्ड हों वे मन्त्र सर्वश्रेष्ठ है । हे सुरेश्वर! उन बीज और पिण्ड मन्त्रों में बीज वाले मन्त्र ही श्रेष्ठ हैं ॥ ३५ ॥

सप्त बीजमन्त्राः

बीजेषु रत्नभूतानि सप्त बीजानि वासव ।
तारकः प्रथमं बीजं द्वितीयं तारिका स्मृता ॥ ३६ ॥

सभी बीज मन्त्रों में भी, हे सुरेश्वर ! ये सात बीजात्मक मन्त्र रत्नभूत कहे गए हैं—प्रथम तारक (ॐ) बीज है इसके बाद द्वितीय तारिका (ह्रीं) बतलाया गया है ॥ ३६ ॥

विमर्शिनी—तारादि मन्त्रोद्धारक्रमोऽनन्तराध्याये वक्ष्यते ॥ ३६ ॥

तयोस्तु तेजसा तुल्यं तृतीयमनुतारिका ।
चतुर्थं तु जगद्योनिः परमं बीजमुच्यते ॥ ३७ ॥

उन दोनों के तेज के तुल्य तृतीय अनुतारिका (श्रीं) बीज है चौथा जगद्योनि (ऐंकार) है यह सर्वश्रेष्ठ बीज कहा गया है ॥ ३७ ॥

प्राद्युम्नं पञ्चमं बीजं षष्ठं सारस्वतं मतम् ।
महालक्ष्मीमयं बीजं सप्तमं परिकीर्तितम् ॥ ३८ ॥

पञ्चम बीज प्राद्युम्न (क्लीं) है । छठाँ सारस्वत बीज (औः) तथा सातवाँ महालक्ष्मीमय बीज (क्ष्म्रीं) कहा गया है (द्र० २६ अध्याय)॥ ३८ ॥

त्वं शक्रावहितो भूत्वा शृणु बीजान्यनुक्रमात् ॥ ३९ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे मातृकाप्रकाशो नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

...❧❀❧...

इन मन्त्रों का स्थूलपरत्व एवं सूक्ष्मपरत्व प्रतिस्व कहा गया है । अब हे इन्द्र ! इन बीजों को क्रम के अनुसार सावधान होकर सुनिए । (इन तारादि मन्त्रों का उद्धारक्रम आगे के अध्यायों में कहा जायेगा) ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के मातृकाप्रकाश नामक तेइसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ २३ ॥

...❧❀❧...

चतुर्विंशोऽध्यायः

तारप्रकाशः

तारमन्त्रोद्धारः

परं ब्रह्म परं धाम परं ज्योतिरनूपमम् ।
लक्ष्मीनारायणं ब्रह्म दोषशून्यं निरञ्जनम् ॥ १ ॥

श्री ने कहा—परं ब्रह्म, परं धाम, परं ज्योति, उपमारहित, दोषशून्य निरञ्जन ब्रह्म लक्ष्मीनारायण हैं ॥ १ ॥

एक सर्वमिदं व्याप्य स्थितं सर्वोत्तरं महः ।
अहंताहं परा तस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ॥ २ ॥

एकमात्र केवल लक्ष्मीनारायण ही सारे संसार को व्याप्त कर सर्वोत्तर तेज:स्वरूप से विद्यमान रहते हैं । उन परब्रह्म परमात्मा की मैं 'अहन्ता' शक्ति हूँ ॥ २ ॥

हिताय सर्वजीवानामुन्मिषन्ती स्ववाञ्छया ।
शब्दब्रह्ममयी भूत्वा मातृकामन्त्रविग्रहा ॥ ३ ॥

मैं सारे जगत् के कल्याण के लिये अपनी इच्छा से अवतरित होती हूँ, मैं शब्दब्रह्ममयी होकर भी मातृका मन्त्रों का शरीर धारण करती हूँ ॥ ३ ॥

भवामि मन्त्ररूपाहं तत्तद्वाच्यानुकारिणी ।
प्रथमं ताररूपेण यथास्म्येवं समुद्धरेत् ॥ ४ ॥

तद् तद् अर्थों का अनुकरण करने वाली मैं ही मन्त्रों के स्वरूप में प्रगट होती हूँ । प्रथम तार (ॐ) स्वरूप से मैं प्रगट होती हूँ । उसका उद्धार इस प्रकार करना चाहिये ॥ ४ ॥

प्रथमं ध्रुवमादाय ततः कर्णं समुद्धरेत् ।
नाभिं समुद्धरेत्पश्चात् त्रयमेकत्र योजयेत् ॥ ५ ॥

पहले ध्रुव (अ) उसके बाद कर्ण (उकार) तदनन्तर नाभि (अनुनासिक) का उद्धार कर तीनों को एक में मिला देवे ॥ ५ ॥

ओमित्येतत् समुत्पन्नं प्रथमं ब्रह्मतारकम् ।
बिन्दुना भूषयेत् पश्चान्नादेन तदनन्तरम् ॥ ६ ॥
ध्यायेत् संततनादेन तैलधारामिवाततम् ।
एतत्तद्वैष्णवं रूपं त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ७ ॥

इस प्रकार प्रथम तारक स्वरूप 'ओम्' की उत्पत्ति हो जायेगी । फिर उसे बिन्दु के साथ भूषित कर, तदनन्तर नाद के साथ तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित उसके स्वरूप का ध्यान करे । यह तीन अक्षरों वाला विष्णु का स्वरूप शाश्वत ब्रह्म कहा जाता है ॥ ६-७ ॥

तारस्थवर्णाधिदेवताः

अनिरुद्धस्त्वकारोऽत्र प्रद्युम्नः पञ्चमः स्वरः ।
सङ्कर्षणो मकारस्तु वासुदेवस्तु बिन्दुकः ॥ ८ ॥

इसमें अकार अनिरुद्ध है । पञ्चम स्वर उकार प्रद्युम्न है । मकार सङ्कर्षण हैं । और बिन्दु वासुदेव हैं ॥ ८ ॥

चतुर्णामविभागस्तु नादस्तत्र सुरेश्वर ।
नादस्य या परा काष्ठा साहन्ता परमेश्वरी ॥ ९ ॥

हे सुरेश्वर ! इन चारो वर्णों का अविभाग (योग) नाद कहा जाता है । उस नाद की जहाँ पराकाष्ठा (समाप्ति) होती है, वह परमेश्वर से सम्बन्ध रखने वाली अहन्ता कही जाती है ॥ ९ ॥

शक्तिः सा परमा सूक्ष्मा नादान्तगगनाह्वया ।
शब्दब्रह्ममयी सूक्ष्मा साहं सर्वावगाहिनी ॥ १० ॥

नाद के अन्त में विद्यमान जो दहर आकाश है, तद्रूपिणी सूक्ष्मा परमा शक्ति कही जाती है । वही सूक्ष्मभूत शब्द ब्रह्ममयी मैं हूँ, जो सबमें निवास करती हूँ ॥ १० ॥

विमर्शिनी—नादान्तेत्यादि । पूर्वोक्तस्य नादस्यान्ते यत् गगनं दहराकाशः, तद्रूपेत्यर्थः । देव्या दहराकाशरूपत्वात् परब्रह्मणस्तन्नियतवसतित्वं श्रूयते—"तत्रापि

दह्रं गगनं विशोकस्तस्मिन् यदन्तस्तदुपासितव्यम्'' इति । श्रीसात्त्वते च—नादावसानगगने देवोऽनन्तः समन्वितः'' (२-६९) इति ॥ १० ॥

विरामे सति नादस्य यः स्फुटीभवति स्वयम् ।
ज्योतिस्तत्परमं ब्रह्म लक्ष्मीनारायणाह्वयम् ॥ ११ ॥

नाद के विराम हो जाने पर जो स्वयं स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होता है, वही लक्ष्मीनारायण नामक परम ज्योति ब्रह्म है ॥ ११ ॥

एतत्ते वैष्णवं धाम कथितं पौरुषं परम् ।
शान्तमस्यैव यद्रूपं तस्य तत्त्वं निशामय ॥ १२ ॥

हे इन्द्र ! इस प्रकार हमने उस पुरुष स्वरूप विष्णु का परधाम (तेज) कहा । इनका जो शान्त स्वरूप है, अब उसका तत्त्व सुनिए ॥ १२ ॥

तारस्वरूपम्

विसृष्टिं पूर्वमादाय सूर्यमन्ते नियोजयेत् ।
संनिकर्षे परे जाते तदोमित्युदितं महः ॥ १३ ॥

पहले विसृष्टि (विसर्ग युक्त अकार) अः को लेकर उसके अन्त में सूर्य (अं) को स्थापित करे । तदनन्तर सन्धि करने पर 'ॐ' नामक तेज का उदय हो जाता है ॥ १३ ॥

विमर्शिनी—विसृष्टिः = विसर्गः । सूर्यः = अङ्कारः । अः + अं इति स्थिते ''अतो रोः'' इत्युत्त्वे गुणे पूर्वरूपे च ओमिति भवति । (अः, अं अतोरप्लुदतेति से उस्वर, पुनः गुण, तदनन्तर पूर्वरूप करने पर 'ओम्' यह रूप निष्पन्न होता है) ॥ १३ ॥

एतत् तत् परमं धाम शक्तिसंहारलक्षणम् ।
स्मर्यमाणं परं तत्त्वं प्रकाशयति यद् ध्रुवम् ॥ १४ ॥

विसर्ग और बिन्दु के संयोग (सन्धि) से यही सृष्टि के संहार का लक्षण बन जाता है । (ॐ) यही तत्त्व निरन्तर स्मरण करने से निश्चित रूप से प्रकाश उत्पन्न करता है ॥ १४ ॥

विमर्शिनी—विसर्गबिन्दुसंयोगरूपत्वात् सृष्टिसंहारलक्षणमित्यर्थः ॥ १४ ॥

संहृत्य सर्वसंभारं शुद्धाशुद्धाध्वसंभवम् ।
सृष्टौ समुद्यता शक्तिः सूर्ये पुंसि सनातने ॥ १५ ॥

यही शक्ति शुद्धाशुद्ध अध्वा से उत्पन्न सारे संसार को बिन्दु रूप सनातन

सूर्य पुरुष में एकत्रित कर सृष्टि में उद्यत हो जाती है ॥ १५ ॥

विमर्शिनी—सूर्ये पुंसि; बिन्दुरूपे ॥ १५ ॥

परमे भोक्तृरूपे सा विधाय प्रतिसञ्चरम्।
अग्नीषोममयाद्भावात् स्थूलात्सा प्रतिनिर्गता॥ १६ ॥
दाम्पत्यं मध्यमं शश्वद्बिन्दुनादमयं श्रिता।
शक्तिः शान्तात्मकं दिव्यं सूक्ष्मदाम्पत्यमाश्रिता ॥ १७ ॥

फिर वही शक्ति स्थूल रूप वाले अग्नीषोममय भावों से निकल कर उस परम भोक्ता स्वरूप में, उस सृष्टि का प्रतिसञ्चर (प्रलय) कर मध्य में रहने वाले, शाश्वत् बिन्दुनादमय होकर दाम्पत्य रूप में स्थित हो जाती है। तदनन्तर शक्ति शान्तात्मक दिव्य, सूक्ष्म, दाम्पत्यभाव का आश्रय ग्रहण करती है ॥ १६-१७ ॥

प्रतितिष्ठति सा दिव्ये व्यापके परमात्मनि ।
अस्य मात्रा विधानज्ञैः सार्धास्तिस्र उदाहृताः ॥ १८ ॥

तब वह शक्ति सर्वव्यापक दिव्य परमात्मा में (ॐ) में जाकर स्थिर हो जाती है। इस 'ॐ' की मात्रा में तन्त्रशास्त्र के वेत्ता तीन मात्रायें कहते हैं ॥ १८ ॥

त्रयोऽग्नयस्त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्त्रयो गुणाः ।
त्रयो देवास्त्रयो व्यूहास्त्रयो वर्णास्त्रयः स्वराः॥ १९ ॥
त्रितयं त्रितयं शक्र यत् किंचिज्जगतीगतम् ।
तदादि त्रितयं ज्ञेयमर्धमात्रा निरञ्जना ॥ २० ॥

हे इन्द्र ! तीन अग्नियाँ, तीन लोक, तीन वेद, तीन गुण, तीन देवता, तीन व्यूह, तीन वर्ण, तीन स्वर इस प्रकार इस जगत् में जितने तीन-तीन के विधान हैं, उन्हें अकार से तीन (अं इ उ) मात्राओं का स्वरूप समझाना चाहिये। शेष अर्धमात्रा अर्थात् बिन्दु निर्विकार मायारहित है ॥ १९-२० ॥

विमर्शिनी—आदि त्रितयमिति । अकारादि = त्रयमित्यर्थः । अर्धमात्रा बिन्दुः ॥ २० ॥

तारात् शब्दार्थप्रपञ्चोत्पत्तिः

सर्वे शब्दा अकारोत्था उकारात्तेजसां त्रयम् ।
पृथिव्यादि प्रकृत्यन्तं मकारोत्थं पुरन्दर ॥ २१ ॥

सभी शब्द अकार से उत्पन्न हुये हैं। उकार से सूर्य, सोम और अग्निस्वरूप—ये तीन तेज उत्पन्न हुये हैं। इतना ही नहीं, हे इन्द्र ! पृथ्वी से लेकर प्रकृति पर्यन्त २५ तत्त्व मकार से उत्पन्न हुये हैं ॥ २१ ॥

विमर्शिनी—तेजसां त्रयम्; सूर्यसोमाग्निरूपम् ॥ २१ ॥

ज्योतिर्मय्यर्धमात्रा सा चिन्मयी परमा कला।
युग्भिः स्वरैः सबिन्द्वन्तैराद्यन्तस्वरषट्कयोः ॥ २२ ॥

जो ज्योतिर्मयी अर्धमात्रा है, वही परमा कला (नाद स्वरूप) है। आदि के स्वरषट्क अ आ इ ई उ ऊ तथा अन्त के स्वर षट्क जो युक्स्वर है-आ ई ऊ ॡ ऐ औ' इनको बिन्दु से युक्त कर अङ्गन्यास करे ॥ २२ ॥

विमर्शिनी—परमा कला; नादः। आदिस्वरषट्कम् अकाराद्यूकारान्तम्। अन्तस्वरषट्कम् ऌकाराद्यौकारान्तम्। तेषु युक्स्वराः आ, ई, ऊ, ॡ, ऐ, और इति। तैः सबिसन्दुभिरङ्गन्यासः। उपाङ्गन्याससस्तु सतारैः ज्ञानादिपदैः ॥ २२ ॥

तारस्य अङ्गन्यासः

ज्ञानादिगुणषट्कान्तैरङ्गक्लृप्तिरमुष्य तु।
नाभौ पृष्ठे तथा बाह्वोरूरुजानुपदेषु च ॥ २३ ॥

तार (प्रणव) युक्त षट् संख्या वाले ज्ञानादि गुणों से नाभि, पृष्ठ, दोनों बाहु, दोनों ऊरू, दोनों जानु तथा दोनों पदों इन उपाङ्गों में न्यास करे ॥ २३॥

तारस्य लययोगः

तारपूर्वान् गुणान् भूयो विन्यसेत् पाकशासन।
एवं विन्यस्य तन्मन्त्रमङ्गोपाङ्गसमन्वितम् ॥ २४ ॥
स्वदेहे गुरुरात्मस्थं चिन्तयेत् पुरुषोत्तमम्।
विश्वादिलयपूर्वं तु यथावत् तन्निबोध मे॥ २५ ॥

इस प्रकार अङ्ग-उपाङ्ग सहित मन्त्र का न्यास कर गुरु अपने शरीरस्थ आत्मा में पुरुषोत्तम का ध्यान करे। अब विश्वादि का लय जिस प्रकार होता है, हे इन्द्र ! उसे सुनिए। विश्व जाग्रदवस्था का अपना नाम है ॥ २४-२५ ॥

विश्वं जाग्रत्पदेशानं सर्वेन्द्रियसमीरकम्।
भोक्तारं शब्दपूर्वाणां पञ्चानां विषयात्मनाम् ॥ २६ ॥
अनिरुद्धात्मकं तं च चिन्तयेत् प्रथमाक्षरम्।
तं सोपकरणं देवमकारे प्रविलाप्य तु ॥ २७ ॥

विश्व जाग्रत्पद के अधिष्ठाता, समस्त इन्द्रियों के प्रेरक शब्दपूर्वक पाँचों विषयों के भोक्ता (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) अनिरुद्धात्मक स्वरूप को अकार में ध्यान करे। फिर उपकरणसहित उन देव का उकार अकार में लय कर देवे ॥ २६-२७ ॥

विमर्शिनी—विश्वेति जाग्रत्पदस्थात्मनाम ॥ २६ ॥ अनिरुद्धप्रद्युम्नसङ्कर्षण-वासुदेवलक्ष्मीनारायणाः विश्वतैजसप्राज्ञतुर्यतुर्यातीतसंज्ञकजाग्रदाद्यधिष्ठातारो देवाः। (यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, सङ्कर्षण, वासुदेव लक्ष्मीनारायण ये विश्व, तेजस, प्राज्ञ, तुर्य, तुर्यातीत संज्ञा वाले हैं और जाग्रदादि अवस्थाओं के अधिष्ठाता हैं) ॥ २७ ॥

अकारं तैजसे देवे प्रद्युम्ने स्वप्नवर्त्मगे।
अन्तःकरणवृत्तीनां प्रेरके प्रविलापयेत् ॥ २८ ॥

उस अकार के तेज के देवता प्रद्युम्न में, जो स्वप्नावस्था के अधिष्ठाता हैं और अन्तःकरण के प्रेरक हैं, उनमें लय करें ॥ २८ ॥

तं सोपकरणं देवमुकारे प्रविलापयेत्।
उकारं चेश्वरे प्राज्ञे सङ्कर्षणतनुस्थिते ॥ २९ ॥
सुषुप्तिपदगे शश्वत् प्राणादिप्रेरके विभौ।
विलाप्य तं च देवेशं तुर्यसंस्थेऽर्धमात्रके ॥ ३० ॥
ज्ञानानन्दमये देवे वासुदेवे विलापयेत्।
तुर्यातीते च तत्तुर्यं लक्ष्मीनारायणात्मनि ॥ ३१ ॥

उन सोपकरण प्रद्युम्न देव का उकार में लय करे। तदनन्तर उस उकार का भी ईश्वर, प्राज्ञ, सङ्कर्षण रूप शरीर वाले, सुषुप्ति के अधिष्ठाता एवं प्राणादि के प्रेरक विभु में विलय करे। फिर उन सङ्कर्षण देव का तुर्य नामक अर्धमात्रा में जो ज्ञानानन्द वासुदेव स्वरूप है उनमें लय करे। फिर उन वासुदेव का भी लक्ष्मीनारायणात्मक तुर्यातीतावस्था में विलय कर स्वयं दिव्या वैष्णवी अहन्ता में प्रवेश करे ॥ २९-३१ ॥

प्रविलाप्य स्वयं दिव्यामहंतां वैष्णवीं श्रयेत्।
तन्मयस्तादृशं प्राप्य लयस्थानं ततः क्रमात् ॥ ३२ ॥

तारस्य शिष्यायोपदेशः

जागरामवतीर्याथ दीक्षितं शिष्यमग्रतः।
सद्गुरुर्मन्मयो भूत्वा तारमध्यापयेत्स्वयम् ॥ ३३ ॥

साङ्गोपाङ्गक्रमं शश्वत् ससमाधिं सविस्तरम् ।
स च दद्यात् स्वमात्मानं दक्षिणां गुरवे धनैः ॥ ३४ ॥

फिर अहन्तामय होकर उस प्रकार के लय स्थान को प्राप्त कर उस लय स्थान से जागरावस्था में उतर कर, अपने आगे दीक्षित शिष्य को, वह गुरु मेरे स्वरूप का ध्यान कर साङ्गोपाङ्ग, सविस्तर, ससमाधि 'ॐकार' का स्वयं उपदेश करे । शिष्य भी दक्षिणा के रूप में गुरु को अपने को समर्पण करे । बहुत साधन भी दक्षिणा में देवे ॥ ३२-३४ ॥

विमर्शिनी—तन्मय:; अहंतामय: ॥ ३२ ॥ लयस्थानात् सृष्टिस्थानावतरण-चिन्तामाह—जागरामिति ॥ ३३ ॥

तारस्य पुरश्चरणम्

लब्धानुज्ञस्ततः कुर्वन् पौरश्चरणिकं विधिम् ।
महानदीतटं गत्वा सिद्धाद्यायतनं तु वा ॥ ३५ ॥
पालाशं वा वनं सम्यक्पर्यन्तादृष्टभूतलम् ।
स्नानं त्रिषवणं कुर्वन् ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ॥ ३६ ॥
पयोयावकभैक्षाणामश्नन्नन्यतमं सकृत् ।
कुशोच्चये निषण्णः सन् काशचीरकुशेशयः ॥ ३७ ॥

फिर उनकी आज्ञा लेकर पुरश्चरण करने के लिये किसी नदी के तट पर अथवा किसी सिद्धायतन में, अथवा पलाश के समीप, अथवा दूर तक फैले हुये जहाँ कोई जा न सके ऐसे अदृष्ट भूतल वाले किसी वन में जाकर तीनों काल स्नान करते हुये, ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करते हुये, अपनी इन्द्रियों को वश में कर दूध अथवा यावक अथवा भिक्षान्न इनमें किसी एक का एक बार भोजन करते हुये कुशा के संस्तर पर बैठे हुये काश, चीर और कुशा के बने संस्तर पर शयन करते हुये पुरश्चरण की क्रिया करे ॥ ३५-३७॥

विमर्शिनी—पुरश्चरणं नाम गुरोर्लब्धस्य मन्त्रस्य वीर्यवत्तरत्वसम्पादनायानुष्ठेयो जपहोमादिः । तच्च पञ्चाङ्गम् । तथा चोक्तम्—

"जपहोमौ तर्पणं चाभिषेको विप्रभोजनम् ।
पञ्चाङ्गोपासनं लोके पुरश्चरणमुच्यते ॥" इति ॥ ३५ ॥

पालाशं धारयेद्दण्डं संवीतः कृष्णचर्मणा ।
मच्चित्तो मन्मयो भूत्वा गुर्वादिष्टेन वर्त्मना ॥ ३८ ॥
नित्यं योगपरो भूत्वा सम्यग्ज्ञानसमाधिमान् ।
दशलक्षं जपेन्मौनी तारं संसारतारकम् ॥ ३९ ॥

पुरश्चरण काल में पलाश दण्ड धारण करे। कृष्णमृग के चर्म से अपने को आच्छादित करे। तदनन्तर मेरा ध्यान करते हुये, मेरे स्वरूप में अवस्थित हो, गुरु के द्वारा उपदिष्ट मार्ग से नित्य ही योग का साधन कर सम्यग् ज्ञान एवं सम्यक् समाधि से युक्त हो, मौन धारण कर, संसार से तारने वाले इस तारक (ॐ) मन्त्र का दश लाख जप करे ॥ ३८-३९ ॥

दशांशं जुहुयात् पर्णैः समिद्भिः सर्पिषापि वा ।
प्रीता तस्य प्रकाशेऽहमहंता वैष्णवी परा ॥ ४० ॥
साधकस्य ततः सम्यक् सद्विवेकिनि चेतसि ।
लक्ष्मीनारायणाख्यं तत् सामरस्यं प्रकाशते ॥ ४१ ॥

फिर पत्ते, समिधा अथवा घी से दशांश होम करे। उसके इस कार्य से प्रसन्न होकर परा वैष्णवी स्वरूपा अहन्तामयी मैं उस साधक के विवेकयुक्त हृदय में प्रकाशित होती हूँ। फिर तो उस साधक में लक्ष्मीनारायणात्मक सामरस्य स्वयं प्रकाशित हो जाता है ॥ ४०-४१ ॥

विमर्शिनी—दशांशमिति। लक्षकृत्व इत्यर्थः ॥ ४० ॥

जीवन्नेव भवेन्मुक्तः पुनीते चक्षुषा जगत् ।
सिद्धाः स्युस्तस्य मन्त्रास्ते लौकिका वैदिकाश्च ये ॥ ४२ ॥

ऐसा पुरुष जीते हुये ही मुक्त हो जाता है। वह सारे जगत् को अपनी दृष्टि से पवित्र कर देता है। इस प्रकार लौकिक और वैदिक सभी प्रकार के मन्त्र उसे अपने आप सिद्ध हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

स्नातः सर्वेषु वेदेषु विद्यासु सकलासु च ।
सिद्धान्तेषु च सर्वेषु तीर्थेषु च भवेदसौ ॥ ४३ ॥

उसने समस्त वेदों में, सभी विद्याओं में, सभी सिद्धान्तों में तथा सभी तीर्थों में स्नान कर लिया ॥ ४३ ॥

प्रयोगाः सर्वमन्त्राणां यावन्तो यादृशाश्च ये ।
तावन्तस्तादृशास्तेऽस्य प्रयोगा इति निर्णयः ॥ ४४ ॥

सभी प्रकार के मन्त्रों के जितने और जैसे-जैसे प्रयोग हैं, उतने-उतने वैसे-वैसे वे सभी प्रकार के प्रयोग उसे ज्ञात हो जाते हैं—ऐसा निश्चय है ॥ ४४ ॥

तारस्य महिमा

अस्य व्याहृतयस्तिस्रो वर्णत्रयसमुद्गताः ।

पद्भ्यः समुद्गता ह्यस्याः सावित्री सर्वपावनी ॥ ४५ ॥
अस्याः पद्भ्यस्त्रयो वेदा ऋग्यजुःसामलक्षणाः ।
इत्येतन्मयमेवेदं लौकिकं वैदिकं वचः ॥ ४६ ॥

इस 'ॐ' के अकार से तीनों व्याहृतियाँ और तीनो वर्ण निकले हैं । इसके पैर से सबको पवित्र करने वाली गायत्री उत्पन्न हुई है । इसके पैरों से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद ये तीनों वेद निकले हुये हैं । बहुत क्या कहें लौकिक और वैदिक सारे वाङ्मय भी ॐकार स्वरूप ही हैं ॥ ४५-४६ ॥

यथा न्यग्रोधधानायामन्तर्भूतो महाद्रुमः ।
तथेदं वाङ्मयं विश्वमस्मिन्नन्तःस्थितं सदा ॥ ४७ ॥

जिस प्रकार न्यग्रोध बीज के भीतर न्यग्रोध जैसा महान् वृक्ष छिपा हुआ है, उसी प्रकार समस्त वाङ्मय इस ॐकार के भीतर छिपे हुये हैं ॥ ४७ ॥

विमर्शिनी—तारस्य समस्तवाङ्मयरूपत्वे दृष्टान्त उच्यते—यथेति । धाना सूक्ष्मं बीजम् । महाद्रुमस्य बीजे सूक्ष्मतयावस्थानकथनं चात्र सांख्यसत्कार्यवाद-मनुरुध्य । औपनिषदमते तु धानाया महाद्रुमस्य चोपादानैक्यात् सत्कार्यवाद इति अवस्थाभेदात् कार्यकारणभावव्यवहार इति च भिदा ॥ ४७ ॥

एतदाद्यं महाबीजं शब्दानां प्रकृतिः परा ।
शब्दब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं महत् ॥ ४८ ॥

यही सर्वप्रथम महाबीज है । यही समस्त शब्दों की परा प्रकृति है । यही परम धाम और पवित्र परम महान् शब्द ब्रह्म है ॥ ४८ ॥

ओङ्कारः प्रणवस्तारो हंसो नारायणो ध्रुवः ।
वेदात्मा सर्ववेदादिरादित्यः सर्वपावनः ॥ ४९ ॥
मोक्षदो मुक्तिमार्गश्च सर्वसन्धारणक्षमः ।
एवमादीनि नामानि शास्त्रे शास्त्रे विचक्षणैः ॥ ५० ॥
अधीतानि महापुण्यान्योङ्कारस्य महात्मनः ।
इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ॥ ५१ ॥

तारस्य प्रासादमन्त्रः

अयमन्विच्छतां स्वर्गः पोतः पारं तितीर्षताम् ।
हकारौकारसंयोगादयं प्रासादसंज्ञकः ॥ ५२ ॥

ॐकार, प्रणव, तार, हंस, नारायण, ध्रुव, वेदात्मा, सर्ववेदादि, आदित्य, सर्वपावन, मोक्षद, मुक्तिमार्ग सर्व सन्धारणक्षम । इसी प्रकार के अन्य भी बहुत

से इस ॐकार के पुण्याधायक नाम विचक्षणों ने प्रत्येक शास्त्रों में ध्यान के द्वारा निर्दिष्ट किये हैं । यही अज्ञों के लिये शरण है, यही विज्ञों के लिये भी शरण है, यही इच्छा करने वालों का स्वर्ग है, संसार रूपी समुद्र को पार करने की इच्छा करने वालों के लिये यह पोत (जहाज) है । हकार और औकार के संयोग (हौं) से इसकी प्रासाद संज्ञा हो जाती है ॥ ४९-५२ ॥

पिण्डोऽयं सर्वतत्त्वानां पिण्डभूतः सनातनः ।
साधनं प्रतिपत्तिश्च विनियोगोऽथ धारणा ॥ ५३ ॥

तारस्य संज्ञामन्त्रः, अस्त्रमन्त्रश्च

बीजस्येव सुरेशान प्रासादस्यास्य विद्धि तत् ।
अस्यैव संज्ञामन्त्रोऽयं हंसो नाम महामनुः ॥ ५४ ॥

यह स्वयं सनातन एवं पिण्डभूत तो है ही सभी तत्त्वों का भी पिण्डरूप है । हे सुरेशान ! बीज के समान ही इस प्रासाद मन्त्र का साधन प्रतिपत्ति विनियोग एवं धारणा करनी चाहिये—ऐसा समझो । हंस नाम का महा मन्त्र इसी प्रणव की संज्ञा है ॥ ५३-५४ ॥

भोक्तारं प्रथमं वर्णं विद्धि भोग्यं द्वितीयकम् ।
नारायणमयं पूर्वमक्षरं श्रीमयं परम् ॥ ५५ ॥

इस हंस मन्त्र का प्रथम वर्ण हकार भोक्ता है । दूसरा सकार वर्ण भोग्य है । पूर्व अक्षर नारायणमय है तो दूसरा श्रीमय है ॥ ५५ ॥

विमर्शिनी—प्रथमं वर्णमिति = हकारमित्यर्थः । द्वितीयकमिति = सकारमित्यर्थः ॥ ५५ ॥

अग्नीषोमात्मकावेतौ वर्णौ विद्धि सनातनौ ।
अनयोरन्तरा शक्र बिन्दुधर्मौ व्यवस्थितौ ॥ ५६ ॥

हे इन्द्र ! ये दोनों सनातन वर्ण अग्नीषोमात्मक हैं—ऐसा समझो । इनके बीच में बिन्दुधर्म (सृष्टि और संहार) व्यवस्थित हैं ॥ ५६ ॥

विमर्शिनी—बिन्दुधर्मौ = सृष्टिसंहारौ ॥ ५६ ॥

आधारान्मूर्धपर्यन्तं भोक्तारं वर्णमुन्नयेत् ।
विसृजेन्मुखतो वर्णं द्वितीयं भोग्यसंज्ञकम् ॥ ५७ ॥

मूल आधार से लेकर मूर्धापर्यन्त जाने वाले वायु से भोक्ता स्वरूप हकार वर्ण का उच्चारण करना चाहिये । द्वितीय भोग्य संज्ञक सकार को मुख से

निकालना चाहिये ॥ ५७ ॥

विमर्शिनी—आधारस्थानमारभ्य मूर्धपर्यन्तगामिना पवनेन हकारमुच्चरेत् । सकारं मुखतो विसृजेत् ॥ ५७ ॥

सर्वा सृष्टिः कृता तेन हंसोच्चारप्रयोगतः ।
अजपेयं समाख्याता विद्या सर्वाङ्गशोभना ॥ ५८ ॥

जिसने हंस मन्त्र के उच्चारण का प्रयोग किया उसे सारी सृष्टि के करने का पुण्य प्राप्त हुआ । यह अजपा मन्त्र सभी अङ्गों से सुशोभित विद्या है ॥ ५८ ॥

विमर्शिनी—हंसमन्त्रस्याजपामन्त्र इति नाम ॥ ५८ ॥

चतुःषष्ट्यधिकाशीतिकोटिसंख्यासु योनिषु ।
तद्भेदेषु च मन्त्रोऽयं स्वयमुच्चरते सदा ॥ ५९ ॥

जितने भी ८० करोड़ चौसठ संख्या वाले मन्त्र हैं उन मन्त्रों के सभी भेदों में सर्वत्र यह हंस मन्त्र स्वयं ही सदा उच्चरित होता रहता है ॥ ५९ ॥

निश्वासेन समं विद्या समुदेत्यन्तरुज्ज्वला ।
उदयास्तमयावस्याः श्वासनिश्वासतुल्यकौ ॥ ६० ॥

यह अत्यन्त उज्ज्वला विद्या निःश्वास के साथ उदित होती है । जिसका उदय और अस्तमय अर्थात् श्वास और निःश्वास दोनों ही समान है ॥ ६० ॥

षष्टिः श्वासा भवेत्प्राणाः षट्प्राणा नाडिका मता ।
नाड्यः षष्टिरहोरात्रमेवं कालक्रियागतिः ॥ ६१ ॥

साठ श्वास का एक प्राण होता है । छह प्राण की एक नाड़ी होती है । साठ नाड़ी का एक अहोरात्र होता है । यही काल क्रिया की गति है ॥ ६१॥

एवं हंसोदयाद्विद्धि सहस्राण्येकविंशतिम् ।
शतानि षट् च देवेश तावन्तः स्युर्जपाः कृताः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार सूर्योदय से कुल निःश्वास की संख्या २१,६०० होती है । अतः इतनी ही संख्या में हंस मन्त्र का जप भी होता रहता है ॥ ६२ ॥

विमर्शिनी—हंसमन्त्रे सकृज्जप्ते सति २१६०० संख्याका जपाः कृता भवन्तीति भावः ॥ ६२ ॥

किन्तु सङ्कल्पनं कुर्यादहरादौ मनीषया ।
एवंसंख्यान् जपानस्य करिष्यामीति बुद्धिमान् ॥ ६३ ॥

किन्तु इस मन्त्र का बुद्धिमान् साधक दिन के प्रारम्भ में अपनी बुद्धि से 'इतनी संख्या में मैं इस हंस मन्त्र का जप करूँगा' ऐसा सङ्कल्प करे ॥ ६३॥

विन्यसेत् पञ्च चाङ्गानि तेषां रूपं निबोध मे ।
सूर्यसोमौ चतुर्थ्यन्तौ नमःस्वाहासमन्वितौ ॥ ६४ ॥
निरञ्जनौ निराभासौ वौषड्ढुंफडन्तकौ ।
फडन्तं मूलमेवास्त्रमित्यङ्गान्यस्य पञ्च तु ॥ ६५ ॥

इस मन्त्र के जप के समय जिस पञ्चाङ्गों में न्यास किया जाता है । हे इन्द्र ! उसे सुनिए । निरञ्जन निराभास सूर्य सोम वर्ण (हकार एवं सकार) में चतुर्थी कर के उसमें नमः स्वाहा वौषट् हुं फट् इन शब्दों को जोड़ देवें यह फडन्त मन्त्र मूल अस्त्र मन्त्र है । इस प्रकार इसके पाँच अङ्ग हैं ॥ ६४-६५॥

विमर्शिनी—सूर्यसोमौ = हकारसकारौ ॥ ६४ ॥

तारस्य परमात्ममन्त्रः

अयमेव विपर्यस्तः परमात्ममनुः स्मृतः ।
समृत्वा शक्तिं ससंभारां सूर्ये भोक्तरि संनयेत्॥ ६६ ॥

इसी मन्त्र को उलट देने पर 'सोऽहम्'—यह परमात्मा का मन्त्र बन जाता है । सकार से शक्ति लेकर हकार रूप परमात्मा में इसे जोड़ देना चाहिये ॥ ६६ ॥

विमर्शिनी—विपर्यस्त सोऽहमिति मन्त्र इत्यर्थः । सकारेण शक्तिमादाय हकारे परमात्मनि योजयेदित्यर्थः ॥ ६६ ॥

तारस्य पदमन्त्राः, व्यापकमन्त्राः

शिष्टं प्रणववच्चिन्त्यमिति संज्ञामनोर्विधिः ।
पदमन्त्रास्त्रयोऽस्य स्युर्विधाने पाञ्चरात्रिके ॥ ६७ ॥

शेष अङ्ग न्यासादि प्रणव मन्त्र के समान ही समझें । यहाँ तक संज्ञा मन्त्रों की विधि कही गई । पाञ्चरात्र के विधान में इस प्रणव के तीन पद मन्त्र कहे गए हैं ॥ ६७ ॥

विमर्शिनी—त्रय इति । यद्यपि चत्वारो मन्त्रा वक्ष्यन्ते । तथापि तेषु कंचिद्भेदमादाय त्रयाणां पृथक् निर्देशः क्रियते ॥ ६७ ॥

विष्णवे नम इत्येवं नमो नारायणाय च ।
नमो भगवते पूर्वं वासुदेवाय चेत्यपि ॥ ६८ ॥

पहला पद मन्त्र—विष्णवे नमः, दूसरा—नमो नारायणाय और तीसरा—'नमो भगवते वासुदेवाय'—ये तीन पद मन्त्र हैं ॥ ६८ ॥

विमर्शिनी—मन्त्रस्वरूपाण्याह—विष्णवे इत्यादि । आदौ नमो भगवते इति । अन्ते वासुदेवायेति । नमो भगवते वासुदेवायेति मन्त्र इत्यर्थः ॥ ६८ ॥

'जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन ।
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुष पूर्वज ॥ ६९ ॥
पदमन्त्रश्चतुर्थोऽयं प्रणवस्य पुरन्दर ।
ओङ्कारसहितानेतान् मन्त्रान् पूर्वविदो विदुः ॥ ७० ॥

प्रणव का एक चौथा मन्त्र भेद वाला भी पद मन्त्र है जो इस प्रकार है—हे पुरन्दर ! यह चौथा भी प्रणव का पद मन्त्र है । इनको ॐकार सहित कर देने से तत्तन्मन्त्र निश्पन्न हो जाते हैं—ऐसा पूर्ववेत्ता मन्त्रज्ञ कहते हैं ।

विमर्शिनी—ॐ पुण्डरीकाक्षाय नमः, ॐ विश्वभावनाय नमः, ॐ हृषीकेशाय नमः, ॐ महापुरुष पूर्वजाय नमः ॥ ६९-७० ॥

ज्ञानादिगुणसंयुक्तैरक्षरैः प्रणवादिभिः ।
नमोऽन्तैरङ्गक्लृप्तिः स्यात्तथैवोपाङ्गकल्पना॥ ७१ ॥

प्रणव के साथ ज्ञानादि गुणों को संयुक्त कर अन्त में नमः लगाकर इनका अङ्ग न्यास तथा उपाङ्ग न्यास करे ॥ ७१ ॥

न्यूनाक्षरस्य मन्त्रस्य वर्णेन चरमेण तु ।
उपाङ्गकल्पना कार्या तत्तद्‌गुणपदैर्युता ॥ ७२ ॥

जिस मन्त्र में न्यूनाक्षर हो (जैसे षडक्षर ॐ नमो विष्णो अष्टाक्षर, ॐ नमो नारायण) उसमें अन्तिम अक्षर जोड़कर षडक्षर अथवा अष्टाक्षर की पूर्ति कर लेनी चाहिये । इनके भी उपाङ्ग की कल्पना ज्ञानादि गुणों में ॐ लगाकर कर लेनी चाहिये ॥ ७२ ॥

विमर्शिनी—न्यूनाक्षरस्येति = षडक्षराष्टाक्षरमन्त्रयोः न्यूनाक्षरत्वम् । तत्र चरमाक्षरेण पूरणं कर्तव्यमित्यर्थः ॥ ७२ ॥

तथैव स्फीतवर्णस्य शिष्टैस्तु द्वादशाधिकैः ।
समस्तैश्चरमोपाङ्गं कल्पयेत्तेजसा सह ॥ ७३ ॥

उसी प्रकार जिसमें अधिक वर्ण हों उसमें द्वादश वर्णों से शेष समस्त पदो में ॐकार लगाकर उपाङ्ग की कल्पना कर लेनी चाहिये ॥ ७३ ॥

विमर्शिनी—स्फीतवर्णस्येति = अधिकवर्णस्येत्यर्थः; यथा जितं ते इति मन्त्रे ॥ ७३ ॥

केवलस्तारकश्चैव चत्वारश्च तदादिकाः ।
पञ्चैते व्यापका मन्त्राः पाञ्चरात्रे प्रकीर्तिताः ॥ ७४ ॥

केवल तारक और तदादिक ये ॐकार आदि वाले शेष चार मन्त्र तथा इसको लेकर पाँच संख्या में ये मन्त्र पाञ्चरात्र में व्यापक संज्ञा से कहे गए हैं ॥ ७४ ॥

नासाध्यं किंचिदस्तीह मन्त्रैरेभिर्महात्मभिः ।
निश्रेणी पञ्चपर्वैषा परब्रह्माधिरोहणे ॥ ७५ ॥

इन महात्मा मन्त्रों के प्रभाव से साधकों के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है । परब्रह्म के पास पहुँचने के लिये यह पञ्चपर्वा सीढ़ी है ॥ ७५ ॥

एषा दिव्या महासत्ता पञ्चमन्त्री तु मन्मयी ।
अर्चनाज्जपतो ध्यानादिमां सम्यक् समाश्रितः ।
स्वां सत्तां वैष्णवीं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ७६ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे तारप्रकाशो नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

...✿...

इन पञ्चमन्त्रों की समाहार भूता मेरी स्वरूप वाली दिव्य महासत्ता है । साधक इसका अर्चन करने से, ध्यान करने से और इसका विश्वास पूर्वक जप करने से अपनी वैष्णवी सत्ता प्राप्त कर परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥ ७६॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के तारप्रकाश नामक चौबीसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ २४ ॥

...✿...

पञ्चविंशोऽध्यायः

तारानुताराप्रकाशः

वर्णसंज्ञानिरूपणम्

इत्थं ते कथितः शक्र तारकस्यैष विस्तरः ।
संसारतारिकाया मे तारिकायाः श्रृणु क्रमम् ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! इस प्रकार हमने आपसे तारक (ॐ) के विषय में विस्तार पूर्वक कहा । अब संसार के तारण करने वाली तारिका मन्त्र (ह्रीं) के विषय में सुनिए ॥ १ ॥

वर्णानां विधिसिद्ध्यर्थं संज्ञाः पूर्वं निशामय ।
श्रुतासु विधिवद्यासु विधिर्मान्त्रः प्रवर्तते ॥ २ ॥

वर्णों की विधि की सिद्धि के लिये पहले उनकी संज्ञा सुनिए । वर्णों की संज्ञा सुन लेने के बाद विधि विद्या में मन्त्र विधि की प्रवृत्ति होती है ॥ २ ॥

अकारश्चाप्रमेयश्च प्रथमो व्यापकः स्मृतः ।
आदिदेवस्तथाकार आनन्दो गोपनः स्मृतः ॥ ३ ॥

अकार, अप्रमेय, प्रथम एवं व्यापक—ये अकार वर्ण की संज्ञाएँ है । आदिदेव, आकार, आनन्द और गोपन—ये आकार वर्ण की संज्ञाएँ है ॥ ३ ॥

रामसंज्ञ इकारश्च इद्ध इष्टः प्रकीर्तितः ।
ईकारः पञ्चबिन्दुर्वै विष्णुर्माया पुरन्दर ॥ ४ ॥

रामसंज्ञ, इकार, इद्ध एवं इष्ट—ये इकार वर्ण की संज्ञाएँ है । ईकार, पञ्चबिन्दु, विष्णु, माया और पुरन्दर—ये दीर्घ ईकार की संज्ञाएँ है ॥ ४ ॥

उकारो भुवनाख्यश्च उद्दाम उदयस्तथा ।

ऊकार ऊर्जो लोकेशः प्रज्ञाधाराख्य एव च ॥ ५ ॥

उकार, भुवन, उद्दाम एवं उदय—ये उकार की संज्ञाएँ हैं । ऊकार, ऊर्ज, लोकेश और प्रज्ञाधार—ये ऊकार की संज्ञाएँ हैं ॥ ५ ॥

सत्यश्च ऋतधामा च ऋकारः स तु चाङ्कुशः ।
ॠकारो विष्टराख्यश्च ज्वाला चैव प्रसारणम् ॥ ६ ॥

सत्य, ऋतधामा, ऋकार और अंकुश—ये ऋकार की संज्ञाएँ हैं । ॠकार, विष्टर, ज्वाला और प्रसारण—ये ॠकार की संज्ञाए हैं ॥ ६ ॥

लिङ्गात्मा भगवान् प्रोक्तो लृकारस्तारकः स्मृतः ।
ॡकारो दीर्घघोणश्च देवदत्तस्तथा विराट् ॥ ७ ॥

लिङ्गात्मा, भगवान्, लृकार और तारक—ये लृकार की संज्ञाएँ हैं । ॡकार, दीर्घघोण, देवदत्त और विराट्—ये ॡकार की संज्ञाएँ हैं ॥ ७ ॥

त्र्यश्र एकारसंज्ञश्च जगद्योनिरविग्रहः ।
ऐश्वर्यं योगधाता च ऐ स ऐरावणः स्मृतः ॥ ८ ॥

त्र्यश्र, एकार, जगद्योनि और अविग्रह—ये एकार की संज्ञाएँ हैं । ऐश्वर्य, योगधाता, ऐ और ऐरावण—ये ऐकार की संज्ञाएँ हैं ॥ ८ ॥

ओकार ओतदेहश्च ओदनश्चैव विक्रमी ।
और्वोऽथ भूधराख्यश्च औ स्मृतो ह्यौषधात्मकः ॥ ९ ॥

ओकार, ओतदेह, ओदन और विक्रमी—ये ओकार की संज्ञाएँ हैं । और्व, भूधर, औ और औषधात्मक—ये औकार की संज्ञाएँ हैं ॥ ९ ॥

त्रैलोक्यैश्वर्यदो व्यापी व्योमेशोंऽकार एव च ।
विसर्गः सृष्टिकृत्ख्यातो ह्यःकारः परमेश्वरः ॥ १० ॥

त्रैलोक्यैश्वर्यद, व्यापी, व्योमेश और अङ्कार—ये अं की संज्ञाएँ हैं । विसर्ग, सृष्टिकृत्, अःकार और परमेश्वर—ये अः की संज्ञाएँ हैं ॥ १० ॥

कमलश्च करालश्च ककारः प्रकृतिः परा ।
खकारः खर्वदेहश्च वेदात्मा विश्वभावनः ॥ ११ ॥

कमल, कराल, ककार और पराप्रकृति—ये ककार की संज्ञाएँ हैं । खकार, खर्व, देह, वेदात्मा और विश्वभावन—ये खकार की संज्ञाएँ हैं ॥ ११॥

गदध्वंसी गकारस्तु गोविन्दश्च गदाधरः ।

घकारस्त्वथ घर्मांशुस्तेजस्वी दीप्तिमांस्तथा ॥ १२ ॥

गदध्वंसी, गकार, गोविन्द और गदाधर—ये गकार की संज्ञाएँ हैं। घकार, धर्मांशु, तेजस्वी और दीप्तिमान—ये घकार की संज्ञाएँ हैं ॥ १२ ।

ङ्कार एकदंष्ट्राख्यो भूतात्मा भूतभावनः ।
चकारश्चञ्चलश्चक्री चन्द्रांशुः स तु कथ्यते ॥ १३ ॥

एकदंष्ट्र, भूतात्मा, भूतभावन और ङ्कार—ये ङ्कार की संज्ञाएँ हैं। वकार, चञ्चल, चक्री एवं चन्द्रीशु—ये चकार की संज्ञाएँ कही गयी हैं ॥ १३॥

छन्दःपतिश्छलध्वंसी छकारश्छन्द एव च ।
जन्महन्ताजितश्चैव जकारश्चैव शाश्वतः ॥ १४ ॥

छन्दःपतिः, छलध्वंसी, छकार और छन्द—ये छकार की संज्ञायें हैं। जन्महन्ता, अजित, जकार एवं शाश्वत—ये जकार की संज्ञाएँ हैं ॥ १४ ॥

झकारो झषसंज्ञश्च सामगः सामपाठकः ।
ईश्वरश्चोत्तमाख्यश्च ञकारस्तत्त्वधारकः ॥ १५ ॥

झकार, झष, सामग और सामपाठक—ये झकार की संज्ञाएँ हैं। ईश्वर, उत्तम, अकार एवं तत्त्वधारक—ये अकार की संज्ञाएँ हैं ॥ १५ ॥

चन्द्री टकार आह्लादो विश्वाप्यायकरस्तथा ।
धाराधरष्ठकारश्च नेमिः कोस्तुभ उच्यते ॥ १६ ॥

चन्द्री, टकार, आह्लाद, विश्व और अप्यायकर—ये टकार की संज्ञाएँ हैं। धाराधर, ठकार, नेमि एवं कौस्तुभ—ये ठकार की संज्ञाएँ हैं ॥ १६ ॥

दण्डधारो डकारश्च मौसलोऽखण्डविक्रमः ।
ढकार विश्वरूपश्च वृषकर्मा प्रतदर्नः ॥ १७ ॥

दण्डधार, डकार, मौसल एवं अखण्डविक्रम—ये डकार की संज्ञाएँ हैं। ढकार, विश्वरूप, वृषकर्मा और प्रतदर्न—ये ढकार की संज्ञाएँ हैं ॥ १७ ॥

णकारोऽभयदः शास्ता वैकुण्ठ इति कीर्तितः ।
तकारस्ताललक्ष्मा च वैराजः स्त्रग्धरः स्मृतः ॥ १८ ॥

णकार, अभयद, शास्ता एवं वैकुण्ठ—ये णकार की संज्ञाएँ हैं। तकार, ताललक्ष्मा, वैराज और स्त्रग्धर—ये तकार की संज्ञाएँ हैं ॥ १८ ॥

धन्वी भुवनपालश्च थकारः सर्वरोधकः ।

दत्तावकाशो दमनो दकारः शान्तिदः स्मृतः ॥ १९ ॥

धन्वी, भुवनपाल, थकार एवं सर्वरोधक—ये थकार की संज्ञाएँ हैं । दत्तावकाश, दमन, दकार और शान्तिद्—ये दकार की संज्ञाएँ हैं ॥ १९ ॥

धकारः शार्ङ्गधृद्धर्ता माधवश्च प्रकीर्तितः ।
नरो नारायणः पन्था नकारः समुदाहृतः ॥ २० ॥

धकार, शार्ङ्गधृत्, धर्ता एवं माधव—ये धकार की संज्ञाएँ हैं । नर, नारायण, पन्था और नकार—ये नकार की संज्ञाएँ हैं ॥ २० ॥

पकारः पद्मनाभश्च पवित्रः पश्चिमाननः ।
फकारः फुल्लनयनो लाङ्गली श्वेतसंज्ञितः ॥ २१ ॥

पकार, पद्मनाभ, पवित्र एवं पश्चिमानन—ये पकार की संज्ञाएँ हैं । फकार, फुल्लनयन, त्वाङ्गली और श्वेत—ये फकार की संज्ञाएँ हैं ॥ २१ ॥

बकारो वामनो ह्रस्वः पूर्णाङ्गः स च कथ्यते ।
भल्लातको भकारश्च ज्ञेयः सिद्धिप्रदो ध्रुवः ॥ २२ ॥

वकार, वामन, ह्रस्व एवं पूर्णाङ्ग—ये वकार की संज्ञाएँ हैं । भल्लातक, भकार, सिद्धिप्रद और ध्रुव—ये भकार की संज्ञाएँ हैं ॥ २२ ॥

मकारो मर्दनः कालः प्रधानः परिपठ्यते ।
चतुर्गतिर्यकारश्च सुसूक्ष्मः शङ्ख उच्यते ॥ २३ ॥

मकार, मर्दन, काल एवं प्रधान—ये मकार की संज्ञाएँ हैं । चतुर्गति, यकार, सुसूक्ष्म और शङ्ख—ये यकार की संज्ञाएँ हैं ॥ २३ ॥

अशेषभुवनाधारो रोऽनलः कालपावकः ।
लकारो विबुधाख्यश्च धरेशः पुरुषेश्वरः ॥ २४ ॥

अशेषभुवनाधार, र, अनल और कालपावक—ये रकार की संज्ञाएँ हैं । लकार, विबुध, धरेश एवं पुरुषेश्वर—ये लकार की संज्ञाएँ हैं ॥ २४ ॥

वराहश्चामृताधारो वकारो वरुणः स्मृतः ।
शकारः शङ्करः शान्तः पुण्डरीकः प्रकीर्तितः ॥ २५ ॥

वराह, अमृताधार, वकार एवं वरुण—ये वकार की संज्ञाएँ हैं । शकार, शङ्कर, शान्त और पुण्डरीक—ये शकार की संज्ञाएँ हैं ॥ २५ ॥

नृसिंहश्चाग्निरूपश्च षकारो भास्करस्तथा ।

सकारस्त्वमृतस्तृप्तिः सोमश्च परिकीर्तितः ॥ २६ ॥

नृसिंह, अग्निरूप, षकार और भास्कर—ये षकार की संज्ञाएँ हैं । सकार, अमृत, तृप्ति एवं सोम—ये सकार की संज्ञाएँ हैं ॥ २६ ॥

सूर्यो हकारः प्राणस्तु परमात्मा प्रकीर्तितः ।
अनन्तेशः क्षकारस्तु वर्गान्तो गरुडस्तथा ॥ २७ ॥

सूर्य, हकार, प्राण एवं परमात्मा—ये हकार की संज्ञाएँ हैं । अनन्तेश, क्षकार, वर्गान्त और गरुड—ये क्षकार की संज्ञाएँ हैं ॥ २७ ॥

अशेषसंज्ञा वर्णानामित्येताः कीर्तिता मया ।
अनुलोमविलोमेन वर्ण्या वर्णस्य वै पुनः ॥ २८ ॥

वर्णों की इतनी सम्पूर्ण संख्या, हे इन्द्र ! मैंने आपसे कह दी जो वर्णों के अनुलोम विलोम से भी कही जा सकती है । (संज्ञा अनुलोम क्रम से और संख्या विलोम क्रम से कही जाती है) ॥ २८ ॥

विमर्शिनी—संज्ञायामनुलोमेन संख्यायां विलोमेन चेत्यर्थः । "अङ्कानां वामतो गतिः"—इति प्रसिद्धम् ॥ २८ ॥

संज्ञा संख्या च या शक्र सामान्या सा महामते ।
चिदंशाः सर्व एवैते वर्णा भास्वरविग्रहाः ॥ २९ ॥

हे महामते ! हे शक्र ! यह वर्णों की संज्ञा तथा संख्या सामान्य है । ये सभी वर्ण चिच्छक्ति के अंश है । सभी सूर्य के समान तेजस्वी एवं विग्रहवान् है ॥ २९ ॥

कारणं सर्वमन्त्राणां लक्ष्मीशक्त्युपबृंहिताः ।
स्तुताः सम्पूजिता ध्याता वर्णाः संज्ञाभिरादरात् ॥ ३० ॥
प्रयच्छन्ति परामृद्धिं विज्ञानं भावयन्त्यपि ।
परस्पराङ्गभावं च मन्त्रोत्पत्तौ व्रजन्त्यमी ॥ ३१ ॥

लक्ष्मी की शक्ति से संवृद्ध होने के कारण ये वर्ण सभी मन्त्रों के कारण हैं । तत्तद् संज्ञाओं के द्वारा आदरपूर्वक स्तुति किये जाने पर पूजित होने पर तथा ध्यान किये जाने पर ये वर्ण सर्वश्रेष्ठ ऋद्धि प्रदान करते हैं । विज्ञान का उदय कराते हैं । ये मन्त्र की उत्पत्ति में परस्पर अङ्गभाव को भी प्राप्त होते रहते हैं ॥ ३०-३१ ॥

चराचरेऽस्मिंस्तन्नास्ति यदमीभिर्न भावितम् ।

नित्या यद्यपि ता दिव्या मन्त्राणां मूर्तयः पराः ॥ ३२ ॥
तथाप्येवंविधैर्वर्णैर्भाविता इति चिन्तना ।
भवन्ति पूर्णसामर्थ्या मन्त्राः शास्त्रनिदर्शनात् ॥ ३३ ॥

इस चराचर जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो इनकी उपासना से अप्राप्य हो । ये मन्त्रों की मूर्तियाँ यद्यपि दिव्य हैं, पर है और नित्य हैं । तथापि इस प्रकार के वर्णों से ध्यान किये जाने पर एवं जप किये जाने पर ये मन्त्र मूर्तियाँ पूर्ण सामर्थ्य से युक्त हो जाती हैं, ऐसा शास्त्रों का प्रमाण हैं ॥ ३२-३३ ॥

आलम्बनं धियां चैव भवन्त्येवं महामते ।
अभागेऽपि यथा व्योम्नि धिया भागः प्रकल्प्यते ॥ ३४ ॥

हे महामते शक्र ! बुद्धि के द्वारा आलम्बन किये जाने पर ये मन्त्र इस प्रकार के हो जाते हैं । यद्यपि नित्य होने से इनके विभाग नहीं हो सकते, तथापि जैसे आकाश का कल्पित विभाग होता है, उसी प्रकार इन मन्त्रों के भी कल्पित विभाग किये जाते हैं ॥ ३४ ॥

सौकर्याय तथा मन्त्रे वर्णभागोऽनुचिन्त्यते ।
कृत्वैव भावगां व्याप्तिं वर्णानां पूजनं त्रिधा ॥ ३५ ॥

मन्त्रों में वर्ण द्वारा विभाग अपनी सुविधा के लिये किया जाता है । भाव के द्वारा इनकी व्याप्ति का अनुमान कर मन्त्र के वर्णों का कायिक वचिक और मानसिक में तथा देवी के शरीर में मन्त्रारेंतीनों प्रकार से पूजन करे ॥ ३५ ॥

तारिकामन्त्रोद्धारः

भूमौ पद्मे तथा देव्यास्तनौ मन्त्रान् समुद्धरेत् ।
परमात्मानमादाय योजयेत् कालवह्निना ॥ ३६ ॥
त्रैलोक्यैश्वर्यदोपेतमायामस्मिन्नियोजयेत् ।
इयं सा परमा शक्तिर्वैष्णवी सर्वकामदा ॥ ३७ ॥

भूमि में पद्‌म (कमल) में तथा देवी के शरीर में मन्त्रों का उद्धार करना चाहिये । अब तारिका मन्त्र का उद्धार कहते हैं । परमात्मा हकार को लेकर कालवह्नि (रेफ) से मिला देवे । फिर माया ईकार त्रैलोक्यैश्वर्यद् अनुस्वार इनका योग करे । इस प्रकार 'ह्रीं' यह तारिका मन्त्र निष्पन्न हो जाता है । यह तारिका परमा वैष्णवी शक्ति है जो समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली हैं ॥ ३६-३७ ॥

विमर्शिनी—तारिकामन्त्रमुद्धरति—परमात्मानमिति । परमात्मा = हकारः । कालवह्निः = रेफः । माया = ईकारः । त्रैलोक्यैश्वर्यदः = अनुस्वारः । एषां योगे ह्रीं इति तारिकामन्त्रः ॥ ३६ ॥

सत्ता पूर्णा चिदानन्दा मम मूर्तिर्निरन्तरा ।
इयं सा परमा निष्ठा या सा ब्रह्मविदां ध्रुवा ॥ ३८ ॥

यह मेरी अभिन्न मूर्ति हैं, पूर्ण सत्ता से संयुक्त हैं, चिदानन्द स्वरूपा हैं, ध्रुव हैं और वही ब्रह्मवेत्ताओं की परमा निष्ठा हैं ॥ ३८ ॥

अस्यां निष्ठाय तत्त्वज्ञा विशन्ति ब्रह्म मन्मयम् ।
सैषा तत्त्वविदां मुख्यैः शास्त्रे शास्त्रे विचिन्त्यते ॥ ३९ ॥

तत्त्वज्ञ इनमें ही ध्यान द्वारा स्थित होकर मेरे ब्रह्मस्वरूप में प्रविष्ट होते हैं। तत्त्ववेत्ताओं में सर्वश्रेष्ठजन प्रत्येक शास्त्रों में इनका अनुसन्धान करते हैं । अन्वेषण करते हैं ॥ ३९ ॥

ओतं प्रेतममुष्यां वै जगच्छब्दार्थतामयम् ।
अनयैव सदा सांख्यैः संख्यायेऽहं सनातनी ॥ ४० ॥

शब्दार्थतामय सारा जगत् इसी वैष्णवी (ह्रीं) शक्ति में ही ओत-प्रोत है । सांख्य शास्त्रवेत्ता इन्हीं के द्वारा मुझ सनातनी की संख्या में गणना करते हैं ॥ ४० ॥

अनयैव समाधिस्थैः समाधीये समाधिना ।
अभिधीयेऽनयैवाहं शैवैः षट्त्रिंशदन्तिमा ॥ ४१ ॥

समाधि में स्थित योगीजन इन्हीं के द्वारा समाधी में मेरा ध्यान करते हैं । शैव लोग, इन्हीं के द्वारा ३६ पदार्थों में अन्तिम मैं हूँ, ऐसा मानते हैं ॥४१॥

महाराज्ञी तथैवाहमनयैव त्रयी परा ।
ऋग्यजुःसामसङ्घाते चिन्त्ये सौरे च मण्डले॥ ४२ ॥

इन्हीं वैष्णवी शक्ति के द्वारा मैं त्रयी, परा स्वरूपा एवं महाराज्ञी मानी जाती हूँ । इन्हीं के द्वारा ऋग्यजुः साम की संहिताओं में मैं सौर मण्डल में रहने वाली (= गायत्री) मानी गई हूँ ॥ ४२ ॥

तरुणीं रूपसम्पन्नां सर्वावयवसुन्दरीम् ।
अनयैव व्यवस्यनित लोकायतविचक्षणाः ॥ ४३ ॥

लोकायतिक विद्वान् (चार्वाक) इन्हीं के द्वारा मुझे सर्वावयव सुन्दरी एवं रूपसम्पन्ना तरुणी के रूप में समझते हैं ॥ ४३ ॥

क्षणभङ्गविधानज्ञैश्चिन्त्ये निर्विषया च धीः ।
आर्हतैश्चानयैवाहं यक्षीनाम्ना सदोदिता ॥ ४४ ॥

क्षणिकालय विज्ञान धारा वाले विद्वान् इन्हीं के द्वारा मुझे निर्विषया धी के रूप में मानते हैं । आर्हत सम्प्रदाय वाले लोग इन्हीं के द्वारा सर्वदा मुझे यक्षी के नाम से कहते आये हैं ॥ ४४ ॥

तारिकाया नामान्तराणि

परमा तारिका शक्तिस्तारिणी तारिकाकृतिः ।
लक्ष्मीः पद्मा महालक्ष्मीस्तारा गौरी निरञ्जना॥ ४५ ॥
हृल्लेखा परमात्मस्था या शक्तिर्भुवनेश्वरी ।
चिच्छक्तिः शान्तिरूपा च घोषणी घोषसंभवा ॥ ४६ ॥
कामधेनुर्महाधेनुर्जगद्योनिर्विभावरी ।
एवमादीनि नामानि शास्त्रे शास्त्रे विचक्षणैः ॥ ४७ ॥

विचक्षणों ने परमा, तारिका, शक्ति, तारिणी, तारिकाकृति, लक्ष्मी, पद्मा, महालक्ष्मी, तारा, गौरी, निरञ्जना, हृल्लेखा, परमात्मस्थाशक्ति, भुवनेश्वरी, चिच्छक्ति, शन्तिरूपा, घोषणी, घोषसंभवा, कामधेनु, महाधेनु, जगद्ययोनि एवं विभावरी इत्यादि नामों से प्रत्येक शास्त्रों में मुझे प्रतिपादित किया गया है ॥ ४५-४७ ॥

अनुतारिकामन्त्रोद्धारः

तारिकाया निरुक्तानि वेदे वेदे च पण्डितैः ।
अस्या एवापरा मूर्तिर्विज्ञेया त्वनुतारिका ॥ ४८ ॥
शान्तं नियोजयेत् स्थाने पूर्वस्य परमात्मनः ।
शेषमन्यत्समं ह्येषा तनुर्मेऽन्यानुतारिका ॥ ४९ ॥

पण्डितों ने प्रत्येक वेदों में मुझ तारिका की निरुक्ति की है, अनुतारिका इसी तारिका की दूसरी मूर्ति है । शान्तं (श) को परमात्मा (र) में मिला देवे, शेष को पूर्ववत् ईकार और अनुस्वार से युक्त करे । इस प्रकार (श्रीं) यह अनुतारिका का उद्धार होता है ॥ ४९ ॥

विमर्शिनी—शान्तः = शकारः । अन्यत् सममिति । तारिकया समम् । श्रीं इति योजनीयमित्यर्थः । श्रीं इत्यनुतारिकामन्त्रः ॥ ४९ ॥

तारिकायामिवास्यां च विज्ञेयं वैभवं महत् ।

इमे शक्ती परे दिव्ये मम तन्वौ पुरन्दर ॥ ५० ॥

इनका महान् वैभव तारिका (ह्रीं) मन्त्र के समान है । हे इन्द्र ! ये दोनों शक्तियाँ मेरी दो शरीर हैं ॥ ५० ॥

यत्किंचिदेतया साध्यं साधनीयं तदन्यया ।
इमे पूर्वापरीभावं व्रजतोऽन्योन्यवाञ्छया ॥
सम्यक्साधयतश्चैव साधकानामभीप्सितम् ॥ ५१ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे तारानुताराप्रकाशो नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस एक द्वारा जो साध्य है वह अन्य के द्वारा भी साध्य है । यह एक दूसरों की इच्छा पर पूर्वापरीभाव को प्राप्त करती हैं । दोनों ही साधकों के अभीष्ट को पूर्ण करती हैं ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के तारानुताराप्रकाश नामक पच्चीसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

सप्तविद्याप्रकाशः

तारादिसप्तबीजमन्त्रमहिमा

परं ब्रह्म परं धाम पद्मस्थे पद्ममालिनि ।
नमस्ते पद्मजे पद्मे गोविन्दगृहमेधिनि ॥ १ ॥

इन्द्र ने कहा—हे परं ब्रह्म !, हे परं धाम !, हे पद्मस्थे !, हे पद्ममालिनि !, हे पद्मजे !, हे पद्मे !, हे गोविन्द की गृहिणी ! आपको नमस्कार है ॥ १ ॥

द्वे एते कथिते देवि तव तन्वौ सनातने ।
विशेषस्त्वस्ति वा कश्चिदनयोः सूक्ष्मरूपतः ॥ २ ॥

हे देवि ! आपने तारिका (ह्रीं) और अनुतारिका (श्रीं) इन दोनों को अपना शरीर प्रतिपादित किया । सूक्ष्म रूप से इन दोनों में कोई विशेषता है क्या ? यदि है तो उसका प्रतिपादन करें ॥ २ ॥

एकमादौ परं तत्त्वं लक्ष्मीनारायणात्मकम् ।
पूर्णस्तिमितषाड्गुण्यं स्वच्छस्वच्छन्दचिद्घनम् ॥ ३ ॥
तस्याहं परमा शक्तिः सर्वावस्थानुसारिणी ।
देवी सा परमा दिव्या स्थूलसूक्ष्मपराह्वया ॥ ४ ॥

श्री ने कहा—सृष्टि के आदिकाल में सर्वप्रथम लक्ष्मी नारायणात्मक एक ही तत्त्व था जो सर्वथा चञ्चलता से रहित अतएव् स्थिर ज्ञानादि षड्गुणों से पूर्ण स्वच्छ, स्वच्छन्द और चिद्घन स्वरूप था । मैं उनकी परमा शक्ति हूँ जो सभी अवस्थाओं में उनके साथ रहती हूँ । वही परमा दिव्या देवी मैं स्थूल, सूक्ष्म और परा नाम से कही जाती हूँ ॥ ३-४ ॥

मम तन्वाविमे शक्ती तारिका चानुतारिका ।
दुहाते सकलान् कामानुभे एते पुरन्दर ॥ ५ ॥

तारिका और अनुतारिका ये दोनों ही शक्तियाँ मेरी शरीर हैं । हे पुरन्दर ! ये दोनों ही सम्पूर्ण कामनाओं को प्रदान करने वाली हैं ॥ ५ ॥

उभे एते मते दिव्ये उभे निष्ठे परे स्मृते ।
उभे संस्था मते सर्वा उभे ते विष्णुवल्लभे ॥ ६ ॥
उभे एते विचिन्त्याथ गच्छन्ति परमां गतिम् ।
तत्त्वं तु परमं सूक्ष्मं गदन्त्या मे निशामय ॥ ७ ॥

ये दोनों ही दिव्य मत हैं, ये दोनों ही परा निष्ठायें हैं, दोनों ही सर्वत्र स्थित रहने वाली हैं और दोनों ही विष्णु की प्यारी वल्लभा है । साधकजन दोनों का ध्यान और जपकर उत्तम गति प्राप्त करते हैं । अब मैं इन दोनों का जो परम सूक्ष्म तत्त्व है उसे कहती हूँ । हे इन्द्र ! सुनिए ॥ ६-७ ॥

परं ब्रह्म ततः शान्तं ततो नाद इति क्रमः ।
सर्वत्रावस्थिता साहं निमेषोन्मेषरूपिणी ॥ ८ ॥
आद्यं यत् परमं ब्रह्म सूक्ष्मं स्तिमितशक्तिकम् ।
तारस्तत्र प्रतिष्ठाय तनोति विततां गतिम् ॥ ९ ॥
भवतो ब्रह्मणो योऽयमुन्मेषः परमात्मनः ।
भवद्भावात्मके तस्मिंस्तारिका प्रतितिष्ठति ॥ १० ॥

पहले ब्रह्म इसके बाद शान्त इसके बाद नाद यह क्रम है । मैं सर्वत्र निमेष उन्मेष स्वरूप में निवास करती हूँ । सर्वथा स्थिर शक्ति वाला परम सूक्ष्म जो आद्य ब्रह्म है उसमें तार (ॐ) रहकर अपनी गति को विस्तृत करता है । उस परमात्मा ,परब्रह्म का जो भवद्भावात्मक उन्मेष है उसमें तारिका (ह्रीं) प्रतिष्ठित रहती है ॥ ८-१० ॥

ब्रह्मणस्त्ववरोहो यः शान्तरूपः सिसृक्षया ।
शान्ताख्ये भावभूयिष्ठे तस्मिन्नास्तेऽनुतारिका ॥ ११ ॥
द्वितीयस्त्ववरोहो यः शक्त्याख्यो भाव ऊर्जितः ।
वाग्भवादीनि बीजानि तत्र तिष्ठन्ति वासव ॥ १२ ॥

सृष्टि की इच्छा से शान्तरूप वह ब्रह्म जब नीचे की ओर उतरता है, तब शान्त नामक उस आत्यन्तिक भाव में अनुतारिका स्थित रहती है । अर्जित भाव वाला शान्त नामक जो द्वितीय अवरोह है । हे इन्द्र ! उसी में वाग्भव (ऐं) आदि बीज रहते हैं ॥ ११-१२ ॥

एतावाननयोर्भेदः प्रोक्तस्ते सूक्ष्मधीमयः ।
वाग्भवादीनि बीजानि गदन्त्या मे निशामय ॥ १३ ॥

सूक्ष्म बुद्धि से विचार करने पर दोनों में इसी भेद की प्रतीति होती है जिसे मैंने अभी कहा है । अब मैं वाग्भव आदि बीजों को कहती हूँ, उसे हे इन्द्र ! सुनिए ॥ १३ ॥

त्रैलोक्यैश्वर्यदोपेतमैश्वर्यं वर्णमुद्धरेत् ।
जगद्योनिरिदं बीजं वाग्भवाख्यमुदाहृतम् ॥ १४ ॥

त्रैलोक्य-ऐश्वर्यद अनुस्वार उससे युक्त ऐश्वर्य ऐ वर्ण का उद्धार करे अर्थात् अनुस्वार से युक्त ऐकार—इस प्रकार (ऐं) यह वाग्भव नामक मन्त्र का उद्धार कहा गया । यह वाग्भव मन्त्र जगद्योनि भी कहा जाता है, जिसे आगे बतलाएँगे ॥ १४ ॥

विमर्शिनी—वाग्भवबीजमाह—त्रैलोक्येत्यादिना । ऐश्वर्यम् = ऐकारः । तेन सहानुस्वारयोगे ऐं इति बीजमन्त्रः । अस्य जगद्योनित्वमनन्तरं वक्ष्यते ॥ १४ ॥

सैषा कुण्डलिनी शक्तिर्यस्यां कुण्डलितं जगत् ।
शब्दशक्तिस्वरूपेण यथा तदवधारय ॥ १५ ॥

यही कुण्डलिनी है जिसमें शब्दशक्ति स्वरूप से सारा जगत् जिस प्रकार कुण्डलित है, हे इन्द्र ! उसे सुनिए ॥ १५ ॥

विमर्शिनी—यस्यां कुण्डलितं जगदिति कुण्डलिनीशब्दस्य योगव्युत्पत्तिरभिप्रेता ॥ १५ ॥

ई माया परमा शक्तिर्जगद्योनिर्निरञ्जना ।
अप्रमेयस्य सा हि श्रीर्गृहिणी गृहमेधिनः ॥ १६ ॥
अस्याः पूर्वमिकारं तु योजयेत् सूक्ष्मचक्षुषा ।
इत्थं यदिष्टं यद् द्रव्यं यत्तत्तत्र प्रतिष्ठितम् ॥ १७ ॥
(आनन्दमस्य पूर्वं तु चिन्तयेत् सूक्ष्मचक्षुषा ।
अप्रमेयं ततः पूर्वं योजयेत् सूक्ष्मचक्षुषा ॥ १८ ॥

ऐकार में वर्ण चतुष्टय का इस प्रकार समाहार है, उसमें ईकार माया, परमा शक्ति जगद् योनि निरञ्जना है । यही अप्रमेय अकार स्वरूप गृहस्थ की श्री स्वरूपा गृहिणी है । इसके पूर्व में सूक्ष्म दृष्टि से इष्ट स्वरूप इकार की योजना करे । उसके भी पूर्व आनन्दाख्य आकार की और उसके भी पूर्व अप्रमेय नामक अकार की योजना करे । इनके सन्धि करने पर 'ऐं' यह रूप

निष्पन्न हो जाता है (अ + आ + इ + ई = ऐ) इस प्रकार वर्ण चतुष्टय का समहार ऐ है जिसे जगद्योनि भी कहा जाता है ॥ १६-१८ ॥

विमर्शिनी—ऐकारस्य वर्णचतुष्टयसमाहाररूपत्वमाह—ई मायेति । अस्मात् पूर्वमिष्टाख्यमिकारं, ततः पूर्वमानन्दाख्यमाकारं, ततः पूर्वमप्रमेयाख्यमकारं च योजयित्वा सन्धौ कृते ऐ इति रूपमिति भावः ॥ १६-१८ ॥

शक्तिरेषा जगद्योनिस्त्रैलोक्यैश्वर्यदोज्ज्वला ।
अप्रमेयादनाद्यन्ताद्व्यापकात् परमात्मनः ॥ १९ ॥

यही त्रैलोक्य का ऐश्वर्य प्रदान करने वाली एवं सर्व प्रकाशिका जगद्योनि है, जो अप्रमेय (अकार स्वरूप) अनादि, अनन्त, व्यापक परमात्मा की महाशक्ति है ॥ १९ ॥

गोपनी सर्वभूतानां शक्तिरानन्दनिर्भरा ।
इच्छाज्ञानक्रियारूपैरिकारोत्थैः समन्विता ॥ २० ॥

इसके अवयवार्थ का प्रतिपादन—इस प्रकार यही शक्ति जगत् के सारे प्राणियों की रक्षा करने वाली है । आनन्द से परिपूर्ण है जो इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूप ईकार शक्ति से संयुक्त है ॥ २० ॥

त्रैलोक्यैश्वर्यदा देवी विष्णुपत्नी जगत्प्रसूः ।
इति वाच्यां जगद्योनिबीजस्याब्जां विचिन्तयेत् ॥ २१ ॥

यह समस्त त्रैलोक्य के ऐश्वर्य को देने वाली विष्णु पत्नी तथा जगत् को उत्पन्न करने वाली है । इस अर्थ वाली जगद्योनि के बीज स्वरूप कमला स्वरूपा ईकार का ध्यान करना चाहिये ॥ २१ ॥

रतिः क्रीडाभिधा लोके क्रीडा च स्यात् क्रिया मम ।
इन्धनं दीपनं ज्ञानमिच्छा चेकारदर्शिताः ॥ २२ ॥

अब ऐकार बीज घटक **ईकार का अर्थ** करते हैं—रति क्रीडा जो जगत् में मेरी क्रिया के नाम से जानी जाती है । इन्धन, दीपन, ज्ञान, इच्छा—यह ईकार के नाम हैं ॥ २२ ॥

विमर्शिनी—बीजाक्षरघटकस्य दीर्घेकारस्यार्थमाह—रतिरिति । रतिः = ईकारः । इन्धनादयस्तदर्थाः । त्रैलोक्यैश्वर्यदानाम निर्वक्ति—त्रैलोक्यमिति । जीवास्त्रिधेति । बद्धमुक्तनित्या इत्यर्थः । व्योमेशे = बिन्दौ ॥ २२-२४ ॥

त्रैलोक्यं तु त्रयो लोकास्ते च जीवास्त्रिधा स्थिताः ।
तेषामैश्वर्यदानेन त्रैलोक्यैश्वर्यदाह्विका ॥ २३ ॥

अब त्रैलोक्यैश्वर्यदा के नाम का निर्वचन करते हैं—त्रैलोक्य = तीनों लोक, बद्ध मुक्त एवं नित्य भेद से जीव के तीन प्रकार उन सभी को प्रतिदिन ऐश्वर्य प्रदान करने के कारण वह ऐकार त्रैलोक्यैश्वर्यद के नाम से कहा गया है ॥ २३ ॥

अप्रमेयादिना लोकान् वितत्य भुवनाध्वना ।
तस्मिन्नेव परे भूयो व्योमेशे परमात्मनि ॥ २४ ॥
संतिष्ठते परेत्येवमुदयास्तमयौ मम ।
ईदृशीयं महाविद्या जगद्योनिर्गिरां प्रसूः ॥ २५ ॥

जो अप्रमेयादि अकार रूप भुवनाध्वा से लोक का विस्तार कर पुनः उसी व्योमेश (बिन्दु स्वरूप) परमात्मा में निवास करती है । यही परा है, जिसमें मेरा उदय और अस्त दोनों ही होता है । समस्त वाणी को उत्पन्न करने वाली यह जगद् योनि इस प्रकार के स्वभाव वाली होती है ॥ २४-२५ ॥

पञ्चमी कामसूर्विद्या कामबीजापराह्वया ।
प्राद्युम्नी परमा शक्तिस्तस्या रूपं निबोध मे ॥ २६ ॥

पञ्चमी विद्या सभी कामनाओ की जन्मदात्री है । इसका दूसरा नाम कामबीज (क्लीं) है । यह प्रद्युम्न की महाशक्ति है । अब इसका स्वरूप मुझ से सुनिए ॥ २६ ॥

मध्यमं गुणतत्त्वानां यत् प्रोक्तं पश्चिमाननम् ।
रञ्जनं सत्त्वतमसोर्भोगेनाल्पेन रञ्जितम् ॥ २७ ॥

यह गुणतत्त्व में मध्यम रजोगुण वाली है । इसे पश्चिमानान भी कहते है । यह सबका रञ्जन करती है और सत्त्व एवं तम दोनों के स्वल्पभोग से रञ्जित भी रहती है ॥ २७ ॥

सा परा प्रकृतिः काख्या कल्पयन्ती जगद्विधिम् ।
पुरुषेश्वरयोगेन सा सृष्ट्यै संप्रकल्पते ॥ २८ ॥

यह 'क' नाम से प्रसिद्ध परा प्रकृति कही जाती है । इसी से संसार की रचना होती है । पुरुषेश्वर लकार के साथ योग होने पर इसमें सृष्टि की योग्यता उत्पन्न हो जाती है ॥ २८ ॥

अव्यक्तपुरुषेशाख्यरूपत्रयविभाविनी ।
माया श्रीः सा पुनर्देवी व्योमेशे प्रतितिष्ठति ॥ २९ ॥

अव्यक्त, पुरुष और ईश्वर इसके तीन रूप होते हैं । पुनः यही देवी माया

श्री ईकार के सहित बिन्दु में स्थित हो जाती है । (इस प्रकार इसका स्वरूप क्लीं बन जाता है) ॥ २९ ॥

विमर्शिनी—प्रकृतिं ककारमादाय तेन पुरुषेश्वरं लकारं, मायामीकारं, व्योमेशं बिन्दुं च योजयेत् । ततश्च क्लीं इति कामबीजम् ॥ २८-२९ ॥

इति रूपप्रभावौ तौ कामबीजस्य दर्शितौ ।
षष्ठीं सारस्वतीं विद्यां गदन्त्या मे निशामय ॥ ३० ॥

हे इन्द्र ! इस प्रकार हमने काम बीज का स्वरूप और प्रभाव आपको प्रदर्शित किया । अब मैं षष्ठी सरस्वती नामक विद्या का स्वरूप कह रही हूँ, उसे सुनिए ॥ ३० ॥

प्रज्ञाधारो ह्यहं शक्र प्रकृष्टज्ञानजन्मभूः ।
साहं प्रज्ञाप्रसूर्विष्णोरुदयेन समन्विता ॥ ३१ ॥

हे शक्र ! मैं प्रकृष्ट ज्ञान की जन्मभूमि प्रज्ञाधार (ऊकार) स्वरूपा हूँ । वही विष्णु की प्रज्ञाप्रसू मैं पूर्व में रहने वाले उदय (उकार) के साथ संयुक्त हो जाती हूँ ॥ ३१ ॥

आनन्दं योजयेत् तस्याः पुरस्तात् सूक्ष्मया दृशा ।
अप्रमेयमतः पूर्वं भावयेत् सूक्ष्मया दृशा ॥ ३२ ॥
अप्रमेयोदिता साहं महानन्दमयी शुभा ।
आधारभूता प्रज्ञाया व्योमेशे संस्थिता पुनः ॥ ३३ ॥

फिर सूक्ष्म दृष्टि से उससे पूर्व में रहने वाले आनन्द (आकार) के साथ मुझे स्थापित करे । पुनः सूक्ष्म दृष्टि से उससे पूर्व अप्रमेय (आकार) स्थापित करे । वही अप्रमेय (अकार) महानन्दा (आकार) उदय (उकार) के साथ ऊकार रूपा मैं जब बिन्दु में संस्थित हो जाती हूँ, तब प्रज्ञा की आधारभूता सरस्वती बीज बन जाती हूँ ॥ ३२-३३ ॥

विमर्शिनी—प्रक्रिया इस प्रकार समझनी चाहिये । अ + आ + उ + ऊ, तदनन्तर व्योमेश (विसर्ग) इस प्रकार सन्धि करने पर औः यह सरस्वती बीज निष्पन्न हो जाता है ॥ ३२-३३ ॥

पुनर्विसृष्टियोगाय परमेश्वरमागता ।
षष्ठी समुद्धृता विद्या शब्दतश्चार्थतश्च ते ॥ ३४ ॥

पुनः विसृष्टि के योग के लिये मैं परमेश्वर (विसर्ग) में आ जाती हूँ । इस प्रकार छठवीं सरस्वती स्वरूपा विद्या का उद्धार मैंने किया जो शब्द और अर्थ

की दृष्टि से दो भेद वाली है ॥ ३४ ॥

विमर्शिनी—सारस्वतबीजमाह—षष्ठीमित्यादिना । प्रज्ञाधारः = ऊकारः । ततः पूर्वमुदयः = उकारः । ततः पूर्वमानन्दः = आकारः । ततः पूर्वमप्रमेयः = अकारः । अन्ते व्योमेशः = बिन्दुः । पुनर्विसर्गः । एषां योगे औः इति भवति । अवयवार्थमाह—अप्रमेयोदितेत्यादिना ॥ ३०-३४ ॥

इयं बीजत्रयी विद्या कथिता त्रिपुराह्वया ।
व्युत्क्रमानुक्रमाभ्यां सा ह्यात्मसाम्यप्रदापि च ॥ ३५ ॥

यह तीन बीजों वाली विद्या त्रिपुरा के नाम से भी कही जाती है । यह व्युत्क्रम से और अनुक्रम से आत्मप्रदा और साम्यप्रदा भी है ॥ ३५ ॥

विधेयं कामधुक् प्रोक्ता जपहोमादिसाधिता ।
व्यञ्जनस्वरसंयोगात् तस्या भेदान् बहून्विदुः ॥ ३६ ॥

जप, होम और समाधि के द्वारा यह विद्या सारी कामनायें पूर्ण करती है । व्यञ्जन और स्वर के संयोग से इसके बहुत भेद कहे गए हैं ॥ ३६ ॥

चतुर्णां पुरुषार्थानां हेतून् व्यस्य समस्य च ।
सप्तमी तु महालक्ष्मीर्विद्या सा सर्वसाधनी ॥ ३७ ॥

चारो पुरुषार्थों के हेतुओं के संक्षिप्त तथा विस्तार करने पर सप्तमी यह महाविद्या समस्त कार्यों को सिद्ध करने वाली है ॥ ३७ ॥

परां प्रकृतिमादाय भास्करं तत्र योजयेत् ।
मर्दनेन समायोज्य योजयेत् कालवह्निना ॥ ३८ ॥
भूषयेन्मायया पिण्डमन्ते व्यापिनमानयेत् ।
कथितं तेमहालक्ष्मीबीजमेतत् पुरन्दर ॥ ३९ ॥

परा प्रकृति ककार उसके साथ में भासकर षकार को युक्त करे । फिर उसी में मर्दन मकार, कालवह्नि रेफ, माया ईकार तथा व्यापी बिन्दु मिला देवे । इस प्रकार 'क्ष्म्रीं' यह महालक्ष्मी का मन्त्र निष्पन्न हो जाता है । हे पुरन्दर ! इस प्रकार महालक्ष्मी का बीज मन्त्र मैंने कहा ॥ ३८-३९ ॥

विमर्शिनी—महालक्ष्मीबीजोद्धारमाह—परामित्यादिना । प्रकृतिं ककरामादाय, तेन भास्करं षकारं, मर्दनं मकारं, कालवह्निं रेफं, मायाम् = ईकार, व्यापिनं बिन्दुं च योजयेत् । क्ष्म्रीं इति मन्त्रः । तथा च तन्त्रराजे—

"ग्रासो नभो दाहवह्निस्वैर्युक्तः कौलिनीमनुः ।" इति ।

तत्र ग्रासः क्षकारः, नभो मकारः, दाहवह्निः रेफः, स्वमीकारो बिन्दुश्च ॥

कर्षन्ती व्याकृतावस्थामहं हि स्वेन तेजसा ।
प्रधानभूमिकां गत्वा मूर्तित्रयविभाविनी ॥ ४० ॥

मैं अपने तेज से समस्त व्याकृतावस्था का कर्षण कर प्रधानभूमिका में जाकर पुनः तीन मूर्तियों में प्रतिष्ठित हो जाती हूँ ॥ ४० ॥

निर्माय सकलं भावं व्योमेशे संप्रतिष्ठिता ।
इति भाव्यमिदं बीजं जपता साधकेन तु ॥ ४१ ॥

इस प्रकार सारे पदार्थों का निर्माण कर मैं व्योमेश (बिन्दु) में जाकर प्रतिष्ठित (स्थिर) हो जाती हूँ । अतः बीज का जप करने वाले साधकों के लिये बस इतने ही बीज की आवश्यकता है ॥ ४१ ॥

इत्येते रश्मयो ज्ञेया विद्यायास्तारिकाकृतेः ।
अनुतारादयो विद्या इतीदं तारिकामयम् ॥ ४२ ॥
तामिमां तारिकां विद्यां भजमानो यथाविधि ।
ऐहिकामुष्मिकान् भोगानक्षयान् प्रतिपद्यते ॥ ४३ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे सप्तविद्याप्रकाशो नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

...

तारिका स्वरूपा इस विद्या की इतनी रश्मियाँ हैं । अतः अनुतारादि समस्त विद्यायें तारिकामय जाननी चाहिये । इस प्रकार तार, तारिका, अनुतारिका, वाग्भव, कामबीज, सारस्वत बीज और महालक्ष्मी बीज—इन विद्याओं का विधि के अनुसार जप करने वाला अक्षय भोग प्राप्त करता है ॥४२-४३॥

विमर्शिनी—सप्त विद्या निम्न हैं—तार = ॐ, तारिका = ह्रीं, अनुतारिका = श्रीँ, वाग्भव = ऐं, कामबीज = क्लीं, सारस्वतबीज = औः, महालक्ष्मीबीज = क्ष्म्रीं ॥ ४३ ॥

सप्त विद्याः—तारः, तारिका, अनुतारिका, वाग्भवः, कामबीजं, सारस्वतबीजं, महालक्ष्मीबीजं चेति ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के सप्तविद्याप्रकाश नामक छब्बीसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ २६ ॥

...

सप्तविंशोऽध्यायः

सदाचारप्रकाशः

हृल्लेखामन्त्रोद्धारः, मन्त्रमहिमा च

शक्रः—

नमस्तुभ्यं जगन्नाथे पुण्डरीकाक्षवल्लभे ।
अशेषजगदीशाने सर्वज्ञे सर्वभाविनि ॥ १ ॥
श्रुतमेतन्मया सम्यग्विद्यानां तत्त्वमुत्तमम् ।
भूयश्च तारिकाया मे विधिं व्याख्यातुमर्हसि॥ २ ॥

इन्द्र ने कहा—हे जगन्नाथ, हे पुण्डरीकाक्षवल्लभे, हे सम्पूर्ण संसार की अधीश्वरि, हे सर्वज्ञे, हे सर्वभाविनि ! मैंने विद्याओं के उत्तम तत्त्वों को सुन लिया । अब पुनः तारिका (ह्रीम्) की व्याख्या मुझे बतलाइये ॥ १-२ ॥

आद्यमेकं परं ब्रह्म सर्वज्ञं सच्चिदात्मकम् ।
स्वशक्तिचरितं दिव्यं लक्ष्मीनारायणं महः ॥ ३ ॥

श्री ने कहा—सर्वज्ञ सच्चिदानन्दस्वरूप अपनी दिव्य शक्ति से आचरण करने वाला परब्रह्म स्वरूप लक्ष्मीनारायणात्मक तेज है ॥ ३ ॥

अहं सा परमा शक्तिरहंताख्या सनातनी ।
तद्धर्मधर्मिणी नित्या प्रभा भानोरिवामला ॥ ४ ॥

मैं उसकी 'अहन्ता' नाम वाली सनातनी परमा शक्ति हूँ । भानु में रहने वाली नित्या स्वच्छ प्रभा के समान मैं तद्धर्मधर्मिणी हूँ ॥ ४ ॥

तदीयानि विधीयन्ते पञ्च कृत्यानि सर्वदा ।
तदुन्मेषस्वरूपिण्या मयैवादितिनन्दन ॥ ५ ॥

उन परब्रह्म के समस्त पञ्चकृत्यों (इच्छा, ज्ञान क्रियादि) का सम्पादन उन्मेष स्वरूपा मैं ही करती हूँ ॥ ५ ॥

मम दिव्या परा शक्तिर्नित्यं मद्धर्मधर्मिणी ।
हृल्लेखा परमा विद्या मत्स्वरूपा पुरन्दर ॥ ६ ॥

मेरी शक्ति परा दिव्या है जो नित्य ही मद्धर्मधर्मिणी है । उस शक्ति का नाम हृल्लेखा है । हे पुरन्दर ! वही मेरा स्वरूप है ॥ ६ ॥

विमर्शिनी—हृल्लेखा पञ्चविंशाध्याये निर्दिष्टतारिकापरनामा ह्रींमन्त्रः । अत्राप्यनुपदमेव मन्त्रस्वरूपं निर्देक्ष्यते ॥ ६ ॥

अस्या व्याख्यामिमां शश्वत् सावधानेन चेतसा ।
श्रद्दधानः प्रपन्नस्त्वमुपसन्नो गृहाण मे ॥ ७ ॥

यतः आप श्रद्धापूर्वक मेरी शरण में आये हो । अतः मेरे द्वारा की जाने वाली उसकी व्याख्या सावधान होकर सुनिए और उसे ग्रहण भी कीजिए ॥ ७॥

आमनन्ति यमात्मानं जगतस्तस्थुषः परम् ।
प्रसवस्थितिसंहारकारणं सूर्यसंज्ञितम् ॥ ८ ॥

जिसको विद्वान् लोग इस जड़ चेतनात्मक जगत् की आत्मा मानते हैं, जो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार में कारण है जिसे सूर्य संज्ञा से भी कहा जाता है ॥ ८ ॥

नित्यं प्रेरयितारं च प्राणसंज्ञं सनातनम् ।
तं विद्धि प्रथमं वर्णं हकारं पुरुषोत्तमम् ॥ ९ ॥
यस्तस्य प्रथमोन्मेषः क्रोडीकृतजगत्त्रयः ।
अशेषभुवनाधारो ज्वलद्रूपोऽमितोऽन्यतः ॥ १० ॥
रेफं तत्परमं विद्धि तेजोरूपं सनातनम् ।
उन्मेष एव सम्यक् स व्याप्नुवन् सकलां गतिम् ॥ ११ ॥
व्यापारान् पञ्च बिभ्रच्च बिन्दून् सृष्ट्यादिलक्षणान् ।
आश्चर्यज्ञानरूपश्च निमेषोन्मेषसंततेः ॥ १२ ॥
इच्छाज्ञानक्रियारूपं बिभ्रच्च विततिक्रमम् ।
ईईरूपस्य युग्मस्य स्थितिरेषा सनातनी ॥ १३ ॥

जो सनातन एवं प्राण संज्ञक है जो प्रेरित करने वाला है ऐसा पुरुषोत्तम हकार उस हृल्लेखा ह्रीं का प्रथम वर्ण है । उस हकार का जो सारे संसार को अपनी क्रोड में रखता है उसका प्रथम उनमेष अशेष भुवनाधार ज्वलनशील

अप्रमाण रेफ है, वह तेज:स्वरूप है । सनातन है, हे इन्द्र ! ऐसा समझो । वही उनमेष निग्रह-अनुग्रह सम्पूर्ण गति में व्याप्त हुआ । सृष्टि, स्थिति, संहार एवं निग्रह-अनुग्रह रूप पञ्च व्यापारों को धारण करता हुआ आश्चर्यमय ज्ञान स्वरूप है और निरन्तर निमेष उन्मेष के प्रवाह से इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया रूप का क्रमका विस्तार करता है । इकार ईकार इस युग्म रूप की यही सनातनी स्थिति है ॥ ९-१३ ॥

तदेवं परमोन्मेषरूपाहं वितितोदया ।
इच्छाज्ञानक्रियारूपा पञ्चकृत्यकरी विभोः ॥ १४ ॥

वही परमोन्मेषरूपा मैं अपनी समृद्धि का विस्तार करती हुई व्यापक परमात्मा की इच्छा, ज्ञान एवं क्रियादि रूपा पञ्चकृत्यकरी हूँ ॥ १४ ॥

नानाविधाश्चर्यमयी चिद्घना सुखरूपिणी ।
विज्ञेया परमात्मस्था व्यापिनी विष्णुवल्लभा ॥ १५ ॥
विधाय कृत्यमखिलं त्रैलोक्यैश्वर्यदायिनी ।
तस्मिन्नेव पुनर्देवे व्योमेशे परमात्मनि ॥ १६ ॥

अनेक प्रकार के आश्चर्यों वाली, चिद्घना, सुखरूपिणी तथा परमात्मा स्वरूप अकार में व्यापिनी बिन्दुस्वरूपा विष्णुवल्लभा त्रैलोक्य का ऐश्वर्य प्रदान करने वाली वहीं मैं सारा कृत्य सम्पादन कर पुनः व्योमेश परमात्मा (अं) में स्थित हो जाती हूँ ॥ १५-१६ ॥

तस्याः पञ्चरूपाणि

आदाय सर्वसंभारं प्रतितिष्ठामि निष्कला ।
अस्या रूपाणि पञ्चेह तत्त्वज्ञाः संप्रचक्षते ॥ १७ ॥

मैं ही सारे संसार को ग्रहण कर निराकार रूप में स्थित रहती हूँ । इस मन्त्र के पाँच रूप तत्त्वज्ञ लोग बताते हैं ॥ १७ ॥

तानि रूपाणि देवेश गदन्त्या मे निशामय ।
व्योमेशान्तमिदं रूपमेकं यत्तत्प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥
व्योमेशात् परतः केचिद्वाञ्छन्ति परमेश्वरम् ।
व्योमेशमपहायान्ये प्रधानं विनियोज्य तु ॥ १९ ॥

हे देव ! मैं उन पाँचों स्वरूपों को आपसे बतला रही हूँ । आप उसे सुनिए—एक व्योमेशान्त (विन्द्वन्त ह्रीं) रूप जो पहले कहा जा चुका है, कुछ लोग व्योमेश बिन्दु के बाद परमात्मा विसर्ग लगाकर उसका स्वरूप (ह्रीं:) मानते हैं ॥ १८-१९ ॥

विमर्शिनी—व्योमेशान्तमिति । बिन्द्वन्तमित्यर्थः ॥ १८ ॥ परमेश्वरः = विसर्गः । प्रधानः = मकारः ॥ १९ ॥

बिन्दुनादौ च वाञ्छन्ति तदन्ते प्रणवोपमम् ।
अन्ते प्रधानमेवैकं केचिद्धीराः प्रचक्षते ॥ २० ॥

कुछ लोग प्रणव के समान इस ह्रीं के अन्त में केवल बिन्दु नाद वाला रूप ह्रीं मानते हैं । कुछ धीर लोग इसके अन्त में ह्रीम ॥ २० ॥

विमर्शिनी—पाँच रूप—ह्रीं, ह्रीं:, ह्रीँ, ह्रीमः, ह्रीः ॥ २० ॥

सृष्टिकर्तारमन्तेऽन्ये वैदिकाः समधीयते ।
एवं पञ्च स्वरूपाणि तारिकाया विदुर्बुधाः ॥ २१ ॥

कोई-कोई वैदिक अन्त में विसर्ग लगा देते हैं । इस प्रकार बुद्धिमान् लोग इस तारिका का पाँच स्वरूप मानते हैं ॥ २१ ॥

विमर्शिनी—सृष्टिकर्ता = विसर्गः ॥ २१ ॥

शान्तस्थायाः सुरेशान रूपाण्येवंविधान्यपि ।
प्रधानान्ते विसृष्ट्यन्ते व्योमेशान्ते तथैव च ॥ २२ ॥
व्योमेशोर्ध्वविसृष्ट्यन्त इति रूपचतुष्टये ।
ऐहिकी परमा सिद्धिस्तत्तच्चामुत्रिकी परा ॥ २३ ॥

हे इन्द्र ! शान्त अवस्था में रहने वाली उस तारिका के इसी प्रकार के स्वरूप हैं । एक प्रधान (मकार) अन्त वाला दूसरा विसर्गान्त वाला तीसरा बिन्दु अन्त वाला चौथा अन्त वाला दूसरा विसर्गान्त वाला तीसरा बिन्दु अन्त वाला चौथा व्योमेश बिन्दु के भी ऊपर विसर्ग वाला तारिका (ह्रीं) के इन चारों रूपों की उपासना करने से ऐहिकी सिद्धि इसके बाद परा पारलौकिकी सिद्धि होती है ॥ २२-२३ ॥

विमर्शिनी—मन्त्राणामेषां फलतारतम्यमाह—प्रधानान्ते इत्यादिना ॥ २२ ॥

प्रधानबिन्दुनादान्ते मोक्षश्रीरेव केवला ।
इत्येवमनुसन्धाय तारिकायाः परां स्थितिम् ॥ २४ ॥

तस्य मन्त्रस्य शिष्यायोपदेशक्रमः

शिष्याय साधुशीलाय गुरुब्रह्महितैषिणे ।
आचार्य आदिशेद्विद्यां परब्रह्मस्वरूपिणीम् ॥ २५ ॥

प्रधान (मकार), बिन्दु और नाद अन्त वाले तारिका (ह्रीं) मन्त्र की

उपासना से केवल मोक्ष श्री की प्राप्ति होती है । इस प्रकार तारिका की सर्वोत्कृष्ट स्थिति का विचार कर आचार्य साधु स्वभाव वाले गुरु का हित करने वाले शिष्य को परब्रह्म स्वरूपा तारिका विद्या का उपदेश करे ॥ २४-२५ ॥

हस्तदेहाङ्गविन्यासं विधायात्मनि वै पुरा ।
विन्यस्य शिष्यदेहे च ततश्चोपदिशेन्मनुम् ॥ २६ ॥

सर्वप्रथम अपने हाथ से अपने शरीर का इस मन्त्र से अङ्ग न्यास करे । इसके बाद शिष्य के देह का अङ्ग न्यास करे । तदनन्तर मन्त्र का उपदेश करना चाहिए ॥ २६ ॥

स्थापयेद्धृदि शिष्यस्य भावपूर्वं मनुं परम् ।
पुनश्च स्थापयेत् स्वस्य हृदये मन्त्रमुत्तमम् ॥ २७ ॥

शिष्य के हृदय में भाव (अर्थ) पूर्वक मन्त्र स्थापित करे । इसके बाद अपने हृदय पर उस उत्तम मन्त्र को स्थापित करे ॥ २७ ॥

उपदेशग्रहणानन्तरं शिष्यकृत्यानि

दीक्षाभिषेकपूर्वं च सर्वमेतत् समाचरेत् ।
आचार्यादथ संप्राप्य विद्यां शिष्यो विचक्षणः ॥ २८ ॥
आत्मानमात्मनश्चैव वित्तं दत्त्वा तु दक्षिणाम् ।
सकलं त्वर्धमंशं वा येन वा तोष्यते गुरुः ॥ २९ ॥

यह सारा कृत्य दीक्षाभिषेक से पहले सम्पादन करे । तदनन्तर बुद्धिमान् शिष्य आचार्य से इस प्रकार विद्या प्राप्त कर स्वयं गुरु को अपने को समर्पित करे और बहुत सा वित्त भी दक्षिणा में देना चाहिए । सम्पूर्ण धन दे देवे अथवा धन का आधा भाग देवे अथवा जितने से आचार्य संतुष्ट हों उतना धन देना चाहिए ॥ २८-२९ ॥

वैदिके च समाचारे लौकिके च व्यवस्थिते ।
अप्रमाद्यन् सदाचार्ये गुरुषु ब्राह्मणेषु च ॥ ३० ॥

दीक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् शिष्य वैदिक और सदाचार एवं सदा से चले आने वाले लौकिक सदाचार में तथा गुरु ब्राह्मण एवं आचार्य के विषय में कभी भी प्रमाद न करे ॥ ३० ॥

अद्रोहं शीलयन् शश्वद्भूतग्रामे चतुर्विधे ।
नित्यमात्मगुणोपेतो धर्मलक्षणसेवकः ॥ ३१ ॥

चार प्रकार के भूत ग्राम (अण्डज, पिण्डज, स्थावर एवं उद्भिज्ज) में द्रोह

न करे । नित्य ही अपने गुणों से संयुक्त हो धर्म के लक्षणों की सेवा करना चाहिए ॥ ३१ ॥

संस्कारैः संस्कृतः शुभ्रैर्देवपित्रतिथिक्रियः ।
दिव्यशास्त्राण्यधीयानो निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ ३२ ॥
अलोलुपेन चित्तेन सिद्धान्ताननुसञ्चरन् ।
यावदर्थं तु विज्ञानमाददानस्ततस्ततः ॥ ३३ ॥

संस्कारों से संस्कृत होकर देवता, पितर और अतिथि की क्रियाओं को तत्परता से करे । दिव्य शास्त्रों का तथा वैदिक निगमों का अध्ययन करे । लोभ रहित चित्त से सिद्धान्त के पथ पर चलें । तत्तत्पदार्थों से जितने ज्ञान की आवश्यकता हो ग्रहण करे ॥ ३२-३३ ॥

अदूषयंश्च शास्त्राणि प्रमाणैरनुसञ्चरन् ।
आह्निकं विधिवत् कुर्वन् शास्त्रार्थं कर्मणां क्रमैः ॥ ३४ ॥

शास्त्र पर आक्षेप कर उसे दूषित न करे और शास्त्र के प्रमाणों के अनुसार चले शास्त्र निर्दिष्ट आह्निक कर्म विधिपूर्वक करे ॥ ३४ ॥

अहरादि त्वहोरात्रं पुना रात्र्यवसानकम् ।
अवन्ध्यं सततं कुर्वंश्चोदितैः कर्मणां क्रमैः ॥ ३५ ॥

प्रथम दिन के प्रातःकाल से लेकर दिन-रात तथा पुनः रात्रि के बीतने तक शास्त्र बोधित कर्मों के क्रम से दिन-रात को सफल बनावें । व्यर्थ के कामों में दिन-रात न गँवावें ॥ ३५ ॥

पञ्चकालरतो नित्यं पञ्चयज्ञपरायणः ।
भूषितो दमदानाभ्यां सत्येनाहिंसनेन च ॥ ३६ ॥

अभिगमन उपदान, इज्या, स्वाध्याय और योग इन पञ्चकृत्यों में निरत रहे। पञ्च यज्ञ अतिथि वाले वैश्वदेवादि पञ्चयज्ञों को नित्य करे ॥ ३६ ॥

चोदितेन क्रमेणेमां विद्यां संसाध्य यत्नतः ।
प्रसन्नया धिया युक्तो नित्यं स्वार्थपरार्थयोः ॥ ३७ ॥
भूतिमेव परामिच्छन् विभूतिं परिवर्जयेत् ।
पावनः सर्वभूतानां मनसा चक्षुषा गिरा ॥ ३८ ॥

शास्त्र में कही गई विधि के अनुसार इस महाविद्या (ह्रीं) को यत्नपूर्वक सिद्धकर स्वार्थ एवं परार्थ में प्रसन्न चित्त से लगा रहे । अपने परलोक के कल्याण की कामना करे । धन में बहुत आसक्ति न रखे । मन से, नेत्र से,

वाणी से सदा पवित्र रहे ॥ ३७-३८ ॥

चित्तप्रसादनीर्देवीश्चतस्रः परिशीलयन् ।
मैत्र्याद्याः शान्तिमन्विच्छन् जपयज्ञपरायणः ॥ ३९ ॥

चित्त को प्रसन्न करने वाली इन चार देवियों की (तारिका, अनुतारिका, वाणी एवं लक्ष्मी की) उपासना करे । सबसे मैत्री कर शान्ति की इच्छा करते हुये जप एवं यज्ञ में लगा रहे ॥ ३९ ॥

अप्रमाद्यन् स्वकर्मस्थः प्रमादे सति दैवतः ।
प्रायश्चित्तं चरन् सम्यग्यस्मिन्यस्मिंस्तु यादृशम् ॥ ४० ॥

अपने कर्म में निरन्तर लगा रहे, कभी प्रमाद न करे, दैव कार्य में प्रमाद हो जाने पर जिस कार्य के लिए जिस प्रकार का प्रायश्चित कहा गया हो वैसा प्रायश्चित करे ॥ ४० ॥

कर्मणा मनसा वाचा देवदेवं जनार्दनम् ।
प्रपन्नः शरणं शश्वन्मां च तद्धर्मधर्मिणीम् ॥ ४१ ॥
उत्तमं पुरुषं स्त्रीं च संदृष्ट्वा मामनुस्मरन् ।
दम्पती पूजयन्नित्यं दाम्पत्यं चाप्यलोपयन् ॥ ४२ ॥

कर्म से, मन से, वाणी से, देवाधिदेव जनार्दन तथा तद्धर्मधर्मिणी मेरी शरण में सर्वदा रहे । सुन्दर पुरुष, सुन्दर स्त्री को देखकर मेरा स्मरण करे । स्त्री पुरुष की रूप दम्पती की पूजा करे । किन्तु उनके दाम्पत्य जीवन में बाधा न डाले ॥ ४१-४२ ॥

शब्दस्थमर्थगं वापि पुंभावं विविधात्मकम् ।
स्त्रीभावं विद्धि तद्रूपं लक्ष्मीनारायणं स्मरन् ॥ ४३ ॥
उत्तमां गुणसम्पन्नां रूपयौवनशालिनीम् ।
अलोलुपेन चित्तेन दृष्ट्वा मामेव चिन्तयन् ॥ ४४ ॥

विविध प्रकार के शब्द और विविध प्रकार के अर्थों को क्रमशः पुरुष और स्त्री के रूप में लक्ष्मी नारायण का स्मरण करते हुये समझे । उत्तम कुल में उत्पन्न हुई, रूप, यौवन, गुण और शील से सम्पन्न नारी को मेरा स्मरण करते हुये निर्विकार चित्त से देखे, उसमें आसक्ति न रखे ॥ ४३-४४ ॥

विमर्शिनी—अलोलुपेनेति = अत्यासक्तिरहितेनेत्यर्थः ॥ ४४ ॥

स्त्रीषु क्षान्तमना नित्यमवदन्नप्रियं सदा ।
अतिक्रमं परिहरन् सञ्ज्ञातं चाप्यतर्कयन् ॥ ४५ ॥

स्त्री में क्षमाशील रहें, सर्वदा उनसे प्रिय भाषण करें, अप्रिय कदापि न बोलें, किसी भी प्रकार उनका अतिक्रमण (मर्यादोल्लङ्घन या प्रमाद) न करें, उनके द्वारा किये गए अपराधों पर कभी विचार न करे ॥ ४५ ॥

विमर्शिनी—अतिक्रमः = प्रमादः ॥ ४५ ॥

क्षालयन् पावनैः स्त्रीणां जायमानं व्यतिक्रमम् ।
कुब्जां वा विकलां वापि सर्वावस्थां गतां स्त्रियम्॥ ४६ ॥
अविनिन्दंश्चरंस्त्रीणां प्रियं शास्त्रानुकूलतः ।
एवंवृत्तः सदाचारो नरो विगतकल्मषः ॥ ४७ ॥
मद्भक्तो मत्प्रियकरो मद्याजी मत्परायणः ।
प्राप्नोति परमं धाम तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ४८ ॥

स्त्रियों से होने वाले व्यतिक्रम को प्रियवचनों द्वारा दूर करे । कुबड़ी, अन्धी अथवा जिस किसी दुरवस्था में रहने वाली स्त्री की कदापि निन्दा न करें। शास्त्र के अनुसार सदैव स्त्री जाति का प्रिय आचरण करे । इस प्रकार के सदाचार से युक्त साधक और निष्पाप मेरा भक्त, मेरा प्रिय करें, मेरी पूजा करें, मेरा स्मरण करे । मुझ में परायण रहें । ऐसा करने से वह विष्णु के उस धाम को प्राप्त करता है, जिसे परम पद कहते हैं ॥ ४६-४८ ॥

विमर्शिनी—पावनैरिति = शुद्धिकर्मभिरित्यर्थः । व्यतिक्रमः = प्रमादः ॥४६॥

इति ते कथिता शक्र तारिकायाः परा स्थितिः ।
विद्यानामपि चान्यासां किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ४९ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे सदाचारप्रकाशो नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

हे इन्द्र ! इस प्रकार हमने आपसे परा तारिका (ह्ल्लेखा) का स्वरूप कहा। अब अन्य विद्याओं में आप कौन सी विद्या सुनना चाहते हो ॥ ४९ ॥

विमर्शिनी—तारिकाया इति । ह्ल्लेखापरनाम्न्या इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के सदाचारप्रकाश नामक सत्ताइसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

सदाचारप्रकाशः

अभिगमननिरूपणम्

शक्रः—

नमस्ते कमलावासे नमस्त्रय्यन्तवासिनि ।
त्वत्प्रसादेन विधिवच्छ्रुतो मन्त्रः समाधिना ॥ १ ॥

इन्द्र ने कहा—हे कमल में निवास करने वाली !, हे वेदान्त में विचरण करने वाली !, मैंने आपकी कृपा से समाधि के द्वारा विधिवत् मन्त्र को सुना ॥ १ ॥

प्रतिपत्तिश्च सकला स्वरूपं च यथास्थितम् ।
आहोरात्रिकमाचारमिदानीं वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

अब आप मुझे सब प्रकार की प्रपत्ति, उसका यथास्थित स्वरूप, दिन-रात में उसके सदाचार का पालन का प्रकार आदि बतलाइये ॥ २ ॥

श्रीरुवाचः—

एको नारायणः श्रीमाननादिः पुष्करेक्षणः ।
ज्ञानैश्वर्यमहाशक्तिवीर्यतेजोमहोदधिः ॥ ३ ॥

श्री ने कहा—श्रीमान् अनादि पुष्करेक्षण एक नारायण ही ज्ञान, ऐश्वर्य, महाशक्ति वीर्य और तेज के महासमुद्र हैं ॥ ३ ॥

आत्मा स सर्वभूतानां हंसो नारायणो वशी ।
तस्य सामर्थ्यरूपाहमेका तद्धर्मधर्मिणी ॥ ४ ॥

वे हंस नारायण और वशी हैं । समस्त प्राणियों की आत्मा हैं । उनकी सामर्थ्य स्वरूपा मैं अकेली तद्धर्मधर्मिणी हूँ ॥ ४ ॥

साहं सृष्ट्यादिकान् भावान् विदधाना पुनः पुनः।
आराधिता सती सर्वांस्तारयामि भवार्णवात् ॥ ५ ॥

उस प्रकार के स्वभाव वाली मैं बारम्बार सृष्ट्यादि कार्यों को करती हुई भी आराधना करने पर सभी को इस संसार सागर से तार देती हूँ ॥ ५ ॥

ददामि विविधान् भोगान् धर्मेण परितोषिता ।
सद्धर्मपरसंस्थाना मम सत्त्वादिका तनुः ॥ ६ ॥

मैं धर्म से संतुष्ट हो जाने पर उस पुरुष को नाना प्रकार के इस लोक के भोग और परलोक के भोगों को प्रदान करती हूँ । मेरा शरीर सत्त्वादि गुणों का है जो सद्धर्म पर में संस्थित रहता है ॥ ६ ॥

विमर्शिनी—विविधानिति । अपवर्गप्रदाप्यानुषङ्गिकानैहिकानामुश्मिकांश्च भोगान् ददामीत्यर्थः । सद्धर्मपरेषु संस्थानं यस्या इति बहुव्रीहिः ॥ ६ ॥

आचाररूपो धर्मोऽसावाचारस्तस्य लक्षणम्।
तमाचारं प्रवक्ष्यामि यः सद्भिरनुपाल्यते ॥ ७ ॥

वह धर्म आचार रूप है, धर्म का लक्षण आचार है, अतः जिसका सज्जन लोग पालन करते हैं उस सदाचार को मैं आपसे कहती हूँ ॥ ७ ॥

हित्वा योगमयीं निद्रामुत्थायापररात्रतः ।
प्रपद्येत हृषीकेशं शरण्यं श्रीपतिं हरिम् ॥ ८ ॥

साधक को पिछली रात्रि के ब्राह्म मुहूर्त में योगमयी निद्रा त्याग कर श्रीपति हरि हृषीकेश के शरण में प्राप्त होना चाहिये ॥ ८ ॥

विमर्शिनी—योगमयीमिति । अभिगमनादिषु धर्मेषु योगाख्यः पञ्चमो धर्मः पूर्वदिनरात्रिमारभ्य परदिनब्राह्ममुहूर्तावधिककालानुष्ठेयः ॥ ८ ॥

प्रपत्तेश्च स्वरूपं ते पूर्वमुक्तं सुरेश्वर ।
भूयश्च शृणु वक्ष्यामि सा यथा स्यात् स्थिरा त्वयि ॥ ९ ॥
आचम्य प्रयतो भूत्वा स्मृत्वास्त्रं ज्वलनाकृति ।
तत् प्रविश्य विनिष्क्रान्तः पूतो भूत्वास्त्रतेजसा ॥ १० ॥

हे सुरेश्वर ! उस प्रपत्ति का स्वरूप हमने पहले कह दिया है । परन्तु इसके विषय में आपको फिर कुछ कह रही हूँ जिससे आपकी मति इसमें स्थिर रहे । साधक प्रातःकाल उठकर आचमन करे । फिर ज्वलनशील (देदीप्यमान) आकृति वाले चक्र सुदर्शन का स्मरण कर उसमें प्रविष्ट हो पुनः अस्त्र के तेज से पवित्र हो उसके बाहर निकले ॥ ९-१० ॥

प्रपत्तिं तां प्रयुञ्जीत स्वाङ्गैः पञ्चभिरन्विताम् ।
प्रातिकूल्यं परित्यक्तमानुकूल्यं च संश्रितम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर पाँच अङ्गों वाली प्रपत्ति का प्रयोग करे । प्रतिकूल्य का परित्याग और आनुकूल्य का आश्रय इस प्रकार ग्रहण करे ॥ ११ ॥

मया सर्वेषु भूतेषु यथाशक्ति यथामति ।
अलसस्याल्पशक्तेश्च यथावच्चाविजानतः ॥ १२ ॥
उपायाः क्रियमाणास्ते नैव स्युस्तारका मम ।
अतोऽहं कृपणो दीनो निर्लेपश्चाप्यकिञ्चनः॥ १३ ॥

मैंने सभी प्राणियों में किये जाने वाले यथाशक्ति यथामति सभी उपायों को किया । किन्तु अल्पशक्ति तथा अल्पज्ञ होने के कारण सभी मेरे द्वारा किये गए वे उपाय मुझे भवसागर से पार करने में असमर्थ रहें । मैं कृपण दीन-असमर्थ और दरिद्र हूँ ॥ १२-१३ ॥

लक्ष्म्या सह हृषीकेशो देव्या कारुण्यरूपया ।
रक्षकः सर्वसिद्धान्ते वेदान्तेऽपि च गीयते ॥ १४ ॥
यन्मेऽस्ति दुस्त्यजं किंचित् पुत्रदारक्रियादिकम् ।
समस्तमात्मना न्यस्तं श्रीपते तव पादयोः॥ १५ ॥

सभी दिव्य सिद्धान्तों (शास्त्रों) में और उपनिषदों में कारुण्यस्वरूपा लक्ष्मी के साथ आप हृषीकेश रक्षक के रूप में कहे गए हैं । अतः हे श्रीपते ! मेरे द्वारा सर्वथा दुस्त्यज जो स्त्री-पुत्र और उनसे सम्बन्धित क्रियायें हैं उन सभी के साथ मैं अपने को आपके श्रीचरणों में समर्पित करता हूँ, धरोहर रूप से न्यास करता हूँ । (इसमें महा विश्वास की विवक्षा की गई है) ॥ १४-१५ ॥

विमर्शिनी—महाविश्वासोऽत्र विवक्षितः । सर्वसिद्धान्ते = सर्वेषु दिव्यशास्त्रेषु । वेदान्ते = उपनिषत्सु ॥ १४ ॥ आत्मात्मीयनिक्षेपमाह—यन्मेऽस्तीत्यादिना । आत्मना; आत्मना सहेत्यर्थः ॥ १५ ॥

शरणं भव देवेश नाथ लक्ष्मीपते मम ।
सकृदेवं प्रपन्नस्य कृत्यं नैवान्यदिष्यते ॥ १६ ॥

अब गोपत्व वरण के विषय में कहते हैं—हे देवेश ! हे लक्ष्मीपते ! मुझे शरण दो । एक बार भी जो इस प्रकार भगवान् को अपना रक्षक स्वीकार कर लेता है, उसे फिर दूसरे उपाय की आवश्यकता नहीं होती ॥ १६ ॥

विमर्शिनी—गोप्तृत्ववरणमाह—शरणमित्यादिना ॥ १६ ॥

उपायापायमुक्तस्य वर्तमानस्य मध्यतः ।
नरस्य बुद्धिदौर्बल्यादुपायान्तरमिष्यते ॥ १७ ॥

जिसने उपाय और अपाय दोनों का त्याग कर दिया, केवल दोनों के मध्य में निवास करता है, उसे अन्य कृत्यों की आवश्यकता नहीं रहती । ऐसे तो दुर्बल बुद्धि वालों के लिये भक्तियोगादि भी उपाय हैं ॥ १७ ॥

विमर्शिनी—मध्यतो वर्तमानस्य नैवान्यत् कृत्यमिति पूर्वेणान्वयः । बुद्धिदौर्बल्यादिति । स्वाधिकारमनालोच्य दुष्करे कर्मणि प्रवृत्तिर्हि बुद्धिदौर्बल्यप्रयुक्तेति भावः । उपायान्तरमत्र भक्तियोगः । अनेन भक्तियोगस्य निन्दा क्रियत इति वा मुमुक्षोर्भक्तियोगः स्वरूपविरुद्ध इति वा न मन्तव्यम् ॥ "नरस्य बुद्धिदौर्बल्यादिन्दुबिम्बग्रहे स्पृहा" इत्युक्ते वचनमिदमिन्दुबिम्बं निन्दतीति न कश्चिदपि प्रेक्षावान् ब्रूयात् । किं च "भक्त्या परमया वापि प्रपत्त्या वा महामते" इति भक्तेर्वैकल्पिकसाधनत्वोक्तिर्विरुध्येत । अशक्तस्य मुमुक्षोः स्वरूपविरुद्ध इति चेत्, नात्र कस्यापि विप्रतिपत्तिः ॥ १७ ॥

अतः परं सदाचारं प्रोच्यमानं निबोध मे ।
आशंसानः समुत्तिष्ठेत् सर्वभूतसुखोदयम् ॥ १८ ॥

हे इन्द्र ! अब मेरे द्वारा कहे जाने वाले सदाचार के विषय में सुनिए । प्रातःकाल सभी प्राणियों के सुख की कामना करते हुये उठना चाहिये ॥ १८॥

भवन्तु सर्वभूतानि सात्त्विके विमले पथि ।
भजन्तां श्रीपतिं शश्वद्विशन्तु परमं पदम् ॥ १९ ॥

जगत् के सारे प्राणी सात्त्विक बुद्धि से सन्मार्ग पर चलें । सभी श्रीपति का भजन करें । सभी परम पद प्राप्त करें ॥ १९ ॥

इत्याशास्य प्रियं सम्यग्भूतेभ्यो मनसा गिरा ।
शरीरशोधनं कृत्वा धर्मशास्त्रविधानतः ॥ २१ ॥

प्रातःकाल मन, वाणी और कर्म द्वारा सभी प्राणियों के कल्याण की कामना करे और धर्मशास्त्र के विधान से शरीर का शोधन करे ॥ २० ॥

शौचं च विधिवत् कृत्वा भक्षयेद्दन्तधावनम् ।
अथाचम्य विधानेन पवित्रैः शास्त्रचोदितैः ॥ २१ ॥
प्लावयित्वाभ्युपासीत सन्ध्यां त्रैलोक्यपावनीम् ।
मन्मयी त्रिविधा शक्तिः सूर्यसोमाग्निरूपिणी ॥ २२ ॥
शुद्धये सर्वभूतानां संध्या देवी प्रवर्तते ।

उपस्थाय विवस्वन्तमन्तःस्थं पुरुषोत्तमम् ॥ २३ ॥

विधिपूर्वक शौचक्रिया सम्पादन कर दन्तधावन करे । तदनन्तर आचमन करें। फिर शास्त्र के अनुसार अत्यन्त पवित्र जल से स्नान कर त्रिलोक को पावन करने वाली सन्ध्या की उपासना करे । वह सन्ध्या सोम, सूर्य, अग्नि स्वरूपिणी मत्स्वरूपा तीन प्रकार की शक्ति है । सारे प्राणियों की शुद्धि के लिये सन्ध्या देवी प्रवृत्त होती हैं । तदनन्तर सूर्य के भीतर रहने वाले अत्यन्त देदीप्यमान भगवान् पुरुषोत्तम का उपस्थान करे ॥ २१-२३ ॥

विमर्शिनी—विवस्वन्तं विशिष्टदीप्तिमन्तमिति पुरुषोत्तमविशेषणम् । अन्तःस्थम्; सूर्यमण्डलान्तर्वर्तिनम् । "अर्कमण्डलमध्यस्थं सूर्यकोटिसमप्रभम्" इत्यादिध्यानमत्राभिप्रेतम् ॥ २३ ॥

उपादाननिरूपणम्

कुर्यादग्निविधिं सम्यगुपादानमथाचरेत् ।
सति वित्ते न कुर्वीतोपादानं तु विचक्षणः ॥ २४ ॥

इसके बाद अग्निहोत्र करे । फिर भगवदाराधन के निमित्त अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं को एकत्रित करे । यदि अपने पास धन हो तो किसी से भी भगवन्निमित्त पूजा सामग्री की याचना न करे ॥ २४ ॥

विमर्शिनी—उपादानं नाम भगवदाराधनोपयुक्तद्रव्यार्जनम् । तच्च निःस्वस्य पञ्चयज्ञपञ्चकालपरायणभागवतोत्तमादयाचितोपनततण्डुलादिस्वीकाररूपम् । आढ्यस्य तु तदुपयुक्तफलपुष्पतुलयादिसंग्रहरूपम् ॥ २४ ॥

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः ।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥ २५ ॥

सात प्रकार से आये हुये धन-धार्मिक माने जाते हैं । दाय, लाभ, क्रय, जय, प्रयोग, कर्मयोग और सत्प्रतिग्रह ॥ २५ ॥

इज्यानिरूपणम्

स्नानं कृत्वा विधानेन त्रिविधं शास्त्रचोदितम् ।
भूतशुद्धिं विधायाथ यागमान्तरमाचरेत् ॥ २६ ॥

शास्त्र में की गई विधि के अनुसार त्रिविध स्नान कर भूतशुद्धि कर आन्तर याग करे । (शरीर की शुद्धि के लिए भूतशुद्धि का विधान है) ॥२६॥

स्वयमुत्पादितैः स्फीतैर्लब्धैः शिष्यादितस्तथा ।

भोगैर्यजेत मां विष्णुमुभौ वा शास्त्रपूर्वकम् ॥ २७ ॥

सत्कर्म द्वारा अपने से उपार्जित धन तथ शिष्यादिकों से प्राप्त धन अथवा भोग के योग्य धन से मेरा और विष्णु दोनों का यजन करे ॥ २७ ॥

अष्टाङ्गेन विधानेन ह्यनुयागावसानकैः ।
स्वाध्यायमाचरेत् सम्यगपराह्णे विचक्षणः ॥ २८ ॥

अन्तर्याग, भोगयाग, मध्वादियाग एवं अन्नयाग से प्रदान वह्निसंतर्पण पितृयाग और अनुयाग—इस प्रकार अनुयाग पर्यन्त अष्टाङ्ग यजन कर विचक्षण पुरुष अपराह्ण में स्वाध्याय करे ॥ २८ ॥

विमर्शिनी—अष्टाङ्गयजनं यथा जयाख्ये—अन्तर्यागः, भोगयागः, मध्वादियागः, अन्नयागः, संप्रदानम्, वह्निसंतर्पणम्, पितृयागः, अनुयागश्चेति जयाख्यसंहितायामनुसन्धेयः । (२२ अ. ७५-८०) ॥ २८ ॥

स्वाध्यायनिरूपणम्

दिव्यशास्त्राण्यधीयीत निगमांश्चैव वैदिकान् ।
सर्वाननुचरेत् सम्यक् सिद्धान्तानात्मसिद्धये ॥ २९ ॥

दिव्य शास्त्रों का अध्ययन करे । वैदिक निगमों का स्वाध्याय करे । आत्मसिद्धि के लिये मन्त्र आगमादि सिद्धान्तों का स्वाध्याय करे ॥ २९ ॥

विमर्शिनी—सिद्धान्तानिति = मन्त्रागमादि सिद्धान्तभेदानित्यर्थः ॥ २९ ॥

अलोलुपेन चित्तेन रागद्वेषविवर्जितः ।
न निन्देन्मनसा वाचा शास्त्राण्युच्चवचान्यपि ॥ ३० ॥

लोभ रहित मन से राग-द्वेष विवर्जित हो स्वाध्याय का आचरण करे । ऊँचे नीचे शास्त्रों की मन, वाणी से कदापि निन्दा न करें, क्योंकि सभी शास्त्र प्राणियों के हित के लिये निर्मित किये गए हैं ॥ ३० ॥

तावन्मात्रार्थमादद्याद् यावता ह्यर्थ आत्मनः ।
भूतानां श्रेयसे सर्वे सर्वशास्त्राणि तन्वते ॥ ३१ ॥

जितने ज्ञान की अपने को आवश्यकता हो, उन-उन शास्त्रों से उतना ही ज्ञान ग्रहण करे । सभी शास्त्र समस्त प्राणियों के हित के लिये बनाये गए हैं ॥ ३१ ॥

तां तामवस्थां संप्राप्य तानि श्रेयो वितन्वते ।
आदौ मध्ये च सर्वेषां शास्त्राणामन्तिमे तथा ॥ ३२ ॥

श्रीमान्नारायणः प्रोक्तो विधयैव तया तया ।
अहं नारायणस्थापि सर्वज्ञा सर्वदर्शिनी ॥ ३३ ॥
निदानज्ञा भिषक्कल्पा तत्तद्गुर्वादिरूपिणी ।
प्रवर्तयामि शास्त्राणि तानि तानि तथा तथा ॥ ३४ ॥

सभी शास्त्र उन-उन अवस्थाओं में श्रेय (कल्याण) के लिये बनाये गए हैं। सभी शास्त्रों के आदि में, मध्य में तथा अन्त में उन-उन विधाओं से श्रीमन्नारायण का ही प्रतिपादन किया गया है । मैं नारायण में रहने वाली सर्वज्ञा सर्वदर्शिनी हूँ और निदान जानने वाले वैद्य की तरह तद्-तद् गुरुओं के रूप में उन-उन शास्त्रों का उस-उस प्रकार से प्रवर्तन करती हूँ ॥ ३२-३४ ॥

विमर्शिनी—सर्वशास्त्राणां भूतहितत्त्वं परतत्त्वप्रकाशनेन तदाराधनप्रतिपादनेन चेत्यभिसन्धायाह—श्रीमानिति ॥ ३३ ॥

अधिकारानुरूपेण प्रमाणानि तथा तथा ।
अत्यन्तहेयं न क्वापि शास्त्रं किञ्चन विद्यते ॥ ३५ ॥

शास्त्रों में अधिकार के अनुसार उन-उन प्रमाणों को दिया गया है । किसी भी शास्त्र में कोई भी अंश कहीं भी अत्यन्त त्याज्य नहीं है ॥ ३५ ॥

सर्वत्र सुलभं श्रेयः स्वल्पं वा यदि वा बहु ।
ततः कार्यो न विद्वेषो यावदर्थमुपाश्रयेत् ॥ ३६ ॥

सभी शास्त्रों में थोड़ा या बहुत कल्याण (श्रेय) सुलभ है । इसलिये किसी भी शास्त्र से विद्वेष न करे । अपने को जितनी आवश्यकता हो उतना ही ग्रहण करना चाहिये ॥ ३६ ॥

योगनिरूपणम्

समयं न विशेत्तत्र नैव दीक्षां कदाचन ।
ततः संध्यामुपासीत पश्चिमां सार्धभास्कराम् ॥ ३७ ॥

उसमें किसी प्रकार का आग्रह न करे । उससे किसी को दीक्षा न दें । इसके बाद सायङ्काल में जब अस्त होते समय सूर्य आधा शेष रह जावे तब पश्चिम (सायङ्कालिकी) सन्ध्या की उपासना करे ॥ ३७ ॥

विधायाग्न्यर्थकार्यं तु योगं युञ्जीत वै ततः ।
सुविविक्ते शुचौ देशे निःशलाके मनोरमे ॥ ३८ ॥

इसके बाद सायङ्कालिक अग्निहोत्र क्रिया समाप्त कर अत्यन्त एकान्त, सर्वथा पवित्र, शलाकारहित, मन को प्रसन्न रखने वाले स्थान में योग का

आरम्भ करे ॥ ३८ ॥

मृद्वास्तरणसङ्कीर्णे चेलाजिनकुशोत्तरे ।
अन्तर्बहिश्च संशुद्धे यमादिपरिशोधितः ॥ ३९ ॥
आसनं चक्रमास्थाय पद्मं स्वस्तिकमेव वा ।
यत्र वा रमते बुद्धिर्नाडीमार्गान् निपीडयन् ॥ ४० ॥

कुशा उसके बाद अजिन, उसके बाद वस्त्र स्थापित कर जो भीतर और बाहर सर्वथा शुद्ध हो ऐसे अत्यन्त कोमल आसन पर यम नियम के द्वारा अपने को शुद्ध रखता हुआ चक्रासन, पद्मासन अथवा स्वस्तिकासन लगाकर अथवा जिस आसन से मन प्रसन्न हो उस आसन से नाड़ी मार्गों को निपीडन करता हुआ बैठें ॥ ३९-४० ॥

विजित्य पवनग्रामं प्रत्याहारजितेन्द्रियः ।
धारणासु श्रमं कृत्वा मां ध्यायेत् सुसमाहितः ॥ ४१ ॥

वायु का निरोध करते हुये, प्रत्याहार द्वारा, अपने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करते हुये, धारणा में अच्छी तरह मन लगाकर सावधानी से मेरा ध्यान करे ॥ ४१ ॥

अनौपम्यामनिर्देश्यामविकल्पां निरञ्जनाम् ।
सर्वत्र सुलभां लक्ष्मीं सर्वप्रत्ययतां गताम् ॥ ४२ ॥

योग में युक्त हुआ योगी सर्वथा अवर्णनीय, इदमित्थं रूप से सर्वदा अनिर्वचनीय, विकल्परहित, मायारहित, सर्वत्र सुलभ एवं सबके प्रत्यय (विश्वास) की भूमि इस प्रकार के लक्ष्मी का ध्यान करे ॥ ४२ ॥

साकारामथवा योगी वराभयकरां पराम् ।
पद्मगर्भोपमां पद्मां पद्महस्तां सुलक्षणाम् ॥ ४३ ॥

साधक साकार स्वरूपा, वर और अभय मुद्रा धारण किये हुये, विसतन्तु के समान उज्ज्वल हाथ में कमल लिये हुये सर्वलक्षण-समन्वित पद्मा का ध्यान करे ॥ ४३ ॥

यद्वा नारायणाङ्कस्थां सामरस्यमुपागताम् ।
चिदानन्दमयीं देवीं तादृशं च श्रियःपतिम् ॥ ४४ ॥

अथवा नारायण के अङ्क में विराजमान, नारायण में सर्वथा सामरस्य को प्राप्त हुई, चिदानन्दमयी देवी एवं उसी प्रकार के लक्ष्मीपति का ध्यान करे ॥ ४४ ॥

बहुधा योगमार्गास्ते वेदितव्याः सुरेश्वर ।
तेष्वेकं धर्ममास्थाय भक्तिः श्रद्धा च यत्र ते ॥ ४५ ॥
सम्यङ् निध्यानमुत्पाद्य समाधिं समुपाश्रयेत् ।
ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं त्रयं यत्र विलीयते ॥ ४६ ॥

हे सुरेश्वर ! ऐसे तो योग के बहुत से मार्ग हैं जिन्हें आपको जानना चाहिये । उनमें जहाँ आपकी भक्ति और श्रद्धा हो, उस किसी एक धर्म में निदिध्यासन में स्थित होकर समाधि में तल्लीन हो जावें । जहाँ ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों में एक की भी स्थिति न हरे, उसे समाधि कहते हैं ॥ ४५-४६ ॥

विमर्शिनी—योगस्य पराकाष्ठोच्यते—ध्यातेत्यादिना । यत्रेति । यस्यां समाधिदशायामित्यर्थः ॥ ४६ ॥

एकैवाहं तदा भासे पूर्णाहंता सनातनी ।
ऐकध्यमनुसंप्राप्ते मयि संविन्महोदधौ ॥ ४७ ॥
नान्यत् प्रकाशते किंचिदहमेव तदा परा ।
योगाच्छ्रान्तो जपं कुर्यात्तच्छ्रान्तो योगमाचरेत् ॥ ४८ ॥

जिस स्थिति में पूर्ण अहन्ता एवं सनातनी स्वरूपा केवल मैं अकेली भासित होने लगूँ, इस प्रकार बुद्धि की एकता से प्रभावित ज्ञान समुद्र स्वरूपा मुझ में योगी को और कुछ दूसरा प्रकाश भासित नहीं होता । केवल परा स्वरूपा मैं ही भासित होती हूँ । इस प्रकार योग करने पर जब साधक थक जावे, तब जप करना चाहिए और जप के बाद थक जाने पर पुनः योग करना चाहिए ॥ ४७-४८ ॥

विमर्शिनी—ऐकध्यमेकभावं योगिनि संप्राप्ते सति नान्यत् किंचित् प्रकाशते । किंतु अहमेव भास इत्युत्तरेणान्वयः ॥ ४७ ॥

तस्य क्षिप्रं प्रसीदामि जपयोगाभियोगिनः ।
नीत्वैवं प्रथमं यामं जपयोगादिना सुधीः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार जप और योग में निरन्तर लगे रहने वाले योगी पर मैं अत्यन्त शीघ्र प्रसन्न हो जाती हूँ । बुद्धिमान् साधक इस प्रकार जप योग करते हुये रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत करे ॥ ४९ ॥

विमर्शिनी—योगनिद्रां निर्वक्ति—नीत्वैवमिति ॥ ४९ ॥

योगस्थ एव तद्धीरस्ततो यामद्वयं स्वपेत् ।
उत्थायापररात्रे तु पूर्वोक्तमनुसञ्चरेत् ॥ ५० ॥

तदनन्तर योग में तत्पर धीर योगी रात्रि के दो पहर तक शयन करे। फिर रात्रि के पिछले भाग में उठकर पूर्वोक्त कार्यों को पुनः करे ॥ ५० ॥

विमर्शिनी—योगो नाम परमात्मन्यात्मनिक्षेपपुरःसरं परमात्मगुणगणानुसन्धानम्। तत्कुर्वाण एव स्वापमनुभवेदित्यर्थः ॥ ५० ॥

पञ्चकालकृत्यमहिमा

इति व्यामिश्रकृत्यं तत् प्रोक्तं ते बलसूदन।
अच्छिद्रान् पञ्चकालांस्तु भगवत्कर्मणा नयेत् ॥ ५१ ॥

हे इन्द्र ! इस प्रकार व्यामिश्र (बहुकर्मकलापसहित भगवदाराधन) कृत्य का वर्णन मैंने आपसे किया। साधक इस प्रकार के दोषरहित पञ्चकालों (अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग) को भगवत्कर्म करते हुये बितावे ॥ ५१ ॥

विमर्शिनी—व्यामिश्रेति। बहुविधकर्मकलापसहितं भगवदाराधनमित्यर्थः। अच्छिद्रानिति।

"यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते।
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिः सा च विक्रिया ॥"

(ग.पु.पू. २२२-२२)

इत्युक्तच्छिद्ररहितानित्यर्थः ॥ ५१ ॥

दीक्षितः पञ्चकालज्ञो लक्ष्मीमन्त्रपरायणः।
अन्तरं नानयोः किंचिन्निष्ठायां बलसूदन ॥ ५२ ॥

हे इन्द्र ! चाहे दीक्षित हो, चाहे लक्ष्मी मन्त्रपरायण या पञ्चकालज्ञ हो, इनकी निष्ठा में कोई अन्तर नहीं पड़ता ॥ ५२ ॥

उभावेतौ मतौ भक्तौ विशतो मां तनुक्षये।
चक्रपद्मधरो नित्यं भवेल्लक्ष्मीपरायणः ॥ ५३ ॥

ये दोनों ही हमारे सम्मानित भक्त हैं जो शरीर त्याग करने के अनन्तर मुझ में ही प्रवेश करते हैं। इसलिये शङ्ख चक्र धारण कर महालक्ष्मीपरायण होना चाहिये ॥ ५३ ॥

स्वदारनिरतश्च स्याद् ब्रह्मचारी सदा भवेत्।
मन्मन्त्रमभ्यसेन्नित्यं मच्चित्तो मत्परायणः ॥ ५४ ॥

लक्ष्मीपरायण अपनी स्त्री में परायण रहे अथवा सदा ब्रह्मचारी रहे। अपने चित्त को मुझमें लगाकर मत्परायण हो सन्मन्त्र के जप का अभ्यास करे ॥५४॥

सर्वानुच्चावचाञ्छब्दांस्तद्भावेन विभावयेत् ।
अग्नीषोमविभागज्ञः क्रियाभूतिविभागवित् ॥ ५५ ॥

सभी ऊँचे-नीचे शब्दों में मन्त्र की ही भावना रखे । अग्नीषोम के विभाग का जानकार तथा क्रियाभूति के विभाग का वेत्ता होना चाहिये ॥ ५५ ॥

स्थूलसूक्ष्मपरत्वानां वेदिता च यथार्थतः ।
अङ्गोपाङ्गादितन्त्रज्ञो मुद्राभेदविधानवित् ॥ ५६ ॥
अन्तर्यागबहिर्यागजपहोमविचक्षणः ।
पुरश्चरणभेदज्ञः सिद्धिसाधनतत्त्ववित् ॥ ५७ ॥

स्थूल, सूक्ष्म और पर वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान होना चाहिये । अङ्ग-उपाङ्ग आदि तन्त्रों को जानने वाला एवं मुद्रादि भेद का विधान वेत्ता तथा अन्तर्याग, बहिर्याग, जप, होम में विचक्षण होना चाहिये । पुरश्चरण के भेदों का ज्ञान रखने वाला, सिद्धि एवं साधन का तत्त्ववेत्ता होना चाहिये ॥ ५६-५७ ॥

संज्ञामूर्तिविधानज्ञस्तत्साधनविधानवित् ।
शारीराधारतत्त्वज्ञो योगतत्त्वविचक्षणः ॥ ५८ ॥

संज्ञा एवं मूर्त्ति का विधानज्ञ तथा उनके साधनों के विधान का वेत्ता होना चाहिये । शरीर के आधार का तत्त्वज्ञ एवं योग तत्त्व का विद्वान् भी होना चाहिये ॥ ५८ ॥

एवंप्रकारः शास्त्रार्थवेदी धीरो विचक्षणः ।
अहिंस्रो दमदानस्थो मां भजेत श्रियं नरः ॥ ५९ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे सदाचारप्रकाशो नाम अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इन सभी प्रकारों के शास्त्रों के अर्थों का वेत्ता धीर एवं विचक्षण, हिंसा से दूर रहने वाला, दम और दाम में निरत साधक मुझ श्री का भजन करे ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के सदाचारप्रकाश नामक अट्ठाइसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

अग्नीषोमविभागप्रकाशः

क्रियाशक्तेः सूर्यात्मकत्वम्

शुद्धाशुद्धषडध्वाख्यचित्रनिर्माणभित्तये ।
नमः श्रीवत्सभामिन्यै भवसंतापशान्तये ॥ १ ॥

इन्द्र ने कहा—हे शुद्ध-अशुद्ध षडध्वाख्यरूप चित्र निर्माण की भित्तिस्वरूपे ! हे श्री विष्णु की भामिनी ! संसार के ताप की शान्ति के लिये आपको मेरा नमस्कार है ॥ १ ॥

अग्नीषोमविभागं मे क्रियाभूतिविद्यामपि ।
ब्रूहि मे तत्त्वतः पद्मे विद्यायास्तारिकाकृतेः ॥ २ ॥

हे पद्मे ! अब आप तारिका विद्या की आकृति (ह्रीं) वाले मन्त्र के अग्नीषोमविभाग तथा क्रियाभूतिविद्याओं का यथार्थ रूप से वर्णन करे ॥ २ ॥

श्रीरुवाचः—

व्यापकं यत् परं ब्रह्म शक्तिर्नारायणी हि या ।
सा ह्यहं परिणामेन भवामि प्रणवाकृतिः ॥ ३ ॥

श्री ने कहा—व्यापक परं ब्रह्म स्वरूपा जो नारायण की शक्ति कही जाती है, वही मैं परिणमित (रूपान्तरित) होकर प्रणव (ॐ) की आकृति में परिणत हो जाती हूँ ॥ ३ ॥

अग्नीषोमविभागं मे तारिकाया निशामय ।
क्रियाभूतिविधानं च यथावत् सुरनन्दन ॥ ४ ॥

हे इन्द्र ! अब मेरे द्वारा तारिका विद्या के अग्नीषोमात्मक तथा क्रियाभूति विधानों को यथावत् सुनिए ॥ ४ ॥

उन्मेषः परमो विष्णोराद्यः षाड्गुण्यचिन्मयः ।
साहं संभृतसंभारा शक्तिस्ते कथिता पुरा ॥ ५ ॥

विष्णु का आद्य उन्मेष (नेत्र विकास) षड्गुण युक्त चिन्मय स्वरूप है । वही मैं सृष्टि के समस्त संभारों से युक्त हो जाने पर उनकी शक्ति स्वरूप में प्रकट हो जाती हूँ । यह बात मैंने पहले भी आपसे कही है ॥ ५ ॥

सृष्टवत्या जगत् कृत्स्नं तस्या मे रक्षणोद्यमे ।
द्विधा प्रवर्तते रूपं मुखेनैश्वर्यतेजसोः ॥ ६ ॥

सारी सृष्टि की रचना के अनन्तर जब मैं उसकी रक्षा का प्रयत्न करने लगी तब प्रधान रूप से रहने वाले ऐश्वर्य और तेज के दो रूप हो गए ॥६॥

विमर्शिनी—मुखेन = प्राधान्येनेत्यर्थः ॥ ६ ॥

षाड्गुण्यमेव मे रूपं किंचित्तेजोमुखं मतम् ।
षाड्गुण्यमेव मे रूपं परमैश्वर्यसंमुखम् ॥ ७ ॥

जिसमें किञ्चिन्मात्र तेज की प्रधानता थी, ऐसा षाड्गुण्य स्वरूप मेरा स्वरूप है, वही षाड्गुण्य स्वरूप मेरा रूप परमैश्वर्य प्रधान बन गया ॥ ७ ॥

तेजोमुखं तु यद्रूपं सा क्रियाशक्तिरुच्यते ।
सैवाग्निरुच्यते शक्तिः सर्वोपप्लवदाहनात् ॥ ८ ॥

जिसमें केवल तेज की ही प्रधानता थी ऐसा वह मेरा रूप क्रियाशक्ति के नाम से कहा जाता है । उसी शक्ति को समस्त सृष्टि के दाह की शक्ति रखने के कारण अग्नि भी कहा जाता है ॥ ८ ॥

ऐश्वर्यसंमुखं रूपं भूतिर्लक्ष्मीरितीरिता ।
शक्तिरैश्वर्यभूयिष्ठा सा मे सोममयी तनुः ॥ ९ ॥

मेरे जिस रूप में ऐश्वर्य की प्रधानता है उसे ही भूति लक्ष्मी शक्ति ऐश्वर्यभूयिष्ठा कहते हैं वही मेरा सोममय शरीर है ॥ ९ ॥

शोषणात् सर्वदोषाणामग्निशक्तिः क्रियामयी ।
जगदाप्याययन्त्यन्या भूतिः सोम इहोच्यते ॥ १० ॥

सारे दोषों का शोषण करने के कारण मेरी क्रियामयी शक्ति अग्नि रूप शरीर वाली है । जगत् का संवर्द्धन करने वाली अन्य विभूति को यहाँ सोम

कहा जाता है ॥ १० ॥

इच्छाज्ञानक्रियामय्यास्ते इमे व्यूहजे मम ।
षाड्गुण्यविग्रहा साहं व्यूहिनी परमेश्वरी ॥ ११ ॥

इच्छा, ज्ञान एवं क्रियामयी मुझ से ही ये (सोम और अग्नि) दोनों स्वरूप उत्पन्न हुये हैं । अत: मैं ही षाड्गुण्य विग्रहा व्यूहिनी (व्यूह रूप वाली) परमेश्वरी हूँ ॥ ११ ॥

या सा शक्तिः क्रियाख्या मे षाड्गुण्यं तेजसोज्ज्वलम् ।
तस्या आसंस्त्रयो व्यूहाः सूर्यसोमाग्निशक्तयः ॥ १२ ॥

षाड्गुण्य और तेज से उज्ज्वल जो मेरी क्रिया नाम वाली शक्ति है, उससे सूर्य, सोम और अग्नि शक्ति वाले तीन व्यूह उत्पन्न हुये ॥ १२ ॥

तासामाद्या परा दिव्या सूर्याख्या शक्तिरुज्ज्वला ।
निर्वहन्ती जगत्कृत्यमनिशं परिवर्तते ॥ १३ ॥

उसमें आद्या, दिव्या, उज्ज्वला एवं सूर्या नाम वाली मेरी शक्ति सारे संसार का निर्वाह करती हुई दिन-रात परिभ्रमण करती रहती है ॥ १३ ॥

अध्यात्ममधिदैवं च तथा चैवाधिभौतिकम् ।
तस्या रूपत्रयं विद्धि सूर्याख्यायाः सुरेश्वर ॥ १४ ॥

हे सुरेश्वर ! उस सूर्या नाम वाली शक्ति के भी अध्यात्म, अधिदैव और आधिभौतिक—ये तीन रूप हैं ॥ १४ ॥

अध्यात्मस्था तु सूर्याख्या पिङ्गलामार्गगामिनी।
आलोकेनाधिभूतस्था सूर्यशक्तिः प्रवर्तते ॥ १५ ॥

पिङ्गलामार्ग में चलने वाली सूर्या नाम की शक्ति अध्यात्म शक्ति है जो जगत् को आलोकित करती है, प्रकाश देती रहती है, वह आधिभौतिक सूर्यशक्ति है ॥ १५ ॥

सूर्यमण्डलसंस्थाना शक्तिः सान्याधिदैविकी ।
सूर्यमण्डलसंस्थाना अर्चिषो याः प्रकीर्तिताः ॥ १६ ॥

सूर्यमण्डल में रहने वाली जो शक्ति है, वह एक अन्य आधिदैविकी शक्ति है जिसे सूर्यमण्डल में रहने वाली अर्चि भी कहा जाता है । वह सूर्यमण्डल के भीतर रहने वाली देव त्रयी स्वरूपा है ॥ १६ ॥

विमर्शिनी—सूर्यमण्डलान्तर्वर्तिनो देवस्य त्रयीरूपत्वं वक्तुं प्रथमतस्तस्य

ऋग्रूपत्वमुच्यते उत्तरार्धे—सूर्येत्यादिना ॥ १६ ॥

ऋचस्ता विद्धि देवेश तपन्तीस्तपनात्मिकाः ।
दीप्तयो यास्तदन्तःस्थास्तानि सामानि विद्धि मे ॥ १७ ॥

हे देवेश ! उसमें 'आदित्यो वा एष एतनमण्डलं तपति' (तै०सं०) इस प्रकार से तपन रूपात्मिका होकर तपने वाली ऋचायें ऋक्स्वरूपा हैं । उसके भीतर रहने वाली जो दीप्ति है, वह साम स्वरूपा है । ऐसा समझो ॥ १७ ॥

विमर्शिनी—तस्य यजुःस्वरूपत्वमाह—अन्तःस्थेति । अनेन "आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति तत्र ता ऋचस्तदृचां मण्डलम्" इति तैत्तिरीयश्रुतिरुपबृंहिता भवति । विष्णुपुराणे चोक्तम् (२-११-११) ॥ १७ ॥

अन्तःस्था या परा शक्तिः पौरुषीं तनुमास्थिता ।
तां विद्धि पुरुषं दिव्यं रमणीयं यजुर्मयम् ॥ १८ ॥

उस सूर्यमण्डल के भीतर जो पौरुषीरूप धारण करने वाली परा शक्ति है, उसे अत्यन्त मनोहर रूप वाले दिव्य पुरुष का रूप धारण कर स्थित रहने वाले यजुर्वेद को समझो ॥ १८ ॥

शङ्खचक्रधरं श्रीशं पीनोदारचतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं पद्मविष्टरं पुष्करेक्षणम् ॥ १९ ॥

शङ्ख एवं चक्र धारण करने वाली पीन उदार चार भुजा वाले प्रसन्न वदन कमलासन पर विराजमान, कमल के समान नेत्र वाले उन श्रीश को यर्जुमय पुरुष समझना चाहिये ॥ १९ ॥

मूर्धान्तःपुरुषस्यास्य दशहोता निगद्यते ।
पादपाणि चतुर्होता देवस्यास्य सुरेश्वर ॥ २० ॥

सूर्यमण्डल के भीतर रहने वाले इन पुरुष के दशहोता शिर हैं । हे सुरेश्वर ! चार होता इस पुरुष के पैर और पाणि कहे गए हैं ॥ २० ॥

विमर्शिनी—यहाँ दशहोता पद से तत्तन्नाम वाले मन्त्र विवक्षित हैं । तैत्तिरीयारण्यक के तृतीय प्रपाठक में चितिःस्रुक..... से आरम्भ कर प्रथमानुवाक वाले दश मन्त्र दशहोता है । द्वितीयानुवाक पठित 'पृथ्वी होता' से लेकर चार मन्त्र पादपाणि हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥ २० ॥

अन्तःस्थस्यास्य पुरुषस्य दशहोता मूर्धा भवति । दशहोत्रादिपदैस्तत्तन्नामानो मन्त्रा विवक्षिताः । "चित्तिः स्रुक्" इत्यारभ्य तैत्तिरीयारण्यके तृतीयप्रपाठके प्रथमानुवाकमन्त्रो दशहोता । तत्रैव "पृथिवी होता" इत्यारभ्य द्वितीयानुवाकपठितश्चतु-

र्होता । पादपाणीत्येकवद्भावः ॥ २० ॥

लोममांसास्थिमज्जासृक् पञ्चहोता सुरेश्वर ।
स्तनावण्डौ च पुंस्त्वं च षड्ढोतापान एव च॥ २१ ॥

हे सुरेश्वर ! तृतीय अनुवाक में पठित 'अग्निर्होता' इस मन्त्र से आरम्भ कर पाँच मन्त्र उस देव के लोम, मांस, अस्थि, मज्जा और असृक् ये पाँच होता हैं । चतुर्थ अनुवाक में पठित 'सूर्यं ते चक्षुं' इस मन्त्र से आरम्भ कर चौथे अनुवाक में पठित छह मन्त्र दोनों स्तन, दोनों अण्डकोश, पुंस्त्व और अपान ये छह होता हैं ॥ २१ ॥

विमर्शिनी—"अग्निर्होता" इत्यारभ्य तृतीयानुवाकपठितः पञ्चहोता । "सूर्यं ते चक्षुः" इत्यारभ्य तुरीयानुवाकपठितः षड्ढोता ॥ २१ ॥

शीर्षण्याः सप्त ये प्राणाः सप्तहोता निगद्यते ।
शोभास्तु दक्षिणास्तस्य संभाराः सन्धयः स्मृताः ॥ २२ ॥

पञ्चम अनुवाक में पठित 'महाहविर्होता' इस मन्त्र से लेकर सात मन्त्र शीर्ष में रहने वाले सात प्राण सप्त होता हैं । दशम अनुवाक में पठित 'देवस्य त्वा' इस मन्त्र से आरम्भ कर दश मन्त्र शोभा और दक्षिणा हैं । अष्टम अनुवाक में पठित अग्निर्यजुर्भिः इस मन्त्र से आरम्भ कर आठ मन्त्र यज्ञ के संभार हैं ॥ २२ ॥

विमर्शिनी—"महाहविर्होता" इत्यारभ्य पञ्चमानुवाकपठितः सप्तहोता । "देवस्य त्वा" इत्यारभ्य दशमानुवाकपठिता दक्षिणाः । "अग्निर्यजुर्भिः" इत्यारभ्याष्टमानुवाकपठिताः संभाराः ॥ २२ ॥

नाडयो देवपत्न्योऽस्य होतॄणां हृदयं मनः ।
चेतनः पौरुषं सूक्तं शक्तिः श्रीसूक्तमुच्यते ॥ २३ ॥

नवम अनुवाक में पठित 'सेनेन्द्रस्य' इस मन्त्र से आरम्भ कर उसकी नाड़ियाँ एवं देवपत्नियाँ हैं । एकादश अनुवाक में पठित 'सुवर्णं धर्मम्' इस मन्त्र से आरम्भ कर सभी होता के हृदय हैं, पुरुषसूक्त पुरुष और श्रीसूक्त उसकी शक्ति है, ऐसा समझना चाहिये ॥ २३ ॥

विमर्शिनी—"सेनेन्द्रस्य" इत्यारभ्य नवमानुवाकपठिता देवपत्न्यः । "सुवर्णं धर्मम्" इत्यारभ्यैकादशानुवाकपठितो होतृहृदयम् । पुरुषसूक्तमन्त्राः प्रसिद्धाः ॥२३॥

ओङ्कारः प्रणवस्तारो गुह्यं नाम सनातनम् ।
यजूंषि रुद्रशुक्राणि स्थूलनामानि तस्य तु ॥ २४ ॥

ॐकार प्रणव तार गुह्य और सनातन ये उस पुरुष के नाम हैं । 'नमस्ते रुद्र मन्यवे' इस मन्त्र से आरम्भ कर पढ़े गए रुद्रिय सूक्त (यजु० १६.१) तथा मन्त्र विशेष के रूप में कहे गए शुक्रिय आदि मन्त्र उसी के स्थूल नाम हैं ॥ २४ ॥

विमर्शिनी—" नमस्ते रुद्र मन्यवे" इत्यारभ्य पठिता रुद्रियाः । (यजु० १६.१) एवं शुक्रिया अपि मन्त्रविशेषाः । अत्र अहिर्बुध्न्यसंहितायाः ५८, ५९ अध्यायावनुसन्धेयौ ॥ २४ ॥

यजुर्मयमनुं दिव्यमभ्यस्यन् पुरुषं नरः ।
अनुव्याहृत्यभीचारपापेभ्योऽपि प्रमुच्यते ॥ २५ ॥

व्याहृति के पश्चात् इस यजुर्मय मन्त्र स्वरूप इस दिव्य पुरुष (सावित्री शक्ति) का अभ्यास करते हुये पुरुष अभिचार (मारण प्रयोग) आदि पापों से मुक्त हो जाता है ॥ २५ ॥

विमर्शिनी—यजुर्मयेति सावित्री । अनुव्याहृति; व्याहृतिभ्यः पश्चात् । अस्य 'अभ्यस्यन्' इति पूर्वेणान्वयः ॥ २५ ॥

तपत्येवं परा शक्तिस्त्रयी सूर्याख्ययाम्बरे ।
त्रिविधैषा परा शक्तिः प्रख्याता सूर्यसंज्ञया ॥ २६ ॥

आकाश मण्डल में सूर्या नाम से विख्यात यह त्रयी शक्ति सर्वदा देदीप्यमान रहती है । यह तीनों प्रकार वाली परा शक्ति सूर्य संज्ञा से लोक में प्रख्यात है । इस विषय में 'वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः' यह श्रुति प्रमाण है ॥ २६ ॥

विमर्शिनी—त्रयीति । 'वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः' इति श्रुतिरनुसन्धेया ॥२६॥

सावित्री नाम वेदानां जननी परिवर्तते ।
त्रिवर्णप्रणवाधारा भूर्भुवःस्वस्त्रिनाडिका ॥ २७ ॥

जो वेदों की जननी सावित्री नाम से कही जाती है । अकार,उकार और मकार इन तीन वर्णों से युक्त प्रणव इसका आधार है और भूर्भुवः स्वः यह महाव्याहृति इसकी नाड़ी है ॥ २७ ॥

तदादिवर्णपवना शिरःकल्पितशेखरा ।
क्षित्यादिपुरुषान्तार्णा प्रकाशानन्दविग्रहा ॥ २८ ॥

'तत् सवितुः' इत्यादि वर्ण इसके प्राण हैं, गायत्री शिरो मन्त्र इसके शिर हैं । क्षित्यादि से पुरुषान्त वर्ण (क से लेकर म पर्यन्त वर्ण) इसके प्रकाशानन्द

विग्रह हैं ॥ २८ ॥

विमर्शिनी—तदादीति । तत् इत्यादयो वर्णा इत्यर्थः । शिरः गायत्रीशिरोमन्त्रः । क्षित्यादीति । कादिमान्तवर्णा ॥ २८ ॥

उदिता ब्रह्मणो भूयो ब्रह्मणि प्रतितिष्ठति ।
वेदानां जननी सैषा वर्णानां जननी परा ॥ २९ ॥

यह वेद में उदित होकर पुनः उसी वेद में लीन हो जाती है । यह साक्षात् वेदों की माता तो है ही वर्णों की भी परा जननी है ॥ २९ ॥

अनुलोमविलोमाभ्यां सौम्याग्नेयी निगद्यते ।
सैषा सूर्यवपुर्दिव्या सावित्री मन्मयी कला ॥ ३० ॥

अनुलोम और विलोम क्रम से इसे सौम्याग्नेयी कहा जाता है । सूर्य स्वरूप वाली यह सावित्री साक्षात् मेरी ही कला है ॥ ३० ॥

गायत्री नाम गायन्तं त्रायते महतो भयात् ।
आदाय जीवनं गोभिर्भूसरित्प्राणिसंभवम् ॥ ३१ ॥
पुनर्मुञ्चति मेघेषु नवमासधृतं करैः ।

गायत्री नाम वाली शक्ति गान करने वालों की महान् भय से रक्षा करती है । यह अपनी किरणों से भू और प्राणियों के जीवन रूप जल को ग्रहण कर नव मास पर्यन्त उसे मेघ में सुरक्षित रूप से रखकर पुनः वर्षा के रूप में उन्हें दे देती है ॥ ३१-३२- ॥

विमर्शिनी—इस विषय में 'याभिरादित्यस्तपति, ताभिः, पर्जन्यो वर्षति' यह श्रुति प्रमाण है ।

आदायेति । अत्र "याभिरादित्यस्तपति ताभिः पर्जन्यो वर्षति" इति श्रुतिरनुसन्धेया ॥ ३१ ॥

उक्ता सूर्यमयी शक्तिः शृणु वह्निमयीं पराम् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार हमने सूर्य शक्ति का वर्णन किया । अब अग्निमयी शक्ति के विषय में सुनिए ॥ -३२ ॥

क्रियाशक्तेः अग्न्यात्मकत्वम्

एषापि त्रिविधा शक्र शक्तिर्वह्निमयी मम ।
दिव्यैकाबिन्धना ह्यन्या क्षितौ क्षितिमयेन्धना ॥ ३३ ॥

हे इन्द्र ! यह मेरी अग्निमयी शक्ति भी तीन प्रकार वाली है । जल रूप इन्धन से आकाश में जलने वाली विद्युत शक्ति दिव्या है । दूसरी पृथ्वी पर काष्ठादि इन्धनों से जलने वाली शक्ति भौमी है ॥ ३३ ॥

विमर्शिनी—अबिन्धना विद्युत् दिव्या । काष्ठादीन्धना भौमी । जठरस्था कौष्ठीति ज्ञेयम् ॥ ३३ ॥

तथा भुक्तेन्धना कोष्ठे शक्तिर्वह्निमयी त्रिधा ।
सर्वदेवमयी सैषा देवानां मुखमुच्यते ॥ ३४ ॥

जठर में रहने वाली भोजन रूप इन्धन से जलने वाली तीसरी कौष्ठी शक्ति है । यह अग्नि सर्वदेवमयी है और यह देवताओं का मुख कही जाती है ॥ ३४ ॥

त्रिवर्गस्थैः स्तुता सैषा त्रिष्टुबित्युच्यते बुधैः ।
दुर्गाणि तारयन्त्यात्मपारायणपरं नरम् ॥ ३५ ॥

त्रिवर्गों से स्तुत होने के कारण विद्वान् लोग इन्हें त्रिष्टुप् भी कहते हैं । यह आत्मपरायण मनुष्य को दुःख से मुक्त कर देती है ॥ ३५ ॥

क्रियाशक्तेः सोमात्मकत्वम्

शक्तिः सोममयी त्वन्या सापि त्रेधा निगद्यते ।
दिवि बिम्बात्मना त्वेका तथान्यौषधिरूपिणी ॥ ३६ ॥
चरति प्राणिनामन्तरिडयैकामृतात्मिका ।
अनुष्टुब्भिः स्तूयमाना सैषानुष्टुबुदीरिता ॥ ३७ ॥

इन सबसे विलक्षण सोममयी शक्ति है । यह भी तीन प्रकार की होती है। आकाश में बिम्बात्मना पहली शक्ति है । भूमि में औषधि स्वरूपा दूसरी शक्ति है और प्राणिमात्र के शरीर में 'इडा' रूप से सञ्चरण करने वाली अमृतमयी तीसरी शक्ति है । अनुष्टुप् (श्लोकों) से संस्तुत होने के कारण इसे अनुष्टुप् भी कहा जाता है ॥ ३६-३७ ॥

विमर्शिनी—सोममय्यपि त्रिधा—आकाशे बिम्बात्मना, भूमावोषध्यात्मना, प्राणिशरीरे इडात्मनेति ॥ ३६ ॥

मृत्यञ्जय इति प्रोक्ता सा विद्या मृत्युनाशिनी ।
सूर्यसोमाग्निरूपाणां तासामासां पुरन्दर ॥ ३८ ॥
हविष्कृदुदिता सूर्यात् सोमरूपा हविर्मयी ।
हविरत्ति तथाग्न्याख्या वह्निविप्रमुखात्मना ॥ ३९ ॥

मृत्युञ्जय नाम से कही गई विद्या मृत्यु का भी नाश करने वाली है। हे पुरन्दर ! सोम, सूर्य और अग्नि रूप वाले उन-उन मन्त्रों को तथा इन मन्त्रों के होताओं को हमने कह दिया है। सूर्य से उत्पन्न हुई सोमरूपा हवि को अग्नि खाता है अथवा स्वयं ब्राह्मण के मुख से उसे ग्रहण करता है ॥ ३८-३९ ॥

तिसृभिर्वर्तते कृत्स्नं लोकतन्त्रमहर्निशम्।
इति व्यूहत्रयोपेता व्यूहिनी सा क्रियात्मिका ॥ ४० ॥

सूर्य, सोम, अग्नि रूप तीन शक्तियों से यह समस्त लोक तन्त्र सञ्चालित होता रहता है। इसलिये इन तीन व्यूहों से युक्त क्रियात्मिका शक्ति वाली मैं व्यूहिनी भी कही जाती हूँ ॥ ४० ॥

शक्तिः परमगम्भीरा मम तेजोमुखोद्गता।
सूर्येन्दुवह्निकोट्योघनियुतार्बुदभास्वरा ॥ ४१ ॥

मेरे प्रमुख तेज से उत्पन्न होने वाली एक अत्यन्त गम्भीर शक्ति भी है जो सूर्य, सोम, अग्नि के तेजों से करोड़ो गुना, हजारों गुना, दश हजार गुना, लक्ष गुना, अर्बुद गुना भासित होती है ॥ ४१ ॥

क्रियाशक्तेः सुदर्शनात्मकत्वम्

चक्रं सुदर्शनं नाम सा भवत्यरिदारणम्।
अस्त्रं परमतेजिष्ठमाग्नेयं नाम वैष्णवम् ॥ ४२ ॥

वह शक्ति सुदर्शन नामक चक्र है जो शत्रुओं का दलन करती है। वह वैष्णव चक्र अग्निदेवताक है और अत्यन्त तेजस्वी भी हैं ॥ ४२ ॥

परोद्यमस्वरूपं तत् प्राणादिप्राणनं परम्।
उद्यन्ति सर्वाण्यस्त्राणि तस्मात् सर्वाश्च शक्तयः ॥ ४३ ॥

वह दूसरों का उपकार करने वाली है। प्राणादि का प्राणन (जीवित) करती है सभी अस्त्र तथा सभी शक्तियाँ इसी से उत्पन्न होती है ॥ ४३ ॥

करणं साधकतमं पञ्चकृत्यविधौ हरेः।
न तत् कृत्यं विना तेन यत् स्याद् विष्णोर्महात्मनः ॥ ४४ ॥

भगवान् विष्णु के पञ्चकृत्यों (सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह) के सिद्ध करने के लिये प्रकृष्ट रूप से सहायक (करण) है। महात्मा विष्णु का कोई भी ऐसा कार्य नहीं है, जो इसके बिना सम्पन्न हो सके ॥ ४४ ॥

सङ्कल्पादिस्वरूपेयं सृष्टौ विष्णोः प्रवर्तते ।
रक्षणे संहतौ चैव धत्ते चक्रमयीं तनुम् ॥ ४५ ॥

यह महाशक्ति विष्णु के सृष्टि काल में उनके सङ्कल्प स्वरूप होकर प्रवृत्त होती है । यह सृष्टि के संरक्षण तथा संहार की स्थिति में चक्रसुदर्शन का स्वरूप धारण करती है ॥ ४५ ॥

ममांशजा पराग्नेयी क्रियाशक्तिर्हि वैष्णवी ।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं षोढा विष्टभ्य तिष्ठति ॥ ४६ ॥

यह मेरे अंश से उत्पन्न होने वाली पराग्नि है और वैष्णवी क्रियाशक्ति है । स्ताम्ब (अत्यन्त छोटा कीट) से ब्रह्मपर्यन्त (कला, तत्त्व, वर्ण, पद, मन्त्र एवं भुवनरूप) छह संज्ञाओं से व्याप्त है ॥ ४६ ॥

विमर्शिनी—षोढेति । कलातत्त्ववर्णपदमन्त्रभुवनाख्यचक्रैरित्यर्थः ॥ ४६ ॥

तत्र वर्णमयं चक्रं प्रथमं शृणु वासव ।
तारिकातारकद्वन्द्वमक्षगं पारमेश्वरम् ॥ ४७ ॥

हे वासव ! इस वर्णमय चक्र के प्रकार को सुनिए । परमेश्वरात्मक तारिका (ह्रीं) और तार (ॐ) दोनों इसके अक्ष पर रहते हैं ॥ ४७ ॥

विमर्शिनी—तारिको ह्रींमन्त्रः । तारकः = प्रणवः ॥ ४७ ॥

नाभौ सूर्येन्दुभारूपं श्रितं स्वारं द्विरष्टकम् ।
कादिभान्तं त्रिरष्टारं मादिहान्तं तु नेमिगम् ॥ ४८ ॥

इसकी नाभि (?) में सोलह प्रकार के स्वर सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश रूप में स्थित है । क से लेकर भ पर्यन्त चौबीस वर्ण इसकी अरायें हैं । म से ह पर्यन्त नौ वर्ण इसकी नेमि में स्थित रहते हैं ॥ ४८ ॥

विमर्शिनी—स्वारम् = स्वरसमूहः । द्विरष्टकम् = षोडशकम् । त्रिरष्टारम् = चतुर्विंशत्यररूपम् ॥ ४८ ॥

प्रधिः पर्यन्तवह्न्यात्मा वर्गान्तः पिण्डसंनिभः ।
वर्णचक्रमिदं दिव्यं वर्तते वर्णवर्त्मना ॥ ४९ ॥

अग्न्यात्मक वर्गान्त 'क्ष' जो पिण्ड के समान है । वह इसके प्रधि में रहता है । इस प्रकार वर्ण पद्धति के अनुसार यह दिव्य वर्णचक्र स्थित होता है ॥ ४९ ॥

कलाचक्रमिदं शक्र ज्ञानाक्षं शक्तिनाभिकम् ।

ऐश्वर्यारं बलाद्येन नेम्याद्यं त्रिगुणेन तु ॥ ५० ॥

हे इन्द्र ! यह कलाचक्र भी है । ज्ञान इसके अक्ष हैं, शक्ति नाभि है । देव-दानव से दुर्धर्ष पञ्चवर्ण (श ष स ह क्ष) यह महापिण्ड है ॥ ५० ॥

तत्त्वं तु वासुदेवाक्षं नाभिः सङ्कर्षणोज्ज्वलः ।
प्रद्युम्नारं तथा शक्र प्रधिरूपानिरुद्धकम् ॥ ५१ ॥

यह तत्त्व मन्त्र भी है । वासुदेव स्वरूप तत्त्व इसके अक्ष हैं । उज्ज्वल सङ्कर्षण इसकी नाभि हैं । हे शक्र ! प्रद्युम्न इसके अरे हैं और अनिरुद्ध प्रधि के स्थान में रहने वाले हैं ॥ ५१ ॥

अक्षनाभ्यरनेमिस्थैस्तुर्याद्यैः पदचक्रकम् ।
मन्त्रमक्षादिकैर्बीजपिण्डसंज्ञापदात्मभिः ॥ ५२ ॥

अक्ष, नाभि, अरा और नेमि में रहने वाले तुर्यादि वर्णों से यह पदचक्र निर्मित है । अक्षादि पर स्थित वर्णों से बीज, पिण्ड, संज्ञा और पद स्वरूप होने के कारण यह मन्त्रात्मक है ॥ ५२ ॥

कालाक्षं नाभिगाव्यक्तं महदाद्यरपञ्जरम् ।
मनःश्रोत्रतदर्थादिविकारपरिमण्डलम् ॥ ५३ ॥

इसके अक्ष में परकाल का निवास है इसलिये यह कालाक्ष है । अव्यक्त इसकी नाभि है । महत्तत्त्वादि इसके अरे के पञ्जर हैं । मन श्रोत्रादि तथा उसे ग्राह्य अर्थादि के विकार इसके परिमण्डल हैं ॥ ५३ ॥

लोकलौकिकपर्यन्तं भुवनं चक्रमन्तिमम् ।
षट्चक्रं दधती हस्तैः पौरुषीं तनुमास्थिता ॥ ५४ ॥

यह चक्र लोकालोक पर्यन्त गमन करता है इसलिये यह अन्तिम भुवन मन्त्र भी है । इस प्रकार यह (वर्ण, कला, तत्त्व, पद, वर्ण और भुवन रूप) षट् स्वरूपों को धारण करने वाली यह मेरी महाशक्ति पुरुष के शरीर को धारण करती है ॥ ५४ ॥

सुदर्शनबीजपिण्डमन्त्रोद्धारः

सुदर्शनः क्रियाशक्तिर्वैष्णवी चक्रमध्यगा ।
बीजं पिण्डं पदं संज्ञा अस्याः श्रृणु चतुष्टयम् ॥ ५५ ॥

यह सुदर्शन क्रिया शक्ति है जिसके मध्य भाग में वैष्णवी शक्ति रहती है । अब इसके बीज, पिण्ड, पद और संज्ञा—इन चारों को सुनिए ॥ ५५ ॥

सोमं प्रथममादाय प्राणमन्ते नियोजयेत् ।
ततोऽमृतमुपादाय योजयेत् कालपावकम् ॥ ५६ ॥
तत्संस्थमनलं कुर्यान्मायां व्यापिनमन्ततः ।
एतत् सौदर्शनं बीजं मत्क्रियाशक्तिजृम्भितम् ॥ ५७ ॥

पहले (सोम) सकार को लेकर उसके बाद (प्राण वर्ण) हकार रखे । इसके बाद (अमृत) सकार में (कालपावक) राकार को मिला देवे । उसके बाद (अनल) रेफ रखे । इसके बाद माया ईकार को रखने से 'सहस्रार ईं'—यह बीज मन्त्र हो जाता है ॥ ५६ ॥

व्यापी बिन्दु से युक्त करे । यही मेरी क्रियाओं का विस्तार करने वाला सप्तवर्णात्मक सुदर्शन बीज है ॥ ५७ ॥

विमर्शिनी—सहस्रार ईं सप्तवर्णात्मक सुदर्शन बीज इसलिए है क्योंकि इसमें सोम सकार, प्राणामृत हकार, कालपावक राकार, अनल रेफ, माया ईकार और व्यापी बिन्दु—ये सात वर्ण हैं ।

सोमः = सकारः । प्राणः = हकारः । अमृतं = सकारः । कालपावकः = राकारः । अनलः = रकारः । माया व्यापी च = ईंकारः । सहस्रार ईं इति बीजमन्त्रः ॥ ५६-५७ ॥

सप्तवर्णात्मकं दिव्यमिदं बीजं महर्द्धिदम् ।
एतदेव महत् पिण्डं मायाव्यापिसमुज्झितम् ॥ ५८ ॥

सात वर्णों वाला दिव्य यह बीज अत्यन्त समृद्धि प्रदान करता है । यदि इसमें से माया व्यापी ईं को हटा दें तो यह (सहस्रार) महान् पिण्ड स्वरूप बन जाता है ॥ ५८ ॥

विमर्शिनी—'सहस्रार'—यह पिण्ड मन्त्र है । सप्तवर्णात्मकमिति । सोम-प्राणामृतकालपावकानलमाया व्यापिरूप सप्तवर्णघटितमित्यर्थः । मायाव्यापि-समुज्झितम् = ईंकाररहितम् । सहस्रार इति पिण्डमन्त्रः ॥ ५८ ॥

कालाग्न्यर्कायुताकारमेतद्वज्राम्बुदध्वनि ।
पञ्चवर्णं महापिण्डं दुर्धरं देवदानवैः ॥ ५९ ॥

यह पाँच वर्णों वाला (सहस्रार)महापिण्ड, हजारों अग्नि एवं हजारों सूर्य के समान तेज वाला तो है ही यह बादल के भीतर रहने वाले वज्र के समान गर्जना करने वाला है । अतः देव-दानवों से दुर्धर्ष है ॥ ५९ ॥

शुचिना तु सकृत् स्मर्यमजितेन्द्रियदुःस्मरम् ।

स्मृत्वा तु शान्तये स्मर्ये बीजे मे तारिकादिके ॥ ६० ॥

अजितेन्द्रिय तो सर्वथा इसका स्मरण ही नहीं कर सकते । अत्यन्त शुचि पुरुष इसके स्मरण की योग्यता रखते हैं । इस पिण्ड मन्त्र का स्मरण करने के बाद साधक शान्ति के लिये मेरे तारिकादि (ॐ ह्रीं) इत्यादि का स्मरण करे ॥ ६० ॥

विमर्शिनी—स्मर्ये = स्मरणीये इत्यर्थः ॥ ६० ॥

योऽसौ पिण्डोर्ध्वभागस्थो वर्णः कालानलाभिधः।
दह्यन्ते तेन दैत्येन्द्रा लोकाश्चैव युगक्षये ॥ ६१ ॥

पिण्ड के ऊर्ध्वभाग में रहने वाला 'रा' वर्ण, जिसे कालानल भी कहते हैं, उससे दैत्येन्द्र जल जाते हैं । किं बहुना युगक्षय की स्थिति में समस्त लोक उससे जल जाते हैं ॥ ६१ ॥

द्वितीयशक्तिसंस्थेन त्वग्निनाग्निः समिध्यते ।
शक्तिं प्राणयति प्राणः पूरितोऽमृततेजसा ॥ ६२ ॥

हे इन्द्र ! द्वितीय शक्ति में रहने वाले अग्नि वर्ण 'र' रूप अग्नि से अग्नि और भी उद्दीप्त हो जाती है । अमृत (सकार) के तेज से पूरित प्राण (हकार) शक्ति को अनुप्राणित (बल देता) करता है ॥ ६२ ॥

इति पिण्डस्वरूपं ते कथितं सुरपुङ्गव ।
व्यापकैः पञ्चभिः पिण्डं कल्पितं त्वन्तरान्तरा ॥ ६३ ॥

हे सुरपुंगव ! इस प्रकार हमने 'सहस्रार' रूप पिण्डमन्त्र का स्वरूप आपसे कहा । पाँच व्यापक (बिन्दुओं) से बीच-बीच के वर्णों को युक्त कर पिण्ड की कल्पना की जाती है ॥ ६३ ॥

वर्मास्त्रान्तं ध्रुवाद्यं च संज्ञामन्त्रत्वमृच्छति ।
व्यापकौ योजयेदन्ते पिण्डाद्योः सोमसूर्ययोः ॥ ६४ ॥

आदि में ॐकार लगाकर अन्त में हुं कवच तथा 'अस्त्राय फट्' लगाकर संज्ञामन्त्र बनाया जाता है । पिण्ड के आदि में रहने वाले सोम और सूर्य अर्थात् सकार और हकार को व्यापक बिन्दु से युक्त करे ॥ ६४ ॥

विमर्शिनी—पूर्वोक्तमेव विशदयति—व्यापकाविति ।

अन्ते सोमाग्निकूटस्य ह्येकं व्यापकमानयेत् ।
आद्यन्तयोस्तथान्त्यस्य वर्णस्य व्यापकौ स्मृतौ ॥ ६५ ॥

अन्त के सोमाग्निकूट 'स्त्रा' में एक व्यापक बिन्दु लगावें। अन्त में रहने वाले वर्ण के आदि तथा अन्त्य में दो व्यापक (बिन्दु) रखे ॥ ६५ ॥

वर्म प्राणोर्जयोर्व्योम दुष्टोपद्रवमर्दनम् ।
यः सङ्कर्षणस्तु संहारः कल्पान्तेऽखिलगोचरः ॥ ६६ ॥
स फट्कारस्तदन्ते चाप्याह्लादः शान्तिकारकः ।

प्राण और ऊर्जा (हुँ) लगाने से वर्म (कवच) मन्त्र हो जाता है। कल्पान्त में संहार करने वाले सङ्कर्षण, जो सबके गोचर हैं, वही फट्कार हैं उन्हें अन्त में लगाने से आह्लाद और शान्ति प्राप्त होती है ॥ ६६-६७- ॥

विमर्शिनी—वर्म = कवचम्। प्राणोर्जयोर्व्योम = हुमन्त्रः ॥ ६६ ॥

इति पिण्डविकर्षात्मा सौम्याग्नेयो मनुः स्मृतः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार पिण्ड की अनुस्यूति (परस्पर सम्मेलन) सोम एवं अग्निदेवताक मन्त्र होता है ॥ -६७ ॥

विमर्शिनी—विकर्षः = अनुस्यूतिः ॥ ६७ ॥

स्ववर्णैरङ्गवानेष बली सौदर्शनो मनुः ।
दिव्यान्तरिक्षभौमानां भोगानामाप्तिसाधनम् ॥ ६८ ॥

पूर्वोक्त षडक्षर मन्त्र में रहने वाले जो ६ वर्ण हैं उसी से हृदयादि अङ्ग-न्यास की कल्पना कर लेनी चाहिये। यह सुदर्शन का मन्त्र महाबलवान् है। यह दिव्य भौम तथा अन्तरिक्ष में रहने वाले सभी भोगों का साधन है ॥ ६८॥

विमर्शिनी—स्ववर्णैरिति। पूर्वोक्तस्य षडक्षरमन्त्रस्य ये षट् वर्णाः, तैः हृदयादिषडङ्गकल्पनं कार्यमित्यर्थः। मन्त्रमहिमानमाह—दिव्येत्यादिना ॥ ६८ ॥

कल्पद्रुमो मनुः सोऽयमाश्रितानां पुरन्दर ।
नारायणात् समुद्यत्या मम नित्यं जगद्धिते ॥ ६९ ॥

हे पुरन्दर! इस मन्त्र का सहारा लेने वाले साधकों के लिये यह मन्त्र कल्पद्रुम है। यह नारायण से उदय प्राप्त करने वाली मेरे तथा जगत् के विषय में अत्यन्त हितकारी है ॥ ६९ ॥

विमर्शिनी—जगद्धिते इति निमित्ते सप्तमी। जगद्धितनिमित्तमित्यर्थः ॥ ६९॥

अग्नीषोमविभागस्ते कथितो वृत्रसूदन ।
क्रियाभूतिविभेदश्च क्रियाशक्तिभिदापि च ॥ ७० ॥

हे वृत्रसूदन! इस प्रकार हमने अग्नीषोम विभाग का वर्णन किया और

क्रियाशक्ति के भेद से क्रिया और भूति का विभेद भी कहा ॥ ७० ॥

क्रियाशक्तिप्रभावश्च बीजपिण्डादिभेदतः ।
भूयः शक्र क्रियाशक्ते ऋद्धिमेतावतीं शृणु ॥ ७१ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे अग्नीषोमविभागप्रकाशो नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

...

बीज पिण्डादि के भेद से क्रिया शक्ति का प्रभाव भी कहा । अब हे शक्र ! पुनः इस क्रिया शक्ति की ऋद्धि को इस प्रकार सुनिए ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के अग्नीषोमविभागप्रकाश नामक उन्तीसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ २९ ॥

...

त्रिंशोऽध्यायः

क्रियाशक्तिप्रकाशः

सुदर्शनपदमन्त्रोद्धारः

श्रीरुवाचः—

एषा ते कथिता शक्र मया शक्तिः क्रियात्मिका ।
तस्या व्याप्तिमवोचं ते सूर्यसोमाग्निभेदिताम् ॥ १ ॥

श्री ने कहा—हे शक्र ! इस प्रकार हमने क्रियाशक्ति (सूर्यात्मक-अग्न्यात्मक, सोमात्मक, सुदर्शनात्मक) को कहा तथा सूर्य, सोम और अग्नि के भेद से उसकी व्याप्ति भी कह दी ॥ १ ॥

व्यूहिनीमप्यवोचं ते बीजपिण्डाभिधानतः ।
पदमन्त्रस्वरूपं च तस्याः शक्र निबोध मे ॥ २ ॥

बीज और पिण्ड संज्ञा से मैंने उसकी व्यूहिनी शक्ति को भी कहा । अब हे शक्र ! उसके पद मन्त्र स्वरूप को मुझ से समझिए ॥ २ ॥

अजितानलसर्गाणां संयोगः पिण्ड आदिमः ।
कमलानलसर्गाणां योगः पिण्डो द्वितीयकः ॥ ३ ॥

अजित (जकार) अनल (रेफ) सर्ग (विसर्ग) इस प्रकार 'ज्रः' यह प्रथम पिण्ड हुआ । कमल (ककार) अनल (रेफ) और विसर्ग इस प्रकार क्रः यह द्वितीय पिण्ड हुआ ॥ ३ ॥

विमर्शिनी—अजितः = जकारः । अनलः = रेफः । सर्गः = विसर्गः । ज्रः । कमलः = ककारः । क्रः ॥ ३ ॥

श्वेताद्याह्लादिसंयोगस्तृतीयः पिण्ड उच्यते ।
सूर्योर्जव्यापिनां पिण्डश्चतुर्थस्तेन मध्यतः ॥ ४ ॥
त्रीण्यस्त्राणि ततः कालचक्राय हुतभुक्प्रिया ।

तारकेणान्वितश्चादौ चक्रोऽयं पदमन्त्रराट् ॥ ५ ॥

श्वेत (फकार) और आह्लादी (टकार) इस प्रकार 'फट्' यह तृतीय पिण्ड हुआ । सूर्य (हकार), ऊर्ज (उकार) और व्यापी बिन्दु इस प्रकार 'हुं' यह चतुर्थ पिण्ड हुआ । इसके बाद य में तीन फट् मन्त्र, फिर 'कालचक्राय' यह पद, इसके बाद हुतभुक् प्रिया (स्वाहा) रखकर आदि में तारक मन्त्र (ॐकार) रखें। इस प्रकार यह चक्र पद मन्त्रों का राजा है ॥ ४-५ ॥

विमर्शिनी—मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार है—(ॐ ज्रः क्रः फट् हुं फट् फट फट् कालचक्राय स्वाहा ।) श्वेतः फकारः । आह्लादी टकारः । फट् । सूर्यो हकारः । ऊर्ज उकारः । व्यापी बिन्दुः । हुं ॥ ४ ॥ मध्ये त्रयः फट्मन्त्राः । ततः स्वाहा । ॐ ज्रः क्रः फट् हुं फट् ३ कालचक्राय स्वाहा ॥ ५ ॥

नैव किंचिदसाध्यं हि मन्त्रेणानेन वासव।
अभियुक्तमना अस्मिन्न गच्छति पराभवम् ॥ ६ ॥

हे वासव ! इस मन्त्र से जगत् में कुछ भी असाध्य नहीं है । जो भली प्रकार इसमें मन लगाकर जप करता है, वह कभी पराभूत नहीं होता ॥ ६ ॥

सुदर्शनषडक्षरमन्त्रमहिमा

यस्तु ते कथितः पूर्वं त्रियुगार्णो मनूत्तमः ।
प्रभावमखिलं तस्य भूयो व्याख्यामि वासव ॥ ७ ॥

हे वासव ! इसके पहले हमने षडक्षर 'सहस्रार हुँ फट्' । इस मन्त्रोत्तम को कहा है । उसका सारा प्रभाव यद्यपि हमने आपसे कह दिया है तथापि हे वासव ! उसकी व्याख्या फिर भी कर रही हूँ ॥ ७ ॥

विमर्शिनी—त्रियुगार्णः षडक्षरमन्त्रः । सहस्रार हुं फट् इति ॥ ७ ॥

अनामरूपवच्चक्रं षाड्गुण्यमहिमोज्ज्वलम् ।
ध्यायन् सबीजमावर्त्य मन्त्रं बन्धात् प्रमुच्यते ॥ ८ ॥
क्रियाशक्तेर्मदीयायास्तनुः साक्षान्महामनुः ।
षडर्णोऽथर्ववेदान्तसंस्थितश्चक्रबृंहितः ॥ ९ ॥

यह चक्र रूप एवं नाम से रहित षाड्गुण्य से उज्ज्वल तथा प्रकाशित उक्त मन्त्र का ध्यान करते हुये बीज को सम्पुष्ट सहित जप करता हुआ साधक सभी बन्धनो से मुक्त हो जाता है । यह मन्त्र मुझ क्रियाशक्ति का साक्षात् शरीर है । (सुदर्शन) चक्र से बृंहित यह मन्त्र अहिर्बुध्न्य संहिता के बीसवे अध्याय में २१-२४ श्लोक पर्यन्त संस्थित है ॥ ८-९ ॥

विमर्शिनी—अथर्वेति । अत्राहिर्बुध्न्यसंहितायां विंशाध्याये २१-२४ वचनान्यनुसन्धेयानि ॥ ९ ॥

षडध्वमयमोजस्वि चक्रं सौदर्शनं परम् ।
भावयेदक्षनाभ्यादिविभक्तावयवोज्ज्वलम् ॥ १० ॥

इस षडध्वमय ओजस्वी मन्त्र को एक दूसरा सुदर्शन चक्र ही समझना चाहिये । अक्ष नाभि आदि स्थानों में विभक्त अवयव वाले इस उज्ज्वल चक्र मन्त्र का साधक को ध्यान करना चाहिये ॥ १० ॥

सुदर्शनचक्रे अक्षरादिविन्यासक्रमः

अमृतादीन् मनोरर्णानक्षाद्यङ्गेषु चिन्तयेत् ।
अक्षे नाभौ तथारेषु नेमौ प्रधितदन्तयोः ॥ ११ ॥

इसके अक्षादि अङ्ग (अक्ष नाभि अरा नेमि प्रधि) तथा उसके अन्त के दोनों भागों में अमृतादि (सकारादि) मन्त्र के अक्षरों का ध्यान करे ॥ ११ ॥

विमर्शिनी—यहाँ अमृतादि में आदि पद से प्रकृति आदि भुवनाध्वा का भी निर्देश समझना चाहिये ।

अमृतं = सकारः । प्रकृत्यादीत्यादिना भुवनाध्वा निर्दिश्यते ॥ ११ ॥

प्रकृत्यादिविशेषान्तैस्तत्त्वैः संग्रथितः प्रधिः ।
माया प्रसूतिस्त्रैगुण्यमपि नेमिः सुदर्शने ॥ १२ ॥
पदाध्वरचितारान्ता मन्त्रा अरसहस्रकम् ।
अरान्तो व्यूहमार्गस्थो नाभिस्तत्र कलामयी ॥ १३ ॥

प्रकृति से लेकर विशेष पर्यन्त सभी तत्त्वों से गुथित सुदर्शन की प्रति (चक्र के अन्त) का भाग है । माया, प्रसूति और त्रैगुण्य सुदर्शन में नेमि स्थनीय हैं । पदाध्व से रचित रान्त मन्त्राध्वा है । इसमें (सहस्रार) सहस्र अरों का समूह हैं । इन अरों के अन्त में रहने वाली अर्थात् व्यूह के मार्ग में रहने वाली नाभि कलामयी है ॥ १२-१३ ॥

विमर्शिनी—मन्त्राध्वानमाह—मन्त्रा इति ॥ १३ ॥

वर्णाध्वा ह्यक्षपर्यन्तो मध्ये शक्तिरहं परा ।
मदन्तः परमं ब्रह्म ग्राह्यग्राहकतोज्झितम् ॥ १४ ॥

वर्णाध्वा अक्ष पर्यन्त हैं । मध्य में रहने वाली मैं परा शक्ति स्वरूपा हूँ । मेरे बाद परमब्रह्म हैं, जो ग्राह्य और ग्राहकता से सर्वथा दूर रहता है ॥ १४ ॥

मध्ये तु चिन्तयेत् तारं तारिकां तद्बहिः स्मरेत्।
तद्बहिश्च क्रियाबीजं तद्बहिश्चादिमाक्षरम् ॥ १५ ॥

उस ब्रह्म और शक्ति के बीच तार (ॐ) का ध्यान करना चाहिये । उसके बाद तारिका (ह्रीं), उसके बाहर क्रिया बीज और उसके बाद आदि अक्षर का ध्यान करना चाहिये ॥ १५ ॥

इत्यक्षकुहरे ज्ञेयं क्रमाद्बीजचतुष्टयम् ।
नाभ्यरादौ तु सूर्यादीनिति पूर्वोक्तया दिशा ॥ १६ ॥

इस प्रकार अक्ष के कुहर (बीच-बीच के छिद्र में) उक्त (तार, तारिका, क्रियाबीज और आदि अक्षर इन) चारों बीजों को समझना चाहिये । नाभि और अराओं में पूर्वोक्त क्रम से सूर्य (हकारादि) को समझना चाहिये ॥ १६ ॥

ह्स्राकारस्वरूपो यः स सहस्रविधान्वयी ।
सूर्यकालानलद्वन्द्वैरप्रमेयादिभेदितैः ॥ १७ ॥
अमृतानलयुग्मैश्च तावद्भिस्तादृशैरपि ।
संहत्य भेदयेत् कादीनग्नीषोममयैः स्वरैः ॥ १८ ॥

सूर्य (हकार) अमृत (सकार) इन दोनों वर्णों में कालानल (रं) का योग कर अर्थात् ह्रं स्रं को अप्रमेयादि आकारादि सोलह स्वरों के साथ (हकार, सकार एवं यकार को छोड़कर) क से लेकर क्ष पर्यन्त इकतीस अक्षरों में अन्वित करे ॥ १७-१८ ॥

विमर्शिनी—सूर्येत्यादि । ह्रं ह्रां इत्यादिभिरित्यर्थः ॥ १७ ॥ अमृतेत्यादि । स्रं स्रां इत्यादिभिरित्यर्थः ॥ १८ ॥

सूर्यसोमानिलान् हित्वा त्रिंशतं चैकमेव च।
अष्टन्यूनसहस्रं तदक्षराणि स्युरञ्जसा ॥ १९ ॥
बीजाष्टकं तु तारादि ह्स्रयुक्तं भवेदथ।
ईशाद्यनुप्रदेशस्थं वह्नेर्वायुपदावधि ॥ २० ॥
दत्त्वा सूत्रयुगं चारीं चतुर्धा विभजेद्ध्रुवम् ।
पञ्च पञ्चाशतं कुर्यादराणां प्रतिभूमिकम् ॥ २१ ॥
सहस्रं तान्यराणि स्युस्तेषु वर्णसहस्रकम् ।
न्यसेत् प्रागादि सोमान्तं कोणसूत्रेषु वै ततः ॥ २२ ॥

इस प्रकार ३१×१६×२ कुल ९९२ संख्या पूरी हो जाती है । तदनन्तर ॐ आदि आठ बीजों को मिला देने से एक हजार की संख्या पूर्ण हो

जाती है । तदनन्तर अग्निकोण से वायुकोण तक नैर्ऋत्यकोण से ईशानकोण पर्यन्त सूत्र से रेखा कर उसका चार विभाग करे उन चारो विभागो में २५०,२५०, २५०, २५० के क्रम से १००० अराओं का निर्माण करे । इन्हीं अराओं में उक्त १००० वर्णों को पूर्व दिशा से प्रारम्भ कर उत्तर दिशा तक स्थापित करे ॥ १९-२२ ॥

विमर्शिनी—सूर्येत्यादि = हकारं सकारं यकारं च वर्जयित्वेत्यर्थः । अष्ट-न्यूनेति = ३१×१६×२ = ९९२ अक्षराणि ज्ञेयानि ॥ १९ ॥

पूर्वोक्तैः ९९२ अक्षरैः सह बीजाष्टकयोगे सहस्रमक्षराणि । अहिर्बुध्न्ये तु प्रकारान्तरेण सहस्राक्षरत्वमुक्तम् (२३.८२, ८३) ॥ २० ॥ चारी तिर्यग्गतिः । पञ्चभिर्गुणिता पञ्चाशत् २५० ॥ २१ ॥

न्यसेन्मन्त्राध्ववर्तिन्यश्चतस्रोऽग्निगुणाः क्रमात् ।
जया च विजया चैव अजिता चापराजिता ॥ २३ ॥

तदनन्तर चारों कोणों में मन्त्राध्वा के भीतर रहने वाली अग्नि के गुणों वाली १. जया, २. विजया, ३. अजिता और ४. अपराजिता—इन चार देवियों को भी स्थापित करे ॥ २३ ॥

विमर्शिनी—वर्तिन्यः; वर्तिनीरित्यर्थः । मन्त्रदेवता इत्युत्तरेणान्वयः ॥ २३ ॥

अग्न्यादीशानपर्यन्तसूत्रस्था मन्त्रदेवताः ।
अराणि पूरयन्ती सा नेमिः सौदर्शनी स्थिता ॥ २४ ॥

ये आग्नेयकोण से लेकर ईशान पर्यन्त कोणों की मन्त्र देवतायें हैं । समस्त अरों को पूर्ण करती हुई ये दिव्य देवियाँ सौदर्शनी नेमि में स्थित रहती है ॥ २४ ॥

अरनेम्यन्तरस्थानि सर्वास्त्राणि च वासव ।
प्रवर्तकानि पुरतः सर्वास्त्राणि पुरन्दर ॥ २५ ॥
निवर्तकानि पुरतः शिरोभिः शस्त्रचिह्नितैः ।
कृताञ्जलीनि दृप्तानि ध्यायेदुभयतः समम् ॥ २६ ॥

हे वासव ! हे पुरन्दर ! अराओं और नेमियों के मध्य में और आगे सभी अस्त्रों को स्थापित करे । जो निवर्तक (प्रवर्तनरहित) अस्त्र हैं उनके शिरोभाग को चिह्नित कर आगे स्थापित करना चाहिए तथा जो प्रवर्तक और निवर्तक दोनों प्रकार के उच्छृङ्खल अस्त्र हैं उनको अञ्जलि बाँधे हुये दोनों ओर स्थापित करना चाहिए ॥ २६ ॥

नेमिक्षेत्रे महालक्ष्मीः पूर्वस्यां दिशि संस्थिता ।
दक्षिणस्यां महामाया पश्चिमायां सरस्वती ॥ २७ ॥
सौम्यायां दिशि विज्ञेया महिषासुरनाशनी ।
तद्बहिः परितो देवा ब्रह्माद्यास्तु त्रिमूर्तयः ॥ २८ ॥

नेमि के क्षेत्र में पूर्व दिशा में महालक्ष्मी का निवास है । दक्षिण में महामाया, पश्चिम में सरस्वती तथा उत्तर दिशा में महिषासुरनाशिनी दुर्गा निवास करती हैं उस नेमि के बाहर सभी देवता तथा ब्रह्मादि तीनो मूर्तियों का निवास है ॥ २७-२८ ॥

तुर्यादिशक्तिसंयुक्ता अवतारास्ततः परम् ।
प्रकृत्यादिविशेषान्तं चतुर्विंशतिसंमितम् ॥ २९ ॥
प्रधिपूर्वे स्थितं भागे तत्त्वजातमनुक्रमात् ।
भवोपकरणा देवा मध्यमे परिनिष्ठिताः ॥ ३० ॥
पृथक् चरमभागस्था भौवना भुवनैः सह ।
ब्रह्माण्डोदरसंरूढा भूर्भुवःसुवरादिकाः ॥ ३१ ॥

उसके बाद जाग्रत्स्वप्न सुषुप्ति और तुरीया अवस्थाओं से युक्त चारों अवतारों का निवास है । इसके बाद प्रकृति से लेकर विशेष पर्यन्त २४ तत्त्व है । प्रधि के पूर्वभाग से उत्तर भाग तक क्रमशः ॐ क्रमशः स्थित रहते हैं । संसार की सृष्टि के उपकरणभूत समस्त देवता मध्य में स्थित रहते हैं । अन्तिम भाग में पृथक् रूप से ब्रह्माण्ड चतुर्दश भुवनों के साथ भौवन अधिष्ठित रहते हैं ॥ २९-३१ ॥

विमर्शिनी—तुर्यादीति = जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्याख्येत्यर्थः । अवताराः = व्यूहाः ॥ २९ ॥

मेर्वादयोऽखिलाः शैला गङ्गाद्याः सरितस्तथा ।
क्षीराब्ध्याद्याः समुद्राश्च द्वीपा जम्ब्वादिसंज्ञिताः ॥ ३२ ॥
वैमानिकगणाः सर्वे ग्रहाः सूर्यादयस्तथा ।
नक्षत्रतारकातारा भूतप्रेतादयस्तथा ॥ ३३ ॥
तिस्रस्त्रिंशच्च याः कोट्यस्त्रिदशानां पुरन्दर ।
समाश्रिताः प्रधिं तास्तु सरघा इव सारघम् ॥ ३४ ॥

उसी में ब्रह्माण्ड के भीतर रहने वाले भूभुर्वः स्वः एवं मेरु आदि समस्त पर्वत, गङ्गादि समस्त नदियाँ, क्षीरादि समुद्र, जम्बू संज्ञकादि समस्त द्वीप, वैमानिक गणदेवतागण, सूर्यादि समस्त ग्रह, नक्षत्र, तारका तारा एवं भूत-प्रेतादि

इस प्रकार हे पुरन्दर ! ३३ करोड़ देवता उस प्रधि के आश्रय से उसी प्रकार स्थित हैं, जैसे मधु के आश्रय से मधुमक्षिकायें निवास करती हैं ॥ ३२-३४॥

विमर्शिनी—तिस्र इत्यादि । त्रयस्त्रिंशदित्यर्थः । सरघाः = मधुमक्षिकाः । सारघं = मधु । त्रिदशानाम् = 'अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशाविबुधा सुराः' इत्यमरः ॥ ३४ ॥

अयुते द्वे सुरेशान ह्युभयोः प्रधिपार्श्वयोः ।
अग्नयः परिवर्तन्ते प्रवर्तकनिवर्तकाः ॥ ३५ ॥

हे सुरेशान ! उस प्रधि के दोनों ओर दो अयुत (बीस हजार) की संख्या में प्रवर्तक एवं निवर्तक अग्नियों का निवास जानना चाहिये ॥ ३५ ॥

कालानलसहस्राभाः स्फूर्जज्ज्वालाकुलाकुलाः ।
प्रवर्तकानलास्तत्र दैत्यदानवदाहिनः ॥ ३६ ॥
धीराः प्रशान्तगम्भीराः प्रसन्नास्तिग्मतेजसः ।
निवर्तका ममेच्छातः शमयन्ति प्रवर्तकान् ॥ ३७ ॥

उस प्रधि के पार्श्व में रहने वाली प्रलयाग्नि के समान स्फुरित होने वाली सहस्रों ज्वालाओं से देदीप्यमान दैत्य और दानवों को जलाने वाली प्रवर्तक अग्नियों को प्रसन्न, अत्यन्त तेजस्वी, प्रशान्त, गम्भीर और धीर निवर्तक अग्नियाँ मेरी इच्छा से शान्त किये रहती हैं ॥ ३६-३७ ॥

सुदर्शनमनोरन्ते यत्तत् सङ्कर्षणोद्भवम् ।
लाङ्गलास्त्रं महाघोरं सर्वसंहारकारकम् ॥ ३८ ॥
तिर्यक् स्थितस्य नेम्यन्ते तस्य पूर्वार्धसंभवाः ।
प्रवर्तकास्तदूर्ध्वांशसंभवास्तु निवर्तकाः ॥ ३९ ॥

सुदर्शन मन्त्र के अन्त में रहने वाला जो सङ्कर्षण से उत्पन्न लाङ्गल अस्त्र है वह महाघोर और सबका संहार करने वाला है । वह नेमि के अन्त में तिर्यक (टेढ़े) रूप से स्थित है । उसके पूर्वार्ध से उत्पन्न प्रवर्तक अग्नि है उसके ऊपरी अंश से उत्पन्न निवर्तक अग्नि है ॥ ३८-३९ ॥

विमर्शिनी—'फट्' मन्त्र को लाङ्गलास्त्र कहते हैं । (लाङ्गलास्त्रम्; फट् मन्त्रः) ॥ ३८ ॥

अग्नीषोममया एते प्रवर्तकनिवर्तकाः ।
अग्नीषोममयास्त्रोत्था तदुत्था चास्त्रसंततिः ॥ ४० ॥

ये प्रवर्तक और निवर्तक अग्नि अग्निषोम स्वरूप वाले हैं । समस्त अस्त्रों

की परम्परायें इन्हीं से उत्पन्न हुई हैं ॥ ४० ॥

द्वेऽयुते शृणु मूर्तीस्त्वं वह्नीनां विविधात्मनाम् ।
याः स्मृत्वा पुरुषो घोरमापदर्णवमुत्तरेत् ॥ ४१ ॥

हे इन्द्र ! सुनिए । इन विविध स्वरूपों वाले अग्नियों की २० हजार मूर्तियाँ हैं । जिसके स्मरण करते रहने मात्र से पुरुष घोर से घोर सङ्कटों से पार हो जाता है ॥ ४१ ॥

विमर्शिनी—द्वे अयुते इति छेदः । सन्धिरार्षः ॥ ४१ ॥

अशेषभुवनाधारश्चतुर्गत्यूर्जबिन्दुमान् ।
पिण्डोऽयं तारकः पूर्वं वह्नीनां वपुरुच्यते ॥ ४२ ॥
अमृताधारवह्न्यूर्जबिन्दुमांस्तारपूर्वकः ।
पिण्डो निवर्तकादीनां दिव्या तनुरुदीर्यते ॥ ४३ ॥

अशेषभुवनाधार र, चतुर्गति य, ऊर्ज ऊकार बिन्दु को युक्त करने से (घ्रूंर्यूं) यह तारक पिण्ड पूर्वप्रवर्तक अग्नि का शरीर कहा गया है । अमृताधार वकार, वह्नि रेफ और ऊर्ज ऊकार इन्हें बिन्दु से युक्त करने पर जो व्रूं पिण्ड बनता है वह निवर्तक अग्नियों का दिव्य शरीर कहा गया है ॥ ४२-४३ ॥

विमर्शिनी—अशेषभुवनाधारः = रेफः । चतुर्गतिः = यकारः । ऊर्जः = ऊकारः ॥ ४२ ॥ अमृताधारः = वकारः ॥ ४३ ॥

प्रधिं कालपुमव्यक्तव्यक्तसप्तकरूपतः ।
विभज्य दशधा तत्तद्रूपवर्णपुरोगमैः ॥ ४४ ॥
प्राग्भागादिक्रमेणैव स्वरपूर्वैः स्वरान्तिमैः ।
सूर्यानलयुगैः काद्यैरष्टाभिर्बीजनायकैः ॥ ४५ ॥
युक्तास्तारनमोऽन्तास्ताः प्रवर्तकतनूर्लिखेत् ।
अमृताग्नियुगैरेव निवर्तकतनूस्तथा ॥ ४६ ॥

तीनों काल, स्त्री और पुरुष, व्यक्त और अव्यक्त इन सात रूपों से आगे रहने वाले, उन-उन रूपों और उन-उन वर्णों से प्रधि का दश विभाग कर पूर्वादि दिशाओं के क्रम से ७ पूर्व स्वरों से तथा ७ अन्तिम स्वरों से, सूर्य (सकार) अनल (रकार) (स्र) इन दो से । कादि वर्णों से तथा आठ बीज मन्त्रों का योग करे । फिर उसके आदि में ॐ और अन्त में नमः लगावे । इस प्रकार प्रवर्तक अग्नि का शरीर लिखे । इसी प्रकार स्र से युक्त कादि वर्णों को तथा आठ बीजों के आदि में ॐ और अन्त में नमः लगाकर निवर्तनक शरीर को लिखें ॥ ४४-४६ ॥

एकैकाग्नेः शिखाः सप्त घोराः शान्ताश्च संस्मरेत् ।
आदितः सप्त युग्माद्याः स्वरसंभेदिताः क्रमात् ॥ ४७ ॥

एक-एक अग्नियों की हिरण्या, गगना और रक्ता आदि सात-सात शिखायें हैं जो घोर और शान्त स्वरूप हैं । आदि से अन्त पर्यन्त उन सात शिखाओं को स्वर के दो-दो अक्षरों में लगाकर उनका स्मरण करे ॥ ४७ ॥

सूर्याग्नियुगसंभूता अमृताग्नियुगोत्थिताः ।
वर्गान्तश्च प्रधानश्च सिद्धिदो वामनस्तथा ॥ ४८ ॥
श्वेतश्च तत्त्वधारश्च झषः शाश्वत एव च ।
छान्दःपतिस्तथा चक्री कालाद्यर्णाः सबिन्दुकाः ॥ ४९ ॥

सूर्याग्नियुग ह्रः, अमृताग्नियुग स्त्रः, वर्गान्त हकार, प्रधान मकार, सिद्धिद भकार, वामन वकारः, श्वेत फकार, तत्त्वधार अकार, झष झकार, शाश्वत जकार, छन्दःपति छकार, चक्री चकार, काल मकार बिन्दु से युक्त (हं मं इत्यादि) इन-इन वर्णों का स्मरण करे ॥ ४८-४९ ॥

विमर्शिनी—सूर्याग्नियुगं ह्र इति । अमृताग्नियुगं स्त्र इति । वर्गान्तः = हकारः । प्रधानः = मकारः । सिद्धिदः = भकारः । वामनः = बकारः ॥ ४८॥ श्वेतः = फकारः । तत्त्वधारः = जकारः । झषः = झकारः । शाश्वतः = जकारः । छन्दःपतिः = छकारः । चक्री = चकारः । कालः = मकारः ॥ ४९॥

नाभ्यरान्तस्थसूत्रस्थरूपाश्चत्वार ऐश्वराः ।
अरेषु परितो देवाः केशवाद्या व्यवस्थिताः ॥ ५० ॥

नाभि से अरान्त चार वर्ण ईश्वर स्वरूप हैं । अरों के चारों ओर क्रमशः केशवादि देवता व्यवस्थित रूप से रहते हैं ॥ ५० ॥

स्वैः स्वैश्चिह्नैः सरोजाद्यैर्ध्येया दामोदरान्तिमाः ।
अरनेम्यन्तसूत्रस्थाः पद्मनाभादयोऽखिलाः ॥ ५१ ॥
सर्वे समन्विता देवाः स्वाभिः स्वाभिश्च शक्तिभिः ।
प्राग्भागे कमला देवी दक्षिणे कीर्तिरुज्ज्वला ॥ ५२ ॥
जया तु पश्चिमे भागे माया भागे तथोत्तरे ।
प्रत्येकं कोटिसंख्याभिः शक्तिभिः परिवारिताः ॥ ५३ ॥
अधितिष्ठन्ति तेऽभीक्ष्णं सहस्रारं सुदर्शनम् ।
कालचक्रमनाद्यन्तमस्य तेजः प्रकीर्तितम् ॥ ५४ ॥

सरोजादि चिन्हों से युक्त अन्तिम दामोदर पर्यन्त उन-उन देवताओं का ध्यान करे । अरा नेमि अन्त में पद्मनाभादि देवता एकत्रित रूप से

अपनी-अपनी शक्तियों के साथ स्थित रहते हैं। पूर्वभाग में कमला देवी, दक्षिण में उज्ज्वला कीर्ति, पश्चिम में जया देवी, उत्तर में माया देवी प्रत्येक करोड़ों-करोड़ों अपनी-अपनी शक्तियों के साथ सहस्रों अरा वाले सुदर्शन को चारों ओर से घेर कर स्थित हैं। यह काल स्वरूप चक्र अनादि और अनन्त है, जिसका तेज पहले कह आये हैं ॥ ५१-५४ ॥

विमर्शिनी—शक्तयो लक्ष्मीकीर्त्यादयः अत्रैव विंशाध्याये उक्ताः ॥ ५२ ॥

संवत्सरर्तुमासार्धमासाहोरात्रसंज्ञितैः ।
अक्षनाभ्यरनेभ्यन्तैः क्लृप्तपञ्चविभक्तिकम् ॥ ५५ ॥

अक्ष नेमि और अराओं के अन्त में संवत्सर ऋतु मास पक्ष और दिन-रात इन कालचक्र के पाँचों विभागों की स्थिति है ॥ ५५ ॥

विमर्शिनी—विभक्तिर्विभागः ॥ ५५ ॥

ध्रियन्ते कालचक्रेण पुमाद्याः पञ्च पञ्च च ।
सहस्रारेण चक्रेण नेम्यरप्रधिशोभिना ॥ ५६ ॥
ध्रियन्ते च षडध्वानो वर्णतत्त्वकलादयः ।
सर्वतत्त्वमयं देहं वैष्णवं पुरुषोत्तमम् ॥ ५७ ॥
धार्यते भ्राम्यते चैव यन्त्रारूढमिदं परम् ।
नाभिकन्दस्थितेनैव सहस्रारेण नेमिना ॥ ५८ ॥

यह कालचक्र पुरुष से लेकर पृथ्वी पर्यन्त २५ तत्त्वों को धारण करता है। नेमि, अर और प्रधि से शोभित होने वाला यह सहस्रार कालचक्र, वर्ण तत्त्व, कला, मन्त्र, भुवन और पद वाले षडध्वा मन्त्रों को धारण करता है। वृत्त क्या है ? सर्वतत्त्वमय पुरुषोत्तम विष्णु का यह साक्षात् शरीर है। नाभि के कन्द के रूप में स्थित नेमि से युक्त यह सहस्रार चक्र समस्त विश्व को अपने में यन्त्रारूढ़ कर धारण करता है और उसको घुमाता है ॥ ५६-५८ ॥

विमर्शिनी—पञ्च पञ्च; पञ्चविंशतिः। पुमांसमारभ्य पृथिवीपर्यन्ता मादिकान्त-वर्णदेवताः ॥ ५६ ॥

चक्रेणानेन हन्यन्ते रक्षोदैतेयदानवाः ।
नानामन्त्रात्मना तेन तदन्तः सुस्थितेन च ॥ ५९ ॥
विध्वंसयति शत्रूंश्च स्मृतमात्रमनन्तरम् ।
अभ्यस्यमानमनिशं सहस्रारमिदं नरैः ॥ ६० ॥

यह चक्र दैत्यों और दानवों का विनाश करता है और अपने में स्थित अनेक मन्त्रों के मनुष्यों द्वारा स्मरण मात्र किये जाने पर तथा अभ्यास (जप)

किये जाने पर शत्रुओं का विनाश करता है ॥ ५९-६० ॥

क्लेशकर्माशयान् दोषानशेषान् क्षपयेत् क्षणात्।
बीजं पिण्डं च संज्ञां च मूर्तिं चेति चतुष्टयम् ॥ ६१ ॥
पुष्यत्येतत् सहस्रारं चक्रमाद्यन्तवर्जितम् ।
सूर्येन्दुवह्निभिर्व्याप्य विश्वमेतच्चराचरम् ॥ ६२ ॥

यह क्लेश, कर्म तथा आशय में स्थित दोषों को क्षण भर में नष्ट कर देता है । बीज, पिण्ड, संज्ञा और मूर्ति रूप से चार रूपों में रहने वाला एवं आद्यन्तवर्जित यह सहस्रार सूर्य अग्नि और चन्द्रमा स्वरूपों से व्याप्त होकर समस्त चराचर विश्व का पोषण करता है ॥ ६१-६२ ॥

आग्नेयी प्रथमा मूर्तिःशक्तिर्दिव्या क्रियाह्वया ।
सहस्रारस्वरूपेण सृजत्यवति हन्ति च ॥ ६३ ॥

इसकी प्रथमा आग्नेयी मूर्ति दिव्या एवं क्रियाह्वया शक्ति है जो सहस्रार स्वरूप से जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं संहार करती है ॥ ६३ ॥

सूर्येन्दुवह्निभिर्व्यूहैर्व्यूह्येयं हि क्रियाभिधा ।
उदिता ते सुरेशान भूयश्चैनां निबोध मे ॥ ६४ ॥

सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि रूप व्यूहों से व्यूहित होने वाली यह शक्ति क्रियाशक्ति नाम वाली है । हे सुरेश्वर ! जिसका वर्णन मैंने कर दिया । अब आगे भी इसके विषय में सुनिए ॥ ६४ ॥

इत्येवं कथितो व्यूहः सूर्यसोमाग्निरूपकः ।
व्यूहिनीं तामिमामद्य क्रियाशक्तिं निबोध मे ॥ ६५ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे क्रियाशक्तिप्रकाशो नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार सूर्य, सोम, अग्नि रूप व्यूह का कथन मैंने किया । अब व्यूह वाली इस क्रिया शक्ति के विषय में सुनिए ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के क्रियाशक्तिप्रकाश नामक तीसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

सुदर्शनप्रकाशः

सुदर्शनसंज्ञामन्त्रमहिमा

या सा षाड्गुण्यतेजःस्था क्रियाशक्तिः प्रकाशिता ।
आग्नेयं रूपमाश्रित्य सा धत्ते पौरुषं वपुः ॥ १ ॥

श्री ने कहा—हे इन्द्र ! षाड्गुण्य में उसमें भी तेज में प्रधानरूप से रहने वाली क्रियाशक्ति को मैने प्रकाशित कर दिया । वह क्रियाशक्ति आग्नेय शरीर धारण कर पुरुष स्वरूप धारण करती है ॥ १ ॥

विमर्शिनी—षाड्गुण्ये तत्रापि तेजसि प्रधानतयावस्थितेत्यर्थः ॥ १ ॥

सर्वास्त्रशस्त्रसंस्यूतं सूर्यसोमाग्निमूलकम् ।
महत् सुदर्शनं नाम नानारूपोपशोभितम् ॥ २ ॥

उस आग्नेय शरीरधारी पुरुष का नाम सुदर्शन है जिसमें सभी प्रकार के शस्त्र-अस्त्र अनुस्यूत (ग्रथित) रहते हैं । उनका मूल सूर्य, सोम तथा अग्निमय है और वह अनेक रूपों से शोभित है ॥ २ ॥

विमर्शिनी—सुदर्शनस्य सर्वशस्त्रास्त्रनिबिडत्वमहिर्बुध्न्यसंहितायां विंशाध्याये उक्तम् । सहस्रारेत्यक्षरस्वरूपमभिप्रेत्य सूर्यसोमाग्निमूलकत्वोक्तिः ॥ २ ॥

तस्य मध्ये स्थिता शक्तिः पौरुषीं तनुमास्थिता ।
सौम्याग्नेयस्वरूपेण तत्तत्कालव्यवस्थया ॥ ३ ॥

उसके मध्य में पुरुष का रूप धारण किये हुये एवं तत्-तत् काल की व्यवस्था से सौम्य अग्नि के स्वरूप से शक्ति स्थित रहती है ॥ ३ ॥

विमर्शिनी—यहाँ भक्त संरक्षणार्थ सौम्य रूप तथा दुष्ट नियमन के लिये अग्नि स्वरूप को मूल में स्थित बताया गया है ॥ ३ ॥

भक्तपरिपालनदुष्टशिक्षणरूपकार्यमनुरुध्य सौम्याग्नेयस्वरूपत्वोक्तिः ॥ ३ ॥

पुरस्ताद्दर्शितस्तस्या वाचकस्ते चतुर्विधः ।
तत्र संज्ञामयो मन्त्रो भूयसा बलवत्तरः ॥ ४ ॥

बीज, पिण्ड, संज्ञा और पद स्वरूप से हमने उसके ४ रूपों को पहले कह दिया है । उसमें संज्ञामय मन्त्र सबसे अधिक बलवान है ॥ ४ ॥

विमर्शिनी—बीजपिण्डसंज्ञापदरूपेण चातुर्विध्यम् ॥ ४ ॥

तस्य व्याख्यामिमां शक्र गदन्त्या मे निशामय ।
या सा सोमात्मिका शक्तिरुन्मेषः प्रथमो हरेः ॥ ५ ॥

हे शक्र ! उनकी इस प्रकार की जो व्याख्या मैं कह रही हूँ, आप उसे सुनिए । जो यह सोमात्मिका सकाररूपा शक्ति है वह विष्णु का प्रथम उन्मेष है ॥ ५ ॥

मूलशक्तिरहं श्रीः सा प्रथमाक्षरसंस्थिता ।
अमृता तृप्तिरूपा च सोमात्मा चाखिलेश्वरी ॥ ६ ॥

उसकी मूल शक्ति श्री स्वरूपा मैं इस प्रथमाक्षर (सकार में) में स्थित रहती हूँ, वही अमृता है । तृप्तिरूपा है, सोमात्मा है और अखिलेश्वरी है । यहाँ तृप्ति और सोम शब्द से दो बार सकार का स्वरूप कहा गया है ॥ ६॥

विमर्शिनी—प्रथमाक्षरः सकारः । तस्यामृतादिरूपत्वमाह—अमृतेत्यादिना । तृप्तिसोमावपि सकारपरौ ॥ ६ ॥

अमृतीकरणं कुर्यात् सर्गस्येन्दुकलास्थिता ।
शिरःपद्मादयो मन्त्राः परमेश्वरयुक्तया ॥ ७ ॥
अनया सृतया कुर्यात्तृप्तिं संसिद्धिमेव च ।
सृष्टिकृत्संयुता सेयं जीवशक्तिः सनातनी ॥ ८ ॥

इन्द्रकला के रूप में स्थित जो शिरः पद्मादि मन्त्र हैं उसे परमेश्वर (अः) से संयुक्त हो जाने पर सनातनी जीवशक्ति (हः) बन जाती है ॥ ७-८ ॥

त्रैलोक्यैश्वर्यदोपेता वायुवेश्माक्षरस्थिता ।
ताराकारा रिपोर्मूर्ध्नि चिन्त्योच्छेदनसिद्धये ॥ ९ ॥

पुनः त्रैलोक्यैश्वर्यद (अः) से संयुक्त वायुवेश्म (ह) जो ॐकार स्वरूपा है।

शत्रु के शिर का छेदन करने के लिये उसका स्मरण करना चाहिये ॥ ९ ॥

अप्रमेयोपगूढाया अग्नीषोममयीजुषः ।
अस्याः शक्तेः समुद्भूतं सूक्तं पौरुषमुज्ज्वलम् ॥ १० ॥

अप्रमेय (अकार) से उपगूढ़ अग्नीषोमात्मक 'स्त्र' इस शक्ति के प्रथम अक्षर सकार से उज्ज्वल पौरुष सूक्त का प्रादुर्भाव हुआ है ॥ १० ॥

विमर्शिनी—अस्या इति । प्रथमाक्षररूपाया इत्यर्थः । सकारात् पौरुषं सूक्तमुद्भूतमित्यर्थः । तथा चाहिर्बुध्न्यसंहिता—

"अक्षरादादिमादस्याः सूक्तं पौरुषमुद्गतम् ।
द्वितीयाक्षरसंभूतं श्रीसूक्तं नाम यन्मुने ॥" (१८.३३) इति ॥ १०॥

एतदादीनि सूक्तानि सहस्रमृषयो विदुः ।
नित्यामाप्यायते मन्त्रः सोऽयमग्निजुषा मया ॥ ११ ॥

यह सूक्त सभी सूक्तों में प्रथम है । महर्षियों ने इसके वाद ही सहस्रों सूक्तों की रचना की है । अग्नि स्वरूप धारण करने वाले मेरे द्वारा यह मन्त्र नित्य आप्यायित (संवर्द्धित) होता रहता है ॥ ११ ॥

तत्तत्कार्यजुषा तत्तद्वर्णशक्तित्रयीजुषा ।
अनया यन्न साध्येत न तदसित जगत्त्रये ॥ १२ ॥

तत्-तत् कार्यों में उपयोग के योग्य तद्-तद् वर्ण वाली सूर्य, सोम, अग्नि रूपा इस तीन शक्ति से ऐसा कोई भी जगत् में कार्य नहीं है जो सिद्ध न हो ॥ १२ ॥

विमर्शिनी—सूर्य, सोम एवं अग्नि—ये तीन शक्तियाँ हैं । शक्तित्रयी सूर्यसोमाग्निशक्तयः ॥ १२ ॥

सूते सा सकलाः शक्तीरनुजानाति ताः पुनः ।
संहरन्ती पुनश्चैता इति च समर्यते ततः ॥ १३ ॥

यही समस्त शक्तियों की जन्मदात्री है । पुनः यही उसकी रक्षा भी करती है । तदनन्तर उन्हें अपने में समेट कर संहार भी करती है । ऐसा कहा गया है ॥ १३ ॥

स्वमुन्मेषमधिष्ठाय परमात्मा स शक्तिराट् ।
उदितो जगतोऽर्थाय हेतिदेवः सनातनः ॥ १४ ॥

वह शक्तिराट् परमात्मा सनातन हेतिदेव (सभी शस्त्रों के देवता सुदर्शन)

स्वयं अपने इस उन्मेष पर स्थित होकर संसार के कल्याण के लिये उदित होते हैं ॥ १४ ॥

विमर्शिनी—हेतिदेवः = सुदर्शनः ॥ १४ ॥

सूर्यश्च भोक्तृतां प्राप्य प्राणयन् प्राण इष्यते ।
आत्मानं दर्शयत्येष त्रैलोक्यैश्वर्यदान्वितः ॥ १५ ॥

सूर्य भोक्ता बनकर जीव को अनुप्राणित करने के कारण साक्षात् प्राण (हकार) स्वरूप है । यह त्रैलोक्य-ऐश्वर्यद (अ) से युक्त होकर अपने को (ह) के स्वरूप से प्रदर्शित करता है ॥ १५ ॥

विमर्शिनी—सूर्यः हकारः । प्राणोऽपि स एव ॥ १५ ॥

हृत्पुण्डरीकमध्यस्थं यं विचिन्वन्ति योगिनः ।
यथावद् ध्यायतो वेध्यं मुक्तेषोर्वेगवत्तया ॥ १६ ॥

योगी लोग इसी प्राण स्वरूप हकार का हृदय-कमल के भीतर ध्यान करते हैं । मुक्ति की इच्छा करने वाले अत्यन्त वेग के साथ इस प्रचण्ड तेज वाले हकार का यथावत् ध्यान करते हैं ॥ १६ ॥

विमर्शिनी—मुक्तस्येत्यादि । अतिवेगेनेत्यर्थः ॥ १६ ॥

प्रकर्षेणोन्नयन् प्राणान् प्राण इत्येष शब्द्यते ।
इन्दुमण्डलसंवीतो व्यापिमानप्रमेयवान् ॥ १७ ॥
जिह्वामूलस्थितो ध्यातो वाक्प्रवृत्तिं नियच्छति ।

यतः वह सब में प्राण शक्ति का सञ्चार करता है । इसलिये उसे प्राण (हकार) कहते हैं । इन्द्र मण्डल अनुस्वार से आच्छादित व्यापिमान् अप्रमेयवान् (अं) से युक्त यह हं वर्ण को जिह्वामूल में स्थित कर ध्यान करने से साधक वाक्पतित्त्व प्राप्त कर लेता है ॥ १७-१८- ॥

अंमण्डले स्थितो ध्यातः स एव हि सुधां स्रवन् ॥ १८ ॥
निर्विषीकरणं ध्यातः करोति जगतामपि ।
रामोपगूढादस्माद्धि श्रियः सूक्तं समुद्गतम् ॥ १९ ॥

अं मण्डल में स्थित इसका ध्यान करने से यह अमृत को चुआता हुआ सारे संसार का निर्विषीकरण करता है । राम वर्ण से उपगूढ़ अर्थात् ईकार सहित इस वर्ण से श्री सूक्त की उत्पत्ति हुई है ॥ -१८-१९ ॥

विमर्शिनी—व्यापी = अनुस्वारः ॥ १७ ॥ जिह्वामूलेति = कण्ठस्थानम् ।

अमण्डलमनुस्वारः ॥ १८ ॥ रामोपगूढादिति । इकारसहितादित्यर्थः ॥ १९ ॥

एतदादीनि सूक्तानि सहस्रमृषयो विदुः ।
तत्तत्कालजुषा तत्तद्वर्णशक्तित्रयीजुषा ॥ २० ॥

इस सूक्त के बाद ही उस-उस काल के अनुसार और उन-उन वर्णो के अनुसार सहस्रों सूक्तों का निर्माण ऋषियों ने किया है ॥ २० ॥

अनेन यन्न साध्येत न तदस्ति जगत्त्रये ।
हन्यते सकलं लोकं गमयत्यमलं पदम् ॥ २१ ॥

तीनों जगत् में ऐसा कोई कार्य नहीं है जो इससे सिद्ध न हो । यह सारे लोकों का हनन करता है तथा लोगों को अमल पद में पहुँचाता है ॥ २१ ॥

विमर्शिनी—ग्रन्थकार 'हन् हिंसागत्यो', इस धातु का हिंसा और गमन दो अर्थ मन में रखकर इसका निर्वचन करते हैं ।

हन्यत इत्यादिना हकारनिर्वचनं क्रियते । "हन हिंसागत्योः" इति धात्वर्थमभिप्रेत्याह—गमयतीति ॥ २१ ॥

त्याजयत्यखिलं क्लेशं गम्यते योगचिन्तकैः ।
हेत्येवं कथ्यते सद्भिरेवं निर्वचनस्थितैः ॥ २२ ॥

साधक को सम्पूर्ण क्लेशों से छुड़ाता है, मुक्त करता है तथा योगचिन्तकों से गम्य है । इसलिये सज्जन लोग इसे 'ह' कहते हैं । यह 'ह' के निर्वचन की स्थिति कही गई ॥ २२ ॥

अशेषभुवनाधारा सङ्कल्पप्रबलीकृता ।
प्रत्यभिज्ञायते सैव शक्तिर्या परमात्मनः ॥ २३ ॥

अशेषभुवनाधार (रेफ) सङ्कल्प से प्रबल की जाने वाली जो परमात्मा की शक्ति है, वह इसी से प्रत्यभिज्ञात होती है ॥ २३ ॥

विमर्शिनी—अशेषभुवनाधारः = रेफः ॥ २३ ॥

सरत्यस्याश्चलं सर्वं स्त्रियते सकलैः सदा ।
पृथिवी संस्थिता सेयं स्तम्भे सृत्या नियुज्यते॥ २४ ॥

अब 'स्त्रा' इसका निर्वचन करते हैं—सरति गच्छति अनयेति स्त्रा सृगमने धातु से निष्पन्न है । इसकी शक्ति से सभी वस्तु चलते हैं और गमन करते हैं अथवा (स्त्रियते गम्यते प्राप्यते अनया इति स्त्रा) जो सारे वस्तुओं को प्राप्त कराती है वह स्त्रा है । अथवा सृत्याः गमनात् पृथ्व्यादौ नियुज्यते अर्थात् जो

गमन को रोक कर पृथ्व्यादि रूप खम्भे में बाँध कर निश्चल कर देती है । अतः स्तब्ध बनकर नियन्त्रित कर देती है वह 'स्रा' है ॥ २४ ॥

विमर्शिनी—स्रा इत्यस्य निर्वचनमाह—सरतीति । सरति = गच्छतीत्यर्थः । स्रियते = गम्यते प्राप्यत इत्यर्थः । सृत्याः गमनात् स्तम्भे स्तम्भने निश्चलत्व इति यावत् । गमनात् निवर्त्य स्तब्धतया नियम्यत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

सहो नाम बलं तत्र रमते तत् सहस्रधा ।
सहस्रति सहस्रा स्यादग्नीषोमात्मनो मम ॥ २५ ॥

अब 'सहस्रा' इस समुदाय का प्रकारान्तर से निर्वचन करते हैं—बलार्थक सहस् उप पद रम् धातु से निष्पन्न र का संयोजन करने से 'सहस्रा' रूप निष्पन्न होता है । सहस्रतीति सहस्रा अर्थात् जो बलपूर्वक रमण करे, उसे सहस्रा कहते हैं । यह अग्नीषोमात्मक मेरा स्वरूप हैं ॥ २५ ॥

विमर्शिनी—सहस्रा इति समुदायस्य प्रकारान्तरेण निर्वचनमर्थं चाह—सह इत्यादि । सहस्शब्दात् बलार्थकादुपरि रमधातोर्निष्पन्नस्य र इत्यस्य संयोजने सहस्रेति रूपम् ॥ २५ ॥

अग्नीषोममयी सा मे शक्तिः सर्वक्रियाकरी ।
सुसङ्कल्पसमिद्धा सा तेजसां राशिरूर्जिता ॥ २६ ॥
संप्राप्यैवानलं भावं कालपावकतां गता ।
रेत्येवं केवली भूत्वा ज्वलत्यविरतोदया ॥ २७ ॥

मेरी अग्नि-सोममयी जो शक्ति, सर्वकार्यकरी, सुसङ्कल्पसिद्धा एवं देदीप्यमान तेजों की राशि है वही अनल भाव को प्राप्त कर काल-पावकता अर्थात् रेफ रूपता को प्राप्त हुई है । वही निरन्तर उदीयमान होकर जलती रहती है ॥ २६-२७ ॥

विमर्शिनी—र इत्यस्य निर्वचनमाह—अग्नीत्यादिना । कालपावकतां = रेफरूपताम् । केवलीति शक्तिविशेषणम् ॥ २६ ॥

परमेश्वरभूता सा परमाश्चर्यकारिणी ।
र इत्येव महाशक्तिर्मदीयाद्या क्रियाह्वया ॥ २८ ॥

वही परमेश्वर का स्वरूप है और परमाश्चर्यकारिणी है । यह मात्र 'र' रूपा शक्ति मेरी आद्या क्रिया नाम की शक्ति है ॥ २८ ॥

संख्यानन्त्यं सहस्रं स्यादरानन्त्यं तदुच्यते ।
वर्मास्त्रयोः स्वरूपं च दर्शितं ते पुरन्दर ॥ २९ ॥

अब उसका अन्य रूप से भी निर्वचन करते हैं—सहस्र शब्द का अर्थ संख्या का आनन्त्य है इसमें भी अनन्त अरायें हैं । इसके वर्म और अस्त्र का स्वरूप, हे पुरन्दर ! मैंने पहले आपसे कह दिया है ॥ २९ ॥

विमर्शिनी—निर्विचनान्तरमाह—संख्येत्यादिना । सहस्राण्यनन्तानि अराणि यस्येति समासः ॥ २९ ॥

ध्रुवश्च प्रणवोऽस्यादिः पूर्वमेव निरूपितः ।
एवमेव महामन्त्रः शब्दब्रह्मोद्गतो रसः ॥ ३० ॥

इसके आदि में ध्रुव (प्रणव) लगाना चाहिये । यह भी पूर्व में निरूपित कर दिया गया है । इस प्रकार यह महामन्त्र शब्दब्रह्म से उत्पन्न हुआ 'रस' है ॥ ३० ॥

विमर्शिनी—ध्रुवः = प्रणवः ॥ ३० ॥

आथर्वणी महाशक्तिः क्रियाशक्तेः प्रिया तनुः ।
त्रयीसारो ह्यथर्वाख्या पञ्चपर्वा महाश्रुतिः ॥ ३१ ॥

यह अथर्ववेद प्रतिपादित महाशक्ति क्रियाशक्ति का अत्यन्त प्रिय शरीर है अथर्वा नामक शक्ति सभी वेदों का सार है । यह पञ्चपर्वा और महाश्रुति है ॥ ३१ ॥

विमर्शिनी—१. नक्षत्रविधान, २. विधिविधान, ३. संहिता, ४. शान्ति एवं ५. रूपविधान—ये पाँच कल्प कहे गए हैं ।

पञ्चपर्वेति । नक्षत्रविधानविधिविधानसंहिताशान्तिरूपपञ्चकल्पेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

मन्त्रेण सूयतेऽनेन सारेणेव वनस्पतिः ।
अस्य त्वङ्गविधानज्ञाः षडङ्गानि प्रचक्षते ॥ ३२ ॥

जैसें पृथ्वी के सार से वनस्पतियाँ बढ़ती है उसी प्रकार इस मन्त्र से सृष्टि अभिवर्द्धित होती है । इसके अङ्गविधान को जानने वाले विद्वान् इसके छह अङ्ग कहते हैं ॥ ३२ ॥

विमर्शिनी—भूसारेण वृक्ष इवाभिवृद्धेत्यर्थः । षडङ्गानि हृदयादिषडङ्गानि ॥ ३२॥

सुदर्शनगायत्रीमन्त्रः

गायत्रीमपि चक्राख्यां प्राकारं चाग्निसंज्ञितम् ।
गोपनाद्दरुणोत्सेधात् सोदयादमृतात्तथा ॥ ३३ ॥
ऊर्ध्वं चक्राय च स्वाहा हृदादिस्तु शिखावधि ।

सूर्यज्वालापदाच्चोर्ध्वं माहयुक्तात् सुदर्शनात् ॥ ३४ ॥
ऊर्ध्वं चक्राय च स्वाहा वर्माद्योऽस्त्रान्तको विधिः ।

इसकी चक्र नाम की गायत्री है । अग्निसंज्ञक प्राकार है । गोपन (आकार) से संयुक्त वरुण वकार (वा), उसके बाद उदय उकार, उससे संयुक्त सकार 'सुं', तदनन्तर ऊर्ध्वं चक्राय च स्वाहा यह हृदय शिर और शिखा का मन्त्र है । 'सूर्यज्वाला' पद के बाद महायुक्त सुदर्शनाय (सूर्यज्वाला महा-सुदर्शनाय के बाद ऊर्ध्वं चक्राय स्वाहा) वर्मादि-कवच नेत्र और अस्त्र का मन्त्र है (वां हृदयाय नमः, सुं शिरसे स्वाहा, ऊर्ध्वं चक्राय च स्वाहा, शिखायै नमः, सूर्यज्वालायै हुं, कवचाय, महासुदर्शनाय वौषट्, नेत्रयोः ऊर्ध्वं चक्राय च स्वाहा अस्त्राय फट्) इस प्रकार षडङ्ग न्यास करे ॥ ३३-३५- ॥

विमर्शिनी—गोपनः = आकारः । वरुणः = वकारः । उदय = उकारः । अमृतः = सकाकरः । वां सुं इति मन्त्रः ॥ ३३ ॥ हृदादिः हृदयशिरःशिखारूपः। महायुक्तेति । महासुदर्शनायेति विवक्षितम् ॥ ३४ ॥ वर्माद्य इति । कवचनेत्रास्त्राणि ।

नमश्चक्राय तस्यान्ते विद्महेऽसौ चतुर्युगः ॥ ३५ ॥
ज्वालाय च सहस्रान्ते धीमहीति नवार्णकः ।
तन्नः प्रचोदयान्मध्ये चक्र इत्यष्टवर्णकः ॥ ३६ ॥

अब गायत्री मन्त्र कहते हैं । 'नमश्चक्राय विद्महे' यह प्रथम चरण आठ अक्षर का मन्त्र है । 'सहस्रज्वालाय धीमहि' यह नव अक्षर का द्वितीय चरण है । 'तन्नश्चक्रः प्रचोदयात्' यह आठ अक्षर का तृतीय चरण है ॥ -३५-३६ ॥

विमर्शिनी—चतुर्युगः; अष्टाक्षरः । 'नमश्चक्राय विद्महे' इति ॥ ३५ ॥ 'सहस्रज्वालाय धीमहि । तन्नश्चक्रः प्रचोदयात्' इति मन्त्रः ॥ ३६ ॥

सुदर्शनमुद्रा

मुष्टिं वितर्जनीं कृत्वा तर्जनीं तर्जसंस्थिताम् ।
परितो भ्रामयेद्वह्निं ध्यायन् प्राकारसंस्थितम् ॥ ३७ ॥

तर्जनी को छोड़कर मुट्ठी बाँधे तर्जनी को तर्जनी मुद्रा में स्थित रखे । इस प्रकार की मुद्रा बनाकर प्राकार के भीतर रहने वाली अग्नि के चारों ओर घुमावे ॥ ३७ ॥

अन्योन्यसंमुखे पाणितले वै दक्षिणोत्तरे ।
कनिष्ठाङ्गुष्ठयोरग्रे श्लिष्टे दीर्घास्तथापराः ॥ ३८ ॥

दक्षिण और उत्तर दिशा में दोनों पाणितल को आमने-सामने रखे। कनिष्ठा तथा अंगुष्ठ के आगे अन्य लम्बी अंगुलियों को एक में सटाकर स्थित रखे ॥ ३८ ॥

परितो भ्रामयेदेवं चक्रमुद्रेयमीरिता।
अङ्गमुद्रास्तु वक्ष्यन्ते शक्तिग्रासमनुं शृणु ॥ ३९ ॥

यह चक्रमुद्रा कही गई है। इस मुद्रा को अग्नि के चारों ओर घुमावे। अङ्गमुद्रा आगे चलकर कहेगें। अब शक्तिग्रास मन्त्र कहती हूँ, सुनिए ॥ ३९॥

सुदर्शनशक्तिग्रसनमन्त्रः

पवित्रमनलारूढं सव्यापि प्रणवात् परम्।
महासुदर्शनेत्येवं चक्रराजं महाध्वगम् ॥ ४० ॥
ततोऽस्तगततेत्यस्मात् सर्वदुष्टभयङ्कर।
छिन्धि छिन्धीत्यतः पश्चाद्भिन्धि भिन्धि प्रकीर्तयेत् ॥ ४१ ॥
विदारयद्वयं पश्चात् परमन्त्रान् ग्रस ग्रस।
द्विर्भक्षयेति भूतानि त्रासयेति द्विरुच्चरेत् ॥ ४२ ॥
वर्मास्त्रवह्निजायाः स्युः शक्तिग्रसनकृन्मनुः।
स्वयं सुदर्शनो भूत्वा मन्त्रमुच्चारयन्निमम् ॥ ४३ ॥
शक्तिं मुखहृदादिभ्यः परस्याचूषयेद्धिया।
षडक्षरस्य मन्त्रस्य शृणु ध्यानं पुरन्दर ॥ ४४ ॥

शक्तिग्रासमन्त्रोद्धार—प्रणव (ॐ) के बाद व्यापि (बिन्दु) से युक्त अनल 'र' पर आरूढ़ पवित्र (पकार) ॐ प्रं, तदनन्तर महासुदर्शन चक्रराज महाध्वग, इसके बाद अस्तगत, इसके बाद सर्वदुष्टभयङ्कर छिन्धि-छिन्धि, इसके बाद भिन्धि-भिन्धि कहे।

फिर दो बार विदारय (विदारय-विदारय), पश्चात् परमन्त्रान् ग्रस-ग्रस, फिर दो बार भक्षय (भक्षय-भक्षय) भूतानि त्रासय-त्रासय, इसके बाद कवचमन्त्र 'हुं' फिर अस्त्र मन्त्र फट् संयुक्त कर अन्त में स्वाहा पद को संयुक्त करे। यह शक्तिग्रासमन्त्र स्पष्ट है। स्वयं सुदर्शन का स्वरूप बनकर इस मन्त्र का उच्चारण करते हुये, शत्रु के मुख एवं हृदय की शक्ति को बुद्धि से चूसे। अब हे पुरन्दर ! षडक्षर मन्त्र का ध्यान सुनिए ॥ ४०-४४ ॥

विमर्शिनी—पवित्रमित्यादि। 'ओं प्रं महासुदर्शन चक्रराज महाध्वग अस्तगत सर्वदुष्टभयङ्कर छिन्धि छिन्धि भिन्धि भिन्धि विदारय विदारय, परमन्त्रान् ग्रस ग्रस

भक्षय भक्षय भूतानि त्रासय त्रासय' इत्यस्यानन्तरं कवचमन्त्रमस्त्रमन्त्रं च संयोज्यान्ते स्वाहापदं संयोजयेत् । एष शक्तिग्रासमन्त्रः ॥ ४०-४४ ॥

सुदर्शनषडक्षरमन्त्रध्यानम्

न्यस्ताङ्गश्चक्रमुद्राभिर्वह्निप्राकारमध्यगः ।
सहस्रारमहाचक्रमयुताग्निचयोत्कटम् ॥ ४५ ॥
षडध्वमयमुद्भ्रान्तं ध्यायेन्मच्छक्तिजृम्भितम् ।
अक्षस्थं परमात्मानं नारायणमनामयम् ॥ ४६ ॥
चक्ररूपिणमीशानं ध्यायेत् कुङ्कुमसंनिभम् ।
पीताम्बरधरं दिव्यं मुक्तालङ्कारमण्डितम् ॥ ४७ ॥

साधक अग्नि का प्राकार बनाकर उसमें बैठे चक्र मुद्रा से अङ्ग न्यास करे। फिर दश हजार अग्नियों की ज्वाला से महाभयङ्कर, सहस्र अरों वाले महाचक्र का, जो षडध्वमय हैं और मेरी शक्ति से बढ़े हुये हैं, उन उद्भ्रान्त (क्रोध में उन्मत) अक्ष पर स्थित परमात्मस्वरूप अनामय नारायण चक्र रूप धारण किये हुये कुंकुम के समान लाल वर्ण वाले उन ईशान का ध्यान करें, जो पीताम्बर धारण किये हुये दिव्य मोतियों के अलङ्कार से भूषित हैं ॥ ४५-४७ ॥

विमर्शिनी—सुदर्शनध्यानमाह—न्यस्ताङ्ग इति । कृताङ्गन्यास इत्यर्थः । चक्रमुद्रा चात्रैवाध्याये अष्टत्रिंशे श्लोके प्रतिपादिता; वह्निप्रकारश्च सप्तत्रिंशे श्लोके । सुदर्शनवर्णनं सहस्रारेत्यादिना । चक्रमध्ये चक्ररूपिणः परमात्मनः ध्यानं प्रस्तौति —अक्षस्थमित्यादिना । दक्षिणकरधृतायुधान्याह—चक्रमित्यादिना । वामकरस्थायुधान्याह—शङ्खमित्यादिना । दक्षिणं; समर्थमित्यर्थः । अष्टभुजसुदर्शनध्यानं विस्तरतोऽहिर्बुध्न्यसंहितायां चतुश्चत्वारिंशाध्याये प्रतिपादितमनुसन्धेयम् । उद्यज्जानुमिति प्रत्यालीढाख्या समरोद्यमावस्थितिः विवक्षिता ॥ ४५-५१ ॥

एनमष्टभुजं ध्यायेन्महाव्यसनसंप्लवे ।
उद्यज्जानुमनेकास्त्रं स्थितं परमशोभनम् ॥ ४८ ॥

महान् व्यसन (विपत्ति) उपस्थित होने पर इनके आठ भुजाओं वाले रूप का स्मरण करना चाहिये, जो जानुओं के बल प्रत्यालीढ़ मुद्रा में खड़े हैं और अनेकास्त्रों के धारण करने से अत्यन्त शोभित हो रहे हैं ॥ ४८ ॥

चक्रं मुसलमुद्दाममङ्कुशं सरसीरुहम् ।
याम्ये करचतुष्केऽथ वामे भुजचतुष्टये ॥ ४९ ॥

शङ्खं बाणयुतं चापं पाशं गुर्वीं गदामपि ।
दधानं दक्षिणं दिव्यं दंष्ट्राभास्वरिताननम् ॥ ५० ॥

दाहिनी भाग वाली चार भुजाओं में चक्र मुशल-भयङ्कर, अंकुश और कमल धारण किये हुये हैं बाईं ओर की चार भुजाओं में शङ्ख, बाणयुक्त धनुष, पाश एवं अत्यन्त गुर्वी गदा धारण किये हुये हैं । वे सर्वसमर्थ दिव्य चमकीले दाँतों से देदीप्यमान मुख धारण किये हुये हैं ॥ ४९-५० ॥

पिङ्गाक्षं पिङ्गकेशाढ्यं ज्वालामालापरिष्कृतम् ।
अथ षोडशहस्तं च ध्यायेद्देवं सुदर्शनम् ॥ ५१ ॥

उनकी आँखें पीली-पीली हैं । पिङ्गवर्ण के केश हैं । चारों ओर जलती ज्वालाओं से देदीप्यमान सोलह हाथ वाले इस प्रकार के स्वरूप वाले सुदर्शन का ध्यान करे ॥ ५१ ॥

परैः परिभवे प्राप्ते प्रतीकारविवर्जिते ।
स्थितावनवक्लृप्तायामपि निर्जित्य वैरिणः ॥ ५२ ॥
भये महति सञ्जाते चोरव्याघ्रद्विपादिभिः ।
प्रत्यालीढस्थितं देवं वैरिवर्गदिगुन्मुखम् ॥ ५३ ॥
प्रहारोद्योगिभिः पीनैर्भुजैरूर्ध्वैरलंकृतम् ।
शक्त्या दीप्तेन खड्गेन वह्निना च शतार्चिषा ॥ ५४ ॥
अङ्कुशेनाथ दण्डेन कुन्तेनाथ ज्वलत्त्विशा ।
परश्वधेन चक्रेण दक्षिणाधःकरैः क्रमात् ॥ ५५ ॥
शङ्खेन चापमुख्येन पाशेनाथ हलेन च ।
कुलिशेन गदास्त्रेण मुसलेनाथ शूलतः ॥ ५६ ॥
ऊर्ध्वादधः स्थितैर्वामैः प्रदीप्तैरायुधैर्युतम् ।
दंष्ट्रानिष्ठ्यूतघोराग्निज्वालाकोलाहलाकुलम् ॥ ५७ ॥
संस्यूततत्त्वयाकीर्णं दिव्यया वनमालया ।
घोराट्टहाससंत्रासद्रवद्दैत्येन्द्रदानवम् ॥ ५८ ॥
ज्वालाकुलज्वलद्दैत्यमेदोमेदुरपावके ।
अयुतायुतवह्नीनामास्पदे दीप्ततेजसाम् ॥ ५९ ॥
अध्वषट्कमये चक्रे चक्रिणं चक्रमुत्तमम् ।
ध्यायेदेवंविधं देवं भये महति मानवः ॥ ६० ॥

जब शत्रुओं के द्वारा पराभव की स्थिति हो और शत्रु के प्रतीकार का कोई उपाय न हो, वैरियों के जीत लेने के बाद भी यदि स्थिति उपद्रुत हो,

चोर व्याघ्र और हाथियों से घिर जाने के कारण महान् भय उपस्थित हो तो ऐसे समय प्रत्यालीढ़ (युद्धकाल की विशेष मुद्रा) मुद्रा में वैरी के सामने खड़े हुये प्रहार के लिये उद्यत अपनी पीन भुजाओं को ऊपर उठाये हुये शक्ति और चमचमाती तलवार सैकड़ों ज्वाला से प्रज्वलित अग्नि अंकुश, दण्ड, देदीप्यमान भाले, परशु चक्र धारण किये हुये तथा दक्षिण वाली नीचे की भुजाओं में क्रमशः शङ्ख, धनुष, पाश, हल, कुलिश, गदा, मुशल और शूल धारण किये हुये, इस प्रकार ऊपर नीचे सर्वत्र उद्दीप्त आयुधों से युक्त, दाँतों से महा भयङ्कर आग की ज्वाला के कोलाहल से आकुल चौबीस तत्त्वों से निःस्यूत दिव्य बनमाला से विभूषित अपने घोर अट्टहास के भय से दैत्येन्द्र एवं दानवों को दूर भगाते हुये चक्र में स्थित चक्री सुदर्शन भगवान् का ध्यान करे । अत्यन्त उद्दीप्त दसो हजार, हजारो हजार व अग्नियों के आस्पदभूत अग्नि में ज्वाला से आकुल दैत्य-दानवों के मोटे-मोटे मांस एवं मेदों को जलाते हुये वर्णाध्वादि षडध्वमय चक्र रूप मन्त्र में अत्यन्त प्रशस्त चक्री भगवान् के इस प्रकार के चक्र का महाभयावनी स्थिति में मानव ध्यान करे ॥ ५२-६० ॥

विमर्शिनी—प्रत्यालीढाख्या स्थितिः उद्यज्जानुमिति पूर्वं सूचिता । षोडशसु भुजेषु दक्षिणभुजाष्टकायुधान्याह—शक्त्येत्यादिना । वामभुजाष्टकायुधान्याह—शङ्खेनेत्यादिना । संस्यूततत्त्वयेति । चतुर्विंशतितत्त्वमय्येत्यर्थः । वनमालास्वरूपकथनमेतत् । अत एवास्या भूतमालेत्यपि व्यवहारः । अध्वषट्कं वर्णाध्वादि ॥ ५२-६०॥

एवं ध्यात्वा पुनर्ध्यायेच्चतुर्बाहुं सुदर्शनम् ।
अन्यथा नैव शान्तिः स्यादस्ति तेजस्तथा हरेः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार ध्यान करने के बाद पुनः चार बाहुओं वाले सुदर्शन का ध्यान करे । अन्यथा भगवान् के इस प्रकार के तेज की शान्ति संभव नहीं है ॥६१॥

विमर्शिनी—एतस्य ध्यानेन सर्वारिष्टशान्तिरहिर्बुध्न्यसंहितायां सप्तचत्वारिंशाध्याये वर्णिता द्रष्टव्या ॥ ६१ ॥

घोरशान्तविभेदेन पौरुषं ध्यानमीरितम् ।
इति ते सुरशार्दूल ध्यानमन्यच्च मे शृणु ॥ ६२ ॥

हे इन्द्र ! हमने घोर एवं शान्त दोनों प्रकार के भेदों वाले चक्रसुदर्शन का पुरुष रूप में ध्यान कहा । हे सुरशार्दूल ! अब अन्य प्रकार के ध्यानों को सुनिए ॥ ६२ ॥

प्रकाराः पौरुषा ये ये ध्यानेऽस्मिन् परिवर्णिताः ।
तान् सर्वान् मन्मयानेव संस्मरेच्छीघ्रसिद्धये ॥ ६३ ॥

इस प्रकार के ध्यान में जितने पुरुष रूप में सुदर्शन का ध्यान कहा है, उन-उन सभी पौरुष-ध्यानों की शीघ्र सिद्धि के लिये मेरे स्त्री रूप का ध्यान करे ॥ ६३ ॥

अत्यद्भुतमिदं शक्र रहस्यं ते प्रकीर्तितम् ।
भूयो रहस्यमन्यच्च शृणु मे सुरपुङ्गव ॥ ६४ ॥

हे शक्र ! यह अत्यन्त अद्भुत रहस्य मैंने आपसे कहा । हे सुरपुङ्गव ! अब अन्य रहस्य फिर से सुनिए ॥ ६४ ॥

आग्नेयी या मदीया ते पुरा शक्तिः प्रकीर्तिता ।
सूर्यकोट्यर्बुदाभासा वह्निकोट्यर्बुदोपमा ॥ ६५ ॥
इन्दुकोट्यर्बुदाभासा मम स्पन्दमयी तनुः ।
अमृतं परमात्मानमशेषभुवनाधृतिम् ॥ ६६ ॥
आस्थाय पञ्चबिन्द्वात्मा स्पृशन्ती व्यापिनं परम् ।
हिताय सर्वभूतानामुदेति परमेश्वरात् ॥ ६७ ॥

पहले जिस आग्नेयी शक्ति का वर्णन हमने किया है, वह करोड़ों अर्बुद के सूर्य के समान तथा करोड़ो अर्बुद वाले देदीप्यमान अग्नि के समान, करोड़ों अर्बुद चन्द्रमा के समान तेजस्वी मेरा स्पन्दमय (क्रियामय) शरीर है जो पञ्च बिन्द्वात्मा (ईकार) रूप से अमृत (सकार) परमात्मा (हकार) अशेष भुवनाधृति (रेफ) पर अधिष्ठित होकर पर व्यापी (बिन्दु) का स्पर्श करती है । (ह्रीं) यह समस्त प्राणियों के हित के लिये परमेश्वर अः से उदय प्राप्त करती है ॥ ६५-६७ ॥

विमर्शिनी—स्पन्दमयी क्रियामयी । अमृतं = सकारः । परमात्मा = हकारः । अशेषभुवनाधृतिः = रेफः ॥ ६६ ॥ पञ्चबिन्दुः = ईकारः । व्यापीं = अनुस्वारः ॥ ६७ ॥

तामक्षं कल्पयेच्छक्तिं तत्प्रभां नाभिमण्डलम् ।
अराणि षण्मनोरर्णान् सूर्योद्दामौ सबिन्दुकौ ॥ ६८ ॥
सुस्थितौ नेमिगौ ध्यायेच्छेषं तु प्रधिमण्डलम् ।
आत्मानं मध्यतो ध्यायेत् स्वं मायापरमात्मनोः ॥ ६९ ॥

उसी शक्ति को अक्ष रूप में कल्पित करे । नाभि मण्डल को उसकी प्रभा के रूप में परिकल्पित करे । मन्त्र के छह अक्षरों को अरा के रूप में तथा बिन्दु विभूषित, सूर्योद्दाम 'हुँ' को नेमि पर सुस्थित करे । शेष वर्ण हुँ को प्रधिमण्डल पर स्थापित करे । फिर माया (ईकार) तथा परमात्मा (अः) के बीच

आत्मा (ॐ) का ध्यान करे ॥ ६८-६९ ॥

विमर्शिनी—अराणि षडिति षडरचक्रं विवक्षितम् । सूर्योद्दामौं हु इति ॥६८॥ शेषमिति । फडित्येतदित्यर्थः ॥ ६९ ॥

सूर्यानलान्तरस्थं च निरस्यन् संस्मरेज्जनम् ।
ध्यायन्ननिशमेवं हि योगी ध्यानपरायणः ॥ ७० ॥
विधूय निखिलं दोषं सांसारिकमशेषतः ।
मयि भक्तिं परां प्राप्य मामेवान्ते समश्नुते ॥ ७१ ॥

सूर्य हकार और अनल (रेफ) के बीच के वर्णों को निरस्त कर उनका ध्यान करे । ध्यान परायण योगी इस प्रकार ध्यान करते हुये सांसारिक समस्त दोषों को दूर कर मेरी भक्ति प्राप्त कर अन्त में मुझे प्राप्त कर लेता है ॥ ७०-७१ ॥

अन्तरा परमात्मानममृतं च स्थितो जपन् ।
मनीषी मनसा नित्यं पीयूषाप्यायनं स्मरेत् ॥ ७२ ॥

परमात्मा (अः) और अमृत (सकार) के बीच में स्थित होकर जप करता हुआ मनीषी मन से पीयूष (व) का, जो आप्यायन करने वाला है, उसका स्मरण करे ॥ ७२ ॥

सुधयाप्लाव्यमानो हि स्रुतया शक्तिकोटरात् ।
प्राणेन प्राण्यमानश्च दग्धदोषोऽनलत्विषा ॥ ७३ ॥
पञ्चबिन्दुक्रियालाभादैश्वर्यं परमास्थितः ।

शक्ति के कोटर से निर्गत सुधा से स्नान करता हुआ, प्राण से अनुप्राणित होता हुआ, अग्नि के तेज से दोषों को जलाकर पञ्चबिन्दु ईकार रूपा महालक्ष्मी स्वरूपा क्रिया को प्राप्त कर साधक महान् ऐश्वर्य में स्थित हो जाता है ॥ ७३-७४- ॥

संतताभ्यासयोगेन वशी युक्तो जितेन्द्रियः ॥ ७४ ॥
विहाय सकलं क्लेशं वेषमास्थाय मामकम् ।
दृप्तो जातबलो योगी क्रियया सर्वतो वशी ॥ ७५ ॥

इस प्रकार सतत अभ्यास में लगा हुआ इन्द्रियों को वश में रखने वाला जितेन्द्रिय साधक सारे क्लेश से मुक्त होकर मेरा स्वरूप धारण कर क्रिया के बल से दृप्त बलवान् योगी सब प्रकार से वशी हो जाता है ॥ -७४-७५ ॥

विमर्शिनी—प्राणेन = हकारेण । अनलः = रेफः ॥ ७३ ॥

ईश्वरः परमो भूत्वा सर्वव्याप्तिमयः स्थितः ।
मामेव मामकं धाम मत्प्रसादादुपाश्नुते ॥ ७६ ॥

वह ईश्वर बनकर सर्वत्र व्याप्त हो जाता है । फिर तो मुझे और मेरे धाम को प्राप्त कर लेता है । अब महालक्ष्मी अपने स्वरूप के क्रिया, चित् और आनन्द इन तीनों भेदों को कहती हैं ॥ ७६ ॥

या क्रिया सा चिदाख्याता या चित्तिः सा परा क्रिया ।
एते सपरमानन्दास्त्रयस्ते परिकीर्तिताः ॥ ७७ ॥

जो क्रिया है वह चित् कही जाती है और जो चित् है वही परानन्द है । इस प्रकार हमने अपने स्वरूपों के क्रिया, चित् एवं आनन्द का वर्णन किया ॥ ७७ ॥

विमर्शिनी—स्वस्वरूपस्य क्रियाचिदानन्दरूपतामाह—येति ॥ ७७ ॥

अखण्डैका परा शक्तिश्चित्क्रियानन्दरूपिणी ।
वैष्णवी सा पराहंता साहं सर्वार्थपूरणी ॥ ७८ ॥

वह अकेली मैं ही अखण्डा शक्ति चित्, क्रिया और आनन्दरूपिणी हूँ । वैष्णवी परा अहन्ता और सर्वार्थपूरणी हूँ ॥ ७८ ॥

स्वाच्छन्द्यान्मम सङ्कल्पो द्विधैवं प्रविजृम्भते ।
एका शक्तिः क्रियाह्वाना महाभूतिरथापरा ॥ ७९ ॥

मेरी स्वच्छन्ता के कारण मेरा यह सङ्कल्प क्रिया और विभूति दो भागों में विभक्त होकर विस्तृत हो जाता है । पहली सङ्कल्पशक्ति क्रिया नाम वाली है और दूसरी सङ्कल्पशक्ति महाविभूति नाम वाली है ॥ ७९ ॥

सामान्यतोऽनयोः शक्र स्थिताहं परमेश्वरी ।
एषा ते सकला शक्तिः क्रियारूपा प्रदर्शिता ॥ ८० ॥

हे शक्र ! मैं इन्हीं दो शक्तियों में सामान्य रूप से रहती हूँ । इस प्रकार यह क्रिया रूपा सम्पूर्ण शक्ति मैंने आपके समक्ष प्रदर्शित कर दी ॥ ८० ॥

विमर्शिनी—द्विधेति = क्रियाविभूतिभेदेनेत्यर्थः ॥ ७९ ॥

स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन तारिकाया निशामय ।
निमीलितक्रियाकारा स्पष्टैश्वर्यस्वरूपिणी ॥ ८१ ॥

अब तारिका की स्थूल, सूक्ष्म और परा शक्तियों को सुनिए, जिसमें ऐश्वर्य रूपिणी शक्ति स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होती है किन्तु क्रियाकारी शक्ति

निमीलित (अवरुद्ध) रहती है ॥ ८१ ॥

विमर्शिनी—अनन्तराध्यायविषयभूतभूतिशक्तिवर्णनमवतारयति—निमीलितेति । भूतिशक्तिरूपे क्रियाशक्तिः निमीलितास्त इत्यर्थः । स्पष्टेति । ऐश्वर्यं विस्पष्टं भवतीत्यर्थः ॥ ८१ ॥

तनुः षाड्गुण्यरूपा मे भूतिः सा तारिकाह्वया ।
तस्याः स्थूलादिरूपाणि यथावन्मे निशामय ॥
उच्यमानानि देवेश सावधानेन चेतसा ॥ ८२ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे सुदर्शनप्रकाशो नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

मेरा शरीर षाड्गुण्य स्वरूपा है । उसमें तारिका नाम वाली भूति का निवास है । अब उसके स्थूल एवं सूक्ष्म और पर रूपों को सुनिए । मैं उसे कह रही हूँ । हे शक्र ! चित्त को सावधान कर उसे सुनिए ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के सुदर्शनप्रकाश नामक इकतीसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

स्थूलादिप्रकाशः

तारिकायाः स्थूलरूपम्

या ह्येषा परमा विद्या तारिका भवतारिणी ।
स्थूलं सूक्ष्मं परं चेति तस्या रूपत्रयं यशृणु ॥ १ ॥

श्री ने कहा—संसार सागर से पार उतारने वाली जो यह परमा विद्या तारिका (ह्रीं) नाम से कही गई है, उसके स्थूल एवं सूक्ष्म और पर भेदों वाले तीनो रूपों को हे इन्द्र ! सुनिए ॥ १ ॥

विमर्शिनी—विद्या चिद्रूपेत्यर्थः । भवतारिणीत्यनेन तारिकाया अन्वर्थत्वमाह ॥ १ ॥

पञ्चवर्णं चतुर्वर्णमिति स्थूलात्मकं वपुः ।
त्रिवर्णा सूक्ष्मसंज्ञा मे परा विष्णुमयी स्थिता ॥ २ ॥

'ह्रीं' इस मन्त्र में बिन्दु के ऊपर घण्टा नाद के समान सुनाई पड़ने वाले ध्वनि को जोड़ने से पाँच वर्ण वाला इसका पहला शरीर है । ध्वनि को छोड़कर बिन्दु पर्यन्त चार वर्णों वाला इसका दूसरा शरीर है । ये दोनों ही इसके स्थूल शरीर हैं । 'ई' यह तीन वर्णो वाला इसका सूक्ष्म संज्ञा वाला तीसरा शरीर है । केवल ईकाररूपेण श्रूयमाण इसका विष्णुमयी संज्ञा वाला पर स्वरूप है ॥ २ ॥

विमर्शिनी—ह्रीं इति बिन्दोरुपरि घण्टानादवत् श्रूयमाणं नादं संयोज्य पञ्चवर्णत्वं, तं विहाय चतुर्वर्णत्वमुपपादनीयम् । त्रिवर्णेति । ईंरूपतेत्यर्थः । पररूपमाह—विष्णुमयीति । केवलेकाररूपेत्यर्थः ॥ २ ॥

इमास्तिस्रो ह्यवस्था मे प्रत्येकं तु त्रिधा त्रिधा ।
स्थूले तु या परावस्था परमात्माश्रया तु सा ॥ ३ ॥

पुन: इसके स्थूल एवं सूक्ष्म और परा संज्ञा वाली अवस्थाओं के स्थूलरूप में स्थूल सूक्ष्म रूप से, सूक्ष्म रूप में, स्थूल सूक्ष्म पर रूप से इसी प्रकार पर रूप में, भी स्थूल सूक्ष्म और पर रूप से प्रत्येक तीन-तीन भेद कहे गए हैं ॥ ३ ॥

विमर्शिनी—प्रत्येकं त्रिधेति । स्थूलरूपे स्थूलसूक्ष्मपररूपेण, सूक्ष्मरूपे स्थूलसूक्ष्मपररूपेण, पररूपेऽपि स्थूलसूक्ष्मपररूपेणेति त्रैविध्यमिति भाव: । स्थूले पररूपमाह—स्थूले त्विति । परमात्मा = हकार: ॥ ३ ॥

अशेषभुवनाधारविष्णुव्यापिसमाश्रया ।
भोक्तृभोग्यात्मिका चेयं तस्या रूपं निबोध मे ॥ ४ ॥

इस हकार में अशेषभुवनाधार (रेफ) विष्णु (ईकार) व्यापी (बिन्दु) इनका संयोग करने से (= ह्रीं) यह भोक्ता और भोग्यात्मिका हो जाती है । अब उसका स्वरूप सुनिए ॥ ४ ॥

विमर्शिनी—अशेषभुवनाधारो रेफ: । विष्णु: ईकार: । व्यापी अनुस्वार: । आहत्य ह्रीं भवति ॥ ४ ॥

अशेषभुवनाधारनिलयव्यापिजन्मना ।
परमात्मादिकेनैव ललाटतटमेयुषा ॥ ५ ॥
आक्रम्य वैष्णवं रूपं स्वे पुन: प्रतितिष्ठति ।
तारकारणनादेन शोभमाना हरिप्रिया ॥ ६ ॥

विष्णुप्रिया यह ह्रीं अशेषभुवनाधार रेफ, निलय व्यापी बिन्दु तथा परमात्मा हकार के साथ शरीर धारण कर वैष्णव रूप पर आक्रमण कर उच्च शब्द करती हुई शोभा के साथ पुन: अपने रूप में प्रतिष्ठित हो जाती है । आक्रम्य शब्द से वैष्णव रूप की अनभिव्यक्ति सूचित की गई है ॥ ५-६ ॥

विमर्शिनी—ललाटतटमेयुषेत्यस्य रूपेणेति शेष: ॥ ५ ॥ आक्रम्येति वैष्णवरूपस्यानभिव्यक्तिरुच्यते ॥ ६ ॥

भोक्तृभोग्यादिकं सर्वं भुवनं बिभ्रती धिया ।
व्यापिनं सर्वतो देवी परमात्मानमाश्रिता ॥ ७ ॥

यह अपनी बुद्धि से भोक्ता भोग्यादि स्वरूप समस्त जगत् को धारण करती हुई व्यापी बिन्दु युक्त परमात्मा हकार में स्थित है ॥ ७ ॥

तावत्तया स्थिता विष्णुरूपा स्थूला गतिः परा ।
पञ्चकृत्यकरी शक्तिस्त्रिविधैश्वर्यबृंहिता ॥ ८ ॥
प्राणयन्ती श्रिया देवं जृम्भमाणोदधिप्रभम् ।
आश्रित्य ह्यानलं भावमियं सूक्ष्मा गतिर्मता ॥ ९ ॥

यह विष्णुरूपा स्थूला, परा, गति, भोक्ता और भोग्य रूप से स्थित रहती है । सर्ग, स्थिति, संहार, निग्रह, अनुग्रह रूप पञ्चकृत्या स्वरूपा यह शक्ति अपने त्रिविध ऐश्वर्यों से उपबृंहित होकर अपनी श्री से तरङ्गो से उपबृंहित समुद्र के समान देव विष्णु को अनुप्राणित करती हुई अग्नि भाव को प्राप्त करती है। यह सूक्ष्मा गति है ॥ ८-९ ॥

विमर्शिनी—तावत्तयेति । भोक्तृभोग्यरूपेणेत्यर्थः । अथ स्थूले सूक्ष्ममाह—पञ्चकृत्येत्यादि । सर्गादीनि पञ्च कृत्यानि ॥ ८ ॥

सृष्ट्यादिकं विधायाथ व्योमस्थं परमास्थिता ।
सर्वाश्चर्यकरी देवी सृष्टिस्थित्यन्तकारणम् ॥ १० ॥

यह सर्वाश्चर्यकरी देवी सृष्ट्यादि कर्म कर पुनः व्योम में रहने वाले उस परब्रह्म में स्थित हो जाती है जो सृष्टि, स्थिति और संहार का कारण होता है ॥ १० ॥

विमर्शिनी—स्थूले स्थूलरूपमाह—सृष्ट्यादिकमिति । सर्वाश्चर्येत्यादि । पूर्वं सूक्ष्मे जगतः सृष्टिसङ्कल्प उक्तः । अत्र तु तस्य सृष्टिरुच्यत इति ध्येयम् ॥ १०॥

सूर्यं समाश्रिता विष्णुं कलयन्ती जगत्स्थितिम् ।
कालपावकतेजोभिः स्थूला स्थूलमयाद्भुता ॥ ११ ॥

स्थूला, स्थूलमया, अद्भुता शक्ति विष्णु में काल पावक तेज के द्वारा जगत् की स्थिति स्थापित कर सूर्य में आश्रित हो जाती है ॥ ११ ॥

तारिकायाः सूक्ष्मरूपम्

कथता गतयस्तिस्रः स्थूलाया मम वासव ।
सूक्ष्मायास्तु गतीस्तिस्रः शृणु वृत्रनिषूदन ॥ १२ ॥

हे वासव ! यह स्थूल स्वरूपा मेरी तीन गतियाँ कह दी गई । अब हे वृत्रषूदंन ! सूक्ष्मा की तीन गतियों को सुनिए ॥ १२ ॥

अकालकलना सेयं सूक्ष्मा तु परमेश्वरी ।
व्यापिनं परमात्मानं श्रयन्ती वर्तते ध्रुवा ॥ १३ ॥

यह अकाल कलना वाली वही सूक्ष्मा परमेश्वरी है जो व्यापी (बिन्दु युक्त) परमात्मा हकार में ध्रुवा ॐकार रूप से स्थित है ॥ १३ ॥

विमर्शिनी—सूक्ष्मरूपस्य साधारणं स्वभावमाह—अकालेति । अनेन पूर्वोक्तस्थूलरूपस्य कालकाल्यत्वमभिमन्यते ॥ १३ ॥

शुद्धो वर्गस्तथाशुद्धो द्विविधं सृज्यमुच्यते ।
शुद्धेतरे स्थिता स्थूला शुद्धे सूक्ष्मा प्रतिष्ठिता ॥ १४ ॥

निर्माण के योग्य पदार्थ शुद्धवर्ग और अशुद्ध वर्ग दो प्रकार के होते हैं । अशुद्ध वर्ग में उसके स्थूल स्वरूप का निवास है तथा शुद्ध वर्ग में सूक्ष्मा प्रतिष्ठित रहती है ॥ १४ ॥

विमर्शिनी—विशेषान्तरमाह—शुद्ध इति ॥ १४ ॥

तारिकायाः पररूपम्

तिस्रोऽप्यासां गतीः सम्यक् स्थूलाया इव लक्षयेत् ।
परा या मे तनुः शक्र तस्या रूपं निशामय ॥ १५ ॥

प्रस्तुत तीन प्रकार के सूक्ष्म रूपों की गति स्थूल के समान ही समझनी चाहिये । अब हे शक्र ! परा शरीर के स्वरूप को सुनिए ॥ १५ ॥

विमर्शिनी—प्रस्तुते त्रिविधे सूक्ष्मरूपे पूर्वोक्तस्थूलगतीरतिदिशति—तिस्र इति । परमियान् भेदः—पूर्वोक्तस्थूलगतिरशुद्धविषयात्र इयं तु शुद्धविषयेति ॥ १५ ॥

सर्वव्याप्तिमती दिव्या निष्कला सा निरञ्जना ।
सा परा मन्मयी शक्तिः कथिता विष्णुसंज्ञया ॥ १६ ॥

सर्वत्र व्याप्त रहने वाली दिव्या, निष्कला एवं निरञ्जना जो मन्मयी पराशक्ति है वह शक्ति विष्णु नाम से कही गयी है ॥ १६ ॥

विमर्शिनी—अथ परायाः साधारणं रूपमाह—सर्वव्याप्तिमतीत्यादि ॥ १६ ॥

एषा सा वैष्णवी सत्ता सैषाहंता हरेर्मता ।
एषा सा योगिनां निष्ठा सैषा सांख्यात्मनां गतिः ॥ १७ ॥

इसी वैष्णवी सत्ता को विष्णु को अहन्ता भी कहते हैं । यहीं योगियों की निष्ठा है और यहीं सांख्यशास्त्र के विद्वानों की गति (ज्ञान) है ॥ १७ ॥

विमर्शिनी—सांख्यात्मनाम्; प्रकृतिपुरुषविवेकादिज्ञानवतामित्यर्थः ॥ १७ ॥

इयं सा परमा मूर्तिरियं सा परमा गतिः ।

शक्तिः कुण्डलिनी चाद्या भ्रमरी योगदायिका ॥ १८ ॥

यही परमा मूर्त्ति है, यही परमा गति है, यहीं आद्याशक्ति कुण्डलिनी है और योगदायिका भ्रमरी है ॥ १८ ॥

विमर्शिनी—तस्या नामभेदानाह—शक्तिरित्यादिना ॥ १८ ॥

अनाहता ह्यघोषा च निर्मर्यादा नदोद्‌गता ।
शब्दब्रह्म तथा शक्तिर्मातृकायोनिरुत्तमा ॥ १९ ॥

यही अनाहता अघोषा निर्मर्यादा और नाद से उत्पन्न हुई है । यह शब्द-ब्रह्म है तथा मातृकाओं की शरीर है ॥ १९ ॥

विमर्शिनी—नदः; नादः ॥ १९ ॥

गायत्री च कला गौरी शची देवी सरस्वती ।
वृषाकपायी सत्या च प्राणपत्नी यशस्विनी ॥ २० ॥

यही सर्वश्रेष्ठ गायत्री है कला, गौरी, शक्ति देवी, सरस्वती, वृषाकपायी, सत्या, प्राणपत्नी, यशस्विनी है ॥ २० ॥

इन्द्रपत्नी महाधेनुरदितिर्देवनन्दिनी ।
रुद्राणां जननी देवी वसूनां तु हिता तथा ॥ २१ ॥

यही इन्द्रपत्नी, महाधेनु, अदिति, देवनन्दिनी, इन्द्राणी, रुद्रों की जननी तथा वसुओं की हितकारिणी देवी कही गई है ॥ २१ ॥

आदित्यानां स्वसा नाभिरमृतस्य धृतिः परा ।
इडा रतिः प्रियाकारा गुरुधात्री महीयसी ॥ २२ ॥

आदित्यों की स्वसा (भगिनीस्वरूपा) अमृत की नाभि परा, घृति, इडा, रति, प्रियाकारा, गुरुधात्री और सबसे महान् है ॥ २२ ॥

मही च विश्रुतिश्चैव त्रयी गौः प्राणवत्सला ।
शक्तिश्च प्रकृतिश्चैव महाराज्ञी पयस्विनी ॥ २३ ॥

यही विश्रुति, त्रयी, गौ, प्राणवत्सला, शक्ति, प्रकृति, महाराज्ञी और पयस्विनी है ॥ २३ ॥

तारा सीता तथा श्रीश्च कामवत्सा प्रियव्रता ।
तरुणी च वरारोहा नीरूपा रूपशालिनी ॥ २४ ॥

यही तारा, सीता, श्री, कामवत्सा, प्रियव्रता, तरुणी, वरारोहा, नीरूपा, रूपशालिनी है ॥ २४ ॥

अम्बिका सुन्दरी ज्येष्ठा वामा घोरा मनोमयी ।
सिद्धा सिद्धान्तिका योगा योगिनी योगभाविनी ॥ २५ ॥

यही अम्बिका, सुन्दरी, ज्येष्ठा, वामा, घोरा, मनोमयी, सिद्धा, सिद्धान्तिका, योगा, योगिनी, योगभाविनी है ॥ २५ ॥

एवमादीनि नामानि शास्त्रे शास्त्रे मनीषिभिः ।
कथितानि रहस्यानि शक्तेः सिद्धान्तपारगैः ॥ २६ ॥

इस प्रकार के इसके अन्यान्य नामों को भी मनीषियों ने उन-उन शास्त्रों में कहा है । इतना ही सिद्धान्त के पारगामी मनुष्यों ने इस शक्ति के रहस्यों का भी प्रतिपादन किया है ॥ २६ ॥

सैषा शक्तिः परा दिव्या त्रिधा रूपैरवस्थिता ।
स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन त्रैधमेतत् प्रदश्यते ॥ २७ ॥

वही यह दिव्या, परा एवं महाशक्ति तीन रूपों में अवस्थित है । इस महाशक्ति के स्थूल, सूक्ष्म और परा रूपों से तीन प्रकार है । अब हम इनको प्रदर्शित करते हैं ॥ २७ ॥

अस्याः स्वरूपमी प्रोक्ता सा च त्रेधावतिष्ठते ।
अप्रमेयादिरूपेण तस्या व्याख्यामिमां शृणु ॥ २८ ॥

इस महाशक्ति का स्वरूप 'ई' कहा गया है, जो अप्रमेयादि तीन रूपों में अवस्थित है । हे इन्द्र ! अब उसकी व्याख्या सुनिए ॥ २८ ॥

विमर्शिनी—ई; ईकार इत्यर्थः ॥ २८ ॥

षाड्गुण्यं यत् परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम् ।
संहृताखिलभेदं तदेकमेव यदा तदा ॥ २९ ॥

अब परा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं—वासुदेव नाम से कहा जाने वाला उसका जो परब्रह्म स्वरूप है, वह प्रतिसञ्चर (संहार) काल में समस्त प्रपञ्चों को समेट कर एक ही रूप में स्थित रहता है । उस समय चिदचिद्विशिष्ट सारा प्रपञ्च सूक्ष्म रूप होकर एक हो जाता है और मात्र एक ब्रह्म तत्त्व शेष रह जाता है ॥ २९ ॥

विमर्शिनी—परायाः पररूपमाह—षाड्गुण्यमिति । संहृतेति । भेदः; भिन्नः प्रपञ्चः । प्रतिसञ्चरे सकलस्यापि प्रपञ्चस्य ब्रह्मणि लयात् तथोक्तिः । एकमेवेति । सूक्ष्मावस्थचिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मैकमेव तत्त्वमभवदित्यर्थः ॥ २९ ॥

अप्रमेयाख्यया देवस्तदा योगिभिरीर्यते ।

व्याप्यव्यापकभेदो वा सृज्यसृष्टिविधापि वा ॥ ३० ॥

उस समय योगीजन उसे अप्रमेय नाम वाले कहते हैं । उस अप्रमेय अवस्था में व्याप्यव्यापक भेद एवं सृज्यसृष्टि भेद नहीं रहता ॥ ३० ॥

न तदान्यप्रमेयत्वं न किंचित्तस्य विद्यते ।
तदा शून्यमिवाकारैः प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ३१ ॥

कोई प्रमा विषयक भेद भी नहीं रहता । उस समय सारा भेद मिट जाता है । सारे व्यापारों के उपरम हो जाने पर सब कुछ शून्य हो जाता है । सारा जगत् प्रसुप्त जैसा ज्ञात होता है ॥ ३१ ॥

विमर्शिनी—प्रमेयत्वं प्रमाविषयत्वम् । शून्यमिवेति । सर्वव्यापारोपरमात् असत्कल्पमित्यर्थः । बाह्याभिमतशून्याख्यतत्त्वनिरासायेवशब्दः ॥ ३१ ॥

षाड्गुण्यं ब्रह्म तत्रेयं संस्थिता विष्णुसंज्ञया ।
अतरङ्गार्णवाकारा शक्तिशक्तिमतोर्गतिः ॥ ३२ ॥
तदा यदा पुनर्ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्रणम् ।
उन्मिषत्यात्मसङ्कल्पात्तदा प्रथम उच्यते ॥ ३३ ॥

उस समय यह षाड्गुण्य ब्रह्मरूपा शक्ति उस शून्यावस्था में विष्णु नाम से स्थित रहती है ।

अब परा के सूक्ष्म स्वरूप को कहते हैं—जिस समय शक्ति और शक्तिमान को आकार तरङ्गरहित समुद्र के समान गतिमान् हो जाता है । उस समय वासुदेव नामक परब्रह्म अपने सङ्कल्प से उन्मेष करते हैं, तब उनका वह प्रथम सङ्कल्प कहा जाता है ॥ ३२-३३ ॥

विमर्शिनी—अथ परायाः सूक्ष्मरूपमाह—शक्तीति । यदेत्युत्तरवाक्यस्थमत्रादौ ज्ञेयम् । यदा शक्तेः शक्तिमतश्च व्यक्ता गतिरवगतिः, तदेत्युत्तरत्रान्वयः ॥ ३२ ॥ प्रथम इति । सङ्कल्प इति शेषः ॥ ३३ ॥

प्रथते हि यदा ब्रह्म शुद्धाशुद्धाख्यवर्त्मना ।
माया नाम तदा त्वेषा ब्रह्मसङ्कल्परूपिणी ॥ ३४ ॥

जब यही शक्ति शुद्धाशुद्ध नाम वाले मार्ग से ब्रह्मरूप में प्रगट होती है, तब वह ब्रह्म सङ्कल्परूपिणी माया नाम से कही जाती है ॥ ३४ ॥

विमर्शिनी—एषा; परा शक्तिरित्यर्थः ॥ ३४ ॥

सङ्कर्षणादिक्षित्यन्तस्तस्या गर्भमवस्थितः ।
यदा पुनः परं ब्रह्म स्वेच्छासम्पादितं पृथक् ॥ ३५ ॥

व्याप्यव्यापकभेदेन सद्वितीयमवस्थितम् ।
पञ्चबिन्दुस्तदा देवी पञ्चकृत्यविधायिनी ॥ ३६ ॥

अब परा के स्थूल रूप को कहते हैं—सङ्कर्षण से लेकर पृथ्वी पर्यन्त जब सभी पदार्थ उसके गर्भ में स्थित हो जाते हैं । फिर वही ब्रह्म जब अपनी इच्छा से पृथक्-पृथक् व्याप्य-व्यापक भेद से दो के साथ अवस्थित हो जाता है। तब वह पञ्चबिन्दु स्वरूपा ईकार देवी सृष्टि स्थित्यादि पञ्चकृत्यों की विधायिनी हो जाती है ॥ ३५-३६ ॥

विमर्शिनी—परायाः स्थूलरूपमाह—सङ्कर्षणेति ॥ ३५ ॥ पञ्चबिन्दुः = ईकारः ॥ ३६ ॥

पराया इति ते प्रोक्ता मम तन्वा गतिस्त्रयी ।
रूपं रूपं विभज्यैषा तत्तत्तत्त्वार्णभेदिनी ॥ ३७ ॥

हे इन्द्र ! इस प्रकार मैंने अपने परा रूप की तीन गति बता दी । जो प्रत्येक रूपों में अपने को विभक्त कर तत् तद् तत्त्व रूप से ककारादि वर्णों की विभाविनी बन जाती है ॥ ३७ ॥

विमर्शिनी—त्रयी; स्थूलसूक्ष्मपररूपेण त्रिविधेत्यर्थः ॥ ३७ ॥

तारिकायाः सकलवर्णरूपत्वम्

तत्तद्वाचकतां नीता स्वकामाज्जगतीतनुः ।
तेषु तेषु हि तत्त्वेषु स्वात्मभूतावतिष्ठते ॥ ३८ ॥

वह अपनी इच्छा से अपने शरीरभूत जगत् को वाच्य-वाचकभाव में स्थित करती है और उन-उन तत्त्वों में आत्मभूत होकर स्थित हो जाती है ॥ ३८ ॥

मदंशः सूक्ष्मरूपो यो गूढोऽग्निरिव दारुषु ।
तत्तद्रूपमनुप्राप्ता सेवनी नाम शाश्वती ॥ ३९ ॥

मेरा सूक्ष्म रूप जो अंश काष्ठ में अग्नि की भाँति छिपा रहता है, वही तद्-तद् रूपों में होकर शाश्वती सेवनी नाम वाला हो जाता है ॥ ३९ ॥

विमर्शिनी—जिह्वादि स्थानो में वर्णोच्चारण के योग्य अवयव सङ्घटना विशेष को सेवनी कहा जाता है । सेवनीति जिह्वादिस्थानेषु वर्णोच्चारणाद्युपयोग्य-वयवसङ्घटनाविशेष उच्यते ॥ ३९ ॥

तत्तद्वर्णोपरागेण तत्तद्व्यक्तिवपुः स्वयम् ।
अधिदैवतभावेन तत्र योंऽशः परात्मकः ॥ ४० ॥

वैष्णवः शक्तिरूपो मे नियच्छन्नवतिष्ठते ।
तत्तद्वाचकतां याति देवी सेयमनश्वरी ॥ ४१ ॥

वह उन-उन वर्णों के उपराग (छाया) से उन-उन वर्णों का शरीर स्वयं धारण कर लेती है । उसमें अधिदैवतभाव से जो परात्मक अंश वैष्णव शक्ति रूप से नियन्त्रण करता हुआ स्थित रहता है, वह तद्-तद् वाचकता को प्राप्त करता है । यह वही अनश्वरी देवी है जो अशेष भुवनाधारा स्वरूपा परमेश्वरी योगिनी है ॥ ४०-४१ ॥

विमर्शिनी—योंऽश इति । अस्य सेयमित्यनन्तरश्लोकस्थेनान्वयः ॥ ४० ॥

अशेषभुवनाधारा योगिनी परमेश्वरी ।
केवलस्तत्त्ववर्णस्तु त्रैलोक्यैश्वर्यदां गतः ॥ ४२ ॥

वही केवल तत्त्ववर्ण होकर त्रैलोक्यैश्वर्यदा (अः) के रूप में प्रगट होती है ॥ ४२ ॥

तत्तत् स्थूलमयं तत्त्वं मदीयं शक्ति शाश्वतम् ।
तत्तद्भावाभिधानेन तन्नियन्तृत्वदर्शने ॥ ४३ ॥

वही तत्-तत् स्थूलमय तत्त्व मेरी शक्ति के संयोग से तत् तत् भावाभिधान के द्वारा और उसकी नियन्तृत्व शक्ति से शाश्वत बन जाता है ॥ ४३ ॥

विमर्शिनी—सर्वमपि स्थूलतत्त्वं मदीयशक्त्या शाश्वतं भवति । अनेन क्षणभङ्गवादनिरासोऽभिप्रेतः ॥ ४३ ॥

इयमेवेश्वरा देवी द्विधा सक्तावतिष्ठते ।
क्षादि शान्तं पुरा यत्ते दर्शितं ब्रह्मपञ्चकम् ॥ ४४ ॥
क्ष इत्यादिस्वरूपेण त्रैलोक्यैश्वर्यदां गता ।
स्वरूपे नियमे चैव द्वेधा सेयमवस्थिता ॥ ४५ ॥

यही ईश्वरा शक्ति सङ्ग प्राप्त कर लेने पर दो रूपों में प्रगट होती है । क्ष से लेकर श वर्ण पर्यन्त जिसे ब्रह्मपञ्चक कहा गया है वह इसका पहला रूप है और जो दूसरे क्ष इत्यादि स्वरूप से त्रैलोक्यैश्वर्यदा (अः) का स्वरूप है । इस प्रकार स्वरूप में और नियम में यह दो रूपों में समवस्थित है ॥४४-४५॥

विमर्शिनी—सक्तेति । आसङ्गयुक्तेत्यर्थः । तदेवाह—क्षादीति ॥ ४४ ॥ द्वेधेति । सर्वेषां स्वरूपं नियमनं च प्रदर्शयन्ती द्वेधावतिष्ठत इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

धारणानां चतुष्कं यद्वादि यान्तमुदीरितम् ।
तत्र सूक्ष्मपरे भावे स्थितेयं पूर्ववद् द्विधा ॥ ४६ ॥

मैंने पहले 'व ल र य' इन चार वर्णों को जो धारणा कहा है, उसके भी सूक्ष्म और परभाव में, वह इन्हीं दो रूपों में स्थित रहती है ॥ ४६ ॥

विमर्शिनी—वादियान्तचतुष्कं धारणाचतुष्कमित्युक्तमित्यर्थः ॥ ४६ ॥

त्रैयवस्थो मकारोऽयं प्रोक्तश्चैतन्यवाचकः ।
तत्रापि सूक्ष्मपरयोर्द्वेधेयं दशयोर्द्वयोः ॥ ४७ ॥

तीन अवस्था वाला 'मकार' जिसे हमने पहले चैतन्य का वाचक कहा है, वहाँ भी इसे इन्हीं सूक्ष्म और पर इन दोनों दशाओ में दो प्रकारो का समझना चाहिये ॥ ४७ ॥

विमर्शिनी—त्र्यवस्थ एव त्रैयवस्थः ॥ ४७ ॥

मायाप्रसूतित्रैगुण्यरूपो यो भार्ण उच्यते ।
ई नाम पूर्ववद्देवी तत्रापि दशयोर्द्वयोः ॥ ४८ ॥

भकार जो माया, प्रसूति और त्रैगुण्यरूप से कहा गया है वहाँ भी यह देवी इन दोनों दशाओं में पूर्ववत् दो प्रकार वाली है ॥ ४८ ॥

बुद्ध्यहङ्कारमनसां यद्रूपं बादिकं त्रयम् ।
तत्रापि पूर्ववद् द्वेधा देवीयं दशयोर्द्वयोः ॥ ४९ ॥

ब फ प इस वादि वर्णों को जो हम पहले बुद्धि, अहङ्कार और मन रूप से कह आये हैं, वहाँ भी यह देवी इन दोनों दशाओं में पूर्ववत् दो प्रकार से स्थित है ॥ ४९ ॥

विमर्शिनी—बादिकं बफपाः ॥ ४९ ॥

नादिके णादिके चैव तथेन्द्रियगणद्वये ।
दशयोः सूक्ष्मपरयोरियं द्वेधावतिष्ठते ॥ ५० ॥

नादिक तवर्ग में, णादिक टवर्ग में तथा इन्द्रियगणद्वय में वहाँ भी यह सूक्ष्म और पर दोनों दशाओं में दो प्रकार से स्थित है ॥ ५० ॥

विमर्शिनी—नादिकं = तवर्गः । णादिकं = टवर्गः ॥ ५० ॥

ञादिके ङादिके चैव स्थूलसूक्ष्मस्वरूपके ।
विभूतिपञ्चके देवी दशयोः पूर्ववत् स्थिता ॥ ५१ ॥

ञादिक (चवर्ग) ङादिक (कवर्ग) के स्थूल एवं सूक्ष्म रूप में इन दोनों दशाओं में तथा विभूतिपञ्चक में यह देवी पूर्ववत् स्थित है ॥ ५१ ॥

विमर्शिनी—चवर्गपञ्चकं कवर्गपञ्चकं च तन्मात्रस्थूलभूतरूपतयोक्त-मित्यर्थः ॥ ५१ ॥

सप्तत्या वितता भेदैः शुद्धाशुद्धमयाध्वनि ।
नटीव स्वयमी शक्तिर्बिभर्ति बहुधा वपुः ॥ ५२ ॥

शुद्ध और अशुद्धमय अध्वा इनमें प्रत्येक के ३५ भेद हैं । दोनों को जोड़ लेने पर जो उसके ७० भेद हैं उसमें भी यह ईकार नटी के समान ७० रूप धारण करती है ॥ ५२ ॥

विमर्शिनी—सप्तत्येति । शुद्धाशुद्धाध्वनोः प्रत्येकं पञ्चत्रिंशदिति आहत्य सप्ततिर्भेदाः । ई शक्तिः; ईकाररूपा शक्तिरित्यर्थः ॥ ५२ ॥

इयद्विस्तृतिमापन्नामीमिमां परमेश्वरीम् ।
विचिन्त्य परमं याति पदं विष्णोः सनातनम् ॥ ५३ ॥

इतने विस्तार को प्राप्त हुई इस ईकार स्वरूपा परमेश्वरी का ध्यान कर साधक विष्णु का सनातन पद प्राप्त कर लेता है ॥ ५३ ॥

यत्र यत्र गता सेयं शुद्धाशुद्धे तथाध्वनि ।
तत्र तत्र त्वजहती विष्णोः संबन्धमी स्थिता ॥ ५४ ॥

जहाँ-जहाँ चाहे शुद्धाध्वा में और चाहे अशुद्ध अध्वा में यह जाती है, वहाँ-वहाँ यह विष्णु से सम्बन्ध बना कर स्थित रहती है ॥ ५४ ॥

एकद्वित्र्यादियोगेन स्वरव्यञ्जनरूषिता ।
शुद्धाशुद्धाध्ववर्गस्था नानाभेदोपपादिता ॥ ५५ ॥

एक, दो, तीन के योग से बनी यह व्यञ्जन स्वर व्यञ्जन वाली शुद्धाध्वा अशुद्धाध्वा में अनेक भेदों वाली बन जाती है ॥ ५५ ॥

जटोपरागहीनाया अस्या एव पुनस्त्रिधा ।
ज्ञेयः स्थूलादिरूपेण विभेदस्तत्त्वचिन्तकैः ॥ ५६ ॥

जकार और टकार के उपराग (छाया) से हीन इसके पुनः स्थूल एवं सूक्ष्म और परा भेद से तीन रूप हो जाते हैं ॥ ५६ ॥

विमर्शिनी—जटेति । जकारटकारादीत्यर्थः । उपलक्षणमेतत् वर्णान्तरोपराग-स्यापि ॥ ५६ ॥

सृष्टिकृत्संयुता स्थूला सूक्ष्मा व्योमेशसंयुता ।
निरञ्जना परा सेयमी इत्येवानुरागिणी ॥ ५७ ॥

सृष्टिकृत् (विसर्ग) से संयुक्त स्थूल रूप एवं व्योम (बिन्दु) से युक्त सूक्ष्म रूप तथा सर्वथा निरञ्जना (शून्य) परा रूप—इस प्रकार तत्त्वचिन्तकों ने इसके तीन भेद किये हैं ॥ ५७ ॥

विमर्शिनी—ईरूपस्य स्थूलादिभेदमाह—सृष्टीत्यादि । सृष्टिकृत् = विसर्गः । व्योमेशः = अनुस्वारः ॥ ५७ ॥

निष्कम्पा दीपलेखेव पत्नी विष्णोरियं परा ।
सर्वेष्वाधारपद्मेषु निश्चलैवावतिष्ठते ॥ ५८ ॥

यह परा विष्णु की पत्नी है, जो दीप की शिखा के समान सर्वथा अविचल है । यह अपने सभी आधार कमलों में सर्वथा निश्चल होकर स्थित रहती है ॥ ५८ ॥

आबस्तिदेशादामूर्धब्रह्मयानमनुव्रता ।
एकेयमुज्ज्वला दीप्ता पावना च यशस्विनी ॥ ५९ ॥

वस्ति (नाभि के नीचे वाले भाग) से मूर्धा पर्यन्त स्थान तक ब्रह्मयान का अनुसरण करती है । यह एक ही उज्ज्वला है, दीप्ता है, पावना है और यशस्विनी है ॥ ५९ ॥

विमर्शिनी—बस्तिः = नाभेरधोभागः ॥ ५९ ॥

ब्रह्मरन्ध्राद्विनिष्क्रान्ता महापद्ममुपेयुषी ।
ओतप्रोतात्मिका सेयं परमानन्दवर्त्मनि ॥ ६० ॥

ब्रह्मरन्ध्र से निकल कर यह पुनः अपने महापद्म में आ जाती है । यह परमानन्द के मार्ग में सर्वथा ओत-प्रोत अनुस्यूता है ॥ ६० ॥

विमर्शिनी—ओतप्रोतेति । सर्वानुस्येतेत्यर्थः ॥ ६० ॥

विलाप्य मार्त्यवं रूपममृतं प्लावयेन्नरम् ।
मन्त्राणां मन्मयानां हि मन्त्रैर्विष्णुमयैः सह ॥ ६१ ॥

विष्णुमय मन्त्रों के साथ मेरे स्वरूप वाले मन्त्रों का अमृतत्त्व मरणशील मनुष्यों के मृत्यु धर्म को मिटा कर उन्हें अमृतत्त्व प्रदान करता है ॥ ६१ ॥

विमर्शिनी—मृत्योरिदं मार्त्यवम्; मरणधर्मेत्यर्थः ॥ ६१ ॥

सा मे नूनमनूनश्रीरिति संख्या परा हि या ।
ते च सांख्याद्वया मन्त्रा जपाद्भोगापवर्गदाः ॥ ६२ ॥

निश्चय ही वे मेरे अनूनश्री होने के कारण संख्या (गिनती) से परे हैं जो

मेरे चित्स्वरूप वाले अद्वय (बेजोड़) मन्त्र हैं, वे निश्चय ही जप से भोग और अपवर्ग प्रदान करने वाले हैं ॥ ६२ ॥

विमर्शिनी—अनूनश्रीः = ५०० । सांख्याद्वयाः = चिद्रूपिण इत्यर्थः ॥

अस्या एव परायास्तु विप्रुषः परिकीर्तिताः ।
यथा हि किरणव्रातं तेजस्त्वं व्याप्य तिष्ठति ॥ ६३ ॥

वे सभी मात्र इस परा स्वरूपा ईकार के एक मात्र बिन्दु रूप हैं जैसे किरणों का समूह तेजस्त्व को व्याप्त कर स्थित रहता है ॥ ६३ ॥

विमर्शिनी—तेजस्त्वं = भास्वरत्वम् ॥ ६३ ॥

यथा हि पार्थिवान् भावान् व्याप्य स्थैर्यं व्यवस्थितम्।
नानाविभवसंस्थानं नानारचनसंस्थितम् ॥ ६४ ॥

जैसे अनेक विभवों में रहने वाला तथा अनेक रचनाओं में स्थित स्थैर्य पार्थिवभाव को व्याप्त कर एक स्थान में स्थिर रूप से स्थित रहता है ॥ ६४॥

बाह्यमाभ्यन्तरं चैव भावं शब्दमयं समम् ।
व्याप्यैवमी स्थिता देवी विष्णुपत्नी यशस्विनी ॥ ६५ ॥

शब्दमय भाव भीतर और बाहर समान रूप से रहता है जिसे यशस्विनी ई रूपा विष्णुपत्नी प्राप्त कर स्थित रहती हैं ॥ ६५ ॥

विमर्शिनी—ईरूपिणी देवी स्थितेत्यन्वयः ॥ ६५ ॥

स्थूलसूक्ष्मादिभेदोऽयं यथावच्छक्र दर्शितः ।
तारिकाया इदानीं त्वमङ्गादीनि शृणुष्व मे ॥ ६६ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे स्थूलादिप्रकाशो नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

हे इन्द्र ! इस प्रकार हमने स्थूल तारिका के सूक्ष्मादि भेद यथावत् प्रदर्शित किया । अब इसके अङ्गादि के विषय में सुनिए ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के स्थूलादिप्रकाश नामक बत्तीसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

अङ्गोपाङ्गादिमन्त्रप्रकाशः

तारिकायाः अङ्गमन्त्राः

श्रीरुवाचः—

श्रृणु वत्स सुरेशान विद्यायास्तारिकाकृते ।
अङ्गोपाङ्गानि मन्त्राणि नानामन्त्रमयानि मे ॥ १ ॥

श्री ने कहा—हे वत्स सुरेशान ! तारिका की आकृति वाली महाविद्या के अनेक मन्त्र मय अङ्ग और उपाङ्ग के मन्त्रों को कहती हूँ । सुनिए ॥ १ ॥

गोपनं पञ्चबिन्दुं च ह्यूर्जमैरावणं तथा ।
और्वं च पञ्चकं चैते प्रत्येकं व्यापिनान्वितम् ॥ २ ॥
प्राणानलोपरिस्थं तु कृत्वैतत् पिण्डपञ्चकम् ।
हृदादिनेत्रपर्यन्तमङ्गबीजमिदं स्मरेत् ॥ ३ ॥

पञ्चाङ्गमन्त्रोद्धार—गोपन (आकार) पञ्चबिन्दु (ईकार) ऊर्ज (ऊकार) ऐरावण (ऐकार) और्व (औकार) पाँचों में प्रत्येक को व्यापी बिन्दु से संयुक्त करे। प्राण हकार, अनल रेफ इनको उक्त पञ्चपिण्डक से जोड़ देवे तो ये हृदय से लेकर नेत्र पर्यन्त (हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्र) अङ्ग के उक्त बीजों का स्मरण करे । (यथा ॐ ह्रां हृदयाय नमः, ॐ ह्रीं शिरसे स्वाहा, ॐ ह्रूं शिखायै वौषट्, ॐ ह्रैं कवचाय हुम्, ॐ ह्रौं नेत्राभ्यां वौषट्) इस रीति से पञ्चाङ्ग का स्पर्श करे ॥ २-३ ॥

विमर्शिनी—गोपनः = आकारः । पञ्चबिन्दुः = ईकारः । ऊर्ज = ऊकारः । ऐरावण = ऐकारः । और्वः = औकारः । व्यापी = अनुस्वारः ॥ २ ॥ प्राणः

= अकार: । अनल: = रेफ: । अनल: = रेफ: । पिण्डपञ्चकम् = ह्रां, ह्रीं, ह्रूँ, ह्रैं, ह्रौं इति मन्त्रपञ्चकम् । हृदादीति ॥ ३ ॥

हृद्बीजात् परतो योज्यं ज्ञानायेति पदं ततः ।
हृदयाय नमश्चैव मन्त्रोऽयं धारणप्रदः ॥ ४ ॥
प्रणवादिनमोऽन्तोऽयं मन्त्र एकादशाक्षरः ।

अङ्गषट्कमन्त्रोद्धार—हृद्बीज से परे ज्ञानाय नमः इस पद की योजना करे । फिर हृदयाय नमः कहे । यह मन्त्र धारणा प्रदान करता है । आदि में प्रणव तथा अन्त में नमः लगाकर हृदय में न्यास करे । यथा—ॐ ह्रां ज्ञानाय हृदयाय नमः । इस प्रकार यह मन्त्र ११ अक्षरों का है ॥ ४-५- ॥

विमर्शिनी—मन्त्रं निर्दिशति—हृदित्यादि । ॐ ह्रां ज्ञानाय हृदयाय नमः ॥ ४ ॥

परं प्रणवबीजाभ्यामैश्वर्याय पदं न्यसेत् ॥ ५ ॥
शिरसे च तथा स्वाहा ह्येष एकादशाक्षरः ।

इसी प्रकार प्रणव और बीज लगाकर ॐ ह्रीं ऐश्वर्याय शिरसे स्वाहा का उच्चारण कर शिर का स्पर्श करे । यह भी एकादशाक्षर मन्त्र है ॥ -५-६- ॥

परं प्रणवबीजाभ्यां शक्तये च पदं न्यसेत् ॥ ६ ॥
शिखायै वौषडित्येवं शैखोऽयं तु दशाक्षरः ।

इसके बाद पुनः प्रणव बीज लगाकर ॐ हूं शक्तये शिखायै वषट् कहकर शिखा का स्पर्श करें। यह दशाक्षर मन्त्र है ॥ -६-७- ॥

परं प्रणवबीजाभ्यां बलायेति पदं न्यसेत् ॥ ७ ॥
कवचाय हुमित्येवं मन्त्रोऽयं च दशाक्षरः ।
परं प्रणवबीजाभ्यां तेजसे च पदं न्यसेत् ॥ ८ ॥
नेत्राभ्यां वौषडित्येवं नेत्रमन्त्रो दशाक्षरः ।
प्राणानलोपरिस्थं तु विन्यसेत् परमेश्वरम् ॥ ९ ॥
तस्मात् प्रणवपूर्वात्तु पदं वीर्याय विन्यसेत् ।
अस्त्राय च फडित्येवं मन्त्रोऽयं च दशाक्षरः ॥ १० ॥

इसके बाद प्रणव बीज लगाकर ॐ ह्रैं बलाय कवचाय हुं से कवच का यह भी दश अक्षर का मन्त्र है. । इसके बाद 'ह्रौ तेजसे नेत्राभ्यां वौषट्' कहकर दोनों नेत्रों का स्पर्श करे । यह भी दश अक्षर का मन्त्र है । तदनन्तर ॐ ह्रः वीर्याय अस्त्राय च फट् कहे । यह दश अक्षर का मन्त्र है ॥-७-१०॥

विमर्शिनी—प्रयोगविधि इस प्रकार है जैसे—ॐ ह्रां ज्ञानाय हृदयाय नमः, ॐ ह्रीं ऐश्वर्याय शिरसे स्वाहा, ॐ ह्रूं शक्तये शिखायै वषट्, ॐ ह्रैं बलाय कवचाय हुम्, ॐ ह्रौं तेजसे नेत्राभ्यां वौषट्, ॐ ह्रः वीर्याय अस्त्राय फट् ।

मन्त्रोद्धारः—ॐ ह्रीं ऐश्वर्याय शिरसे स्वाहा । ॐ ह्रूं शक्तये शिखायै वौषट् । ॐ ह्रैं बलाय कवचाय हुं । ॐ ह्रौं तेजसे नेत्राभ्यां वौषट् । ॐ ह्रः वीर्याय अस्त्राय च फट् ॥ ५-१० ॥

तारिकायाः उपाङ्गमन्त्राः

अङ्गषट्कमिदं प्रोक्तमुपाङ्गत्रियुगं शृणु ।
तारिकान्ते क्रमाद्दद्यात् पूर्ववत् षड्गुणं पदम् ॥ ११ ॥
ज्ञानादितेजःपर्यन्तं तदन्ते च क्रमान्न्यसेत् ।
उदराय च पृष्ठाय बाहुभ्यामिति वै पदम् ॥ १२ ॥
ऊरुभ्यामथ जानुभ्यां चरणाभ्यामिति क्रमात् ।
नमश्च परतो योज्यमुपाङ्गानामयं विधिः ॥ १३ ॥

उपाङ्गमन्त्रोद्धार—यहाँ तक हमने ६ अङ्गो के स्पर्श का विधान कहा । अब ६ उपाङ्गों के विषय में सुनिए । तारिका (ह्रीं) के अन्त में पूर्ववत् ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज लगाकर क्रमशः उदर, पृष्ठ, दोनों बाहु, दोनों ऊरु, दोनों जानुओं और दोनों चरणो का स्पर्श करे । अन्त में नमः पद जोड़ देवें । प्रयोगविधि—ॐ ह्रीं ज्ञानाय उदराय नमः, ॐ ह्रीं शक्तये पृष्ठाय नमः, ॐ ह्रीं बलाय बाहुभ्यां नमः, ॐ ह्रीं ऐश्वर्याय ऊरुभ्यां नमः, ॐ ह्रीं वीर्याय जानुभ्यां नमः, ॐ ह्रीं तेजसे चरणाभ्यां नमः । यहाँ तक उपाङ्ग न्यास की विधि कही गई ॥ ११-१३ ॥

विमर्शिनी—मन्त्रोद्धारः—ॐ ह्रीं ज्ञानाय उदराय नमः । ॐ ह्रीं शक्तये पृष्ठाय नमः । ॐ ह्रीं बलाय बाहुभ्यां नमः ॥ ११-१२ ॥ ॐ ह्रीं ऐश्वर्याय ऊरुभ्यां नमः । ॐ ह्रीं वीर्याय जानुभ्यां नमः । ॐ ह्रीं तेजसे चरणाभ्यां नमः ॥ १३ ॥

तारिकायाः अलङ्कारमन्त्राः

इत्येवमङ्गोपाङ्गानां मन्त्रा द्वादश कीर्तिताः ।
अलङ्कारास्त्रमन्त्रांस्तु ब्रुवत्या मे निशामय ॥ १४ ॥

इस प्रकार हमने अङ्ग और उपाङ्गों के द्वादश मन्त्र को कहा । अब अलङ्कारास्त्र मन्त्रों को कह रही हूँ, उन्हें सुनिए ॥ १४ ॥

अलङ्कारास्त्रमन्त्रोद्धारः

कौस्तुभो व्योमसंभिन्नः परमात्मा ततः परम् ।
ऊर्ध्वाधोऽनलसंभिन्न ऊर्जेनापि समन्वितः ॥ १५ ॥
सृष्टिकृत्संयुतो मूर्ध्नि कौस्तुभो व्यापिसंयुतः ।
नमस्कृतिस्ततः पश्चात्ततः पश्चात् प्रभात्मने ॥ १६ ॥
कौस्तुभाय ततः स्वाहा प्रणवाद्यस्तु कौस्तुभः ।
मन्त्रः षोडशवर्णोऽयं सर्वकर्मप्रसाधकः ॥ १७ ॥

अलङ्कारास्त्रमन्त्रोद्धार—कौस्तुभ ठवर्ण व्यापी बिन्दु से युक्त हं, इसके बाद परमात्मा, जो ऊपर और नीचे अनल रेफयुक्त तथा ऊर्जा ऊकार से समन्वित होकर सृष्टिकृत् विसर्ग से संयुक्त करे । तदनन्तर व्यापी बिन्दु से संयुक्त कौस्तुभ ठकार, इसके बाद नमस्कृति, इसके बाद प्रभात्मने और इसके बाद कौस्तुभाय स्वाहा । कौस्तुभ ठ के आदि में ॐ लगावे । इस प्रकार सोलह वर्णों का यह मन्त्र सभी कर्मों का प्रसाधक कहा गया गया है । निष्पन्न मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार है—ॐ ठं ह्रूः ठं नमः प्रभात्मने कौस्तुभाय स्वाहा ॥ १५-१७ ॥

विमर्शिनी—मन्त्रोद्धारः—ॐ ठं ह्रूः ठं नमः प्रभात्मने कौस्तुभाय स्वाहा ॥ १५-१७ ॥

उद्धरेत् प्रथमं तारं धरेशं तत उद्धरेत् ।
तदधस्तृप्तिसंज्ञं च वराहं तदधो न्यसेत् ॥ १८ ॥
मायया भूषयेत् पश्चाद्व्यापिना चाङ्कयेत्ततः ।
पञ्चात्मा वर्णपिण्डोऽयं नमस्कारं ततः परम् ॥ १९ ॥
ततः स्थलजलोद्भूतभूषितेपदमुद्धरेत् ।
वनमाले ततः स्वाहा मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ॥ २० ॥
एकोनविंशत्यर्णोऽयं वनमालामयो महान् ।

वनमालामयमन्त्रोद्धार—पहले तार (ॐ कहे) इसके बाद धरेशं ल्, उसके नीचे तृप्ति स् उसके बाद वराह व् फिर उसे माया ईकार से भूषित करें। तदनन्तर उसपर बिन्दु लगावे । यह पाँच वर्णों का पिण्ड हुआ । इसके बाद नमस्कार फिर 'जलस्थलोद्भूतभूषित' पद कहे । इसके बाद वनमाले, फिर स्वाहा कहे । यह मन्त्र सर्वार्थसाधक है । उक्त वर्णों से निष्पन्न मन्त्र का स्वरूप—ॐ ल्स्वीं नमः स्थलजलोद्भूतभूषिते वनमाले स्वाहा' । यह महान् वनमालामय मन्त्र कुल उन्नीस अक्षरों का है ॥ १८-२१- ॥

विमर्शिनी—मन्त्रोद्धारः—ॐ ल्स्वीं नमः स्थलजलोद्भूतभूषिते वनमाले स्वाहा ॥ १८-२१ ॥

तारकस्यावसाने तु वामनार्णं समुद्धरेत् ॥ २१ ॥
तदधस्तृप्तिमायोज्य भूषयेदुदयेन तु ।
व्यापिना चाङ्कितः पिण्डश्चतुरर्णो महाद्भुतः ॥ २२ ॥
नमस्कारस्ततः पश्चाच्छ्रीनिवासपदं ततः ।
पद्माय वह्निजाया च पाद्मोऽयं त्रिदशाक्षरः ॥ २३ ॥

पद्मामन्त्रोद्धार—तारक ॐ के अन्त में वामन व का उद्धार करे । फिर उसके बाद तृप्ति वर्ण सकार, फिर उदय उकार, तदनन्तर बिन्दु से विभूषित करे । इस प्रकार व् स् उ और बिन्दु से युक्त ४ वर्णों का पिण्ड बन जाता है, इसके बाद नमः, बाद में श्रीनिवास, फिर पद्माय, फिर वह्निजाया स्वाहा से संयुक्त करे । यह पद्मा का मन्त्र है जो तेरह अक्षरों से निष्पन्न होता है । मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार है—'ॐ व्सुं नमः श्रीनिवासपद्माय स्वाहा ॥-२१-२३ ॥

तारिकायाः अस्त्रमन्त्राः

आदायादौ तु वैकुण्ठं रेफं तदुपरि न्यसेत् ।
आनन्देनान्वितं पश्चाद्व्यापिना चाङ्कयेत्ततः ॥ २४ ॥
कस्थकस्थपदं दद्यान्नेमिद्वन्द्वमतः परम् ।
वरपाशाय वै स्वाहा प्रणवाद्यस्तु पाशराट् ॥ २५ ॥
मन्त्रः पञ्चदशार्णोऽयं कामिनां क्षिप्रसिद्धिकृत् ।

पाशराट् मन्त्रोद्धार—सर्वप्रथम वैकुण्ठ ण उसके बाद ऊपर रेफ फिर उसे आकार से युक्त (र्णा) करे । उसके बाद ऊपर बिन्दु लगावे । तदनन्तर 'कस्थ कस्थ' दो बार कहे । फिर दो बार नेमि ठ ठ, तदनन्तर वरपाशाय स्वाहा कहे और आदि में प्रणव लगावे । यह पाशराट् मन्त्र है । यह मन्त्र १५ अक्षरों वाला है जो कामना करने वालों को शीघ्र सिद्धि प्रदान करता है । मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार होगा—ॐ र्णा कस्थ कस्थ ठ ठ वरपाशाय स्वाहा ॥ २४-२६- ॥

विमर्शिनी—मन्त्रोद्धारः—ॐ र्णां कस्थ कस्थ ठ ठ वरपाशाय स्वाहा ॥ २४-२६ ॥

प्रणवान्ते विराट्संज्ञं व्यापिना मूर्ध्नि संयुतम् ॥ २६ ॥
द्वयं पिण्डतया योज्यं रेफं कमलमङ्कुशम् ।
व्यापिना संयुतं मूर्ध्नि तृतीयमिदमक्षरम् ॥ २७ ॥

पदं निशितघोणाय चांकुशाय शिखिप्रिया ।
इति पञ्चदशार्णोऽयमांकुशः शीघ्रसिद्धिदः ॥ २८ ॥

अंकुशमन्त्रोद्धार—प्रणव (ॐ) के अन्त में विराट् संज्ञा ऌ वर्ण, उसके शिर पर व्यापी बिन्दु लगावे, इसका पिण्ड करे । फिर रेफ और कमल क उसको अंकुश ॠ से संयुक्त करे । तदनन्तर उसपर व्यापी बिन्दु लगावे । यह तीसरा अक्षर हुआ । इसके बाद 'निशितघोणाय' अंकुशाय फिर शिखिप्रिया स्वाहा लगावे । यह १५ अक्षरों का अंकुश मन्त्र है जो शीघ्र सिद्धि प्रदान करता है। निष्पन्न मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार है—'ॐ लॄं कॄं निशितघोणाय अंकुशाय स्वाहा' ॥ -२६-२८ ॥

विमर्शिनी—मन्त्रोद्धारः—ॐ लॄं कॄं निशितघोणाय अङ्कुशाय स्वाहा ॥ २६-२८ ॥

तारिकायाः आधारमन्त्राः

अलङ्कारास्त्रमन्त्राणामेतत् पञ्चकमीरितम् ।
आधारासनमन्त्राणां शृणु रूपं पुरन्दर ॥ २९ ॥
यद्विना तारिकायास्तु पूरणं नैव जायते ।

अलङ्कारास्त्र मन्त्रों का यह पाँच मन्त्र कहा गया । अब हे पुरन्दर ! आधारासन मन्त्र के स्वरूप को सुनिए । जिसके बिना तारिका मन्त्र के स्वरूप की पूर्त्ति नहीं होती ॥ २९-३०- ॥

आधारासनमन्त्रोद्धारः

अनलद्वयमध्यस्थः प्राणो मायी स बिन्दुमान् ॥ ३० ॥
तत आधारशक्त्यै च प्रणवादिर्नमोऽन्तिमः ।
आधारशक्तिमन्त्रोऽयं विज्ञेयस्तु नवाक्षरः ॥ ३१ ॥

आधारशक्तिमन्त्रोद्धार—दो अनल रेफ के मध्य में प्राण जो मायी ईकारयुक्त और बिन्दुमान हो, इसके बाद आधारशक्त्यै, जिसके आदि में प्रणव तथा अन्त में नमः हो । यह आधार शक्ति का नौ अक्षरों वाला मन्त्र जानना चाहिये । "ॐ ह्रीं आधारशक्त्यै नमः"—यह मन्त्र का स्वरूप है ॥ -३०-३१॥

विमर्शिनी—मन्त्रोद्धारः—ॐ ह्रीं आधारशक्त्यै नमः(९) ॥ ३०-३१ ॥

अनलद्वयमध्यस्थो बिन्द्वन्तोऽप्यूर्जसंयुतः ।
ततः कालाग्निकूर्माय नमोऽन्तः प्रणवादिकः ॥ ३२ ॥

मन्त्रः कालाग्निकूर्मस्य विज्ञेयोऽयं दशाक्षरः ।

अनलद्वय (दो रेफ) युक्त प्राण (हकार), अन्त में ऊकार और बिन्दु, फिर चतुर्थ्यन्त कालाग्निकूर्म शब्द, जिसके अन्त में नमः तथा आदि में प्रणव हो । इसे दश अक्षर वाला समझना चाहिये । मन्त्र का स्वरूप—ॐ ह्रूं कालाग्निकूर्माय नमः ॥ ३२-३३- ॥

विमर्शिनी—अनलद्वयमध्यस्थ इति । प्राण इत्यनुषज्यते । ॐ ह्रूं कालाग्निकूर्माय नमः । इति मन्त्रोद्धारः ॥ ३२ ॥

गोपनेनाङ्कितं प्राणं मूर्ध्नि च व्यापिना युतम् ॥ ३३ ॥
प्रणवान्ते समुद्धृत्य ह्यनन्ताय नमस्ततः ।
अष्टाक्षरो ह्ययं मन्त्रो नागराजस्य कीर्तितः ॥ ३४ ॥

नागराज मन्त्रोद्धार—गोपन आकार युक्त प्राण हकार जिस पर बिन्दु हो और जो प्रणव के अन्त में हो उसके बाद अनन्ताय नमः पद जोड़ देवें । यह अष्टाक्षर महामन्त्र नागराज का समझना चाहिये । इस प्रकार 'ॐ हां अनन्ताय नमः' यह मन्त्र का स्वरूप हुआ ॥ -३३-३४ ॥

विमर्शिनी—ॐ हां अनन्ताय नमः ॥ ३३-३४ ॥

कमलं चाग्निरूपं च प्रधानं पुरुषेश्वरम् ।
पिण्डीकृत्य चतुष्कं तु गोपनव्यापिसंयुतम् ॥ ३५ ॥
वसुधायै नमः पश्चात् प्रणवादिर्मनुस्त्वयम् ।
विश्वंभराया विज्ञेय आधारः परिकल्प्यते ॥ ३६ ॥

कमल क अग्नि ष दोनों को मिलाकर उसमें प्रधान मकार और पुरुषेश्वर ल इन चारों को पिण्डी कर (एक में मिलाकर) उसका गोपन आकार और व्यापी बिन्दु से युक्त करे । इसके पश्चात् वसुधायै नमः कहें । आदि में प्रणव जोड़ दें । यह मन्त्र विश्वेश्वरा का आधारभूत कहा गया है । इस प्रकार मन्त्र का स्वरूप—ॐ क्ष्म्लां वसुधायै नमः ॥ ३५-३६ ॥

विमर्शिनी—मन्त्रोद्धारः—ॐ क्ष्म्लां वसुधायै नमः ॥ ३५-३६ ॥

अमृतं वरुणं चार्णद्वयं पिण्डीकृतं सह ।
गोपनव्यापिसंयुक्तं प्रणवान्ते समुद्धरेत् ॥ ३७ ॥
क्षीरार्णवाय च नमः सोऽयं मन्त्रो नवाक्षरः ।

अमृत सकार एवं वरुण वकार इन दो वर्णों को पिण्डीकरण (मिला) देवें । उसमें आकार और बिन्दु लगा दें । आदि में प्रणव लगावें । तदनन्तर

'क्षीरार्णवाय नमः' यह लगा दें । इस प्रकार नव अक्षरों वाला यह मन्त्र निष्पन्न हो जाता है । मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार है—ॐ स्वां क्षीरार्णवाय नमः ॥ ३७-३८- ॥

विमर्शिनी—मन्त्रोद्धारः—ॐ स्वां क्षीरार्णवाय नमः ॥ ३७ ॥

पवित्रं सोदयव्यापिसंयुतं प्रणवान्तगम् ॥ ३८ ॥
आधारपद्माय नमः पद्मस्यायं दशाक्षरः ।
इत्थमाधारषट्कस्य मन्त्रषट्कं प्रकीर्तितम् ॥ ३९ ॥

पवित्र पकार जो उदय उकार तथा व्यप्ति बिन्दु से युक्त हो, उसे प्रणव (ॐ) के अन्त में रखकर 'आधारपद्माय नमः' इतना जोड़ देवें । यह पद्म का दशाक्षर मन्त्र निष्पन्न हो जाता है जो इस प्रकार है—'ॐ पुं आधार-पद्माय नमः' । इस प्रकार हमने छह आधारों के छह मन्त्रों का निरूपण कर दिया ॥ -३८-३९ ॥

विमर्शिनी—मन्त्रोद्धारः—ॐ पुं आधारपद्माय नमः ॥ ३८ ॥

तारिकायाः आधारेशमन्त्राः

आधारेशाख्यमन्त्राणां विधिं शृणु पुरन्दर ।

हे पुरन्दर ! आधारेश नामक इन मन्त्रों की विधि सुनिए ॥ ४०- ॥

धर्ताजितोऽमृताधारो विबुधाख्यश्च वासव ॥ ४० ॥
एतांश्चतुर उद्धृत्य वर्णनिषामथोपरि ।
विन्यसेच्चतुरो वर्णान् सत्यादीन् साधकोत्तमः ॥ ४१ ॥
त्रैलोक्यैश्वर्यदं दद्याच्चत्वार्येतानि वासव ।
बीजानि प्रणवादीनि धर्मादेः षोडशात्मनः ॥ ४२ ॥
धर्मादिकमधर्माद्यमृगाद्यं च कृतादिकम् ।
चतुष्टयानि चत्वारि यानि सिद्धानि लोकतः ॥ ४३ ॥
चतुश्चतुर्विभागेन संज्ञाः षोडश विन्यसेत् ।
बीजोपरि नमश्चान्ते मन्त्राः षोडश ते स्मृताः ॥ ४४ ॥

हे इन्द्र ! उत्तम साधक धकार, अजित जकार, अमृताधार वकार एवं विबुध लकार—इन चार वर्णों का उद्धार कर, उन चारों वर्णों को सत्यादि वर्ण ऋ ॠ ऌ ॡ इन चार स्वरों से युक्त करे तो हे इन्द्र ! ये चारों बीजाक्षर त्रैलोक्य के भी ऐश्वर्य को दे सकते हैं । १६ प्रकार के धर्मादिकों के आदि में प्रणव लगा देने से वे उनके बीजमन्त्र बन जाते हैं ॥ -४०-४२ ॥

अब सोलह प्रकार के धर्म कहते हैं—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य—ये चार प्रकार के धर्म, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य—ये चार प्रकार के अधर्म ऋक्, साम, यजुः, अथर्व चार प्रकार के वेद तथा कृत, त्रेता, द्वापर और कलियुग इस प्रकार ४-४ के क्रम से ये १६ धर्मादि कहे गए हैं । उक्त बीज के अन्त में नमः तथा आदि में प्रणव लगाकर इनका न्यास करना चाहिये ॥ ४३-४४ ॥

विमर्शिनी—प्रयोगविधि—ॐ धृं धर्माय नमः, ॐ धृं ज्ञानाय नमः, ॐ ध्लृं वैराग्याय नमः, ॐ ध्लॄं ऐश्वर्याय नमः । इसी प्रकार—

ॐ जृं अधर्माय नमः, ॐ जॄं अज्ञानाय नमः, ॐ ज्लृं अवैराग्याय नमः, ॐ ज्लॄं अनैश्वर्याय नमः ।

इसी प्रकार वृं वॄं व्लृं व्लॄं इन बीज मन्त्रों से ऋगादिक का न्यास करे तथा ॐ ल्ऋृं, ॐ ल्ऋॄं, ॐ ल्लृं, ॐ ल्लॄं से कृतादि का न्यास करे ॥ ४०-४४ ॥

धर्ता = धकारः । अजितः = जकारः । अमृताधारः = वकारः । विबुधः = लकारः । सत्यः = ऋकारः । (१) ॐ धृं, ॐ धॄं, ॐ ध्लृं, ॐ ध्लृं इति क्रमेण धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याख्याधारेशबीजमन्त्राः । (२) ॐ जृं, ॐ जॄं, ॐ ज्लृं, ॐ ज्लॄं इति क्रमेण अधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याख्याधारेशबीजमन्त्राः । (३) ॐ वृं, ॐ वॄं, ॐ वॢं, ॐ वॣं इति ऋग्यजुःसामाथर्वाख्याधारेशबीज-मन्त्राः । (४) ॐ ल्ऋृं, ॐ ल्ऋॄं, ॐ ल्लृं, ॐ ल्लॄं इति कृतत्रेता-द्वापरकल्याख्याधारेशबीजमन्त्राः ॥ ४०-४३ ॥ अथ धर्मादीनां षोडशानां संज्ञामन्त्रा उच्यन्ते—चतुरित्यादिना । ॐ धृं धर्माय नमः । ॐ धॄं ज्ञानाय नमः । इत्यादिक्रमेण ज्ञेयाः ॥ ४०-४४ ॥

तारिकायाः अव्यक्तपद्ममण्डलचिद्भासनमन्त्राः

सोदयं सामृतं ह्रस्वं प्रणवोपरि विन्यसेत् ।
अव्यक्तपद्माय नमः स मन्त्रोऽव्यक्तपद्मकः ॥ ४५ ॥

अव्यक्तपद्मक मन्त्र—प्रणव के बाद ह्रस्व बकार को उदय उकार एवं अमृत सकार तथा बिन्दु से युक्त करे, फिर अव्यक्तपद्माय इस पद को जोड़ देवें तो यह अव्यक्तपद्मक मन्त्र बन जाता है । यथा—ॐ सुं अव्यक्तपद्माय नमः ॥ ४५ ॥

विमर्शिनी—ह्रस्वः = बकारः । उदयः = उकारः । मन्त्रोद्धारः—ॐ ब्सुं अव्यक्तपद्माय नमः ॥ ४५ ॥

सूर्येन्द्वग्निपदेभ्यस्तु प्रत्येकं मण्डलाय च ।
नमोऽन्ते प्रणवश्चादौ ते मन्त्रा मण्डलत्रये ॥ ४६ ॥

सूर्य, इन्द्र, अग्नि पद के आगे मण्डलाय नमः लगावे । आदि में प्रणव जोड़ देवें । इस प्रकार—ॐ सूर्यमण्डलाय नमः, ॐ इन्द्रमण्डलाय नमः, ॐ अग्निमण्डलाय नमः—ये मण्डल के तीन मन्त्र निष्पन्न हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

विमर्शिनी—मण्डलत्रयमन्त्रोद्धारः—ॐ सूर्यमण्डलाय नमः । ॐ इन्दुमण्डलाय नमः । ॐ अग्निमण्डलाय नमः । इति मण्डलत्रयमन्त्राः ॥ ४६ ॥

प्रत्यगात्मपरामर्शिशब्दः सोमोऽथ सर्गवान् ।
चिद्भासनाख्यमन्त्रोऽयं त्र्यक्षरः परिकीर्तितः ॥ ४७ ॥

चिद्भासनमन्त्रोद्धार—प्रत्यगात्मपरामर्शि शब्द के बाद 'अहं', उसके बाद सर्गवान् सोम (सः) लगा देवें तो यह तीन अक्षरों का चिद्भासन मन्त्र बन जाता है ॥ ४७ ॥

विमर्शिनी—अहं सः । इति चिद्भासनमन्त्रः ॥ ४७ ॥

इत्यासनाख्यमन्त्राणां कथिता त्वेकविंशतिः ।
इत्ययं पीठपूजान्तो मन्त्रग्रामो मयेरितः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार आसन नामक मन्त्रों का २१ प्रकार कहा गया । इस प्रकार पीठ पूजा पर्यन्त मन्त्र का उद्धार मैंने कर दिया ॥ ४८ ॥

विमर्शिनी—१६ आधारेश मन्त्र, एक अव्यक्त पद्म मन्त्र, तीन मण्डल मन्त्र और एक चिद्भासन मन्त्र इस प्रकार कुल २१ मन्त्र कह दिया गया ।

एकविंशतिरिति । षोडशाधारेशमन्त्राः । एकः अव्यक्तपद्ममन्त्रः । त्रयो मण्डलमन्त्राः । एकः चिद्भासनमन्त्र इति ज्ञेयम् ॥ ४८ ॥

क्षेत्रेशादिमन्त्राः

रहस्यं परमं गुह्यमिदानीं परमं शृणु ।
क्षेत्रेशाद्यं मन्त्रचयं विघ्ननिर्मथनक्षमम् ॥ ४९ ॥

अब इसके बाद परम रहस्यात्मक मन्त्रों को, हे इन्द्र ! सुनिए । क्षेत्रेशादि मन्त्रों का समूह समस्त विघ्नों के विनाश में समर्थ है ॥ ४९ ॥

गरुडं कालमनलं पिण्डीकृत्याङ्कयेत् ततः ।
सव्यापिनादिदेवेन क्षेत्रपालाय वै नमः ॥ ५० ॥
प्रणवाद्यो मनुः सोऽयं क्षेत्रेशस्य नवाक्षरः ।

१. क्षेत्रपालमन्त्रोद्धार—गरुड़ क्ष्, काल म् और अनल र इनको एक में मिलाकर व्यापी बिन्दु एवं आदिदेव आकार से युक्त करे । फिर क्षेत्रपालाय नमः कहे और आदि में प्रणव लगावें । इस प्रकार—ॐ क्ष्म्रां क्षेत्रपालाय नमः—यह क्षेत्रपाल का मन्त्र हो जाता है । इस प्रकार प्रणवादि उक्त नव अक्षरों वाला यह मन्त्र क्षेत्रेश का निष्पन्न हो जाता है ॥ ५० ॥

विमर्शिनी—क्षेत्रपालमन्त्रोद्धारः—ॐ क्ष्म्रां क्षेत्रपालाय नमः ॥ ५० ॥

अनुतारा श्रियै पश्चान्नमस्त्वादौ च तारकः ॥ ५१ ॥
षडक्षरः श्रियो मन्त्रश्चण्डादीनपराञ्शृणु ।

२. श्रीमन्त्र—आदि में तारक ॐ, अनुतारा श्री, इसके बाद श्रियै नमः—यह ६ अक्षरों का श्री मन्त्र है । ॐ श्रीं श्रियै नमः यह मन्त्र का निष्पन्न स्वरूप है । अब अन्य चण्डादि मन्त्रों को सुनिए ॥ -५१-५२- ॥

विमर्शिनी—ॐ श्रीं श्रियै नमः ॥ ५२ ॥ ॐ च्रों चण्डाय नमः ॥५३॥

सचञ्चलानलस्तारः केवलस्त्वादितो भवेत् ॥ ५२ ॥
चण्डाय नम इत्येव सप्तवर्णो मनूत्तमः ।

३. चण्डादिमन्त्र—केवल तार ॐ आदि में हो इसके बाद चञ्चल चकार, अनल ॐकार, रकार—इनको मिलाकर तार से युक्त करे, फिर चण्डाय नमः जोड़े तो यह सात वर्णों का चण्डादि मन्त्र बन जाता है—ॐ च्रों चण्डाय नमः ॥ -५२-५३- ॥

सपवित्रानलस्तारः केवलस्त्वादितो भवेत् ॥ ५३ ॥
प्रचण्डाय नमो मन्त्रः प्रचण्डोऽयं चतुर्युगः ।
सशाश्वतानलस्तारः केवलस्त्वादितो भवेत् ॥ ५४ ॥
जयाय नम इत्येवं जयस्य मुनिवर्णकः ।

४. प्रचण्डमन्त्र—पवित्र पकार के सहित अनल रेफ उसको ॐ से युक्त करे । फिर 'प्रचण्डाय नमः' कहे तो यह आठ अक्षर का प्रचण्ड मन्त्र बन जाता है । यथा—ॐ प्रों प्रचण्डाय नमः ।

५. जयमन्त्र—शाश्वत ज से युक्त अनल, उस पर तार ॐ की मात्रा फिर जयाय नमः कहे तो यह सात वर्ण का जय मन्त्र हो जाता है । ॐ ज्रों जयाय नमः ॥ -५३-५५- ॥

विमर्शिनी—प्रचण्डमन्त्रोद्धारः—ॐ प्रों प्रचण्डाय नमः ॥ ५३ ॥ जय-मन्त्रोद्धारः—ॐ ज्रों जयाय नमः ॥ ५४ ॥

वराहानलसंयुक्तस्तारः शुद्धस्तथादिगः ॥ ५५ ॥
विजयाय नमः सोऽयं विजयस्य चतुर्युगः ।

६. विजयमन्त्र—वराह व और अनल र इन्हें संयुक्त कर शुद्धस्तथादिग ओ और उस पर तार की मात्रा दे, फिर 'विजयाय नमः' कहे तो यह आठ अक्षर का विजय मन्त्र निष्पन्न हो जाता है । मन्त्र का स्वरूप—ॐ व्रों विजयाय नमः ॥ -५५-५६- ॥

गोविन्दः सानलो मायी व्यापिमान् प्रणवान्तगः ॥ ५६ ॥
गङ्गायै नम इत्येवं गङ्गाया मुनिवर्णकः ।

७. गङ्गामन्त्र—अनल रेफ सहित गोविन्द गकार उसको मायी ईकार तथा व्यापी से युक्त करे जो प्रणव ॐकार के अन्त में हो, फिर गङ्गायै नमः कहे। इस प्रकार यह सात अक्षर का गङ्गा का मन्त्र बन जाता है । ॐ ग्रीं गङ्गायै नमः ॥ -५६-५७- ॥

विमर्शिनी—ॐ व्रों विजयाय नमः ॥ ॐ ग्रीं गङ्गायै नमः ॥ ५६ ॥

समायः सानलः सूक्ष्मो व्यापिमान् प्रणवान्तगः ॥ ५७ ॥
यमुनायै नमश्चायं यामुनेयश्चतुर्युगः ।

८. यमुनामन्त्र—माया ईकार से युक्त जो अनल रेफ और सूक्ष्म य तथा व्यापी बिन्दु से युक्त हो इसके बाद यमुनायै नमः कहे आदि में प्रणव लगावे इस प्रकार यह आठ अक्षर का यामुन मन्त्र निष्पन्न हो जाता है । मन्त्र का स्वरूप—ॐ य्रीं यमुनायै नमः ॥ -५७-५८- ॥

शङ्करः सानलः सोर्जो व्यापिमान् प्रणवान्तगः ॥ ५८ ॥
ततश्च शङ्खनिधये नमः सोऽयं नवाक्षरः ।

९. शङ्खनिधिमन्त्र—प्रणव के बाद अनल रेफ सहित शङ्कर श जो ऊर्जा दीर्घ अकार तथा व्यापी बिन्दु से युक्त हो । इसके बाद 'शङ्खनिधये नमः' यह कहे यह नव अक्षर का मन्त्र है। मन्त्र—ॐ श्रूं शङ्खनिधये नमः ॥-५८-५९-॥

विमर्शिनी—यामुनमन्त्रोद्धारः—ॐ य्रीं यमुनायै नमः ॥ ५७ ॥ ॐ श्रूं शङ्खनिधये नमः ॥ ५९ ॥

पवित्रः सानलः सोर्जो व्यापिमान् प्रणवान्तगः ॥ ५९ ॥
ततश्च पद्मनिधये नमः सोऽयं नवाक्षरः ।
क्षेत्रेशात् पद्मनिध्यन्तं मन्त्राणां दशकं त्विदम् ॥ ६० ॥

१०. पद्मनिधिमन्त्र—प्रणव (ॐ) के पश्चात् अनल रेफ युक्त पवित्र

पकार जो ऊर्जा ऊकार और व्यापी बिन्दु से युक्त हों फिर पद्मनिधये नमः कहे। यह नव अक्षर का मन्त्र है । जैसे—ॐ प्रूं पद्मनिधये नमः । इस प्रकार क्षेत्रेश (द्र. ३३.४९) ले कर पद्मनिधि पर्यन्त दश मन्त्र कहा गया ॥५९-६०॥

विमर्शिनी—ॐ प्रूं पद्मनिधये नमः ॥ ५९ ॥

गणेशादिमन्त्राः

गणेशाद्यादिसिद्धान्तमथ मन्त्रगणं शृणु ।
ऊर्जव्यापिसमायुक्तो गोविन्दः प्रणवान्तगः ॥ ६१ ॥
ततो गोविन्दवैकुण्ठौ पवित्रः स्रग्धरस्तथा ।
जगद्योनिगतः शङ्खो नरः कालो विसर्गवान् ॥ ६२ ॥
नवाक्षरो ह्ययं मन्त्रो गाणपत्यः प्रकीर्तितः ।
षोढा संयोज्य गोविन्दं युग्माद्यैर्गोपनादिभिः ॥ ६३ ॥
अङ्गक्लृप्तिरमुष्य स्यान्नमःस्वाहादिसंयुता ।

अब गणेश से लेकर आदि सिद्धपर्यन्त मन्त्रगणों को सुनिए ।

गाणपत्यमन्त्र—प्रणव के अन्त में गोविन्द गकार जो ऊर्जा दीर्घ ऊकार और व्यापी बिन्दु से युक्त हो । इसके बाद गोविन्द ग, वैकुण्ठ ण, फिर पवित्र प, फिर स्रग्धर त, तदनन्तर जगद्योनि एकार से संयुक्त शङ्ख य, फिर नर न, विसर्गवान् काल म यह नव अक्षर का मन्त्र है । इसे गाणपत्य मन्त्र भी कहते हैं । 'ॐ गूं गणपतये नमः'—यह निष्पन्न स्वरूप है ।

षोढा ॐ को गोविन्द गकार से संयुक्त करे फिर उसे युग्मादि गोपन 'आं' से संयुक्त करे । तदनन्तर नमः स्वाहा लगावे फिर हृदयादि लगाकर अङ्ग न्यास करे । ॐ गां हृदयाय नमः, ॐ गीं शिरसे स्वाहा, ॐ गूँ शिखायै वषट् इत्यादि ॥ ६१-६४- ॥

विमर्शिनी—गणेशादीति । गणेशमारभ्य आदिसिद्धपर्यन्तानां मन्त्रा इत्यर्थः । ॐ गूं गणपतये नमः ॥ ६१-६२ ॥ ॐ गां हृदयाय नमः, ॐ गीं शिरसे स्वाहा इत्यादि ज्ञेयम् ॥ ६३ ॥

आद्यन्तानलसंयुक्तं मायाव्यापिसमन्वितम् ॥ ६४ ॥
गरुडं तारकस्यान्ते तदन्ते तारिकां स्मरेत् ।

वागीश्वरी मन्त्र—आदि और अन्त में अनल रेफ वर्ण से संयुक्त माया ईकार और व्यापी बिन्दु से संयुक्त गरुड़ 'क्ष' जो तारक ॐ के अन्त में हो । यह प्रथम बीज है । तदनन्तर तारिका ह्रीं इस दूसरे बीज को लगावें ।

विमर्शिनी—ॐ क्ष्रीं ह्रीं स्र्यां स्त्र्यां अ—क्ष (अकारादिक्षकारान्ता वर्णाः) वागीश्वर्यै नमः ॥ -६४-६५- ॥

रेफशङ्खादिदेवाढ्यं सोमं व्यापिसमन्वितम् ॥ ६५ ॥
चतुर्थं संस्मरेद्बीजं तदिदं बलसूदन ।
वैराजानलशङ्खाढ्यं गोपनं व्यापिसंयुतम् ॥ ६६ ॥
सोमवर्णं स्मरेच्छक्र पञ्चमं परमाद्भुतम् ।
अप्रमेयादिदेवादि यावद्गरुडवर्णकम् ॥ ६७ ॥
यथापाठं समुच्चार्य वागीश्वर्यै ततो नमः ।
एकषष्ट्यर्णको मन्त्रो वागीश्वर्या अयं स्मृतः ॥ ६८ ॥

फिर रेफ, शङ्ख य और आदिदेव आकार वर्ण से संयुक्त सोम वर्ण सकार उसके ऊपर बिन्दु देवे । इस प्रकार 'स्र्यां' यह तृतीय बीज हुआ ।

फिर हे बलसूदन ! चतुर्थ बीज का इस प्रकार स्मरण करे—वैराज त, अनल र, शङ्ख य, गोपन आकार व्यापी बिन्दु से संयुक्त सोम वर्ण इस प्रकार निष्पन्न 'स्त्र्यां' चतुर्थ बीज हुआ ।

पुनः अ से लेकर क्ष पर्यन्त पञ्चम बीज हुआ । इस प्रकार जैसा पाठ है उसके अनुस्वार उच्चारण कर वागीश्वर्यै नमः मन्त्र कहे । यह ६१ अक्षरों वाला वागीश्वरी का मन्त्र समझना चाहिये ॥ -६५-६८ ॥

विमर्शिनी—निष्कर्षतः इसके बाद गोपनादि से संयुक्त चतुर्थ बीज स्र्यां मन्त्र से हृदयाय नमः इत्यादि अङ्गन्यास करे । वागीश्वरी के ६१ वर्ण वाले मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिये—ॐ क्ष्रीं ह्रीं स्र्यां स्त्र्यां ये पाँच बीज, तदनन्तर क से लेकर म पर्यन्त २५ स्पर्श वर्ण, फिर अकार से लेकर विसर्गान्त १६ स्वर वर्ण, फिर य से लेकर क्ष पर्यन्त ९ वर्ण, फिर वागीश्वर्यै नमः—ये ६ वर्ण कुल योग ६१ वर्ण हो जाता है ॥ -६५-६८ ॥

कुर्याच्चतुर्थबीजेन गोपनादिविभेदिना ।
अन्तर्जातियुतां सम्यगङ्गक्लृप्तिं विचक्षणः ॥ ६९ ॥
गोपनादिविभिन्नस्य बीजस्याद्यन्तयोर्न्यसेत् ।
प्रणवं च नमश्चैव ततो जातिं प्रकल्पयेत् ॥ ७० ॥

अङ्गमन्त्र—इसके बाद चतुर्थ 'स्र्यां' बीज से हृदयादि न्यास इस प्रकार करना चाहिये । गोपनादि से आकारादि से भिन्न-भिन्न 'स्र्यां' बीज के आदि में प्रणव तथा अन्त में नमः लगाकर जैसा कि ऊपर कहा गया है । 'ॐ स्त्र्यां हृदयाय नमः'—मन्त्र से हृदय का न्यास करे । इसी प्रकार शिरः आदि का भी

न्यास करना चाहिये ॥ ६९-७० ॥

विमर्शिनी—ॐ स्त्र्यां हृदयाय नमः इत्यादयोऽङ्गमन्त्राः । जातिरित्यङ्ग-मुच्यते ॥ ६९ ॥

प्रणवत्रितयं व्यापिसंयुतः सोदयश्च गः ।
गुरवेऽथ नमः सोऽयं प्रथितो गुरुपूजने ॥ ७१ ॥

गुरुपूजामन्त्र—तीन प्रणव, व्यापी बिन्दु और उदय उकार से युक्त ग वर्ण, फिर गुरवे नमः यह मन्त्र 'गुरुपूजा' के लिये प्रसिद्ध है । मन्त्र का स्वरूप—'ॐ ॐ ॐ गुरवे नमः' ॥ ७१ ॥

प्रणवत्रितयस्यान्ते पवित्रो व्यापिसंयुतः ।
परमगुरवे नमः प्रथितस्तु गुरोर्गुरुः ॥ ७२ ॥

तीन प्रणव, व्यापि बिन्दु से युक्त पवित्र प वर्ण, फिर 'परमगुरवे नमः' यह कहे । यह मन्त्र गुरु के गुरु की पूजा के लिए प्रसिद्ध है । मन्त्र का स्वरूप—'ॐ ॐ ॐ पं परमगुरवे नमः' ॥ ७२ ॥

प्रणवत्रितयस्यान्ते व्याप्यानन्दयुतस्तु पः ।
परमेष्ठिनेऽथ च नमो मन्त्रो गुरुगुरोर्गुरुः ॥ ७३ ॥

तीन प्रणव के बाद व्यापी बिन्दु, आनन्द आकार से युक्त पकार, फिर परमेष्ठिने नमः—यह गुरु के गुरु के गुरु (अर्थात् परमेष्ठीगुरु) का पूजन मन्त्र है । ॐ ॐ ॐ पां परमेष्ठिने नमः ॥ ७३ ॥

विमर्शिनी—ॐ ॐ ॐ गुं गुरवे नमः । ॐ ॐ ॐ पं परमगुरवे नमः । ॐ ॐ ॐ पां परमेष्ठिने नमः ॥ ७१-७३ ॥

तारपञ्चकमाह्लादं व्योम प्राणोपरि न्यसेत् ।
कालानलौ तु तदधः सर्वलोकेश्वरोपरि ॥ ७४ ॥
यथाक्रमोदितैर्वर्णैः पिण्डं कृत्वा ततः स्वधा ।
पितृभ्योऽथ नमः सोऽयं पितृसङ्घस्य मन्त्रराट् ॥ ७५ ॥

पितृसङ्घमन्त्रोद्धार—पाँच तार ॐ वर्ण, फिर प्राण हकार के ऊपर आह्लाद टकार और व्योम शून्य, उसके नीचे काल और अनल मकार एवं रेफ, उसे सर्वेश्वर ऊकार और बिन्दु से युक्त करे । यथा क्रम इनका पिण्ड (मिश्रित) कर उसके बाद स्वधा, फिर पितृभ्यो नमः यह पितृसङ्घ का मन्त्रराट् है । मन्त्र—ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ट्ह्म्रूँ स्वधा पितृभ्यां नमः ॥ ७४-७५ ॥

विमर्शिनी—पितृसङ्घमन्त्रोद्धारः—ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ट्ह्म्रूँ स्वधा पितृभ्यो

नमः ॥ ७४-७५ ॥

षट् तारा आदिदेवोऽथ व्योमवान् केवलोऽथ सः ।
रामवान् दमनश्चाथ सिद्धेभ्योऽथ ततो नमः ॥ ७६ ॥
मन्त्रोऽयमादिसिद्धानां भगवद्भावितात्मनाम् ।
क्षेत्रेशाद्यादिसिद्धान्तान् विघ्ननिर्मथनक्षमान् ॥ ७७ ॥

आदिसिद्धमन्त्रोद्धारः—छह तार ॐ, उसके बाद व्यापी बिन्दु से युक्त आदिदेव आकार, फिर केवल आकार इसके बाद राम इकार से संयुक्त दमन द, फिर सिद्धेभ्यो नमः यह भगवद् भावितात्मा सिद्धों का मन्त्र है । मन्त्र का स्वरूप—'ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ आं आदिसिद्धेभ्यो नमः' ॥ ७६-७७ ॥

विमर्शिनी—आदिसिद्धमन्त्रोद्धारः—ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ आं आदिसिद्धेभ्यो नमः ॥ ७६-७७ ॥

प्रागेव पूजयेन्मन्त्री समाराधनकालतः ।
अथ लोकेशमन्त्राणां लक्षणं शृणु वासव ॥ ७८ ॥

समाराधन काल से पहले मन्त्रज्ञ साधक आदि से लेकर आदि सिद्ध पर्यन्त देवों का, जो विघ्न के नाश में सर्वथा सक्षम है, उनकी इन-इन मन्त्रों से पूजा करे । अब हे वासव ! लोकेश्वरों के मन्त्रों को सुनिए ॥ ७८ ॥

प्राणं धरेशमानन्दं पिण्डीकृत्य क्रमस्थितान् ।
मूर्ध्नि व्योमयुतं कृत्वा तत इन्द्राय वै नमः ॥ ७९ ॥
ऐन्द्रोऽयमीरितो मन्त्रः पावकादीन्निबोध मे ।
कुर्यात् प्राणानलानन्दैर्व्यापिनापि च पिण्डकम् ॥ ८० ॥

लोकेश्वरमन्त्र—प्रणव के बाद प्राण हकार, धरेश लकार, आनन्द आकार इन्हे क्रम से स्थापित कर ऊपर व्योम बिन्दु लगावे । फिर इन्द्राय नमः कहे, यह इन्द्र का मन्त्र हमने कहा । अब पावकादि के मन्त्रों को सुनिए । इन्द्र के मन्त्र का स्वरूप—ॐ ह्लां इन्द्राय नमः ॥ ७९-८० ॥

प्राणकालादिदेवैश्च व्यापिनापि च पिण्डकम् ।
अग्नये नम इत्येवं यमाय नम इत्यपि ॥ ८१ ॥

अग्नि एवं यम मन्त्र—अग्नि एवं यम के मन्त्र प्राण हकार, काल रकार, आदिदेव आकार और व्यापी बिन्दु इनका पिण्ड बनाकर अग्नये नमः कहे । इसी प्रकार यम के लिये भी कह कर यमाय नमः कहे । इस प्रकार अग्नि और यम का मन्त्र—ॐ ह्रां अग्नये नमः, ॐ ह्रां यमाय नमः निष्पन्न

होता है ॥ ८१ ॥

विमर्शिनी—मन्त्रोद्धारः—ॐ ह्लां इन्द्राय नमः ॥ ७९ ॥ ॐ ह्लां अग्नये नमः । ॐ ह्लां यमाय नमः ॥ ७९-८१ ॥

नरः स भगवान् व्यापी पिण्डो निर्ऋतये नमः ।
यातुधानेशमन्त्रोऽयं जलेशस्यावधारय ॥ ८२ ॥

निर्ऋतिमन्त्रोद्धार—नर नकार, भगवान् ल्ट उसके पिण्ड के बाद निर्ऋतये नमः कहे । 'ॐ न्ल्टं निर्ऋतये नमः'—यह निर्ऋति का मन्त्र है । अब जलेश वरुण का मन्त्र सुनिए ॥ ८२ ॥

विमर्शिनी—निर्ऋतिमन्त्रोद्धारः—ॐ न्ल्टं निर्ऋतये नमः ॥ ८२ ॥

प्राणं वरुणमानन्दं व्यापिनं पिण्डयेद् बुधः ।
वरुणाय नमः पश्चाद्वारुणोऽयं मनूत्तमः ॥ ८३ ॥

जलेशमन्त्रोद्धार—प्राण हकार, वरुण वकार, आनन्द आकार एवं व्यापी बिन्दु इनका पिण्ड बनाकर वरुणाय नमः कहे । इस प्रकार मन्त्र का स्वरूप—ह्वां वरुणाय नमः । यह वरुण का मन्त्र सर्वोत्तम कहा गया है ॥ ८३ ॥

विमर्शिनी—जलेशमन्त्रोद्धारः—ॐ ह्वां वरुणाय नमः ॥ ८३ ॥

प्राणं सूक्ष्मं तथानन्दं व्यापिनं पिण्डयेद् बुधः ।
वायवे नम इत्येवं वायवीयो मनूत्तमः ॥ ८४ ॥

वायुमन्त्रोद्धार—प्राण हकार, सूक्ष्म यकार, आनन्द आकार तथा व्यापी बिन्दु इनको पिण्डीकरण करे । फिर वायवे नमः कहे तो यह वायु का उत्तम मन्त्र बन जाता है । मन्त्र का स्वरूप—ॐ ह्यां वायवे नमः ॥ ८४ ॥

विमर्शिनी—वायुमन्त्रोद्धारः—ॐ ह्यां वायवे नमः ॥ ८४ ॥

घर्मांशुवरुणानन्दान् व्यापिना सह पिण्डयेत् ।
सोमाय नम इत्येवं सौम्यो मनुरुदाहृतः ॥ ८५ ॥

सोममन्त्रोद्धार—घर्मांशु धकार, वरुण वकार, आनन्द आकार इनको व्यापी बिन्दु के साथ पिण्डीकरण करे । फिर सोमाय नमः कहे । यह सोम का मन्त्र कहा जाता है। मन्त्र का स्वरूप—ॐ ध्वां सोमाय नमः ॥ ८५ ॥

विमर्शिनी—सोममन्त्रोद्धारः—ॐ ध्वां सोमाय नमः ॥ ८५ ॥

सूर्यमूर्जं तथा व्योम चक्रिणं पिण्डयेत् क्रमात् ।
ईशानाय नमः पश्चादीशानस्य मनूत्तमः ॥ ८६ ॥

ईशानमन्त्रोद्धार—सूर्य हकार, ऊर्ज ऊकार, व्योम बिन्दु तथा चक्री चकार इनका पिण्डीकरण कर ईशानाय नमः मन्त्र कहे तो यह ईशान का उत्तम मन्त्र बन जाता है । मन्त्र का स्वरूप—ॐ 'ह्चूं ईशानाय नमः' ॥ ८६ ॥

विमर्शिनी—ईशानमन्त्रोद्धारः—ॐ ह्चूं ईशानाय नमः ॥ ८६ ॥

प्राणं वैकुण्ठमानन्दं व्यापिना पिण्डयेत् क्रमात् ।
अनन्ताय नमः पश्चान्नागराजमनुस्त्वयम् ॥ ८७ ॥

नागराजमन्त्रोद्धार—प्राण हकार, वैकुण्ठ णकार आनन्द आकार इनको व्यापी बिन्दु के साथ पिण्डीकरण करे । फिर अनन्ताय नमः कहे तो यह नागराज का उत्तम मन्त्र बन जाता है । मन्त्र का स्वरूप—ॐ ह्णां अनन्ताय नमः ॥ ८७ ॥

विमर्शिनी—नागराजमन्त्रोद्धारः—ॐ ह्णां अनन्ताय नमः ॥ ८७ ॥

प्राणं खर्वं तथानन्दं व्यापिना पिण्डयेत् क्रमात् ।
ब्रह्मणे नम इत्येवं ब्रह्मणो मनुरुत्तमः ॥ ८८ ॥

ब्रह्मदेवमन्त्र—प्राण हकार, खर्व खकार, आनन्द आकार इनका व्यापी के साथ पिण्डीकरण करे । फिर 'ब्रह्मणे नमः' कहे तो यह ब्रह्मदेव का उत्तम मन्त्र बन जाता है । मन्त्र का स्वरूप—ह्खां ब्रह्मणे नमः । अब उक्त लोकपालों के आयुध मन्त्र को कहते हैं ॥ ८८ ॥

विमर्शिनी—ॐ ह्खां ब्रह्मणे नमः ॥ ८८ ॥

लोकपालानामायुधमन्त्रोद्धारः

सर्वेषां प्रणवः पूर्वमायुधानामथो शृणु ।
अनलं जन्महन्तारं प्रधानमनलोर्जकौ ॥ ८९ ॥
सर्गेण पिण्डयेत् संज्ञां नमः कुलिशमन्त्रराट् ।

यहाँ आगे कहे जाने वाले सभी आयुध के मन्त्रों के आदि में प्रणव लगावे । अब उनके मन्त्रों को सुनिए—

कुलिशमन्त्रोद्धार—अनल रेफ, जन्महन्ता जकार तथा प्रधान मकार इनमें अनल र तथा ऊर्जक ऊकार लगावे । इनको विसर्ग के साथ पिण्डीकरण करे। फिर कुलिश संज्ञा के आगे नमः कहे अर्थात् 'कुलिशाय नमः' कहे तो यह कुलिश मन्त्रराज बन जाता है । मन्त्र का स्वरूप—ॐ ज्म्रू कुलिशाय नमः ॥ ८९-९०- ॥

विमर्शिनी—कुलिशमन्त्रोद्धारः—ॐ र्ज्रूः कुलिशाय नमः ॥ ८९ ॥

ऊर्जं विहाय तत्स्थाने मायया परिभूषितम् ॥ ९० ॥
तदेव पिण्डं संज्ञा च नमः शक्तिमनुस्त्वयम् ।

शक्तिमन्त्रोद्धार—उक्त मन्त्र में ऊर्ज ऊकार को हटाकर उसके स्थान में माया ईकार लगा देवे फिर उस पिण्ड को संज्ञा (शक्ति) के साथ नमः लगाकर जोड़ देवें तो यह शक्ति का उत्तम मन्त्र बन जाता है । मन्त्र का स्वरूप—ॐ र्ज्री शक्तये नमः ॥ -९०-९१- ॥

विमर्शिनी—शक्तिमन्त्रोद्धारः—ॐ र्ज्रीः शक्तये नमः ॥ ९० ॥

अखण्डविक्रमं कालं लोकेशं परमेश्वरम् ॥ ९१ ॥
पिण्डीकृत्य ततः संज्ञा नमो दण्डमनुस्त्वयम् ।

दण्डमन्त्रोद्धार—अखण्ड विक्रम डकार, काल मकार, लोकेश ऊकार और परमेश्वर विसर्ग इनका पिण्डीकरण कर संज्ञा 'दण्डाय नमः' के साथ कहे तो यह दण्ड का मन्त्र बन जाता है । मन्त्र का स्वरूप—ॐ ड्मूः दण्डाय नमः ॥ -९१-९२- ॥

विमर्शिनी—दण्डमन्त्रोद्धारः—ॐ ड्मूः दण्डाय नमः ॥ ९१ ॥

विश्वाप्यायकरं कालं लोकेशं परमेश्वरम् ॥ ९२ ॥
पिण्डीकृत्य ततः संज्ञा नमः खड्गमनुस्त्वयम् ।

खड्गमन्त्रोद्धार—विश्वाप्यायकर टकार, काल मकार और रकार लोकेश ऊकार, परमेश्वर विसर्ग इनका पिण्डीकरण करे, फिर खड्ग संज्ञा के साथ नमः लगावे तो यह खड्ग का मन्त्र बन जाता है । मन्त्र का स्वरूप—ॐ ट्म्रूः खड्गाय नमः ॥ -९२-९३- ॥

विमर्शिनी—खड्गमन्त्रोद्धारः—ॐ ट्म्रूः खड्गाय नमः ॥ ९२ ॥

चन्द्री शान्तादिदेवौ च सृष्टिकृत् पिण्डिता इमे ॥ ९३ ॥
पाशाय नम इत्येवं पाशमन्त्रोऽयमद्भुतः ।

पाशमन्त्रोद्धार—चन्द्री टकार, शान्त शकार, आदिदेव आकार और सृष्टिकृत् विसर्ग, इनका पिण्डीकरण कर 'ॐ पाशाय नमः' कहे तो यह पाश का अद्भुत मन्त्र हो जाता है । मन्त्र का स्वरूप—'ॐ ट्शाः पाशाय नमः ॥ -९३-९४- ॥

विमर्शिनी—पाशमन्त्रोद्धारः—ॐ ट्शाः पाशाय नमः ॥ ९३ ॥

अजितो वरुणानन्दौ सृष्टिकृत् पिण्डिता इमे ॥ ९४ ॥
ध्वजाय नम इत्येवं ध्वजमन्त्र उदीरितः ।

ध्वजमन्त्रोद्धार—अजित जकार, वरुण वकार, आनन्द आकार को सृष्टिकृत् विसर्ग, इनका पिण्डीकरण कर ध्वजाय नमः यह मन्त्र कहे तो यह ध्वजमन्त्र हो जाता है । मन्त्र का स्वरूप—ॐ ज्वाः ध्वजाय नमः ॥-९४-९५-॥

विमर्शिनी—ध्वजमन्त्रोद्धारः—ॐ ज्वाः ध्वजाय नमः ॥ ९४ ॥

परमात्मानलोद्दामान् पिण्डयेत् सृष्टिकृद्युतान् ॥ ९५ ॥
मुसलाय नमः पश्चान्मौसलोऽयं मनूत्तमः ।

मुशलमन्त्रोद्धार—परमात्मा हकार, अनल रेफ और उद्दाम दीर्घ ऊकार इन्हे सृष्टिकृत् विसर्ग के साथ पिण्डीकरण करे । फिर मुशलाय नमः मन्त्र कहे तो यह मुशल का उत्तम मन्त्र हो जाता है । मन्त्र का स्वरूप—ॐ ह्रूः मुशलाय नमः ॥ -९५-९६- ॥

विमर्शिनी—मुशलमन्त्रोद्धारः—ॐ ह्रूः मुसलाय नमः ॥ ९५ ॥

अनलं जन्महन्तारमुदयं सृष्टिकृद्युतम् ॥ ९६ ॥
पिण्डीकृत्य ततः संज्ञा नमः शूलमनुस्त्वयम् ।

शूलमन्त्रोद्धार—अनल रेफ, जन्महन्ता जकार, उदय उकार, सृष्टिकृत् विसर्ग, इनका पिण्डीकरण कर शूल संज्ञा के साथ नमः लगा दे तो यह शूल का उत्तम मन्त्र हो जाता है । मन्त्र—ॐ र्जूः शूलाय नमः ॥ -९६-९७- ॥

विमर्शिनी—शूलमन्त्रोद्धारः—ॐ र्जूः शूलाय नमः ॥ ९६ ॥

करालमनलारूढमोदनं सृष्टिकृद्युतम् ॥ ९७ ॥
पिण्डीकृत्य ततः संज्ञा नमः सीरमनुस्त्वयम् ।

सीरमन्त्रोद्धार—अनल रेफ के ऊपर ककार फिर उस पर ओदन ओ की मात्रा लगाकर सृष्टि से युक्त कर उनका पिण्डीकरण करे । फिर सीर संज्ञा के अनन्तर नमः लगावे तो यह सीर का मन्त्र बन जाता है । मन्त्र का स्वरूप—ॐ क्रोः सीराय नमः ॥ -९७-९८- ॥

विमर्शिनी—सीरमन्त्रोद्धारः—ॐ क्रोः सीराय नमः ॥ ९७-९८ ॥

वरुणं च नरं चैव गोपनं सृष्टिकृद्युतम् ॥ ९८ ॥
पिण्डीकृत्य ततः संज्ञा नमः पद्ममनुस्त्वयम् ।

पद्ममन्त्रोद्धार—वरुण वकार एवं नर नकार इस को गोपन आकार

तथा सृष्टिकृत् विसर्ग के साथ पिण्डीकरण करे फिर पद्म संज्ञा के साथ नमः लगावे तो यह पद्म मन्त्र बन जाता है। मन्त्र का स्वरूप—ॐ न्वाः पद्माय नमः ॥ -९८-९९- ॥

विमर्शिनी—पद्ममन्त्रोद्धारः—ॐ न्वाः पद्माय नमः ॥ ९८ ॥

सर्वेषां प्रणवः पूर्वो विष्वक्सेनमनुं शृणु ॥ ९९ ॥
अनलप्राणलोकेशान् व्यापिना पिण्डयेत् क्रमात् ।
वरुणं भूधरं चैव व्यापिना पिण्डयेत् क्रमात् ॥ १०० ॥
पिण्डोऽयं ज्ञानदःपश्चाद्विष्वक्सेनस्य मन्त्रराट् ।
प्रणवादिस्त्वयं मन्त्रः सर्वार्थकृदुदीरितः ॥ १०१ ॥

विष्वक्सेनमन्त्रोद्धार—जिसमें सभी के पूर्व में प्रणव है, अब इस प्रकार के विष्वक्सेन के मन्त्र को हे इन्द्र ! सुनिए। अनल रेफ, प्राण हकार, इनको लोकेश ऊकार तथा व्यापी बिन्दु से युक्त कर क्रमशः पिण्डीकरण करे। इसी प्रकार वरुण वकार, भूधर औकार तथा व्यापी बिन्दु के साथ क्रमशः पिण्डीकरण करे। फिर 'ज्ञानदाय नमः' लगा देवें तो यह विष्वक्सेन का ज्ञान देने वाला मन्त्रराज बन जाता है। यदि इसके आदि में प्रणव लगा दिया जाय तो यह सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाला कहा गया है। मन्त्र का स्वरूप—हूँ वौं ज्ञानदाय नमः, ॐ हूँ वौं ज्ञानदाय नमः ॥ ९९-१०१ ॥

विमर्शिनी—विष्वक्सेनमन्त्रोद्धारः—ॐ हूँ वौं ज्ञानदाय नमः ॥ १०० ॥

ऊर्जहीनं तुं यत् पूर्वं तेनानन्दादियोगिना ।
अङ्गक्लृप्तिरमुष्य स्याज्जातिमुद्रासमन्विता ॥ १०२ ॥

इसके पूर्व में जो हूँ कहा गया है उसके ऊर्ज ऊकार को हटाकर उसे आनन्द आकार से युक्त करे तो उससे अङ्ग न्यास किया जा सकता है। जैसे—'ॐ ह्राँ हृदयाय नमः' इत्यादि ॥ १०२ ॥

विमर्शिनी—ॐ ह्राँ हृदयाय नमः इत्यादि ॥ १०२ ॥

सोमं वरुणमीकारं व्यापिना पिण्डयेत् क्रमात् ।
सुरभ्यै नम इत्येवं तारपूर्वो मनुस्त्वयम् ॥ १०३ ॥
सुरभ्याः कथितः सर्वभोगसम्पूरणार्थकः ।

सुरभिमन्त्रोद्धार—सोम सकार, वरुण वकार, फिर ईकार, इन्हें बिन्दु के साथ पिण्डीकरण करे। पूर्व में तार ॐ लगाकर फिर सुरभ्यै नमः यह मन्त्र कहे तो यह सुरभि मन्त्र हो जाता है। मन्त्र का स्वरूप—ॐ स्वीं सुरभ्यै

नमः । सम्पूर्ण भोगों को पूर्ण करना ही जिसका प्रयोजन है उस सुरभि के मन्त्र को हमने कह दिया ॥ १०३-१०४- ॥

विमर्शिनी—सुरभिमन्त्रोद्धारः—ॐ स्वीं सुरभ्यै नमः ॥ १०३ ॥

प्रणवद्वितयस्यान्ते तारिकाद्वयमुद्धरेत् ॥ १०४ ॥
ततः परमधामा चावस्थिते मदनुग्रहा ।
अभियोगोद्यते चेह तथैवावतरेति च ॥ १०५ ॥
इहाभिमतशब्दं च सिद्धिदे इति च त्रयम् ।
ततो मन्त्रशरीरे च तारस्तारा नमो नमः ॥ १०६ ॥

आवाहन मन्त्र—दो प्रणव के बाद दो तारिका कहे । उसके बाद 'परमधामावस्थिते मदनुग्रहाभियोगोद्यते इहावतरेहाभिमतसिद्धिदे मन्त्रशरीरे', इसके बाद तार ॐ, फिर तारा 'ह्रीं नमो नमः' कहे । यह कुल पैंतालिस अक्षरों वाला आवाहनार्थक मन्त्र है ॥ -१०४-१०६ ॥

विमर्शिनी—ॐ ॐ ह्रीं ह्रीं परमधामावस्थिते मदनुग्रहाभियोगोद्यते इहावतरेहाभिमतसिद्धिदे मन्त्रशरीरे ॐ ह्रीं नमो नमः । इत्यावाहनमन्त्रः ॥१०४-१०६॥

पञ्चचत्वारिंशदर्णो मन्त्र आवाहनार्थकः ।
प्रणवस्तारिका प्राणास्त्रयः सव्यापिनस्ततः ॥ १०७ ॥
तिस्रश्च तारिकाः पश्चादिदं शब्दं त्रिरुच्चरेत् ।
गृहाण वह्निजाया च भोगदानमनुस्त्वयम् ॥ १०८ ॥

अर्घ्य मन्त्र—प्रणव ॐ, तारिका ह्रीं, तीन प्राण ह ह ह, जो व्यापी बिन्दु से संयुक्त हों, इसके बाद पुनः तीन तारिका ह्रीं, इसके बाद तीन बार इदं शब्द का उच्चारण करे । फिर 'अर्ध्यं ग्रहाण' कहे । यह भोगदान (अर्घ्य) का मन्त्र है । मन्त्र का स्वरूप—ॐ ह्रीं हं हं हं ह्रीं ह्रीं ह्रीं इदमिदमिदमर्घ्यं ग्रहाण स्वाहा ॥ १०७-१०८ ॥

विमर्शिनी—अर्घ्यमन्त्रोद्धार—ॐ ह्रीं हं हं हं ह्रीं ह्रीं ह्रीं इदमिदमिदमर्घ्यं गृहाण स्वाहा इत्यादि ॥ १०७-१०८ ॥

ओङ्कारमुद्धरेत् पूर्वं विष्णुं व्योमान्वितं ततः ।
तारिकामुद्धरेत् पश्चाद्भूयो विष्णुं तथाविधम् ॥ १०९ ॥
ततो व्योमान्वितं प्राणं सोमनामसमन्वितम् ।
परे च परमेशे च प्रसीद प्रणवं ततः ॥ ११० ॥
तारिका च नमश्चान्ते प्रसादनमनुस्त्वयम् ।

प्रसादनमन्त्रोद्धार—पहले ॐ कहें, फिर व्योम शून्य संयुक्त विष्णु अर्थात् ईकार कहे। इसके बाद तारिका ह्रीं कहें। तदनन्तर उसी प्रकार विष्णु ई, फिर व्योमान्वित प्राण हं, जो सोम सकार से समन्वित हो, इसके बाद परे परमेशे प्रसीद, फिर प्रणव, इसके बाद तारिका ह्रीं और अन्त में नमः पद कहे। यह उत्तम प्रसादन मन्त्र कहा गया है। मन्त्र का स्वरूप—ॐ ईं ह्रीं ईं हंसपरे परमेशे प्रसीद ॐ ह्रीं नमः ॥ १०९-१११- ॥

विमर्शिनी—प्रसादनमन्त्रोद्धार—ॐ ईं ह्रीं ईं हंसपरे परमेशे प्रसीद ॐ ह्रीं नमः। इति प्रसादनमन्त्रः ॥ १०९-११० ॥

प्रणवस्तारिका चैव ततो भगवतीति च ॥ १११ ॥
मन्त्रमूर्तेऽथ स्वपदं समासादय तद्द्वयम्।
क्षमस्वेति द्विरुच्चार्य तारस्तारा नमो नमः ॥ ११२ ॥

विसर्जनमन्त्रोद्धार—प्रणव ॐ, तारिका ह्रीं, फिर भगवति मन्त्रमूर्त्ते स्वपदं समासादय समासादय, फिर दो बार क्षमस्व, इसके बाद तार ॐ, फिर तारा ह्रीं और फिर नमो नमः। यह विसर्जन का मन्त्र है। मन्त्र का स्वरूप—ॐ ह्रीं भगवति मन्त्रमूर्त्ते स्वपदं समासादय समासादय क्षमस्व क्षमस्व ॐ ह्रीं नमो नमः ॥ -१११-११२ ॥

विमर्शिनी—विसर्जनमन्त्रोद्धार—ॐ ह्रीं भगवति मन्त्रमूर्ते स्वपदं समासादय समासादय क्षमस्व क्षमस्व ॐ ह्रीं नमो नमः ॥ १११-११२ ॥

वैसर्जनमनुः सोऽयमित्येते मन्त्रनायकाः।
कथिताः सुरशार्दूल सर्वपापमलापहाः ॥ ११३ ॥

हे इन्द्र ! यहाँ तक हमने सभी मन्त्रों के नायक जो समस्त पापों एवं मन्त्रों को दूर करने वाले हैं कहा ॥ ११३ ॥

मन्त्रमहिमा

अभक्तानां च ये नैव प्रदेयाः क्रूरकर्मणाम्।
नास्तिकानामसाधूनां धूर्तानां वञ्चनाजुषाम् ॥ ११४ ॥

यह क्रूरकर्म (मारण, मोहन, उच्चाटन) करने वालों तथा जो भक्त न हों उन्हें न देवे। इसी प्रकार नास्तिकों, दुष्टों, धूर्तों तथा वञ्चना करने वालो को भी इनका उपदेश कदापि न करे ॥ ११४ ॥

भक्तानामास्तिकानां च श्रद्धासंयमसेविनाम्।
मदीयक्रमसक्तानां संस्कृतानां विशेषतः ॥ ११५ ॥

तत्त्वतश्चोपसन्नानां दृढश्रद्धावलम्बिनाम् ।
वैष्णवानामिदं वाच्यमवाच्यमितरेषु तु ॥ ११६ ॥

जो भक्त वेद में निष्ठा रखने वाला आस्तिक एवं जो श्रद्धा और संयम का सेवन करने वाले हों, जो मेरी भक्ति में निरन्तर लगे हों, विशेषकर सुसंस्कृत विचार वाले हों, शास्त्रीय रीति से ज्ञान के लिये शरण में आये हों, दृढ़ श्रद्धा से संयुक्त हों ऐसे वैष्णवों को ही इन मन्त्रों का उपदेश देवे, इतर को कदापि न देवें ॥ ११५-११६ ॥

अन्यथा वक्ति यो मोहाल्लोभात् कामादथापि वा ।
अज्ञानाद्बालभावाद्वा स याति नरकान् बहून् ॥ ११७ ॥

जो व्यक्ति मोह, लोभ एवं कामना के वशीभूत हो अथवा अज्ञानवश अथवा अविचारवश इसे अपात्रों को प्रदान करता है वह निश्चय ही नरकगामी होता है ॥ ११७ ॥

तस्मादालक्ष्य वै सर्वं गुणजातं यथोदितम् ।
प्रब्रूयादुपसन्नाय धर्मेण न्यायतस्तथा ॥ ११८ ॥

इसलिये जैसा ऊपर शिष्य का गुण कहा गया है । ऐसे गुणीपात्रों का परीक्षण कर उपसन्न (पास आए हुए) एवं ज्ञानेच्छया शरणागत भक्त को धर्म तथा न्यायपूर्वक मन्त्र देवें ॥ ११८ ॥

प्रब्रूयाद्यो ह्यधर्मेण यो वाधर्मेण पृच्छति ।
तावुभौ नरकं घोरमृच्छतः कालमक्षयम् ॥ ११९ ॥

जो अधर्म से मन्त्रोपदेश करता है, अथवा जो अधर्म से पूँछता है, वे दोनों ही अक्षय कालपर्यन्त नरकगामी होते हैं ॥ ११९ ॥

विमर्शिनी—अत्र स्मृतिः—

"अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति ।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति ॥" (२.१११)

इति मनुवचनमवधेयम् ॥ ११९ ॥

पृथिवीं रत्नसम्पूर्णां दद्याद्यद्यपि वासव ।
नैव देयं ह्यभक्ताय नापरीक्षितशीलिने ॥ १२० ॥

यदि कोई अभक्त रत्न से परिपूर्ण सारी पृथ्वी भी दे देवे, तो भी हे वासव! बिना परीक्षा किये किसी अपात्र अथवा अभक्त शिष्य को इन मन्त्रों का उपदेश कदापि न करे ॥ १२० ॥

इति ते भवतो भक्तिर्मयि शक्र महीयसी ।
तत्त्वतश्चोपसन्नस्य मयेह प्रीयमाणया ॥ १२१ ॥
अङ्गोपाङ्गादिमन्त्राणां मन्त्रकोशः प्रकाशितः ।
मुद्राकोशमिदानीं त्वं गदन्त्या मे निशामय ॥ १२२ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे अङ्गोपाङ्गादिमन्त्रप्रकाशो नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

...

हे इन्द्र ! यत: मुझ में आपकी महती भक्ति है और आप यथार्थ रूप से जिज्ञासार्थ मेरे शरण में आये हो अत: मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ । इसलिये आपके लिये अङ्गोपाङ्ग सहित इन मन्त्रों का मैंने प्रकाशन किया । अब मैं मुद्राकोश कह रही हूँ, उसे सुनिए ॥ १२१-१२२ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के अङ्गोपाङ्गादिमन्त्रप्रकाश नामक तैतिसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ३३ ॥

...

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

स्नानविधिप्रकाशः

मुद्राबन्धनकालः

श्रीः—

मुद्राकोशं प्रवक्ष्यामि मन्त्रकोशस्य वासव ।
येन विज्ञातमात्रेण मन्त्रसिद्धिर्महीयसी ॥ १ ॥

श्री ने कहा—हे वासव ! अब मन्त्रकोश के अन्तर्गत मुद्राकोश को कहती हूँ जिसको जान लेने मात्र से महान् मन्त्रसिद्धि हो जाती है ॥ १ ॥

मुद्रां वै बन्धयेन्मन्त्री स्नानकाले जलान्तरे ।
आत्मनो न्यासकाले च पूजान्ते मण्डलाविधौ ॥ २ ॥

मन्त्रज्ञ साधक स्नान करते समय जल के भीतर मुद्रा प्रदर्शित करे । अपने को भगवान् में समर्पण काल में, पूजा के अन्त में तथा मण्डल बनाते समय मुद्रा प्रदर्शित करने का विधान है ॥ २ ॥

अर्चायां मन्त्रविन्यासे ह्यर्घ्यपात्रेषु भोजने ।
पूर्णाहुत्यवसाने च मन्त्रे ह्यभ्यन्तरस्थिते ॥ ३ ॥
हिंसकानां विघाताय सर्वविघ्नोपशान्तये ।

पूजा-मन्त्र के विन्यास, अर्घपात्र समर्पित करते समय, भोजन काल में, पूर्णाहुति के अन्त में, मन्त्र-ग्रहण के समय, हिंसक जन्तुओं के विनाश के लिये व समस्त विघ्नों की शान्ति के लिये मुद्रा-बन्धन का विधान है ॥३-४-॥

महाश्रीमुद्रा

संमुखौ तु करौ कृत्वा सुश्लिष्टौ सुप्रसारितौ ॥ ४ ॥
संमुखं मध्यमायुग्मनिक्षिप्ताङ्गुलयः पराः ।
अन्योन्याभिमुखाश्चैव भुजबृन्देन कल्पिताः ॥ ५ ॥
महाश्रीरिति विख्याता सर्वसौभाग्यदायिका ।
मोचनी सर्वदोषाणां शीघ्रसिद्धिप्रदायिनी ॥ ६ ॥

महाश्रीमुद्रा का विधान—दोनों हाथों को आमने-सामने कर उन्हें एक में सटाकर अच्छी तरह फैला देवें । दोनों सामने वाली मध्यमा अंगुली में शेष अङ्गलियों को स्थापित करे । इस प्रकार भुजाओं को एक दूसरे के आमने-सामने रखे तो यह महाश्री नाम की मुद्रा बन जाती है जो समस्त सौभाग्यों को प्रदान करने वाली है । समस्त रोगों से मुक्त करने वाली तथा शीघ्र सिद्धि प्रदान करने वाली है ॥ -४-६ ॥

शक्तिमुद्रा

जडभूतस्य वै जन्तोर्बोधनाभ्युदयात्मिका।
प्रसार्य वाममुत्तानमङ्गुल्यो विरलाः स्थिताः ॥ ७ ॥
कार्यास्त्वाकुञ्चितप्रान्ता अङ्गुष्ठं सेतुवद्भवेत् ।
संमुखं तासु संलग्नं करशाखासु मध्यमाम् ॥ ८ ॥
हृत्संमुखं तु बध्नीयाच्छक्तिमुद्रां सुखप्रदाम् ।
इमे मुद्रे महाभागे योगिवृन्दोपवन्दिते ॥ ९ ॥

शक्तिमुद्रा का विधान—अब अज्ञान से ग्रस्त जड़ जीव को चैतन्यता प्रदान करने वाली तथा साधक का अभ्युदय करने वाली शक्ति मुद्रा का विधान करते हैं—बाएँ हाथ को ऊपर की ओर फैला कर अंगुलियों को एक दूसरे से अलग करना चाहिए । फिर अंगुलियों के अग्रभाग को कुछ आकुञ्चित करके अंगूठे को सेतु के समान करे । फिर उन अंगुलियों में मध्यमा अंगुली को सम्मुख कर एक दूसरे कराग्र से मिला देवें । इस मुद्रा को हृदय के सम्मुख बाँधने से यह सुखप्रद शक्तिमुद्रा हो जाती है । ये दोनों (शक्तिमुद्रा तथा महाश्री) मुद्रा महान् भाग्य को प्रदान करने वाली हैं । योगीजनों के द्वारा यह बाँधी जाती है ॥ ७-९ ॥

योनिमुद्रा

परसूक्ष्मपदस्थे तु मम प्रीतिप्रदायिके ।

मम स्थूलपदस्थाया योनिमुद्रां निशामय ॥ १० ॥
संमुखौ तु करौ कृत्वा सुश्लिष्टौ सुप्रसारितौ ।
मध्यतो मूलतः पृष्ठे विपर्यस्ते ह्यनामिके ॥ ११ ॥
तर्जनीमूलयोर्न्यस्य ताभ्यामग्रे निगूहयेत् ।
मध्ययोः शेषरोरग्रे कनिष्ठायुगलं पुरः ॥ १२ ॥
अन्योन्यं पृष्ठतो लग्नं तलमध्योन्नतं भवेत् ।
अङ्गुष्ठाग्रद्वयं कुर्यान्मध्ययोरग्रपर्वगम् ॥ १३ ॥
महायोनिरिति ख्याता मुद्रा सर्ववशङ्करी ।
त्रिविधा त्रिविधाया मे मुद्रैषा संप्रदर्शिता ॥ १४ ॥

योनिमुद्रा का विधान—लक्ष्मी ने कहा कि पर-सूक्ष्म पद में स्थित होने से योनिमुद्रा मुझे अत्यन्त प्रिय है । स्थूल पद में स्थित आप मुझ लक्ष्मी की योनिमुद्रा को सुनिए—दोनों हाथों को आमने-सामने करे । फिर उन्हें एक में सटाकर अच्छी तरह से फैला कर निगूहन कर देवे । फिर अनामिका अंगुली को हाथ के पृष्ठ भाग पर स्थापित करे । दोनों तर्जनी अंगुलियों से फिर उस अनामिका को पकड़े । फिर उनके ऊपर दोनों कनिष्ठिका अंगुलियों को रक्खे। इस प्रकार एक दूसरे से मिले होने से मध्य भाग उन्नत हो जाता है । फिर दोनों अंगूठों के अग्रभाग से दोनों कनिष्ठिकाओं के मूल पर्व को दबा देवे । इस प्रकार महायोनिमुद्रा सभी को वश में करने वाली कही गई है जो तीन प्रकार वाली है अतः यह मुद्रा तीन प्रकार से प्रदार्शित की गई है ॥१०-१४॥

लक्ष्मीकीर्तिजयामायामुद्राः

सूक्ष्माख्या शक्तिमुद्रा या विकारस्तत्र वर्ण्यते ।
प्रदेशिन्यादितोऽङ्गुष्ठमेकैकश्येन सेतुवत् ॥ १५ ॥
विन्यस्याङ्गुलिषु ज्ञेयाश्चतस्रो मुद्रिका इमाः ।
शक्तीनां तु मदीयानां लक्ष्म्यादीनां पुरन्दर ॥ १६ ॥
लक्ष्मीः कीर्तिर्जया माया देव्यो मच्छक्तयो हि ताः।

लक्ष्मी, कीर्ति, जया एवं माया मुद्रा का विधान—सूक्ष्मा नामक जो शक्ति मुद्रा कही गई है अब उसका विकार प्रदर्शित करते हैं । तर्जनी (= प्रादेशिनी), मध्यमा, अनामिका एवं कनिष्ठा को अलग-अलग अंगूठे को मिलाने से चार प्रकार की मुद्राएँ बन जाती हैं । हे पुरन्दर ! ये चार मुद्राएँ मुझ श्री की चार शक्तियों की १. लक्ष्मी मुद्रा, २. कीर्ति मुद्रा, ३. जया मुद्रा एवं ४. माया मुद्राएँ बन जाती हैं ॥ १५-१७- ॥

हृदयमुद्रा

दक्षिणेन तु हस्तेन मुष्टिबन्धं प्रकल्पयेत् ॥ १७ ॥
अन्तःस्थमुन्नतं कृत्वा वामाङ्गुष्ठं सुरोत्तम ।
संमुखं हृदि हार्दैषा मुद्रा बुद्धिविवर्धनी ॥ १८ ॥

हृदयमुद्रा का विधान—दक्षिण हस्त की मुट्ठी बाँध कर वाम हस्त के अंगूठे को ऊपर की ओर सीधा रक्खे और हृदय पर नाभि स्थान में सम्मुख रखने से यह बुद्धि को बढ़ाने वाली हृदय मुद्रा बन जाती है ॥ -१७-१८ ॥

शिरोमुद्रा

प्रसृता अङ्गुलीः सर्वा अङ्गुष्ठेन तु संस्पृशेत्।
शैरस्येषा भवेन्मुद्रा मन्त्रसंनिधिकारिणी ॥ १९ ॥

शिरोमुद्रा का विधान—सभी अंगुलियों को फैलाकर जब उन्हें अंगूठे से छूते हैं तब यह मन्त्रसन्निधिकारिणी शिरोमुद्रा बन जाती है ॥ १९ ॥

शिखामुद्रा

मुष्टिं वितर्जनीं कृत्वा तर्जनी ह्यूर्ध्वसंस्थिता ।
शिखामुद्रेति विख्याता सर्वदुष्टभयङ्करी ॥ २० ॥
दोषविघ्नविनाशाय सदा ह्येतां प्रदर्शयेत् ।
आदौ तस्मात् प्रयत्नेन यागवेश्मनि दर्शयेत् ॥ २१ ॥
उत्सादं सर्वविघ्नानां कुरुते मन्त्रसंयुता ।

शिखामुद्रा का विधान—हाथों की बँधी मुट्ठी से तर्जनी को निकाल कर सीधा करने पर शिखा मुद्रा बनती है । यह सभी दुष्टो को भयभीत करने वाली है । दोषों और दुष्टों के विनाश के लिये इसका प्रदर्शन सदैव करना चाहिये । इस कारण से याग मण्डप में यजन के प्रारंभ में ही प्रयत्न पूर्वक इसको दर्शित करना चाहिये । मन्त्र के साथ इस मुद्राओं को दिखाने से सभी विघ्नों का विनाश हो जाता है ॥ २०-२२- ॥

कवचमुद्रा

उभयोरग्रतः शाखाः संस्थास्तु करयोर्द्वयोः ॥ २२ ॥
ताभ्यां मध्यमसंलग्नं करबन्धादितो भवेत् ।
वार्मण्येषा भवेन्मुद्रा द्वावंसावनया स्पृशेत् ॥ २३ ॥
अभेद्या दुष्टसङ्घेन भूतवेतालयोगिभिः ।

कर्मकाले निबध्यैषा मन्त्रिणा च प्रयत्नतः ॥ २४ ॥

कवच मुद्रा का विधान—दोनों हाथों की अंगुलियों से अंगूठों को मिलाने से कर बन्ध होता है । यह कवच मुद्रा है । इस प्रकार बाँये हाथ से दाँया कन्धा और दायें हाथ से बाँयाँ कन्धा का स्पर्श करना चाहिये । यह कवचमुद्रा दुष्ट गणों और भूत बेताल आदि योनियों के लिये अभेद्य होता है । याग क्रिया करने के समय में मन्त्रधारियों को प्रयत्नपूर्वक इसका बन्धन करना चाहिये ॥ -२२-२४ ॥

नेत्रमुद्रा

करयोर्ग्रथिताङ्गुल्यः संवृताः पाणिपृष्ठगाः ।
तर्जन्यौ प्रान्तसंलग्ने सुषिरे चोच्छ्रिते तयोः ॥ २५ ॥
अङ्गुष्ठौ मूलसंलग्नौ विपर्यस्तौ परस्परम् ।
चाक्षुष्येषा भवेन्मुद्रा निबध्या चक्षुरन्तिके ॥ २६ ॥

नेत्र मुद्रा का विधान—दोनों हाथों की अंगुलियों को परस्पर ग्रथित करे जिससे अंगुलियाँ कर-पृष्ठों से सट जायें । दोनों तर्जनियाँ आपस में सलग्न हों। दोनों के छिद्र उठे हुए हों । दोनों अंगूठे मूल में संलग्न होवें और परस्पर में विपर्यस्त होवे । यह चाक्षुषी मुद्रा कही जाती है इसे आँखों के सामने बाँधना चाहिये ॥ २५-२६ ॥

अस्त्रमुद्रा

तर्जनीं स्फोटयेद्दिक्षु दशस्वङ्गुष्ठकेन तु ।
द्रुतं करद्वयेनैव चक्षुर्भ्यां संनिरीक्षयेत् ॥ २७ ॥
अस्त्रमुद्रेति विख्याता त्रासनी देवविद्विषाम् ।
अङ्गानामियमुद्दिष्टा षण्मुद्री सर्वसाधनी ॥ २८ ॥

अस्त्र मुद्रा का विधान—तर्जनी और अंगूठे को मिलाकर दशों दिशाओं में चुटकी बजावे और ऐसा दोनों हाथों से करना चाहिये । दिशाओं का दोनों आँखों से निरीक्षण करे । यह अस्त्र मुद्रा असुरों को भयभीत करने के लिये प्रसिद्ध है । इस प्रकार अंगों की छः मुद्राओं का वर्णन किया गया है जो सर्वार्थ का साधक हैं ॥ २७-२८ ॥

उपाङ्गमुद्रा

उपाङ्गत्रियुगस्याथ मुद्रा एता निशामय ।
अङ्गुलीः श्लेषयेत् सर्वाश्चतस्रो दक्षिणास्थिताः ॥ २९ ॥

तासां मूले तथाङ्गुष्ठं तिर्यञ्चं विनिवेशयेत् ।
उपाङ्गानामियं मुद्रा तया तत्तत् स्पृशेत् पदम् ॥ ३० ॥

उपाङ्ग मुद्रा का विधान—अब उपाङ्ग त्रियुग की इन मुद्राओं का वर्णन सुनिये—दाहिने हाथ की चारो अंगुलियों को मिलावें । उनके मूल में अंगूठे को तिरछा करके लगावें । यह उपांगों की मुद्रा है । उपाङ्गों में इसी मुद्रा से न्यास करना चाहिये और न्यास रूप से स्पर्श करे ॥ २९-३० ॥

कौस्तुभमुद्रा

अलङ्कारास्त्रमन्त्राणां मुद्रा अथ निशामय ।
कनिष्ठानामिकामध्या मुष्टिवत् पाणिमध्यगाः ॥ ३१ ॥
उभयोर्हस्तयोः पश्चात्तौ मुष्टी श्लेषयेन्मिथः ।
प्रसार्य तर्जनीद्वन्द्वं श्लेषयेदग्रतस्ततः ॥ ३२ ॥
अङ्गुष्ठाग्रे विपर्यस्य तर्जन्योर्मध्यतो न्यसेत् ।
मुद्रैषा कौस्तुभी नाम मालामुद्रामिमां शृणु ॥ ३३ ॥

कौस्तुभ मुद्रा का विधान—अब इसके बाद अलंकार और अस्त्र मुद्राओं के वर्णन को सुनिये—तर्जनी अंगुली को सीधी रखकर कनिष्ठा, अनामा और मध्यमा अंगुली से दोनों हाथों से मुष्टिका बाँधे । इसके बाद आपस में दोनों मुट्ठियों को परस्पर मिलावें और दोनों सीधी तर्जनियों को भी आपस में मिला देवें । फिर दाँये हाथ के अंगूठे को बायीं तर्जनी के मध्य में और बाँये अंगूठे को दायी तर्जनी के मध्य में मिलावें । इसे कौस्तुभ मुद्रा कहते हैं । अब वनमाला मुद्रा का वर्णन सुनिये ॥ ३१-३३ ॥

वनमालामुद्रा

कण्ठादापादतः स्वांसौ तर्जनीभ्यां परिभ्रमन् ।
कुर्याद्युगपदेवैषा वनमालामयी शुभा ॥ ३४ ॥
व्यङ्गुष्ठा अङ्गुलीरष्टौ ग्रथयेदग्रतो मिथः ।
लम्बं बाहुद्वयं कुर्यादेषा वा वनमालिका ॥ ३५ ॥

वनमाला मुद्रा का विधान—दोनों हाथों की तर्जनी और अंगूठों को मिलाकर गले से प्रारम्भ करके दोनों पैरों तक वनमाला की तरह दोनों ओर स्पर्श करने से वनमाला मुद्रा बन जाती है । अंगूठे को छोड़कर दोनों हाथों की आठ अंगुलियों को परस्पर ग्रथित करके दोनों हाथों को सीधा करने से भी वनमाला मुद्रा बनती है ॥ ३४-३५ ॥

पद्ममुद्रा

अङ्गुष्ठौ पार्श्वतो लग्नावङ्गुल्यो विरलाः स्थिताः।
एषा पाङ्केरुही मुद्रा पुष्टिसौभाग्यवर्धिनी ॥ ३६॥

पद्म मुद्रा का विधान—अंगूठों को तर्जनी मूल में सटाकर अंगुलियों को सीधी एवं अलग-अलग रखकर दोनों हाथों को परस्पर अलग-अलग रखकर प्रदर्शित करने से पद्म मुद्रा बन जाती है । इसको पाङ्केरुही मुद्रा भी कहते हैं । यह पुष्टिकारक और सौभाग्यवर्द्धक कही गयी है ॥ ३६ ॥

पाशमुद्रा

उत्ताने दक्षिणे पाणावग्रेऽङ्गुष्ठकनिष्ठयोः ।
मेलयेत् सेतुवच्छिष्टं सुसंश्लिष्टं लतात्रयम् ॥ ३७ ॥
आकुञ्चितफणाकारा मुद्रा पाशा भवेदियम् ।
मुष्टिं पृष्ठस्थिताङ्गुष्ठं पाण्योर्मुष्टिद्वयं पुरा ॥ ३८ ॥

पाशमुद्रा का विधान—दोनों हाथों से मुट्ठी बाँधकर बाँये हाथ की तर्जनी को दाहिने की तर्जनी से जोड़ने पर और अंगूठों का अग्रभाग उनमें लगा रहे तो यह पाश मुद्रा बन जाती है ॥ ३७-३८ ॥

कूर्ममुद्रा

कुर्यादधोमुखं वामं तत्पृष्ठे दक्षिणं तथा ।
अथाधारादिशक्तेः स्यान्मुद्रोक्ता कूर्मवह्निजा ॥ ३९ ॥

कूर्ममुद्रा का विधान—दोनों हाथों की मुट्ठी बाँधे दोनों अंगूठों को मुट्ठी की पीठ पर करे और बायें हाथ की अधोमुख मुट्ठी पर दाँये हाथ की मुट्ठी को रखें । यही कूर्मवह्निजा मुद्रा कही जाती है ॥ ३९ ॥

अनन्तमुद्रा

अधोमुखस्य वामस्य ह्यनामातर्जनीद्वयम् ।
आकुञ्च्य मध्यमापृष्ठे विन्यसेत्तु सुसंस्थितम् ॥ ४० ॥
ऋजूमधोमुखीं कुर्यान्मध्यमामङ्गुलीं तथा ।
ततः कनिष्ठिकाङ्गुष्ठौ बलवत्तु प्रसारयेत् ॥ ४१ ॥
अनन्तासनमुद्रेयमनन्तोऽयं यथोत्थितः ।
इयमासनमुद्राणां प्रधाना परिकीर्तिता ॥ ४२ ॥

अविभागा परा शक्तिराधाराधारसंज्ञिता ।
कूर्ममुद्रा तदुन्मेषा नादात्मानन्तमुद्रिका ॥ ४३ ॥

अनन्त मुद्रा का विधान—बाँये हाथ को अधोमुख करके मध्यमा को अधोमुख करे तथा मध्यमा के पीठ पर तर्जनी और अनामिका को मिला देवें । इसके बाद कनिष्ठा और अंगूठे को सीधा करे । इस प्रकार यह अनन्तासन मुद्रा बन जाती है । यह अपने रूप के अनुसार अनन्त है इसलिए आसन मुद्राओं में इसे प्रधान मुद्रा माना जाता है । यह पराशक्ति विभागरहित है । इसे आधाराधार भी कह जाता हैं । जो कूर्ममुद्रा है यह उसका उन्मेष है; यह नादात्मक अनन्त मुद्रा है ॥ ४०-४३ ॥

पृथिवीमुद्रा

भावनीयमिदं शश्वदित्थमासनकर्मणि ।
करद्वयेन बध्नीयाल्लग्नमुष्टिद्वयं पुरः ॥ ४४ ॥
अङ्गुलीत्रितयेनैव अङ्गुष्ठौ तर्जनीद्वयम् ।
प्रान्तलग्नं तु तत् कुर्यात्तद्युगं मेलयेत् पुनः ॥ ४५ ॥
एषा सा पार्थिवी मुद्रा सर्वभूतविधारिणी ।

पृथिवी मुद्रा का विधान—पृथ्वी की भावना सभी आसन कर्मों में करनी चाहिये । अपने सामने दोनों हाथों की मुट्ठी बाँधकर आपस में मिला देवें । तीनों अंगुलियों को अंगूठे और तर्जनी में मिलावें । इसके बाद दोनों हाथों को मिला देवें । इस प्रकार से बनने वाली यह पृथ्वीमुद्रा सभी भूतों का निवारण करने वाली है ॥ ४४-४६- ॥

क्षीरार्णवमुद्रा

मणिबन्धे तु संलग्नौ नखाग्राणि करद्वये ॥ ४६ ॥
कार्याणि साङ्गुलीकानि परस्परमुखानि तु ।
अङ्गुष्ठाग्रे निराधारे तन्मध्ये चालयेद् द्रुतम् ॥ ४७ ॥
मध्ये कुर्याच्च करयोरगाधं सुषिरोपमम् ।
क्षीरार्णवस्य मुद्रैषा पाद्मी पूर्वं प्रदर्शिता ॥ ४८ ॥

क्षीरार्णव मुद्रा का विधान—दोनों मणिबंधों को मिलाकर सभी अंगुलियों के अग्रभाग को आपस में मिला देवें । दोनों हाथों के मध्य के रिक्त स्थान में अंगूठों को निराधार चलावें । इसी को क्षीरार्णव मुद्रा कहते हैं । पाद्मी मुद्रा का वर्णन पहले ही किया जा चुका है ॥ -४६-४८ ॥

धर्मादिमुद्रा

करद्वयमसंलग्नं कृत्वा तदनु योजयेत् ।
मुखे मुखं तु तर्जन्योरेवं मध्यमयोः क्रमात् ॥ ४९ ॥
अनामयोस्ततः पश्चाद्वक्त्रे वक्त्रं कनिष्ठयोः ।
अङ्गुष्ठयुगलं तत्तदङ्गुलीमुखयोर्न्यसेत् ॥ ५० ॥
एतन्मुद्राचतुष्कं तु धर्माद्ये तु चतुष्टये ।
अधर्मादिचतुष्काणां तद्वन्मुद्राचतुष्टयम् ॥ ५१ ॥

धर्मादि मुद्रा का विधान—दोनों हाथों को निकटस्थ करके दोनों हाथों में तर्जनी से अंगूठों को फिर अंगूठे को मध्यमा से फिर अंगूठों को अनामिका से तब अंगूठे को कनिष्ठा से मिलावें । इस प्रकार धर्मादि की चार मुद्राएँ बनती हैं । तर्जनी और अंगूठे से धर्म मुद्रा, अंगूठे और मध्यमा के योग से **ज्ञान मुद्रा**, अंगूठे और अनामिका के योग से **वैराग्य मुद्रा** और अंगूठे और कनिष्ठा के योग से **ऐश्वर्य मुद्रा** बनती है । इसी प्रकार अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य की मुद्राएँ बनती है । हाथों को अधोमुख रखने से धर्मादि की और ऊर्ध्वमुख रखने से अधर्मादि की मुद्राएँ बनती हैं ॥ ४९-५१॥

धामत्रयमुद्रा

तदूर्ध्वस्थस्य पद्मस्य मुद्रा पाद्मी पुरोदिता ।
दक्षिणस्य तु हस्तस्य तर्जन्यङ्गुष्ठमेलनम् ॥ ५२ ॥
कृत्वा तदनु तद्बन्धं विकास्य च शनैः शनैः ।
समुत्तानं पुनः कुर्याच्छाखासङ्घ पृथक् पृथक् ॥ ५३ ॥
धामत्रयस्य मुद्रैषा चिद्भासनगतां शृणु ।

धामत्रय मुद्रा का विधान—पाद्मी मुद्रा का प्रतिपादन पहले किया जा चुका है । अपने दाहिने हाथ की तर्जनी और अंगूठे को मिलाकर फिर धीरे-धीरे उनको अलग करे । इसके बाद तर्जनी एवं मध्यमा को अंगूठे से मिलाकर अलग करना चाहिए । फिर अनामिका एवं कनिष्ठा को अंगूठे से मिलाकर धीरे-धीरे अलग करे । इससे धामत्रय की मुद्राएँ बनती है । अब चिद्भासन मुद्रा का वर्णन सुनिये ॥ ५२-५४- ॥

चिद्भासनमुद्रा

स्फुटौ प्रसारितौ हस्तौ कुर्यादञ्जलिरूपकौ ॥ ५४ ॥
चिद्भासनस्य मुद्रैषा शुद्धसत्त्वमयी परा ।

द्वात्रिंशदिति मुद्राणां सर्वदोषविनाशिनी ॥ ५५ ॥

चिद्भासन मुद्रा का विधान—अपने फैलाये हुए हाथों से अञ्जली बनावे। यह चिद्भासन मुद्रा कहलाती है । यह परा शुद्ध सत्व से परिपूर्ण है । ऊपर अब तक जिन बत्तीस मुद्राओं का वर्णन किया गया है वे सभी प्रकार के दोषों को नष्ट करने वाली है ॥ -५४-५५ ॥

क्षेत्रेशादिमुद्रा

भूषणास्त्रासनादीनां तव शक्र प्रदर्शिता ।
क्षेत्रेश्वरादिमुद्राणामिदानीं दशकं शृणु ॥ ५६ ॥
ग्रस्तमङ्गुलिसङ्घातं कृत्वा पाणिद्वयेन तु ।
बलात्सम्पीडयेत् कुर्वन्नङ्गुष्ठद्वयमुच्छ्रितम् ॥ ५७ ॥
मुद्रेयं क्षेत्रपालस्य सर्वदुष्टनिबर्हणी ।

क्षेत्रेशादि मुद्रा का विधान—हे इन्द्र ! आपको आभूषण और अस्त्रों की मुद्राओं को प्रदर्शित कर दिया गया । अब क्षेत्रेश्वर आदि की दश मुद्राओं के वर्णन को सुनिये । दोनों हाथों की अंगुलियों को परस्पर ग्रथित करके अंगूष्ठों को खड़ा करके, बलपूर्वक परस्पर दबाना चाहिये । यह क्षेत्रपाल मुद्रा सभी दुष्टों को नष्ट करने वाली होती है ॥ ५६-५८- ॥

श्रीबीजमुद्रा

उत्तानौ तु करौ कृत्वा निकटस्थौ पुरन्दर ॥ ५८ ॥
अङ्गुलीनां गणं सर्वं कुञ्चितं मध्यसंस्थितम् ।
अङ्गुष्ठौ पतितौ कृत्वा क्रमशः स्फुटतां नयेत् ॥ ५९ ॥
श्रीबीजस्य तु मुद्रैषा प्रथमं कथिता तव ।

श्री बीज मुद्रा का विधान—दोनों हाथों को उत्तान करके समीपस्थ करे । फिर सभी अंगुलियों से मुट्ठी बाँधे । इसके बाद अंगुलियों पर अंगूठों को चढ़ा देवें । फिर एक-एक करके अंगुलियों को सीधा कर लें । यह श्री बीज मुद्रा कही गई है। जिसका वर्णन किया जा चुका है ॥ -५८-६०- ॥

जयमुद्रा

समुत्थाप्य कराद्वामात्तर्जनीं चण्डबीजजाम् ॥ ६० ॥
तामेव दक्षिणाद्धस्तात् प्रचण्डस्य निदर्शयेत् ।
मध्यमां वामहस्ताद्वै समुत्थाप्य जयस्य सा ॥ ६१ ॥

जय मुद्रा का विधान—चण्ड बीज से उत्पन्न तर्जनी को बाँयें हाथ से उठा कर उसे दाहिने हाथ के प्रचण्ड का निदर्शन करा लेवें । मध्यमा को वाम हाथ से उत्थापित करे । इसी को जय मुद्रा कहते हैं ॥ -६०-६१ ॥

विजयमुद्रा

दक्षिणाद् विजयाख्यस्य बीजस्य परिकीर्तिता ।
वामाच्चानामिकां प्राग्वत्कृत्वा गाङ्गस्य विद्धि ताम् ॥ ६२ ॥

विजय मुद्रा का विधान—विजय नाम के बीज से उत्पन्न दाँयाँ हाथ माना गया है । बाँये हाथ की अनामिका से पूर्ववत् उत्थित करने पर विजय मुद्रा बनती है ॥ ६२ ॥

यामुनमुद्रा तथा शङ्खनिधिमुद्रा

दक्षिणाद्यामुनस्योक्ता मुद्रा बीजस्य वासव ।
मुद्रा शङ्खनिधेः प्रोक्ता वामहस्तात् कनिष्ठिका ॥ ६३ ॥

यामुन मुद्रा का विधान—हे इन्द्र! दाहिने हाथ से यामुन मुद्रा बीज की उत्पत्ति कही गयी है ।

शङ्ख निधि मुद्रा का विधान—बाँये हाथ की कनिष्ठा अंगुलि शङ्ख निधि की मुद्रा है ॥ ६३ ॥

पद्मनिधिमुद्रा

तथा पद्मनिधेर्हस्ताद् दक्षिणात् सा कनिष्ठिका ।

पद्मनिधि मुद्रा का विधान—दाहिने हाथ की कनिष्ठा अंगुली को पद्म निधि मुद्रा कहा गया है ॥ ६४- ॥

गणेशमुद्रा

दक्षिणेन तु हस्तेन साङ्गुष्ठेन तु मुष्टिना ॥ ६४ ॥
प्रदेशिनीमनामां च वामहस्तस्य पीडयेत् ।
प्रयत्नीकृतशाखानां पृष्ठे योज्याथ मध्यमा ॥ ६५ ॥
लम्बमानकराकारा यथा संदृश्यते च सा ।
मुष्टेर्नातिसमीपस्थां वामहस्तात् कनिष्ठिकाम् ॥ ६६ ॥
दक्षिणाङ्गुष्ठपार्श्वेन दंष्ट्रावत् परिभावयेत् ।

ईषत्तिर्यग्गतिस्पष्टौ वामोऽङ्गुष्ठस्तथा परः ॥ ६७ ॥
यथा तौ परिदृश्येते गजकर्णोपमौ शुभौ ।
गणेश्वरस्य मुद्रैषा सर्वविघ्नक्षयङ्करी ॥ ६८ ॥

गणेश मुद्रा का विधान—अपने दाहिने हाथ के अंगुठे सहित मुट्ठी में बाँये हाथ की तर्जनी और अनामिका को दबा ले । प्रयत्नपूर्वक मध्यमा अंगुली पीठ पर मिलावें । इससे वह लम्ब मान कराकार दिखलायी पड़ती है । बाँये हाथ की मुट्ठी से कनिष्ठा अति समीप न करके दक्षिण अंगुष्ठ पार्श्व से दाँत के समान परिभावित करे । इस प्रकार से कुछ तिर्यक गति से स्पष्ट वायाँ अंगुष्ठ हाथी के कान के समान दिखलायी पड़ता है । यह गणेश की मुद्रा समस्त विघ्नों को नाश करने वाली कही गई है ॥ -६४-६८ ॥

वागीश्वरीमुद्रा

संश्लिष्टौ मणिबन्धौ तु कृत्वा पाणिद्वये पुरा ।
संलग्नमग्रदेशात्तु प्रोन्नतं मध्यमायुगम् ॥ ६९ ॥
प्रदेशिनीयुगं तद्वत्तथैवानामिकाद्वयम् ।
अङ्गुष्ठं द्विगुणीकृत्य नमयेत्तदधोमुखम् ॥ ७० ॥
शनैः शनैः स्पृशेद्यावत् स्वं स्वं पाणिद्वयीतलम् ।
स्फुटं सुविरलं कुर्यादङ्गुष्ठद्वितयं तथा ॥ ७१ ॥
कनिष्ठिकाद्वयं चैव समेन धरणेन तु ।
इयं वागीश्वरी मुद्रा वाणीविभवदायिनी ॥ ७२ ॥

वागीश्वरी मुद्रा का विधान—पहले दोनों हाथों के मणिबन्धों को मिलावें । तब दोनों मध्यमाओं एवं दोनों अनामिकाओं और दोनों तर्जनियों के अग्र भागों को मिलावें तथा अंगूठों को टेढ़ा करके उनके नीचे लगा देवें । तब धीरे-धीरे सभी को अलग करें। अंगूठों और कनिष्ठाओं को बराबर करे । यह वागीश्वरी मुद्रा कहलाती है । इस मुद्रा से वाणी का वैभव प्राप्त होता है ॥ ६९-७२ ॥

गुरुमुद्रा

संमुखौ सम्पुटीकृत्य द्वौ हस्तौ संप्रसारितौ ।
विनियोज्यौ ललाटाग्रे शिरसावनतेन तु ॥ ७३ ॥
गुर्वादित्रितयस्यैषा मुद्रा चेतःप्रसादिनी ।

गुरु मुद्रा का विधान—दोनों हाथों को फैलाकर अपने सम्मुख परस्पर मिलावें और अपने ललाट के अग्रभाग से मिलावें । और शिर को झुका दें ।

यह गुरु त्रय अर्थात् गुरु, परम गुरु और परमेष्ठी गुरु की मुद्रा होती है । यह चित्त को प्रसन्न एवं प्रफुल्लित करती है ॥ ७३-७४- ॥

पितृगणमुद्रा

प्रोत्तानं दक्षिणं पाणिं कृत्वाङ्गुलिगणं ततः ॥ ७४ ॥
संलग्नं कुञ्चयेत् किंचिदङ्गुष्ठं संप्रसार्य च ।
तिर्यक् शनैः शनैः किंचित् कुर्याच्चाधोमुखं ततः ॥ ७५ ॥
मुद्रा पितृगणस्यैषा नित्यतृप्तिकरी स्मृता ।
इयं श्राद्धसहस्रेभ्यः पितृप्रीतिकरी सदा ॥ ७६ ॥
दर्शनीया प्रयत्नेन पितृणां पूजने सदा ।

पितृगणों की मुद्रा का विधान—दाहिने हाथ को उत्तान करके अंगुलियों को आपस में संलग्न करके मोड़े । अंगूठे को फैलाकर, फिर धीरे-धीरे टेढ़ा करके अधोमुख करना चाहिए । यह पितृगणों की मुद्रा है । इसमें पितरों को नित्य ही तृप्ति मिलती रहती है । यह मुद्रा हजार श्राद्ध के बराबर पितरों को सन्तुष्ट करती है । अतः प्रयत्नपूर्वक पूजन काल में इसे पितरों हेतु नित्य ही प्रदर्शित करना चाहिये ॥ -७४-७७- ॥

सिद्धमुद्रा

करद्वयं समुत्तानं नाभिदेशे नियोजयेत् ॥ ७७ ॥
वामस्य दक्षिणं पृष्ठे मुद्रैषा सिद्धसंसदः ।

सिद्ध मुद्रा का विधान—दोनों हाथों को उत्तान करके नाभि देश में मिलावें और बाँये हाथ की पीठ पर दाँये को हाथ रखें । यह मुद्रा सिद्धों के संसद की कही गई है ॥ -७७-७८- ॥

वराभयदमुद्रे

सुस्पृष्टं दक्षिणं हस्तमात्मनस्तु पराङ्मुखम् ॥ ७८ ॥
पराङ्मुखं लम्बमानं वामपाणिं प्रकल्पयेत् ।
वराभयदमुद्रे द्वे लोकेशानामिमे स्मृते ॥ ७९ ॥
एकैकेन तु मन्त्रेण वज्राद्येव क्रमाद्युतम् ।
अस्त्राख्यां शक्तिसंयुक्तां प्रागुक्तां संप्रदर्शयेत् ॥ ८० ॥

वर और अभय मुद्रा का विधान—सुस्पष्ट दाहिने हाथ को पराङ्मुख और लम्बमान बाँये हाथ को पराङ्मुख करने से वर और अभय की मुद्राएँ निर्मित

होती हैं । इन दोनों को लोकपालों की मुद्राएँ कहा गया हैं । लोकपालों के प्रत्येक मन्त्र के साथ एवं वज्रादि अस्त्र के साथ शक्तिमन्त्र लगाकर पूर्वोक्त मुद्राओं को प्रदर्शित करे ॥ -७८-८० ॥

लोकपालायुधानां तु पूजितानां क्रमादिह ।
वामहस्तकनिष्ठाद्यास्तिस्रः स्वतलमध्यगाः ॥ ८१ ॥
तासामङ्गुष्ठतः पृष्ठे तर्जनी प्रोन्नता भवेत् ।
नासावंशप्रदेशस्था ततो दक्षिणपाणिना ॥ ८२ ॥

लोकपालों के आयुधों का पूजनक्रम—पहले बाँये हाथ की कनिष्ठा से तीन अंगुलियों को करतल मध्य में रखे और उनके ऊपर तर्जनी और अंगुष्ठ को प्रोन्नत करे । नासिका प्रदेश में दाहिने हाथ को रखकर तीन अंगुलियों से मुट्ठी बाँधे तथा तर्जनी को अंगुष्ठ में लगावें ॥ ८१-८२ ॥

विष्वक्सेनमुद्रा

अङ्गुलीत्रितयेनैव मुष्टिं बद्धा तु पूर्ववत् ।
तर्जनीं द्विगुणीकृत्य त्वङ्गुष्ठाग्रे नियोजयेत् ॥ ८३ ॥
प्रोद्यतो दक्षिणो बाहुश्चक्रक्षेपे यथोद्यतः ।
विष्वक्सेनस्य मुद्रेयं विश्वबन्धनकृन्तनी ॥ ८४ ॥

विष्वक्सेन मुद्रा का विधान—पूर्ववत् तीन अंगुलियों से मुट्ठी बाँधे और तर्जनी अंगुली को मोड़कर अंगूठे से मिला देवें । चक्र फेंकने के लिये उद्यत होने के समान अपना दाहिना हाथ उठावें । इस प्रकार विष्वक्सेन मुद्रा बन जाती है जो सभी विश्वबन्धनों को नष्ट कर देती है ॥ ८३-८४ ॥

आवाहनमुद्रा

किंचिदाकुञ्चयेद्धस्तं दक्षिणं हृदयोपगम् ।
अङ्गुष्ठौ विरलौ स्पष्टौ मुद्रा ह्यावाहने स्मृता ॥ ८५ ॥

आवाहन मुद्रा का विधान—हृदय के समीप अपने हाथों को रखकर दाहिने हाथ को कुछ मोड़ते हुए अंगूठों को अलग रखना चाहिए । यह आवाहनी मुद्रा कही जाती है ॥ ८५ ॥

विसर्जनमुद्रा

खड्गधारासमाकारौ विरलाङ्गुलिकावुभौ ।
अङ्गुष्ठौ दण्डवत् कृत्वा मुष्टिबन्धं शनैः शनैः ॥ ८६ ॥

कुर्यात् कनिष्ठिकादिभ्यो मुद्रैषा स्याद्विसर्जने ।

विसर्जन मुद्रा का विधान—खड्ग की धार के समान आकार वाली तथा अलग अलग अंगुलियों वाले हाथ के दोनों अंगूठों को दण्डवत् सीधा करके कनिष्ठा से मुट्ठी बाँधे । इस प्रकार विसर्जन मुद्रा बनती है ॥ ८६-८७- ॥

कामधेनुमुद्रा

प्रसृतौ द्वौ करौ कृत्वा सुश्लिष्टौ चाप्यधोमुखौ ॥ ८७ ॥
कनीयस्यौ तथाङ्गुष्ठौ सुश्लिष्टौ च नियोज्य च ।
मध्यमाङ्गुलियुग्मं चाप्यन्योन्यकरपृष्ठगम् ॥ ८८ ॥
प्रक्षिप्यानामिकायुग्मं तर्जनीयुगलं तथा ।
मुद्रैषा कामधेन्वाख्या सर्वेच्छापरिपूरणी ॥ ८९ ॥

कामधेनु मुद्रा का विधान—दोनों हाथों को बिल्कुल सीधे फैलाकर अपने समीप अधोमुख कर लें । अंगूष्ठों को कनिष्ठाओं से मिला देवें । मध्यमाओं को एक दूसरे की पीठ पर रखें । दोनों अनामिकाओं और दोनों तर्जनियों को अन्दर करे । इसे कामधेनु मुद्रा कहते हैं । यह मुद्रा सभी इच्छाओं को पूर्ण करती है ॥ -८७-८९ ॥

द्विप्रकारं तु मुद्राणां प्रयोगं विद्धि वासव ।
अध्यात्मं संविदाकारं बाह्यं वाक्कर्मचित्तजम् ॥ ९० ॥

स्नान की आवश्यकता एवं त्रिविध स्नान का विधान—हे इन्द्र ! मुद्राओं का प्रयोग दो प्रकार से होता है । पहला प्रकार अध्यात्म संविदाकार है और दूसरा प्रकार वाक्कर्म और चित्त से उत्पन्न होता है ॥ ९० ॥

अनेन विधिना मुद्रां यो बध्नाति विधानवित् ।
तेनेदं मुद्रितं सर्वमपुनर्भवसिद्धये ॥ ९१ ॥

जो इस प्रकार के विधान से विधिवत मुद्रा बन्धन का प्रदर्शन करता है उससे सभी प्रसन्न रहते हैं और साथ ही उस साधक को सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं ॥ ९१ ॥

इति मुद्रागणः सर्वस्तवोद्दिष्टः पुरन्दर ।
आराधनाधिकारार्थं शृणु स्नानविधिं परम् ॥ ९२ ॥

हे इन्द्र ! इस प्रकार मुद्रागणों को आपके लिये वर्णित किया गया । अब आराधना का अधिकार प्राप्ति हेतु स्नान की विधि सुनिये ॥ ९२ ॥

स्नानविधिनिरूपणम्

अन्तर्बहिर्मलोपेतमलक्ष्मीः प्रतिपद्यते ।
तस्या निवारणार्थाय स्नानं सर्वत्र शिष्यते ॥ ९३ ॥

बिना स्नान के शरीर अन्दर और बाहर दोनों ही ओर मलयुक्त रहता है । अत: अलक्ष्मी का वास रहता है । इसलिए उसके निवारण हेतु सर्वत्र धर्मादि कार्यों में स्नान आवश्यक माना गया है ॥ ९३ ॥

त्रिविधस्नाननिरूपणम्

तत् पुनस्त्रिविधं स्नानं जलमन्त्रस्मृतिक्रमात् ।
त्रिविधं पुरुहूतैतत् स्मृतं शतगुणोत्तरम् ॥ ९४ ॥

स्नान तीन प्रकार का माना गया है पहला—जल स्नान, दूसरा—मन्त्र स्नान और तीसरा—मानसिक स्नान । हे पुरुहूत इन्द्र ! इन तीन प्रकार के स्नानों में पहले से तीसरा स्नान सौ गुना अधिक श्रेष्ठ माना गया है । दूसरे स्नान से तीसरा स्नान सौ गुना अधिक श्रेष्ठ होता है ॥ ९४ ॥

पुष्करादिषु तीर्थेषु यत् स्नानं जलजं स्मृतम् ।
ततः शतगुणं स्नानं भगवच्छास्त्रचोदितम् ॥ ९५ ॥

पुष्कर आदि तीर्थों में जो स्नान होता है उसे जल स्नान माना जाता है उससे सौगुना अधिक प्रभाव वाला स्नान वह होता है जो भगवत शास्त्र से प्रेरित (ज्ञानयुक्त) होता है ॥ ९५ ॥

तस्माच्छतगुणं मान्त्रं मन्त्राङ्गन्याससंभवम् ।
तस्माच्छतगुणं ध्यानं शुद्धसंविन्मयं परम् ॥ ९६ ॥

इससे सौगुना अधिक फलप्रद मन्त्र स्नान होता है । यह स्नान मन्त्रों के द्वारा अंग न्यासादि से उत्पन्न होता है । इससे भी सौगुना अधिक प्रभावशाली स्नान ध्यान से होता है जो परम शुद्ध संवित् से परिपूर्ण रहता है ॥ ९६ ॥

आदौ सामान्यविधिना जलस्नानं समाचरेत् ।
विशेषविधिना पश्चाद्विशेषस्य विधिस्त्वयम् ॥ ९७ ॥

पहले साधारण विधि से जल से स्नान करना चाहिये । इसके बाद विशेष विधि से स्नान करना चाहिये विशेष विधि इस प्रकार की है ॥ ९७ ॥

पूर्वं स्नात्वा मृदाम्भोभिः पश्चाद्गन्धादिलेपनम् ।
स्नानं स्यात्तन्मलध्वंसि प्राणायामैः समाचरेत् ॥ ९८ ॥

पहले मिट्टी को पानी में घोलकर उस घोल से स्नान करे तब गन्ध आदि का लेप लगावें। यह स्नान सभी मलों को नष्ट करने वाला है। तब प्राणायाम करे ॥ ९८ ॥

द्वादशावृत्तया कुर्यात् पूरणं तारया पुरा।
धारयेत् षोडशावृत्त्या द्विषट्केन पुनस्त्यजेत् ॥ ९९ ॥

बारह बार ॐ बोलने में जितना समय लगता है उतने समय तक पूरक प्राणायाम करना चाहिए। फिर सोलह ॐ से कुंभक करे और बारह ॐ से रेचक करे ॥ ९९ ॥

सव्यदक्षिणपर्यायै रेचनान्तमरुत्क्रमैः।
मलान् क्षपयति प्राणनाडीस्थान् पूर्वसंचितान् ॥ १०० ॥

बाँये से पूरक और दाँये नासा से रेचक फिर पूरक एवं रेचक करने से नाड़ियों में पूर्व संचित मलों का विनाश होता है ॥ १०० ॥

ततस्तत्त्वमयो भूत्वा मलिनं भूतपिण्डकम्।
षाट्कोशिकमसारं च शोधयेद्धारणावशात् ॥ १०१ ॥

इसके बाद तत्त्वमय होकर छः कोशों में रहने वाले मलिनभूत पिण्ड शरीर को धारण से शोधन करना चाहिये ॥ १०१ ॥

पृथिव्यादीनि सर्वाणि तत्त्वानि स्वस्वकारणे।
धारणाभिर्नयेदस्तमव्यक्तान्तानि वै क्रमात् ॥ १०२ ॥

पृथ्वी आदि सभी तत्त्वों को धारणा से अपने अपने कारण में ले जाकर अव्यक्त तत्त्व में विलीन कर दें ॥ १०२ ॥

क्षीरे क्षीरमिवात्मानं मयि संमिश्रयेत्ततः।
भूत्वा लक्ष्मीमयः पश्चाद्भवेन्नारायणात्मकः ॥ १०३ ॥

दूध में दूध मिलाने के समान मुझमें अपने आप को संमिश्रित कर लेना चाहिये। इससे साधक फिर लक्ष्मीमय होकर बाद में नारायण स्वरूप हो जाता है ॥ १०३ ॥

धारणाबन्धमासाद्य शुद्धसत्त्वेन चेतसा।
परमात्मात्मकत्त्वं यत् सा शक्तिः परमा मता ॥ १०४ ॥

शुद्ध सत्त्व वाले चित्त से धारणा बन्ध करके साधक सर्वोत्तम परमात्मकत्व शक्ति प्राप्त करता है ॥ १०४ ॥

तत्स्थ एव स्वकं पिण्डं संदहेद्धारणाग्निना ।
चिदाशुशुक्षणेस्तेजःपुञ्जमर्चिःकणालयम् ॥ १०५ ॥

उस तत्त्व में स्थित होकर धारणा की अग्नि से अपने पिंड शरीर का दहन करना चाहिए । चित्त रूपी अग्नि कणों का आलय है और तेजों का पुञ्ज है ॥ १०५ ॥

पततं संस्मरेन्मूर्ध्नि पिण्डं प्रज्वलितं ततः ।
शान्तमन्तःस्थसत्सत्त्वं भस्मीभूतरजस्तमम् ॥ १०६ ॥

फिर मूर्धा में गिरते हुए प्रज्ज्वलित पिंड का स्मरण करे कि यह अन्तःस्थ शान्त सत्सत्व है । इसमें रज और तम भस्म हो गये हैं ॥ १०६ ॥

रजस्तमोमयं भस्म त्वपोह्योद्बोधवायुना ।
चिदानन्दमहाम्भोधेरतरङ्गगुणाकरात् ॥ १०७ ॥
प्रसृतं सृष्टिमार्गेण संस्मरेदमृतोदकम् ।
तेनाप्यायितमन्तःस्थं तत्सत्त्वं देहतां नयेत् ॥ १०८ ॥

साधक उद्बोध रूपी वायु के द्वारा रजस्तमोमय भस्म को हटाकर अन्तरङ्ग गुणमय चिदानन्द महोदधि से सृष्टि मार्ग से प्रसृत अमृतोपम जल का स्मरण करे । उस जल से आप्यायित और अन्दर में संस्थित उस सत्त्व से अपने देह को निर्मित होने की भावना करे ॥ १०७-१०८ ॥

शुद्धं तत्सृष्टिमार्गेण संश्रयेद्भौतिकं वपुः ।
अन्तःशुद्धिरियं प्रोक्ता बाह्यशुद्धिमथो शृणु ॥ १०९ ॥
वक्ष्यमाणक्रमैरङ्गैर्मन्त्रन्यासं समाचरेत् ।
बहिः शुद्धिर्भवेदेवं तदा स्नानं समाचरेत् ॥ ११० ॥

सृष्टि मार्ग के द्वारा उस शुद्ध भौतिक शरीर का स्पर्श करना चाहिए । इस प्रकार से यह शरीर की अन्तःशुद्धि का वर्णन किया गया । इसके बाद अब मुझसे वाह्यशुद्धि का वर्णन सुनिये । आगे कहे जाने वाले अङ्गों से मन्त्र का न्यास करना चाहिये । यह बाहरी शुद्धि कही जाती है ॥ १०९-११० ॥

मृत्तिकास्नानविधिः

पवित्रपाणिरादाय मृत्कलां मन्त्रमन्त्रिताम् ।
तां त्रिधा वामहस्ताग्रे मूलमध्याग्रतो न्यसेत् ॥ १११ ॥

मृत्तिका स्नान विधि—धुले हुए पवित्र हाथों से मन्त्र से अभिमन्त्रित मृत्तिका कला को लाना चाहिए । फिर बाँये हाथ के मूल मध्य और अग्र भाग

में विभक्त कर रखना चाहिए ॥ १११ ॥

बोधशक्त्यात्मना पूर्वं तीर्थशुद्धिं समाचरेत् ।
तीर्थं तत् त्रिविधं प्रोक्तं स्थूलसूक्ष्मपरात्मना ॥ ११२ ॥

बोध शक्ति के स्वरूप से पहले तीर्थ की शुद्धि करनी चाहिए । यह तीर्थ तीन प्रकार का बतलाया गया है एक स्थूल है दूसरा सूक्ष्म है और तीसरा पर स्वरूप है ॥ ११२ ॥

तर्पयत्यखिलं स्थूलं स्थूलरूपेण तज्जगत् ।
सत्त्वात्मना तु सूक्ष्मेण ससुरांस्तर्पयेत्पितॄन् ॥ ११३ ॥

यह जगत् स्थूल रूप से सभी स्थूल पदार्थों का तर्पण करता है और सूक्ष्म सत्त्व स्वरूप से यह देवताओं के सहित पितृगणों को भी तृप्त करता है ॥ ११३ ॥

परेणानन्दरूपेण नयेन्मत्कर्मयोग्यताम् ।
तस्माच्छुद्धिः पुरा कार्या तीर्थे शास्त्रदृशा स्वयम् ॥ ११४ ॥

अतः श्रेष्ठ आनन्द रूप से मेरे कर्म को करने की योग्यता प्राप्त करनी चाहिए । शास्त्रीय दृष्टि से युक्त पुरुष को स्वयं तीर्थ में पहले अपनी शुद्धि करनी चाहिये ॥ ११४ ॥

ज्ञानधारणयाकृष्य तीर्थसत्तां तु वैष्णवीम् ।
मयि शक्तौ लयं नीत्वा चिदानन्दमहास्पदे ॥ ११५ ॥
स्थूलं ज्ञानाग्निना दग्ध्वा ब्रह्मानन्देन पूरयेत् ।
ज्ञानशक्त्यावरोप्याथ तीर्थे सत्त्वं तु वैष्णवम् ॥ ११६ ॥

ज्ञान की धारणा से वैष्णवी तीर्थ सत्ता का आकर्षण करके, चिदानन्द का महान् आस्पद रूप शक्ति मुझमें विलीन करने के बाद स्थूल ज्ञान की अग्नि से दग्ध करके ब्रह्मानन्द से पूरित करना चाहिये । तीर्थ में ज्ञान की शक्ति से वैष्णव शक्ति को अवरोपित करना चाहिए ॥ ११५-११६ ॥

प्रथमे मध्यमेऽथान्ते मृद्भागे क्रमशः सुधीः ।
अस्त्रं च मूलमन्त्रं चाप्यङ्गमन्त्रं च संस्मरेत्॥ ११७ ॥

प्रथम, मध्य और अन्त के मिट्टी भाग में क्रम से विद्वान् अस्त्र मन्त्र का और अङ्ग मन्त्र एवं मूल मन्त्र का भी संस्मरण करे ॥ ११७ ॥

दश दिक्षु क्षिपेदस्त्रं सर्वविघ्नोपशान्तये ।

मूलमन्त्रान्वितं भागं तीर्थमध्ये विनिक्षिपेत् ॥ ११८ ॥

समस्त विघ्नों की शान्ति के लिये दशों दिशाओं में अस्त्र रूप मिट्टी को क्षिप्त करना चाहिए । मूलमन्त्र से समन्वित मिट्टी के भाग को तीर्थ के मध्य में विनिक्षिप्त करे ॥ ११८ ॥

संनिधानं भवेत्तेन मन्त्रमूर्तेर्मम क्षणात् ।
मृद्भागमाङ्गमन्त्रं यत्तेनाङ्गानि विलेपयेत् ॥ ११९ ॥

इस क्रिया के द्वारा क्षण मात्र में ही मेरी मन्त्र मूर्ति से उस साधक का संनिधान हो जाता है । जो मृत्तिका भाग जिस अङ्ग में लगना है उसी में अङ्गो का लेपन करना चाहिए ॥ ११९ ॥

जलमध्यं समाविश्य निमज्ज्योन्मज्ज्य वै पुनः ।
कराभ्यामस्त्रजप्ताम्भः पूर्वं मूर्ध्नि विनिक्षिपेत् ॥ १२० ॥

फिर जल में प्रवेश करके निमज्जन उन्मज्जन करना चाहिए । फिर अस्त्र मन्त्र से अभिमन्त्रित जल दोनों हाथों से शिर पर छोड़ना चाहिए ॥ १२० ॥

द्वितीयं मूलमन्त्रेण तृतीयं चाङ्गमन्त्रकैः ।
ततस्तीरं समासाद्य सम्यगाचम्य वै ततः ॥ १२१ ॥

दूसरा मूल मन्त्र से और तीसरा अङ्ग मन्त्रों से मूर्धा पर जल गिराना चाहिए । इसके बाद तट पर जाकर सम्यक् रूप से आचमन करे ॥ १२१ ॥

मन्त्रस्नानम् तथा ध्यानस्नानम्

स्नानं समाचरेन्मन्त्रैर्यथावन्न्यासकर्मणा ।
ध्यानस्नानं ततः कुर्यात् सावधानेन चेतसा ॥ १२२ ॥

मन्त्र स्नान का विधान—यथा रीति से न्यास कर्म के द्वारा मन्त्रों से स्नान करे । इसके बाद परम सावधान चित्त से ध्यान करना चाहिये ॥ १२२ ॥

खस्थितं पुण्डरीकाक्षं स्मृत्वा लक्ष्मीधरं परम् ।
तत्पादोदकजां धारां संस्मरेच्छिरसि च्युताम् ॥ १२३ ॥

ध्यान स्नान का विधान—आकाश में स्थित पुंडरीक के समान नेत्रों वाले परम लक्ष्मीधर का स्मरण करके उनके चरण कमलों से उत्पन्न जल धारा को अपने शिर पर गिरते हुए स्मरण करना चाहिए ॥ १२३ ॥

तया संप्लावयेदन्तर्बहिश्च सकलं वपुः ।
एकैकशो द्विशो वापि त्रिशो वापि समाहितः ॥ १२४ ॥

उस जलधारा से अपने शरीर को बाहर और अन्दर से ओत प्रोत करना चाहिए । ऐसा एक बार अथवा दो बार अथवा दो बार अथवा तीन बार सावधानीपूर्वक करना चाहिए ॥ १२४ ॥

यथाशक्ति यथाकालं त्रिविधं स्नानमाचरेत् ।
प्रणवाद्यैर्नमोऽन्तैश्च नामभिर्मन्मयान् सुरान् ॥ १२५ ॥
ऋषींश्च तर्पयित्वाथ स्वधान्ते तर्पयेत् पितॄन् ।
एवं स्नानं विधायाथ तीर्थस्थं मन्त्रनायकम् ॥ १२६ ॥
आकृष्य पूरकेणाथ संस्मरेद्धृदयान्तरे ।
आकृष्य मनसास्त्रं च दिग्विदिक्स्थापितं पुरा ॥ १२७ ॥
यागाङ्गानि समादाय प्रयायाद्यागमन्दिरम् ।
स्वयं सिद्धमथार्षं वा सिद्धैर्वा परिकल्पितम् ॥ १२८ ॥

अपनी शक्ति के अनुसार तथा काल के अनुकूल तीन प्रकार का स्नान करना चाहिये । प्रारम्भ में ॐ और अन्त में नमः लगाकर सभी देवों एवं ऋषियों को मुझसे व्याप्त जानकर तर्पण करना चाहिए । जैसे—ॐ ब्रह्मणे नमः आदि । पहले ॐ और अन्त में 'स्वधा' लगाकर पितृगणों का तर्पण करे । जैसे ॐ पितृभ्यो स्वधा । इस प्रकार स्नान करके तीर्थ में संस्थित मन्त्र नायक का आकर्षण करे । दिशाओं और विदिशाओं में पहले अस्त्र को मन से आकर्षित कर स्थापित करना चाहिए । याग के अङ्गों का समादान करके याग मन्दिर में प्रयाण करना चाहिए । वह मन्दिर स्वयं सिद्ध हो अथवा सिद्धों के द्वारा परिकल्पित होना चाहिए ॥ १२५-१२८ ॥

मनुष्यैः कल्पितं वाथ मन्मयैर्भावितान्तरैः ।
सर्वलक्षणसम्पूर्णं विमानं पाञ्चरात्रिकम् ॥ १२९ ॥

अथवा वह मन्दिर मनुष्यों के द्वारा कल्पित हो या मुझसे परिपूर्ण भावितान्तरों द्वारा कल्पित होना चाहिए । अथवा सभी लक्षणों से युक्त पाञ्चरात्रिक विमान रूप मन्दिर होना चाहिए ॥ १२९ ॥

शुभं कमलिनीतीरं विजनं वा मनोहरम् ।
यद्वा विविक्तमुद्यानं पुण्यवृक्षोपशोभितम् ॥ १३० ॥
पुलिनं रमणीयं वा सिकतोपरि विस्तृतम् ।
अवातमजनस्पर्शमसमीपस्थदोषवत् ॥ १३१ ॥
यत्र वा रोचते चित्तं तत्र यायान्मनोवशात् ।
हृन्मध्यस्थे परे मन्त्रे प्रबुद्धानन्दविग्रहे ॥ १३२ ॥

दिगन्तरमपश्यन् वै मौनी संरोधितानिलः ।
प्राप्य स्थानं शुभं तत्र नासाग्रेण विरेचयेत् ॥ १३३ ॥

जहाँ पर विकसित कमल वाले तालाब का तट हो । निर्जन मनोहर हो । जहाँ एकान्त उद्यान हो एवं जो शुभ वृक्षों से शोभित हो अथवा रमणीय पुलिन हो जो वालुका पर विस्तृत हो, वायुरहित, जनों के स्पर्श संशून्य तथा समीप में कोई दोषी व्यक्ति न हो । इन ऊपर वर्णित जगहों में से जहाँ पर भी चित्त को रूचिकर लगे वहाँ पर मन के अनुसार साधना करनी चाहिए । हृदय में स्थित प्रबुद्ध आनन्द विग्रह पर मन्त्र में दत्त चित्त होकर दिगन्त को न देखते हुए मौन व्रतधारी वायु का संरोध किये हुए परमशुभ स्थान को प्राप्त करके नासिका के अग्रभाग में प्राणायाम कर विरेचन करना चाहिए ॥ १३०-१३३ ॥

मन्मन्त्रं परमात्मानं प्रदीप्तानलविग्रहम् ।
बहिरस्त्रं च विन्यस्य चरणेनाहनेत् क्षितिम् ॥ १३४ ॥

प्रदीप्त अग्नि के समान मेरे मन्त्र रूपी परमात्मा एवं बहिरस्त्र का विन्यास करके चरण से भूमि पर आघात करना चाहिए ॥ १३४ ॥

स्मरन् मन्त्रमयीं लक्ष्मीं मामेकां परमेश्वरीम् ।
एकान्तदेशमासाद्य बध्नीयाद्रुचिरासनम् ॥ १३५ ॥

एक ही मन्त्रमयी लक्ष्मी परमेश्वरी जो मैं हूँ इस प्रकार मेरा स्मरण करे और एकान्त स्थान प्राप्त करके सुखपूर्वक आसन लगाना चाहिए ॥ १३५ ॥

दर्भे चर्मणि वस्त्रे वा फलके यज्ञकाष्ठजे ।
अभिवन्द्य हरिं मां च भक्त्यैव गुरुसंततिम् ॥ १३६ ॥

यह आसन कुश का, मृग चर्म का, वस्त्र का अथवा यज्ञ काष्ठ जैसे आम बेल की लकड़ी से बना पटरा हो, उसी पर बैठकर क्रिया करे । कर्म करने के पहले श्री हरि का अभिवन्दन करे । फिर मेरा अभिवन्दन करे । इसके बाद भक्ति भाव से गुरु संतति का अभिवन्दन करे ॥ १३६ ॥

गृहीत्वा मानसीमाज्ञां तेभ्यस्तु शिरसा नतः ।
मानसीं निर्वपेत् सर्वां क्रियां ज्ञानसमाधिना ॥ १३७ ॥

उन सब श्री, हरि एवं गुरु से मानसिक आज्ञा ग्रहण करके शिर झुकाकर ज्ञान समाधि के द्वारा सभी क्रियाओं को सम्पादित करना चाहिए ॥ १३७ ॥

ज्ञानेन क्रियते यद्यत् कर्म ब्रह्मसमाधिना ।
शुद्धसत्त्वमयं तत्तदक्षयं भवति ध्रुवम् ॥ १३८ ॥

ब्रह्म समाधि से ज्ञान के द्वारा जो भी कर्म सम्पन्न किये जाते हैं वे सभी शुद्ध सत्व से पूरिपूर्ण निश्चय ही अक्षय होते हैं ॥ १३८ ॥

बाह्यद्रव्याश्रिता यस्माद् दोषा राजसतामसाः ।
ततस्तच्छोधनमपि कर्मणा मनसा गिरा ॥ १३९ ॥

बाहरी पदार्थों में समाश्रित जो राजसिक एवं तामसिक दोष हैं उनका शोधन मन, वचन और कर्म से ही करना चाहिये ॥ १३९ ॥

तस्मादेकान्तनिर्दोषं भावनावासितं तथा ।
तस्माज्ज्ञानं समास्थाय शुद्धं संवित्समुद्भवम् ॥ १४० ॥

अतः एकान्त दोषों से रहित साधक भावना से वासित होता है । इस प्रकार संवित से समुद्भुत शुद्ध ज्ञान में समास्थित होना चाहिये ॥ १४० ॥

ज्ञानभावनया कर्म कुर्याद्धि पारमार्थिकम् ।
इति स्नानविधिः सम्यक् कीर्तितस्ते सुरेश्वर ।
अङ्गन्यासादिकं स्थानं तव वक्ष्याम्यतः परम् ॥ १४१ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे स्नानविधिप्रकाशो नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

...

साधक ज्ञान की भावना से पारमार्थिक कर्म करे । हे सुरेश्वर ! इस स्नान-विधि को मैंने सम्यक् रूप से आपको बतलाया । अब मैं अङ्ग न्यासादि इससे आगे बतलाऊँगी ॥ १४१ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के स्नानविधिप्रकाश नामक चौतिसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ३४ ॥

...

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

भूतशुद्धिप्रकाशः

भूतसूक्ष्मादीनां स्वस्वकारणेषु लयचिन्तनम्

अन्तर्यागादिसिद्ध्यर्थं भूतशुद्धिं निशामय ।
कथ्यमानं मया शक्र सावधानेन चेतसा ॥ १ ॥

अब हे इन्द्र ! अन्तर्यागादि की सिद्धि के लिये भूतशुद्धि का विधान मैं कर रही हूँ, उसे सावधान होकर सुनिए ॥ १ ॥

विमर्शिनी—भूतशुद्धिर्नाम साधकस्य प्राकृतदेहस्थानां मांसमेदोऽस्थिभूयिष्ठानां भूतानां शुद्धीकरणम् । तच्च भगवदाराधनयोग्यतासम्पत्त्यै । तत्प्रकारश्च प्राकृतानां तेषां स्वस्वकारणेषु लयचिन्तनपूर्वकं भगवति समर्पणं कृत्वा पुनस्तत्सकाशात् भगवन्मयाप्राकृतभूताविर्भावपूर्वकं तदारब्धदेहावस्थितिभावनम् । एषा च भूतशुद्धिः सर्वैरपि तान्त्रिकैः स्वस्वसमयानुसारेण स्वस्वतन्त्रेषु प्रतिपादिता दृश्यते ॥ १ ॥

प्रकृत्यन्तस्य पृथ्व्यादेः कादिभान्ततयैव च ।
मन्मयीकरणं बुद्ध्या भूतशुद्धिरिहोच्यते ॥ २ ॥

पृथ्वी से लेकर प्रकृति के अन्त तक जो ककारादि से अकारान्त चौबीस तत्त्वों के वर्णस्वरूप हैं, उनको मेरे स्वरूप में परिणत कर देना **भूतशुद्धि** कहा जाता है ॥ २ ॥

विमर्शिनी—कादि भान्तमिति । ककारेण = पृथिवी, भकारेण = प्रकृतिश्च गृह्यते ॥ २ ॥

पृथिव्यादि प्रकृत्यन्तं यत् प्रकृत्यष्टकं स्थितम् ।
स्थूलसूक्ष्मविभेदेन तत्र रूपद्वयं विदुः ॥ ३ ॥

पृथ्वी से लेकर प्रकृति के अन्त तक जो आठ प्रकृतियाँ स्थित हैं, स्थूल एवं सूक्ष्म स्वरूप से इनके दो-दो भेद कहे गए हैं ॥ ३ ॥

चक्षुर्गोचरसंस्थानं स्थूलरूपं तु वर्ण्यते ।
कारणाकारता यत्र तत्तु तन्मात्रमुच्यते ॥ ४ ॥

जो चक्षु से दिखाई पड़ रहा है उस स्थूल रूप का वर्णन किया जा रहा है । जहाँ कारण की आकारता हो अर्थात् जो सकारण हो वही स्थूल है ॥४॥

स्थूलसूक्ष्मविभेदेन तत्त्वमेतद् द्विरष्टकम् ।
विषयेन्द्रियवृत्तीश्च तत्र तत्र निवेशयेत् ॥ ५ ॥

यह प्रकृति तत्त्व स्थूल और सूक्ष्म भेद से १६ प्रकार का हो जाता है । इसलिये उन-उन रूपो में अपने विषय और इन्द्रियों की वृत्तियों को विलीन कर देना चाहिये ॥ ५ ॥

घ्राणादि पायूपस्थादि गन्धादीति त्रयं त्रयम् ।
तन्मात्रवर्गे पृथ्व्यादौ प्रातिलोम्याच्छमं नयेत् ॥ ६ ॥

घ्राणादि कर्मेन्द्रियाँ, पायु उपस्थादि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा गन्धादि विषय इन तीन-तीन को तन्मात्र वर्ग वाले ककारादि में, जो पृथ्व्यादि तत्त्वों के स्वरूप हैं, उन्हें प्रतिलोम के क्रम से विलीनीकरण करना चाहिये ॥ ६ ॥

विमर्शिनी—विलोम क्रम जैसे घ्राण, पायुं एवं गन्धं ककारादौ पृथ्वी स्वरूपे विलापयाग्नि, रसं उपस्थं सलिलं चकारादौ जल तत्त्वे विलापयाग्नि) यह तीन-तीन का क्रम है । इसी प्रकार पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच तन्मात्रायें तीन-तीन के क्रम से कवर्गादि पाँच वर्गों में तथा पृथ्व्यादि पञ्चभूतों में विलीनीकरण करे ॥ ६ ॥

तरङ्गा जलधौ यद्वदस्तं यान्ति समीरणात् ।
विषयेन्द्रियकल्लोला महाभूतमहोदधौ ॥ ७ ॥

जैसे वायु से उठे हुये समुद्र के तरङ्ग पुनः उसी समुद्र में विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार विषय के सन्निधान से उठी हुई इन्द्रिय रूप लहरें पञ्चमहाभूत रूपी समुद्र में उठकर फिर उसी में लीन हो जाती है ॥ ७ ॥

विमर्शिनी—पूर्वोक्तं लयं निदर्शनमुखेनाह—तरङ्गा इति ॥ ७ ॥

सुसमीचीनया बुद्ध्या तद्वदस्तं नयेद् बुधः ।
मनोऽभिमान इत्येतावहङ्कारे शमं नयेत् ॥ ८ ॥

बुद्धि से अच्छी तरह विचार कर विषय रूपी इन्द्रियों की लहरों को उन

महाभूतों में ही विलीनीकरण करना चाहिये । मन और अभिमान इनका अहङ्कार तत्त्व में विलीनीकरण करे ॥ ८ ॥

प्राणमध्यवसायं च बुद्धितत्त्वे निबर्हयेत् ।
सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रैगुण्यं प्रकृतौ नयेत् ॥ ९ ॥

प्राण और अध्यवसाय को बुद्धितत्त्व में विलीनीकरण करे । सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणों के समूहों को प्रकृति में लीन करे ॥ ९ ॥

यत्तत् त्रैगुण्यमव्यक्तं कारणं महदादिके ।
त्रैगुण्यं च प्रसूतिश्च मायेत्येतत् त्रिधा तु तत् ॥ १० ॥

महत्तत्त्व एवं अहन्तत्त्व को त्रिगुणात्मक अव्यक्त रूप कारण में लीन करे, जो त्रैगुण्य, प्रसूति और माया के भेद से तीन प्रकार का कहा गया है ॥१०॥

विमर्शिनी—त्रैगुण्यमिति । एषां क्रमेण प्रधानमव्यक्तं तम इत्यौपनिषदो व्यवहारः ॥ १० ॥

एवं तत्त्वविदां ज्ञेया एताः प्रकृतयो दश ।
स्थूलसूक्ष्मविभेदेन ताः पुनर्विंशतिः स्मृताः ॥ ११ ॥

इस प्रकार तत्त्ववेत्ताओं को दश प्रकार की प्रकृति समझनी चाहिये । यही दश प्रकार की प्रकृति स्थूल और सूक्ष्म भेदों से २० प्रकार की हो जाती है ॥ ११ ॥

स्थूलानां प्रकृतीनां तु दश मन्त्रा इमे स्मृताः ।
तत्तत्संज्ञा हुंफडन्तास्तारिकाद्या ध्रुवादिकाः ॥ १२ ॥

स्थूल दश प्रकृतियों के मन्त्र इस प्रकार है—पहले तत्तत्संज्ञा, फिर हुं फट्, आदि में ध्रुव ॐ रखे । ॐ ह्रीं पृथिव्यै हुं फट् । ॐ ह्रीं सलिलाय हुं फट् इत्यादि ॥ १२ ॥

विमर्शिनी—तत्तत्संज्ञा इति । आदौ प्रणवः, ततस्तारिका, ततो भूतसंज्ञाः, ततो हुं फट् । आहत्य ॐ ह्रीं पृथिव्यै हुं फट् इति मन्त्रः । जयाख्ये तु (१०-१५) तारिकास्थाने मन्त्रान्तराण्युक्तानि ॥ १२ ॥

मांसं मेदस्तथा स्मृत्वा रसो व्योमाक्षरत्रयम् ।
परात् परद्वयं चैव बिन्दुनादविभूषितम् ॥ १३ ॥

फिर मांस एवं मेद का स्मरण करे । इसके बाद फिर व्योम से तीन अक्षर आकाश अहन्तत्त्व, महत् तत्त्व और अव्यक्त । फिर परात्पर, तदनन्तर बिन्दु और नाद से विभूषित करे ॥ १३ ॥

दशानां सूक्ष्मरूपाणां शक्त्याद्यास्ता नव स्मृताः ।
देहेषु जीवभूता याः शक्तयः परसंज्ञिताः ॥ १४ ॥

सूक्ष्म प्रकृति के ये जो दश भेद कहे गए हैं, उनकी नव शक्तियाँ हैं, जो देह में जीव स्वरूप से स्थित हैं । उन्हें परसंज्ञा भी कहा जाता है ॥ १४ ॥

मायाव्योमयुतानेतान् शक्त्यादींस्तदनु स्मरेत् ।
निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ॥ १५ ॥
शान्त्यतीताभिमाना च प्राणा गुणवती तथा ।
गुणसूक्ष्मा निर्गुणा च एताः संज्ञाः क्रमात् स्मृताः ॥ १६ ॥

उन शक्तियों को माया ईकार और व्योम बिन्दु से युक्त कर उसके पश्चात् स्मरण करे । उन जीव शक्तियों के नाम इस प्रकार हैं—निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति, शान्त्यतीता, अभिमाना, प्राणा, गुणवती, गुणसूक्ष्मा, निर्गुणा—ये उन जीव शक्तियों की संज्ञायें हैं ॥ १५-१६ ॥

विमर्शिनी—जीवशक्तीनां नामान्याह—निवृत्तिरित्यादि ॥ १५ ॥

बीजानां दशके तस्मिन् वह्निविष्ण्वर्धचन्द्रकान् ।
संयोज्य मन्त्रान् जानीयादधिष्ठात्रीगतानिमान् ॥ १७ ॥

उनके दश बीजाक्षरों मे वह्नि रेफ विष्णु का अर्ध ईकार फिर चन्द्रक बिन्दु अर्थात् 'श्रीं' अक्षर लगाकर शक्ति की अधिष्ठात्री लक्ष्मी के मन्त्रों को समझ लेना चाहिये ॥ १७ ॥

विमर्शिनी—ह्नीत्यादि । श्रीं इत्येतत् संयोज्येत्यर्थः ॥ १७ ॥

गन्धश्रीश्च रसश्रीश्च रूपश्रीः स्पर्शपूर्विका ।
शब्दश्रीरभिमानश्रीः प्राणश्रीर्गुणपूर्विका ॥ १८ ॥
तथैव गुणसूक्ष्मश्रीर्मायाश्रीरिति संज्ञया ।
अधिष्ठात्र्योऽपि वर्तन्ते शक्तयो दशके मम ॥ १९ ॥

गन्धश्री, रसश्री, रूपश्री, स्पर्शश्रीः, शब्दश्रीः, अभिमानश्रीः, प्राणश्री, गुणश्रीः, गुणसूक्ष्मश्रीः एवं मायाश्रीः—मेरी इन दश शक्तियों में इन-इन संज्ञाओ वाली अधिष्ठात्री ये दश शक्तियाँ है ॥ १८-१९ ॥

विमर्शिनी—गन्धश्रीरित्यादीनि शक्तिनामानि ॥ १८ ॥

एवं परिकरं बुद्ध्वा भूतशुद्धिं समाचरेत् ।
स्थानशुद्धिं पुरा कुर्याद्यथा तदवधारय ॥ २० ॥

इस प्रकार शक्तियों के परिकर (परिवारों) को समझ कर भूतशुद्धि करनी चाहिए । हे इन्द्र ! इस भूतशुद्धि से भी पहले जिस प्रकार स्थानशुद्धि करनी चाहिये, अब उन्हें सुनिए ॥ २० ॥

विमर्शिनी—पुरेति । भूतशुद्धेः पूर्वमित्यर्थः ॥ २० ॥

कालाग्न्यर्कसहस्राभां निर्धूमाङ्गारसंनिभाम् ।
मां स्मृत्वा मन्मुखोत्थेन वह्निना निर्दहेद्ध्रुवम् ॥ २१ ॥

स्थानशुद्धि के समय प्रलयकालीन अग्नि से युक्त सहस्रों सूर्य के समान देदीप्यमान मेरे स्वरूप का साधक ध्यान करे । इस प्रकार मेरा स्मरण कर मेरे मुख से निकली हुई अग्नि (रं) द्वारा उस स्थान के पाप को निश्चित रूप से जला देवे । फिर उस दग्ध पाप स्थान के जीवित करने का क्रम कहते हैं ॥ २१ ॥

सोमायुताभमद्वक्त्रजेनासिञ्चेदथाम्बुना ।
स्थानशुद्धिर्भवेदेवं भूतशुद्धिमथो शृणु ॥ २२ ॥

तदनन्तर दश हजार सोम से संयुक्त मेरे मुख के अमृत जल से (वं) उसे पुनः सींच देवे । इस प्रकार स्थानशुद्धि कही गई । अब स्थानशुद्धि के बाद भूतशुद्धि का प्रकार सुनिए ॥ २२ ॥

विमर्शिनी—एवं निर्दग्धस्य स्थानस्य पुनरुज्जीवनमाह—सोमेत्यादि ॥ २२॥

चतुरश्रां समां पीतां वज्रचिह्नां वसुन्धराम् ।
मन्त्रेणाकृष्य देहान्तः स्वस्थानस्थां लयं नयेत् ॥ २३ ॥

देह के भीतर चौकोर समतल पीतवर्ण वाली वज्र (रान) चिह्न वाली पृथ्वी को श्लां बीज से आकृष्ट कर उसे अपने स्थान में विलीन कर देवे ॥ २३ ॥

विमर्शिनी—मन्त्रेणेति । अत्र मन्त्रः श्लां इति जयाख्ये उक्तः (१०-१७) ॥

गन्धमात्रे ततस्तच्च स्वबीजेनास्तमानयेत् ।
मय्यधिष्ठानभूतायां मां च बाह्याम्भसि क्षिपेत्॥ २४ ॥

उसके बाद उसको गन्ध मात्र में स्व बीज से अस्त कर देवे, तदनन्तर मेरे उस स्वरूप को मेरे अधिष्ठानभूत बाहरी जल में फेंक देवे ॥ २४ ॥

मन्त्रेणार्धेन्दुसङ्काशं पद्माङ्कं तच्च दैवतम् ।
स्वस्थाने विलयं नीत्वा रसमात्रे स्वमन्त्रतः ॥ २५ ॥
मन्त्रेण तं प्रतिष्ठाप्य तच्च मय्यानयेल्लयम् ।

मां च बाह्ये क्षिपेद्वह्नावामायं तत्क्रमस्त्वयम् ॥ २६ ॥

फिर पद्म के चिह्न से युक्त अर्धचन्द्र के समान जल दैवत को मन्त्र के द्वारा उसके स्थान में ही विलय कर पुनः रस मात्रा में उसे मन्त्र द्वारा प्रतिष्ठित कर मुझ में ही लय कर देवें और मुझे बाहरी अग्नि में फेंक देवें, माया पर्यन्त यही क्रम है ॥ २५-२६ ॥

विमर्शिनी—मन्त्रेणेति । स्वां इति जयाख्ये मन्त्र उक्तः । आमायमिति = मायापर्यन्तमित्यर्थः ॥ २६ ॥

सर्वत्र नैकं बुध्येत मच्छक्तेर्विलयं बुधः ।
यथा हि सर्पिरासिञ्चेत् क्षीरे तन्मथनोद्भवम् ॥ २७ ॥
सर्पिरन्यत्र च क्षीरे तत्सर्पिष्यपि चान्यकम् ।
एवमा प्रकृतेः शक्तीरधिष्ठात्रीः स्मरेद् बुधः ॥ २८ ॥

बुद्धिमान् विलय की इस प्रक्रिया को सर्वत्र एक समान न समझे । जैसे मन्थन से उत्पन्न घृत को जब तक वह दूध में है तब तक जल से सींचा जाता है । इस प्रकार दूध में घी और उसी घी में अन्य द्रव्य का सिञ्चन होता है । इसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुष प्रकृति पर्यन्त शक्ति की अधिष्ठात्री को समझे ॥ २७-२८ ॥

विमर्शिनी—नैकमिति । लयं सर्वत्रैकविधं न बुध्येतेत्यन्वयः । तदेव निदर्शनमुखेनाह—यथा हीति । तन्मथनोद्भवमिति सर्पिर्विशेषणम् ॥ २७ ॥

एवं मां परमां शक्तिं नवशक्तिसमन्विताम् ।
निर्गुणान्तविधां ध्यातां मायाधिष्ठानकारिणीम् ॥ २९ ॥
दशमीं तत्परं नीत्वा शक्तिमेकादशीं स्थिताम् ।
महाक्षोभमयीं लक्ष्मीं व्यूहाभ्युदयरूपिणीम् ॥ ३० ॥
एकादशीं च तां नीत्वा द्वादशीं परमात्मिकाम् ।
अनिर्देश्यामनौपम्यां द्वादशीं तां मयि क्षिपेत् ॥ ३१ ॥
एवं तां परमां शक्तिं द्वादशीमखिलात्मिकाम् ।
द्वादशान्तान्तमुन्नीय वर्णमय्यां मयि स्मरेत् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार नवशक्ति समन्विता निर्गुणान्तविद्या मायाधिष्ठानकारिणी मुझ परमा दशमी शक्ति को उससे परे ले जाकर एकादशी में स्थित व्यूहाभ्युदय-कारिणी महाक्षोभमयी मुझ एकादशी लक्ष्मी को द्वादशी परमात्मा में ले जाकर उस उपमारहित अनिर्देश्य द्वादशी शक्ति को मुझ में स्थापित करे । फिर वहाँ से अखिलात्मिका मुझ परमा द्वादशान्त शक्ति को उस द्वादशान्त से भी हटा

कर मुझ वर्णमयी में स्मरण करे ॥ २९-३२ ॥

विमर्शिनी—आगम सम्प्रदायानुसार यहाँ यह समझ लेना चाहिये—मूर्धा से ऊपर माया से १२ अंगुल का स्थान द्वादशान्त कहा जाता है ।

द्वादशान्तेति । मूर्ध्न उपरि मायातो द्वादशाङ्गुलादूर्ध्व स्थानं द्वादशान्तमिति सांप्रदायिको व्यवहारः ॥ ३२ ॥

अग्नीषोमार्ककोट्याभा सर्वतोऽक्षिशिरोमुखी ।
धारासंतानरूपा मे सूक्ष्मा वर्णमयी तनुः ॥ ३३ ॥

अब वर्णमयी तनु के बारे में विशेष रूप से कहते हैं—करोड़ो अग्नि एवं करोड़ो चन्द्रमा और करोड़ों सूर्य के समान आभा वाली सबल आँख, शिर और मुखों वाली अमृतधारा से प्रवाहित वह मेरा वर्णमय शरीर है ॥ ३३ ॥

विमर्शिनी—वर्णमयीं तनुं विशिनिष्टि—अग्नीत्यादि । धारासंतानेति । अमृत-धारासंतानरूपेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

सर्वजीवोपकाराय सर्वसंभारसंभृता ।
उदिता सा पुरा विष्णोर्मेघाद्विद्युदिवोज्ज्वला ॥ ३४ ॥

सृष्टि के आदि में सर्व प्रथम मेघ से उत्पन्न उज्ज्वल विद्युत् के समान समस्त जीवों के उपकार के लिये विष्णु से उत्पन्न होने वाला यह मेरा वर्णमय शरीर है ॥ ३४ ॥

कानि स्थानानि देहेऽस्मिन् यत्र कार्यो लयः क्रमात् ।
कीदृशानि च बिम्बानि भूम्यादीनां वदाम्बुजे ॥ ३५ ॥

इन्द्र ने कहा—हे कमले ! इस शरीर में वे कौन-कौन से स्थान हैं जहाँ लय करना चाहिये और भूम्यादि के विम्ब किस प्रकार के हैं इसे कहिये ॥ ३५ ॥

आ जानुतो भुवः स्थानमा कट्याः पयसः स्मृतम् ।
आ नाभेस्तेजसः स्थानं वायोः स्थानं तदा हृदः ॥ ३६ ॥
आ कर्णान्नभसः स्थानमा बिलाच्चाप्यहंकृतेः ।
आ भ्रुवोर्महतः स्थानमाकाशे तु परं स्मृतम् ॥ ३७ ॥

श्री ने कहा—नीचे से जानु पर्यन्त पृथ्वी का स्थान है । जानु से लेकर कटि तक जल का स्थान है, कटि से लेकर नाभि तक तेज का स्थान है और नाभि से हृदय तक वायु का स्थान है । फिर हृदय से कान पर्यन्त आकाश का स्थान है, उसके बाद नासिका के विल तक अहङ्कार का स्थान

है । नासिका के बिल से भ्रू पर्यन्त महत्तत्त्व का स्थान है । भ्रू से लेकर आकाश पर्यन्त प्रकृति का स्थान है । अब प्रकृति का स्थान आकाश में है इसे कहते हैं—॥ ३६-३७ ॥

ततः प्रादेशमात्राग्रे मूर्धतश्चतुरङ्गुले ।
स्थाने प्रकृत्याः शेषं तदङ्गुलीनां द्विरष्टकम् ॥ ३८ ॥

इसके बाद मूर्धा से प्रादेश मात्र अग्रभाग में चार अंगुल ऊपर प्रकृति का स्थान है इसके बाद शेष सोलह अंगुल ऊपर अव्यक्त का स्थान है ॥ ३८ ॥

विमर्शिनी—प्रकृत्याः स्थानमाकाशे आह—तत इति । मूर्ध्नश्चतुरङ्गुलोर्ध्व-भागे प्रकृत्या अवस्थानम् । ततः षोडशाङ्गुलोपरि भागे अव्यक्तस्याव-स्थानम् ॥ ३८ ॥

एकादश्यां द्विषट्कायां स्थानं तत्त्वक्षरश्रियः ।
चतुरश्रं भवेद्बिम्बं वज्राङ्कं पार्थिवं महत् ॥ ३९ ॥

उसके बाद ११ अंगुल ऊपर भाग में माया का स्थान है । उसके बाद बारह अंगुल ऊपर वाले भाग में शब्दब्रह्म का स्थान है जिसे द्वादशान्त भी कहा जाता है । पार्थिव बिम्ब चौकोर होता है, समतल है, महान् है, उसमें वज्र का चिह्न है ॥ ३९ ॥

विमर्शिनी—तत एकादशाङ्गुलोपरि भागे मायास्थानम् । ततो द्वादशाङ्गुलो-परि भागे शब्दब्रह्मस्थानमिति विवेकः । इदमेव द्वादशान्तमित्युच्यते ॥ ३९ ॥

अर्धेन्दुसदृशं शुक्लं पद्माङ्कं पयसः स्मृतम् ।
त्रिकोणं स्वस्तिकाङ्कं च रक्तं तैजसमुच्यते ॥ ४० ॥

उसके बाद जल का बिम्ब है जो अर्धचन्द्राकार है । वह शुक्ल वर्ण का है । उसमें कमल का चिह्न है । तैजस विम्ब त्रिकोण रूप है । उसमें स्वास्तिक का चिह्न है । उसका वर्ण रक्त है ॥ ४० ॥

धूम्रं षड्बिन्दुसंयुक्तं वृत्तं वायव्यमुच्यते ।
अञ्जनाभं तथाकाशं बिम्बमात्रं स्मृतं परम् ॥ ४१ ॥

वायव्य बिम्ब वृत्त (गोलाकार) है और षड् बिन्दु संयुक्त है । उसका धूम्रवर्ण है । आकाश का वर्ण काला है, उसका कोई आकार नहीं है और न उसका कोई चिह्न है । वह केवल विम्ब मात्र है । इसी प्रकार प्रधानादि का कोई वर्णमय शरीर नहीं है केवल विम्ब मात्र है ॥ ४१ ॥

विमर्शिनी—बिम्बमात्रमिति । प्रधानादीनां बिम्बमात्रमेव । न वर्णादिक-

मित्यर्थः ॥ ४१ ॥

एवं तत्त्वोपसंहारे कृते हृत्कुहरोद्गतम् ।
ज्ञानरज्ज्ववलम्बं च सुषुम्नामध्यमानुगम् ॥ ४२ ॥
ऊर्ध्वमाजानुमुन्नीय शक्तिसोपानपङ्क्तिभिः ।
द्वादशान्तान्तराजीवं मध्यस्थायां मयि क्षिपेत् ॥ ४३ ॥

इस प्रकार सभी तत्त्वों के उपसंहार कर लेने पर हृदय के कुहर में प्राप्त होने वाली, सुषुम्ना के मध्य में रहने वाली और ज्ञान रज्जु का अवलम्बन कर जानुपर्यन्त ऊपर जाकर शक्ति सोपान की पक्तियों द्वारा द्वादशान्तर में पहुँचे जीव के मध्य में निवास करने वाली मुझ में निक्षेप कर देवे ॥ ४२-४३ ॥

विमर्शिनी—क्योंकि आगे चलकर देह को भस्म करना है । अतः उसके साथ जीव न जल जाए, इसलिये उसमें रहने वाले जीव का भगवती में निक्षेप कहा गया ।

मयि द्रिक्षपेदिति । देहस्य दहनचिन्तने तदन्तःस्थजीवस्यापि दहश्चिन्तनप्रसक्तौ तन्निवारणाय जीवस्य देव्यां निक्षेप उच्यते ॥ ४३ ॥

तदन्ते च महापद्मं सहस्रदलसंयुतम् ।
सूर्यकोटिसहस्राभमिन्दुकोट्ययुतप्रभम् ॥ ४४ ॥

उसी द्वादशान्त के अन्त में करोड़ों हजार सूर्य के समान आभा वाला सहस्रदलों से संयुक्त महापद्म है ॥ ४४ ॥

विमर्शिनी—तदन्ते = द्वादशान्ते । महापद्ममिति । अस्तीति शेषः ॥ ४४॥

अग्नीषोममयान्तःस्था महानन्दमयी तनुः ।
अनिर्देश्योपमा संविन्मयी सा मामिका परा ॥ ४५ ॥

अग्नीषोम के भीतर रहने वाली, महानन्दमयी तनु जिसकी कोई उपमा का निर्देश नहीं किया जा सकता, ऐसा ज्ञानमय मेरा शरीर है ॥ ४५ ॥

अंशतः प्रसरन्त्यस्या जीवानन्दा सरिद्वरा ।
स्वानन्दमेनमानीय महानन्दमयीं नयेत् ॥ ४६ ॥

जिसके किसी अंश मात्र से जीव की आनन्दस्वरूपा सरिता लोक में प्रवाहित होती है, उस महानन्दमय को जीव में लाकर उसे भी महानन्दमयी स्वरूपा बना देवे ॥ ४६ ॥

विमर्शिनी—अस्याः = मम तन्वाः ॥ ४६ ॥

ततो लवणकूटाभं पिण्डमस्मन्मुखोद्गतैः ।
महाज्वालैर्महावेगैश्चिन्मयैः परितो दहेत् ॥ ४७ ॥

जीव को देह से निकाल कर महानन्दमयीं भगवती के शरीर में मिला देने के पश्चात् लवणकूट के समान आभा वाले उस निर्भसित शरीर पिण्ड को मेरे मुख से निकली हुई चिन्मय महावेगवती महाज्वाला से जला देवे ॥ ४७ ॥

विमर्शिनी—जीवे देहान्निर्गमय्य द्वादशान्तं प्रापिते सति, देहस्य दहनचिन्तनमुच्यते—तत इत्यादिना । लवणकूटाभमिति निर्भसितजीवस्य देहस्य निर्देशः ॥ ४७ ॥

युक्तः सरसकः षष्ठो बिन्दुमान् दाहपावकः ।
तारिकानतिमध्यस्थो विज्ञेयः शास्त्रचक्षुषा ॥ ४८ ॥

सरस थ जो षष्ठ ऊकार से युक्त बिन्दु तथा काल पावक रेफ से युक्त हो थ्रूं, उसके पहले तारिका ह्रीं, अन्त में नमः हो अर्थात् ह्रीं थ्रूं नमः इस अग्नि मन्त्र से उस शरीर को शास्त्र की दृष्टि से जला देवे ॥ ४८ ॥

विमर्शिनी—दाहकाग्निमन्त्र उच्यते । ह्रीं थ्रूं नम इति ॥ ४८ ॥

सोममय्या ममास्योत्थैः पीयूषैः प्लावयेत्ततः ।
चन्द्री सूक्ष्मस्तु सव्योमा पिण्डस्याप्यायने स्मृतः ॥ ४९ ॥

इसके बाद जीव के अप्राकृतिक शरीर की निर्माण विधि कहते हैं । इसके बाद मेरे मुख से निकले हुये इस मन्त्र से उसे जल में प्रवाहित कर देवे । तदनन्तर 'ट्र्यं' इस मन्त्र से पिण्ड निर्माण कर उसे संवर्द्धित कर देना चाहिये ॥ ४९ ॥

विमर्शिनी—पुनः अप्राकृतदेहसम्पत्तिचिन्तनमाह—सोममय्या इति । तत्र मन्त्रः—ट्र्यं इति । जयाख्ये तु व्सं इत्युक्तः (१०—७८) ॥ ४९ ॥

सिसृक्षया मयोद्यत्या संवित्प्राणोपगूढया ।
प्रेरितास्ताः स्मरेच्छक्तीर्वर्णमय्यां मयि स्थिताः ॥ ५० ॥

ज्ञान स्वरूप प्राण को अपने में गुप्त रखकर जब मैं सृष्टि करने की इच्छा से उद्यत होती हूँ तब वर्णमय शरीर में रहने वाली उन-उन प्रेरक शक्तियों को साधक स्मरण करे ॥ ५० ॥

ततस्ताभिः स्वशक्तीभिश्चोदनाद्वारपूर्वकम् ।
मायादि क्षितिपर्यन्तं निर्मितं संस्मरेत् क्रमात् ॥ ५१ ॥

फिर मेरी प्रेरणा से प्रेरित हुई उन शक्तियों द्वारा माया से लेकर पृथ्वी

पर्यन्त निर्मित समस्त निमित्तो का क्रमशः स्मरण करे ॥ ५१ ॥

विमर्शिनी—माया प्रधानस्य सुसूक्ष्मावस्थाः यां तम इत्यौपनिषदा वदन्ति ॥ ५१ ॥

ततः पिण्डोत्पत्तिचिन्तनम्

ततः पिण्डसमुत्पत्तिं करणव्यञ्जनोज्ज्वलाम् ।
एवं पिण्डं समुत्पाद्य शुद्धलक्ष्मीमयं महत् ॥ ५२ ॥
पूर्वोक्तमार्गेण ततो हृदयं जीवमानयेत् ।
पिण्डभूतास्त्रयो वर्णा अनलः सोमचन्द्रिणौ ॥ ५३ ॥
तारिकानतिमध्यस्था जीवमन्त्र उदाहृतः ।
विशुद्धविग्रहस्त्वेवं मन्त्रन्यासं समाचरेत् ॥ ५४ ॥

फिर करण (स्वर) और व्यञ्जन से उज्ज्वल पिण्ड की उत्पत्ति करे । इस प्रकार शुद्ध लक्ष्मीमय महान् पिण्ड को उत्पन्न कर पूर्व में कहे गए विधान के अनुसार उस पिण्ड में हृदय और जीव को स्थापित करना चाहिए । अनल (रेफ) सोम (सकार) चन्द्री (टकार) 'र्ट्स' ये तीन वर्ण पिण्डभूत है इस प्रकार जीव का यह विशुद्ध रूप है जिसका मन्त्रपूर्वक न्यास करना चाहिए । तारिका ह्रीं और नति नमः के बीच र्ट्स यह जीव मन्त्र समझना चाहिये अर्थात् ह्रीं र्ट्स नमः ॥ ५२-५४ ॥

विमर्शिनी—जीवमन्त्रमाह—पिण्डिभूता इति । र्ट्स इति जातः । जयाख्येऽप्येवमेवोक्तः ॥ ५३ ॥

मन्त्राणामङ्गन्यासविधिः

अधिकाराय पूजायां पूजकानां मुदेऽपि च ।
निबर्हणाय दैत्यादेविघ्नानां विजयाय च ॥ ५५ ॥
क्षितावुपरि विन्यस्तं यत् पुरा फलकादिकम् ।
स्वेन स्वेन तु मन्त्रेण तं मन्त्री पञ्चधा स्मरेत् ॥ ५६ ॥

पूजा में अधिकार प्राप्त करने के लिये तथा पूजा करने वालों की प्रसन्नता के लिये, दैत्यादिकों के विनाश के लिये, विघ्नों पर विजय प्राप्त करने के लिये और पृथ्वी के ऊपर विन्यस्त जो फलकादिकों को उन-उन मन्त्रों से मन्त्रज्ञ साधक पाँच विभाग में स्मरण करे ॥ ५५-५६ ॥

आधारशक्तिकूर्मोर्वीदुग्धाब्ध्यम्बुजरूपतः ।
तार्क्ष्यं तत्र स्थितं ध्यायेत् खर्वबीजात्मना स्थितम् ॥ ५७ ॥

फिर उसके एक-एक भाग में आधारशक्ति, दूसरे भाग में कूर्म, तीसरे भाग में पृथ्वी, चौथे भाग में क्षीर समुद्र और पाँचवें भाग में कमल का स्मरण करे । उसके ऊपर खर्व (खकार बीज वाले) गरुड के स्वरूप का ध्यान करना चाहिए ॥ ५७ ॥

विमर्शिनी—खर्वबीजमिति । खमित्याकारकमित्यर्थः ॥ ५७ ॥

तत्रोपविश्य लक्ष्मीशं रूपं स्वमनुचिन्त्य च ।
दिशो निबध्य चास्त्रेण पुनरेवं मुहुर्मुहुः ॥ ५८ ॥

फिर उस पर बैठकर अपने को लक्ष्मीश के रूप में ध्यान करे । फिर 'वीर्यायास्त्राय फट्' इस अस्त्र मन्त्र से बारम्बार दिग्बन्धन करे ॥ ५८ ॥

विमर्शिनी—स्वं रूपमिति । "आत्मेति तूपगच्छन्ति" इत्युक्तरीत्या स्वात्मकमित्यर्थः ॥ ५८ ॥

शरजालोपमं कृत्वा प्राकारं चासनाद्बहिः ।
सप्राकारं तु तत् स्थानं कवचेनावकुण्ठयेत् ॥ ५९ ॥

फिर आसन के बाहर वाणों के समूह के समान प्रकार का निर्माण कर प्राकार सहित उस स्थान को 'ॐ बलाय कवचाय हुँ'—इस कवच मन्त्र से अवगुण्ठित करे ॥ ५९ ॥

विमर्शिनी—अस्त्रेण = अस्त्रमन्त्रेण वीर्यायास्त्राय फडित्यनेन । एवं कवचेन = कवचमन्त्रेण बलाय कवचाय हुमित्यनेन ॥ ५९ ॥

गगनस्थैरदृश्यं स्याद्यथा न्यासं समाचरेत् ।
करन्यासं पुरा कृत्वा देहन्यासं समाचरेत् ॥ ६० ॥

आकाश में रहने वाले भी जिस प्रकार देख न सके उस प्रकार से अदृश्य रह कर न्यास करे । पहले करन्यास करे, फिर शरीरन्यास करे ॥६०॥

अङ्गुष्ठे तारिकां न्यस्येत्तच्छक्तीरङ्गुलीषु तु ।
तर्जन्यां तु न्यसेल्लक्ष्मीं मध्यायां कीर्तिमप्यथ ॥ ६१ ॥

तारिका ह्रीं मन्त्र से दोनों अँगूठे में न्यास करे । शक्ती मन्त्र से अंगुलियों में न्यास करे । फिर तर्जनी में लक्ष्मी मन्त्र से और कीर्त्ति से मध्यमा अंगुली में न्यास करे । ॐ ह्रीं शक्त्यै नमः अंगुलीषु, ॐ ह्रीं लक्ष्म्यै नमः तर्जनीभ्याम् । ॐ ह्रीं कीर्त्यै नमः मध्यमाभ्याम् इत्यादि ॥ ६१ ॥

अनामायां जयां मायां कनिष्ठायां ततो न्यसेत् ।
ततस्तारिकासंज्ञा[illegible]मनुक्रमः ॥ ६२ ॥

ॐ ह्रीं जयायै नमः अनामिकाभ्याम् मन्त्र से अनामिका में, ॐ ह्रीं मायायै नमः कनिष्ठाभ्याम् मन्त्र से कनिष्ठा में न्यास करे। तार ॐ के सहित तारिका ह्रीं, फिर संज्ञा, फिर नति नमः—यह न्यास के मन्त्र का अनुक्रम है ॥ ६२ ॥

विमर्शिनी—सतारेत्यादि । ॐ ह्रीं लक्ष्म्यै तर्जनीभ्यां नमः इत्यादि प्रकारेणेत्यर्थः ॥ ६२ ॥

कनिष्ठिकाद्यासु ततो हृदयादीन्यनुक्रमात् ।
अङ्गानि पञ्च विन्यस्य नेत्रमङ्गेषु संस्मरेत् ॥ ६३ ॥

इस प्रकार कनिष्ठिकादि में न्यास कर हृदयादि से नेत्रपर्यन्त पाँच स्थानों में (हृदय, शिर, शिखा, कवच एवं नेत्र) इसी क्रम से न्यास करे ॥ ६३ ॥

कौस्तुभं दक्षिणतले वनमालां तथापरे ।
दक्षिणे मध्यतः पद्मं न्यसेद्वामतलेऽपि च ॥ ६४ ॥

फिर दाहिने हाथ के तलवे में कौस्तुभ, बायें हाथ के तलवे में वनमाला, दाहिने हाथ के मध्य में पद्म से और उसी प्रकार बायें हाथ के मध्य में भी न्यास करे । ॐ ह्रीं कौस्तुभाय नमः दक्षिणहस्ततले इत्यादि ॥ ६४ ॥

विमर्शिनी—अथ करन्यासः—कौस्तुभमित्यादिना । मध्यतः = तल इत्यर्थः ॥ ६४ ॥

अङ्कुशं दक्षिणे न्यस्येत् पाशं वामतले तथा ।
अनेन विधिना पूर्वं हस्तन्यासं समाचरेत् ॥ ६५ ॥

इसी प्रकार दक्षिण हाथ में अंकुश का वामहस्त में पाश का न्यास करे । इस प्रकार पूर्व में हस्त न्यास करे ॥ ६५ ॥

ततस्तु विग्रहन्यासं यथा कुर्यात्तथा शृणु ।
आ मूर्ध्नश्चरणान्तं चाचरणाच्च शिरोऽवधि ॥ ६६ ॥
तारकं तारिकां चैव तौ च चन्द्रातपोपमौ ।
वामस्कन्धे ततो लक्ष्मीं न्यसेत् कीर्तिं च दक्षिणे ॥ ६७ ॥

अब, हे इन्द्र ! जिस प्रकार विग्रहन्यास करना चाहिये, उसकी विधि सुनिए । फिर शिर से आरम्भ कर चरणपर्यन्त तथा चरण से लेकर मूर्धापर्यन्त चन्द्रिका के समान तारक ॐ तथा तारिका ह्रीं मन्त्र से न्यास करे । वाये कन्धे में लक्ष्मी मन्त्र से तथा दाहिने कन्धे में कीर्त्ति से न्यास करे । ॐ ह्रीं लक्ष्म्यै नमः वाम स्कन्धे, ॐ ह्रीं कीर्त्यै नमः दक्षिण स्कन्धे ॥ ६६-६७ ॥

विमर्शिनी—मूर्धानमारभ्य चरणपर्यन्तं चरणमारभ्य मूर्धापर्यन्तं च देहन्यासमाह—आ मूर्ध्न इति ॥ ६६ ॥

जयां दक्षिणपाणिस्थां मायां वामकरस्थिताम् ।
नासान्तरे च हृन्मन्त्रं शिरोमन्त्रं च मूर्धनि ॥ ६८ ॥

दाहिने हाथ में जया से और बायें हाथ में माया से न्यास करना चाहिए। दोनों नासिका के मध्य में हृदय का मन्त्र और मूर्धा में शिरो मन्त्र का न्यास करना चाहिए ॥ ६८ ॥

शिखां चैव शिखास्थाने स्कन्धयोः कवचं ततः ।
विन्यस्य नेत्रयोर्नेत्रमस्त्रं पाणितलद्वये ॥ ६९ ॥

शिखा से शिखा स्थान में तथा दोनों कन्धो में कवच से न्यास कर दोनों नेत्रों में नेत्र मन्त्र तथा दोनों हाथ के तलवे में अस्त्र मन्त्र का न्यास करना चाहिए ॥ ६९ ॥

नाभौ पृष्ठे करद्वन्द्व ऊरुजानुपदेषु च ।
न्यसेत् सम्यगुपाङ्गानि त्रियुगं मन्त्रवित्तमः ॥ ७० ॥

नाभि में, पृष्ठ में, दोनों हाथों में, दोनों ऊरू, दोनों जानु तथा दोनों पैरों में इसी प्रकार छह मन्त्रों से न्यास करे ॥ ७० ॥

वक्षःस्थं कौस्तुभं मध्ये कण्ठे च वनमालिकाम् ।
पङ्कजे करयोर्न्यस्य मन्त्रमावर्तयन् द्विधा ॥ ७१ ॥

मध्य में वक्षःस्थल पर स्थित कौस्तुभ से, कण्ठ में वनमाला से और दोनों हाथों में दो कमल से मन्त्र की दो बार आवृत्ति करते हुये न्यास करना चाहिए ॥ ७१ ॥

वामहस्ते ततः पाशमङ्कुशं दक्षिणे करे ।
पादयोस्तारिकां स्थूलां सूक्ष्मां चैवोपसंधिके ॥ ७२ ॥

बायें हाथ में पाश से, दाहिने हाथ में अंकुश से, पैर में स्थूल तारिका से और पैर के जोड़ों में सूक्ष्म तारिका से न्यास करे ॥ ७२ ॥

चरमां ब्रह्मरन्ध्रे तु मन्त्राणां नायिका हि सा ।
चन्द्रिकातपसङ्काशं न्यासे न्यासे मनुं स्मरेत् ॥ ७३ ॥

ब्रह्मरन्ध्र में (ह्रीं) से न्यास करे क्योंकि वही सभी मन्त्रों की नायिका है । इस प्रकार प्रत्येक न्यास में चन्द्रिका के समान स्वच्छ मन्त्र का स्मरण करते

रहना चाहिये ॥ ७३ ॥

मनसा भावयेन्मुद्रास्तत्र तत्र च साधकः ।
तारिका या परा देवी तया व्याप्ताननुस्मरेत् ॥ ७४ ॥

साधक तत्र-तत्र न्यास के समय मन में मुद्रा का ध्यान करे और प्रत्येक मन्त्रों को परा तारिका देवी से व्याप्त समझे ॥ ७४ ॥

विन्यस्तान् सकलान् मन्त्रान् सर्वतः संप्लुतोदवत् ।
एवं कृतेऽनुसन्धाने मन्त्राणां भिन्नवर्त्मनाम् ॥ ७५ ॥
अपामिवोदधिस्थानामेकीकारः प्रजायते ।
एवं न्यासे कृते मन्त्री साक्षाल्लक्ष्मीमयो भवेत् ॥ ७६ ॥

विन्यास किये गए ये सभी मन्त्र तारिका (ह्रीं) से चारो ओर भरे हुये जल के समान परिपूर्ण हैं । इस प्रकार के विचार करने पर भिन्न-भिन्न प्रकार के मन्त्रों का एकीकरण उसी प्रकार हो जाता है जैसे जलों के एकत्रीकरण से समुद्र बन जाता है और इस प्रकार के न्यास करने से मन्त्रज्ञ साधक साक्षात् लक्ष्मीमय हो जाता है ॥ ७५-७६ ॥

सर्वाधिकारभागी स्यादाश्रित्य ध्यानजं बलम् ।
ध्यायिनः सर्वसिद्धीनामाविर्भावश्च जायते ॥ ७७ ॥

वह ध्यानजन्य बल से सभी अधिकारों का पात्र हो जाता है । इस प्रकार के ध्यान करने वाले साधक को सारी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है ॥ ७७ ॥

न्यस्ताङ्गो निर्भयस्तिष्ठेद्देशे दुष्टसमाकुले ।
विजयेतापमृत्यूंश्च सर्वांश्चैवोपसर्गिकान् ॥ ७८ ॥

साधक इस प्रकार अङ्गों में न्यास कर दुष्टों से उपद्रुत देश में भी निर्भय होकर निवास करे । ऐसा साधक समस्त अपमृत्युओं तथा समस्त उपद्रवों पर विजय प्राप्त कर लेता है ॥ ७८ ॥

न्यस्ताङ्गो विधिवन्मन्त्री यथाशास्त्रेण चेतसा ।
तनुं मन्त्रमयीं तां तु मां ध्यायेत् परमेश्वरीम् ॥ ७९ ॥

शास्त्र के अनुसार अङ्ग का विधिवत् न्यास करने वाला साधक उस मन्त्रमयी शरीर वाली मुझ परमेश्वरी का ध्यान करे ॥ ७९ ॥

अहं स भगवान् विष्णुरहं लक्ष्मीः सनातनी ।
इत्येवंभाववान् योगी भूयो नैव प्रजायते ॥ ८० ॥

मैं ही भगवान् विष्णु हूँ, मैं ही सनातनी लक्ष्मी हूँ । इस प्रकार की भावना करने वाला योगी पुन: संसार में जन्म नहीं लेता ॥ ८० ॥

इतीयं भूतशुद्धिस्ते यथावच्छक्रवर्णिता ।
अन्तर्यागमथो वक्ष्ये तत्त्वतस्तन्निशामय ॥ ८१ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे भूतशुद्धिप्रकाशो नाम पञ्चत्रिंशोऽध्याय: ॥ ३५ ॥

...

हे इन्द्र ! यहाँ तक हमने तत्त्वत: भूतशुद्धि प्रदर्शित किया । अब तत्त्वत: अन्तर्याग की विधि कहती हूँ, उसे सुनिए ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के भूतशुद्धिप्रकाश नामक पैंतिसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ३५ ॥

...

षट्त्रिंशोऽध्यायः

अन्तर्यागप्रकाशः

मानसिकमाधारशक्त्यादिपरिकल्पनम्

ब्रह्मानन्दमयी शक्र भोगैर्यत् पारमार्थिकैः ।
इज्येयं हृदयान्तःस्था सोऽन्तर्याग इति स्मृतः ॥ १ ॥

श्री ने कहा—हे शक्र ! पारमार्थिक भोगों से हृदय के भीतर की जाने वाली जो ब्रह्मानन्दमयी इज्या (याग) है, उसी को अन्तर्याग कहते हैं ॥ १ ॥

पद्मं वा स्वस्तिकं वापि बद्ध्वा योन्यासनं तु वा ।
नाभिमेढ्रान्तरे ध्यायेच्छक्तिमाधाररूपिणीम् ॥ २ ॥

पद्मासन, स्वस्तिकासन अथवा योन्यासन से स्थित होकर नाभि और लिङ्ग के बीच में साधक आधारशक्ति का ध्यान करे ॥ २ ॥

विमर्शिनी—आधारशक्तिस्थानमुच्यते—नाभीत्यादिना ॥ २ ॥

देवीं केनाप्यनाधेयां नीरूपां ज्योतिरात्मिकाम् ।
तदूर्ध्वे कालकूर्मं तु विमलं दीप्तविग्रहम् ॥ ३ ॥
कूर्माकारं परं देवं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
तस्य चोपरि नागेन्द्रं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ॥ ४ ॥

वह ज्योति किसी के द्वारा धारण नहीं की जाती । वह सर्वथा नीरूप है और आत्मज्योति है । उस ज्योति के ऊपर देदीप्यमान विमल शरीर वाला काल कूर्म, जिसका कूर्म के सदृश आकार है जो शङ्ख, चक्र, गदा धारण

किये हुये हैं ऐसा कालरूप देव स्थित है । उसके भी ऊपर पूर्णचन्द्र के समान मुख वाले नागराज भगवान् शेष की स्थिति है ॥ ३-४ ॥

विमर्शिनी—तदूर्ध्वे इति । आधारशक्तेरूर्ध्वभाग इत्यर्थः ॥ ३ ॥ तस्येति । कूर्मस्योपरीत्यर्थः ॥ ४ ॥

फणासहस्रसम्पूर्णं मदाघूर्णितलोचनम् ।
चक्रलाङ्गलहस्तं च प्रणमेत्तम्परात् परम् ॥ ५ ॥

जो सहस्रो फणों वाले है, मद से जिनके नेत्र घूर्णित हैं, जिनके हाथ में चक्र और लाङ्गल (हल) सुशोभित है ऐसे परात्पर **भगवान् शेष** का ध्यान करते हुये साधक उन्हें प्रणाम करे ॥ ५ ॥

तदूर्ध्वं वसुधां देवीं कुङ्कुमक्षोदसंनिभाम् ।
हेमरत्नविचित्राङ्गीं प्रसन्नवदनेक्षणाम् ॥ ६ ॥

उनके ऊपर वसुधा देवी कुंकुम के बिन्दु के समान शोभित हो रही है, जिनका शरीर सुवर्ण तथा रत्नो से अद्भुत ज्ञात हो रहा है तथा जिनके नेत्र और मुख कमल प्रसन्नता से खिले हुये हैं ॥ ६ ॥

विमर्शिनी—तदूर्ध्वमिति । नागेन्द्रासनादूर्ध्वमित्यर्थः ॥ ६ ॥

बद्धाञ्जलिं शिरोदेशे संस्मरन्तीं विभुं स्मरेत् ।
चतुर्धा भाजिते क्षेत्रे नाभिमेढ्रान्तरस्थिते ॥ ७ ॥

जो शिर पर अञ्जलि बाँधकर भगवान् का स्मरण कर रही है ऐसी **वसुधा** देवी का स्मरण करे । इस प्रकार चार भाग में विभाजित नाभि से लेकर मेढ्र पर्यन्त क्षेत्र में भी देवताओं का ध्यान करे ॥ ७ ॥

विमर्शिनी—संस्मरन्तीमिति । ध्यायन्तीमित्यर्थः ॥ ७ ॥

एवमाधारशक्त्यादिदेवताः संस्मरेदिमाः ।
नाभौ क्षीरार्णवं ध्यायेत् कुन्देन्दुधवलाकृतिम् ॥ ८ ॥

इसके बाद इन-इन आधार देवताओं का इस प्रकार स्मरण करना चाहिए। नाभिस्थान में कुन्द इन्दु के समान स्वच्छ वर्ण वाले **क्षीर समुद्र** का ध्यान करना चाहिए ॥ ८ ॥

स्रोतोरश्मिभिराकीर्णं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ।
गम्भीरविग्रहं ध्यायेद्रूपवन्तमरूपिणम् ॥ ९ ॥

जो अनेक स्रोतों एवं रश्मि से आच्छन्न हैं, जिनका मुख मण्डल पूर्ण

चन्द्रमा के समान है, विग्रह से अत्यन्त गम्भीर है जो अरूपी होकर भी रूप धारण किये हुये हैं, उस प्रकार के क्षीर समुद्र का ध्यान करे ॥ ९ ॥

ततः समुत्थितं पद्मं ध्यायेत् क्षीरार्णवोदरात् ।
प्रशान्तपावकाकारमुदयादित्यवर्चसम् ॥ १० ॥

इसके बाद उस क्षीर समुद्र के भीतरी भाग से उत्पन्न कमल का ध्यान करे । वह पद्म प्रशान्त पावक रूप अङ्गार के समान दहक रहा है । उसका तेज उदीयमान सूर्य के समान रक्त वर्ण वाला है ॥ १० ॥

लम्बोदरं हसन्तं च सितदन्तं शुभाननम् ।
द्विभुजं वेष्टितं शश्वच्छुभैर्विविधषट्पदैः ॥ ११ ॥

उसका उदर लम्बा है वह खिला हुआ है उसके दाँत स्वच्छ है । मुख मनोहर है । वह दो भुजाओं वाला है उसे चारो ओर से भौरें निरन्तर घेरे हुये हैं ॥ ११ ॥

सहस्रदलसम्पन्नं सहस्रकिरणावृतम् ।
सहस्ररश्मिसङ्काशं तत्पृष्ठे चासनं न्यसेत् ॥ १२ ॥

उसमें सहस्रदल हैं । हजारों किरणों से वह आवृत है । वह सहस्ररश्मि (सूर्य) के समान है । इस प्रकार से कमल के आसन पर बैठे हुए ध्यान करना चाहिए ॥ १२ ॥

विमर्शिनी—तत्पृष्ठ इति । पद्मपृष्ठ इत्यर्थः । न्यसेत् = न्यस्तं ध्याये-दित्यर्थः ॥ १२ ॥

धर्मं ज्ञानं च वैराग्यमैश्वर्यं च क्रमादिमान् ।
आसनस्य स्मरेत् पादानाग्नेयादिविदिग्गतान् ॥ १३ ॥

उस आसन के आग्नेयादि चारो कोणों में क्रमशः धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये चार पाद लगे हैं । उन आसन के पादों का स्मरण करे ॥ १३ ॥

विमर्शिनी—आसनस्य पादाः धर्मज्ञानादयः आग्नेयादिविदिक्षु ज्ञेयाः ॥ १३॥

पुरुषाकृतयः सर्वे सिताः सिंहानना इमे ।
महोत्साहा महावीर्या मद्धारणकृतोद्यमाः ॥ १४ ॥

इन चारो पादों की आकृति पुरुष के समान है । किन्तु इन सभी का मुख सिंह के समान है । ये सभी महान् उत्साह तथा महान् वीर्य सम्पन्न हैं । इतना ही नहीं वे मुझे धारण करने में भी सर्वथा सक्षम हैं ॥ १४ ॥

पूर्वादिदिग्गता ज्ञेया धर्मादीनां विपर्ययाः ।
अधर्मं च तथाज्ञानमवैराग्यमनैश्वरम् ॥ १५ ॥

उस आसन के पूर्वादि चारों दिशाओं में अधर्मादि की स्थिति है । अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य—ये चार अधर्मादि हैं ॥ १५ ॥

विमर्शिनी—विपर्ययाः = अधर्माज्ञानादयः प्रागादिदिक्षु ॥ १५ ॥

पुरुषाकृतयश्चेमे बन्धूककुसुमोपमाः ।
प्रागीशानदिशोर्मध्ये प्रागाग्नेयदिगन्तरे ॥ १६ ॥
यातवीवारुणीमध्ये पाशिवायुदिगन्तरे ।
ऋग्वेदाद्यं चतुष्कं च पीतं हयनराकृति ॥ १७ ॥

इन सभी की आकृति पुरुष के समान है, सबके शरीर का वर्ण बन्धूक पुष्प के सामन रक्त वर्ण का है । पूर्व और ईशान के मध्य में, पूर्व और आग्नेय के मध्य में, नैर्ऋत्य और पश्चिम के मध्य में तथा पश्चिम और वायव्य के मध्य में क्रमशः **चारों ऋग्वेदादि** की स्थिति है, इन चारो ऋग्वेदादि का स्वरूप घोड़े और मनुष्य के समान (हयग्रीव) है ॥ १६-१७ ॥

विमर्शिनी—यातवी = निर्ऋतिदिक् । पाशी = वरुणः ॥ १७ ॥

ईशानसोमदिङ्मध्ये वह्न्यन्तकदिगन्तरे ।
राक्षसान्तकदिङ्मध्ये वायुसोमदिगन्तरे ॥ १८ ॥
कृताद्यं युगवृन्दं तु कृष्णं वृषनराकृति ।
सर्वे चतुर्भुजा एते द्वाभ्यां पीठधृतस्तथा ॥ १९ ॥

ईशान और उत्तर दिशा के मध्य में, आग्नेय और दक्षिण दिशा के मध्य में, दक्षिण दिशा एवं नैर्ऋत्य के मध्य में तथा वायव्य और उत्तर दिशा के मध्य में कृत, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग इन **चारो युगों** का स्थान है । इनकी आकृति वृषभ तथा नर संयुक्त है । ये सभी चार भुजाओं वाले हैं । जिसमें दो भुजाओं वाले पीठ (आसन) धारण किये हुये है ॥ १८-१९ ॥

द्वाभ्यामञ्जलिबद्धाभ्यां प्रणमन्त्यासनस्थिताम् ।
तेषामुपरि संचिन्त्यं पीठं बुद्धिमयं परम् ॥ २० ॥

वे अपने शेष दो भुजाओ से अञ्जलि बाँधे हुये आसन पर रहने वाली देवी को प्रणाम कर रहे हैं । साधक उन युगों के ऊपर बुद्धिमय परस्वरूप पीठ का ध्यान करे ॥ २० ॥

विमर्शिनी—द्वाभ्यामिति = भुजाभ्यामिति शेषः । अञ्जलिभ्यामित्यर्थः ॥ २० ॥

अव्यक्तमम्बुजं श्वेतं तदूर्ध्वेऽष्टदलं स्मरेत् ।
तदूर्ध्वे सूर्यबिम्बं तु सूर्यकोटिसमप्रभम् ॥ २१ ॥

श्वेत अम्बुज के समान जो अव्यक्त स्वरूप है । उसके ऊपर अष्टदल कमल का स्मरण करे । उसके ऊपर करोड़ों सूर्य के समान प्रकाश वाले सूर्य बिम्ब का स्मरण करे ॥ २१ ॥

तदूर्ध्वे चन्द्रबिम्बं तु चन्द्रकोटिसमप्रभम् ।
तदूर्ध्वे वह्निबिम्बं तु वह्निकोट्ययुतप्रभम् ॥ २२ ॥

उसके ऊपर करोड़ों चन्द्रमा के समान प्रकाश वाले चन्द्रविम्ब का स्मरण करे । साधक उसके ऊपर करोड़ो अयुत प्रभा वाले अग्नि के समान अग्नि विम्ब का स्मरण करे ॥ २२ ॥

तमो रजश्च सत्त्वं च गुणानेतान् क्रमात् स्मरेत् ।
प्रणवस्य नतेश्चैव तत्तत्संज्ञास्तु मध्यगाः ॥ २३ ॥

ये सूर्य, चन्द्र और वह्नि स्वरूप क्रमशः तम, रज और सत्त्वमय है । अतः उन विम्बों में तम, रज और सत्त्व इन गुणों का क्रमशः स्मरण करे । प्रणव (ॐ), नति नमः, बीच-बीच में तत्तत्संज्ञायें कहे । इस प्रकार मन्त्र का स्वरूप यथा 'ॐ सूर्यविम्बाय नमः' इत्यादि उनके स्मरण के मन्त्र हैं ॥ २३॥

विमर्शिनी—सूर्येन्दुवह्निविम्बानि क्रमात् तमोरजःसत्त्वमयानि जानीयात् । ॐ सूर्यबिम्बाय नमः इत्यादयो मन्त्राः ॥ २३ ॥

बुद्ध्यादिसत्त्वपर्यन्ततत्त्वमन्त्रगणाः स्मृताः ।
ततश्चिदासनं दद्यात् पराहंतास्वरूपकम् ॥ २४ ॥

ये बुद्धि से लेकर सत्त्व पर्यन्त तत्त्वों के मन्त्र कहे गए हैं । उसके भी ऊपर पराहंता स्वरूप चिदासन प्रदान करे ॥ २४ ॥

आ नाभेर्हृदयान्तात्तु पञ्चधा भाजिते पदे ।
समुद्राद्यासनान्तं तु चतुर्भिः कल्पयेत् पदैः ॥ २५ ॥
एकेन पञ्चमेनैव पद्माद्यासनकल्पनम् ।
भूतान्याधारशक्तौ तु कूर्मे तन्मात्रकं गणम् ॥ २६ ॥

नाभि से लेकर हृदय पर्यन्त स्थान को पाँच भागों में प्रविभक्त करे । फिर आदि से लेकर चार भागों में क्षीरार्णवादि से लेकर आसन पर्यन्त ध्यान करे । शेष पाँचवें भाग में उस **अव्यक्त पद्म** का ध्यान करे । तदनन्तर उक्त पाँचों स्थानो में **स्थूल पञ्चभूतों** का ध्यान करे । कूर्मस्थान में पञ्चतन्मात्राओं का

ध्यान करे ॥ २५-२६ ॥

विमर्शिनी—नाभिमारभ्य हृदयपर्यन्तं भागं पञ्चधा विभज्य तत्रादौ चतुर्षु भागेषु क्षीरार्णवासनान्तं भावयेत् ॥ २५ ॥ पञ्चमे तु भागे अव्यक्तपद्मं भावयेत् । उक्तेषु स्थानेषु पदार्थानामवस्थितिमाह—भूतानीति = स्थूलानि पञ्च-भूतानीत्यर्थः ॥ २६ ॥

वागादिकं तथानन्ते भुवि श्रोत्रादिपञ्चकम् ।
मनः क्षीरार्णवे ध्यायेदहङ्कारं ततोऽम्बुजे ॥ २७ ॥

अनन्त (शेष) में वागादिक का, पृथ्वी में श्रोत्रादि पञ्चक का, क्षीर समुद्र में मन का और कमल में अहङ्कार का ध्यान करे ॥ २७ ॥

द्विरष्टकं च धर्माद्यमासनं चापि धीः स्मृता ।
अव्यक्तं च तदूर्ध्वस्थमवदातं सरोरुहम् ॥ २८ ॥

धर्मादि १६ (चार-धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य । चार-अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य । चार वेद, चारों युग = कुल १६) जो आसन के स्वरूप में कहे गए हैं उनमें बुद्धि का ध्यान करना चाहिये । उसके ऊपर अत्यन्त स्वच्छ **कमल स्वरूप अव्यक्त** का ध्यान करना चाहिये ॥ २८ ॥

विमर्शिनी—अवदातं = सरोरुहम्; अव्यक्तपद्ममित्यर्थः ॥ २८ ॥

तमःप्रभृतयश्चोक्ता गुणा ह्यब्जत्रयात्मकाः ।
एके कालं वदन्त्येतद् भूतादित्रितयात्मकम् ॥ २९ ॥

तम, रज और सत्त्व ये तीनो गुण तीन कमल के स्वरूप है । इस अव्यक्त पद्म को कोई भूत, वर्तमान एवं भविष्य रूप काल त्रितयात्मक अर्थात् कालचक्र कहते हैं ॥ २९ ॥

विमर्शिनी—एतत् = अव्यक्तपद्ममित्यर्थः । पारमेश्वरे (५-१४) कालचक्र-मित्यस्य व्यवहारः ॥ २९ ॥

चिदासनमनन्ताख्यं पुमांसमपरे जगुः ।
एके चिदासनादूर्ध्वं गरुडं परिचक्षते ॥ ३० ॥

कोई चिदासन और कोई अनन्त नाम वाला पुरुष कहते हैं । कोई-कोई विद्वान् चिदासन से ऊपर उन्हें गरुड भी कहते हैं ॥ ३० ॥

तत्र लक्ष्मीनारायणध्यानम्

स्वर्णव्योमान्वितं पश्चात् [illegible] ।

मन्त्रमाहुः सुरेशान तन्मन्त्रं नवमं बुधाः ॥ ३१ ॥

व्योम शून्य संयुक्त खर्ण (खं) इसके बाद नमः (आदि में प्रणव) से युक्त खगानन जिनका मन्त्र है—ॐ खं खगाननाय नमः । यह नव अक्षर का मन्त्र है ॥ ३१ ॥

विमर्शिनी—खं खगाननाय नमः ॥ ३१ ॥

इत्थं बहुविधैर्मन्त्रैरासने विहिते क्रमात् ।
विष्णुं विश्वात्मकं देवं नारायणमनामयम् ॥ ३२ ॥
भावयेत् परमात्मानं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
चतुर्भुजं पीतवस्त्रं पुण्डरीकनिभेक्षणम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार अनेक प्रकार के मन्त्रों से विहित उस आसन पर अनामय नारायण देव विश्वात्मक विष्णु का ध्यान करे, जो साक्षात् परमात्मा हैं और शङ्ख, चक्र एवं गदा धारण किये हुये हैं, जिनकी चार भुजायें है और जो पीताम्बर से अलंकृत तथा कमल के समान नेत्र वाले हैं ॥ ३२-३३ ॥

विमर्शिनी—"तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी" इति श्रुत्यर्थोपबृंहणमत्र कर्तव्यम् ॥ ३३ ॥

उदितं संस्मरेद्देवं स्वशक्तेः स्पन्दनात्मनः ।
सम्यग् ध्येयं यथैतत्ते तथा भूयो निबोध मे ॥ ३४ ॥

स्पन्दनात्मक अपनी शक्ति से युक्त उदीयमान उन विष्णु देव का स्मरण करे । इनका जिस प्रकार भलीभाँति ध्यान करना चाहिये, हे इन्द्र ! अब उसे मुझसे कहिए ॥ ३४ ॥

सुसम्यङ् न्यस्तमन्त्राङ्गः सुसंक्लृप्तान्तरासनः ।
दर्शिताशेषमुद्रश्च संस्मरेन्मन्त्रवैभवम् ॥ ३५ ॥

साधक पहले अपने शरीर का भलीभाँति न्यास करे । उत्तम आसन पर बैठे । सम्पूर्ण मुद्रा प्रदर्शित करे । तदनन्तर मन्त्र का महत्त्व भलीभाँति स्मरण कर लेवे ॥ ३५ ॥

परं ब्रह्म परं धाम यत् पारे तमसः स्थितम् ।
शक्तिमच्छक्तिभावेन लक्ष्मीनारायणं महः ॥ ३६ ॥
सर्वं सर्वातिगं सर्वसंस्थितं सर्वयन्तृ च ।
चिदानन्दघनं पूर्णषाड्गुण्यामृतविग्रहम् ॥ ३७ ॥
भावानां चिदचिद्रूपभावाभावादिभेदिनाम् ।

अन्तरात्मतया तत्तदहङ्कारपदास्पदम् ॥ ३८ ॥
अचिन्त्याननुयोज्येन हेतुना येन केनचित् ।
शक्तिमच्छक्तिभावेन तद् द्विधा व्यवतिष्ठते ॥ ३९ ॥
अहमित्येव यः प्रोक्तः पदप्रत्यययोर्द्वयोः ।
नारायणः स भविता तस्याहंता तु या परा ॥ ४० ॥

परं ब्रह्म एवं परं धाम जो तम से पार में स्थित है, शक्ति एवं शक्तिमान रूप से कहा जाने वाला जो लक्ष्मीनारायणात्मक तेज है, वही सब कुछ है और सबका अतिक्रमण करने वाला है । यह सबमें संस्थित एवं सबका नियन्ता है, चिदानन्दघन, पूर्ण, षाड्गुण्य रूप अमृत शरीर वाला है । चिद् एवं चिद्रूप भाव और अभाव वाले सभी पदार्थों के अन्तरात्मा होने के कारण तत्तदहङ्कार एवं पदों का स्थान है । जिस किसी भी हेतु के योजना से जो अचिन्त्य है वही शक्ति एवं शक्तिमान् रूप भाव से दो भेदों में स्थित है । जिसे पद और प्रत्यय में 'अहम्' यही कहा जा सकता है । वही नारायण है जिसकी अहन्ता परा है और जो भवत्स्वरूपा है ॥ ३६-४० ॥

विमर्शिनी—सर्वान्तरात्मत्वात् सर्वनियन्तृत्वाच्च सर्वरूपिणमित्यर्थः ॥ ३७ ॥ तदेवोच्यते—अन्तरात्मतयेत्यादिना ॥ ३८ ॥

तद्धर्मधर्मिणी लक्ष्मीः शक्तिः सा भावरूपिणी ।
सर्वकार्यकरी सैव शक्तिर्वितनुते जगत् ॥ ४१ ॥

जो उसकी तद्धर्मधर्मिणी लक्ष्मी शक्ति है, वह भावस्वरूपा है । वह नारायण की सर्वकार्यकरी (दासी) है वही शक्ति रूप से सारे जगत् का विस्तार करती है ॥ ४१ ॥

शक्तिमन्तमधिष्ठाय ज्योत्स्नेव हिमदीधितिम् ।
सा वितितस्तीर्षमाणा हि शब्दब्रह्मात्मना पुरा ॥ ४२ ॥
वितत्यात्मानमथ सा वितनोत्यर्थवर्त्मना ।
शब्दब्रह्ममयः पूर्वो यो नाम प्रथमोदयः ॥ ४३ ॥

जैसे चन्द्रिका शक्तिमान् चन्द्रमा का आश्रय लेकर अपनी चन्द्रिका का विस्तार करती है, उसी प्रकार वह शक्ति भी विस्तार करने की इच्छा होने पर शक्तिमान् का आश्रय लेकर शब्दब्रह्म के द्वारा अपना विस्तार कर अर्थ स्वरूप से जगत् में फैल जाती है । यह शब्दब्रह्म उसी को कहा जाता है जो सबसे पहले उसकी उदीयमान अवस्था है ॥ ४२-४३ ॥

विमर्शिनी—देव्या जगद्व्यापारकर्तृत्वं भगवन्तमाश्रित्यैव, न स्वातन्त्र्येणेत्यनेन

जगज्जन्मादिकारणत्वस्य भगवदसाधारणलक्षणस्य नानुपपत्तिरित्युक्तं भवति । प्रयोजककर्ता सर्वेश्वरः, प्रयोज्यकर्त्री देवीत्युक्तं भवति । अनेनास्य पाञ्चरात्र-सिद्धान्तस्य शाक्तमतप्रवेशशङ्काया नावकाशः ॥ ४२ ॥

अकलङ्कः कलाध्वात्मा योगस्थैरनुभूयते ।
धारासंतानवर्णात्मा वर्णमार्गः स शब्द्यते ॥ ४४ ॥

वह कलङ्करहित ज्ञान युक्त कलाध्वात्मा है, जिसका अनुभूति योगी लोग करते हैं । धारावत् निरन्तर प्रवाहित होने से वह वर्णात्मा है, उसी को **वर्णाध्वा** भी कहा जाता है ॥ ४४ ॥

विमर्शिनी—कलाध्वात्मा; ज्ञानशक्त्यादिगुणात्मा । धारासंतानेति वर्णाध्व-निर्देशः ॥ ४४ ॥

कलाध्वानमधिष्ठाय स पुनर्मन्त्रवर्त्मना ।
उदेति सकलं शक्तिचक्रमादाय वैष्णवम् ॥ ४५ ॥

वही शब्दब्रह्म पुनः कलाध्वा का आश्रय लेकर मन्त्राध्वा के रूप से उदित होता है, फिर सम्पूर्ण वैष्णव शक्ति चक्र लेकर वही परात्मा से आनन्द लक्षण परं ज्योतिर्मय स्वरूप से उदित होता है ॥ ४५ ॥

विमर्शिनी—शक्तिचक्रं = लक्ष्म्यादिकम् ॥ ४५ ॥

परात्मना परं ज्योतिर्मयमानन्दलक्षणम् ।
त्रिविधेनैव रूपेण यथा ते वर्णितं पुरा ॥ ४६ ॥

उस शब्द को कलाध्वा, मन्त्राध्वा और पराध्वा इन तीनों स्वरूपों में पूर्व में वर्णन किया जा चुका है ॥ ४६ ॥

रूपं परं तदेवाथ वर्तते सूक्ष्मवर्त्मना ।
मन्त्रप्रसररूपेण तच्च ते दर्शयिष्यते ॥ ४७ ॥

अब सूक्ष्माध्वा के द्वारा उसके उसी रूप को मन्त्र के प्रसार के रूप से आगे दिखाऊँगी ॥ ४७ ॥

सूक्ष्मं तत् त्रिविधं भूयो वर्तते स्थूलवर्त्मना ।
स्थूला चादितनुर्येयमङ्गोपाङ्गविभेदिनी ॥ ४८ ॥

स्थूल स्वरूप से उस सूक्ष्म के पुनः तीन स्वरूप कहे गए हैं । उसका आदि शरीर स्थूल स्वरूपा है, जिसके अङ्ग और उपाङ्ग दो भेद होते हैं ॥४८॥

लक्ष्मीनारायणस्यैषा मूर्तिः षाड्गुण्यबृंहिता ।

चेतनाचेतनं विश्वमनुसन्धेयमत्र तु ॥ ४९ ॥

यह मन्त्रात्मक स्थूलरूपा लक्ष्मीनारायण की मूर्त्ति है, जो षाड्गुण्य के कारण बढ़ती है इनमें चेतन अचेतन सारे विश्व की स्थिति है जो सर्वथा अनुसन्धेय है ॥ ४९ ॥

विमर्शिनी—अत्र तु; मन्त्रात्मकस्थूलमूर्तावित्यर्थः ॥ ४९ ॥

तत्तदैश्वर्यदत्वं तदधिष्ठातृत्वमेव च ।
मन्त्रस्य वैष्णवं रूपं तद्विज्ञेयं विपश्चिता ॥ ५० ॥

जिसमें तत्तदैश्वर्य दातृत्व हो, तत्तद् देवता का अधिष्ठातृत्व हो, बुद्धिमान लोग उसे ही मन्त्र का वैष्णव रूप समझे ॥ ५० ॥

विमर्शिनी—मन्त्रमूर्तौ सर्वतत्त्वावस्थितिमाह—तत्तदित्यादिना ॥ ५० ॥

तत्तत्कार्यकरी तस्य या शक्तिः साहमम्बुजा ।
मन्त्रस्य यद्धि चैतन्यं पुमांसं तं प्रचक्षते ॥ ५१ ॥

उसकी जो तत्तद् कार्यकरी शक्ति है वह मैं महालक्ष्मी हूँ जिसे मन्त्र का चैतन्य स्वरूप पुरुष रूप भी कहा जाता है ॥ ५१ ॥

फलप्रसवसामर्थ्यं प्राकृतं रूपमुच्यते ।
यद् दृढव्यवसायित्वं महतो यो गुणस्तु सः ॥ ५२ ॥

जिसमें फल देने की सामर्थ्य हो वह उसका प्राकृत रूप कहा जाता है, जो उस महान् का दृढ़ व्यवसायित्व है वह तो उसका गुण है ॥ ५२ ॥

विमर्शिनी—महतः = महत्तत्वस्य ॥ ५२ ॥

मन्त्राणां यदहंयुत्वमहङ्कारगुणस्तु सः ।
मन्त्राणां मानसं रूपमैन्द्रियज्ञानहेतुता ॥ ५३ ॥

मंन्त्रों का जो अहंयुत्व है, वह तो उसका अहङ्कार गुण है और मन्त्रों का मानस स्वरूप इन्द्रिय ज्ञान का हेतु है ॥ ५३ ॥

यच्छब्दरूपता मन्त्रे सा ज्ञेया नभसि स्थिता ।
कम्पो मन्त्रसमावेशे वायव्यं रूपमुच्यते ॥ ५४ ॥

मन्त्र में रहने वाली शब्द स्वरूपता आकाश में रहने वाली है । मन्त्र के आवेश से होने वाले कम्प को वायव्य स्वरूप जानना चाहिए ॥ ५४ ॥

प्रकाशकरता ध्याने मान्त्री या तैजसात्मिका ।

या तृप्तिर्मन्त्रसद्भावे परिज्ञेयाम्भसी तु सा ॥ ५५ ॥

ध्यान करने पर जो प्रकाश करता है, वह मन्त्र का तेजस स्वरूप है । मन्त्र के सद्भावपूर्वक जप करने से जो तृप्ति (सन्तोष) होता है, वह उसका आम्भस स्वरूप है ॥ ५५ ॥

यो हि मन्त्रस्थितो भावः स भौमो गुण उच्यते ।
इत्येवं सर्वगां व्याप्तिं मन्त्री मान्त्रीं सुसंस्मरेत् ॥ ५६ ॥

जो मन्त्र में रहने वाला भाव है उसे भौमगुण समझे । इस प्रकार साधक को मन्त्र की सर्वत्र गमनरूपा व्याप्ति का स्मरण करना चाहिये ॥ ५६ ॥

अचिरान्मन्त्रसामर्थ्यात्तेन भावेन जायते।
इत्थं संवित्तिसामर्थ्यात्तारिकाशक्तिमातताम् ॥ ५७ ॥

इस प्रकार मन्त्र की व्याप्ति का ज्ञान होने से, मन्त्र के सामर्थ्य से तथा ज्ञान के सामर्थ्य से तारिका थोड़े ही काल में अपनी शक्ति को तथा अभिवृद्धि को प्राप्त हो जाती है ॥ ५७ ॥

विमर्शिनी—तेन भावेनेति । तत्तद्धर्मेणेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

स्पन्दमानां पुरा पश्येद्व्योम्नि सौदामिनीमिव ।
हृदम्बुजगुहामध्ये पूर्वोक्ते चित्प्रभासने ॥ ५८ ॥
स्फुरन्त्यां तारिकामूर्तौ शब्दब्रह्मणि संस्मरेत् ।
मिथुनं शाश्वतं दिव्यं यथावदवधारय ॥ ५९ ॥

जब आकाश में चमकती हुई बिजली के समान स्पन्दमान प्रकाश हृत्कमल के गुफा के मध्य में देखे, तब पूर्वोक्त चिदाकाश में स्फुरित होने वाली तारिका ह्रीँ की मूर्त्ति वाले शब्दब्रह्म में लक्ष्मीनारायण की उस मिथुन एवं शाश्वत दिव्य स्वरूप का यथावत् ध्यान करे । हे इन्द्र ! आप इस ध्यान को यथावत् समझो ॥ ५८-५९ ॥

विमर्शिनी—पूर्वोक्त इति । आधारशक्त्यादिनिरूपणावसरोक्त इत्यर्थः । अनेन तारिकायाः शब्दब्रह्मरूपत्वमुक्तं भवति ॥ ५८-५९ ॥

सूर्यानलांशसंस्थानं नारायणमनामयम् ।
स्मरेच्चिदासनासीनं पुण्डरीकायतेक्षणम् ॥ ६० ॥

अब नारायण का स्वरूप कहते है—सूर्य और अग्नि जिनके अंशमात्र में स्थित हैं, ऐसे उन अनामय नारायण का ध्यान करे । जो चिदासन पर आसीन है, जिनके कमल के समान नेत्र हैं उन नारायण का ध्यान करे ॥ ६० ॥

विमर्शिनी—नारायणाख्यपुरुषोत्तमस्य मानसीं पूजां वक्तुं तद्रूपमाह—सूर्येत्यादिना ॥ ६० ॥

पीताम्बरमुदाराङ्गं काञ्चीनूपुरशोभितम् ।
हारकुण्डलकेयूरकिरीटकटकोज्ज्वलम् ॥ ६१ ॥

पीताम्बर धारण किये, मनोहर अङ्गों वाले, काञ्ची एवं नूपुर से सुशोभित, हार, कुण्डल, केयूर एवं किरीट और कटक आभूषणों से प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ६१ ॥

युगानुसारिकान्तिं वा नीलाम्बरनिभं तु वा ।
शङ्खचक्रधरं देवं वरदाभयदायिनम् ॥ ६२ ॥

जिनके शरीर की कान्ति प्रत्येक युगों में युगानुसार बदलती रहती है अथवा नीले वर्ण के आकाश के समान हैं, जो देव शङ्ख एवं चक्र धारण किये हुये हैं वर तथा अभय प्रदान करने वाले हैं ॥ ६२ ॥

प्रभयेव मणिं पूर्णं गाम्भीर्येणेव सागरम् ।
प्रभयेव विवस्वन्तं ज्योत्स्नयेव निशाकरम् ॥ ६३ ॥

वह प्रभा से युक्त मणि के समान पूर्ण हैं । गाम्भीर्य में सागर के समान हैं । प्रभा से युक्त सूर्य के समान तथा चन्द्रिका युक्त निशाकर के समान हैं ॥ ६३ ॥

पुरा ध्यात्वा हृषीकेशं प्रसन्नमुखपङ्कजम् ।
पुराष्टादशभिर्भोगैरर्चयेत् पुरुषोत्तमम् ॥ ६४ ॥

ऐसे प्रसन्न मुख कमल वाले हृषीकेश का प्रथम ध्यान करे । फिर आगे रखे हुये अष्टादश प्रकार के भोगों से उन पुरुषोत्तम की अर्चना करे ॥ ६४ ॥

सूक्तेन पौरुषेणाथ प्रणवेन च वासव ।
द्विषट्चतुस्त्रिकार्णैश्च तथैव च जितंतया ॥ ६५ ॥

हे वासव ! भगवान् पुरुषोत्तम की यह अर्चना पुरुषसूक्त से करे, अथवा प्रणव से, अथवा द्वादशाक्षर, अथवा अष्टाक्षर, अथवा षडक्षर, अथवा जितं ते पुण्डरीकाक्ष—इन मन्त्रों में किसी एक मन्त्र से करे ॥ ६५ ॥

विमर्शिनी—द्विषडित्यादि । षडक्षराष्टाक्षरद्वादशाक्षरमन्त्रैरित्यर्थः । जितंतया; "जितं ते पुण्डरीकाक्ष" इत्यादिश्लोकरूपमन्त्रेणेत्यर्थः ॥ ६५ ॥

अर्चयित्वाथ देवेशं लक्ष्मीं सर्वाङ्गगां स्मरेत् ।

लयात्मनार्चयित्वाथ लक्ष्मीमावाहयेत्ततः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार अर्चना कर लेने के बाद उनके सभी अङ्गों में रहने वाली लक्ष्मी का ध्यान करे। फिर लयात्मना उनका अर्चन कर लक्ष्मी का इस प्रकार आवाहन करे ॥ ६६ ॥

वामोत्सङ्गे निषण्णां तामथ देवस्य शार्ङ्गिणः ।
अर्चयेद्विविधैर्भोगैर्यथावच्छास्त्रचोदितैः ॥ ६७ ॥

जो देवाधिदेव विष्णु के वाम अङ्क में स्थित हैं, उन लक्ष्मी का शास्त्रविधि के अनुसार विविध भोगों से अर्चना करे ॥ ६७ ॥

नारायणात् पुरुषसूक्तस्य, लक्ष्म्याः श्रीसूक्तस्य चाविर्भावः

शक्रः—

देवप्रिये देवदेवि नमस्ते पङ्कजेक्षणे ।
विधिं पुरुषसूक्तस्य तारादीनां च मे वद ॥ ६८ ॥

इन्द्र ने कहा—हे देवप्रिये, देवदेवि, कमलनेत्रे ! आपको नमस्कार है । आप पुरुषसूक्त की विधि अथवा पूजा की विधि मुझे बतलाइये ॥ ६८ ॥

श्रीः—

एको नारायणो देवः श्रीमान् कमललोचनः ।
एकाहं परमा शक्तिः सर्वकार्यकरी हरेः ॥ ६९ ॥

श्री ने कहा—कमल के समान नेत्र वाले श्रीमान् देव नारायण एक ही हैं। उन भगवान् हरि की मैं अकेली परमा शक्ति हूँ ॥ ६९ ॥

तावावां परमे व्योम्नि क्षेमाय सकलात्मनाम् ।
आसीनौ सकलेशानौ सूरिभिः सेवितौ सदा ॥ ७० ॥

सम्पूर्ण लोकों के ईश्वर हम दोनों ही सभी लोकों का कल्याण करने के लिये परम व्योम में निवास करते हैं जहाँ विद्वान् लोग हम दोनों की सेवा करते हैं ॥ ७० ॥

तयोर्नौ हृदि सङ्कल्पः कश्चिदाविर्बभूव ह ।
उत्तारणाय जीवानामुपायोऽन्विष्यतामिति ॥ ७१ ॥

परम व्योम में निवास करते हुये जीवों के उद्धार का कोई उपाय सोचना चाहिये—इस प्रकार का कोई सङ्कल्प हम लोगों के हृदय में उत्पन्न हुआ ॥ ७१ ॥

आवाभ्यामुत्थितं तेजः शब्दब्रह्ममहोदधिः ।
मथ्यमानात्ततस्तस्मादभूत् सूक्तद्वयामृतम् ॥ ७२ ॥
पुरुषस्य हरेः सूक्तं मम सूक्तं तथैव च ।
अन्योन्यशक्तिसम्पृक्तमन्योन्यार्णपरिष्कृतम् ॥ ७३ ॥

उसी समय हम दोनों से एक तेज की उत्पत्ति हुई जिसे शब्दब्रह्म का समुद्र कहा जाता है । फिर उसके मन्थन से अमृत स्वरूप दो सूक्तों की उत्पत्ति हुई । विष्णु का पुरुषसूक्त और मेरा श्रीसूक्त । ये उन दोनों सूक्तों के नाम है । ये दोनों ही परस्पर एक दूसरे की शक्ति से सम्पृक्त है । दोनों ही परस्पर अर्ण (अक्षर) से परिष्कृत हैं ॥ ७२-७३ ॥

विमर्शिनी—मम सूक्तमिति = श्रीसूक्तमित्यर्थः ॥ ७३ ॥

नारायणार्षमव्यक्तं पौरुषं सूक्तमिष्यते ।
अन्यन्मदार्षकं सूक्तं श्रीसूक्तं यत् प्रचक्षते॥ ७४ ॥

एक के स्वयं नारायण ऋषि हैं जो अव्यक्त पुरुषसूक्त कहा जाता है । दूसरा जिसे श्रीसूक्त कहा जाता है—उसकी मै ऋषि हूँ ॥ ७४ ॥

विमर्शिनी—नारायणः पुरुषसूक्तस्य ऋषिरित्यर्थः । मदार्षकमिति । श्रीरहमृषिरित्यर्थः ॥ ७४ ॥

पुरुषसूक्तविधिः

प्रणवाद्याः पुरा मन्त्राः पञ्च सम्यक् प्रदर्शिताः ।
इदानीं शृणु संक्षेपात्तेषामाराधनक्रमम् ॥ ७५ ॥

तारा, अनुतारा, षडक्षर, अष्टाक्षर एवं द्वादशाक्षर—इन पाँच भेदों वाले प्रणव के विषय में मैं पहले कह आई हूँ । अब उन मन्त्रों द्वारा आराधन का क्रम हे इन्द्र ! मुझ से सुनिए ॥ ७५ ॥

विमर्शिनी—पञ्चेति । तारानुताराषडक्षराष्टाक्षरद्वादशाक्षरा इत्यर्थः ॥ ७५ ॥

अष्टादश ऋचः प्रोक्ताः पौरुषे सूक्तसत्तमे ।
ताभिस्तु प्रणवाद्याभिर्भोगानष्टादशोत्तमान् ॥ ७६ ॥

अत्यन्त श्रेष्ठ पुरुषसूक्त में १८ ऋचायें कही गई हैं । उसके आदि में प्रणव लगाकर उन १८ ऋचाओं द्वारा उत्तमोत्तम अष्टादश भोगों से विष्णु की पूजा करनी चाहिये ॥ ७६ ॥

कुर्यादावाहनाद्यांश्च त एतेऽष्टादश स्मृताः ।

आवाहनासने साघ्र्यं पाद्यमाचमनं तथा ॥ ७७ ॥
स्नानं च परिधानं च सोत्तरीयोपवीतकम् ।
गन्धः सुमनसो दीपो धूपश्च मधुपर्कक: ॥ ७८ ॥
प्रापणं सेन्दु ताम्बूलं पादयोः कुसुमाञ्जलिः ।
आत्माराधनदानं च यथेष्टस्थानचिन्तनम् ॥ ७९ ॥

आवाहानादि से लेकर अष्टादश अर्चा के प्रकार इतने हैं—आवाहन, आसन, अर्घ्य, पाद्य, आचमन, स्नान, परिधान (वस्त्र), उत्तरीयसहित यज्ञोपवीत, गन्ध, पुष्प, दीप, धूप, मधुपर्क, प्रापण (नैवेद्य), कर्पूरयुक्त ताम्बूल, पैरो में पुष्पाञ्जलि, आत्माराधन (आत्मसमर्पण), यथेष्टस्थान और चिन्तन (विसर्जन)—ये १८ पूजा के प्रकार हैं ॥ ७७-७९ ॥

विमर्शिनी—प्रापणम् = अन्नादिकं नैवेद्यम् । इन्दुः = घनसारः ॥ ७९ ॥

सर्वलक्षणसम्पन्ना सर्वाधारमयी परा ।
नित्या सम्पूर्णषाड्गुण्या या विष्णोर्मूर्तिरुज्ज्वला ॥ ८० ॥
सैवेयं कथ्यते मूर्तिर्मान्त्री मन्त्रैश्चिदात्मकैः ।
स्वीकारयति तां मन्त्री देवं यत् स्वेन तेजसा ॥ ८१ ॥
तदावाहनमित्युक्तं मन्त्रविज्ञानपारगैः ।

सर्वलक्षणसम्पन्ना, सर्वाधारमयी, परा, नित्या एवं षाड्गुण्ययुक्त जो विष्णु की प्रकाशमयी मूर्त्ति है उसी को चिदात्मक मन्त्रों द्वारा मन्त्र मूर्त्ति कहा जाता है। मन्त्रज्ञ साधक उसमें रहने वाले देव-भोगों को अपने तेज से बुलाकर उन भोगों को जो स्वीकार कराता है उसे **आवाहन** कहा जाता है—यह मन्त्र विज्ञान वेत्ताओं का कथन है । आवाहयति स्वीकारयतीति आवाहनम् ॥ ८०-८२- ॥

स्वस्तिकृत्यै स्वभावेन चेतनाचेतनं हरिः ॥ ८२ ॥
अधितिष्ठति यद्विश्वमासनं तदनु क्रिया ।
ममानन्दमयी शक्तिर्देवस्त्वाप्यायते यया ॥ ८३ ॥
सैवार्घ्याचमनीयादिरूपेत्यर्घ्यादिचिन्तनम् ।

भगवान् विष्णु अपने स्वभाव से जगत् का कल्याण करने के लिये जिस चेतन एवं अचेतन विश्व में अधिष्ठित हैं उसे **आसन** कहते हैं । उसके बाद की जाने वाली क्रिया जो मेरी आनन्दमयी शक्ति है और जिससे देवाधिदेव विष्णु का संवर्धन होता है वही **अर्घ्य** आचमनीयादिरूप है उसी से अर्घ्यादि दिया जाता है ॥ -८२-८४- ॥

अन्नमयाः सकला लोका जीवाश्चैव तदाश्रयाः ॥ ८४ ॥

तच्छेषा उभयेऽपीति द्योत्यते पाद्यदानतः।

यतः सारा लोक जलमय है और समस्त जीव जल के आश्रित है। जल जगत् का उपादान कारण है और जल से जीवन का धारण किया जाता है। अतः पाद्य दान से यह सूचित किया जाता है कि यह सारा जगत् और समस्त जीव इस जल के ही शेष (विशेषण) हैं ॥ -८४-८५- ॥

षोढा विभज्य रूपं स्वं तर्पयामि सनातनम् ॥ ८५ ॥

मैं अपने रूप को छह भागों में विभक्त कर उन सनातन पुरुष को तृप्त करती हूँ। अतः मैं ही अपने पाँचों विषयों से तथा अभिमान से भगवान् की आराधना करती हूँ ॥ -८५ ॥

विमर्शिनी—आवाहयति स्वीकारयति मन्त्रतनूमिति यौगिकार्थः ॥ ८२ ॥ सैवेति। आनन्दमयी शक्तिरेवेत्यर्थः। अम्भयाः; अपां परिणामभूताः; ''अप एव ससर्जादौ'' इति सर्वलोकानां तदुपादानकत्वोक्तेः। तदाश्रयाः; अद्भिर्जीवनधारिणः। जीवानामप्परिणामत्वाभावात् तदाश्रयत्वोक्तिः ॥ ८४ ॥ शब्दादिरूपेणाहमेव भगवन्तमाराधयामीत्यर्थः ॥ ८५ ॥

शब्दाद्यैः पञ्चभिर्भावैरन्तश्चाप्यभिमानतः।
समावेशितसद्भावैर्भोगैः सांदृष्टिकादिकैः ॥ ८६ ॥
आराधयेज्जगन्नाथं सावधानेन चेतसा।
दृष्ट्यैव जन्यते प्रीतिर्येषां सांदृष्टिका मताः ॥ ८७ ॥

वे शब्दादि पाँच (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) विषय तथा अन्तःकरण में रहने वाले अभिमान रूप से छह भाग है। सद्भावना को हृदय में समावेश कर सांदृष्टिकादिक भोगों से जगन्नाथ की आराधना सावधानचित्त से करनी चाहिये। यतः दृष्टिमात्र से उसमें प्रीति हो जाती है अतः वे भोग सांदृष्टिक कहे जाते हैं। १. सांदृष्टिक, २. आम्यवहरिक, ३. सांस्पर्शिक और ४. आभिमानिक भेदों से भोगों के चार प्रकार कहे गए हैं ॥ ८६-८७ ॥

विमर्शिनी—भोगान् सांदृष्टिकाभ्यवहारिकसांस्पर्शिकाभिमानिकभेदेन चतुर्धा विभज्य वर्णयति—दृष्ट्यैवेत्यादिना ॥ ८७ ॥

शुभा रूपोल्बणास्ते च दीपप्रवहणादयः।
भोगाः शुभकराः शश्वत्तर्पयन्ति रसैर्हि ये ॥ ८८ ॥
प्रापणाचमनीयाद्यास्ते स्युराभ्यवहारिकाः।
सुखा रम्या मृदुस्पर्शाः स्पर्शैर्ये तर्पयन्त्यजम् ॥ ८९ ॥
भोगाः सांस्पर्शिकास्ते स्युः पाद्यार्घ्यासनपूर्वकाः।

गन्धाः सांस्पर्शिके केचित् केचिदाभ्यवहारिके ॥ ९० ॥

रूप से उल्वण (तेजस्वी) ये दीप प्रवहणादि शुभकारक हैं । इसलिये ये सांदृष्टिक हैं । यतः भोग सुखकारी होते हैं अतः रस से तृप्त करते हैं । इसलिये नैवेद्यादि उत्तम नैवेद्य आचमनीयादि आभ्यवहारिक कहे जाते हैं । जिनका स्पर्श अत्यन्त कोमल होता है, सुखकारी और मनोहर होता है जो भगवान् विष्णु को स्पर्श मात्र से तृप्त कर देते हैं । वे सांस्पर्शिक भोग कहे जाते है आसनपूर्वक पाद्य अर्घ्य और गन्ध कुछ लोग इनको सांस्पर्शिक कहते हैं और कोई आभ्यवहारिक कहते हैं ॥ ८८-९० ॥

निविष्टा अनिलाद्याः स्युरन्त्याः पाकजगन्धिनः ।
स्तुतिवादित्रगीताद्या भोगाः शब्दमया हि ये ॥ ९१ ॥
दैन्याञ्जलिपुटाद्याश्च ते स्मृता आभिमानिकाः ।
इत्थं चतुर्विधैर्भोगैः शास्त्रदृष्टेन वर्त्मना ॥ ९२ ॥
ऋग्भिः सप्रणवाद्याभिस्तोषयेत् पुरुषोत्तमम् ।
मन्त्रान्ते भोगनिर्देशः प्रीतिश्च तदनन्तरम् ॥ ९३ ॥

पङ्खा आदि को चलाकर सुख देना **सांस्पर्शिक** है । पाकज (पका हुआ) भोजन आम्र केलादि फल **आभ्यवहारिक** है । स्तुति बाजा-गाजा गीत इत्यादि **शब्दमय भोग** हैं । दैन्य प्रगट करना अञ्जलि बाँधना इत्यादि **आभिमानिक भोग** कहे गए हैं । इस प्रकार शास्त्र में कहे गए विधान के अनुसार चारों प्रकार के भोगों से और प्रणव सहित वेद की ऋचाओं से भगवान् पुरुषोत्तम को प्रसन्न करे । मन्त्र का प्रयोग भोग के निर्देश करने के लिये है, जिससे उसके बाद इष्ट देवता की प्रीति बढ़ती है ॥ ९१-९३ ॥

ओंकृत्यर्चमथोच्चार्य प्रणवादीनि पञ्च च ।
आवाहयामि लक्ष्मीशं परमात्मानमव्ययम् ॥ ९४ ॥
आतिष्ठतामिमां मूर्तिं मदनुग्रहकाम्यया ।
श्रिया सार्धं जगन्नाथो दिव्यो नारायणः पुमान् ॥ ९५ ॥
इत्यञ्जलिप्रसूनस्थं स्वमूर्तावक्तार्य च ।
प्रणम्य स्वागतं पृष्ट्वा क्षामयेदनया धिया ॥ ९६ ॥

ॐकार के पश्चात् ऋचाओं का उच्चारण करे अथवा आदि में प्रणव लगाकर तारा, अनुतारिका, षडक्षर, अष्टाक्षर तथा द्वादशाक्षर—इन पाँच का उच्चारण करे । तदनन्तर—

"आवाहयामि लक्ष्मीशं परमात्मानमव्ययम् ।

आतिष्ठतामिमां मूर्त्तिं मदनुग्रहकाम्यया ।
श्रिया सार्धं जगन्नाथो दिव्यो नारायणः पुमान् ॥''

इस श्लोक रूप मन्त्र को पढ़कर अपने अञ्जलि के पुष्पों को स्वनिर्मित मूर्त्ति में चढा देवे फिर प्रणाम करे । स्वागत पूँछ कर इसी प्रकार से क्षमा भी माँगनी चाहिए ॥ ९४-९६ ॥

विमर्शिनी—प्रणवादीनि पञ्चेति । तारानुतारिकाषडक्षराष्टाक्षरद्वादशाक्षरमन्त्रानित्यर्थः ॥ ९४ ॥ स्वमूर्तौ = स्वपरिकल्पितायां मूर्तौ ॥ ९६ ॥

प्रणम्य भगवन् पश्चादासनेनार्चयामि च ।
उक्त्वा मन्त्रानथोच्चार्य त्रिर्निर्दिश्येदमित्यतः॥ ९७ ॥

फिर प्रणाम कर भगवन् कहने के पश्चात् 'आसनेनार्चयामि'—ऐसा कहकर आसन मन्त्र का उच्चारण कर 'इदं इदं इदं' इसे तीन बार कहकर निर्देश करे ॥ ९७ ॥

पश्चात् सनाम निर्दिश्य प्रीतिं पश्चात् समाचरेत् ।
प्रीयतां भगवान् पश्चाद्वासुदेवस्ततः परम् ॥ ९८ ॥

तीन बार 'इदं इदं इदं' कहने के पश्चात् पाद्यम् अर्घ्यम् इत्यादि रीति से भोग के नाम का निर्देश करते हुये भोग्यवस्तु का प्रीतिपूर्वक समर्पण कर पश्चात् 'भगवान् वासुदेवः प्रीयताम्'—ऐसा कहे ॥ ९८ ॥

विमर्शिनी—यह पाद्य है, यह भोग है आदि, इदं इदं इदं कह कर पूजन करना चाहिए ।

सनामेति । इदमिदमिदं पाद्यमित्यादिरीत्या भोगनामनिर्देशपूर्वकमित्यर्थः ॥ ९८ ॥

अर्घ्यं निःस्त्रावयेद्वेद्यामयं भोगविधिक्रमः ।
आसनार्घ्यादि भोगेषु यथालिङ्गं विनिर्दिशेत् ॥ ९९ ॥

अर्घ्य को वेदी पर गिरा देवे । इसी प्रकार सभी भोगों का क्रम है । आसन अर्घ्यादि भोगों के निर्देश में उसके स्वरूप का भी निर्देश करे ॥ ९९॥

आद्ययावाहनं कुर्यादासनं च द्वितीयया ।
अर्घ्यं तृतीयया देयं मूर्ध्न्यापः कुसुमोद्धृताः ॥ १०० ॥

पुरुषसूक्त की पहली ऋचा से आवाहन करे और द्वितीय ऋचा से आसन देवें तथा तृतीय ऋचा से शिर पर फूल संयुक्त जल छिड़के । इसे अर्घ्य भी कहते हैं ॥ १०० ॥

विमर्शिनी—इस सूक्त की अठारह ऋचाओं का विनियोग इस श्लोक से

लेकर १०४ श्लोक तक कहा गया है । आवाहनादिविधानम्—पुरुषसूक्तऋचां भोगप्रदाने विनियोगमाह—आद्ययेत्यादिना ॥ १०० ॥

पाद्यं देयं चतुर्थ्या तु पञ्चम्याचमनीयकम् ।
षष्ठ्या स्नानविधिः कार्यः सप्तम्या परिधानकम् ॥ १०१॥

चौथी ऋचा से पाद्य देवे, पञ्चमी ऋचा से आचमन देवे, षष्ठ ऋचा से सविधिस्नान करावे और सातवीं ऋचा से वस्त्र प्रदान करे ॥ १०१ ॥

अष्टम्योत्तरवासश्च नवम्या गन्धलेपनम् ।
दशम्या स्रगलङ्कारा एकादश्या तु दीपकः ॥ १०२ ॥

अष्टमी ऋचा से उत्तरीय देवे, नवम ऋचा से चन्दनादि गन्ध का अनुलेपन देवे, दशम ऋचा से माला आदि अलङ्कार तथा एकादश ऋचा से दीप प्रदान करे ॥ १०२ ॥

द्वादश्या सुरभिर्धूपः परया मधुपर्ककः ।
प्रापणं तु चतुर्दश्या पञ्चदश्यानुवासनम् ॥ १०३ ॥

बारहवीं ऋचा से सुगन्धित धूप देवें, उसके बाद तेरहवी ऋचा से मधुपर्क, चौदहवीं ऋचा से प्रापण नैवेद्यादि और पन्द्रहवीं ऋचा से भोजनादि के बाद सुगन्धित ताम्बूल इत्रादि प्रदान करे ॥ १०३ ॥

विमर्शिनी—अनुवासनं नाम भोजनानन्तरदेयं मुखशुद्ध्यर्थं सुगन्धितताम्बूलादि-द्रव्यम् ॥ १०३ ॥

षोडश्या तु नमस्कारः परया कुसुमाञ्जलिः ।
अष्टादश्या प्रदानं च समाराधनकर्मणः ॥ १०४ ॥

सोलहवीं ऋचा से नमस्कार, सत्रहवीं ऋचा से पुष्पाञ्जलि और अट्ठारहवीं ऋचा से समाराधन कर्म का समर्पण करे ॥ १०४ ॥

स्नानवासःप्रदीपेषु दद्यादाचमनक्रियाम् ।
पुरस्तादर्हणं कार्यं मधुपर्कान्नदानतः ॥ १०५ ॥

स्नान के अनन्तर वस्त्र धारण के अनन्तर तथा दीप दान के अनन्तर आचमन क्रिया करानी चाहिए । अन्नदान तथा मधुपर्क क्रिया के पहले 'आपोशनम् रूप अर्हण' पूजन करे ॥ १०५ ॥

विमर्शिनी—अर्हणम् = आपोशनम् ॥ १०५ ॥

तर्पणाचमने पश्चात् प्रणवद्वितयेन तु ।

इत्थं स्नानादिभोगेषु देशकालाद्यपेक्षया ॥ १०६ ॥
कुर्याद्राजवदाचारं तत्तन्मन्त्रेण साधकः ।
सङ्कल्पश्च प्रदानं च प्रीतिश्चेति त्रयं त्रयम् ॥ १०७ ॥
कुर्यात् सर्वेषु भोगेषु देशकालाद्यपेक्षया ।
समाहितोऽञ्जलिं कृत्वा तत ॐभगवन्निति ॥ १०८ ॥
आसनेनार्चयिष्यामीत्युक्त्वा दद्यादथासनम् ।
मन्त्रमुच्चार्य निर्दिश्येदिदमासनमित्यतः ॥ १०९ ॥

दो बार प्रणव (ॐकार) उच्चारण करने के पश्चात् देवता को तर्पण और आचमन करावे । इसी प्रकार स्नानादि एवं भोग में भी देश काल की अपेक्षा कर साधक तत्तन्मन्त्रों से राजोपचार का आचार करना चाहिए । सङ्कल्प, प्रदान और प्रीति इन तीन-तीन को देशकाल की अपेक्षा करते हुये सभी भोगों में करना चाहिए । फिर अञ्जलि बाँधकर 'ॐ भगवन् आसनेनार्चयिष्यामि' ऐसा कहकर आसन प्रदान करे । तदनन्तर मन्त्र का उच्चारण कर 'इदमासनम्' यह निर्देश करे ॥ १०६-१०९ ॥

ओमों प्रीयतां भगवन् वासुदेव इति ब्रुवन् ।
अर्घ्यादिजलमादाय स्थापयेद्देवसंनिधौ ॥ ११०॥

'ॐ ॐ प्रीयतां भगवन् वासुदेव'—इतना कहते हुये अर्घ्यादि का जल लेकर देवता के सन्निधान में स्थापित करे ॥ ११० ॥

आभिरर्घ्याभिरित्येवमाभिः पाद्याभिरित्यपि ।
आभिराचमनीयाभिरर्हणीयाभिरित्यपि ॥ १११ ॥
तर्पणीयाभिरद्भिश्च स्नानीयाभिरितीदृशम् ।
प्रीतिसङ्कल्पयोर्वाच्यमिमा अर्घ्या इतीदृशम् ॥ ११२ ॥
वाच्यं प्रदानवेलायां यथालिङ्गमिति क्रमः ।
अर्घ्यादिकल्पनं चाग्रे बहिर्यागे विधास्यते ॥ ११३ ॥

आभिरर्घ्याभिरद्भिः, आभिः पाद्यैरद्भिः, आभिराचमनीयाभिराद्भिः, आभिरर्हणीयाभिरद्भिः, आभिस्तर्पणीयाभिरद्भिः, आभिः स्नानीयाभिरद्भिः भगवन् प्रीयताम्—इत्यादि इस प्रकार का वाक्य प्रीति और सङ्कल्प के विषय में कहना चाहिये और अर्घ्यादि प्रदान काल में इमा अर्घ्याः, इमानि पाद्यानि, इमानि आचमनीयानि—ऐसा वाक्य कहे । इस प्रकार उस सामग्री के स्वरूप वाक्य का प्रयोग करना चाहिये । जिस प्रकार अर्घ्यादि निर्माण किया जाता है, उसे आगे बहिर्याग के प्रकरण में कहेगें ॥ १११-११३ ॥

विमर्शिनी—आभिरर्घ्याभिरित्यादीनाम् अद्भिरिति विशेष्यमुत्तरवाक्याद् अनुषञ्ज-नीयम् ॥ १११ ॥

इति स्त्रगादिभि: षड्भिर्देवदेवं जनार्दनम् ।
पञ्चभिर्वा चतुर्भिर्वा त्रिभिर्द्वाभ्यामथापि वा ॥ ११४ ॥
एकेन वा समाराध्य देशकालानुकूलत: ।
मयैव पूजितं ध्यात्वा देवदेवं जनार्दनम् ॥ ११५ ॥
चन्द्रोदय इवाम्भोधिं सर्वाङ्गपरिबृंहितम् ।

माला, दीप, धूप, मधुपर्क, नैवेद्य और अनुवासन इत्रादि इन छह से, अथवा पाँच से, अथवा चार से, अथवा तीन से, अथवा दो से, अथवा एक उपचार से देशकाल के अनुसार देवाधिदेव जनार्दन की पूजा करे । हे इन्द्र ! मैंने भी देवदेव जनार्दन की सर्वाङ्ग परिबृंहित पूजा चन्द्रोदय से उपबृंहित समुद्र के समान की है ॥ ११४-११६- ॥

विमर्शिनी—स्रक्, दीप:, धूप:, मधुपर्क:, प्रापणम्; अनुवासनमिति षड्भिरित्यर्थ: ॥ ११४ ॥

अनिर्देश्यामनौपम्यामनन्तां भाविनीं सदा ॥ ११६ ॥
आमोदमिव पुष्पस्थं दीपस्थामिव च प्रभाम् ।
विनिष्क्रष्टुमशक्यां मामनन्यां पुरुषोत्तमात् ॥ ११७ ॥

श्रीलक्ष्मी का ध्यान—मैं अनिर्देश्या (इदमित्थं रूप निर्देश से रहित), उपमारहित अनन्ता और भाविनी हूँ, जैसे पुष्प से कोई आमोद (सुगन्धि) को अलग नहीं कर सकता अथवा जैसे दीप में रहने वाली प्रभा को कोई दीप से अलग नहीं कर सकता उसी प्रकार मुझे भी कोई उन पुरुषोत्तम से बाहर निकाल कर अलग नहीं कर सकता ॥ -११६-११७ ॥

विमर्शिनी—अनौपम्यामिति । अनुपमामित्यर्थ. । उपमैवौपम्यम् । स्वार्थे ष्यञ्प्रत्यय: ॥ ११६ ॥ विनिष्क्रष्टुम् = विनिष्क्रमयितुमित्यर्थ: ॥ ११७ ॥

भावयन् विधिवन्मन्त्री लययागेन मां यजेत् ।
तारिकाविधिमन्विष्य तया मां तारिकां यजेत् ॥ ११८ ॥

अत: मन्त्रज्ञ साधक मेरा ध्यान कर लय योग से मेरी पूजा करे । तारिका की विधि का अनुसन्धान कर मुझ तारिका का यजन करना चाहिये ॥ ११८॥

अथ मेघादिवोद्यन्तीं विद्युतं पुरुषोत्तमात् ।
समुद्यन्तीं तदिच्छातो विभाव्य मनसा सुधी: ॥ ११९ ॥

मेघ से जिस प्रकार बिजली प्रकाशित होती है उसी प्रकार पुरुषोत्तम से उनकी इच्छा से प्रकाशित होने वाली मुझ लक्ष्मी का ध्यान कर बुद्धिमान् साधक मेरी मानसिक पूजा करे ॥ ११९ ॥

वामोत्सङ्गे निषण्णां मां देवदेवस्य चिन्तयेत् ।
ऐकध्यमावयोर्ज्ञात्वा स्वभावं च सुशीतलम् ॥ १२० ॥

साधक भगवान् विष्णु के वायें अङ्क में स्थित मेरा ध्यान करे । हम दोनों एक ही प्रकार के है और हम दोनों का एक जैसा सुशीतल स्वभाव है, ऐसा ध्यान करे ॥ १२० ॥

विमर्शिनी—ऐकध्यम् = एकविधत्वम् ॥ १२० ॥

श्रीसूक्तविधिः

ऋग्भ्यां हिरण्यपूर्वाभ्यां प्रपद्येत जनार्दनम् ।
सान्त्वयेच्च पराभ्यां तां मां तावदपृथक्कृताम् ॥ १२१ ॥

(१) 'हिरण्यवर्णा हरिणीम्' (२) 'तं मा आवह जातवेदो' इत्यादि दो ऋचाओं से भगवान् जनार्दन का आवाहन करे । उसके बाद की दो ऋचाओं से विष्णु में मिली हुई एवं उनसे सर्वथा पृथक् न रहने वाली मुझे आवाहित करे ॥ १२१ ॥

विमर्शिनी—ऋग्भ्यामिति । हिरण्यवर्णाम्, तां म आवहेति द्वाभ्यामित्यर्थः ॥ १२१ ॥

पञ्चम्या च प्रपद्येत प्रसन्नां भावयन् धिया ।
ज्ञात्वा पूर्वोक्तसामर्थ्यं तारिकाया यथार्थतः ॥ १२२ ॥
मुद्रासमन्वितो मन्त्रो य आवाहनसंज्ञितः ।
पूरकेण सुरेशान मनसा समुदीरयन् ॥ १२३ ॥
मामथावाहयेद्देवादुत्सङ्गे परमात्मनः ।

इसके बाद वाली पाँचवीं ऋचा से मेरा प्रसन्न रूप में ध्यान करते हुये मेरी शरण में जावे । फिर तारिका (ह्रीं) के यथार्थ रूप से पूर्वोक्त सामर्थ्य का ज्ञान कर मुद्रा प्रदर्शित करते हुये मन्त्रज्ञ साधक मन से पूरक प्राणायाम के मन्त्र का उच्चारण करते हुये आवाहन संज्ञक मन्त्र से परमात्मा के उत्सङ्ग से इस प्रकार के स्वरूपो वाली मेरा आवाहन करे ॥ १२२-१२४- ॥

प्रसन्नवदनां शश्वत् सर्वलक्षणलक्षिताम् ॥ १२४ ॥
पद्मगर्भनिभां कान्तामसितायतलोचनाम् ।

स्फुरत्कटककेयूरहारकुण्डलमण्डिताम् ॥ १२५ ॥

जिनका मुखमण्डल अत्यन्त प्रसन्न है, जो सर्वदा सभी सुलक्षणों से लक्षित हो रही हैं, जिनके शरीर की कान्ति विसतन्तु के समान सर्वदा स्वच्छ है, नेत्र सर्वथा श्वेत तथा विशाल हैं जो देदीप्यमानकटक केयूर हार और कुण्डलों से सुशोभित हो रही हैं ॥ -१२४-१२५ ॥

गम्भीरनाभिं त्रिवलीविभूषिततनूदराम् ।
सुकर्कशदृढोत्तुङ्गपीनवृत्तघनस्तनीम् ॥ १२६ ॥

जिनकी नाभि अत्यन्त गम्भीर है, उदर अत्यन्त सूक्ष्म तथा त्रिवली से विभूषित है स्तन मण्डल अत्यन्त कर्कश, दृढ़, ऊँचा, मोटा तथा गोलाकार एवं घना है ॥ १२६ ॥

चलद्द्विरेफपटलसमाक्रान्तालकावलिम् ।
आरक्ताधरबिम्बां च वंशमुक्ताफलद्विजाम्॥ १२७ ॥

अलकावली चञ्चल भ्रमर पुञ्जों से आक्रान्त है; अधर बिम्ब अत्यन्त आरक्त है और उत्तम मोती के दाने जैसे दाँतों की पङ्क्तियाँ है ॥ १२७ ॥

विमर्शिनी—द्विजा: = दन्ता: ॥ १२७ ॥

अर्धचन्द्रललाटस्थराजमानललाटिकाम् ।
सर्वलक्षणसम्पन्नां कृष्णकुञ्चितमूर्धजाम् ॥ १२८ ॥

अर्धचन्द्र युक्त ललाट में तिलक बिन्दु शोभित हो रहा है, जो सर्वलक्षण सम्पन्न है, जिनके बाल अत्यन्त काले तथा घुँघराले हैं ॥ १२८ ॥

विमर्शिनी—ललाटिका तिलकम् । अलङ्कारे कन् ॥ १२८ ॥

वरदां पङ्कजकरां पद्ममालाविभूषिताम् ।
विष्णुवामभुजाश्लिष्टां तदंसस्थकराम्बुजाम् ॥ १२९ ॥

वर देने वाली जो भगवती अपने हाथों में कमल लिये हुये है, जिनके गले में कमलों की माला शोभित हो रही है, जिन्हें भगवान् विष्णु अपनी बाई भुजा से आश्लेष किये हुये हैं और जो स्वयं विष्णु के कन्धे पर अपना हाथ स्थापित की हैं ॥ १२९ ॥

वामेन बाहुना दिव्यां वहन्तीं पुष्पमञ्जरीम् ।
वरदाभयपाणिं वा पाशाङ्कुशकरां तु वा ॥ १३० ॥

जो भगवती लक्ष्मी अपनी बाई भुजा में पुष्प मञ्जरी को धारण की हुयी

हैं, जिनके कर-कमल वर और अभयमुद्रा से तथा पाश और अंकुश से अलंकृत है ॥ १३० ॥

अर्धस्वस्तिकसंलीनां स्फुरन्मौलिविराजिताम् ।
ध्यात्वा मां संमुखीं कुर्यान्मन्त्रमूर्तिं सनातनीम् ॥ १३१ ॥

श्री की सनातनी मूर्त्ति का ध्यान—जो आसन विशेष वाले अर्द्ध स्वस्तिक चिह्न के समान विष्णु में लीन हैं, जिनके शिर पर जाज्वल्यमान किरीट शोभा पा रहा है इस प्रकार मेरा ध्यान कर साधक मेरी सनातनी मूर्त्ति का प्रत्यक्षीकरण करे ॥ १३१ ॥

विमर्शिनी—स्वस्तिकम् = आसनविशेषः ॥ १३१ ॥

मूलमन्त्रादिकैर्भूयो मन्त्रैः सर्वैश्च पूर्ववत् ।
करन्यासं विना देहन्यासं मयि समाचरेत् ॥ १३२ ॥

फिर सभी मूलमन्त्रों से पूर्ववत् करन्यास न करके मुझ में देहन्यास करना चाहिए ॥ १३२ ॥

पुष्पमर्घ्यं तथा दीपं धूपं माल्यं विलेपनम् ।
चेतसा सादरेणैव पाद्यमाचमनं ततः ॥ १३३ ॥

पुष्प, अर्घ्य, दीप, धूप, माल्य एवं विलेपन (इत्रादि) आदरपूर्वक चित्त से पाद्य आचमन देने के बाद प्रदान करे ॥ १३३ ॥

प्रणाममथवाष्टाङ्गं जयशब्दांश्च मानसान् ।
प्रदर्शयेत्ततो मुद्रा यास्ते पूर्वं प्रदर्शिताः ॥ १३४ ॥

साष्टाङ्ग प्रणाम करे, मानस जय शब्द का उच्चारण करे, फिर जिन-जिन मुद्राओं को हमने आपसे पूर्व में कहा है, उन-उन मुद्राओं को प्रदर्शित करे ॥ १३४ ॥

स्वागतं तव पद्माक्षि संनिधिं भज मेऽम्बुजे ।
गृहाण मानसीं पूजां यथार्थपरिभाविताम् ॥ १३५ ॥

'हे कमल के समान नेत्रों वाली लक्ष्मी ! आपका स्वागत है । हे कमले ! आप मेरा सान्निध्य प्राप्त करे और यथार्थ रूप से की गई मेरी मानसी पूजा को ग्रहण कीजिए'—इस प्रकार फिर 'स्वागतं तव पद्माक्षि'—इत्यादि मन्त्रों को पढ़ते हुये, हे भगवति ! जितनी सामग्री है, उसी के अनुसार मेरी पूजा को ग्रहण करें—इस प्रकार प्रार्थना करे ॥ १३५ ॥

लब्ध्वानुज्ञां ततो मत्तो मानसं यागमाचरेत् ।

सङ्कल्पजनितैर्भोगैः पवित्रैः पारमार्थिकैः ॥ १३६ ॥

तदनन्तर मेरी आज्ञा लेकर सङ्कल्पजन्य पवित्र पारमार्थिक भोगों से मेरे मानस याग का अनुष्ठान करे ॥ १३६ ॥

बाह्यप्रक्रियया शश्वत् परस्ताद्वक्ष्यमाणया ।
मां यजेत सुनिष्णातो भोगैः सांस्पर्शिकादिकैः ॥ १३७ ॥

आगे कही जाने वाली बहिर्याग की प्रक्रिया के अनुसार कुशलतापूर्वक सांदृष्टिक, सांस्पर्शिक, आभ्यवहरिक तथा आभिमानिक भोगों से मेरा यजन करना चाहिए ॥ १३७ ॥

प्रापणान्तं विधायान्ते कारिणं संस्मरेद् गुरुम् ।
जीवन्तमथवातीतं तस्मै दद्यात्ततोऽखिलम् ॥ १३८ ॥

इस प्रकार परिपक्व अन्न फलादि रूप नैवेद्य समर्पण करने के पश्चात् पूजा कराने वाले गुरु का भी ध्यान करे । वे चाहे जीवित हों अथवा अतीत हों उन्हें समस्त भोग दे देना चाहिए ॥ १३८ ॥

वित्तं संविभजेच्चैव प्रापणांशेन मन्त्रवित् ।
जीवतोऽप्यथवातीतान्यथार्थेनैव चेतसा ॥ १३९ ॥

मन्त्र वेत्ता साधक प्रापण के अंश के अनुसार जीवित अथवा अतीत गुरु एवं परम गुरु आदि के लिये यथार्थ चित्त से वित्त का विभाग भी करे ॥१३९॥

परिवारान् स्मरेत् सर्वान् वक्ष्यमाणान् विशेषतः ।
कारणे मयि संलीनान् धानास्थानिव भूरुहान् ॥ १४० ॥

आगे चलकर कहे जाने वाले मेरे समस्त परिवारों का जो साधक मुझ में लीन होकर तथा धान के खेत में खड़े वृक्षों के समान संस्थित है, उनका विशेष रूप से स्मरण करे ॥ १४० ॥

मानसिकहोमविधिः

तत्तन्मन्त्रप्रयोगेण लयप्रक्रियया यजेत् ।
कुर्यान्महानसे होमं मोक्षलक्ष्मीप्रदं शुभम् ॥ १४१ ॥

तत्तत् मन्त्रों का प्रयोग कर लय की प्रक्रिया के अनुसार उनका भी यजन करे । महानस में होम करे जो मोक्ष और लक्ष्मी दोनों को देने वाला है और हितकारी भी है ॥ १४१ ॥

त्रिगुणाधारमध्यस्थे त्रिकोणे त्रिगुणेऽनले ।

ध्यानारणिं तु निर्मथ्य चिदग्निमवतार्य च ॥ १४२ ॥

त्रिगुणाधार के मध्य में रहने वाले, त्रिकोण के त्रिगुण अनल में ध्यानारणि से मन्थन कर उसमें से चिदग्नि निकाले ॥ १४२ ॥

संस्कारैः संस्कृतं कृत्वा वक्ष्यमाणधिया सुधीः ।
त्रिलक्षणाधारगते वैष्णवे जातवेदसि ॥ १४३ ॥
नादावसानगगनात्तारिकायाः परिस्रुतम् ।
ब्रह्म हविर्गृहीत्वाथ ब्रह्मरन्ध्रेण संविशेत् ॥ १४४ ॥

फिर आगे कही जाने वाली वैष्णवी प्रक्रिया के अनुसार उस अग्नि को संस्कार से संस्कृत कर त्रिलक्षणाधार में रहने वाले वैष्णवाग्नि में नादावसान रूप आकाश में रहने वाली तारिका से प्रच्युत ब्रह्म-हवि लेकर ब्रह्मरन्ध्र से, उसमें प्रवेश करे ॥ १४३-१४४ ॥

विमर्शिनी—संस्कारैरिति । वैष्णवीकरणप्रक्रिययेत्यर्थः ॥ १४३ ॥

ततो वह्निगृहं गत्वा सर्पिः संस्कृत्य शास्त्रतः ।
कुर्वीत सकलं कृत्यं तेनाज्येन यथाविधि ॥ १४५ ॥

फिर अग्नि वाले घर में जाकर प्रयत्नपूर्वक घी को शास्त्र की रीति से सुसंस्कृत कर उस घी से विधि के अनुसार सारा कृत्य सम्पादन करे ॥१४५॥

ततो होमावसाने तत्सङ्कल्पः कर्म मानसम् ।
संन्यसेन्मयि भावेन वक्ष्यमाणधिया सुधीः ॥ १४६ ॥

इस प्रकार होम कर लेने के पश्चात् सुधी साधक वक्ष्यमाण प्रक्रिया के अनुसार वह सङ्कल्प रूप मानस कर्म मुझ में समर्पण कर देवें ॥ १४६ ॥

यः क्रमोऽभिहितो बाह्ये स सर्वो मानसेऽत्र तु ।
अवधानेन वा कार्यो मन्मयैर्द्रव्यसञ्चयैः ॥ १४७ ॥

आगे चलकर जो क्रम बहिर्याग में कहा गया है वह सब इस मानस अन्तर्याग में भी करे अथवा सावधान मन से मन्मय होकर होम द्रव्य संगृहीत कर कार्य करे ॥ १४७ ॥

सर्वोपसर्गशमनः सोऽयं सर्वफलप्रदः ।
कथितो मानसो यागः कार्य आदेहपातनात् ॥ १४८ ॥

यह अन्तर्याग समस्त उपद्रवों को शान्त करने वाला है और समस्त फल प्रदान करने वाला है । इस प्रकार हमने मानस अन्तर्याग कहा । जब तक

शरीर न छूटे तब तक इसे निरन्तर करते रहना चाहिये ॥ १४८ ॥

विमर्शिनी—आदेहपातनादिति । अनेन पाञ्चकालिकधर्मनिरतस्य परमैकान्तिनः प्रतिपुरुषं प्रत्यहं च भगवदाराधनमवश्यकर्तव्यं नित्यकर्मेत्युक्तं भवति ॥ १४८ ॥

अथ द्रव्याणि सर्वाणि मन्मयीकृत्य यत्नतः ।
बाह्योत्थवासनाशान्त्यै बाह्ययागमथाचरेत् ॥ १४९ ॥

इसके बाद बहिर्याग के लिये समस्त द्रव्यों को एकत्र कर मुझ में प्रयत्नपूर्वक समर्पण कर किसी बाहरी स्थान में निवास करते हुये शान्ति के लिये बहिर्याग करना चाहिये ॥ १४९ ॥

इत्येवमन्तर्यागस्ते मदीयः शक्र वर्णितः ।
बहिर्यागस्वरूपं तु तत्त्वतो मे निशामय ॥ १५० ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे अन्तर्यागप्रकाशो नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

हे शक्र ! इस प्रकार मेरा जिस प्रकार अन्तर्याग होता है उसकी सारी विधि मैने आपसे कह दी । अब मुझ से बहिर्याग का स्वरूप तत्त्वतः सुनिए ॥ १५० ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के अन्तर्यागप्रकाश नामक छत्तीसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

बाह्ययागप्रकाशः

पूजामण्डपादिपरिकल्पनम्

श्रीरुवाचः—

बहिर्वेद्यादिदेशस्थद्रव्यैर्मद्भावनेक्षितैः ।
भोगभूतैर्यदिज्येऽहं बहिर्यागस्तु स स्मृतः ॥ १ ॥

श्री ने कहा—बहिर्वेद्यादि देश में रहने वाले ऐसे द्रव्य हैं, जो मेरे लिये एकत्रित किये गए भोग के उपकरण स्वरूप हैं, ऐसे द्रव्यों से जो मेरा यजन किया जाता है उसे बहिर्याग कहते हैं ॥ १ ॥

विमर्शिनी—मद्भावनेक्षितैरिति । मदात्मना भावितैरित्यर्थः । भोगभूतैरिति । भोगोपकरणैरित्यर्थः ॥ १ ॥

वासना द्विविधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तरहेतुजा ।
निर्णुदत्यान्तराः सर्वा मानसो याग उत्तमः ॥ २ ॥

बाहर और भीतरी (अन्तःकरण) के हेतुओं से उत्पन्न होने वाली वासना के दो प्रकार हैं, जो अन्तःकरण की प्रेरणा से सारी क्रियायें की जाती हैं ऐसा मानस याग उत्तम याग कहा जाता है ॥ २ ॥

बाह्यशयविशुद्ध्यर्थं बाह्ययागो विधीयते ।
शास्त्रीयां क्षितिमास्थाय मण्डपे तत्र मण्डिते ॥ ३ ॥
ब्रह्मस्थाने विधायाथ वेदिं सर्वगुणान्विताम् ।
अष्टहस्तं तदर्धं वा तदर्धं वापि साधितम् ॥ ४ ॥
प्रशस्तं सुसितं सूत्रं वेदिमध्ये प्रसारयेत् ।

बाहरी वासना की विशुद्धि के लिये बाह्य याग का विधान है । उसकी विधि इस प्रकार है—शास्त्रीय रीति से भूमि का संशोधन कर अत्यन्त अलङ्कृत ब्रह्मभावनाभावित मध्यस्थित मण्डल में सर्वगुणसम्पन्न वेदी का निर्माण कर, आठ हाथ, उसका आधा चार हाथ, अथवा उसका आधा दो हाथ का लम्बा, श्वेतवर्ण का सूत्र वेदी के मध्य में पूर्व दिशा तक फैला देवे ॥ ३-५-॥

विमर्शिनी—आशयः = वासना । ब्रह्मस्थाने = ब्रह्मभावनाभाविते इत्यर्थः ॥

तस्मिन्नुभयतः पार्श्वे मध्यतश्चार्धमध्ययोः ॥ ५ ॥
विधाय त्रीणि चिह्नानि पञ्च शङ्कून् निखानयेत् ।

उसके दोनों पार्श्व के मध्य में और दोनों मध्य भाग के आधे में तीन चिह्न करे और पाँच खूँटी गाड़ देवे ॥ -५-६- ॥

अन्त्ययोस्त्रिषु मध्येषु शङ्क्वोस्तत्र ह्युपान्त्ययोः ॥ ६ ॥
सूत्रमध्यं यतः प्राप्तं तत्र शङ्कुं निधापयेत् ।
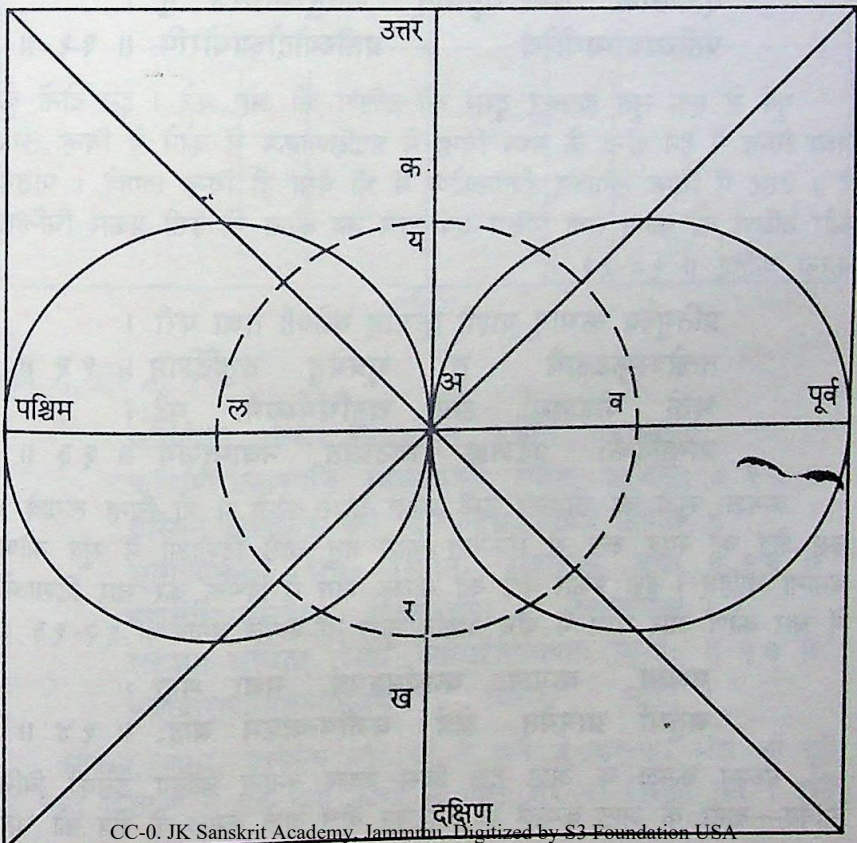
तीन कील मध्य में गाड़कर दो कील शंकु के अन्त में तथा उपान्त्य में गाड़े । इस प्रकार सूत का जहाँ मध्य हों वहीं कील गाड़े ॥ -६-७- ॥

पाशौ द्वौ प्रतिमुच्याथ मध्यचिह्नं समानयेत् ॥ ७ ॥
सव्ये चाप्यपसव्ये च तत्र चिह्ने विधाय च ।
मध्यमे प्रतिमुच्य द्वे सूत्रमध्यं समानयेत् ॥ ८ ॥
चिह्नस्योपरि देशे च क्रमात् सव्यापसव्ययोः ।
सूत्रमध्यं यतः प्राप्तं तत्र शङ्कुं निधापयेत् ॥ ९ ॥

दो सूतों को तानकर वेदी का मध्य निश्चित करे । बायाँ भाग एवं दायाँ भाग चिन्ह लगाकर सूत्र मध्य निश्चित करे । क्रमशः बाएँ एवं दाएँ चिन्ह के ऊपर जहाँ सूत का मध्य हो वहाँ कील गाड़नी चाहिए ॥ -७-९ ॥

पूर्वस्मिन् प्रतिमुच्यैकं पाशं दक्षिणतोऽपरम् ।
कुर्यात् प्रदक्षिणं कोणं मध्यचिह्नेऽनयोस्ततः ॥ १० ॥
ऐशकोणं तथा कुर्यात् प्रतिमुच्योत्तरत्र तु ।
प्रतीच्ययाम्ययोरेवं प्रतीच्योदीच्ययोरपि ॥ ११ ॥

पूर्व से एक सूत हटाकर दूसरे को दक्षिण की ओर करे । इन दोनों के मध्य चिन्ह में इन दोनों के मध्य चिन्ह में प्रदक्षिणाक्रम से कोने में चिन्ह लगा दे । उत्तर में चिन्ह लगाकर ईशानकोण में भी वैसा ही चिन्ह लगावे । पश्चिम और दक्षिण का कोना तथा पश्चिम एवं उत्तर का कोना भी इसी प्रकार चिन्हित करना चाहिए ॥ १०-११ ॥

प्रतिमुच्य क्रमात् पाशौ कुर्यात् कोणौ तथा परौ ।
तत्क्षेत्रस्फुटतायै तु सूत्रयेत्तु चतुर्दिशम् ॥ १२ ॥
भक्ते षोडशधा क्षेत्रे चतुर्भिर्मध्यमैः पदैः ।
प्रागादिकैः प्रदेशैश्च विदधीत नवाम्बुजम् ॥ १३ ॥

क्रमशः सूतों को छोड़कर उसी प्रकार दूसरे कोनों में भी चिन्ह लगावे । उस क्षेत्र को स्पष्ट रूप से संकेतित करने हेतु चारों दिशाओं में सूत्र कोण बनाना चाहिए । इस प्रकार वेदी को सोलह भाग में विभक्त कर चार दिशाओं में चार कोण और मध्य में पाँच अर्थात् कुल नौ कमल बनावे ॥ १२-१३ ॥

मध्यमं कमलं कार्यमष्टपत्रं यथा शृणु ।
चतुर्धा भ्रामयेत् क्षेत्रं वर्जयित्वाष्टमं बहिः ॥ १४ ॥

मध्यम कमल के आठ दल जिस प्रकार बनाना चाहिए उसकी विधि सुनिए—बाहर के आठ कमलों को छोड़कर बीच वाले कमल के क्षेत्र को चार
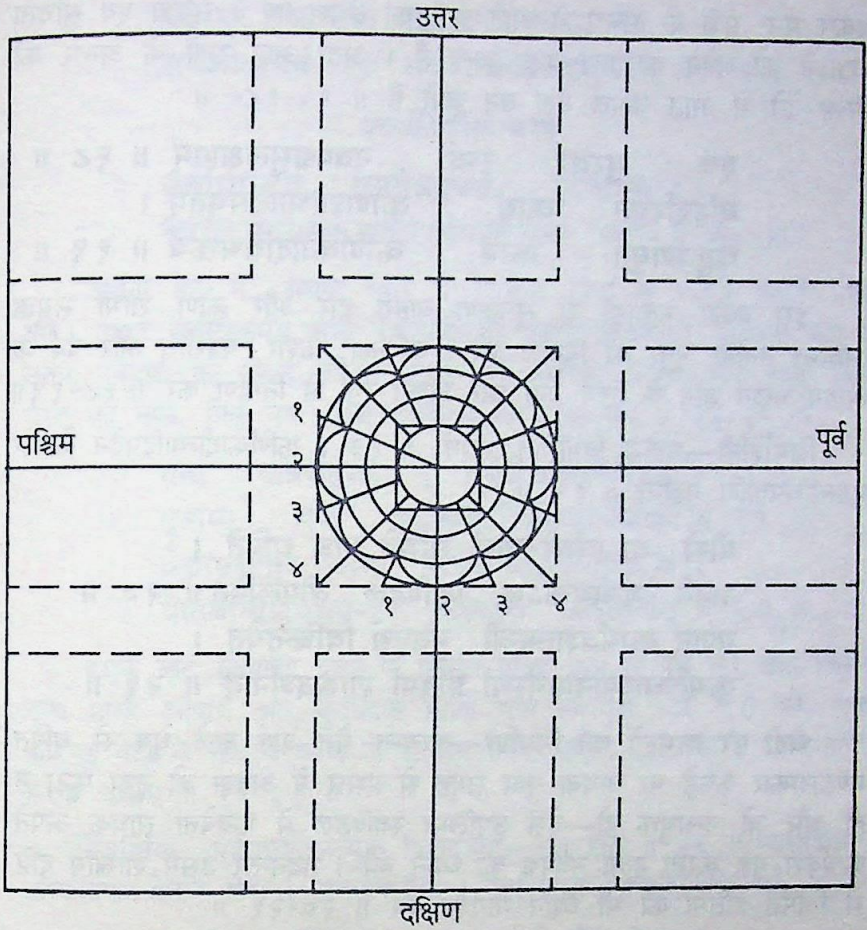
भाग में बाँटे ॥ १४ ॥

कर्णिका केसरं पत्रसंधिः पर्वेति च क्रमात् ।
चत्वांशि प्रमाणानि त्यक्तोंऽशो व्योम तद्बहिः ॥ १५ ॥
तस्मिन् सूत्राष्टकं पद्मे दिग्विदिक्संस्थितं क्षिपेत् ।
सूत्राणामन्तरे भूयः क्षिपेत् सूत्राष्टकं तथा ॥ १६ ॥
पद्मसंधिस्थसूत्रेण दिक्क्रमेण दलाष्टकम् ।
सहजाः सुचिता रेखा व्योमरेखागणाः स्मृताः ॥ १७ ॥
पद्मान्तराणामष्टानामेवमेव विधा भवेत् ।

कर्णिका, केसर, पत्रसन्धि और पर्व के क्रम से चार-चार अंश की दूरी पर चारों दिशाओं में एवं चारों कोणों से आठ सूत्र का विस्तार करे । इसी

प्रकार पुनः सूत्रों के अन्तर में आठ सूत्रों का क्षेपण करे। सहजा एवं सुचिता रेखाओं को व्योम का गण कहा जाता है। अतः आठ सूत्रों के अन्तर को मिला देने से आठ कमल दल बन जाते हैं ॥ १५-१८- ॥

एवं पुरवरं रम्यं नवपद्मसुलक्षणम् ॥ १८ ॥
बहिर्द्वारयुतं कार्यं कोणशोभादिसंयुतम्।
चतुर्वर्णयुतं कार्यं कर्णिकादिविभक्तये ॥ १९ ॥

इस प्रकार नवपद्मों से सुलक्षण बाहरी द्वार और कोण शोभा संयुक्त अत्यन्त मनोहर भूपुर का निर्माण करे। कर्णिका, केशर, पत्रसंधि और पर्व के अलग-अलग ज्ञान के लिये उन्हें चार अलग रंगों से निर्माण करे ॥-१८-१९॥

विमर्शिनी—भक्तेद्ध विभाजित इत्यर्थः ॥ १३ ॥ कर्णिकादीत्यादिपदेन केसर-पत्रसन्धिपर्वाणि गृह्यन्ते ॥ १९ ॥

पौष्पे वा प्रस्तरे वास्त्रे सुसिते वाथ धूपिते।
अहते गन्धयुक्तेऽथ स्थण्डिले वोपलेपिते॥ २० ॥
यजन् कार्यवशान्मन्त्री नवपद्मं विचिन्तयेत्।
कुर्याच्चाध्यानमार्गस्थां प्रतिमां शास्त्रदर्शनात् ॥ २१ ॥

वेदी पर कमलों का निर्माण—अत्यन्त श्वेत वर्ण वाले धूप से धूपित मण्डलाकार कपड़े पर अथवा पुष्प समूह से प्रस्तर में अथवा जो टूटा फूटा न हो और जो गन्धयुक्त हो—ऐसे उपलिप्त स्थण्डिल में मन्त्रवेत्ता साधक अपने कार्यवश यज्ञ करता हुआ नवपद्म का ध्यान करे। तदनन्तर उसमें शास्त्रीय दृष्टि से निर्मित प्रतिमा को भी ध्यान मार्गस्थ करे ॥ २०-२१ ॥

विमर्शिनी—इससे मण्डल के आकार का पुष्प समूह और प्रस्तर भी पूजा का स्थान है इस बात को सूचित किया गया। मण्डलमिव पुष्पप्रस्तरादिकमपि पूजास्थानतया ग्राह्यम् ॥ २० ॥

सौवर्णे राजताद्ये वा दृढे कालादिवर्जिते।
आराधयेद् घटे पूर्णे दध्ना क्षीरेण वारिणा ॥ २२ ॥
प्रशस्तपल्लवाक्रान्ते वस्त्रपट्टादिसंयुते।
विभाव्य नवपद्मं तु पूजयेन्मन्त्रवित्तमः ॥ २३ ॥

अथवा सुवर्ण, चाँदी अथवा अत्यन्त दृढ़ कलश में जो काले वर्ण का न हो, जो दही दूध अथवा जल से परिपूर्ण हो, उत्तमोत्तम प्रशस्त वृक्षों के पत्ते से युक्त हो, वस्त्रादि से आच्छादित हो, ऐसे घट में नवपद्म का ध्यान कर मन्त्रवेत्ता उनका पूजन करे ॥ २२-२३ ॥

घटे पुरे तथार्चायां यद्वा मन्त्री क्रमाद्यजेत् ।
सर्वलोकमयं सर्वगीर्वाणाश्रयमुत्तमम् ॥ २४ ॥

अर्घ्यादिपरिकल्पनम्

सर्वाधारमयं ध्यायेन्नवपद्मं पुरोत्तमम् ।
तारिकाख्यानम:शब्दैरर्च्यमर्घ्यादिना तत: ॥ २५ ॥

अथवा घट में, अथवा भूपुर में, अथवा अर्चा में मन्त्रज्ञ क्रमश: यज्ञ करे। उसमें सर्वलोकमय सभी देवताओं का उत्तम आश्रयभूत सर्वाधार रूप में उत्तम नवपद्मों का ध्यान करे । उसके बाद तारिका (ह्रीं) उसके बाद अर्च्य वस्तु का नाम, फिर नम: शब्द उच्चारण कर पूजा करे ॥ २४-२५ ॥

तत: पात्रचतुष्कं तु हेमादिद्रव्यनिर्मितम् ।
पूताम्बु पूर्णं गन्धस्त्रग्रत्नौषधिकुशोदकै: ॥ २६ ॥
वेद्यामर्चापुर:स्थायां न्यसेत् कोणचतुष्कके ।
यातवीयादिवह्न्यन्ते क्रमादेवं प्रकल्पयेत् ॥ २७ ॥

इसके बाद सुवर्णादि द्रव्यों से निर्मित पवित्र जल से पूर्ण कर तथा जिसमें गन्ध माला औषधि और कुशोदक डाला गया हो ऐसे चार पात्रों को, पूजा की गई वेदी के नैर्ऋत्य कोण से आग्नेय कोण पर्यन्त चारो कोनों पर स्थापित करना चाहिए ॥ २६-२७ ॥

विमर्शिनी—पूर्वमर्घ्यादिनेत्युक्तं विशदयति—तत इति ॥ २६ ॥ न्यसेदिति । अर्घ्यादिपात्रत्वेनेति शेष: । यातवीयादीति । नैर्ऋत्याद्याग्नेयान्तकोणेष्वित्यर्थ: ॥२७॥

अर्घ्यमाचमनीयं च पाद्यं स्नानीयमेव च ।
कल्पयेत् क्रमशो मन्त्री मन्त्रानेतानुदीरयन् ॥ २८ ॥

फिर अर्घ्य, आचमनीय, पाद्य तथा स्नान द्वार क्रम आदि पूर्वक मन्त्रज्ञ साधक इन मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ पूजा करे ॥ २८ ॥

तारं च कल्पयामीति मध्ये संज्ञा: स्युरञ्जसा ।
अनेकार्थं च तत्रार्घ्यं कल्प्यं पात्रेऽथ मध्यत: ॥ २९ ॥
सिद्धार्थकास्तिला दूर्वा: सयवा: सिततण्डुला: ।
तोयक्षीरफलोपेता अर्घ्यद्रव्यमुदाहृतम् ॥ ३० ॥

तार ॐ, इसके बाद अर्चनीय की संज्ञा, फिर नम: पद कहे । अर्घ्य का नाम अनेकार्थ भी है, जिसे सर्वतीर्थतोय भी कहा जाता है । यह उनकी साम्प्रदायिक संज्ञा है, उस अर्घ्यपात्र के मध्य में सिद्धार्थक, तिल, दूर्वा, यव,

श्वेत तण्डुल, जल, दूध और फल भी डाल देवे । ये अर्घ्य के द्रव्य शास्त्र में निर्दिष्ट हैं ॥ २९-३० ॥

विमर्शिनी—ॐ अर्घ्यं परिकल्पयामीत्यादिक्रमेणेति भावः । अनेकार्थमिति । सर्वतीर्थतोयमिति तस्य सांप्रदायिकी प्रसिद्धिः ॥ २९ ॥

पात्रं तारिकयापूर्य सुधासंदोहदेहया ।
तस्मिन्निष्कलसंस्थाने मन्त्रचक्रं विचिन्तयेत् ॥ ३१ ॥

फिर उस अर्घ्यपात्र को अमृत शरीर वाली तारिका (ह्रीं) से पूर्ण कर, फिर उस निष्कल स्थान में मन्त्र चक्र का ध्यान करे ॥ ३१ ॥

निष्कलं मध्यमार्घ्यं तु पूज्य पुष्पादिना पुरा ।
भावनीयं च तत् सम्यगग्नीषोममयात्मना ॥ ३२ ॥

उस निष्कल मध्यम अर्घ्य की सर्वप्रथम पुष्पादि से पूजा कर उसमें अग्नीषोममयी मूर्ति का ध्यान करे ॥ ३२ ॥

विमर्शिनी—पूज्य; पूजयित्वा । भावनीयम् = ध्येयम् ॥ ३२ ॥

पूजाद्रव्यसंस्कारः

एष प्रथमसंस्कारो द्वितीयमवधारय ।
प्रचण्डकिरणव्रातैर्भास्करीयैर्दहेत्तु तत् ॥ ३३ ॥

हे इन्द्र ! इस प्रकार पूजा का प्रथम संस्कार कहा गया । अब दूसरा संस्कार सुनिए । सूर्य के प्रचण्ड किरण समूहों से उसको जला देवे ॥ ३३ ॥

विमर्शिनी—द्वितीयमिति । दाहनप्लावनादिरूपं वक्ष्यमाणमित्यर्थः । दहेदिति । शोषणपूर्वकं दहेदिति संप्रदायः ॥ ३३ ॥

निर्वापयेत्ततो दग्धं शीतपूर्णेन्दुरश्मिभिः ।
ब्रह्मानन्दामृताम्भोधिकल्लोलैः पूरयेत्तु तत् ॥ ३४ ॥
अभिमन्त्र्य तु मुख्यैस्तन्मनुभिस्तारिकादिभिः ।
ततो जलमुपादाय न्यसेत् पात्रान्तरेषु तु ॥ ३५ ॥

फिर चन्द्रमा के शीतपूर्ण रश्मियों में उस जले हुये को शीतल कर देवे, फिर उस ब्रह्मानन्दामृत के समुद्र द्वारा उठी हुई लहरों से उसे परिपूर्ण कर देवे । फिर उसके मुख्य तारिकादि मन्त्रों से अभिमन्त्रित उस सुसंस्कृतजल को अन्य पात्रों में छोड़ देवे ॥ ३४-३५ ॥

विमर्शिनी—तत इति । संस्कृततोयपूर्णात् पात्रादित्यर्थः ॥ ३५ ॥

प्रतिस्वमपि वा कुर्यादीदृशं संस्कृतिक्रमम् ।
आप्यायनं च पात्राणां प्रीतिं चास्मात् समाचरेत् ॥ ३६ ॥

अथवा संस्कृति का यह भी क्रम है कि प्रत्येक पात्र को उस अर्घ्यपात्र के समान बना लेवे । इससे पात्रों का आप्यायन होता है और देवता प्रसन्न होते है ॥ ३६ ॥

विमर्शिनी—प्रतिस्वमिति । प्रत्येकमर्घ्यादिपात्रमित्यर्थः ॥ ३६ ॥

मुद्रा कामदुधा कार्या सौरभेयी स्वमन्त्रतः ।
सुरभिं हिमशैलाभां निराधारपदे स्थिताम् ॥ ३७ ॥

फिर सौरभेयी (गौ) के अपने मन्त्र से कामदुधा मुद्रा बनानी चाहिये । बर्फ के पहाड़ के समान निराधार पद में स्थित सौरभेयी (गौ) का ध्यान करना चाहिए ॥ ३७ ॥

ध्यात्वा तत्स्तनसङ्काशां मुद्रां तां परिदर्शयेत् ।
कराभ्यां गन्धदिग्धाभ्यां सावधानेन चेतसा ॥ ३८ ॥

इस प्रकार सौरभेयी के ध्यान करने के पश्चात्, उसके स्तन के आकार की मुद्रा बनाकर उस सौरभेयी को प्रदर्शित करे । यह मुद्रा दोनों हाथों को गन्धयुक्त बनाकर सावधान चित्त से प्रदर्शित करनी चाहिये ॥ ३८ ॥

अर्घ्यपात्राम्भसा प्रोक्ष्य मण्डलं मण्डपं तथा ।
यागद्रव्याण्यशेषाणि ताडयेदस्त्रमन्त्रतः ॥ ३९ ॥

फिर उस अर्घ्यपात्र से मण्डल और मण्डप का प्रोक्षण कर यज्ञ के लिये एकत्रित सभी द्रव्यों को 'फट्' इस अस्त्र मन्त्र से ताडित करे ॥ ३९ ॥

विमर्शिनी—अस्त्रेति । ॐ वीर्यायास्त्राय फडिति मन्त्रेणेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

मूलेनाप्लावयेत् पश्चात्तत् सर्वं भोगतां व्रजेत् ।
ततो विष्णुं नमस्कृत्य तदङ्कस्थां च पङ्कजाम् ॥ ४० ॥

परिवारध्यानम्

अर्चयेन्मूलमन्त्रेण ह्यामुक्तकुसुमादिभिः ।
अर्घ्यपात्रमथादाय पुष्पं धूपं विलेपनम् ॥ ४१ ॥
दीपं नैवेद्यमप्येवं द्वारयागं ततश्चरेत् ।
उदुम्बरस्य मूले तु बहिर्द्वारस्य मध्यतः ॥ ४२ ॥

फिर मूल मन्त्र से आप्लावित करे । ऐसा करने से वे सभी द्रव्य भोग के

योग्य हो जाते हैं । इसके पश्चात् विष्णु को तथा उनके अङ्क में विराजमान लक्ष्मी को नमस्कार कर मूल मन्त्र से केवल पुष्प से, जो गूँथा हुआ न हो, उससे उनकी पूजा करे । इसके बाद अर्घ्यपात्र लेकर इसी प्रकार पुष्प, धूप, इत्रादि विलेपन, दीप एवं नैवेद्य लेकर द्वारदेश की पूजा करे । बाहरी द्वार पर स्थित उदुम्बर के मूल में और मध्य में पूजा करे ॥ ४०-४२ ॥

विमर्शिनी—यहाँ द्वार के नीचे से लेकर ऊपर तक के भागों में गाड़े गए दो खम्भों को उदुम्बर कहा गया है ।

मूलेन = मूलमन्त्रेणेत्यर्थः ॥ ४० ॥ आमुक्तेति । अग्रथितैः = विरलैरित्यर्थः ॥ ४१ ॥ उदुम्बरशब्दो द्वारस्योर्ध्वाधःप्रदेशनिक्षिप्तदार्वोर्वर्तते ॥ ४२ ॥

भूमिष्ठं क्षेत्रपालं तु यजेद्ध्यानादिसंयुतम् ।
नीलजीमूतसङ्काशं दण्डहस्तं महातनुम् ॥ ४३ ॥
मुष्टिकृद्वामहस्तेन ध्येयः क्षेत्रेश्वरः सदा ।
मुद्रा च दर्शनीयात्र परेष्वेवं विधिः क्रमात् ॥ ४४ ॥
द्वारोपरि स्थितां लक्ष्मीमूर्ध्वसंस्थ उदुम्बरे ।
पङ्केरुहकरां लक्ष्मीं पद्मोपरिगतां यजेत् ॥ ४५ ॥

इसी प्रकार द्वार भूमि पर स्थित क्षेत्रपाल की भी ध्यानादि द्वारा पूजा करनी चाहिए । नीले मेघ की कान्ति के समान जिनके शरीर का वर्ण है, विशाल शरीर और हाथों में दण्ड धारण किये हुये बाये हाथ से मुट्ठी बाँधे हुये हैं, इस प्रकार के आकार वाले क्षेत्रपाल का ध्यान करे । इसी प्रकार जो मुद्रा शत्रुओं को दिखाई जाती है उस प्रकार की विधि से क्रमशः मुद्रा भी प्रदर्शित करे । तदनन्तर द्वार के ऊपरी भाग वाले उदुम्बर (काष्ठ) में संस्थित महालक्ष्मी द्वार की पूजा करे जो कमलासन पर बैठी हुइै हैं तथा जिनके हाथ में कमल पुष्प शोभित हो रहा है ॥ ४३-४५ ॥

विमर्शिनी—क्षेत्रपालरूपमाह—नीलेति ॥ ४३ ॥ लक्ष्मीपूजोच्यते—द्वारोपरीति ॥ ४५ ॥

दक्षिणोत्तरशाखाभ्यां मूले चण्डप्रचण्डकौ ।
तद्वज्जयं च विजयं बाह्ये द्वारस्य चान्तरे ॥ ४६ ॥

फिर द्वार की दक्षिण दिशा में तथा उत्तर दिशा में संस्थित शाखा के दोनों मूलों में चण्ड और प्रचण्ड की पूजा करे । इसी प्रकार द्वार के बाहर एवं भीतर वाले भाग में जय और विजय की पूजा करे ॥ ४६ ॥

विमर्शिनी—शाखा द्वारस्य पार्श्वदारुखण्डः ॥ ४६ ॥

चण्डाद्या विजयान्ताश्च सर्वे ज्ञेयाश्चतुर्भुजाः ।
गदाचक्रधराश्चैव शङ्खहस्ता महाबलाः ॥ ४७ ॥

चण्ड से लेकर विजय पर्यन्त सभी चार भुजा वाले हैं । सभी के हाथों में शङ्ख, चक्र, गदा है और सभी महाबलवान् हैं ॥ ४७ ॥

तर्जयन्तो ह्यभक्तांश्च दोषाणां ध्वंसनोद्यताः ।
इत्थं ध्येयाः समभ्यर्च्य दर्शनीयाश्च मुद्रिकाः ॥ ४८ ॥

जो उनके भक्त नहीं हैं, उन्हें वे तर्जना कर रहे हैं । सभी दोषों के ध्वंस करने के लिये उद्यत हैं । इस प्रकार के स्वरूप वाले इन चण्डादिकों की पूजा कर उनका ध्यान करना चाहिये तथा उन्हें मुद्रायें प्रदर्शित करनी चाहिये ॥४८॥

विमर्शिनी—अभक्तान् । देवाभक्तानित्यर्थः ॥ ४८ ॥

शाखाद्वयस्य मध्ये तु वामदक्षिणतः क्रमात् ।
गङ्गां च यमुनां चैव पूजयेत्तदनन्तरम् ॥ ४९ ॥
हस्ताभ्यां दधती कुम्भं तीर्थेन परिपूरितम् ।
नवयौवनलावण्या श्वेतरूपा स्मिताननना ॥ ५० ॥
गङ्गा ध्येया प्रसन्ना च पूर्णचन्द्रनिभानना ।
तादृशी नीलजीमूतसंनिभा यमुना नदी ॥ ५१ ॥

दोनों शाखाओं के मध्य में बायें और दक्षिण भाग में गङ्गा और यमुना का पूजन करे । तदनन्तर हाथ में तीर्थ से परिपूरित कुम्भ धारण किये नवीन यौवन एवं लावण्य से परिपूरित, श्वेत स्वरूप वाली, मन्द स्मित प्रसन्न एवं पूर्णचन्द्र के समान मुख वाली गङ्गा का ध्यान करना चाहिये । इसी प्रकार नील मेघ वाली यमुना नदी का भी पूजन कर ध्यान करना चाहिये ॥४९-५१॥

विमर्शिनी—शाखाद्वयस्य; द्वारपार्श्वदारुखण्डद्वयस्य ॥ ४९ ॥ गङ्गायमुनयोः रूपमुच्यते—हस्ताभ्यामित्यादिना ॥ ५० ॥

तेनैव क्रमयोगेन द्वारस्याभ्यन्तरे स्थितौ ।
निधीशौ शङ्खपद्माख्यावर्घ्यपुष्पादिभिर्यजेत् ॥ ५२ ॥

उसी क्रम से द्वार के भीतर रहने वाले शङ्ख और पद्म नामक दो निधीशों का भी अर्घ्य पुष्पादि द्वारा पूजन करना चाहिये ॥ ५२ ॥

निधीशौ भावनीयौ तौ निधिभाण्डोपरिस्थितौ ।
स्थूलोदरौ च पिङ्गाक्षौ द्विभुजौ भगवन्मयौ ॥ ५३ ॥

निधि भाण्ड के ऊपर स्थित रहने वाले इन दोनों निधीशों का ध्यान भी करना चाहिये । इनका उदर स्थूल (तुन्दिल) है तथा नेत्र पीले हैं । ये दो भुजा वाले तथा भगवत्स्वरूप हैं ॥ ५३ ॥

कृत्वैवं द्वारयागं तु ततः पुष्पं च संमुखम् ।
अङ्गुष्ठतर्जनीमध्यात्रितयेनास्त्रमन्त्रतः ॥ ५४ ॥
आदाय चाभिमन्त्र्याथ चक्रं तदुपरि स्मरेत् ।
निशितारं ज्वलद्रूपं प्रवर्षदनलाशनि ॥ ५५ ॥
क्षयकृद्विघ्नजालानां न्यसेद्यागगृहान्तरे ।
दक्षिणां तर्जनीं कुर्यात् सम्यगूर्ध्वमुखीं ततः ॥ ५६ ॥
शिखामन्त्रेण संयुक्तां विद्युद्विलसितप्रभाम् ।
स्मृत्वा भ्रामयमाणस्तां संविशेद्यागमन्दिरम् ॥ ५७ ॥

इस प्रकार द्वार याग सम्पन्न कर अंगुष्ठ, तर्जनी और मध्यमा इन तीन अंगुलियों से सामने रखे हुये पुष्पों को लेकर, अस्त्र मन्त्र से अभिमन्त्रित कर, उसके ऊपर चक्र का स्मरण करे । जिसके अरे अत्यन्त तीखे हैं, जिसका रूप देदीप्यमान है । जो अग्नि और वज्र उगल रहे हैं । जो समस्त विघ्न समूहों का नाश करने वाले हैं, ऐसे चक्र का याग ग्रह के भीतर ध्यान करे । फिर दाहिने हाथ की तर्जनी अंगुली को ऊपर उठाकर चमकती बिजली के समान शिखा मन्त्र पढ़कर उसको शिखा को घुमाते हुये ध्यान कर यागमन्दिर में प्रवेश करे ॥ ५४-५७ ॥

अर्घ्यपात्राम्भसास्त्रेण प्रोक्षयेत् स्वकमासनम् ।
तस्मिन्नाधारशक्त्यादि मान्त्रमासनमर्चयेत् ॥ ५८ ॥

तदनन्तर अर्घ्यपात्र के जल से अपने बैठने वाला आसन को अस्त्र-मन्त्र से प्रोक्षित करे । उस पर आधार शक्ति आदि मन्त्र के आसन की पूजा करे ॥ ५८ ॥

तां तां प्रदर्शयेन्मुद्रां यत्र यत्र च या च या ।
तत्रोपविश्य देवेशमर्चयेद्धृदये स्थितम् ॥ ५९ ॥

जहाँ-जहाँ जो-जो है, वहाँ-वहाँ वैसी-वैसी मुद्राओं को प्रदर्शित कर, फिर उस आसन पर बैठकर हृदय में स्थित देवेश विष्णु की अर्चना करे ॥ ५९ ॥

लक्ष्मीनारायणाख्यं तद्धृद्गतं परमं महः ।
दाम्पत्यमनपायं तद्यापयेन्नेत्रयोर्द्वयोः ॥ ६० ॥

हृदय में रहने वाला लक्ष्मीनारायणात्मक जो तेज है और जिसका दाम्पत्य भाव कभी अलग होने वाला या नाश होने वाला नहीं है, उस तेज को अपने दोनों नेत्रों में प्राप्त करना चाहिये ॥ ६० ॥

विमर्शिनी—यापयेत् = गमयेदित्यर्थः ॥ ६० ॥

सर्वं तद्भावमापाद्य पश्येन्निश्चललोचनः ।
मण्डपे वेदिकायां वा यत्र वा यष्टुमिच्छति ॥ ६१ ॥

उनके समस्त भावों को हृदय में स्थापित कर निश्चल नेत्र (एकटक) से मण्डप में अथवा वेदिका में अथवा जहाँ उनकी पूजा करनी है वहाँ उनका ध्यान करना चाहिये ॥ ६१ ॥

अर्घ्यपुष्पादिभिः पूज्यमाधारादिकमासनम् ।
धर्मादिकान् यजेत् पश्चात्तत्तद्दिग्भागगोचरान् ॥ ६२ ॥

सर्वप्रथम अर्घ्य पुष्पादि द्वारा आधारादि आसन की पूजा करनी चाहिये । उसके पश्चात् तद्-तद् कोणों तथा दिशाओं में रहने वाले धर्मादिकों की पूजा करनी चाहिए ॥ ६२ ॥

पद्मार्कमण्डलांश्चैव ततो भावासनावधि ।
उपर्युपरि योगेन ध्यात्वा पुष्पादिनार्चयेत् ॥ ६३ ॥

फिर भावासन पर्यन्त पद्मार्कमण्डलों की पूजा करे । आसन के ऊपर -ऊपर इनका ध्यान करते हुये पुष्पादि द्वारा इनकी पूजा करे ॥ ६३ ॥

मण्डलस्थस्य देवस्य दक्षिणे मण्डलोपरि ।
कृतादियुगपर्यन्ते वायोरीशावधि क्रमात् ॥ ६४ ॥
विभज्य सप्तधा क्षेत्रमादौ गणपतिं यजेत् ।
पद्मासनोपविष्टं तत्केसरे तु दलेऽम्बुजे ॥ ६५ ॥
दधानं चोर्ध्वबाहुभ्यामक्षसूत्रपरश्वथौ ।
वरदाभयमुद्रे च पूर्वहस्तद्वयेन तु ॥ ६६ ॥

दक्षिण मण्डल के ऊपर मण्डलस्थ देवता की पूजा करे । फिर वायु कोण से लेकर ईशान कोण पर्यन्त क्षेत्र को सात भागों में प्रविभक्त करें, उसमें सर्वप्रथम पद्मासन पर बैठे हुये गणपति का यजन करे । उस पद्म के केसर तथा पत्ते पर जो गणपति अपने बाहुओं को ऊपर उठाये हुये, अक्षसूत्र (माला) और परशु धारण किये हुये हैं और अन्य दोनों हाथ वरद एवं अभय मुद्रा से युक्त हैं । उनके वरद और अभय हाथ वाले मुद्रा का ध्यान करे ॥ ६४-६६॥

किंतु मुद्रा विचिन्त्यैवं वरदाभयहस्तयोः ।
तर्जन्यङ्गुष्ठसंसर्गाद् व्याख्यामुद्रासमाकृतिः ॥ ६७ ॥

उन गणपति के एक हाथ की आकृति तर्जनी और अंगुष्ठ के योग से व्याख्या मुद्रा से युक्त है ॥ ६७ ॥

पीनं लम्बोदरं स्थूलमेकदंष्ट्रं गजाननम् ।
केसरेष्वङ्गषट्कं च षट्सु पद्मस्य विन्यसेत् ॥ ६८ ॥

जो लम्बोदर, स्थूल, एक दाँत वाले तथा हाथी के समान मुख वाले हैं । षड्दल कमल के पत्ते के केसरों में छह अङ्गो से न्यास भी करे ॥ ६८ ॥

स्वमन्त्रेणार्चयेन्मुद्रां बद्ध्वा पुष्पादिना सुधीः ।
ततो वागीश्वरीं देवीं स्वमन्त्रेणार्चयेत्सुधीः ॥ ६९ ॥

सुधी साधक मुद्रा बाँधकर उनके मन्त्रों से पुष्पादि द्वारा अर्चन करे । इसके बाद वागीश्वरी देवी का उनके स्वमन्त्रों से अर्चन करे ॥ ६९ ॥

सूर्येन्दुवह्निबिम्बस्थसितपङ्केरुहासनाम् ।
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तामपि साकारतां गताम् ॥ ७० ॥

जो सूर्य, चन्द्रमा एवं वह्नि के विम्ब में रहने वाले श्वेत कमल के आसन पर विराजमान हैं, यद्यपि वे सभी प्रकार की उपाधि (विशेषणों) से रहित हैं फिर साकार रूप में संस्थित रहती हैं ॥ ७० ॥

शक्तिं शब्दात्मिकां साक्षान्मदीयां प्रथमोद्गताम् ।
द्विनेत्रां द्विभुजां श्वेतां शङ्खपङ्कजधारिणीम् ॥ ७१ ॥

वे मेरे द्वारा सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाली मेरी साक्षात् शब्दात्मिका शक्ति हैं। वे दोनों नेत्र एवं दो भुजाओं से संयुक्त श्वेत वर्ण वाली, शङ्ख एवं पद्म धारण की हुई हैं ॥ ७१ ॥

स्फुरत्पीयूषकल्लोलसदृशाभरणाम्बराम् ।
ततो गुरुं तद्गुरुं च लोकसिद्धाकृती च तौ ॥ ७२ ॥

उनके आभरण और वस्त्र देदीप्यमान अमृत लहरी के समान चमक रहे हैं। इसके बाद अपने गुरु और उन गुरु के भी गुरु जो लोकसिद्ध आकृति वाले हैं, उनका पूजन करे ॥ ७२ ॥

लोकसिद्धाकृतिं पश्चात् तद्गुरुं परमेष्ठिनम् ।
ततः पितृगणः पूज्यो ह्यमूर्तः पिण्डसंनिभः ॥ ७३ ॥

उन लोकसिद्धाकृति गुरु तथा उनके गुरु के पूजा के पश्चात् उन गुरु के गुरु की जो परमेष्ठी कहे जाते हैं उनकी भी पूजा करे । इसके बाद अमूर्त्त पिण्ड के समान पितृगणों की पूजा करे ॥ ७३ ॥

आदिसिद्धान् यजेत् पश्चाद्भगवद्ध्यानतत्परान् ।
शान्तान् निमीलिताक्षांश्च शुभाङ्गांस्तेजसाधिकान् ॥ ७४ ॥

इसके बाद भगवद्ध्यान में तत्पर आदि सिद्धों की पूजा करे, जो शान्त मुद्रा में स्थित नेत्र बन्द किये हुये, शुभ अङ्गो वाले तथा अत्यन्त तेजस्वी हैं ॥ ७४ ॥

अनुज्ञां प्राप्य तेभ्यश्च लब्धानुज्ञो यथाक्रमम् ।
आवाह्य मां यजेत् पश्चाद्देवदेवाङ्कसंस्थिताम् ॥
येन येन प्रकारेण तं तं श्रृणु सुरेश्वर ॥ ७५ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे बाह्ययागप्रकाशो नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

...

इसके बाद गुरु, परमगुरु एवं परमेष्ठी गुरुओं की क्रमशः आज्ञा लेकर पश्चात् देवाधिदेव विष्णु के अङ्क में रहने वाली मेरी पूजा आवहनादि उपचारों से करे । अब जिस जिस प्रकार मेरी पूजा करनी चाहिये उन-उन प्रकारों को, हे सुरेश्वर ! सुनिए ॥ ७५ ॥

विमर्शिनी—अनुज्ञां प्राप्येति । गुरुपरमगुर्वादीनामनुज्ञां प्राप्तामनुसन्धाये-त्यर्थः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के बाह्ययागप्रकाश नामक सैंतिसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ३७ ॥

...

अष्टत्रिंशोऽध्यायः

बहिर्यागप्रकाशः

देवस्य सांनिध्ययाचनम्

एको नारायणो देवः पूर्णषाड्गुण्यविग्रहः ।
तस्याहं परमा शक्तिरेकाहंता सनातनी ॥ १ ॥

श्री ने कहा—ज्ञानादि षाड्गुण्य से परिपूर्ण शरीर वाले नारायण देव एक ही हैं । और उनकी 'अहन्ता' नाम वाली सनातनी परमाशक्ति मैं भी एक ही हूँ ॥ १ ॥

साधकानुग्रहार्थाय साहं साकारतां गता ।
अङ्कस्था देवदेवस्य यथा पूज्ये तथा शृणु ॥ २ ॥

मैं देवाधिदेव विष्णु के अङ्क में रहने वाली हूँ । किन्तु भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये साकार रूप में प्रगट होती हूँ । अब हे इन्द्र ! जिस प्रकार मैं भक्तो द्वारा पूजी जाती हूँ, उसे सुनिए ॥ २ ॥

प्राप्यानुज्ञां गणेशादेर्हृत्स्थामावाहयेत्ततः ।
भावयेत् परमात्मानमन्तर्यागाभिपूजितम् ॥ ३ ॥

साधक गणेशादि की आज्ञा लेकर हृदय में रहने वाली मुझ देवी का आवाहन करे । तदनन्तर अन्तर्याग से विभूषित परमात्मा का ध्यान करे ॥ ३॥

पूर्णस्तिमितषाड्गुण्यं मया शक्त्याभिपूरितम् ।
तारकं तत् त्रिरुच्चार्य तारिकां तु त्रिरुच्चरेत् ॥ ४ ॥

वे परमात्मा ज्ञानादि षड्गुणों से परिपूर्ण होते हुये भी किसी प्रकार वे

विकार से रहित है । फिर तीन बार तारक (प्रणव) का उच्चारण करते हुये तीन बार तारिका (ह्रीं) का उच्चारण करे । उसके बाद प्रणव का उच्चारण कर उनका आवाहन करे ॥ ४ ॥

विमर्शिनी—आवाहन मन्त्र इस प्रकार है—ॐ ॐ ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं ॐ ॥ ४ ॥

आवाहयेत् ततो मन्त्रं पुंलिङ्गं समुदीरयन् ।
पुरुषं पुण्डरीकाक्षं पीनोदारचतुर्भुजम् ॥ ५ ॥

उन परमात्मा के नेत्र कमल के समान विशाल है उनकी चार भुजायें पीन और मनोहर है ॥ ५ ॥

विमर्शिनी—पुंलिङ्गं मन्त्रमिति । प्रणवमित्यर्थः ॥ ५ ॥

उच्चरन् परमं मन्त्रं रेचकेन शनैः शनैः ।
अग्नीषोमद्वयान्तःस्थवर्त्मना नासिकोदरात् ॥ ६ ॥
दिव्यशक्तिसमावासं लक्ष्मीशमवतारयेत् ।
अनाहतात् पदाद्यद्वा सर्वतः समतां गतम् ॥ ७ ॥

धीरे-धीरे रेचक द्वारा उक्त परम मन्त्र का उच्चारण करते हुये जिसके भीतर अग्नीषोमात्मक दो मार्ग हैं । ऐसे नासिका के भीतर से दिव्यशक्ति से संयुक्त लक्ष्मीश को उतारना चाहिये । अथवा सर्वत्र समता प्राप्त करने वाले उन्हें अनाहत चक्र द्वारा बाहर निकालना चाहिये ॥ ६-७ ॥

विमर्शिनी—अनाहतं = हृदयस्थं द्वादशदलं पद्मम् ॥ ७ ॥

निर्गतं तु स्मरेद्देवं विद्युत्पुञ्जमिवाम्बुदात् ।
सपुष्पाञ्जलिमध्यस्थं भावासनगतं न्यसेत् ॥ ८ ॥

फिर बादल से निकले विद्युत पुञ्ज के समान नासिका से निकले, उन देवाधिदेव को पुष्पाञ्जलि के मध्य में, भावासन पर बिठाकर, उनका ध्यान करना चाहिए ॥ ८ ॥

संनिधिं संनिरोधं च संस्तम्भं स्थापनं तथा ।
कुर्वन् मुद्राचतुष्कं तु मनसा सम्यगाचरेत् ॥ ९ ॥

फिर उन बैठे हुये देवाधिदेव को सन्निधि सन्निरोध संस्तम्भ तथा स्थापन चार मुद्रायें प्रदर्शित करते हुये मन से ध्यान करे ॥ ९ ॥

विमर्शिनी—संनिध्यादीनां मुद्रा अनन्तरमेव वक्ष्यन्ते ॥ ९ ॥

उत्तानौ संहतौ पाणी कृत्वाङ्गुष्ठद्वयेन तु ।
स्वां स्वां कनिष्ठिकां मृज्यात् संनिधीकरणं तु तत् ॥ १०॥

संन्निधीकरण मुद्रा—दोनों हाथों को उतान कर एक में मिला देवे । फिर दोनों अंगूठों से दोनों कनिष्ठा अंगुलियों का परिमार्जन करें, यह सन्निधिकरण मुद्रा है ॥ १० ॥

अनामयोर्मध्यमयोः कुर्यादुन्मार्जनं तथा ।
संस्तम्भसंनिरोधौ च द्वौ कृतौ भवतस्तदा ॥ ११ ॥

सन्निरोध एवं संस्तम्भ मुद्रा—अनामिका और मध्यमा अंगुलियों का उसी प्रकार उन्मार्जन करे तब संस्तम्भ और सन्निरोध ये दोनों मुद्रायें बन जाती हैं ॥ ११ ॥

कृत्वा चतसृभिर्मुष्टिमङ्गुलीभिः करद्वये ।
तिर्यक् च संमुखीकृत्य न्यसेन्मुष्टिद्वयोपरि ॥ १२ ॥
अङ्गुष्ठद्वितयं शक्र संस्थापनमिदं भवेत् ।
एवंभूतो भवत्येवं तारादिं मन्त्रमुच्चरन् ॥ १३ ॥

स्थापन मुद्रा—दोनों हाथ की चार-चार अंगुलियों से मुट्ठी बनावे, इस प्रकार दोनों मुट्ठियों पर दोनों अंगूठा सामने कर देवे तो संस्थापन मुद्रा बन जाती है ॥ १२-१३ ॥

लययागः

कालं पाद्यार्घ्यदानान्तमुत्थितं भावयेद्धरिम् ।
स्नानाभरणवस्त्रस्रग्दानेऽलङ्करणे तथा ॥ १४ ॥

तदनन्तर उसी काल में (ॐ) आदि मन्त्र का उच्चारण करते हुये पाद्य एवं अर्घ्य दान पर्यन्त भगवान् विष्णु का खड़े रूप में ध्यान करे । उसी प्रकार स्नान, आभरण, वस्त्र, माला तथा अलङ्कार प्रदान कर उनका ध्यान करे ॥ १४ ॥

विमर्शिनी—कालमिति । काले इत्यर्थः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया ॥ १४ ॥

अन्यत्र भोगयागेषु तत्तद्भोगानुकूलतः ।
स्मरेच्छास्त्रीयसंस्थानं सानुकम्पं सुसंमुखम् ॥ १५ ॥
क्लृप्ते तु विग्रहे पूर्वं तथारूपोऽवतिष्ठते ।
भोगेषु दीयमानेषु शक्तिर्या मन्मयी परा ॥ १६ ॥

तत्रस्थां तां स्मरेत् साक्षाताददानो हरिर्यथा ।
आहूतस्य ततः सार्घ्यं पुष्पाणां पूर्णमञ्जलिम् ॥ १७ ॥

अलङ्करणादि प्रदान से अन्यत्र भोग याग में, उन-उन भोगों के अनुकूल उनका शास्त्रीय रूप में, अनुकम्पा युक्त सामने स्थित, विग्रह के रूप में स्थित ध्यान करे । इस प्रकार समस्त भोगों के समर्पण के साथ-साथ उनकी मत्स्वरूपा जो शक्ति है, उस शक्ति का भी वहीं वैसे ही स्मरण करे, जिस प्रकार पूजा भोग ग्रहण करते हुये विष्णु का स्मरण किया गया है ॥ १५-१७॥

विमर्शिनी—सानुकम्पं सुसंमुखमिति च हरिविशेषणम् ॥ आहूतस्येति । सांनिध्यं प्रापितस्येत्यर्थः ॥

विक्षिप्याधोमुखेनैव पाणियुग्मेन मूर्धनि ।
तारेण तारया ह्वाभ्यां नमसा चार्चयेत् क्रमात् ॥ १८ ॥

आवाहन किये गए विष्णु को अर्घ्य सहित पुष्पपूर्ण अञ्जलि एवं अधोमुख दोनों हाथों से विष्णु के शिर पर अर्पण करे । फिर तार ॐ तारया ह्रीं तथा नमः मन्त्र का उच्चारण कर क्रमशः उनका पूजन करे । मन्त्र का स्वरूप—ॐ ह्रीं विष्णवे नमः अर्चयामि ॥ १८ ॥

पुष्पार्घ्यधूपलेपैस्तु मूलमन्त्रादिभिः क्रमात् ।
संक्षेपं विस्तरं चापि यथाकालं समाचरेत् ॥ १९ ॥

इसी प्रकार पुष्प, अर्घ्य, धूप एवं चन्दनादि लेकर मूल मन्त्र पढ़कर संक्षेप अथवा विस्तारपूर्वक जैसा समय हो, उसके अनुसार उनका पूजन करे ॥ १९॥

विमर्शिनी—लेपः = चन्दनाद्यनुलेपः ॥ १९ ॥

शक्तिं तदङ्गसम्पूर्णां निराकारामनूपमाम् ।
तारया पूजयेत् पश्चात्तत्तदङ्गेषु देवताः ॥ २० ॥

इसके पश्चात् आकाररहित एवं उपमारहित शक्ति का भी उनके पूर्ण अङ्गों सहित तथा तत्तदङ्गों में देवता का भी तारा 'ह्रीं' मन्त्र से पूजन करे ॥ २०॥

विमर्शिनी—अनूपमाम्; अनुपमामित्यर्थः ॥ २० ॥

अस्त्रभूषणशक्त्याद्याः स्वैः स्वैर्मन्त्रैः समर्चयेत् ।
अयं यागो लयो नाम महान् सर्वार्थसिद्धिदः ॥ २१ ॥

उनके अस्त्रों, आभूषणों और शक्तियों की उनके-उनके मन्त्रों से अर्चना करे । इस याग का नाम लय है जो महान् सिद्धि प्रदान करता है ॥ २१ ॥

देवीयागः

ततो भगवतो विष्णोः शक्तिसम्पूर्णविग्रहात् ।
सर्वशक्तिमयीं दिव्यामेकां परमभास्वराम् ॥ २२ ॥
षाड्गुण्यविग्रहां देवीमनिर्देश्यामनूपमाम् ।
सर्वत्र सर्वदा विष्णोः सर्वथैवानपायिनीम् ॥ २३ ॥
कृपया साधकार्थाय स्वयं साकारतां गताम् ।
अविहायैव तं देवमाकारं पृथगेयुषीम् ॥ २४ ॥

इसके बाद भगवान् के शक्ति सम्पूर्ण विग्रह से, सर्वशक्तिमयी, दिव्या, परम जाज्वल्यमाना एवं षाड्गुण्यविग्रहा एक देवी जिसका इदमित्थं रूपेण निर्देश नहीं किया जा सकता और जिसकी कोई उपमा नहीं है जो सर्वत्र सर्वदा विष्णु से सर्वथा मिली हुई हैं और जो केवल साधकों के लिये स्वयं साकार रूप में प्रगट होती हैं, ऐसी वह देवी विष्णु को न छोड़कर भी पृथक् रूप से प्रगट होने की भावना करे ॥ २२-२४ ॥

उक्तक्रमेण मां पूर्वं मन्त्रेणावाहयेत् सुधीः ।
आवाहनविधौ प्रोक्तं क्रमं सर्वं समाचरेत् ॥ २५ ॥

इस प्रकार के आकार वाली, मुझे उक्त क्रम से सुधी साधक आवाहन करे। उक्त आवाहन विधि में पूर्व में कहा गया समस्त क्रम करे ॥ २५ ॥

वामोत्सङ्गे निषण्णां च विष्णोर्मां भावयेत् प्रियाम् ।
भावनीयं च मद्रूपं पूर्वमेव निदर्शितम् ॥ २६ ॥

साधक विष्णु के वायें अङ्क में स्थित मुझ विष्णुपत्नी का ध्यान करे, और पूर्व में जिस प्रकार कहा गया है, उस प्रकार मेरे रूप का ध्यान करे ॥ २६॥

पद्मे लक्ष्मीनारायणध्यानम्

तस्यां लयप्रकारेण मयि सर्वं यजेत् क्रमात् ।
ततो विनिःसृतं मत्तः स्मरेच्छक्त्यादिकं क्रमात् ॥ २७ ॥

उस प्रकार वाली मुझ में क्रमशः लय प्रकार द्वारा सारी अर्चना करे । तदनन्तर मेरे शरीर से निकली हुई शक्त्यादिकों का क्रमशः स्मरण करे ॥२७॥

ज्वालायाः सुप्रदीप्तायाः स्फुलिङ्गनिचयं यथा ।
भोगस्थाने यथैकैकं विन्यसेत्तत्तथा शृणु ॥ २८ ॥

जिस प्रकार अत्यन्त प्रदीप्त ज्वाला से एक-एक स्फुलिङ्ग अलग-अलग

निकलते हैं, उसी प्रकार भोग स्थान में निकलती हुई एक-एक शक्तियों का जिस प्रकार विन्यास किया जाता है, हे इन्द्र ! अब उसे सुनिए ॥ २८ ॥

मध्याब्जकर्णिकामध्ये भावासनगतौ स्मरेत् ।
पुरुषं पुण्डरीकाक्षं तदङ्कस्थां च पङ्कजाम् ॥ २९ ॥

मध्य कमल के कर्णिका के मध्य में भावासन पर विराजमान पुरुष रूप वाले पुण्डरीकाक्ष भगवान् विष्णु तथा उनके अङ्क में विराजमान भगवती महालक्ष्मी का स्मरण करे ॥ २९ ॥

प्राच्याब्जकर्णिकामध्ये लक्ष्मीदेहाद्विनिर्गताम् ।
द्विभुजां भावयेल्लक्ष्मीं द्विनेत्रां चारुकुण्डलाम् ॥ ३० ॥

पूर्व दिशा में स्थित कमल की कर्णिका के मध्य में महालक्ष्मी के शरीर से निकली हुई, दो भुजा वाली, दो नेत्रों वाली, अत्यन्त मनोहर कुण्डल धारण किये हुये ऊपर लक्ष्मी का ध्यान करे ॥ ३० ॥

श्वेतमाल्याम्बरधरां हारकेयूरभूषिताम् ।
सर्वलक्षणसम्पन्नां पीनोन्नतपयोधराम् ॥ ३१ ॥
प्रबुद्धोत्पलविस्तीर्णलोचनां सुस्मिताननाम् ।
चलद्द्विरेफपटलरमणीयालकावलिम् ॥ ३२ ॥
लसल्ललाटतिलकामारक्ताधरपल्लवाम् ।
कृष्णकुञ्चितकेशां च वंशमुक्ताफलद्विजाम् ॥ ३३ ॥
पद्मासनोपविष्टां च पाशाङ्कुशकरद्वयीम् ।
पद्मगर्भोपमाकारां संमुखीमावयोः स्मरेत् ॥ ३४ ॥

भगवती लक्ष्मी का ध्यान—जो श्वेत माल्य और अम्बर (वस्त्र) धारण की हुई हार एवं केयूर से भूषित हैं, सर्व लक्षण सम्पन्ना हैं, जिनका स्तनमण्डल पीन और उन्नत है, खिले हुये कमल के समान जिनके विशाल नेत्र हैं, जिनका मुख मण्डल स्मितपूर्ण है, जिनकी रमणीया अलकावली में चञ्चल भौरों के समूह गुञ्जार कर रहे हैं, ललाटपट्ट तिलक से सुशोभित है, अधर पल्लव रक्तवर्ण वाले हैं, घुँघुराले और काले वर्ण वाले जिनके केश हैं, उत्तम मोती के समान जिनके दाँत हैं, जो पद्मासन पर बैठी हुई हैं, जिनके दोनों हाथों में पाश और अंकुश है, ऐसी विसतन्तु के समान उज्ज्वल उस भगवती लक्ष्मी का हम दोनों के सामने स्मरण करे ॥ ३१-३४ ॥

स्मरेद्दक्षिणभागाब्जकर्णिकोदरमध्यगाम् ।
वेषभूषादिभिस्तुल्यां लक्ष्म्याः कुन्दनिभां तु वा ॥ ३५ ॥

कीर्तिं मद्रूपनिष्क्रान्तां सर्वकीर्तिमयीं पराम् ।
आवयोः पश्चिमाब्जस्थकर्णिकासनसंस्थिताम् ॥ ३६ ॥
मद्रूपनिःसृतां ध्यायेत्तादृशीमरुणां जयाम् ।
स्मरेदुत्तरपद्मस्थकर्णिकोदरमध्यगाम् ॥ ३७ ॥
मायां मद्रूपनिष्क्रान्तां तादृशीमरुणां तु वा ।
आग्नेये हृदयं पद्मे शिरो यातुसरोरुहे ॥ ३८ ॥
शिखां तु वायवीयाब्जे वर्म चेशानपङ्कजे ।
मध्यपद्मपुरःपत्रे नेत्रमस्त्रं तु कोणके ॥ ३९ ॥

कीर्ति का ध्यान—तदनन्तर दक्षिण भाग के कमल की कर्णिका के उदर के मध्य में, वेशभूषादि में लक्ष्मी के समान कुन्द के समान वर्ण वाली कीर्त्ति का स्मरण करे । जो मेरे ही स्वरूप से निकली हुई है, सर्वकीर्त्तिमयी परा स्वरूपा है ।

जया का ध्यान—फिर हम दोनों के पश्चिम भाग के कमल की कर्णिका में आसन पर संस्थित मेरे ही स्वरूप से निकली हुई लाल वर्ण वाली जया का स्मरण करे ।

माया का ध्यान—इसके बाद उत्तरभाग के कमल की कर्णिका के उदर के मध्य में मेरे स्वरूप से निकली हुई अरुण वर्ण वाली माया का स्मरण करे । आग्नेयकोण के कमल में हृदय का, नैर्ऋत्यकोण के कमल में शिर का, वायव्यकोण के कमल में शिखा का, ईशानकोण के कमल में वर्म का, मध्यपद्म के प्रथम पत्र में नेत्र का और उसके कोने में अस्त्र का स्मरण करे ॥ ३५-३९ ॥

नेत्रस्य पुरतो देवं वासुदेवं विचिन्तयेत् ।
मध्यदक्षिणदिक्पत्रे स्मरेत् सङ्कर्षणं प्रभुम् ॥ ४० ॥

नेत्र के आगे वासुदेव भगवान् का ध्यान करे । मध्य और दक्षिण दिशा के पत्र में सङ्कर्षण प्रभु का ध्यान करे ॥ ४० ॥

स्मरेन्मध्यसरोजस्य प्रद्युम्नं पश्चिमे दले ।
अनिरुद्धमुदक्संस्थे कोणपत्रयुगद्वये ॥ ४१ ॥

मध्य सरोज के पश्चिम दल में प्रद्युम्न का स्मरण करे । उत्तर दिशा के कोने में स्थित दो पत्रों में अनिरुद्ध का ध्यान करे ॥ ४१ ॥

अस्त्रस्य पृष्ठतो नागान् स्मरेत् पीयूषवर्ष्मणः ।

गुल्गुलुं च गुरुण्डं च मदनं शललं तथा ॥ ४२ ॥

अस्त्र के पीछे अमृत शरीर वाले नागों का स्मरण करे । ये नाग, गुल्गुलु, गुरुण्य, मदन तथा शलल नाम वाले हैं ॥ ४२ ॥

विमर्शिनी—गुल्गुल्वादयः नागानां संज्ञाः ॥ ४२ ॥

सुधाकुम्भकरान् शङ्खकुन्दगौरांश्चतूरदान् ।
लक्ष्मीकमलपत्रेषु सर्वतः कौस्तुभं न्यसेत् ॥ ४३ ॥

इनके हाथों में अमृतकुम्भ है, ये सभी शङ्ख कुन्द के समान गौर वर्ण वाले हैं, इनके चार दाँत हैं । लक्ष्मी के कमलपत्र में चारो ओर कौस्तुभ का न्यास करे ॥ ४३ ॥

हृत्पङ्कजदलेष्वेवं वनमालां निवेशयेत् ।
कीर्तिपङ्कजपत्रेषु भूषापद्मं निवेशयेत् ॥ ४४ ॥

इसी प्रकार हृदय के पङ्कज दल में वनमाला का न्यास करे । कीर्त्ति के पङ्कजदल में भूषण और पद्म का न्यास करे ॥ ४४ ॥

जयापङ्कजपत्रेषु वर्म पद्मदलेषु च ।
पद्मेषु विन्यसेदेवं पद्मपत्रचतुष्टये ॥ ४५ ॥

जया के पङ्कज पत्र में, पद्मदल में और पद्म में तथा पद्मपत्र चतुष्टय में वर्म का न्यास करे ॥ ४५ ॥

शिरःपङ्कजपत्रेषु न्यसेदङ्कुशमुत्तमम् ।
न्यसेद् द्वारचतुष्काग्रे गरुडं पततां वरम् ॥ ४६ ॥

शिरःस्थ पङ्कजपत्र में उत्तम अंकुश का न्यास करना चाहिये । चार द्वारों के अग्रभाग में पक्षियों में श्रेष्ठ गरुड़ का न्यास करे ॥ ४६ ॥

नागान् वा तत आत्मीयद्वाराग्रेषु नियोजयेत् ।
पूर्वद्वारभुवि न्यस्येत् पद्महस्तां बलाकिकाम् ॥ ४७ ॥

उसके बाद आत्मीय द्वारों में नागों का नियोजन करे । पूर्व द्वार के भूभाग में पद्महस्त बलाकिका का न्यास करे ॥ ४७ ॥

श्वेतां कमलपत्राक्षीं प्रसन्नां वामनाकृतिम् ।
दक्षिणद्वारतस्तद्वन्नीलां तु वनमालिकाम् ॥ ४८ ॥

जिसका शरीर श्वेत वर्ण का है, नेत्र कमल के समान है और आकृति वामन है और प्रसन्नमुख हैं । दक्षिण द्वार के भूभाग में नील वर्ण वाली वनमालिका का न्यास करे ॥ ४८ ॥

पश्चिमद्वारमध्ये तु रक्तवर्णां विभीषिकाम् ।
उदीच्यद्वारमध्ये तु शङ्करीं मधुदीधितिम् ॥ ४९ ॥

पश्चिमद्वार के मध्य में रक्तवर्णा बिभीषका का तथा उत्तर दिशा के द्वार में कल्याणकारिणी मधुदीधिति का न्यास करे ॥ ४९ ॥

प्रागादीशानपर्यन्ते बहिर्द्वारप्रदेशतः ।
इन्द्रादीन् संस्मरेदष्टौ लोकपालान् सवाहनान् ॥ ५० ॥

फिर द्वार प्रदेश के बाहर पूर्व दिशा से ईशान पर्यन्त चारों दिशाओं और चारो कोनों में वाहन सहित इन्द्रादि अष्टलोकपालों का न्यास करे ॥ ५० ॥

अत ऊर्ध्वं च नागेशं ब्रह्माणं च विचिन्तयेत् ।
तद्बहिश्च तदस्त्राणि वज्रादीनि विचिन्तयेत् ॥ ५१ ॥
सोमशङ्करदिङ्मध्ये खस्थितं संस्मरेत् प्रभुम् ।
विष्वक्सेनमुदाराङ्गमायान्तं गगनान्तरात् ॥ ५२ ॥

इसके बाद ऊपर नागेश और ब्रह्मदेव का स्मरण करे । उन लोकपालो के बाहर उनके वज्रादि अस्त्रों का ध्यान करे । उत्तर और ईशानकोण के मध्य में उदार अङ्ग वाले गगन से आते हुए विष्वक्सेन प्रभु का स्वयं भगवान् को संस्थित समझ कर ध्यान करे ॥ ५१-५२ ॥

अनुक्तानामिदानीं मे ध्यानं शृणु पुरन्दर ।
अमृतात्मानमभ्राङ्गं पुण्डरीकायतेक्षणम् ॥ ५३ ॥
शङ्खचक्रगदापद्मधरं श्रीवत्सवक्षसम् ।
पीताम्बरं चतुर्बाहुं वासुदेवं विचिन्तयेत् ॥ ५४ ॥

अब हे पुरन्दर ! जिनको अभी तक नहीं कहा गया है उनके ध्यान का विधान सुनिए । बादल के समान शरीर वाले, अमृतात्मा, कमल के समान नेत्र वाले, शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण करने वाले वक्षःस्थल पर श्रीवत्स का चिन्ह धारण करने वाले पीताम्बर धारण करने वाले चार भुजाओं वाले भगवान् **वासुदेव** का चिन्तन करना चाहिये ॥ ५३-५४ ॥

तुषारनिचयाकारं नीलवस्त्रं चतुर्भुजम् ।
स्मरेत् सङ्कर्षणं सीरसौनन्दकधरं परम् ॥ ५५ ॥

अत्यन्त स्वच्छ हिम समूह के समान श्वेत कान्ति वाले, नील वस्त्र धारण किये हुये चतुर्भुज हल और सौनन्दक नामक गदा धारण करने वाले **सङ्कर्षण** प्रभु का ध्यान करे ॥ ५५ ॥

विमर्शिनी—सौनन्दकः = कामपालस्य गदा ॥ ५५ ॥

वरदाभयहस्तं च निमग्नोद्धरणक्षमम् ।
प्रद्युम्नं संस्मरेद्रक्तं रक्तवाससमीश्वरम् ॥ ५६ ॥

हाथ में वर और अभयमुद्रा धारण किये हुये, डूबते हुये को बचाने में सर्वथा समर्थ, लाल वर्ण वाले और रक्त वस्त्रों को धारण किये हुये **प्रद्युम्न** का स्मरण करे ॥ ५६ ॥

शार्ङ्गं शरांश्च बिभ्राणं वरदं चाभयप्रदम् ।
संस्मरेदनिरुद्धं च पीतं विशदवाससम् ॥ ५७ ॥
खड्गखेटकहस्तं च वराभयकरं परम् ।
आसीनाः सर्व एवैते पुरुषाः पुष्करेक्षणाः ॥ ५८ ॥

शार्ङ्ग नामक धनुष वाण धारण किये हुये, वरद तथा अभय प्रदान करने वाले, पीत वर्ण वाले तथा विशद (लम्बे) परिधान धारण किये हुये **अनिरुद्ध** का स्मरण करे । खड्ग, ढाल तथा वर एवं अभय मुद्रा धारण किये हुये परदेव का भी स्मरण करे । ये सभी महापुरुष अपने अपने स्थानों पर आसीन हैं सभी के नेत्र कमल के समान मनोहर और विशद है ॥ ५८ ॥

पश्यन्तो दिशमीशानां मां च विष्णुं च शाश्वतम् ।
सिञ्चन्तोऽमृतकुम्भैर्नौ हिमशैलनिभा गजाः ॥ ५९ ॥

अपने-अपने दिशाओं के मालिकों की ओर देखते हुये, हिम शैल के समान श्वेत वर्ण वाले, दिग्गज, अमृत कुम्भों से हम दोनों मुझ लक्ष्मी तथा विष्णु को अमृतपूर्ण घटों से स्नान करा रहे हैं, ऐसा ध्यान करे ॥ ५९ ॥

सितशोणितवर्णाङ्गं शुक्लवस्त्रं चतुर्भुजम् ।
पद्मासनोपविष्टं च पद्मशङ्खकराङ्कितम् ॥ ६० ॥
हन्मुद्रालंकृतकरं वामेनाभयदं सदा ।
सिताभरणवस्त्राढ्यं कर्पूरालिप्तविग्रहम् ॥ ६१ ॥
आवयोः संमुखासीनं हन्मन्त्रं संस्मरेद् बुधः ।

श्वेत और रक्त वर्ण के अङ्गों वाले, शुक्ल वस्त्र धारण किये, चार भुजाओं वाले, पद्मासन पर बैठे हुये, हाथ में कमल और शङ्ख लिये हुये, 'नभ' मुद्रा से अलंकृत, बायें हाथ से सदा अभयदान करते हुये, श्वेत वस्त्र और अलङ्कार धारण किये हुये, शरीर में कपूर का लेप लगाये हुये और हम दोनों के सामने ही बैठे हुये बुध साधक हन्मन्त्र का स्मरण करे ॥ ६०-६२- ॥

बन्धुजीवोपमं रक्तं पद्मचक्रधरं परम् ॥ ६२ ॥

जिनके शरीर का वर्ण बन्धुजीव (दुपहरिया) के पुष्प के समान सर्वथा रक्त वर्ण है और जो पद्म और चक्र धारण किये हुये हैं ॥ -६२ ॥

काकालिकज्जलश्यामं पद्मकौमोदकीधरम् ।
दक्षिणेनात्ममुद्राढ्यं परेणाभयदायिनम् ॥ ६३ ॥
लिप्तं मृगमदेनैव पुष्पाद्यैरसितैर्युतम् ।
आवयोः संमुखासीनं कवचं संस्मरेत् प्रभुम् ॥ ६४ ॥

काक, भौंरे तथा कज्जल के समान अत्यन्त काले वर्ण वाले, अथवा अत्यन्त काले काक के समान काले, पद्म और कौमोदकी गदा धारण किये हुये, दाहिने हाथ से आत्ममुद्रा तथा अन्य बाये हाथ से अभयमुद्रा धारण किये हुये, कस्तूरी के लेप से संयुक्त एवं काले पुष्पादि से समन्वित हम दोनों के सामने ही बैठे हुये प्रभु **कवच मन्त्र** का संस्मरण करे ॥ ६३-६४ ॥

विमर्शिनी—काक इव, अलिरिव, कज्जलमिव च श्यामः; तमित्यर्थः । अथवा काकालिः अत्यन्त कृष्णवर्णः काकविशेषः ॥ ६३ ॥

हरिद्रारुणसङ्काशं गदापद्मधरं क्रमात् ।
स्वमुद्राकरणव्यग्रपूर्वभागकरद्वयम् ॥ ६५ ॥
सौवर्णाम्बरभूषाढ्यं प्रलयानलविक्रमम् ।
आवयोः संमुखासीनं स्मरेदस्त्रं महोद्यमम् ॥ ६६ ॥

हरिद्रा के समान लाल वर्ण वाले, गदा पद्म धारण किये हुये, जिनके दोनों हाथों के पूर्व भाग स्वमुद्रा (अस्त्र मुद्रा) बनाने में व्यग्र हैं, जो सुवर्ण के समान चमकीले वस्त्र तथा आभूषणों से सुशोभित हो रहे हैं, जिनका विक्रम (पुरुषार्थ) प्रलयकालीन वायु के समान है और जो हम दोनों के सामने बैठे हुये हैं ऐसे महान् उद्यम वाले **अस्त्र मन्त्र** का स्मरण करे ॥ ६५-६६ ॥

नारीर्वा संस्मरेदेतान् हृदादीन् साधकोत्तमः ।
उक्तभूषणवेषाढ्याः स्वानुरूपानुलेपनाः ॥ ६७ ॥

अथवा साधकोत्तम इन हृदादिकों का नारी रूप में स्मरण करें, जो ऊपर कहे गए भूषण और वेष से अलंकृत हैं और अपने रूपों के अनुरूप सुगन्धित लेप लगाये हुये हैं ॥ ६७ ॥

इत्युक्तं ध्यानमङ्गानां सर्वपापहरं शुभम् ।
कौस्तुभं द्विभुजं ध्यायेत् सहस्रार्कसमप्रभम् ॥ ६८ ॥

कौस्तुभमणि का ध्यान—हे इन्द्र ! इस प्रकार हमने अङ्गों के ध्यान का

निरूपण किया जो सर्वथा कल्याणकारी एवं पापों को नष्ट करने वाला है। इसके बाद दो भुजा वाले सहस्रों सूर्य के समान प्रकाश वाले कौस्तुभ (मणि) का ध्यान करे ॥ ६८ ॥

प्रदीप्तवेषभूषाढ्यं स्वमुद्रां दधतं हृदि ।
पञ्चवर्णकृतां कान्तां वनमालां शुभेक्षणाम् ॥ ६९ ॥
प्रौढस्त्रीसदृशीं मुद्रां दधतीं हस्तयोर्द्वयोः ।
पद्मं पद्ममुखं ध्यायेत् प्रसन्नं चन्द्रसंनिभम् ॥ ७० ॥

वनमाला एवं कमल का ध्यान—जो प्रदीप्त वेष और भूषण से अलंकृत है, हृदय में अपनी मुद्रा धारण किये हुये हैं। इसके बाद पञ्चवर्ण से बनाई वनमाला का ध्यान करे। जो दर्शन मात्र से कल्याण कर देती है और अपने दोनों हाथों में प्रौढ़ स्त्री के समान मुद्रा धारण की हुई है, इसके बाद चन्द्रमा के समान स्वच्छ शीतल प्रसन्न पद्ममुख वाले कमल का ध्यान करे ॥६९-७०॥

विमर्शिनी—वनमालामिति । ध्यायेदिति शेषः ॥ ६९ ॥

द्विभुजं चारुसर्वाङ्गं कराभ्यां मुद्रिकां दधत् ।
नवदूर्वाङ्कुरश्यामं पाशेशं पन्नगाननम् ॥ ७१ ॥
द्विभुजं याम्यहस्तेन स्वां मुद्रां दधतं परम् ।
तथा वरदहस्तं च भीमरूपं भयावहम् ॥ ७२ ॥

वरुण का ध्यान—दो भुजायें हैं, जो सर्वथा सभी अङ्गों से मनोहर है, हाथों में मुद्रिका (अंगूठी) धारण किये हुये है, दूर्वा दल के समान जिनके शरीर की कान्ति है, ऐसे सर्पमुख वाले पाशेश (वरुण) का ध्यान करना चाहिए। जो वरुण दो भुजा वाले, अपने दाहिने हाथ में पाश मुद्रा धारण किये हुये और दूसरे हाथ में वर मुद्रा धारण किये हुये भीम रूप वाले भयावने है उनका ध्यान करे ॥ ७१-७२ ॥

विमर्शिनी—याम्यहस्तेन । दक्षिणहस्तेनेत्यर्थः ॥ ७२ ॥

संस्मरेदङ्कुशं तीक्ष्णं दीर्घनासं भयानकम् ।
याम्येन दधतं मुद्रां पाणिना सव्यतो वरम् ॥ ७३ ॥

अंकुश का ध्यान—इसके बाद लम्बी नासिका वाले अत्यन्त तीक्ष्ण महाभयानक अंकुश का स्मरण करे जो अपने दाहिने हाथ में अंकुश मुद्रा तथा बायें हाथ में वर मुद्रा धारण किये हुये हैं ॥ ७३ ॥

प्रसिद्धा लोकपालास्ते वेषाकृतिविभूषणैः ।
नराकृतीनि शस्त्राणि चिह्नयुक्तानि मूर्धनि ॥ ७४ ॥

लोकपालों का ध्यान—इसी प्रकार वेषों आकृतियों तथा विभूषणों से सुसज्जित प्रसिद्ध लोकपालों का भी ध्यान करे, जिनके मस्तकों पर मनुष्य शरीर धारण किये हुये शस्त्रों का चिह्न विद्यमान है ॥ ७४ ॥

शङ्खचक्रधरो ध्येयो विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः ।
साक्षाद्विष्णुसमो मुद्राव्यापृतोऽन्यकरद्वये ॥ ७५ ॥

विष्वक्सेन का ध्यान—शङ्ख एवं चक्र धारण किये हुये चार भुजाओं वाले विष्वक्सेन का ध्यान करे, जो साक्षात् विष्णु के समान है, अन्य दोनों हाथों में जो मुद्रा धारण किये हुये हैं ॥ ७५ ॥

द्वाराग्रस्थं ततो ध्यायेद्गरुडं भीमलोचनम् ।
रक्ततुण्डं महाघोणं तप्तचामीकरप्रभम् ॥ ७६ ॥
पृथुदंष्ट्रं गृधवक्त्रं पक्षमण्डलमण्डितम् ।
इति ते परिवाराणां ध्यानमुक्तं समासतः ॥ ७७ ॥

गरुड़ का ध्यान—द्वार के अग्रभाग में भयानक नेत्र वाले गरुड़ का ध्यान करे, जिनका तुण्ड (चोंच) रक्तवर्ण का है और जिनके शरीर की कान्ति तपाये हुये सुवर्ण के सदृश है । जिनके दाँत अत्यन्त मोटे हैं, मुख गृध्र के समान है, जो पक्ष मण्डल से मण्डित है । हे इन्द्र ! इस प्रकार हमने विष्णु के समस्त परिवारों के ध्यान का वर्णन संक्षेप में किया ॥ ७६-७७ ॥

आवयोः स्थूलयोरूर्ध्वे स्मरेत् सूक्ष्मां तु तारिकाम् ।
दाम्पत्यं बिभ्रतीं सूक्ष्मां लक्ष्यालक्ष्यामिवानघाम् ॥ ७८ ॥

हम दोनों के स्थूल शरीर के ऊपर सूक्ष्म शरीर वाली तारिका ह्रीं का ध्यान करे । जो सूक्ष्म रूप से दाम्पत्य (स्त्री और पुरुष) धारण की हुई है, जो अपने निष्पाप रूप से दिखाई पड़ने वाली है और अलक्षित भी है ॥ ७८ ॥

तदूर्ध्वे तु परां तारां पूर्णषाड्गुण्यचिन्मयीम् ।
दाम्पत्यमावयोर्दिव्यं तत्परं पारमेश्वरम् ॥ ७९ ॥

उनके भी ऊपर परा तारा का ध्यान करे जो षाड्गुण्य से परिपूर्ण और चिन्मयी है, उसके बाद परमेश्वर स्वरूप वाले हम दोनों दम्पतियों का स्मरण करना चाहिए ॥ ७९ ॥

सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
शब्दार्थौ भासयत् स्वेन तेजसा नित्यमुद्यता ॥ ८० ॥
प्रतिबिम्बमिवैतस्मिन् मन्त्रचक्रमशेषतः ।

एवं क्रमोत्क्रमाकारैस्तारिकां विततां पराम् ॥ ८१ ॥
भावेन तत्त्वतो बुद्ध्वा यथान्यासं समर्चयेत् ।
आदितः सकलावासावर्चयेन्नौ धियानघौ ॥ ८२ ॥

हम दोनों के उस पारमेश्वर स्वरूप का पाणि और पाद सर्वत्र फैला हुआ है और सर्वत्र हम लोगों के अक्षि शिर एवं मुख व्याप्त हैं, निरन्तर अपने उदीयमान तेज से शब्द और अर्थों का बोध कराता हुआ समस्त मन्त्र चक्र प्रतिबिम्ब के समान इसी पारमेश्वर रूप में स्थित रहता है । इस प्रकार क्रम से तथा उत्क्रम रूप से सर्वत्र विस्तृत रूप से रहने वाली तारिका को भाव द्वारा यथार्थ रूप से जानकर न्यास के अनुसार इनकी भी अर्चना करे, सर्वप्रथम साधक सबके निवास की भूमि सर्वथा निष्पाप हम दोनों को अर्चना करे ॥ ८०-८२ ॥

अर्घ्यादिप्रापणान्तेन भोगजालेन मन्त्रवित् ।
शक्त्यादिविष्वक्सेनान्तं परिवारं ततोऽर्चयेत् ॥ ८३ ॥

इसके बाद मन्त्रवेत्ता अर्घ्यदान से लेकर प्रापण (नैवेद्य भोग) पर्यन्त समस्त भोगजाल से शक्ति से लेकर विष्वक्सेन पर्यन्त भगवान् विष्णु के परिवार की अर्चना करे ॥ ८३ ॥

सर्वादौ गरुडं देवीश्चतस्रो द्वारपालिकाः ।
भोगयागक्रमेणायं न्यासस्ते शक्र दर्शितः ।
यावन्तो यादृशा ये च भोगास्तांस्त्वं निबोध मे ॥ ८४ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे बहिर्यागप्रकाशो नामाष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

...✿...

सर्वप्रथम गरुड़ की तथा वलाकिकादि चार द्वारपालिकाओं की अर्चना करे। अब हे शक्र ! इस प्रकार भोग याग के क्रम से हमने न्यास प्रदर्शित किया । अब जो जो जितने-जितने जैसे-जैसे भोग हैं, उनका तत्त्व सुनिए ॥ ८४ ॥

विमर्शिनी—द्वारपालिकाः बलाकिकादयः पूर्वं ४७, ४८, ४९ श्लोकेषूक्ताः ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के बहिर्यागप्रकाश नामक अड़तीसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ३८ ॥

...✿...

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

बहिर्यागप्रकाशः

मन्त्रासनार्चनम्

शृणु भोगान् सुरेशान दत्तैस्तुष्यामि यैरहम् ।
येषु मे वितता शक्तिर्भोग्यभोगाय तिष्ठते ॥ १ ॥

अब हे सुरेशान ! जिन भोगों के समर्पण से मैं संतुष्ट होती हूँ और जिन भोग्य वस्तुओं के भोग के लिये अपना आशय प्रकाशित करती हुई मेरी शक्ति प्रतिष्ठित होती है उन भोगों को सुनिए ॥ १ ॥

विमर्शिनी—तिष्ठते; स्वाशयं प्रकाशयन्ती तिष्ठतीत्यर्थः । प्रकाशनार्थे तङ् ॥ १ ॥

यथाशक्त्यनुरूपेण तत्तद्भोगोपकल्पने ।
दिव्यशक्तिप्रभेदैस्तैर्विचित्रैः स्त्यानतां गतैः ॥ २ ॥
सम्पूर्णमीश्वरार्हं तद्भावनीयमशेषतः ।
मृद्वास्तरणसंस्तीर्णमादावासनमुत्तमम् ॥ ३ ॥

शक्ति के अनुसार उन-उन भोगों को एकत्रित करने में दिव्य शक्तियों के भेद वाले, विचित्र, स्त्यानता को प्राप्त होने वाले, उन भोगों से पूर्ण जो ईश्वर के भोग के योग्य है, उन समस्त भोगों की भावना करनी चाहिये । सर्वप्रथम अत्यन्त कोमल आस्तरण से संयुक्त उत्तम आसन की कल्पना करे ॥ २-३ ॥

विमर्शिनी—भगवदाराधन में छह प्रकार के आसनों का विधान है—मन्त्रासन, स्नानासन अलङ्कारासन भोज्यासन पुनर्मन्त्रासन और पर्यङ्कासन ।

भोगविशेषा उच्यन्ते—मृद्वित्यादिना । भगवदाराधने षडासनानि; यथा—मन्त्रासनम्, स्नानासनम्, अलङ्कारासनम्, भोज्यासनम्, पुनर्मन्त्रासनम्, पर्यङ्कासनं चेति । तत्र प्रथमं मन्त्रासनमत्रोच्यते ॥ ३ ॥

अर्घ्यं पाद्यं मधूपर्कस्तथैवाचमनीयकम् ।
प्रणामपूर्वकं पश्चादात्मात्मीयनिवेदनम् ॥ ४ ॥

अब भगवदाराधन में प्रयुक्त उन आसनों में समर्पणीय भोगों को कहते हैं—**प्रथम मन्त्रासन** में अर्घ्य, पाद्य मधूपर्क आचमन प्रणामपूर्वक आत्मीय निवेदन करना चाहिए ॥ ४ ॥

विमर्शिनी—तस्मिन्नासने समर्पणीयानाह—अर्घ्यमित्यादिना । आत्मात्मीय-निवेदनप्रकारमाह पाद्मे (४-३-१४०)—

"दासोऽहं ते जगन्नाथ सपुत्रादिपरिग्रहः ।
प्रेष्यं प्रशाधि कर्तये मां नियुङ्क्ष्व हिते सदा ॥" इति ॥ ४ ॥

स्नानासनार्चनम्

अनुज्ञाप्य ततः पश्चात् स्नानासनमनुत्तमम् ।
पादपीठमथार्घ्यं च ततः पाद्यप्रतिग्रहः ॥ ५ ॥
पाद्याम्बु पादके स्नानशाटी मात्रा च शालिका ।
दर्पणं गन्धतोयं च पाणिप्रक्षालनार्थकम् ॥ ६ ॥
दन्तकाष्ठं च वदनप्रक्षालाचमनाम्बुनी ।
गन्धतैलं च चूर्णं च शालिगोधूमसंभवम् ॥ ७ ॥
हरिद्राचूर्णसंमिश्रमीषत्पद्मकभावितम् ।
उद्वर्तनार्थं तदनु स्नानार्थं खलिसंयुतम् ॥ ८ ॥
उष्णाम्बु चन्दनं चन्द्रमिश्रितं लेपनार्थकम् ।
क्षीरं दधि घृतं गव्यं मध्वैक्षवरसं तथा ॥ ९ ॥
सुगन्धामलकाभिश्च लोध्रतोयं ततः परम् ।
रक्तचन्दनतोयं च रजनीवारि चोत्तमम् ॥ १० ॥
ग्रन्थिपर्णीपयः पश्चात् ततश्च तगरोदकम् ।
प्रियङ्गुजटिलासिद्धार्थकसर्वौषधीजलम् ॥ ११ ॥
पुष्पपत्रफलाम्भांसि बीजगन्धोदके तथा ।
हेमरत्नसरित्तीर्थकेवलाम्बूनि च क्रमात् ॥ १२ ॥
स्नानीयाम्बुसमेतानि देयान्यम्बून्यमूनि तु ।

तदनन्तर उनकी आज्ञा लेकर द्वितीय स्नानासन की कल्पना करे । फिर उसके समीप पादपीठ, अर्घ्य, पाद्य, प्रतिग्रह, पाद्याम्बु जोड़ा पादुका, स्नान के बाद पहना जाने वाला स्नानवस्त्र, मात्रा (अक्षताग्र शुभ्रवर्ण के शालितण्डुल पात्र) शालिका, दर्पण, गन्धतोय, पाणिप्रक्षालन के लिये दन्तकाष्ठ, उसके बाद मुख प्रक्षालन तथा आचमन के लिये जल, गन्धतैल, चावल अथवा गोधूम का

चूर्ण, हरदी के चूर्ण से मिला हुआ, ईषत्पद्मक से बना हुआ उद्वर्त्तन (उपटन), उसके बाद स्नान के लिये कस्तूरी से सुगन्धित गाढ़े गन्धयुक्त तैल की खली, गर्म जल, चन्दन एवं कपूर से मिश्रित लेपनार्थ दूध, दही, घृत, गोमय, मधु, ऊख का रस, आमलक मिश्रित सुगन्धित लोध का पानी जिसमें हरदी का चूर्ण मिला हो, ग्रन्थिपर्णी का जल, इसके बाद तगर का जल, प्रियंगु, जटिला, सिद्धार्थक (पीली सरसों), सर्वौषधि का जल, पुष्प पत्र, फल मिश्रित जल, बीज और गन्ध का जल, हेमरत्न मिश्रित नदी का जल, केवल जल, इस प्रकार स्नान के लिये दिये जाने वाले जल के साथ इतने प्रकार के और भी जल देने चाहिये ॥ ५-१३- ॥

विमर्शिनी—द्वितीयं स्नानासनमत्र । अत्र मन्त्रः सात्त्वते (६-२६)—

"स्फुटीकृतं मया देव त्विदं स्नानपरे त्वयि ।
सपादपीठं परमं शुभं स्नानासनं महत् ।
आसादयाशु स्नानार्थं मदनुग्रहकाम्यया ॥" इति ॥ ५ ॥

मात्रा च शालिकेति । अक्षताग्रशुभ्रवर्णशालितण्डुलपूर्णपात्रमत्र मात्रापदार्थः । तथा च पाद्मे (४-६-३६)—"शालितण्डुलमात्रया" इति । एतच्च मात्रादान-माराधनमध्यापतितवैकल्पयपरिहाराय ॥ ६ ॥ खलिः मृगमदादिवासनावासितं घनीभूतगन्धतैलकिट्टकम् ॥ ८ ॥ चन्द्रः = घनसारः ॥ ९ ॥

अर्घ्यपात्रात्तथैवार्घ्यं स्नानानामन्तरान्तरा ॥ १३ ॥
दद्यात् सपुष्पतोयेन क्षालनं चान्तरान्तरा ।
स्नानशिष्टाम्बुसम्पूर्णं हरिद्राशालिसंभृतम् ॥ १४ ॥
स्रगादिसंयुतं कुम्भं हस्ते कृत्वापरत्र तु ।
सिद्धार्थैर्धूपवत् पात्रं भ्रामयित्वा तु मूर्धनि ॥ १५ ॥
बहिः क्षिपेत्ततो दद्यात् सुधौते चाङ्गशाटिके ।
केशोदकापकर्षार्थमम्बरं देहवारिहृत् ॥ १६ ॥
अन्तरीयोत्तरीये द्वे सुधौते वाससी शुभे ।
भाविते गन्धधूपेन दद्याद् भद्रासनं ततः ॥ १७ ॥

अलङ्कारासनार्चनम्

शोधयेत् पूर्णकुम्भैस्तु खप्लुतं भावयेद्धरिम् ।
अलङ्कारासनं पश्चाद्देयं मृद्वास्तरोल्बणम् ॥ १८ ॥

प्रत्येक स्नान के बीच-बीच में अर्घ्यपात्र से निकाला हुआ अर्घ्य जल भी देना चाहिये । इसी प्रकार स्नान के बीच-बीच में प्रक्षालन के लिये पुष्प के

सहित जल भी देवे । इसके बाद स्नान से अवशिष्ट जल से पूर्ण जिसमें हरदी और चावल का चूर्ण भी मिला हुआ हो ऐसे धट को बाये हाथ में लेकर और दूसरे दाहिने हाथ में सिद्धार्थक युक्त धूप पात्र लेकर शिर पर घुमाकर उसे बाहर फेंक देवे । इसके बाद अच्छी तरह प्रक्षालित स्वच्छ हो देवता को वस्त्र प्रदान करे । इसके बाद धूप से वासित भद्रासन (स्नानासन) प्रदान करे । तदनन्तर पूर्ण कुम्भ से स्नान करावे । फिर द्वादशान्त रूप आकाश में संस्थित भगवान् विष्णु की भावना करे । इसके बाद मृदु आस्तरण से अत्यन्त चमकीला तीसरा अलङ्कारासन प्रदान करे ॥ -१३-१८ ॥

विमर्शिनी—स्नपनानन्तरं नीराजनमुच्यते—स्नानशिष्टेति ॥ १४ ॥ हस्ते; वामहस्ते । अपरत्र; दक्षिणहस्ते ॥ १५ ॥ भद्रासनम् = स्नानासनम् ॥ १७ ॥ खप्लुतम्; द्वादशान्तस्थितम् । तृतीयमलङ्कारासनमाह—अलङ्कारेति ॥ १८ ॥

तत्र सर्वं प्रदातव्यमर्घ्यपाद्यादि पूर्ववत् ।
विवेचनं च केशानां कङ्कतेन प्रशोधनम् ॥ १९ ॥

अब तृतीय **अलङ्कारासन का विधान** कहते हैं—अलङ्कारासन पर सभी अर्घ्य पात्रादि पूर्ववत् प्रदान करे । केशों का विवेचन करने के लिये केश प्रसाधनीभूत कङ्कत (कङ्घी) प्रदान करे ॥ १९ ॥

विमर्शिनी—कङ्कतं = केशप्रसाधनी ॥ १९ ॥

शीर्षण्यास्ताः सुमनसस्ततश्चूडोपकल्पनम् ।
चन्दनाद्याः सुगन्धाश्च व्यजनं शोषणार्थकम् ॥ २० ॥
मकुटाद्या अलङ्काराः प्रदेयाः परमाद्भुताः ।
स्रजो नानाविधाकाराः सात्त्विकैः कुसुमैश्चिताः ॥ २१ ॥

चूड़ा तथा शिर की सजावट के लिये उत्तम पुष्प प्रदान करे । इसके बाद चन्दनादि सुगन्धित द्रव्य तथा स्वेद के प्रशोषण के लिये व्यजन (पङ्खा) प्रदान करे । उस अलङ्कारासन में अत्यन्त विचित्रता युक्त मुकुटादि का अलङ्कार प्रदान करे । सात्त्विक वर्ण वाले कुसुमों से अनेक प्रकार की मालायें देनी चाहिये ॥ २०-२१ ॥

पुष्पाञ्जलिः पदद्वन्द्वे प्राकारः सुमनश्चयैः ।
गन्धद्रव्यसुशीतेन ह्यञ्जनेनाञ्जनं दृशोः ॥ २२ ॥

सुमन समूह युक्त पुष्पाञ्जलि का प्राकार दोनों पैरों में देना चाहिये । गन्धद्रव्य से अत्यन्त सुशीत अञ्जन दोनों नेत्रों में देना चाहिये ॥ २२ ॥

तथैवालम्भनं चापि ललाटतिलकं तथा ।

आदर्शो विमलो मृष्टः परितश्च समीक्षणम् ॥ २३ ॥
प्रदीपश्च प्रधूपश्च वाहनं चेतनेतरत् ।
स्तुतिमङ्गलगीतानि नृत्तवादित्रदर्शनम् ॥ २४ ॥

उसी प्रकार आलम्भन तथा ललाट का तिलक भी देवे । समीक्षण के लिये विमल घुला हुआ आदर्श (शीशा) देवे । प्रदीप विशिष्ट धूप और सुवर्णादि निर्मित घोड़ा हाथी इत्यादि वाहन देना चाहिये । स्तुति करे और माङ्गलिक गीत गाए तथा नृत्य वाजा आदि का प्रदर्शन करे ॥ २३-२४ ॥

विमर्शिनी—चेतनेतरत् वाहनमिति । सुवर्णादिनिर्मितं हस्त्यश्वादि ॥ २४ ॥

मात्राश्च रत्नसम्पूर्णा भोगच्छिद्रप्रपूरणाः ।
बुद्ध्या विरचितास्तास्ता राजराजोचिताः क्रियाः ॥ २५ ॥

भोग में होने वाली त्रुटियों की पूर्त्ति के लिये रत्नपूर्ण मात्रा प्रदान करे । इस प्रकार बुद्धि से विरचित (मानस) उन-उन राजराजोचित क्रियाओं का सम्पादन करना चाहिये ॥ २५ ॥

भोज्यासनार्चनम्

अलङ्कारासनस्थाय त्वेते भोगा हि मन्मयाः ।
अथ भोज्यासनं देयमर्घ्यपाद्यादिकं तथा ॥ २६ ॥

अलङ्कार के आसन पर बैठे हुये ऊपर कहे गए ये सभी भोग मेरे स्वरूप ही है । इसके बाद चतुर्थ भोज्यासन देना चाहिए । फिर वहाँ अर्घ्य पाद्यादि देना चाहिए ॥ २६ ॥

विमर्शिनी—मन्मया इत्यनेनाध्यायादावुक्तो विषयः स्मार्यते । तुरीयं भोज्यासनमुपवर्ण्यते—अथेति ॥ २६ ॥

यजेत मधुपर्केण यथा तदवधारय ।
पयसो मधुनो दध्नः संयोगो मधुपर्ककः ॥ २७ ॥

अब हे इन्द्र ! जिस प्रकार मधुपर्क से यजन करना चाहिये । उसका प्रकार सुनिए । दूध, मधु और दही के संयोग को मधुपर्क कहा जाता है ॥ २७ ॥

विमर्शिनी—मधुपर्कमाह—पयस इति ॥ २७ ॥

पात्रं पुरः प्रतिष्ठाप्य मधुपर्केण पूरितम् ।
अर्हणं तर्पणं चार्घ्यात् पृथक् पात्रद्वये भवेत् ॥ २८ ॥

मधुपर्क से पूर्ण पात्र आगे रखकर पृथक्-पृथक् दो पात्र में अर्घ्य स्थापित

कर आपोशान रूप अर्घ्य अर्पण करे फिर तर्पण करे ॥ २८ ॥

अर्हणेनार्चनं पूर्वं ततश्च मधुपर्ककम् ।
तर्पणं तर्पणीयाभिस्ततो निष्पुंसनं करे ॥ २९ ॥

पहले आपोशान (अर्घ्य) करा कर तब मधुपर्क प्रदान करे । तदनन्तर तर्पणीय अर्घ्यपात्र के जल से तर्पण कर साधक को हस्तोद्वर्त्तन (हाथ में इत्रादि का लेप) करना चाहिए ॥ २९ ॥

विमर्शिनी—अर्हणमापोशनम् । तर्पणम् = पानीयतीर्थम् । निष्पुंसनम् = हस्तोद्वर्तनम् ॥ २९ ॥

देयमाचमनं पश्चान्मात्रा गौर्माधुपर्किकी ।
यष्टव्यमन्नयज्ञेन साङ्गेन मधुपर्कवत् ॥ ३० ॥

फिर मधुपर्क दान के अनन्तर दोष परिहार के लिये गौ से मात्रादान करे। पुनः मधुपर्क के समान ही अङ्ग सहित अन्न यज्ञ से यजन करे ॥ ३० ॥

विमर्शिनी—पुनः मधुपर्कदानसंभावितवैकल्यपरिहाराय गवा मात्रादान-मत्रोच्यते ॥ ३० ॥

मन्त्रासनार्चनम्

प्रदेया अन्नयज्ञार्था मात्राः शाल्यन्ननिर्मिताः ।
सकर्पूरं च ताम्बूलं प्रदेयमनुवासनम् ॥ ३१ ॥

अन्न यज्ञ के लिये शालि अन्न से निर्मित मात्रायें प्रदान करे । इसके बाद कपूर सहित ताम्बूल को अनुवासन प्रदान करे ॥ ३१ ॥

विमर्शिनी—पञ्चमे मन्त्रासने समर्पणीयानि ताम्बूलादीनि ॥ ३१ ॥

पर्यङ्कासनार्चनम्

ततश्च विश्रमार्थाय विमानं परमाद्भुतम् ।
प्रदेयं तत्र दातव्यं सर्वमर्घ्यादि पूर्ववत् ॥ ३२ ॥

इसके बाद विश्राम के लिये अत्यन्त अद्भुत विमान (= शय्या) देवे । वहाँ पूर्ववत् सभी अर्घ्यपात्रादि भी प्रदान करे ॥ ३२ ॥

विमर्शिनी—षष्ठं पर्यङ्कासनमुच्यते—ततश्चेति ॥ ३२ ॥

मन्त्रजपनियमाः

जपं समाचरेत् पश्चादलक्ष्यमितरैर्जनैः ।

मन्त्रसंस्कृतया सम्यक् शुभया ह्यक्षमालया॥ ३३ ॥

इसके बाद मन्त्र से सुसंस्कृत कल्याणकारी अक्षमाला द्वारा जप सम्पादन करे। जिसे अन्य पुरुष न देख सकें ॥ ३३ ॥

विमर्शिनी—जपसंख्यागणनोपकरणेष्वक्षमाला प्रशस्ता ॥ ३३ ॥

प्राकृतस्त्वङ्गुलीभिस्तु पर्वभिस्तु दशोत्तरः ।
शतोत्तरादिसंख्यस्तु विज्ञेयो ह्यक्षमालया ॥ ३४ ॥

प्राकृत अंगुलियों के पर्व से दश संख्या में जप करे। अक्षमाला से १०८ संख्या में जप का विधान समझना चाहिये ॥ ३४ ॥

वाचिकः क्षुद्रकर्मार्थमुपांशुः सिद्धिकर्मणि ।
मानसो मोक्षलक्ष्मीदो ध्यानात्मा सर्वसिद्धिकृत् ॥ ३५ ॥

क्षुद्र कर्म के लिये वाचिका जप विहित है। सिद्धि कर्म में उपांशु जप का विधान है। मोक्ष एवं लक्ष्मी प्राप्ति में मानस ध्यानात्मा का विधान सभी प्रकार की सिद्धि करता है ॥ ३५ ॥

विमर्शिनी—जपविशेषो वाचिकादिः ॥ ३५ ॥

अक्षमालाविधानम्

अक्षमाला तथा कार्या न दृश्या प्राकृतैर्यथा ।
अक्षास्थिमात्रा मणय उत्तमाः परिकीर्तिताः ॥ ३६ ॥

अक्षमाला ऐसी बनानी चाहिये, जिसे सर्वसामान्य न देख सकें। अक्ष की अस्थि के परिमाण वाले माला के दाने जप के लिये उत्तम कहे गए हैं ॥३६॥

धात्रीफलास्थिसदृशा मध्यमाः परिकीर्तिताः ।
अधमा बदरास्थ्याभाः श्रेष्ठमष्टशतात्मकम् ॥ ३७ ॥
तदर्धं मध्यमं प्रोक्तं तदर्धमधमं स्मृतम् ।
सौवर्णं द्रव्यसिद्ध्यर्थे पितृकर्मणि ॥ ३८ ॥

आँवला के फल के समान दाने की माला मध्यम कही गई है और बेर के फल के सदृश आकार के दाने वाली माला अधम कही गई है।

१०८ दाने की माला श्रेष्ठ है, उसके आधे संख्या वाले दाने की माला मध्यम कही गई है। उसके भी आधे की संख्या के दाने की माला अधम कही गई है ॥ ३७-३८ ॥

विमर्शिनी—अक्षमालामणिविशेषानाह—सौवर्णमित्यादिना ॥ ३८ ॥

राजतं ताम्ररूपं तु मेधावीर्यजयाप्तये ।
त्रापुषं यक्षिणीसिद्धौ सैसं रक्षःपिशाचयोः ॥ ३९ ॥

द्रव्य प्राप्ति के लिये सुवर्ण विरचित माला, पुष्टि कर्म के लिये तथा पितृ कर्म के लिये चाँदी की माला, मेधा, वीर्य (= पराक्रम) तथा जय प्राप्ति के लिये ताँबे की माला विहित है । यक्षिणी सिद्धि के लिये त्रापुष (= लोहे) की माला तथा राक्षस और पिशाच भगाने के लिये सीसे की माला का विधान है ॥ ३९ ॥

वेतालसाधनार्थं तु रीतिजं कांस्यजं तु तत्।
अक्षसूत्रं परिज्ञेयं नागपन्नगसाधने ॥ ४० ॥

बेताल साधन के लिये पीतल की माला तथा सर्प और पन्नग को वश में करने के लिए काँसे की अक्षमाला विहित है ॥ ४० ॥

विमर्शिनी—रीतिः पित्तललोहविशेषः ॥ ४० ॥

आयसं क्षुद्रकर्मार्थमिति धातुमयो मणिः ।
आयुरारोग्यभूत्यर्थः सर्वो मणिमयो मणिः ॥ ४१ ॥

क्षुद्र कर्म करने के लिये लोहे के दाने की माला का विधान है । धातुओं के दाने के बनी हुई माला का इतना ही विधान है । आयु, आरोग्य और ऐश्वर्य के लिये मणि के बने दाने से निर्मित माला का विधान है ॥ ४१ ॥

मोक्षाय शान्तये चैव स्फाटिको मणिरुच्यते ।
सौभाग्ये वैद्रुमः कार्यः सौत्रः कार्यस्तु मुक्तये ॥ ४२ ॥

मोक्ष और शान्ति के लिये स्फटिक मणि की माला का विधान है और सौभाग्य के लिये विद्रुम (मूँगे) की माला तथा मुक्ति के लिये तन्तु निर्मित माला का विधान है ॥ ४२ ॥

विमर्शिनी—सौत्रः = तन्तुनिर्मितः ॥ ४२ ॥

शान्तये मुक्तये पुष्ट्यै तुलसीमूलजो मणिः ।
सर्वसिद्धिप्रदः पाद्मो मणिः शाङ्खः श्रियै मतः॥ ४३ ॥

शान्ति एवं मुक्ति तथा पुष्टि के लिये तुलसी के मूल के दाने से बनी अक्षमाला प्रशस्त है । कवलगट्टे की माला समस्त सिद्धियों को देने वाली है । श्री प्राप्ति के लिये शङ्ख की माला कही गई है ॥ ४३ ॥

आयुःप्रजायशोदः स्यान्मौक्तिको मणिरुत्तमः ।

आदद्यादेकमेतेषां शुभकाले गुणाधिके ॥ ४४ ॥

मोती की माला आयु, संतान और यश देने वाली है । किसी अच्छे गुणयुक्त प्रशस्त काल में इनमें से कोई एक माला ग्रहण करे ॥ ४४ ॥

अस्त्रेण गन्धतोयेन क्षालयेत्तदनन्तरम् ।
शाणकार्पासजीर्णानां कृत्वा सूत्रं नवं दृढम्॥ ४५ ॥

फिर अस्त्र मन्त्र से गन्ध जल द्वारा माला का प्रक्षालन करे । सन एवं कपास के सूत्र के जीर्ण हो जाने पर नवीन-नवीन सूत्रों में गूँथकर पुनः माला का निर्माण करे ॥ ४५ ॥

त्रिगुणं त्रिगुणीकृत्य चतुर्धा वा यथा दृढम् ।
क्षालयित्वास्त्रतोयेन तेनैव ग्रथयेन्मणीन् ॥ ४६ ॥

तीन गुना को पुनः तीन गुना करे अथवा चौगुना करे अथवा जिस प्रकार से वह सूत्र अत्यन्त परिपुष्ट हो उतने गुना करे । फिर अस्त्र मन्त्र से प्रक्षालित कर उसी में दाने को ग्रथित करना चाहिये ॥ ४६ ॥

अनूनानधिकांस्तुल्यानचलान् ग्रथितान्तरान् ।
इष्टसंख्यामणिप्रोतसूत्रान्तद्वितयोपमम् ॥
मणिं प्रकल्पयेन्मेरुमक्षमालाविधिस्त्वयम् ॥ ४७ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे बहिर्यागप्रकाशो नामैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

...

दाने के बीच-बीच में न कम न अधिक इस प्रकार का समान अन्तर होना चाहिये । इष्ट संख्या में गूँथी गई मणियों के सूत्र के अन्त की प्रधान ग्रन्थि में वृहन्मणि के सुमेरु की रचना करनी चाहिये । इस प्रकार अक्षमाला के निर्माण का यह विधान कहा गया ॥ ४७ ॥

विमर्शिनी—मेरुः जपसूत्रप्रधानग्रन्थिस्थो बृहन्मणिविशेषः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के बहिर्यागप्रकाश नामक उन्तालिसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ३९ ॥

...

चत्वारिंशोऽध्यायः

नित्यविधिप्रकाशः

अक्षमालाप्रतिष्ठाविधिः

नमस्ते वारिसंभूते नमस्ते पद्मसंभवे ।
प्रकारमक्षमालायाः प्रतिष्ठाया वदाम्बुजे ॥ १ ॥

इन्द्र ने कहा—क्षीर सागर से उत्पन्न होने वाली आपको नमस्कार है । कमल से उत्पन्न होने वाली आपको नमस्कार है । हे अम्बुजे ! अब अक्षमाला की प्रतिष्ठा का प्रकार कहिये ॥ १ ॥

साधितामक्षमालां तु स्थापेद्भाजने शुभे ।
पूजयित्वार्घ्यपुष्पाद्यैस्तस्याः शुद्धिं समाचरेत् ॥ २ ॥

श्री ने कहा—हे इन्द्र ! इस प्रकार के साधन वाली माला को किसी शुद्ध कल्याणकारी पात्र में स्थापित करे । तदनन्तर अर्घ्य पुष्पादि द्वारा पूजन करे । फिर उसको इस प्रकार शुद्ध करे ॥ २ ॥

विमर्शिनी—साधिताम्; निर्मिताम् ॥ २ ॥

अस्त्रेण दग्ध्वा निर्वाप्य वर्मणाप्याययेच्छ्रिया ।
परमामृतरूपिण्या तां मालां भावयेत्ततः ॥ ३ ॥

अस्त्र मन्त्र से उसे जलावे, फिर वरुण मन्त्र 'वं' इस मन्त्र से उस अग्नि को बुझाकर वर्म मन्त्र से उसे श्री सम्पन्न करे । फिर परमामृत स्वरूपा उस माला का इस प्रकार ध्यान करे ॥ ३ ॥

विमर्शिनी—निर्वाप्य = विशोष्य । श्रिया = श्रीमन्त्रेण । भावयेत् = वक्ष्यमाणरूपेण ध्यायेत् ॥ ३ ॥

चतुर्भुजामनौपम्यां मन्मयीं मामिवापराम् ।
वरदाभयहस्तां च बद्धाञ्जलिकरद्वयाम् ॥ ४ ॥

चार भुजाओं वाली, उपमारहित तथा मेरे समान मेरी अपर स्वरूपा (माला) है । हाथ में वर और अभयमुद्रा धारण की हुई है और दो हाथों से अञ्जलि वाँधे हुये हैं ॥ ४ ॥

ब्रह्मद्वाराम्बुजन्मस्थां देवीं ध्यायेच्छिखोपमाम् ।
तां परां वैष्णवीं शक्तिं मन्मयीं मदभेदिनीम् ॥ ५ ॥
द्वादशान्ते विचिन्त्याथ क्रमाद्ध्यायेद्धृदम्बुजे ।
हृत्पद्मादुत्थितां भूयो ब्रह्मरन्ध्राद्विनिर्गताम् ॥ ६ ॥
शनैः शनैरुल्लसन्तीं मालास्थां तां विचिन्तयेत् ।
अङ्गोपाङ्गक्रमोपेतां स्थूलसूक्ष्मपरात्मिकाम् ॥ ७ ॥
मां ध्यायेत् तारिकाकारां तत्र शक्तौ सुरेश्वर ।
मणीन् सूत्रं तथा मालां मालास्थां वैष्णवीमपि ॥ ८ ॥
एकार्णवीकृतं सर्वं मायां ध्यायेत् सुरेश्वर ।
मया दत्तां विभाव्यैनां संस्कृतामक्षमालिकाम् ॥ ९ ॥

ब्रह्मरन्ध्र में रहने वाली विशेष नाड़ी रूप कमल से जिसका जन्म हुआ है, जो अग्नि की शिखा के समान प्रदीप्त है, ऐसी परा मन्मयी शक्ति जो अज्ञान मद को दूर करने वाली है, मूर्धा से ऊपर द्वादशान्त में (सबसे ऊपर) उसका ध्यान कर क्रमशः पुनः हृदयकमल में लाकर उसका ध्यान करे, फिर उस हृत्पद्म से ऊपर उठकर ब्रह्मरन्ध्र में जाकर वहाँ से धीरे-धीरे निकलकर माला में प्रविष्ट हुई उस वैष्णवी शक्ति का ध्यान करे । इस प्रकार अङ्ग और उपाङ्ग में क्रमशः प्राप्त हुई स्थूल, सूक्ष्म एवं परा स्वरूप वाली मेरा ध्यान करे। हे सुरेश्वर ! उस शक्ति में तारिका के आकार का, माला के दानों का, माला का और माला में रहने वाली मुझ वैष्णवी का तथा सबको एकार्णवीकृत करने वाली माया का ध्यान करे । फिर सुसंस्कृत अक्ष माला को मेरा दिया हुआ समझकर पूर्वोक्त विधि के अनुसार जप करे ॥ ५-९ ॥

विमर्शिनी—ब्रह्मद्वारं ब्रह्मरन्ध्राख्यनाडी । शिखा वह्निशिखा ॥ ५ ॥ द्वादशान्ते; मूर्ध्न उपरि द्वादशाङ्गुलपरिमितस्थाने ॥ ६ ॥

जपं समाचरेत् पश्चात् पूर्वोक्तेन विधानतः ।
अनुन्मिषत् परं सूक्ष्मं स्थूलमात्मानमेव च ॥ १० ॥
लक्ष्मीनारायणाकारं पञ्चकं भावयेदिदम् ।

तुर्यातीतं तथा तुर्यं सुषुप्तिस्वप्नजागराः ॥ ११ ॥
अवस्थापञ्चकं तद्वत् तत्कर्तृकरणादिकम् ।
कर्त्रुन्मेषं तथा तत्स्थं करणं बाह्यकं तथा ॥ १२ ॥
मन्त्राक्षरं तथा स्थूलं सर्वं तत्तन्मयं स्मरेत् ।

फिर बिना किसी स्पर्धा के परं, सूक्ष्म, स्थूल आत्मा और लक्ष्मीनारायण इन पाँच का ध्यान करे । तुर्यातीत, तूर्य, सुषुप्ति, स्वप्न और जागर—इन पाँच अवस्थाओं का ध्यान करे । कर्त्ता, करण, कर्त्ता का उन्मेष (विकास) तथा उनमें रहने वाले बाह्यकरण तथा स्थूल रूप से वर्त्तमान मन्त्राक्षरों को भी मेरा स्वरूप समझकर उनका स्मरण करे ॥ १०-१३- ॥

हृत्पुण्डरीकमध्यस्थां मन्मुखाम्भोजनिःसृताम् ॥ १३ ॥
स्मरेच्छब्दमयीं शक्तिं वैष्णवीं मदभेदिनीम् ।
तस्या विनिर्गतां ध्यायेन्मातृकां मन्त्रमातरम् ॥ १४ ॥

फिर हृदय कमल में निवास करने वाली मेरे मुख कमल से निकलने वाली मदभेदिनी शब्दमयी वैष्णवी शक्ति का स्मरण करे । तदनन्तर उससे निकली हुई मन्त्रों की जननी मातृकाओं का स्मरण करे ॥ -१३-१४ ॥

मन्मयीं संस्मरेन्मालां जप्यमन्त्रमयीं ततः ।
लतायामिव पुष्पाणि मन्त्रान् वै तत्र संस्मरेत् ॥ १५ ॥

मत्स्वरूपभूता जप्यमन्त्रमयी माला का तदनन्तर लता में अनुस्यूत पुष्पों के समान मन्त्रों का भी उस माला में स्मरण करे ॥ १५ ॥

स्फुरणं मणिसंस्पर्शे हृल्लयं च तदत्यये ।
भावयन् मन्त्रनाथस्य जपं कुर्याद्विचक्षणः ॥ १६ ॥

विचक्षण साधक माला के दाने के संस्पर्श में मन्त्र के देवता का स्फुरण न होने पर उस देवता का हृत्प्रदेश में लय की भावना करते हुये ध्यानपूर्वक जप करे ॥ १६ ॥

हृद्भास्वरूपसंसूतिबहिरन्तःक्रमोत्क्रमात् ।
इति स्मरन् जपेदेकवारं तत्कोटिसंमितम् ॥ १७ ॥

क्रम तथा व्युत्क्रम से जब बाहर और भीतर हृदयावच्छिन्न आकाश में प्रकाश की अनुभूति की भावना कर एकबार की संख्या में किया हुआ जप करोड़ों की संख्या में किये गए जप के समान होता है ॥ १७ ॥

जपं समाप्य विधिवन्न्यस्येन्मयि जपं कृतम् ।

शक्तिं तां मन्मुखान्तःस्थां जपरूपां विचिन्तयेत् ॥ १८ ॥

विधिपूर्वक किये गए जप की समाप्ति के अनन्तर समस्त किया हुआ जप मुझे समर्पित करे और उस जप रूप महाशक्ति को मेरे मुख के भीतर स्थित हुई समझे ॥ १८ ॥

पूजाकाले घण्टानादस्यावश्यकता

दीपे धूपे तथार्घ्ये च घण्टानादं समाचरेत् ।
आवाहने तथार्घ्ये च नैवेद्ये मधुपर्कके ॥ १९ ॥
प्रीणने च प्रयुञ्जीत घण्टानादं विचक्षणः ।

दीप, धूप तथा अर्घ्य देते समय घण्टावादन अवश्य करे । इसी प्रकार आवाहन, अर्घ्यदान, नैवेद्य, मधुपर्क तथा प्रीणन के समय भी विचक्षण साधक घण्टावादन करे ॥ १९-२०- ॥

न विना पूजया चाल्या तां विना पूजयेन्न च ॥ २० ॥
कार्यसिद्धिमभीप्सद्भिरिह चामुत्र चोभयोः ।
सा हि घण्टाभिधा शक्तिर्वागीशा च सरस्वती ॥ २१ ॥

बिना पूजा के घण्टा न बजावे और बिना घण्टावादन के पूजा न करे । इस लोक, परलोक तथा उभयलोकमें कार्यसिद्धि चाहने वाला पुरुष ऐसा करे । यह घण्टा नाम वाली शक्ति वागीश्वरी है, वही सरस्वती है ॥ -२०-२१ ॥

वाचि मन्त्राः स्थिताः सर्वे वाच्यं मन्त्रेषु चाखिलम् ।
एतस्यां चाल्यमानायां मन्त्रा वत्सा इव द्रुतम् ॥ २२ ॥
काङ्क्षमाणाः समायान्ति तां घण्टां मन्त्रमातरम् ।
अधोमुखं तु ब्रह्माण्डं ध्यायेल्लोककुलाकुलम् ॥ २३ ॥

सभी प्रकार के मन्त्र वाणी में निवास करते हैं और मन्त्र में समस्त वाच्य (अर्थ) स्थित रहते हैं । घण्टा के अकस्मात् बजा देने पर मन्त्र बछड़े के समान बड़ी शीघ्रता से अपनी मन्त्रमाता घण्टा की अपेक्षा करते हुये दौड़कर चले आते हैं । इस समय लोकालोक युक्त अधोमुख स्थित ब्रह्माण्ड का ध्यान करना चाहिये ॥ २२-२३ ॥

नालं तस्यास्तदूर्ध्वे तु वृत्तं पद्मं स्मरेद्बुधः ।
अष्टपत्रं शुभं श्वेतं कर्णिकाकेसरान्वितम् ॥ २४ ॥

उस ब्रह्माण्ड का नाल ऊपर की ओर है उसके ऊपर गोलाकार के रूप में पद्म का बुद्धिमान् साधक स्मरण करे । वह कमल आठ दलों वाला,

कल्याणकारी, श्वेत वर्ण के कर्णिका और केशर से समन्वित है ॥ २४ ॥

तन्मध्ये चिन्तयेद्देवीं घण्टामष्टभुजान्विताम् ।
मुख्यहस्तचतुष्केण पाशशङ्खाम्बुजाङ्कुशान् ॥ २५ ॥

उसके मध्य में आठ भुजाओं से संयुक्त घण्टा देवी का ध्यान करे, जिनके प्रधान चार हाथों में पाश, शङ्ख, कमल और अंकुश है ॥ २५ ॥

परबाहुचतुष्केण दधतीमक्षसूत्रकम् ।
विज्ञानपुस्तकं सम्यगभयं च वरं तथा॥ २६ ॥

अपर चार बाहुओं में अक्षसूत्र, विज्ञान-पुस्तक, अभय और वरमुद्रा धारण की है ॥ २६ ॥

पद्मासनामम्बुजाक्षीं पद्मगर्भसमत्विषम् ।
पद्ममालाधरां पीतसितवस्त्रानुलेपनाम् ॥ २७ ॥

पद्मासन पर बैठी है, कमल के समान जिनके विशाल नेत्र हैं, जिनके शरीर की कान्ति विसतन्तु के समान स्वच्छ वर्ण की है, जो पद्ममाला धारण की हैं, जिनके वस्त्र पीत हैं तथा जो श्वेत अनुलेपन से विभूषित हैं ॥ २७ ॥

मन्त्रौघमुद्गिरन्तीं च ब्रह्मादिपरिसंस्तुताम् ।
तारिकामुच्चरन् दीर्घं युग्मां सञ्चालयेदिमाम् ॥ २८ ॥

जो अपने मुख से मन्त्र समूहों का उद्गिरण कर रही हैं, ब्रह्मादि देवता जिनकी स्तुति कर रहे हैं, साधक तारिका (ह्रीं)मन्त्र का उच्चारण कर इस दो अक्षर वाले घण्टा का सञ्चालन करे ॥ २८ ॥

प्रापणदानम्

अनया पूजयन् मन्त्री मन्त्रसिद्धिं निगच्छति ।
ततो गुरून् समानीय मन्मथान् वापि वैष्णवान् ॥ २९ ॥

वह्नितर्पणम्

प्रदद्यात् प्रापणार्थं तु तेभ्यो मन्मन्त्रमुच्चरन् ।
अथ वह्निगतां सम्यगग्नीषोममयीं पराम् ॥ ३० ॥
तर्पयेन्मां सुरेशान यथावदवधारय ।

कुण्डनिरूपणम्

तत उत्तरदिग्भागे देवागाराद्बहिस्तु वा ॥ ३१ ॥

भूभागे लक्षणोपेते कुण्डं कुर्यात् सलक्षणम् ।
चतुरश्रं समं यद्वा पद्माकारं मनोहरम् ॥ ३२ ॥

मन्त्रज्ञ (साधक 'ॐ ह्रीं घण्टायै नमः') इस मन्त्र से घण्टा का पूजन कर मन्त्रसिद्धि प्राप्त करता है । इसके बाद गुरु को सामने लाकर अथवा मुझ में परायण वैष्णवों को लाकर प्रापण (नैवेद्य) का आधा भाग मन्त्र का उच्चारण करते हुये समर्पित करे । इसके बाद अग्नि में रहने वाली मुझ परा अग्नीषोमस्वरूपा का जिस प्रकार संतर्पण करना चाहिये । हे सुरेशान ! अब उसे सुनिए । वहाँ से उत्तर दिशा में अथवा देवागार से बाहर भूभाग में जो सर्वथा लक्षण से युक्त हो वहाँ शास्त्रीय रीति से कुण्ड का निर्माण करे अथवा चौकोर समतल वेदी अथवा कमल के आकार का मनोहर स्थान निर्माण करे ॥ २९-३२ ॥

विमर्शिनी—वह्निसंतर्पणमुच्यते—अथेत्यादिना ॥ ३० ॥

शतार्धहोमसंख्यायां कुण्डं स्याद् द्वादशाङ्गुलम् ।
अष्टोत्तरशतेऽरत्निसमं हस्तं सहस्रके ॥ ३३ ॥

यदि शतार्ध (पचास) आहुति देनी है तो बारह अंगुल का कुण्ड बनावे, १०८ एक सौ आठ आहुति देने के लिये अरत्नि (एक बित्ता) मात्र का कुण्ड निर्माण करे । सहस्र आहुति देने के लिये एक हाथ का कुण्ड निर्माण करे ॥ ३३ ॥

विमर्शिनी—होमसंख्यानुगुण्येन कुण्डविस्तृतिरुच्यते—शतार्धेत्यादिना ॥ ३३॥

अयुताख्ये द्विहस्तं च लक्षहोमे चतुष्करम् ।
कोटिहोमेऽष्टहस्तं स्याच्छास्त्रतः कारयेच्च तत् ॥ ३४ ॥

दश हजार आहुति देने के लिये दो हाथ का और एक लाख आहुति के लिये चार हाथ का तथा एक करोड़ आहुति देने के लिये आठ हाथ का कुण्ड बनावे । इस प्रकार आहुति संख्या के अनुसार कुण्ड का निर्माण शास्त्रीय रीति से करे ॥ ३४ ॥

त्रिकोणमपि वा कुर्याद्धोमकुण्डं त्रिमेखलम् ।
उद्धृत्य तारया पूर्वं त्रिस्तया प्रोक्षयेद्ध्रुवम् ॥ ३५ ॥

अथवा त्रिकोण के आकार का भी होमकुण्ड निर्माण करे, जिसमें तीन मेखलायें हो । तारका मन्त्र से तीन बार मिट्टी निकाल कर पृथ्वी का प्रोक्षण करना चाहिए ॥ ३५ ॥

विमर्शिनी—तया; तारया ॥ ३५ ॥

शोषणं दाहनं प्लावं तारया सम्यगाचरेत् ।
आधारशक्त्याद्यारभ्य पूज्यं भावासनावधि ॥ ३६ ॥

फिर तारा (ह्रीं) इस मन्त्र से उस भूभाग का सम्यक् प्रकार से शोषण, दाहन और प्लावन करे । तदनन्तर आधारशक्ति से लेकर भावासन पर्यन्त उसकी पूजा करे ॥ ३६ ॥

विमर्शिनी—भावासन का उल्लेख पहले आधारशक्ति के प्रकरण में कर दिया गया है ।

भावासनं पूर्वमाधारशक्तिप्रकरणोक्तम् ॥ ३६ ॥

तत्र नारायणाख्यां वै शक्तिं तेजोमयीं पराम् ।
मन्मयीममृताकारां सर्वातिशयरूपिणीम् ॥ ३७ ॥
सर्वशक्तिसमूहस्थां सर्ववस्त्वन्तरस्थिताम् ।
अवतार्य हृदम्भोजात् सृष्टिमार्गेण शाश्वतीम् ॥ ३८ ॥
तारिकास्फुरणाकारामवतीर्य हृदम्बुजात् ।
रेचकेन विनिक्षिप्य कुण्डमध्याम्बुजान्तरे ॥ ३९ ॥

फिर मन्मयी, अमृताकारा, सर्वातिशय स्वरूपा, सर्वशक्ति समूहस्थ, सर्ववस्त्वन्तरस्थिता, तारिका के आकार में स्फुरित होने वाली, परा एवं तेजोमयी उस नारायण नाम वाली शाश्वत शक्ति को रेचक के द्वारा हृदय कमल से बाहर निकाल कर कुण्ड के मध्य में स्थित कमल के भीतर स्थापित कर देवे ॥ ३७-३९ ॥

सम्पूज्य गन्धपुष्पाद्यैः पद्ममुद्रां प्रदर्श्य च ।
ध्यायेदृतुमतीं शक्तिं सुस्नातामहताम्बराम् ॥ ४० ॥

गन्ध पुष्पादिकों से उस महाशक्ति की पूजा करे और पद्म मुद्रा प्रदर्शित कर ऋतुमती भगवती शक्ति जो स्नान से शुद्ध होकर नवीन वस्त्र से विभूषित हैं, उनका ध्यान करे ॥ ४० ॥

विमर्शिनी—ध्यायेदित्यादिना अग्नेर्वैष्णवीकरणमुच्यते ॥ ४० ॥

ध्यायेत् सर्वात्मिकां शक्तिं तामेव त्वधरारणिम् ।
उत्तरं चारणिं ध्यायेत् सर्वतेजोमयं हरिम् ॥ ४१ ॥

उसी सर्वात्मिका शक्ति को अधरारणि (नीचे वाली अरणि) के रूप में ध्यान करना चाहिए और ऊपर की अरणि के रूप में सर्वतेजोमय विष्णु का

ध्यान करे ॥ ४१ ॥

मन्थीयात् तारया सम्यक् तथा चैवानुतारया ।
उत्पन्नं तारयादाय कृशानुं शक्तिसंभवम् ॥ ४२ ॥
अभिगूह्याङ्गुलीभिस्तु संस्कुर्याद्वैष्णवाख्यया ।
चूडां च तारया कुर्यादन्नप्राशनपूर्वकम् ॥ ४३ ॥

फिर तारा (ह्रीं) एवं अनुतारा (श्रीं) से उसका मन्थन करे । फिर उस शक्ति से उत्पन्न कृशानु (अग्नि) को तारा मन्त्र से ग्रहण कर, अंगुलियों से आच्छादित कर, वैष्णव मन्त्र से उसका संस्कार करे । तारा मन्त्र से अन्नप्राशन पूर्वक चूडाकरण संस्कार करे ॥ ४२-४३ ॥

विमर्शिनी—अभिगूह्य = संवृत्य । अन्नप्राशनेति जातकर्मनामकरणयोरप्युपलक्षणम् ॥ ४३ ॥

उपनीय ततो वह्निं तारया चानुतारया ।
ततः स्वाहास्वधाभ्यां तु देवीभ्यां जातवेदसः ॥ ४४ ॥
पाणिग्रहणकं कुर्यात् तारया त्वनुतारया ।
सर्वं ध्यानमयं कार्यं जातनामादिकर्म तत् ॥ ४५ ॥

फिर तारा 'ह्रीं' अनुतारा 'श्रीं' इस मन्त्र से उस अग्नि का उपनयन संस्कार करे । फिर उस अग्नि का तारा अनुतारा मन्त्र के द्वारा स्वाहा और स्वधा के साथ विवाह संस्कार करे । जातकर्म तथा नामकरण ये सभी संस्कार ध्यानमयरूप से करे ॥ ४४-४५ ॥

लोहपाषाणमण्युत्थवह्नौ कार्यवशात् कृते ।
लौकिके वापि संस्कारं निषेकादि समाचरेत् ॥ ४६ ॥

कार्यवश लोह, पाषाण और मणि से निकाली गई अथवा लौकिक अग्नि का भी निषेकादि संस्कार करे ॥ ४६ ॥

आधाय तैजसे पात्रे मृन्मयेऽभिनवे तु वा ।
देवीसहायं स्वाहेशं तारयैवार्चयेत् सुधीः ॥ ४७ ॥

उस अग्नि को किसी तैजस पात्र में अथवा नवीन मिट्टी के पात्र में स्थापित करे । देवी से सहायता प्राप्त करने वाले स्वाहा के ईश्वर उस अग्नि का सुधी साधक तारा मन्त्र से अर्चन करे ॥ ४७ ॥

पूरणेनोपसंहृत्य स्वात्मन्युपशमं नयेत् ।
क्रमादानन्दशक्त्या तं संहारेण तु योजयेत् ॥ ४८ ॥

पूरण मन्त्र से उपसंहार कर अपनी आत्मा में उसे शमन करे । फिर आनन्दशक्ति से उस उपसंहार के साथ संयुक्त करे ॥ ४८ ॥

सृष्टिमार्गेण तं भूयोऽप्यवतार्य पदात् पदम् ।
कुण्डमध्याम्बुजान्तःस्थां तारया भुवमानयेत् ॥ ४९ ॥

फिर सृष्टिमार्ग से पुनः एक-एक पग नीचे उतार कर कुण्ड के मध्य में स्थित कमल के भीतर रहने वाली तारा से उसको संयुक्त कर देवे ॥ ४९ ॥

वह्निं स्वाहास्वधेशानमग्नीषोममयं यजेत् ।
समिद्भिस्तिसृभिस्तारामुच्चरन्नेकयैकया ॥ ५० ॥

तदनन्तर स्वाहा और स्वधा के स्वामी अग्नीषोममय उस अग्नि में यजन करे । सर्वप्रथम तीन समिधाओं से अर्थात् एक-एक समिधा का एक-एक बार तारा मन्त्र उच्चारण करते हुए एक-एक आहुति प्रदान करे ॥ ५० ॥

शालीतिलाक्षतैः पश्चात् तत आज्याहुतित्रयम् ।
उच्चार्य तारिकां पूर्वं बोधयेति द्विरुच्चरेत् ॥ ५१ ॥

इसके पश्चात् शाली, तिल और अक्षत के साथ पूर्व में तारिका का उच्चारण कर पश्चात् बोधय का दो बार उच्चारण करते हुए तीन आहुति देवे । मन्त्र का स्वरूप—ॐ ह्रीं बोधय बोधय ॥ ५१ ॥

तत्रस्थो बुध्यते वह्निर्यथावच्च हुतः स्वयम् ।
पर्यग्निकरणं कार्यं तारयैवार्द्रपाणिना ॥ ५२ ॥

इस प्रकार कुण्ड में स्थित अग्नि आहुति देने पर स्वतः प्रज्वलित हो जाती है । तदनन्तर उस जलती हुई अग्नि का गीले हाथों से ह्रीं से पर्यग्निकरण करे ॥ ५२ ॥

स्तृणीयात् तारया दर्भैस्त्रेधा त्रेधा चतुर्दिशम् ।
उदग्भागेऽग्निकुण्डस्य स्तृणीयाद्दर्भसञ्चयम् ॥ ५३ ॥

फिर चारों दिशाओं में तारा मन्त्र द्वारा तीन-तीन कुशाओं का आस्तरण करे और अग्निकुण्ड की उत्तर दिशा में दर्भसमूहों का आस्तरण करे ॥ ५३ ॥

प्रणीताप्रोक्षणीपात्रे दर्वीध्मौ स्रुक्स्रुवौ तथा ।
आज्यस्थालीं पवित्रे च सर्वं तत्र निधापयेत् ॥ ५४ ॥

उस पर प्रणीता, प्रोक्षणी पात्र, दर्वी इध्म, स्रुक्, स्रुवा, आज्यस्थाली, दो पवित्री इत्यादि सब सामग्री स्थापित करे ॥ ५४ ॥

प्रणीतां तारयापूर्य गन्धयुक्तेन वारिणा ।
पवित्राभ्यां त्रिरुत्पूय मां ध्यायेत् तारया श्रियम् ॥ ५५ ॥

प्रणीता पात्र को गन्धयुक्त जल से तारा मन्त्र पढ़कर पूर्ण करे । फिर दोनों पवित्राओं से तीन बार उस जल को उत्पवन अर्थात् ऊपर उछाल कर पवित्र करे । फिर तारा मन्त्र के साथ मुझ श्री का ध्यान करे । मन्त्र का स्वरूप—ॐ ह्रीं श्रीं नमः ॥ ५५ ॥

वह्नेरुदक् प्रतिष्ठाप्य प्रोक्षणीं पूरयेच्छ्रिया ।
तामुत्पूय ततः प्रोक्ष्य यागोपकरणं समम् ॥ ५६ ॥

फिर अग्नि से उत्तर प्रोक्षणी पात्र स्थापित कर उसे श्री से मन्त्र द्वारा प्रणीता के जल से पूर्ण करे । फिर उस जल को भी दो पवित्राओं से उस प्रोक्षणी के जल से उत्पवन कर उस प्रोक्षणी के जल से यज्ञ के उपकरणों (सामग्री) का संप्रोक्षण करे ॥ ५६ ॥

आज्यपात्रं समादाय तस्मिन्नाज्यं निधाय च ।
ब्रह्म सर्पिःसमुद्रोत्थं तद्ध्यात्वाग्नेरुदग्गतम् ॥ ५७ ॥

फिर आज्य पात्र लेकर उसमें घी रखकर उसे अग्नि के उत्तर भाग में रखकर यह सर्पिः (= घृत) समुद्र से निकला हुआ साक्षात् ब्रह्म है ऐसा ध्यान करना चाहिए ॥ ५७ ॥

तारया समभिज्वाल्य दर्भाग्रे विनिधाय च ।
तया पुनरभिज्वाल्य पर्यग्निकृतिमाचरेत् ॥ ५८ ॥

तारा मन्त्र से उसे प्रज्वलित कर दर्भ के अग्रभाग में उसे स्थापित करे । फिर उसी तारा मन्त्र से अग्नि को जलाकर पर्यग्निकरण करे ॥ ५८ ॥

विमर्शिनी—अग्नि के चारों ओर घी को अनुलोम और विलोम क्रम से घुमाने को पर्यग्निकरण कहते हैं ॥ ५८ ॥

वह्नेः पश्चात् प्रतिष्ठाप्य पवित्रद्वितयेन तत् ।
उत्पूय तारयाग्नौ तत् पवित्रद्वितयं क्षिपेत् ॥ ५९ ॥

फिर उस आज्य सहित पात्र को आग पर रखकर उन दोनों पवित्राओं से तारा मन्त्र पढ़कर उत्पवन (घी को पवित्री द्वारा ऊपर उठाकर) कर उन दोनों पवित्रों को अग्नि में फेंक देवे ॥ ५९ ॥

परिदध्यात् परिधिभिर्यज्ञयोग्यैश्चतुर्दिशम् ।
अग्निसर्वदिशोः स्थाप्य कुण्डमध्ये समिद्द्वयम् ॥ ६० ॥

फिर कुण्ड के चारों दिशाओं में यज्ञ योग्य परिधि (घी द्वारा गोलाकार मण्डल) बनाकर आग्नेय एवं ईशानकोण के मध्य में उसे स्थापित कर दो समिधा अग्निकुण्ड में डाल देवे ॥ ६० ॥

तत इध्मं समाधाय शुष्कं पञ्चदशात्मकम् ।
तारया परिषिच्याग्निं स्रुक्स्रुवौ परितापयेत् ॥ ६१ ॥

इसके पश्चात् शुष्क १५ समिधायें रखकर तारा मन्त्र से अग्नि का संप्रोक्षण कर स्रुक् और स्रुवा इन दोनों को उस अग्नि पर तपावे ॥ ६१ ॥

निमृज्य तारया पश्चात्तौ प्रोक्ष्याथ स्रुचा तया ।
वायोरग्निदिशं यावद्धातोः शर्वदिशावधि ॥ ६२ ॥
धारया स्रावयेद्वह्नौ मध्ये दद्यात् स्रुवाहुतिम् ।
अष्टोत्तरशतं वापि तदर्धं वा तदर्धकम् ॥ ६३ ॥

फिर तारा मन्त्र से कुशा द्वारा उस स्रुक् और स्रुवा का मार्जन कर स्रुवा से प्रोक्षण कर स्थापित कर देवे । फिर वायव्य कोण से अग्निकोण तक तथा नैर्ऋत्य से ईशान कोण तक की धारा अग्नि में चुआवे तथा मध्य में स्रुवा द्वारा आहुति देवे । एक सौ आठ आहुति देवे अथवा उसकी आधी (५४) संख्या में अथवा उसकी भी आधी संख्या में आहुति प्रदान करे ॥ ६२-६३ ॥

स्रुवेणाज्याहुतीर्दद्यात् स्वाहान्तां तारिकां गृणन् ।
अयं योग्यो भवेद्वह्निर्भगवद्धव्यवाहने ॥ ६४ ॥

तारिका से युक्त स्वाहान्त मन्त्र (ॐ ह्रीं स्वाहा) से आहुति देवे । तब यह अग्नि भगवान् के हव्य वहन के योग्य हो जाती है ॥ ६४ ॥

आदध्यात् समिधः सप्त ततस्तारिकया सुधीः ।
यज्ञकाष्ठमयीरादौ ब्रह्मक्षत्रतरूद्भवाः ॥ ६५ ॥

इसके बाद सुधी साधक ब्रह्मतरु पलाश एवं क्षत्रतरू मुचुकुन्द वृक्ष की, जो यज्ञ काष्ठमयी है, उसकी सात समिधायें तारक मन्त्र से आहुति के रूप में प्रदान करे ॥ ६५ ॥

विमर्शिनी—ब्रह्मतरुः पलाशः । क्षत्रतरुः मुचुकुन्दनामा तरुः । दशापरा इति । अवशिष्टा दश समिध इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

तारया समिधो दद्यात् काष्ठरूपा दशापराः ।
मामेव भावयेन्मध्ये विष्णोरङ्कस्थितां पराम् ॥ ६६ ॥

इसके पश्चात् अन्य काष्ठों की अवशिष्ट १० समिधायें तारा मन्त्र से प्रदान

करे । उन आहुतियों के देते समय विष्णु के अङ्क में स्थित रहने वाली मुझ पराशक्ति का ध्यान करते रहना चाहिये ॥ ६६ ॥

ब्रह्मानन्दमयाम्भोजकर्णिकास्थस्य वै विभोः ।
अङ्कस्थां भावयँल्लक्ष्मीं ता दद्यात्समिधोऽखिलाः ॥ ६७ ॥

ब्रह्मानन्दमय रूप कमल की कर्णिका में स्थित सर्वव्यापक उस परमात्मा के अङ्क में स्थित मुझ महालक्ष्मी का ध्यान करते हुये समस्त समिधायें अग्नि में प्रदान कर देवे ॥ ६७ ॥

ततः पुष्पमयीं दद्याद् धूपद्रव्यमयीं तथा ।
एतास्तु त्रिविधा देया हस्तेनैव मनीषिणा ॥ ६८ ॥
मधुपर्कमयीं पश्चात् स्रुवेण जुहुयात् सुधीः ।
स्रुच्यन्नं चतुरादाय सर्पिषापूर्य पूर्ववत् ॥ ६९ ॥
तयैवान्नाहुतिं दद्यात् स्वाहान्तां तारिकां गृणन् ।
स्रुवेणाज्याहुतीः पूर्वसमित्संख्याः समाचरेत् ॥ ७० ॥

इसके बाद मनीषी साधक पुष्पमयी, धूपद्रव्यमयी तथा मधुपर्कमयी तीन प्रकार की हवि स्वयं अपने हाथ से देवे । फिर स्रुवा से घी की आहुति देवे । फिर स्रुचा में चार बार अन्न लेकर पूर्व की भाँति उसमें घी भरकर स्वाहान्त तारिका का मन्त्र (ॐ ह्रीं स्वाहा) का उच्चारण करते हुये आहुति देवे । फिर पूर्व में कही गई समिधा की संख्या के अनुसार उतने ही संख्या में स्रुवा द्वारा घी की आहुति प्रदान करे ॥ ६८-७० ॥

पुष्पाञ्जलिमुपादाय वह्निस्थामर्चयेद्धिया ।
नित्ययागो ममैतावानूर्ध्वं काम्याहुतिं क्षिपेत्॥ ७१ ॥

फिर पुष्पाञ्जलि लेकर अग्नि में रहने वाली मेरी अर्चना ध्यान करते हुये करनी चाहिए । इतना ही मेरा नित्य याग है । इसके बाद काम्याहुति का प्रक्षेप करे ॥ ७१ ॥

यदि कामयमानः स्यात् तत्तद्विध्यनुरूपिणीम् ।
तारया परिषिच्याग्निं प्रायश्चित्ताहुतिं क्षिपेत् ॥ ७२ ॥

यदि किसी प्रकार की कामना की इच्छा हो, तब उसकी विधि के अनुसार हवि प्रदान करे । तारा मन्त्र से अग्नि का प्रोक्षण कर प्रायश्चित्त की आहुति अग्नि में डाल देवे ॥ ७२ ॥

दशवारं तारयैव क्षमस्वेति वदन् धिया ।

प्रणीतामुपसंहृत्य शुचिस्थाने निनीय च ॥ ७३ ॥
प्रहृत्य परिधीन् सर्वान् सँस्रावं समाचरेत् ।
स्तरं प्रहृत्य वह्नौ च घृतेनापूर्य च स्रुवम् ॥ ७४ ॥
दद्यात् पूर्णाहुतिं दीर्घां स्वाहान्तां तारिकां गृणन् ।
शक्त्या समेतां तां तारां वह्निस्थां मन्मयीं पराम् ॥ ७५ ॥
मां चाप्यङ्कस्थितां विष्णोर्नासिकासंधिमार्गतः ।
मरुच्छक्त्या समाकृष्य हृत्पद्मे विनिवेश्य च ॥ ७६ ॥

साधक बुद्धि से ही तारा मन्त्र के साथ दश बार क्षमस्व उच्चारण करते हुये उक्त आहुति प्रदान करे (ॐ ह्रीं क्षमस्व)। फिर प्रणीता को उठाकर किसी पवित्र स्थान में रख देवे। फिर सभी परिधियों को मिटा देवे, फिर संस्रव का प्राशन करे। आस्तरणभूत सभी कुशाओं को अग्नि में डाल देवें, फिर स्रुवा को घी से पूर्ण कर स्वाहान्त तारिका मन्त्र का उच्चारण करते हुये लम्बी पूर्णाहुति सम्पन्न करे। इसके बाद अग्नि में रहने वाली शक्ति के साथ रहने वाली मन्मयी परा शक्ति का और विष्णु के अङ्क में संस्थित मेरी इस प्रकार दोनों की नासिका संधि के मार्ग से वायु की शक्ति से आकृष्ट कर अपने हृदय कमल में सन्निविष्ट करे ॥ ७३-७६ ॥

यागभूमिं समेत्याथ नवपद्मस्थया मया ।
एकीकृत्य मयि न्यस्येदर्चास्थायां कृतिं तु ताम् ॥ ७७ ॥

फिर यज्ञभूमि में आकर नवो पद्मों में रहने वाली अर्चा में संस्थित मुझ में मिला देवे ॥ ७७ ॥

प्रागेव विभजेदन्नं प्रापणात् संप्रदानतः ।
तेनान्नेन यजेत् सम्यग्विष्वक्सेनं चतुर्भुजम् ॥ ७८ ॥

समर्पण करने के पहले प्रापण (नैवेद्य) के लिये संस्थापित अन्त को समर्पण के पहले दो भागों में प्रविभक्त कर देवे। फिर उस अन्न से चार भुजा वाले विष्वक्सेन का यजन करे ॥ ७८ ॥

मण्डलान्तमुपानीय समाहूयाम्बरान्तरात् ।
नवाम्रपत्रसदृशं पिङ्गभ्रूश्मश्रुलोचनम् ॥ ७९ ॥
पीतवस्त्रं चतुर्दंष्ट्रं स्वमुद्राद्वितयान्वितम् ।
गदाखड्गधरं देवमभ्यर्च्य क्रमशः सुधीः ॥ ८० ॥

उन विष्वक्सेन को आकाश से आहूत कर मण्डल में ले आकर स्थापित करे। जो नवीन आम्रपत्र से निकले कोयल के सदृश कान्ति वाले हैं, जिनके

भ्रू एवं श्मश्रु और नेत्र पीतवर्ण के हैं जिनका वस्त्र पीत है, चार दाँत हैं, जो अपनी मुद्रा के साथ समन्वित हैं, जो गदा और शङ्ख धारण किये हुये हैं, ऐसे रूप वाले विष्वक्सेन की विद्वान् साधक अर्चना करे ॥ ७९-८० ॥

साङ्गमुद्रामथादर्श्य गत्वा कुण्डसमीपतः ।
विष्वक्सेनस्ततो भक्त्या तर्पणीयस्तिलाक्षतैः ॥ ८१ ॥

फिर अङ्ग के सहित मुद्रा प्रदर्शित कर कुण्ड के समीप जाकर भक्तिपूर्वक तिल एवं अक्षत के द्वारा उन विष्वक्सेन का तर्पण करे ॥ ८१ ॥

विमर्शिनी—इत आरभ्य पञ्चार्धानि जयाख्यवचनमनुकुर्वन्ति ॥ ८१ ॥

वौषडन्तेन मन्त्रेण दद्यात् पूर्णाहुतिं ततः ।
मण्डले पूजयित्वाथ कुर्यात्तस्य विसर्जनम् ॥ ८२ ॥

इसके बाद 'वौषड्' अन्त वाले मन्त्र से पूर्णाहुति करे । फिर मण्डल में उनकी पूजा कर उनका विसर्जन कर देवे ॥ ८२ ॥

स्वमन्त्रेण सुरश्रेष्ठ क्षमस्वेति पदं वदन् ।
मुद्रां च दर्शयेत्तं च नभस्युत्पतितं स्मरेत् ॥ ८३ ॥

फिर स्वमन्त्र (विष्वक्सेन वौषट्) के अनन्तर 'क्षमस्व' इस पद का उच्चारण करते हुये मुद्रा प्रदर्शित करे और आकाश में ऊपर जाते हुये उनका स्मरण करे ॥ ८३ ॥

विष्वक्सेनार्चनशेषस्य विनियोगः

विष्वक्सेनार्चनं सर्वमगाधेऽम्बुनि निक्षिपेत् ।
तोयेनास्त्रप्रजप्तेन प्लावयेन्मण्डलं च तत् ॥ ८४ ॥

विष्वक्सेन की अर्चा में प्रयुक्त समस्त वस्तु अगाध जल में छोड़ देवें और अस्त्र मन्त्र के साथ जप किये हुये जल से सारे मण्डल को जल से धो देवे ॥ ८४ ॥

लोकपालाद्यर्चनम्

ततः सम्पूजयेत् सर्वान् लोकपालानशेषतः ।
पुष्पाद्यैरन्नदानान्तैरेकाहुत्या च वह्नितः ॥ ८५ ॥

इसके अनन्तर समस्त लोकपालों की पुष्प एवं अर्घ्य दान से लेकर अन्नदान पर्यन्त भोगों से और अग्नि में एक-एक आहुतियों से पूजा करनी चाहिए ॥ ८५ ॥

बह्वीभिर्वा यथाशक्ति स्वैः स्वैर्मन्त्रैर्यथाविधि ।
पूजयित्वा विसृज्यैतांस्तदस्त्राण्यपि पूजयेत् ॥ ८६ ॥

अथवा बहुत आहुतियाँ देवें जैसी शक्ति हो । उस शक्ति के अनुसार उनके तन्मन्त्रों द्वारा आहुति प्रदान करे । फिर पूजा कर लोकपालों का विसर्जन करे । तदनन्तर उनके अस्त्रों की भी पूजा करे ॥ ८६ ॥

विमर्शिनी—दस लोकपाल और उनके दस अस्त्र क्रमशः इस प्रकार हैं—इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, सोम, ईशान, नाग और ब्रह्मा । इनके मुद्गल, शूल, शीर और पद्म ॥ ८६ ॥

सर्वांश्च परिवारांस्तान् स्वस्वस्थानक्रमेण तु ।
अर्चयेत् क्षेत्रपालादीन् वह्निमध्ये च तर्पयेत् ॥ ८७ ॥

इस प्रकार क्षेत्रपालों के समस्त परिवारो की तत्तत्स्थान क्रम से अर्चन करे और क्षेत्रपालों का अग्नि के मध्य में तर्पण करे ॥ ८७ ॥

आधारशक्तेरारभ्य पीठशक्तीश्च सर्वशः ।
गणेशाद्याश्च सम्पूज्याः संतर्प्याश्च घृतादिकैः ॥ ८८ ॥

आधारशक्ति से लेकर पीठशक्ति पर्यन्त गणेशादि का सम्पूजन करे और घृतादिक से उनका संतर्पण करे ॥ ८८ ॥

सकृत्कृत्या त्रिवृत्या वा पूर्णाः सर्वेष्वथ क्षिपेत् ।
लक्ष्म्यादीन्पूजयेत्सर्वान् विष्वक्सेनार्चनात्पुरा ॥ ८९ ॥

एक -एक आहुति अथवा तीन-तीन आहुति की पूर्णाहुति सभी देवताओं के लिये अग्नि में प्रदान करे । विष्वक्सेन के अर्चन के पहले लक्ष्म्यादि सभी देवियों की भी पूजा करे ॥ ८९ ॥

पितृतर्पणम्

विष्वक्सेनार्चनात् पश्चाल्लोकपालार्चनं क्रमात् ।
ततो वेदिं विशोध्याथ दर्भान् संस्तीर्य दक्षिणान् ॥ ९० ॥

विष्वक्सेन के अर्चन के बाद ही क्रमशः लोकपालों की अर्चना करे । उसके बाद वेदी को विशुद्ध करे । उस वेदी पर दाहिने के क्रम से कुशा बिछावे ॥ ९० ॥

पितॄन् यजेत् क्रमेणैव प्रापणार्थविशेषतः ।
कृत्वा पिण्डत्रयं तेन पितृभ्यो निर्वपेत् स्तरे ॥ ९१ ॥

पूर्व में प्रापण (= नैवेद्य) के लिये स्थापित द्रव्य शेष से मन्त्र से पितरों का यजन करे । उस शेष अन्न से तीन पिण्ड का निर्माण करे । फिर कुशा के ऊपर उन पिण्डों से निर्वपण करे ॥ ९१ ॥

अर्घ्याज्जलं तथा दद्यादेकैकस्यैकमञ्जलिम् ।
वैष्णवायाथवा दद्याद्ब्राह्मणाय विशेषिणे ॥ ९२ ॥
पितॄनुद्दिश्य वै भक्तं तत्तन्नामानुदेशवत् ।
संन्यस्य मयि तत् सर्वमन्तर्धानमवेक्ष्य च ॥ ९३ ॥

अनुयागविधिः

अर्घ्याद्यमुपसंहृत्य वर्मास्त्रे प्रतिहृत्य च ।
उपसंहृत्य च न्यासमनुयागं समाचरेत् ॥ ९४ ॥

फिर एक-एक पितरों को अर्घ्य के जल से एक-एक अञ्जलि जल प्रदान करे । पितरों के उद्देश्य से पकाये गए अन्न को उनके नाम से वैष्णव को भोजन करावे अथवा किसी विशिष्ट ब्राह्मण को खिला देवे । फिर सब कुछ मुझ में समर्पण कर और उन पितरों को एक के बाद एक अन्तर्धान होता हुआ देखकर अर्घपात्र को लेकर, उसे वर्म एवं अस्त्र मन्त्र से उस न्यास का उपसंहार कर अनुयाग करे ॥ ९२-९४ ॥

विमर्शिनी—प्रापण से अवशिष्ट उपयोग में आने वाले भोजनादि पदार्थ को अनुयाग कहते हैं ।

ब्राह्मणाय विशेषिणे इति । विशिष्टब्राह्मणायेत्यर्थः । एतच्च धनिकेतरविषयम् । धनिकविषये तु चतुरो ब्राह्मणान्, तदलाभे एकं वा श्राद्धविधिना भोजयेदिति सात्त्वते उक्तम् (६, १६७-१७९) ॥ ९२ ॥ अनुयागः प्रापणावशेषोपयोगो भोजनादिः ॥ ९४ ॥

अस्त्रेण तारया प्रोक्ष्य तारया परिषिच्य च ।
उपस्तीर्य तया चापो दद्यात् प्राणाहुतीस्तया ॥ ९५ ॥

अस्त्र मन्त्र से तथा तारा मन्त्र से अन्न का प्रोक्षण कर, तारा से जल छिड़क कर तारा मन्त्र से जल को पी कर प्राणाहुती देवे ॥ ९५ ॥

विमर्शिनी—तयोपस्तीर्य; तारया निपीयेत्यर्थः ॥ ९५ ॥

अदीक्षितस्त्वनुयजंस्तत्तन्मन्त्रानुसंहिताम् ।
तारिकामुच्चरन् कुर्यान्मां चान्तःस्थां विभावयेत् ॥ ९६ ॥

पूर्व में कहा गया तारा से प्रोक्षण, परिषेचन, आपोशन और प्राणाहुति

दीक्षित पुरुष के लिये है । किन्तु जो अदीक्षित है वह तत् तत्सूत्रों में विहित मन्त्र से प्रोक्षणादि क्रिया करे । फिर तारिका का उच्चारण कर फिर अन्तःकरण में स्थित मेरा इस प्रकार ध्यान करे ॥ ९६ ॥

विमर्शिनी—पूर्वोक्तं तारया प्रोक्षणपरिषेचनापोशनप्राणाहुत्यादिकं दीक्षित-विषयम् । अदीक्षितानां तु तत्तत्सूत्रकृदुक्तमन्त्रैरेव कर्तव्यम् ॥ ९६ ॥

सोमानन्दमयीं दिव्यां क्रमादन्नात्मतां गताम् ।
वीर्यरूपरसाकारां तेजोवीर्यबलात्मिकाम् ॥ ९७ ॥
ऐश्वर्यशक्तिविज्ञानरूपं भोक्तारमव्ययम् ।
आत्मानं पुण्डरीकाक्षं भावयेत् पुरुषोत्तमम् ॥ ९८ ॥

सोमानन्दमयी, दिव्या, क्रमशः अन्नरूप में अपने को परिणत करने वाली, वीर्य रूप रस के आकार वाली, तेज वीर्य बल प्रदान करने वाली, इस प्रकार उस भोजनीय अन्न में ध्यान करे और स्वयं भोक्ता स्वरूप अपने को ऐश्वर्य, शक्ति, विज्ञान रूप एवं अव्यय स्वरूप पुण्डरीकाक्ष पुरुषोत्तम के रूप में ध्यान करे ॥ ९७-९८ ॥

तारिकामुच्चरन् पश्चादपिधायान्नमम्भसा ।
आचम्य द्विस्ततो न्यस्येदनुयागं ततो मयि ॥ ९९ ॥

तारिका का उच्चारण कर साधक भोजन करने के पश्चात् उत्तरापोशन करे । फिर दो बार आचमन करे । फिर अनुयाग मुझ में समर्पण करे ॥ ९९ ॥

विमर्शिनी—अपिधायाम्भसेति । उत्तरापोशनं पीत्वेत्यर्थः ॥ ९९ ॥

दिनशेषकृत्यम्

अथ स्वाध्यायमभ्यस्येद् दिनशेषं विचक्षणः ।
चतुर्विधानि शास्त्राणि तदुत्थं तारिकादिकम् ॥ १०० ॥
सिद्धान्तानपि चाशेषानसंलग्नेन चेतसा ।
स्वाशयप्रविशुद्ध्यर्थं समीक्षेत धिया स्वया ॥ १०१ ॥

फिर शेष दिन पर्यन्त स्वाध्याय का अभ्यास करना चाहिए । वेद तथा दिव्य शास्त्रों का ज्ञान स्वाध्याय कहा जाता है । चार प्रकार के शास्त्र, उसमें प्रतिपादित तारिकादिक समस्त सिद्धान्त, उसमें अनासक्त चित्त हो, आशय (वासना) की शुद्धि के लिये स्वाध्याय करना चाहिए और अपनी बुद्धि से उसकी समीक्षा करनी चाहिए ॥ १००-१०१ ॥

विमर्शिनी—स्वाध्यायम्; वेददिव्यशास्त्रादिपरिचयम् । चतुर्विधानि—आगम-

सिद्धान्तमन्त्रसिद्धान्ततन्त्रसिद्धान्ततन्त्रान्तरसिद्धान्तप्रतिपादकानि शास्त्राणि ॥ १०० ॥

संध्यामुपास्य विधिवदभिगम्य च मां धिया।
योगं युञ्जीत विधिवच्छास्त्रशुद्धेन चेतसा ॥ १०२ ॥

तदनन्तर बुद्धि द्वारा मेरा ध्यान कर सन्ध्योपासन करे और शास्त्र से शुद्ध चित्त हो विधिपूर्वक योग का अभ्यास करे ॥ १०२ ॥

पूर्वपश्चिमयोर्नक्तं यामयोर्धातुसाम्यवान् ।
इति यागविधिः शक्र विस्तरेण प्रदर्शितः ॥ १०३ ॥

रात्रि के प्रथम याम में और अन्तिम याम में धातु का साम्य रहता है । अतः योग के लिये वही उपयुक्त काल है । इस प्रकार, हे शक्र ! हमने विस्तारपूर्वक याग विधि का वर्णन किया ॥ १०३ ॥

विमर्शिनी—नक्तं प्रथमयामः चरमयामश्च योगकालः । मध्ये जायमाना निद्रापि भगवति स्वात्मसमर्पणेन योगरूपा भावनीया ॥ १०३ ॥

इज्याया आवश्यकता, यथाशक्त्यनुष्ठानं च

विधानस्य तु संक्षेपं पुनरस्य निबोध मे ।
संक्षेपविस्तरे कुर्याद् देशकालानुकूलतः ॥ १०४ ॥

पुनः इस विधान को संक्षेप में मुझ से सुनिए । क्योंकि देश और काल के अनुसार व्यवधान न हो अतः इस याग विधि का संक्षेप और विस्तार किया जा सकता है ॥ १०४ ॥

नैव कुर्यादपच्छेदं यजेदञ्जलिनापि माम् ।
यजेतोभौ सहैवावां सूक्तेन पुरुषेण तु ॥ १०५ ॥

इस याग में विच्छेद (व्यवधान) कदापि नही करना चाहिए । अञ्जलि बाँधकर (मात्र हाथ जोड़कर) हमारा अथवा हम दोनों का साथ-साथ पुरुषसूक्त से यजन करना चाहिए ॥ १०५ ॥

विमर्शिनी—अपच्छेदः = विच्छेदः ॥ १०५ ॥

तथा मदीयसूक्तेन ताभ्यां वा नौ यजेत् पृथक् ।
स्थाने वा सर्वमन्त्राणां तारिकामेव योजयेत् ॥ १०६ ॥

अथवा मेरे श्रीसूक्त से अथवा दोनों से हम दोनों का एक साथ अथवा पृथक-पृथक् यजन करे अथवा सभी मन्त्रों के स्थान पर केवल तारिका मन्त्र की योजना कर यजन करे ॥ १०६ ॥

कुर्यात् सङ्कल्पसंन्यासौ द्वावेवाद्यन्तयोः पृथक् ।
अकुर्वन् भोगनिर्देशं केवलैर्वा यजेत्तु तैः ॥ १०७ ॥

यजन के आदि में सङ्कल्प करे और अन्त में समर्पण करे । इस प्रकार सङ्कल्प और संन्यास दोनों ही करे । भोग सामग्री न होने पर उसके बिना भी केवल उन-उन मन्त्रों से ही यजन करे ॥ १०७ ॥

तथा तथैव कुर्वीत शक्नुयात्तु यथा यथा ।
न त्वेव हापयेद्यागमपि दद्याज्जलाञ्जलिम् ॥ १०८ ॥

अथवा उतना ही करे, जितनी-जितनी शक्ति हो । किन्तु नित्य याग का परित्याग कदापि न करे । क्योंकि मेरा आराधन नित्य है और नित्य का यथाशक्ति अनुष्ठान व्यवधान रहित करना चाहिये । इसलिये नित्य मेरा आराधन करे । यदि कुछ न हो सके तो मात्र जलाञ्जलि ही देवे ॥ १०८ ॥

विमर्शिनी—शक्नुयादिति । मदाराधनस्य नित्यत्वात् नित्यस्य च यथाशक्त्यनुष्ठानविधानात् यथाशक्ति मामाराधयेदित्यर्थः ॥ १०८ ॥

तारिकां वाप्यधीयीत द्रव्याभावे विचक्षणः ।
मनसा भावयेद्रूपं यत्तस्या यादृशं च यत् ॥ १०९ ॥

अकिञ्चन विचक्षण साधक द्रव्याभाव में केवल तारिका (ह्रीं) का जप मात्र करे । उसका जैसा जो स्वरूप है उसका मन से ध्यान करे ॥ १०९ ॥

निरामिषस्य शुद्धस्य लब्धलक्ष्यस्य वै पदे ।
विक्षोभाय क्रियाः सर्वाः या याः शास्त्रेण दर्शिताः ॥ ११० ॥

जो निरामिष (विषयों में अनासक्त) है और पद के विषय में अपना लक्ष्य प्राप्त कर चुका है, उसके लिये शास्त्र में निदर्शित जितनी भी क्रियायें हैं, वे सभी क्षोभ उत्पन्न करने वाली हैं ॥ ११० ॥

आततस्य च सर्वत्र समतामभ्युपेयुषः ।
कः किं कस्मै किमर्थं वा कथं वा शक्नुयात्क्रियाम् ॥ १११ ॥

जो सर्वत्र व्याप्त है तथा सबमें समता रूप को प्राप्त कर लिया है, वह कौन, क्यों, किसके लिये, किस प्रयोजन से और किस प्रकार किसी क्रिया में प्रवृत्त होगा ॥ १११ ॥

अग्नीषोममयौ हित्वा पन्थानौ सार्वलौकिकौ ।
तयोरन्तरमाविश्य मार्गमूर्ध्वं समाचरेत् ॥ ११२ ॥

सार्वलौकिक अग्नीषोममय मार्गों को छोड़कर दोनों के मध्य में रहकर उससे ऊपर वाले मार्ग का अनुष्ठान करे ॥ ११२ ॥

लयाग्निदग्धदुर्मार्गः शीतीभूतो निरामयः ।
स्थूलसूक्ष्मपरातीतपदाक्रान्तिविचक्षणः ॥ ११३ ॥

जिसने अपने समस्त पापों को लयाग्नि से जला दिया है, जो सर्वथा शान्त और शीतल है, निरामय है, स्थूल सूक्ष्म पर अतीतपद को आक्रान्त कर विचक्षण हो गया है ॥ ११३ ॥

पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ॥ ११४ ॥
अकुर्वन्नेव तत् सर्वं मद्भूतो ह्यनिदंमयः ।
अवस्थादेशकालाद्यैरनवस्यूतयाखिलैः ॥ ११५ ॥
अहंतया समाक्रान्तो धूमपीताग्निपीतवत् ।
अन्तरा वर्तमानो हि सूर्याचन्द्रमसोर्द्वयोः ॥ ११६ ॥

वह देखते हुये, सुनते हुये, स्पर्श करते हुये, सूँघते हुये, भोजन करते हुये, चलते हुये, सोते हुय, श्वास लेते हुये, बोलते हुये, त्याग करते हुये, ग्रहण करते हुये, आँखें खोलते हुये, उसे बन्द करते हुये इस प्रकार सब कुछ करते हुये भी उन सबको न करते जैसा वह इदमित्थं रूपेण अनिर्वचनीय, एवं मत्स्वरूप हो जाता है । वह सम्पूर्ण अवस्था देश कालादि से अपरिच्छिन्न होने पर भी अहन्ता से समाक्रान्त होकर धूम और अग्नि के बीच में रहने वाले, उससे असम्बद्ध पुरुष जैसा सूर्य चन्द्रमा के बीच में रहकर भी उनसे स्पृष्ट नहीं होता ॥ ११४-११६ ॥

विमर्शिनी—अनवस्यूतयेति । अपरिच्छिन्नयेत्यर्थः ॥ ११५ ॥ धूमपीतेत्यादि । यथा धूमाग्न्योर्मध्ये वर्तमानो धूमेनाग्निना च संबद्धो भवति, तथा सूर्याचन्द्रमसोरन्तरा वर्तमान इत्यर्थः ॥ ११६ ॥

व्यक्तमुद्दाल्य वै तालु ध्रुवस्थाने निवेशयन् ।
मनः शून्यमयं भावमातिष्ठन् लयसंमितम् ॥ ११७ ॥

तालु को अच्छी प्रकार ऊपर उठाकर किसी निश्चल (ॐ) पद में निविष्ट कर अपने को लय के समान बनाते हुये मन को शून्य भाव में प्रतिष्ठित करना चाहिए ॥ ११७ ॥

एवं यो वर्तते योगी तारिकामननोद्यतः ।

स कर्मठः स वै सांख्यः स योगी स च सात्त्वतः ॥ ११८ ॥

इस प्रकार जो योगी तारिका का मनन करते हुये सावधान रहता है, वही कर्मठ है, वही ज्ञानी है, वही योगी है और वही सात्त्वत (भगवद्धर्म का अनुष्ठानकर्त्ता) है ॥ ११८ ॥

स च पाशुपतो ज्ञेयः सर्वसिद्धान्तगश्च सः ।
इत्येवं ते मयोद्दिष्टो मद्भावः पारमार्थिकः ।
शृणु शेषमशेषं मे यत्ते किंचिद् विवक्षितम् ॥ ११९ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे नित्यविधिप्रकाशो नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

वही पाशुपत है, सर्वसिद्धान्तगामी है, इस प्रकार हे शक्र ! मैंने पारमार्थिक मद्भाव का उपदेश किया । अब आपके लिये मुझे जो शेष कहना है उसे अशेष रूप से सुनिए ॥ ११९ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के नित्यविधिप्रकाश नामक चालिसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

दीक्षाभिषेकप्रकारः

दीक्षाशब्दनिर्वचनम्, त्रिविधा दीक्षा

शक्रः—

नमो नित्यानवद्यायै जनन्यै सर्वदेहिनाम् ।
आधारेशात्मरूपायै शुद्धाशुद्धाखिलाध्वनाम् ॥ १ ॥
बाह्यान्तरविभागेन श्रुतो यागः सविस्तरः ।
संप्रति श्रोतुमिच्छामि त्वत्तो दीक्षाविनिर्णयम् ॥ २ ॥

इन्द्र ने कहा—नित्य अनवद्य, सभी प्राणियों की जन्मदात्री, आधार स्वरूपा और ईश्वर की आत्मस्वरूपा आपको नमस्कार है । मैंने शुद्धसृष्टि, अशुद्धसृष्टि तथा सम्पूर्ण अध्वा का बाह्य तथा अन्तर विभाग से किये जाने वाले याग का विस्तारपूर्वक वर्णन सुना । अब हे देवि ! मैं आपसे दीक्षा विधान का निर्णय सुनना चाहता हूँ ॥ १-२ ॥

श्रीः—

एको नारायणः श्रीमान् षाड्गुण्यमहिमोज्ज्वलः ।
तस्य षाड्गुण्यरूपाहं शक्तिरेका सनातनी ॥ ३ ॥

श्री ने कहा—षाड्गुण्य की महिमा से प्रकाशित श्रीमान् नारायण एक ही हैं, उनकी षाड्गुण्य स्वरूपा सनातनी शक्ति मैं भी एक ही हूँ ॥ ३ ॥

आत्मानं विभजाम्येका पञ्चधा देवसंविदा ।
शब्दरूपार्थरूपाभ्यां वृत्तिरूपेण वासव ॥ ४ ॥
तथैवाचार्यरूपेण दीक्षाख्येनापरेण तु ।

यद् द्यति क्लेशकर्मादीनीक्षयत्यखिलं पदम् ॥ ५ ॥

क्षपयित्वा मलं सर्वं ददाति च परं पदम् ।
दीक्षेति तेन तत्त्वज्ञैर्वर्ण्यते वेदपारगैः ॥ ६ ॥

दैवी ज्ञान द्वारा एक ही मैं अपने को शब्द-रूप, अर्थ-रूप, वृत्ति-रूप आचार्य-रूप तथा दीक्षा-रूप—इन पाँच विभागों में विभक्त करती हूँ । जो समस्त क्लेश कर्मों का क्षय करती है, उन सबको खण्डित करती है (द्यति पापं खण्डयतीति दी (दो खण्डने) क्लेश कर्माणि क्षिनोतीति क्ष क्षिणु हिंसायाम्) अथवा पापं शयित्वा परमं पदं ददातीति दीक्षा क्षिक्षत्ये दा दाने) और जो सारे पापों को विनष्ट कर परं पद प्रदान करती है, इसलिये वेद पारङ्गत विद्वान् उसे दीक्षा कहते हैं ॥ ४-६ ॥

विमर्शिनी—दीक्षाशब्दनिर्वचनं यदित्यादिना । द्यति खण्डयति । "दो अवखण्डने" इति धातुः ॥ ५ ॥ निर्वचनान्तरं क्षपयित्वेति ॥ ६ ॥

दीक्षा सा त्रिविधा तावत् स्थूलसूक्ष्मपरात्मना ।
पुनर्दीक्ष्यविभेदेन त्रिविधा सा चतुर्विधा ॥ ७ ॥

वह दीक्षा स्थूल सूक्ष्म और पर भेदों से तीन प्रकार की कही गई है । फिर वह दीक्ष्य के भेद से तीन प्रकार की होकर भी चार प्रकार की हो जाती है ॥ ७ ॥

चतुर्विधा दीक्ष्याः

समयी पुत्रकश्चैव तृतीयः साधकस्तथा ।
आचार्यश्चेति दीक्ष्यास्ते तेषामन्यत्र विस्तरः ॥ ८ ॥

समयी (प्रतिज्ञात) दूसरा पुत्र, तीसरा साधक और चौथा आचार्य—ये चार दीक्ष्य कहे जाते हैं, उनका अन्यत्र विस्तार कहा गया है ॥ ८ ॥

दीक्षाकरणविधिः

महामण्डलयागेन हवनाद्वाथ केवलात् ।
वाचा केवलया वापि दीक्षैषा त्रिविधा पुनः ॥ ९ ॥

महामण्डल के याग, द्वारा केवल हवन द्वारा अथवा केवल वाणी के द्वारा इस प्रकार दीक्षा के भी तीन भेद हैं ॥ ९ ॥

वित्ताढ्यस्याल्पवित्तस्य द्रव्यहीनस्य च क्रमात् ।
आनीय दृढसङ्कल्पं चिरकालपरीक्षितम् ॥ १० ॥
आचार्यः प्रणतं शिष्यं संसारानलतापितम् ।

नवाम्बुजं विधायादौ तस्मिन् कुम्भं समिज्य च ॥ ११ ॥

धनवान्, अल्पवित्त अथवा सर्वथा द्रव्यहीन का चिर सङ्कल्पित दृढ़ सङ्कल्प देखकर आचार्य संसाराग्नि से तप्त प्रणत होकर उपस्थित हुये शिष्य को अपने पास बुलावे । फिर नवीन कमल का स्वरूप बनाकर उस पर कलश स्थापित कर उसमें देवताओं की पूजा करे ॥ १०-११ ॥

विमर्शिनी—समिज्येति । सम्पूज्येत्यर्थः ॥ ११ ॥

निर्णिक्तपाप्मनः शिष्यान् प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ।
सुस्नातान् धौतवस्त्रांश्च पवित्रीकृतविग्रहान् ॥ १२ ॥
आनीय भगवद्भक्तान् शुभाः कन्याः स्त्रियस्तथा ।
पञ्चगव्येन पूतांश्च दन्तधावनपूर्वकम् ॥ १३ ॥

आचार्य सर्वप्रथम उन शिष्यों को पृथक् विधान वाले प्रायश्चित्तों से पाप रहित करे । सम्यक् प्रकार से शास्त्रीय रीति द्वारा स्नान करावे । धौत वस्त्र से उसे सुसज्जित करे । इस प्रकार जिनका शरीर सर्वथा पवित्र हो गया है और जो दन्तधावनपूर्वक पञ्च गव्यों से सर्वथा पवित्र हैं ऐसे भगवद्भक्त पुरुष या शुभा कन्या या शुभा स्त्री को अपने पास बुलावे ॥ १२-१३ ॥

विमर्शिनी—कन्याः स्त्रियस्तथेति तासामपि तान्त्रिकदीक्षाधिकारमाह ॥ १३ ॥

पुष्पाञ्जलिभृतश्चैव बद्धाक्षान्नववाससा ।
आपादमूर्धपर्यन्तमेकसूत्रं प्रकल्पयेत् ॥ १४ ॥

उनकी अञ्जलि पुष्प से पूर्ण करे । नवीन वस्त्रो से उनकी आँखों में पट्टी बाँधे तथा पैर से लेकर शिर पर्यन्त एक सूत्र से वेष्टित करे ॥ १४ ॥

त्रिगुणं त्रिगुणग्रन्थींस्तत्सूत्रे तत्त्वसंख्यया ।
कृत्वा मूर्धादिपादान्तं भावयेत्तत्त्वपद्धतिम् ॥ १५ ॥

फिर उस सूत्र में सत्त्व, रज एवं तम—इन तीन गुणों वाली त्रिगुणात्मक ग्रन्थी उस सूत्र में २७ की संख्या में देवे । इस प्रकार शिर से पैर पर्यन्त २७ त्रिगुणात्मक ग्रन्थी लगाने के पश्चात् उसमें २७ तत्त्वों का ध्यान करे ॥ १५ ॥

विमर्शिनी—त्रिगुणेति । सत्त्वरजस्तमोमयग्रन्थीनित्यर्थः । तत्त्वसंख्या सप्तविंशतिः ॥ १५ ॥

ईशकालादि भूम्यन्तं सप्तविंशतिसंख्यया ।
तत्त्वानि ग्रन्थयो ज्ञेया ग्रन्थिस्थास्तु गुणास्त्रयः ॥ १६ ॥
मायाविद्याक्रियात्मानस्ते पाशाः परिकीर्तिताः ।

स्थूलसूक्ष्मात्मको देहः शुभाशुभफलप्रदः॥ १७ ॥

पूर्वकथित चौबीस तत्त्व, तदनन्तर ईश, काल और भूमि पर्यन्त तत्त्वों की संख्या सत्ताईस हो जाती है। उतनी ग्रन्थि को सत्ताईस तत्त्व समझना चाहिये और उन तीन ग्रन्थियों में सत्त्व, रज और तम इन गुणों को समझना चाहिये और उन पाशो को माया, विद्या तथा क्रिया का स्वरूप समझना चाहिये। स्थूल सूक्ष्मात्क देह शुभाशुभ फल का देने वाला है ऐसा समझना चाहिये ॥ १६-१७ ॥

रञ्जितोऽयं गुणैश्चित्रैरशेषकलुषास्पदम्।
सम्पातहोमकर्मान्ते देहं सूत्रमयं स्वयम्॥ १८ ॥
छित्वा छित्वा तु होतव्यं भोगनिर्मूलकारणम्।
ललाटे चेश्वरं ध्यायेच्चिद्रूपं सर्वतोमुखम् ॥ १९ ॥

यह देह विभिन्न वर्णों वाले (चित्र रङ्ग) गुणों से रंगा हुआ है, जिससे यह पाप का आस्पद हो गया है। इसके बाद तत्त्वों द्वारा आहुति देकर स्वयं उस सूत्रमय देह का टुकड़ा कर भोगों के निर्मूल करने हेतु हवन करे। अब अवयव के भेद से तत्त्व ध्यान की प्रक्रिया कहते हैं—पहले ललाट में सर्वतोमुख वाले चित्स्वरूप **ईश्वर** का ध्यान करे ॥ १८-१९ ॥

विमर्शिनी—सम्पातहोम: तत्त्वाहुति: ॥ १८ ॥ अवयवभेदेन तत्त्वध्यानमाह—ललाट इति ॥ १९ ॥

स्वबीजेन स्थितं ध्यात्वा जुहुयात्तत्त्वसंख्यया।
सिन्दूरपुञ्जसङ्काशं प्रधानं भ्रूयुगे स्मरेत्॥ २० ॥

उन्हें वहाँ अपने बीज के साथ स्थित होने का ध्यान कर तत्त्व संख्या सत्ताईस में आहुति देनी चाहिये। फिर दोनों भ्रूयुगों में सिन्दूर पुञ्ज के समान **प्रधान** का स्मरण करे ॥ २० ॥

तालुमूर्ध्नि स्थितां बुद्धिं पूर्णेन्दुकिरणोपमाम्।
तालुमध्ये त्वहङ्कारं कुसुमाभं विचिन्तयेत्॥ २१ ॥

तालु के शिर प्रदेश में पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान प्रकाश वाली **बुद्धि** का स्मरण करे। तालु के मध्य में पुष्प के समान मनोहर **अहङ्कार** का ध्यान करे ॥ २१ ॥

तालुकर्णान्तरे ध्यायेन्मनो राजोपलद्युति।
कण्ठहृत्पद्मयोर्मध्ये विभक्ते पञ्चधा समे॥ २२ ॥

प्रस्फुरत्तारकाकाराञ्छ्रोत्रादीन् पञ्च चिन्तयेत् ।
हृन्नाभ्योः पञ्चधा मध्ये वागादीनि स्मरेत्तथा ॥ २३ ॥

तालु और कान के मध्य में राजोपल (वज्र) के प्रकाश के समान मन का ध्यान करे । कण्ठ और हृदय के मध्य में जो पाँच भागों में विभक्त है चमकते हुये तारों के समान प्रकाश वाले श्रोत्रादि पाँच का ध्यान करे । हृदय और नाभि के मध्य में पाँच भागों से प्रविभक्त स्थानों में वागादि पाँच का स्मरण करे ॥ २२-२३ ॥

विमर्शिनी—राजोपलं वज्रम् ॥ २२ ॥

स्मरेच्छब्दादितन्मात्रा नाभिबस्त्यग्रमध्यमे ।
ऊर्वोराचरणद्वन्द्वात् स्थूलभूतानि संस्मरेत् ॥ २४ ॥

नाभि और वस्ति के अग्र तथा मध्यम में शब्दादि तन्मात्राओं का स्मरण करना चाहिए । दोनों ऊरुओं से लेकर दोनों चरण पर्यन्त पञ्च-स्थूल महाभूतों का स्मरण करे ॥ २४ ॥

स्वैः स्वैर्बिम्बैः समेतानि ताराकाराणि तान्यपि ।
उच्चार्य प्रणवं तत्र तत्तद्बीजं समुच्चरेत् ॥ २५ ॥

तारा के आकार वाले अपने-अपने बिम्बों के समेत उन-उन तत्त्वो में प्रणव लगाकर उसमें तद्-तद् बीजों का उच्चारण करे ॥ २५ ॥

तत्त्वसंज्ञां ततः स्वाहा सम्पाताहुतिरीदृशी ।
गुरुः सम्पातहोमान्ते स्वयं लक्ष्मीमयो भवन् ॥ २६ ॥

तदनन्तर तत्त्व की संज्ञा, तदनन्तर स्वाहा का उच्चारण करे । इसी प्रकार की तत्त्वाहुति होती है । इस प्रकार सम्पातमय होम के पश्चात् गुरु स्वयं लक्ष्मीमय बन जाता है ॥ २६ ॥

पूर्णाहुतिं ततो दद्यात्तारया वौषडन्तया ।
एवं सम्पातहोमान्ते सूत्रं तद्ग्रन्थिमद् दृढम् ॥ २७ ॥
शरावसम्पुटान्तःस्थं विनिवेद्य मदन्ततः ।
आनीतस्याथ शिष्यस्य नेत्रबन्धं विघट्टयेत् ॥ २८ ॥

इसके बाद अन्त में वौषट् सहित तारा मन्त्र द्वारा पूर्णाहुति करे । ॐ ह्रीं वौषट्—इस प्रकार सम्पात होम सम्पन्न कर लेने के पश्चात् ग्रन्थियुक्त उस दृढ़ सूत्र को शराब सम्पुट के भीतर स्थापित करे और सामने लाये गए उस शिष्य के नेत्र की पट्टी स्वयं खोले ॥ २७-२८ ॥

प्रदत्तपुस्तकं सम्यग्गुरुं स्वमभिवादयेत् ।
स शिष्योऽग्निसमीपस्थो जुहुयात्तारया धिया ॥ २९ ॥

तदनन्तर शिष्य पुस्तक प्रदान कर सम्यक् प्रकार से गुरु का अभिवादन करे । इस प्रकार अग्नि के समीप बैठकर शिष्य तारा मन्त्र का ध्यान करते हुए होम करे ॥ २९ ॥

अङ्गैरुपाङ्गैर्लक्ष्म्यादिपरिवारैश्च सर्वशः ।
अधिकारी भवत्येवं जपेऽग्नौ श्रवणेऽर्चने ॥ ३० ॥

तदनन्तर अङ्ग-उपाङ्ग सहित लक्ष्मी के समस्त परिवारों द्वारा आहुति प्रदान करे । ऐसा करने से वह जप अग्नि श्रवण और अर्चन कार्य में अधिकार प्राप्त कर लेता है ॥ ३० ॥

दीक्षायामध्वशुद्ध्यर्थं मूलाद्यैर्जुहुयात्ततः ।
तिलेन चापि जुहुयाच्छताद्यं तु दशावरम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर दीक्षा में अध्वा की शुद्धि के लिये मूलादि मन्त्रों से तिलों द्वारा सौ की संख्या में अथवा एकादश की संख्या में आहुति देवे ।

विमर्शिनी—दश अवरं यस्मात्तद्दशावरम् एकादश इत्यर्थ ॥ ३१ ॥

पूर्णाहुतिं घृतेनैव तारयैव तु पातयेत् ।
एषा दीक्षा भवेन्मान्त्री सर्वमन्त्रनियोजनी ॥ ३२ ॥

तारा मन्त्र द्वारा केवल घी से पूर्णाहुति प्रदान करे । इससे मान्त्री दीक्षा हो जाती है, जिससे शिष्य को सभी मन्त्रों में अधिकार प्राप्त हो जाता है ॥ ३२॥

एतावत्यधिकारे तु शिष्यान् भोगैकलम्पटान् ।
ग्राहयेदीप्सितान् मन्त्रान् प्रकृतिप्राकृतांस्तु वा ॥ ३३ ॥

इतना अधिकार प्राप्त होने पर एक मात्र भोग में लम्पट शिष्यों को गुरु उनकी इच्छानुसार मन्त्र दे, अथवा प्रकृति के प्राकृत मन्त्रों की दीक्षा दे ॥३३॥

सिध्यन्ति संमुखा मन्त्राः सर्वे प्रकृतिसंभवाः ।
तत्त्वानि त्वस्य शोध्यानि वक्ष्यमाणप्रकारतः ॥ ३४ ॥

प्रकृति संभव सभी मन्त्र संमुख होने पर सिद्ध होते हैं । किन्तु इनके तत्त्वों को वक्ष्यमाण प्रकार से शोधन करना चाहिये ॥ ३४ ॥

शुद्धतत्त्वाध्ववर्गस्य मन्त्रग्रहणमिष्यते ।
एषा दीक्षा भवेन्मान्त्री तत्त्वदीक्षां निबोध मे॥ ३५ ॥

तत्त्वाध्ववर्ग से शुद्ध हो जाने पर ही मन्त्र ग्रहण करना चाहिये । यह मान्त्री दीक्षा कही गई । अब तत्त्व दीक्षा सुनिए ॥ ३५ ॥

ॐबीजं तत्त्वसंज्ञां च शोधयस्वाभिधान्वयात् ।
आहुतीनां दशावृत्त्या सम्यग्ध्यानसमन्वयात् ॥ ३६ ॥

ॐ बीज, इसके बाद तत्त्व की संज्ञा, फिर शोधयस्व, इस प्रकार अभिधा के सम्बध से भली प्रकार ध्यान के साथ समन्वय कर दश आहुति प्रदान करे ॥ ३६ ॥

क्षित्यादिरीश्वरान्तः स्यात्तत्त्वग्रामो विशोधितः ।
होमादौ दीक्षणीयस्य संज्ञा योज्या यथार्थतः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार पृथ्वी से लेकर ईश्वर पर्यन्त तत्त्व समूह एवं होमादि से शुद्ध हो जाने वाले दीक्षणीय (दीक्षा ग्रहण करने वाला) पुरुष को यथार्थतः संज्ञा के नाम से संयोजित करना चाहिये । (अर्थात् सम्प्रदायानुसार, उसका दूसरा नामकरण करना चाहिए) ॥ ३७ ॥

बद्धपद्मासने शिष्ये सद्गुरुः स्वसमीपगे ।
ध्यायेद्भूम्यन्तमीशाद्यं समग्रां तत्त्वपद्धतिम् ॥ ३८ ॥

पद्मासन से बैठे हुये शिष्य के समीप में बैठे हुये सद्गुरु ईश्वर से लेकर भूमि पर्यन्त समग्र तत्त्व पद्धतियों का ध्यान करे ॥ ३८ ॥

निरीक्ष्य लक्ष्मीनेत्राभ्यां लक्ष्मीहस्तेन संस्पृशेत् ।
उपसंहृत्य भूम्याद्यामीशाद्यां तु पुनः सृजेत् ॥ ३९ ॥

पहले कहा जा चुका है गुरु लक्ष्मीमय हो जाते हैं (प्र. ४१. २६) । इस प्रकार लक्ष्मीमय गुरु अपने लक्ष्मीमय नेत्रों से शिष्य का अवलोकन करे । अपने लक्ष्मीमय हाथों से उसका स्पर्श करे । फिर ईश्वर से लेकर भूमि पर्यन्त तत्त्वों का उपसंहार कर पुनः उसकी सृष्टि करे ॥ ३९ ॥

विमर्शिनी—गुरोर्लक्ष्मीमयत्वस्य पूर्वमुक्तत्वात् तन्नेत्रे लक्ष्मीनेत्रे इत्युच्येते । लक्ष्मीहसतेन तारिकायुक्तहस्तेन ॥ ३९ ॥

इत्थं शिष्यतनुस्थानां तत्त्वानां जडरूपिणाम् ।
आवहत्याशु संबोधं दीक्षा ध्यानमयी त्वियम् ॥ ४० ॥

ऐसा करने से शिष्य के शरीर में जड़ रूप से रहने वाले समस्त तत्त्व ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं । यह ध्यानमयी दीक्षा है ॥ ४० ॥

पाशसूत्रमथाधाय शरावद्वयमध्यगम् ।
गत्वा कुण्डसमीपं तु तदुत्सार्य निधाय च ॥ ४१ ॥

इसके बाद दो शराबों के मध्य में रहने वाले उस पाश सूत्र को धारण कर कुण्ड समीप में जाकर उसे निकाल कर रख देवे ॥ ४१ ॥

तारया साङ्गया हुत्वा सहस्राद्यं शतावरम् ।
पुष्पमेकमथादाय बहुशोऽप्यभिमन्त्र्य च ॥ ४२ ॥
हृदये ताडयेच्छिष्यं तारया हुंफडन्तया ।
शिष्यं भूतत्त्वगं स्मृत्वा तद्भोगान् भोजयेद्धिया ॥ ४३ ॥

फिर अङ्गसहित तारा मन्त्र द्वारा ११०८ आहुति प्रदान करे । तदनन्तर एक पुष्प लेकर अनेक बार तारा मन्त्र से अभिमन्त्रित कर तार ॐ के साथ हुं फट् (ॐ ह्रीं हुं फट्) मन्त्र को पढ़ते हुये उस पुष्प से शिष्य के हृदय में ताडित करे । फिर शिष्य में भूतत्त्व का समावेश कर उसके भोगों को बुद्धि से ध्यान कर भोजन करा देवे ॥ ४२-४३ ॥

समाप्ताखिलभूभोगं तत उद्धृत्य योजयेत् ।
अप्तत्त्वे तत्र चाप्येवं मत्वेशाद्विधिरीदृशः ॥ ४४ ॥

फिर उस भू भोग की समाप्ति का ध्यान कर पुनः उसे निकाल कर शिष्य में संयुक्त कर देवे । इसी प्रकार जल से लेकर ईश्वर पर्यन्त तत्त्वों (की समाप्ति का ध्यान कर के उसी प्रकार उस) का भी विधान करे ॥ ४४ ॥

तारया साङ्गया हुत्वा छित्वा ग्रन्थिं तु पार्थिवम् ।
निधाय स्रुचि सम्पूर्य सर्पिषा जुहुयात्तया ॥ ४५ ॥

तदनन्तर सूत्र में अनुस्यूत पार्थिव ग्रन्थि को काट कर अङ्ग सहित तारा मन्त्र से होम कर स्रुचा में घी रखकर उससे हवन करे ॥ ४५ ॥

तारिकायाः परे भावे कुण्डस्थे ज्वलनत्विषि ।
अप्तत्त्वं क्रामयेत्सूक्ष्मं तदप्येवं तु होमयेत् ॥ ४६ ॥

इसी प्रकार तारिका के दूसरे स्वरूप वाली कुण्ड में धधकती हुई अग्नि में सूक्ष्म जल तत्त्व का संक्रमण कर उसे भी होम कर देवे ॥ ४६ ॥

तत्सूक्ष्मं क्रामयेद्वह्निं जुहुयात् पूर्णया च तत् ।
एवं क्रमेण हुत्वा तु पूर्णाहुतिपरम्पराम् ॥ ४७ ॥
प्रकृतिं पुरुषं नीत्वा पुरुषं चेश्वरं नयेत् ।
ईश्वरात् परमं तत्त्वं तत्त्वग्रामे न विद्यते ॥ ४८ ॥

इसी प्रकार उस सूक्ष्म वह्नि का भी संक्रमण कर पूर्णा से उसका हवन कर देवे । इस प्रकार क्रमशः पूर्णाहुति की परम्परा से प्रकृति को पुरुष में ले जावे, फिर पुरुष को ईश्वर में ले जावे । उन तत्त्व समूहो में ईश्वर से आगे कोई तत्त्व नहीं है ॥ ४७-४८ ॥

स्थूलसूक्ष्मपराकारा शक्तिरीश्वररूपिणी ।
पुरुषो हीश्वरात्तत्त्वादधो यातो यतोऽशुचिः ॥ ४९ ॥
प्राप्य तत् परं तत्त्वं शुचिरेव भवत्ययम् ।
विश्वात्मा विश्वतश्चक्षुस्ततो दीक्ष्यो भवत्ययम् ॥ ५० ॥

स्थूल, सूक्ष्म, परास्वरूपा शक्ति स्वयं ईश्वररूपिणी है । यदि पुरुष को ईश्वर तत्त्व के नीचे ले जाया जायेगा तो वह अशुचि हो जायेगा । अतः वह ईश्वर रूप परम तत्त्व को प्राप्त कर शुद्ध हो जाता है । तब वह पुरुष विश्वात्मा विश्व चक्षु बन कर दीक्षा के योग्य हो जाता है ॥ ४९-५० ॥

भोगमोक्षप्रसिद्ध्यर्थं स्यातां पूर्णाहुती ततः ।
सकलं निष्कलं शिष्यं ध्यात्वा स्रुचि घृतं तथा ॥ ५१ ॥
द्वयं तदेकीकुर्वन् वै परातीतः स्थितो गुरुः ।
ध्यायन् विज्ञानशब्दात्मा पश्यन्तीरूपमुत्तमम् ॥ ५२ ॥
तारिकायाः परं भावमनुच्छ्रायमनाहतम् ।
तेन शिष्यं समीकुर्वंस्तारया वौषडन्तया ॥ ५३ ॥
पूर्णाहुत्याथ शिष्यस्य स्थितये देहपातनात् ।
नमोऽन्तया ध्रुवाद्येवं तारया जुहुयाद्बहु ॥ ५४ ॥

तब भोग और मोक्ष इन दो की सिद्धि के लिये दो बार पूर्णाहुती करे । तदनन्तर शिष्य को साकार और निराकार इन दो स्वरूपों में ध्यान कर स्रुचि में घी और उसको इन दोनों का एकीकरण कर गुरु स्वयं परातीत अवस्था में स्थित हो जावे । फिर विज्ञान शब्दात्मा होकर पश्यन्ती के उत्तम स्वरूप का ध्यान करते हुये तारिका के अनुच्छ्राय और अनाहत भाव से शिष्य को अपने समान बनाते हुये वौषट् अन्त वाले तारा मन्त्रों (ॐ ह्रीं वौषट्) से शिष्य को देहपातन से बचाकर उसके जीवन की स्थिति के लिये ध्रुवादि नमोऽन्त तारा मन्त्र से (ॐ ह्रीं नमः) पूर्णाहुती करे ॥ ५१-५४ ॥

तत्र पूर्णाहुतिं दत्वा महापूर्णमथ क्षिपन् ।
शिष्यं गुरुः स्वमात्मानं मां च लक्ष्मीं सनातनीम् ॥ ५५ ॥
क्षीरे क्षीरमिव ध्यायेत् सर्वं मयि समीकृतम् ।

एवं लक्ष्मीमयीकृत्य शिष्यं विज्ञानवायुना ॥ ५६ ॥
आकृष्य क्रमतो मन्त्रमिमं संश्रावयेत् पुनः ।
हृदये स्थापयित्वा मां तारामुपदिशेत्ततः ॥ ५७ ॥
अङ्गोपाङ्गादिकं सर्वं शास्त्रीयं क्रममेव च ।
दिशेत् सामयिकं धर्मं मन्त्रगुप्त्यादिकं हि यत् ॥ ५८ ॥

इसके बाद पूर्णाहुती कर महापूर्णाहुती भी प्रक्षिप्त करे । फिर शिष्य को एवं गुरु अपने स्वयं को और मुझ सनातनी लक्ष्मी को दूध में दूध के समान मुझ में एक समान रूपता का ध्यान करे । इस प्रकार विज्ञान वायु से शिष्य को लक्ष्मीमयी बनाकर, क्रमपूर्वक इस मन्त्र का आकर्षण कर पुनः शिष्य को सुना देवे । फिर उसके हृदय में मुझे स्थापित कर तारा मन्त्र का उपदेश करे ॥ ५५-५८ ॥

विष्णुहस्तं ततो दद्यान्मूर्ध्नि पृष्ठे हृदन्तरे ।
तदङ्गं मुद्रयालभ्य शिष्येणाराधयेत्तु माम् ॥ ५९ ॥

इसके बाद शिष्य के शिर पीठ एवं हृदय के मध्य में विष्णु हस्त स्थापित करे । मुद्रा द्वारा उसके अङ्ग का स्पर्श कर उस शिष्य से मेरी अर्चना करावे ॥ ५९ ॥

तारया कुम्भमादाय यत्रेष्टं गुरुणा पुरा ।
अङ्गोपाङ्गादिसंयुक्तां तारिकां मनसा गृणन् ॥ ६० ॥
अभिषिञ्चेद् गुरुः शिष्यं प्रसन्नेनान्तरात्मना ।
लब्धरूपस्ततः शिष्यः संसाराम्बुधिपारगः ॥ ६१ ॥

तदनन्तर जिस कुम्भ का गुरु ने पहले यजन किया है, उस कुम्भ को तारा मन्त्र से हाथ में लेकर अङ्ग एवं उपाङ्ग सहित तारिका मन्त्र का उच्चारण करते हुये, गुरु प्रसन्न चित्त हो शिष्य का अभिषेक करे । तब शिष्य संसार रूपी समुद्र से पार जा कर अपना स्वरूप प्राप्त कर लेता है ॥ ६०-६१ ॥

महता विभवेनाथ गुरुयागं समाचरेत् ।
कृत्वा त्वाधारशक्त्यादि गुरुं तत्र निवेश्य च॥ ६२ ॥

फिर वह अपने विस्तृत विभव से गुरु याग प्रारम्भ करे । गुरु को आधार शक्तिभूत उत्तम आसन देकर उसी पर बैठावे ॥ ६२ ॥

अर्घ्याद्यैः पूजयेत् सर्वैः स्वर्णरत्नादिभिस्तथा ।
आशितं तर्पितं पश्चान्मन्त्रेणानेन पूजयेत् ॥ ६३ ॥

अर्घ्यादि से पूजा कर स्वर्ण रत्नादि से भी पूजा करे । उत्तम भोजन करावे, तृप्त करे । फिर इस मन्त्र से उनका पूजन करे ॥ ६३ ॥

अज्ञानगहनालोकसूर्यसोमाग्निमूर्तये ।
दुःखत्रयाग्निसंतापशान्तये गुरवे नमः ॥ ६४ ॥

घोर अन्धकार को दूर करने के लिये प्रकाश स्वरूप सूर्य, सोम, अग्नि मूर्त्ति वाले, आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक त्रितय संताप से संतप्त जीव की शान्ति करने वाले आप गुरु को नमस्कार है ॥ ६४ ॥

गृहीत्वा तु ततोऽनुज्ञां मन्त्रमावर्तयेत्ततः ।
साधयेच्च यथाकामं यावद्यावदभीप्सति ॥ ६५ ॥

फिर गुरु की आज्ञा लेकर शिष्य उस मन्त्र को उनके सामने आवर्त्तन करे (दुहारावे) और उस मन्त्र से जैसी-जैसी अभिलाषा हो, अपनी इच्छानुसार उन-उन कामनाओं की सिद्धि करे ॥ ६५ ॥

इति दीक्षाभिषेकौ ते वर्णितौ बलसूदन ।
सम्यक्समाधिसम्पाद्यं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥ ६६ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे दीक्षाभिषेकप्रकारो नामैकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

...

हे बलसूदन ! इस प्रकार हमने दीक्षाभिषेक का वर्णन आपसे किया, जो समाधि से सम्पाद्य है । अब पुनः क्या सुनना चाहते हो ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के दीक्षाभिषेकप्रकार नामक इकतालिसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ४१ ॥

...

द्विचत्वारिंशोऽध्याय:

तारिकामन्त्रोपासनक्रम:

तारिकामन्त्रपुरश्चरणविधि:

शक्र:—

संसारसागरोत्तारपोतपादाम्बुजद्वये ।
हृषीकेशमहिष्यै ते भूयो भूयो नमो नम: ॥ १ ॥

इन्द्र ने कहा—जिन भगवती महाश्री का पादाम्बुजद्वय संसार सागर से पार उतारने के लिये पोत (= जहाज) स्वरूप है ऐसी हृषीकेश की महिषी लक्ष्मी को बारम्बार प्रणाम ॥ १ ॥

त्वत्प्रसादान्मया देवि श्रुतो दीक्षाविधि: क्रमात् ।
तारिकाया वदाब्जस्थे पौरश्चरणिकीं क्रियाम् ॥ २ ॥

हे देवि ! आपकी कृपा से मैंने क्रमश: दीक्षाविधि को सुना । अब हे कमलनिवासिनी ! तारिका की पुरश्चरण प्रक्रिया को कहिये ॥ २ ॥

विमर्शिनी—पुरश्चरणं नाम गुरूपदेशात् गृहीतस्य मन्त्रस्य स्वाभीष्टफलप्रदत्व-सम्पादनार्थं क्रियमाणो व्रतहोमादि: ॥ २ ॥

श्री:—

अहं नारायणी नाम शक्तिर्नारायणाश्रिता ।
तस्या मे परमा मूर्तिस्तारिका भुवनेश्वरी॥ ३ ॥

श्री ने कहा—नारायण के आश्रित रहने वाली मैं नारायणी शक्ति हूँ । उस प्रकार वाली मेरी मूर्त्ति यह परमा भुवनेश्वरी तारिका देवी है ॥ ३ ॥

तस्या मे पिण्डभूताया: श्रृणु साधनसम्पदम् ।

कृष्णाष्टमीं समारभ्य यावत्कृष्णचतुर्दशी ॥ ४ ॥
स कालस्तारिकासिद्धौ तन्त्रज्ञैः संप्रदर्शितः ।
महापापैरसंस्पृष्टः प्रख्यातैरतिपातकैः ॥ ५ ॥
नास्तिक्यात्प्रच्युतो भावान्निन्दिताभ्यासवर्जितः ।
भूतेषु भावयन्मैत्रीं कृतपापानुतापवान् ॥ ६ ॥
उच्चावचानि पापानि प्रायश्चित्तैः शमं नयेत् ।
ब्रह्मचारी हविष्याशी सत्यवादी दृढव्रतः ॥ ७ ॥

उस पिण्ड स्वरूपा भगवती भुवनेश्वरी के साधन सम्पत्ति को सुनिए । कृष्णाष्टमी से लेकर कृष्ण चतुर्दशी पर्यन्त काल तारिका सिद्धि के लिये तत्त्वज्ञों (तान्त्रिकों) ने निश्चित किया है, जो महापाप एवं प्रख्यात अतिपातकों से सर्वथा दूर हो, जिसमें नास्तिकता न हो, जो मानसिक भावों से भी गर्हित आचरण करने वाला न हो, सभी प्राणियों में मित्रता रखने वाला, जो पाप हो जाने पर उसके लिये पश्चात्ताप करने वाला हो, किंबहुना जो छोटे बड़े पापों के हो जाने पर प्रायश्चित द्वारा सर्वथा शुद्ध हो जाता हो, हविष्य भोजन करने वाला ब्रह्मचारी, सत्यवादी और प्रतिज्ञात विषय में दृढ़ता रखने वाला हो ॥ ४-७ ॥

विमर्शिनी—पिण्डभूताया इति । पिण्डमन्त्ररूपाया इत्यर्थः ॥ ४ ॥

संनिधौ मनसा विष्णोरोङ्कारं नियुतं जपेत् ।
महाव्याहृतिभिर्होमानयुतं सर्पिषाचरेत् ॥ ८ ॥
सावित्र्या च तिलैर्होमं तावत्संख्यं समाचरेत् ।
महापापातिपाप्मानौ विहाय प्रथितौ कृतौ ॥ ९ ॥
एतादृशं विधिं कृत्वा प्रणवादित्रयेण तु ।
महापापातिपापाद्यैरप्रकाशैर्विमुच्यते ॥ १० ॥

ऐसा साधक विष्णु के सन्निधान में दश लक्ष ॐकार का जप करे । तदनन्तर महाव्याहृतियों से घी द्वारा दश हजार आहुति प्रदान करे । उतनी ही संख्या में गायत्री मन्त्र द्वारा भी होम करे । जिससे अपने महापाप एवं अतिपातकों को कभी किसी से प्रकाशित नहीं किया है । वह भी प्रणव के साथ इस तीन अक्षर वाले ह्रीं मन्त्र से ऐसी विधि सम्पादन कर अप्रकाशित (गुप्त) इन महापापों से तथा अति पापों से सर्वथा मुक्त हो जाता है ॥८-१०॥

विमर्शिनी—नियुतं = दश लक्षाणि । अयुतं = दश सहस्राणि ॥ ८ ॥ प्रथितौ = विहायेति । अप्रकाशकृतौ इत्यर्थः ॥ ९ ॥

उपवासादिभिस्तद्वत् प्रकाशैरपि चेतरैः ।

तिस्रो वोपवसेद्रात्रीरघमर्षणतत्त्ववित् ॥ ११ ॥
त्रिरह्नस्त्रिर्निशायाश्च सवासा जलमाविशेत् ।

इतर प्रकाशित किये जाने वाले उन पापों से उसी प्रकार प्रायश्चित करे और अघमर्षण मन्त्र का जप करता हुआ तीन रात तक उपवास करे । इस प्रकार तीन दिन तक एवं तीन रात-तक वस्त्र सहित जल में निवास करे ॥ ११-१२- ॥

विमर्शिनी—उपवासादिभिरित्यनेन प्रकाशकृतानां प्रायश्चित्तमुच्यते ॥ ११ ॥

प्रतिसंध्यं निमज्जंस्त्रिस्त्रिर्जपन्नघमर्षणम् ॥ १२ ॥
प्रतिमज्जनमेवं तु क्षपयेत्तत् त्रिरात्रकम् ।
चतुर्थेऽहनि वै दद्याद् ब्राह्मणाय पयस्विनीम् ॥ १३ ॥

प्रत्येक सन्ध्या में जल में तीन बार डूब कर तीन बार अघमर्षण का जप करे । इस प्रकार जितनी बार स्नान करे, उतनी बार उसका जप करते हुये रात व्यतीत करे । चौथे दिन ब्राह्मण को पयस्विनी गौ प्रदान करे ॥-१२-१३॥

एवं पूतो भवेत् प्राग्वदशेषेणापि चांहसा ।
आत्मानमभिषिञ्चेद्वा त्रिसंध्यं पञ्चगव्यत: ॥ १४ ॥

इस प्रकार सम्पूर्ण पातक से पुरुष मुक्त हो जाता है अथवा तीन सन्ध्या पर्यन्त पञ्चगव्य से अपना अभिषेक करे ॥ १४ ॥

तिस्रो नीत्वा क्षपा एवं मुच्यते सर्वकिल्बिषै: ।
तारादिपञ्चकं तेषामेकैकमथवा धिया ॥ १५ ॥
जपन् पिबन् समीक्षेत वैष्णवं विमलोज्ज्वलम् ।
अहोरात्रकृतैरेवं मुच्यते सर्वपातकै: ॥ १६ ॥

इस प्रकार तीन रात बिता कर सारे पापों से मुक्त हो जाता है तार ॐ व्याहृति भूर्भुव: स्व:, सावित्री गायत्री, तारिका ह्रीं, एवं अनुतारिका इन पाँचों से अथवा उनमें से एक-एक का बुद्धिपूर्वक जप करते हुये अथवा इनसे अभिमन्त्रित जल पीते हुये, अत्यन्त निर्मल अन्त:करण वाले किसी वैष्णव का निरीक्षण करे तो दिन रात में किये गए सारे पापो से मुक्त हो जाता है ॥ १५-१६ ॥

विमर्शिनी—तारादिपञ्चकमिति । तारं व्याहृती: सावित्रीं तारिकाम् अनुतारिकां चेत्यर्थ: ॥ १५ ॥ वैष्णवं समीक्षेतेति कृतस्य कर्मण: सादगुण्यार्थमुक्तम् ॥ १६॥

भुवने यान्ति ये विष्णुमपापा धर्मतत्परा: ।

तत्पङ्क्तिस्थोऽपि वा भुक्त्वा मुच्यते सर्वपातकैः॥ १७ ॥

पापरहित, निरन्तर धर्मपरायण एवं विष्णु परायण अथवा जो विष्णु के शरण में प्राप्त है ऐसे वैष्णवों की पंक्ति में बैठकर भोजन करे, तो भी वह सब प्रकार के पापों से मुक्त हो जाता है ॥ १७ ॥

विमर्शिनी—वैष्णवमहिमानमाह—भुवन इत्यादिना । विष्णुं शरण्यत्वेन प्रपन्ना वैष्णवा इत्यर्थः ॥ १७ ॥

धर्मैः पापं क्षयं नीत्वा महर्षिगणसंमतैः ।
तारिकामाश्रयेत् पश्चाद्भवसागरतारिकाम् ॥ १८ ॥

अतः महर्षिगणों से सुसम्मत धर्म का आचरण कर, पापों को विनष्ट कर, साधक संसार तारिणी तारिका (ह्रीं) का आश्रय लेवे ॥ १८ ॥

उपोष्य विधिवन्मन्त्री कृष्णपक्षस्य सप्तमीम् ।
स्थित्वा संध्यामथाष्टम्यां तारिकाजपमाचरेत् ॥ १९ ॥

कृष्णपक्ष की सप्तमी को विधिवत् उपवास करे फिर अष्टमी की सन्ध्या में स्थित होकर तारिका मन्त्र का जप प्रारम्भ करे ॥ १९ ॥

अनुज्झन् विहितं कर्म काम्यान्तरविवर्जितः ।
दिव्ये सैद्धे तथैवार्षे विष्णोरायतनेऽमले ॥ २० ॥
पर्वताग्रे नदीतीरे गोष्ठे बिल्ववनेऽपि वा ।
पयोयावहविष्याणामश्नन्नन्यतमं सकृत् ॥ २१ ॥
जपं द्वादशसाहस्रं कुर्याद्वै सप्त वासरान् ।
दशांशं तर्पणं कुर्यादाहुतींश्चापि सर्पिषा ॥ २२ ॥

विहित नित्य कर्म का परित्याग न करे । किन्तु अन्य काम्य कर्म भी न करे । किसी दिव्य सिद्ध तथा महर्षि अथवा विष्णु के पवित्र आयतन (मन्दिर) में, पर्वत के अग्रभाग में, नदी के तट पर, गोशाला, बिल्व वन में, ऐसे स्थान में यावक एवं हविष्य पदार्थों में किसी एक का एक बार भोजन करते हुए प्रतिदिन बारह हजार की संख्या में सात दिन पर्यन्त जप करना चाहिए । जप के बाद दशांश तर्पण करे तथा दशांश से घी से आहुति भी प्रदान करे ॥ २०-२२ ॥

अनेन वर्तमानस्य विधिना तारिकाविधौ ।
चतुर्दशीनिशीथे चेच्छुभं पश्यति दर्शनम् ॥ २३ ॥
सुराकुम्भस्य लाभो वा सुरापानमथापि वा ।

स्त्रिया कामाभिषेको वा दर्शनं सुदृशोऽथवा ॥ २४ ॥
तया वालिङ्गनं भावात् सह भोगोऽथवा तया ।
मन्त्रसिद्धेस्तयोक्तिर्वा फललाभोऽथवा ततः ॥ २५ ॥
सौम्यस्य दर्शनं वापि मिथुनस्य सुरूपिणः ।
राज्ञो वा दर्शनं राजमहिष्या वाथ दर्शनम् ॥ २६ ॥
नारायणस्य वा साक्षात् स्वप्ने दृष्टिर्ममापि वा ।
पतिव्रतादर्शनं वा वैष्णवैर्वा समागमः ॥ २७ ॥
यच्चान्यत् स्वप्नशास्त्रेषु शब्द्यते शुभदर्शनम् ।
लब्धाशस्तत उत्थाय त्यक्तनिद्रो जितक्लमः ॥ २८ ॥

तारिका के अनुष्ठान में इस प्रकार संलग्न पुरुष चतुर्दशी की अर्धरात्रि में यदि स्वप्न में वक्ष्यमाण पदार्थों का दर्शन करे, जैसे मद्यपूर्ण घट की प्राप्ति, मद्य का पान, स्त्री के द्वारा कामनापूर्वक अभिषेक अथवा सुन्दर नेत्र वाली स्त्री का दर्शन, उसके द्वारा भावपूर्वक आलिङ्गन अथवा उसके साथ संभोग अथवा उसके द्वारा मन्त्र सिद्धि का कथन अथवा उससे फल लाभ की प्राप्ति अथवा किसी सौम्य स्वरूप वाले मिथुन स्त्री पुरुष का दर्शन, राजा का दर्शन, राजमहिषी का दर्शन, अथवा स्वप्न में साक्षात् नारायण का दर्शन अथवा मेरा दर्शन, पतिव्रता का दर्शन, विष्णुभक्तों का दर्शन—इसी प्रकार जैसा-जैसा स्वप्न शास्त्रों में शुभावह दर्शन बताया गया है, वैसा-वैसा स्वप्न में शुभावह देखकर सिद्धि की प्राप्ति हुई ऐसा समझना चाहिए । फिर निद्रा परित्याग कर देवें थकावट दूर करे ॥ २३-२८ ॥

आचम्य प्रयतो मन्त्री स्मरेन्मां संस्तरे निशाम् ।
अथ प्रातः समुत्थाय कृतसंध्याविधिक्रमः ॥ २९ ॥
तुल्यशीलवयोरूपौ सुरूपौ धर्मतत्परौ ।
अदीनाकृपणाकारौ रूपवन्तौ मनस्विनौ ॥ ३० ॥
दम्पती यौवनावस्थौ प्रसन्नमृदुभाषिणौ ।
आहूय स्नापयित्वा तौ लक्ष्मीनारायणात्मकौ ॥ ३१ ॥
भूषयित्वा च वस्त्राद्यैरकुर्वन् वित्तवञ्चनाम् ।
आशितौ लिप्तगन्धाङ्गौ दक्षिणापरितोषितौ ॥ ३२ ॥

तदनन्तर मन्त्रज्ञ साधक आचमन कर सावधान होकर शय्या पर बैठकर रात्रि में मेरा स्मरण करे । प्रातःकाल उठकर सन्ध्योपासनादि विधि सम्पन्न कर, शील वय एवं रूप में, एक समान सुरूप, धर्म में तत्पर, दैन्यरहित, कार्पण्यरहित आकार वाले रूपवान, मनस्वी, युवावस्था सम्पन्न, प्रसन्न,

मृदुभाषी, दम्पती (स्त्री-पुरुष के जोड़े) को बुलाकर उन्हें लक्ष्मीनारायण का साक्षात् स्वरूप समझ कर स्नान करावे । फिर उन्हें भूषण से भूषित करे और उत्तम वस्त्र प्रदान करे । इसमें किसी प्रकार का वित्तशाठ्य न करे, उन्हें भोजन करावे, उनके शरीर में सुगन्धित इत्रादि को लेप करे और दक्षिणादि द्वारा उन्हें प्रसन्न करे ॥ २९-३२ ॥

विमर्शिनी—संस्तरे शय्यायाम् । निशामित्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया ॥ २९ ॥

प्रार्थयेत्तारिकासिद्धिं लक्ष्मीनारायणात्मना ।
अस्त्वेवमिति वाक्यान्ते तावावां शरणं व्रजेत्॥ ३३ ॥

उन्हें साक्षात् लक्ष्मीनारायण का स्वरूप समझ कर तारिकासिद्धि की उनसे प्रार्थना करे । जब वे कह दें—अस्त्वेवम्—अर्थात् ऐसा ही हो, तब साधक लक्ष्मी नारायणात्मक हम दोनों के स्वरूप उन दम्पती के शरण में हो जावे ॥ ३३ ॥

विमर्शिनी—तावावामिति । लक्ष्मीनारायणाख्यास्मद्रूपिणौ तौ दम्पती इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

वाचयित्वा ततः स्वस्ति वैष्णवान् वेदवित्तमान् ।
द्विजाग्र्यांस्तर्पयित्वाथ वर्तेताभीष्टसम्पदे ॥ ३४ ॥

फिर स्वस्ति वाचन कराकर वेदवेत्ता वैष्णवों तथा श्रेष्ठ ब्राह्मणों को भोजनादि से तृप्त करे । ऐसा करने से वह अभीष्ट सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है ॥ ३४ ॥

चतुर्दशीनिशायां चेन्न पश्येत् स्वप्नदर्शनम् ।
अमावास्यां समारभ्य यावत्कृष्णस्य सप्तमी ॥ ३५ ॥
तावन्तं व्रतवानेन वर्तयेत् कालमप्यथ ।
त्रिसहस्रं जपं कुर्वन्नेकभुक्तेन वर्तयन् ॥ ३६ ॥

यदि उस कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की रात्रि में स्वप्न न दिखलाई पड़े, तब पुनः अमावस्या से आरम्भ करके जब तक कृष्णपक्ष की सप्तमी न आवे तब तक उतने दिन पर्यन्त वह उसी व्रत में संलग्न होकर अनुष्ठान करते रहना चाहिए । प्रतिदिन तीन सहस्र जप करना चाहिए और एक बार भोजन कर निर्वाह करना चाहिए ॥ ३५-३६ ॥

विमर्शिनी—एकभुक्तेन = एकवारभोजनेन ॥ ३६ ॥

मध्ये कौमारदाराणामृतु प्राप्तमलक्षयन् ।

अनिन्दन् कामिनीवृत्तं दम्पती नन्दयन् धिया ॥ ३७ ॥

मध्य में कुमारी तथा स्त्रियों के ऋतु प्राप्त होने पर उसका उल्लङ्घन न करे । किसी कामिनी के चरित्र की निन्दा न करे और दम्पती भूत स्त्री पुरुष के जोड़े को देखकर मन में प्रसन्न रहे ॥ ३७ ॥

ऋते पापं प्रियं कुर्वन् कामिनीनामलोलुपः ।
ततः कृष्णाष्टमीं प्राप्य पूर्ववज्जपमाचरेत् ॥ ३८ ॥

कामिनियों को देखकर उनमें लम्पटता न करे । पाप न करे । उनको प्रसन्न रखना चाहिए । फिर कृष्णाष्टमी के प्राप्त होने पर पूर्ववत् जप का अनुष्ठान करता रहे ॥ ३८ ॥

कुर्वन् होमादिकं सर्वं स्वप्नदृष्टौ निवर्तयेत् ।
यावच्चिह्नानि सम्पश्येत् तावदेवं समाचरेत् ॥ ३९ ॥

उसी दिन सम्पूर्ण होमादिक कार्य सम्पन्न करे । स्वप्नदर्शन का विचार त्याग देवे । जब कोई चिह्न देखे तब तक इसी प्रकार का आचरण करता रहे ॥ ३९ ॥

सिद्धायां तारिकायां तु सर्वं च लभते नरः ।
सम्यक्कर्ता च शास्त्राणामध्यात्मगतिकोविदः ॥ ४० ॥

तारिका के सिद्ध हो जाने पर साधक पुरुष सब कुछ प्राप्त कर लेता है । वह शास्त्रों का सम्यक् कर्त्ता हो जाता है । अध्यात्म विद्या का ज्ञाता हो जाता है ॥ ४० ॥

सर्वतन्त्रविधानज्ञः सर्ववेदान्तपारगः ।
सर्वसंदेहनिर्भेदी सर्वनिर्णयपारगः ॥ ४१ ॥

समस्त तन्त्रों के विधान का ज्ञाता, समस्त वेदान्तों का परगामी विद्वान्, समस्त संदेहों का भेदन करने वाला और सारे निर्णय का पारगामी विद्वान् हो जाता है ॥ ४१ ॥

यथार्थवागृजुर्वाग्मी धर्मसागरपारगः ।
परस्य स्वस्य वायं हि विनियोगं चिकीर्षति ॥ ४२ ॥
निग्रहेऽनुग्रहे वापि स स सिध्यति सर्वदा ।

सत्यवक्ता, मधुरवाग्मी, धर्मसागर का पार जाने वाला, वह दूसरों का तथा अपना भी विनियोग करना चाहता है । वह किसी के निग्रह अथवा अनुग्रह में सर्वदा सफल रहता है ॥ ४२-४३ ॥

तारिकामन्त्रस्य विनियोगः, तत्फलं च

शक्रः—

नमः सम्पूर्णषाड्गुण्यविग्रहायै हरिप्रिये ॥ ४३ ॥
अरविन्दगृहायै ते गोविन्दगृहमेधिनि ।
त्वन्मुखाब्जाच्छ्रुता सिद्धिस्तारिकाया विशेषिणी ॥ ४४ ॥
स्थूलसूक्ष्मपराकारा यथावच्च प्रदर्शिताः ।
साधितायाः विधानेन तारायास्त्रिविधात्मनः ॥ ४५ ॥
विनियोगमिदानीं मे वक्तुमर्हसि पद्मजे ।

इन्द्र ने कहा—षाड्गुण्य के शरीर वाली हरिप्रिये ! आपको नमस्कार है । हे गोविन्द की गृहिणीभूते ! आप कमल निवासिनी के लिये मेरा नमस्कार है । विशिष्ट रूप वाली आप के मुख कमल से तारिका की सिद्धि का विषय सुन लिया । आपने तारिका को स्थूल सूक्ष्म और परा जैसा आकार है उसको भी प्रदर्शित किया । अब हे पद्मजे ! तारिका के विनियोग की विधि मुझे अब बतलाइये ॥ -४३-४६- ॥

श्रीः—

एकः षाड्गुण्यपूर्णात्मा हंसो नारायणो वशी ॥ ४६ ॥
हंसी शक्तिरहं तस्य वशिनी सर्वकामदा ।
हंसो हंसी च तावावामुदितौ तारिकात्मना ॥ ४७ ॥

श्री ने कहा—षाड्गुण्यात्मा वशी नारायण एक अनिर्वचनीय हंस हैं और मैं उनकी शक्तिभूता सर्वकामप्रदा वशिनी अनिर्वचनीया हंसिनी हूँ । उस प्रकार वाले हम दोनों हंस और हंसिनी तारिका के रूप में उदित हुये हैं ।।-४६-४७।।

तस्या अस्मत्स्वरूपाया विनियोगं निबोध मे ।
नानाविधेषु मन्त्रेषु बाह्यान्तरविभागतः ॥ ४८ ॥
यावन्तो यादृशा ये च मन्त्राः सन्ति परावराः ।
तदीया विनियोगा ये यावन्तः सन्ति यादृशाः ॥ ४९ ॥
तावन्तस्तादृशास्तेऽस्या विनियोगा न संशयः ।
तथापि विनियोगान्मे कांश्चिच्छक्र निशामय ॥ ५० ॥

अब मत्स्वरूपिणी उस तारिका का विनियोग मुझ से सुनिए—अनेक प्रकार के मन्त्रों में बाहरी और भीतरी भेद से जितने और जैसे छोटे बड़े मन्त्र हैं और वे सब उनके विनियोग जितने और जैसे होते हैं, उनके उतने और वैसे ही विनियोग होते हैं । इसमें संशय नहीं । फिर भी हे शक्र ! मुझ से

कुछ विनियोगों को सुनिए ॥ ४८-५० ॥

धर्मार्थकाममोक्षेषु सद्यः प्रत्ययकारकान्।

वे सभी विनियोग धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में सद्यः प्रत्यय (विश्वास) उत्पन्न करने वाले हैं ॥ ५१- ॥

कृष्णाजिनोत्तरासङ्गां कृष्णाजिननिवासिनीम् ॥ ५१ ॥
कृष्णाजिनाम्बरां त्रस्तकृष्णशाबशुभेक्षणाम् ।
पूर्णचन्द्रनिभां ध्यात्वा ब्रह्ममुद्राक्षसूत्रिणीम् ॥ ५२ ॥
सरोरुहे दधानां चाप्यपरस्मिन् करद्वये ।
इत्थं मामम्बुजाक्षं वा देवदेवं जनार्दनम् ॥ ५३ ॥
ध्यात्वा लक्षं जपेत्तारां धर्मः प्रत्यक्षतामियात् ।

काले मृग के चर्म पर बैठी हुई, काले मृग चर्म में रहने वाली, काले मृग चर्म का वस्त्र धारण करने वाली, अपने नेत्रों की शोभा से कृष्णभृङ्ग के शावक को हतप्रभ करती हुई, पूर्णमासी चन्द्रमा के समान मुख-मण्डल धारण की हुई, अपने दो हाथों में ब्रह्ममुद्रा और जप माला धारण करने वाली और शेष दो हाथों में दो कमल लिये हुये इस प्रकार के स्वरूप वाली मेरा या देवदेव जनार्दन का ध्यान कर यदि तारा मन्त्र का जप एक लाख की संख्या में साधक करे तो उसके सामने धर्म प्रत्यक्ष हो जाता है ॥ -५१-५४- ॥

विभुसंख्यामितान्प्रस्थाञ्शालीनां तण्डुलात्मनाम् ॥ ५४ ॥
सर्पिषस्तावतः प्रस्थान् शर्करायाः पलानि च ।
गुडस्य वापि तावन्ति पाचयेदेकपात्रगान् ॥ ५५ ॥
पयसा तावता तुल्यं विधिना सुशृतं हविः ।
शुक्लप्रतिपदः प्रातरुदितेऽर्धेन भास्करे ॥ ५६ ॥
एकाहुत्यैव जुहुयान्महापात्रस्थितं हविः ।
त्रिष्टुभा जातवेदस्या तारिकाद्यन्तरुद्धया ॥ ५७ ॥
महाकुण्डे महावह्नौ यन्त्रयोगेन बुद्धिमान् ।
अथ प्रातः समारभ्य यावदस्तमयं रवेः ॥ ५८ ॥
अविच्छिन्नं च जुहुयात् स्रुवेणैव गतक्लमः ।
सर्पिषा संस्कृतेनैव तादृश्या त्रिष्टुभा सुधीः ॥ ५९ ॥

तदनन्तर विभु (एक) प्रस्थ शाली—धान का तण्डुल, उतना ही घृत, उतने प्रस्थ शर्करा का पल अथवा गुड़ को, एक पात्र में स्थापित कर पकावे। उतने ही प्रस्थ उसमें दूध डाल देवे। इस प्रकार जब हवि अच्छी प्रकार पक

जावे, तब शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा तिथि को जब भास्कर आधा उदित हों, तब उस महापात्र में स्थित घी से संस्कृत केवल एक ही हवि का होम जातवेदसे ऋचा से करे । आदि में तारिका उसके अन्त में त्रिष्टुभ मन्त्र 'जातवेदस सुनवाम सोमम्' इन दो आद्यन्त मन्त्रों से बुद्धिमान् साधक उस महाकुण्ड की महावह्नि में प्रातःकाल से आरम्भ कर सूर्यास्त पर्यन्त अविच्छिन्न रूप से स्रुवा द्वारा उत्साह पूर्वक होम करे ॥ -५४-५९ ॥

विमर्शिनी—जातवेदस्येति । "जातवेदसे सुनवाम सोमम्" इत्यादिकया ऋचा ॥ ५७ ॥

प्रातरारभ्य शाल्यन्नं पयोदध्याज्यसंस्कृतम् ।
एकैकं भोजयेद्विप्रं प्रातरारभ्य संततम् ॥ ६० ॥
वाचयित्वा द्विजानन्ते तर्पयेद्वेदवित्तमान् ।
दम्पती वैष्णवौ चैवं लक्ष्मीलक्ष्मीशसंज्ञया ॥ ६१ ॥
य एवमाचरेद्धीरो व्यवसायसहायवान् ।
कोटिसंख्यमनौपम्यमक्षयं लभते निधिम् ॥ ६२ ॥

प्रातःकाल से आरम्भ कर पय, दधि एवं आज्य से सुसंस्कृत उस अन्न को एक-एक ब्राह्मण को भोजन कराता रहे । फिर स्वस्ति वाचन करा कर वेदवेत्ता ब्राह्मणों को संतुष्ट करे । इतना ही नहीं स्त्री पुरुष रूप दम्पती को भी लक्ष्मी एवं लक्ष्मीश की संज्ञा की भावना कर उन्हें भी अपने व्यवहार से उसी प्रकार तृप्त करे । फिर तो इस प्रकार करके साधक करोड़ गुना, जिसकी कोई तुलना नहीं है, उतना फल प्राप्त करता है ॥ ६०-६२ ॥

इमं शृणु महाश्चर्यं प्रयोगं पाकशासन ।
तारामादाय पूर्वं तु योजयेत् सुभगेपदम् ॥ ६३ ॥
स्वाहां संयोजयेत् पश्चात्तारिकेयं षडक्षरा ।
उपोष्यैव चतुर्दश्यां पौर्णमास्यामुपक्रमेत् ॥ ६४ ॥

अब, हे पाकशासन ! अत्यन्त आश्चर्यकरी इस आश्चर्य को सुनिए । पहले तारा (ह्रीं) कहे । उसके बाद उसमें 'सुभगे' पद जोड़ देवें । उसके बाद 'स्वाहा' पद जोड़ देवे । तब यह 'ह्रीं सुभगे स्वाहा' इन छह अक्षरों की तारिका बन जाती है । तदनन्तर चतुर्दशी तिथि को उपवास कर पूर्णमासी तिथि में इसका आरम्भ करे ॥ ६३-६४ ॥

जपेद्दशसहस्त्रं तामारामे शोभनद्रुमे ।
आसीनो मध्यतः सम्यक्पूर्णकुम्भप्रदीपयोः ॥ ६५ ॥

किसी वाटिका में अथवा किसी माङ्गलिक वृक्ष के नीचे बैठकर इसका दश हजार जप करे । यह जप दो प्रदीपयुक्त पूर्ण कुम्भ के बीच में बैठकर करना चाहिये ॥ ६५ ॥

ध्यायन्मां पद्मगर्भाभां पङ्कजद्वयधारिणीम् ।
द्विभुजामसितापाङ्गीं नीलकुञ्चितमूर्धजाम् ॥ ६६ ॥

जप करते समय विसतन्तु के समान स्वच्छ कमलों को धारण की हुई, दो भुजा वाली, नीले अङ्ग वाली एवं नीले-नीले घुङ्घराले बाल वाली इस प्रकार के मेरे स्वरूप का ध्यान करता रहे ॥ ६६ ॥

स्मितपूर्णमुखीं रम्यां पीनोन्नतपयोधराम् ।
सर्वाभरणसम्पूर्णां दुकूलोत्तमवासिनीम् ॥ ६७ ॥
सुशुभां सुभगामित्थं ध्यायञ्जपमथाचरेत् ।
तर्पयेज्जुहुयाच्चैव दशांशं तारयानया ॥ ६८ ॥

मन्द स्मित से पूर्ण मुख वाली, अत्यन्त मनोहर स्वरूप वाली, पीन और उन्नत पयोधरों से युक्त, सम्पूर्ण आभरणों से विभूषित, उत्तम दुकुल धारण की हुयी, शोभा सम्पन्न एवं सौभाग्य से संयुक्त इस प्रकार जप करते समय मेरा ध्यान करे । तदनन्तर इसी तारा मन्त्र से दशांश होम तथा तर्पण करे ॥ ६७-६८ ॥

बलिं दद्याच्च शाल्यन्नं पयोघृतगुडान्वितम् ।
स्त्रियं लक्षणसम्पन्नां पूजितां भोजयेत्सुधीः ॥ ६९ ॥

दूध घी और गुड़ से युक्त शालि (धान) की बलि देवे । तदनन्तर सुलक्षण सम्पन्ना स्त्री की पूजा कर उसे भोजन करावे ॥ ६९ ॥

हविष्यं स्वयमश्नीयाद् ब्रह्मचारी सकृन्निशि ।
एवमस्खलितं कुर्यात् त्रिंशद्रात्रं व्रतं त्विदम् ॥ ७० ॥

शेष हविष्य का स्वयं एक बार भोजन करे । रात्रि में ब्रह्मचारी रहे । इस प्रकार बिना किसी व्यवधान के एवं बिना किसी बाधा के तीस रात तक अविच्छिन्न व्रत का आचरण करता रहे ॥ ७० ॥

जपतर्पणहोमाद्यमविच्छिन्नमतन्द्रितः ।
परस्यां पौर्णमास्यां तु व्रतं कृत्वा समापयेत् ॥ ७१ ॥

जप, तर्पण एवं होमादि कार्य बिना किसी प्रकार के आलस्य से उत्साहपूर्वक अविच्छिन्न रूप से करता रहे । तदनन्तर दूसरे मास की पूर्णमासी

को व्रत कर इसका समापन कर देवे ॥ ७१ ॥

व्रतान्ते सा समायाति सुभगा नाम मन्मयी ।
यक्षी किं करवाणीति साधकं सा वदिष्यति ॥ ७२ ॥

व्रत के अन्त में मेरा ही स्वरूप धारण कर सुभगा नाम की यक्षी आवेगी और साधक से कहेगी कि कहिये क्या करूँ ? ॥ ७२ ॥

मातरं भगिनीं भार्यां सखीं वा तां प्रकल्पयेत् ।
मातृत्वेन प्रपन्ना सा सर्वापद्यभोऽपि रक्षति ॥ ७३ ॥

तब साधक उसमें माता, बहिन, भार्या और सखी के सम्बन्ध की कल्पना करे । यदि मातृत्व सम्बन्ध स्थापित करे तो वह समस्त आपत्तियों से रक्षा करेगी ॥ ७३ ॥

विमर्शिनी—प्रकल्पयेत् = मन्वीतेत्यर्थः ॥ ७३ ॥

भगिनीति प्रपन्ना सा सर्वानर्थान् ददाति च ।
प्रियेति स्वीकृता कामान् यावज्जीवं ददाति च ॥ ७४ ॥

यदि भगिनीत्व का सम्बन्ध स्थापित करे तो वह समस्त अर्थों को प्रदान करती है, और यदि प्रियतमा का सम्बन्ध करे तो वह जीवन पर्यन्त समस्त प्रकार की कामनायें पूर्ण करेगी ॥ ७४ ॥

सखीव स्वीकृता सा तु सर्वां संप्रापयेद्दिशम् ।
मोक्षकामो जपेन्नित्यं स्थूलसूक्ष्मपरात्मिकाम् ॥ ७५ ॥

यदि उससे सखी जैसा सम्बन्ध स्वीकार करे तो वह सम्पूर्ण दिशाओं में ले जायेगी । यदि साधक को किसी लौकिक फल की अपेक्षा न हो और वह मोक्ष ही चाहता हो तो वह केवल स्थूल, सूक्ष्म एवं परस्वरूपा तारिका मन्त्र का जप करे ॥ ७५ ॥

पदं तद्वैष्णवं दिव्यं प्रसन्ना प्राप्याम्यहम् ।
वक्ष्यन्ते विनियोगा ये परस्तात्परमन्त्रगाः ॥ ७६ ॥
ते सर्वे तारिकाकार्या ये च मन्त्रान्तराश्रिताः ।

ऐसा करने से मैं स्वयं ही उसे विष्णु पद तक ले जाती हूँ । आगे चलकर दूसरे मन्त्रों के जिन विनियोगों को मैं कहने वाली हूँ । और जो अन्य मन्त्रों के आश्रित हैं उन्हें भी तारिका के विनियोग के समान करे ॥ ७६-७७-॥

विमर्शिनी—तारिकोपासनस्य मोक्ष[illegible]माह—पदं तदिति ॥ ७६ ॥

पौरश्चरणिको मार्गः प्रोक्तस्ते विनियोगवान् ।
तस्याः प्रत्ययसिद्ध्यर्थं सिद्धिमार्गं निबोध मे ॥ ७७ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे तारामन्त्रोपासनक्रमो नाम द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

...

इस प्रकार हे शक्र ! विनियोग सहित तारिका के पुरश्चरण का मार्ग मैने आपसे प्रतिपादित किया । अब उसमें विश्वास के लिये उसकी सिद्धि का मार्ग आप सुनिए ॥ ७७ ॥

विमर्शिनी—तस्या इति । तारिकाया इत्यर्थः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के तारामन्त्रोपासनक्रम नामक बयालिसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ४२ ॥

...

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

नानायोगप्रकाशः

देहस्य मुख्याङ्गेषु भूतेषु च तारिकां विन्यस्य ध्यानम्

श्रीरुवाचः—

शृणु वक्ष्ये परां सिद्धिं नानायोगसमुत्थिताम् ।
विद्यायाः पिण्डभूतायास्तारिकायाः सुरेश्वर ॥ १ ॥

श्री ने कहा—अब हे इन्द्र ! अनेक प्रकार के योगों से युक्त परा सिद्धि को मैं कहती हूँ उसे सुनिए ॥ १ ॥

युञ्जीत विधिवद्योगी तारिकां देहगोचरे ।
नासिकाग्रे च जिह्वाग्रे जिह्वाया मध्यमूलयोः ॥ २ ॥
कण्ठोरसोरुरोऽन्ते च धारयेत्तत्त्वपद्धतिम् ।
क्षित्याद्यां बुद्धिपर्यन्तां स्वस्वकार्यस्वभाववत् ॥ ३ ॥

योगी साधक अपने शरीर में ही विधिपूर्वक तारिका को संयुक्त करे । नासिका के अग्रभाग में, जिह्वा के अग्रभाग में, जिह्वा के मध्य एवं मूल में, कण्ठ में, वक्षःस्थल तथा ऊरू के अन्त में पृथ्वी से लेकर बुद्धि (= महत्तत्त्व) पर्यन्त अपने-अपने कार्यों के स्वभाव वाली तत्त्व पद्धति धारण करे ॥ २-३ ॥

विमर्शिनी—बुद्धिर्महत्तत्त्वम् ॥ ३ ॥

तत्त्वात्तत्त्वान्तरं यास्यन् संख्यया संख्यया जपेत् ।
द्विश्चतुः षट् तथाष्टौ च दशषोडशवारकम् ॥ ४ ॥

एक तत्त्व से दूसरे तत्त्व तक जाने के लिये उनकी संख्या के अनुसार जप करे । जैसे पृथ्वी तत्त्व से जल तत्त्व तक जाने के लिये एक बार, जल

तत्त्व से तेज तत्त्व तक जाने के लिये दो बार इत्यादि, अथवा दूसरे पर दो बार, चौथे पर चार बार, छठे पर छह बार, आठवें पर आठ बार, दशवें पर दश बार और सोलहवें तत्त्व पर सोलह बार जप करे ॥ ४ ॥

विमर्शिनी—तत्त्वादित्यादि । पृथिवीतत्त्वात् अप्तत्त्वगमने इत्यादि रीत्येत्यर्थः ॥ ४ ॥

चतुर्विंशतिवारं च बुद्ध्यन्ते प्रकृतिं स्मरेत् ।
अशीतिं संस्मरेत्तारां तत्र जीवं विचिन्तयेत् ॥ ५ ॥

बुद्धि के बाद प्रकृति तत्त्व तक जाने के लिये २४ बार प्रकृति तत्त्व का जप करे । फिर ८० बार तारा मन्त्र का जप करे और उसी में जीव का स्मरण करे ॥ ५ ॥

यावान् यादृक् च यश्चायं शतं तत्राचरेज्जपम् ।
अव्यक्तचेतनाधारं पुष्करं तदधः स्मरेत् ॥ ६ ॥

यह जीव परिमाण में जितना है और जैसा है, उस प्रकार स्मरण करते हुये सौ की संख्या में जप करे । उसके नीचे अव्यक्त चेतना का आधारभूत पुष्कर (कमल) का स्मरण करे ॥ ६ ॥

तत्त्वाद्यवयवाधारमनन्तं तत्त्ववाहकम् ।
पद्माकारं विचिन्त्यैतज्जपेत्सार्धं शतं सुधीः ॥ ७ ॥

वहाँ पर तत्त्वादि अवयवों के आधारभूत तत्त्ववाहक अनन्त का पद्माकार रूप में ध्यान कर सुधी साधक १५० (सार्ध शत) जप करे ॥ ७ ॥

ततस्तन्नालमव्यक्तकालजीवाक्षरात्मकम् ।
खं यत्तु तत्र कालस्तत्तमोऽन्तःसुषिरूपकम् ॥ ८ ॥
यस्त्वन्तश्चेतनः सोऽयमिति तत्त्रितयात्मकम् ।
चिन्तयित्वा यथावत्तदाचरेद् द्विशतं जपम् ॥ ९ ॥

फिर अव्यक्त काल जीव अक्षरात्मक उसके नाल का स्मरण करे । जो ख (आकाश) स्वरूप है । जहाँ तमोगुणात्मक भीतर से सच्छिद्र कालस्वरूप है, जो अन्तःचेतना वाला है और भूत एवं भविष्यादि रूपेण त्रितयात्मक है । उसका ध्यान करते हुये वहाँ दो सौ की संख्या में जप करे ॥ ८-९ ॥

नालादधोऽनिरुद्धाख्यशक्तिं मां भगवन्मयीम् ।
संस्मरन् रूपकालाद्यैराचरेत्तु शतं जपम् ॥ १० ॥

उस नाल के नीचे भगवन्मयी अनिरुद्ध शक्ति का रूप कालादि द्वारा स्मरण करते हुये सौ की संख्या में जप करे ॥ १० ॥

प्रद्युम्नशक्तिं तदधो जपसंख्या च तादृशी ।
अधः साङ्कर्षणीं शक्तिं जपसंख्या च तादृशी ॥ ११ ॥

उसके नीचे प्रद्युम्न शक्ति का स्मरण करते हुये उतनी ही संख्या में जप करे । उसके नीचे सङ्कर्षणी शक्ति का स्मरण करते हुये उतनी ही संख्या में जप करे ॥ ११ ॥

सर्वाधो वासुदेवाख्यं दाम्पत्यं स्थूलरूपकम् ।
ततः सूक्ष्मं परं तस्मात् परातीतं तु सर्वतः ॥ १२ ॥

सबके नीचे स्थूल स्वरूप वासुदेव नामक दम्पती का स्मरण करे । उसके बाद सूक्ष्म का, उसके बाद पर का उसके बाद सर्वतः परातीत (परमात्मा) का स्मरण करे ॥ १२ ॥

लक्ष्मीनारायणाभासमनिर्देश्यमनौपमम् ।
सर्वतः शक्तिशक्तीशस्पन्दमानमनाविलम् ॥ १३ ॥
प्राप्य योगमयीं निद्रां निद्रामेवं समाविशेत् ।
उत्थायापररात्रे तु द्वादशैतास्तु धारयेत् ॥ १४ ॥

फिर जो लक्ष्मीनारायणात्मक स्वरूप से भासित होते हैं; वह इदमित्थंरूपेण अनिर्देश्य है, तुलना रहित है, सर्वत्र शक्ति और शक्तीश रूपेण परिस्पन्दमान (स्फुरित) है और छिद्र (दोष) रहित है । तदनन्तर योगमयी निद्रा को प्राप्त कर स्वयं उसी योगनिद्रा में तल्लीन हो जावे ॥ १३-१४ ॥

विमर्शिनी—द्वादशेति । वासुदेवादिचतुष्कजीवप्रकृतिबुद्धिभूतानीति द्वादश धारणाः ॥ १४ ॥

वासुदेवादिभूम्यन्तं तत्संख्यानविधिक्रमात् ।
हृदि वा धारयेदेताः समस्ता अपि धारणाः ॥ १५ ॥

तदनन्तर रात्रि के पिछले भाग में उठकर वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, जीव, प्रकृति, बुद्धि और पञ्चमहाभूत—इन बारहों का ध्यान करें, अथवा इन समस्त धारणाओं को हृदय में ही धारण करे ॥ १५ ॥

धारणा द्वादशैवैतास्तारिकायामथापि वा ।
एष सर्वहितो योगो यत्तत्त्वैस्तत्र भूयते ॥ १६ ॥

अथवा इन्हीं द्वादश धारणाओं को तारिका में धारण करे । इस प्रकार जहाँ तत्त्वों की उत्पत्ति है यह एक योग विहित है ॥ १६ ॥

सर्वाण्यपि देहस्थभूतानि स्वस्वकारणेषु विलाप्य शून्यभावावस्थायां ध्यानम्

प्रतिसंहत्य वा सर्वं व्यक्ताव्यक्तमयं पदम् ।
निरालम्बं मनः कृत्वा शून्यभावं समाविशेत् ॥ १७ ॥

अब परमयोग रूप अन्य कल्प कहते हैं—अथवा व्यक्त और अव्यक्तमय सभी तत्त्वों को अपने-अपने कारणों में विलीन कर मन को सर्वथा निर्विषय बनावे । इस प्रकार सर्वथा निर्विषय शून्यभाव रूप मन में प्रवेश करे । निर्विषय मन में प्रविष्ट होकर परमानन्द का अनुभव करना यह परम योग कहा जाता है ॥ १७ ॥

विमर्शिनी—कल्पान्तरमाह—प्रतिसंहत्येति । सर्वाण्यपि तत्त्वानि स्वस्वकारणेषु प्रविलाप्य मनो निर्विषयं कुर्यात् । निर्विषये मनसि यः परमानन्दानुभवः स एव परमो योग इति ॥ १७ ॥

शून्याकारसमाकारं सम्पूर्णमिव वारिधिम् ।
आविशामि महायोगं शून्यभावनिवेशितम् ॥ १८ ॥

उस समय शून्याकार समाकार हो जाने पर मन सम्पूर्ण समुद्र के समान निश्चल आनन्दमय हो जाता है । मैं स्वयं भी शून्यभाव में सन्निविष्ट होकर उस महायोग में निवास करती हूँ ॥ १८ ॥

यदा स्तिमितनिःशब्दनीरदानन्दसंनिभम् ।
योगी भवति युञ्जानः स योगी मत्प्रियः सदा ॥ १९ ॥

जब योग करने वाला योगी अत्यन्त स्थिर निःशब्द मेघ के समान आनन्दमय हो जाता है, तब वह मेरा प्रिय हो जाता है ॥ १९ ॥

ज्ञानं ज्ञेयानि चैकीकृत्यावस्थितौ ध्यानम्

यत्र ध्येयमवच्छिन्नं नैव किञ्चन विद्यते ।
अज्ञेयमनवच्छिन्नं तद्रूपं मद्वपुः स्फुटम् ॥ २० ॥

ज़हाँ ध्येय अत्यन्त परिमित रहता है अथवा जहाँ कुछ भी नहीं रहता है, जो अज्ञेय है, सर्वदा तैल धारावत् अविच्छिन्न है वही मेरा प्रत्यक्ष शरीर है ॥ २० ॥

विमर्शिनी—अवच्छिन्नं = परिमितम् ॥ २० ॥

आत्मसात्कुरुते योगी ज्ञेयं सकलमक्रमम् ।
वितता सा महाज्वाला निस्तरङ्गा तनुर्मम ॥ २१ ॥

जब योगी बिना क्रम के ही सभी तत्त्वों को आत्मसात् (अपने में विलीन) कर लेता है तब वह मेरा शरीर महाज्वाला के समान विस्तृत होकर निस्तरङ्ग (चाञ्चल्य रहित) हो जाता है ॥ २१ ॥

हूयन्ते मनसा यत्र भूतानि भुवनानि च ।
सर्वभावस्तदा शश्वद्भावो मे प्रविजृम्भते ॥ २२ ॥

जिस मेरे शरीर में समस्त भुवनों सहित समस्त महापञ्चभूत का जब हवन कर दिया जाता है, तब सर्वभाव अथवा शश्वद्भाव का स्फुरण होने लगता है ॥ २२ ॥

विमर्शिनी—सर्वभाव: = विश्वात्मना वर्तमानता । भाव: = सत्ता ॥ २२ ॥

स्रुचा च मनसा हुत्वा भूताक्षभुवनादिकम् ।
तां च स्रुचं प्रहृत्याथ योगिना भूयते मया ॥ २३ ॥

जब मन रूप स्रुचा से पञ्चमहाभूत एवं इन्द्रियाँ और भुवनादि का हवन कर दिया जाता है, तब उस स्रुचा को छोड़ कर वह योगी मेरा स्वरूप हो जाता है ॥ २३ ॥

विमर्शिनी—मया भूयते; मदात्मना भूयत इति भावे प्रयोग: ज्ञेय: ॥ २३ ॥

यदवच्छिद्यते येन तत्तु तस्मान्महत्तरम् ।
धियावच्छिद्यते सर्वं यद्यदस्ति च नास्ति च ॥ २४ ॥

अब देवी की ज्ञान स्वरूपता का प्रतिपादन करते हैं । जिससे जो काटा जाता है, वह उससे महत्तर होता है । इस जगत् में जो है और जो नहीं है, वह बुद्धि से काट दिया जाता है ॥ २४ ॥

विमर्शिनी—देव्या ज्ञानस्वरूपत्वमुच्यते—यदवच्छिद्यत इत्यादिना ॥ २४ ॥

सा नावच्छिद्यतेऽन्येन तनुः सा मे निरञ्जना ।
धियो नैतौ बहिर्भूतावभावो भाव एव वा ॥ २५ ॥

वह बुद्धि किसी अन्य से छिन्न नहीं की जा सकती । क्योंकि वही मेरा निरञ्जन (मायारहित) शरीर है । इस जगत् के जितने भाव और अभाव पदार्थ हैं, वे बुद्धि से बाहर नहीं है ॥ २५ ॥

अनालीढौ धिया न स्तः सा मे तनुरनञ्जना ।

वे भाव और अभाव बुद्धि से अनालीढ़ (ज्ञान से बाहर) नहीं रहते । अत: वही (बुद्धि) मेरी निरञ्जना (मायारहित) शरीर है ॥ २६ ॥

विमर्शिनी—योगपरिपाकदशायां सर्वमपि जगत् धीरूपमेवावभासत इत्यत्र लौकिकं निदर्शनमाह—यदातिक्रम्येति ॥ २६ ॥

यदातिक्रम्य मर्यादां जलधिः प्लावयेज्जगत् ॥ २६ ॥
तदा न स्थलनिम्ने स्तस्तथा मय्यखिलं जगत् ।
नेदमल्पात्मना शक्यमास्थातुं परमं पदम् ॥ २७ ॥

जब समुद्र मर्यादा का अतिक्रमण कर सारे संसार को अपने में डुबो देता है तब स्थल सर्वत्र समतल दिखाई पड़ता है । ऊँच-नीच स्थल का क्रम जैसे नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार योग की परिपाक अवस्था में सारा जगत् बुद्धिरूप में ही भासित होता है । अतः अल्प आत्मा वाले (छोटी बुद्धि वाले) इस पद को प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ रहते हैं ॥ -२६-२७ ॥

कुर्याद्विच्छिद्य विच्छिद्य योगमेतदवाप्तये ।
भावे भावे शुभेऽन्यत्र भूते भवति भाविनि ॥ २८ ॥
स्मरेत् सारतरं रूपं परमं पारमेश्वरम् ।
संभरन्ति प्रसूनेषु मधु सर्वेषु षट्पदाः ॥ २९ ॥
संभरन्ति तथैकां मां सर्वभावेषु योगिनः ।
यत्र यत्र मनो याति लक्ष्मीं तत्रैव चिन्तयेत् ॥ ३० ॥

इस समत्व योग की प्राप्ति के लिये टुकड़ा-टुकड़ा कर एक-एक अंश से यह योग प्रारम्भ करे । सभी भाव अभाव पदार्थों में, शुभ-अशुभ में, भूत, वर्तमान और भविष्य में अत्यन्त सारभूत परमेश्वर के परम स्वरूप का ध्यान करे । जैसे भौंरे सभी पुष्पों में से एकमात्र मधु ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार योगीजन सभी पदार्थों में एक मेरे स्वरूप का दर्शन करते हैं । अतः जहाँ-जहाँ मन जावे, वहाँ-वहाँ सर्वत्र एकमात्र मुझ लक्ष्मी का दर्शन करे ॥ २८-३० ॥

विमर्शिनी—सर्वभावानां स्वात्मना भाव्यत्वे निदर्शनमाह—संभरन्तीति ॥ २९॥

चलित्वा तत् कुतो याति सर्वं तन्मन्मयं हि यत् ।
तत्त्वानां पद्धतिं मालां मत्सूत्रग्रथितां स्मरेत् ॥ ३१ ॥

फिर जब यह सारा जगत् मेरा स्वरूप है तब वह मन बहुत चञ्चल होकर भी जा कहाँ सकता है । क्योंकि समस्त तत्त्व पद्धति की माला मेरे स्वरूप सूत्र में गूँथी गई है । अतः सर्वत्र मेरा स्मरण करे ॥ ३१ ॥

मयि वा भित्तिभूतायां चित्रवत् संस्मरेज्जगत् ।
स्तिमितापारगम्भीरे फेनपिण्डं यथाम्बुधौ ॥ ३२ ॥

अथवा सर्वथा स्थिर रहने वाले अपार गम्भीर महा समुद्र में फेन के पिण्ड के समान भित्तिभूत मुझ में यह सारा जगत् चित्र रूप में निर्मित है । इस प्रकार के मेरे स्वरूप का ध्यान करे ॥ ३२ ॥

स्मरेत् क्रमोत्क्रमाभ्यां वा प्रमात्रादिचतुष्टयम् ।
प्रभवन्तीं मदाकारादपि यान्तीं च तां पुनः ॥ ३३ ॥

अथवा क्रम एवं उत्क्रम से प्रमाता, प्रमाकरण, प्रमेय और प्रमिति रूप प्रमाता आदि चतुष्टय का ध्यान करे । यह सारी तत्त्व पद्धति जिस मेरे स्वरूप से उत्पन्न होती है, पुनः उसी में विलीन भी हो जाती है ॥ ३३ ॥

विमर्शिनी—चतुष्टयमिति । प्रमाता, प्रमाकरणम्, प्रमेयम्, प्रमितिरिति चतुष्टयमित्यर्थः । प्रभवन्तीमिति तत्त्वानां पद्धतिमित्यनेनान्वेति ॥ ३३ ॥

पुमानाद्यो मदुन्मेषः स मत्सङ्कल्पकल्पितः ।
अन्तःकरणसंज्ञोऽन्यो मदुन्मेषोऽधरावनौ ॥ ३४ ॥

मेरे सङ्कल्प से सङ्कल्पित यह पुरुष जिसका प्रथम उन्मेष है, फिर उससे नीचे वाले धरातल में अन्तःकरण संज्ञा वाला जिसका दूसरा उन्मेष है ॥ ३४॥

बहिष्करणरूपोऽन्यस्तृतीयस्तदधः क्षितौ ।
भावरूपः प्रमेयात्मा तुर्योऽयमधराधरः ॥ ३५ ॥

उसके नीचे वाले धरातल में बहिष्करण रूप तीसरा उन्मेष है । भाव रूप प्रमेयात्मा यह चौथा उन्मेष सबसे नीचे वाला है ॥ ३५ ॥

मत्सङ्कल्पवशेनैव सदानन्दचिदात्मिकाम् ।
भावयन्ननिशं शश्वत् क्रमव्युत्क्रमतो धिया ॥ ३६ ॥
इमां चतुष्टयीं हित्वा मद्भावं प्रतिपद्यते ।

देहस्थेषु द्वात्रिंशत्पद्मेषु तारिकाया ध्यानम्

विज्ञानाधारभूतेषु द्वात्रिंशत्यम्बुजेषु वा ॥ ३७ ॥
ध्यायेद्दीपशिखाभां मामथवा रूपसुन्दरीम् ।

मेरे सङ्कल्प के वश से सदानन्दचिदात्मिका का निरन्तर क्रम एवं व्युत्क्रम बुद्धि से भावना करता हुआ और उक्त पुरुष से लेकर प्रमेयात्मा पर्यन्त इन चारों को त्याग कर साधक मेरे भाव को प्राप्त कर लेता है । अथवा विज्ञान के आधारभूत वक्ष्यमाण ३२ कमलों पर दीप शिखा के समान आभा वाली अथवा परम सुन्दरी रूप में मेरा ध्यान करे तो भी साधक मुझे प्राप्त कर लेता है ॥ ३६-३८- ॥

विमर्शिनी—द्वात्रिंशति अम्बुजेष्विति पदच्छेदः । द्वात्रिंशदम्बुजानि निर्दिशति —आधारेति । व्युच्छन्त्यादीनि षट् । पश्यन्त्यादीनि पञ्च । बोधयन्त्यादीनि पञ्च । घोषयन्त्यादीनि पञ्च । ग्राहयन्त्यादीनि पञ्च । प्रणयन्त्यादीनि षट् ॥ ३६-४६ ॥

आधारपद्मादारभ्य नाभिपद्मादधो भुवि ॥ ३८ ॥
षट् पद्मा योगिनां चिन्त्यास्तेषां नामानि मे शृणु ।
व्युच्छन्ती व्युषिता व्युष्टा व्युषुषी व्योषुषी रमा ॥ ३९ ॥

अब बत्तीस दल कमलों का निर्देश करते हैं—आधार पद्म से लेकर नाभिपद्म के नीचे के धरातल पर छह पद्मों का योगी जनों को ध्यान करना चाहिये । हे इन्द्र ! अब उनके नामों को सुनिए । व्युच्छन्ती, व्युषिता, व्युष्टा, व्युषुषी, व्योषुषी और रमा—ये उनके नाम है ॥ -३८-३९ ॥

नाभिपद्माद्धृदम्भोजात् पञ्च पद्मान् प्रचक्षते ।
पश्यन्ती नाभिपद्माख्या पश्या पश्येतरात्मिका ॥ ४० ॥
दृश्या च दृश्यमाना च हृदयं पङ्कजाह्वयाः ।
हृत्कण्ठान्तरमध्याच्च पञ्चपद्माह्वयाञ्शृणु ॥ ४१ ॥

नाभिपद्म से हृत्कमल पर्यन्त पाँच कमल है । पश्यन्ती नाभि में रहने वाला पद्म है । फिर पश्या, पश्येतरात्मिका, दृश्या और दृश्यमाना—यह हृदय में रहने वाला पद्म है । अब हृदय और कण्ठ के मध्य में रहने वाले पाँच पद्मों के नाम सुनिए ॥ ४०-४१ ॥

बोधयन्ती च बोद्धी च बुध्यमाना तथेतरा ।
घोषोन्मेषा च संज्ञाः स्युः कण्ठहन्मध्यपद्मगाः ॥ ४२ ॥

बोधयन्ती, बोद्धी, बुध्यमाना तथा घोषा और उन्मेषा—ये कण्ठ और हृदय के मध्य में रहने वाले कमलों के नाम हैं ॥ ४२ ॥

कण्ठताल्वन्तराम्भोजपञ्चकाख्या इमाः शृणु ।
घोषयन्ती च घुष्यन्ती घुष्टा घोषा तथेतरा ॥ ४३ ॥

कण्ठ और तालु के मध्य में रहने वाले इन पाँच पद्मों के नाम सुनिए । घोषयन्ती, घुष्यन्ती, घुष्टा, घोषा एवं तथेतरा ॥ ४३ ॥

तालुभ्रूमध्यदेशस्था पञ्चपद्माह्वया इमे ।
ग्राहयन्ती च गृह्णाना जिघृक्षा च गृहीतिका ॥ ४४ ॥
निर्णीतिरिति तालुभ्रूमध्याम्भोजगणाभिधाः ।
भ्रूमूर्धमध्यपद्मानां षण्णामाख्या इमाः शृणु ॥ ४५ ॥

तालु और भ्रू के मध्य में रहने वाले पाँच पद्म हैं । ग्राहयन्ती, गृह्णाना, जिघृक्षा, गृहीतिका और निर्णीति—ये तालु और भ्रू के मध्य में रहने वाले कमलों के नाम हैं । अब भ्रू और मूर्धा के मध्य में रहने वाले छह कमलों के नाम सुनिए ॥ ४४-४५ ॥

प्राणयन्ती प्राणती च प्राणा प्राणावबोधिनी ।
परा बोधेति ता एता भ्रूमध्यान्तःस्थपद्मगाः ॥ ४६ ॥

प्राणयन्ती, प्राणती, प्राणा, प्राणावबोधिनी, परा और बोधा—ये छह भ्रू और मूर्धा के भीतर रहने वाले पद्म है ॥ ४६ ॥

विमर्शिनी—इस प्रकार व्युच्छन्त्यादि छह, पश्यन्त्यादि पाँच, बोधयन्त्यादि पाँच, घोषयन्त्यादि पाँच, ग्राहयन्त्यादि पाँच और प्राणयन्त्यादि छह—कुल ३२ कमल हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

रत्नदीपशिखाभेषु भावयेन्मां क्रमोत्क्रमात् ।
गृणन्मां तारिकां दीर्घां दीर्घघण्टानदोपमाम् ॥ ४७ ॥
इत्थं मां चिन्तयन् योगी सुरूपां वापि संस्मरन् ।
विहाय सकलं क्लेशं मद्भावं प्रतिपद्यते ॥ ४८ ॥

रत्नदीप की शिखा के समान आभा वाले इन कमलों पर क्रम अथवा व्युत्क्रम से दीर्घ घण्टा के नाद के समान मुझ तारिका का ध्यान करें, अथवा अत्यन्त मनोहर सुरूपवती रूप में योगी ध्यान करे तो वह संसार के आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक तीनो क्लेशों को पार कर मेरे लक्ष्मीनारायणात्मक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है ॥ ४७-४८ ॥

सर्वमपि लक्ष्मीनारायणात्मना सङ्कलय्य ध्यानम्

लक्षयेद्वापि पद्मेषु नवस्वेषु क्रमोत्क्रमात् ।
आधारे त्रीणि पद्मानि हृदयाधोऽम्बुजत्रयम् ॥ ४९ ॥
मूर्ध्नोऽधस्त्रीणि पद्मानि नवपद्मविधिक्रमः ।
द्वादशस्वथवाब्जेषु मूर्धाद्येषु द्विके द्विके ॥ ५० ॥
षट्सु वा प्रथमाब्जेषु त्रिषु वा मूलहृद्भुवि ।
भ्रूमध्ये चिन्तयेद्वापि तारिकां तारनादिनीम् ॥ ५१ ॥

अथवा आधार के तीन पद्मों में, हृदय के नीचे वाले तीन पद्मों में और मूर्धा के नीचे रहने वाले तीन पद्मों में इस प्रकार कुल नव पद्मों में ही मेरा ध्यान करे । अथवा मूर्धादिक के दो-दो, प्रथम के छह और हृदय के तीन

कमलो में इस प्रकार कुल बारह कमलों का ध्यान भ्रू के मध्य में कर, उच्च रूप से शब्द करती हुई मुझ तारिका का ध्यान करे ॥ ४९-५१ ॥

तद्बिन्दुं चिन्तयेत् पूर्वं मुद्गमात्रं सुभास्वरम् ।
ततः सर्षपमात्रं तु ततश्चित्रमनाकृतिम् ॥ ५२ ॥

सर्व प्रथम मूँग के समान उसके दीप्तिमान बिन्दु का स्मरण करे । इसके बाद सरसों के समान बिन्दु का, फिर इसके बाद आकृति रहित चित्र जैसा ध्यान करे ॥ ५२ ॥

यो यो वा गृह्यते भावो घटकुड्यादिरूपवान् ।
चिन्तयेत्तत्र तत्त्वानि यानि यावन्ति शास्त्रतः ॥ ५३ ॥

घट कुड्यादि रूपवान् जो-जो भी पदार्थ दिखाई पड़े उसमें शास्त्र में कहे गए जितने और जो-जो तत्त्व हैं, उनका ध्यान करे ॥ ५३ ॥

मन्मयीकृत्य तत्रैतान्यहंभावनया स्मरेत् ।
हेतुमद्धेतुभूतानि लोके वस्तूनि यानि वा ॥ ५४ ॥
आश्रिताश्रयरूपाणि यानि स्वच्छघनानि वा ।
भावतद्वत्स्वरूपाणि शुभाशुभमयानि च ॥ ५५ ॥
प्रसवाप्रसवात्मानि गुणगुण्याकृतीनि वा ।
आधाराधेयभूतानि शक्तितद्वन्मयानि वा ॥ ५६ ॥
भोग्यभोक्तृस्वरूपाणि नारीनरमयानि वा ।
क्रियाकर्तृस्वरूपाणि ह्युपायोपेयकानि वा ॥ ५७ ॥
स्त्रीपुंप्रत्ययरूपाणि शब्दरूपाणि यानि वा ।
द्वन्द्वभूतानि वस्तूनि लोकेऽस्मिन् यानि कानिचित् ॥ ५८ ॥
तानि योगी धिया पश्येल्लक्ष्मीनारायणात्मना ।
तन्त्रस्य परमं गुह्यं व्रतं शृणु पुरंदर ॥ ५९ ॥

उन कमलों पर उन-उन तत्त्वों को मेरे स्वरूप में परिणत कर उसे 'अहं' की भावना से स्मरण करे । इस लोक में हेतु-हेतुमद्भूत जितनी वस्तुयें हैं जैसे आश्रित और आश्रय रूप वाली, स्वच्छ और घने रूप वाली, भाव और भाववान् स्वरूप वाली, शुभ और अशुभ वाली, प्रसव और अप्रसव स्वरूप वाली, गुण और गुणवान् स्वरूप वाली, आधाराधेयभूत शक्ति और शक्तिमान्, भोग्य भोक्तृत्वरूप नारी एवं नरमय, क्रिया कर्तृत्वस्वरूप, उपाय और अपाय स्वरूप वाली, स्त्री और पुरुष रूप में प्रतीत होने वाली—इस प्रकार लोक में जितनी भी द्वन्द्व स्वरूप वाली वस्तुयें शब्द के द्वारा कही जा सकती हैं योगी

उन-उन वस्तुओं को अपनी बुद्धि से लक्ष्मीनारायण के स्वरूप में देखे । अब हे इन्द्र ! तन्त्र के परम गोपनीय व्रत को सुनिए ॥ ५४-५९ ॥

योगिनियमाः

योगिना यदनुष्ठेयं लक्ष्मीयोगविधिक्रमे ।
प्रवर्तमानया पूर्वमादिदेवाज्जगद्विधौ ॥ ६० ॥
आत्तं सीमन्तिनीरूपं मया साभिनिवेशया ।
चिकीर्षुर्मत्प्रियं योगी लक्ष्मीतन्त्रविचक्षणः ॥ ६१ ॥
न स्मरेत् कामिनीनिन्दां कर्मणा मनसा गिरा ।
यत्राहं तत्र तत्त्वानि यत्राहं तत्र देवताः ॥ ६२ ॥

लक्ष्मीयाग के विधान के क्रम में योगीजनों के लिये जो अनुष्ठेय है आदिदेव परमात्मा की जगत् की सृष्टि के पहले प्रवर्त्तमान होने वाली मैंने अत्यन्त आग्रहपूर्वक सीमन्तिनी के स्वरूप को स्वीकार किया । अतः लक्ष्मीतन्त्र विचक्षण योगी मेरा प्रिय करने की इच्छा से किसी भी कामिनी की निन्दा मन वाणी और कर्म से कदापि न करे क्योंकि जहाँ मैं हूँ वहीं समस्त तत्त्व हैं जहाँ मैं हूँ वहीं सारे देवताओं का निवास है ॥ ६०-६२ ॥

यत्राहं तत्र पुण्यानि यत्राहं तत्र केशवः ।
वनितायामहं तस्मान्नारी सर्वजगन्मयी ॥ ६३ ॥

जहाँ मैं हूँ वही सारे पुण्यों का निवास है । बहुत क्या, जहाँ मैं हूँ वहाँ स्वयं केशव रहते हैं । इसलिये स्त्री जाति में सर्वजगन्मयी नारी स्वरूपा मैं हूँ ॥ ६३ ॥

योऽभिनिन्दति तां नारीं स लक्ष्मीमभिनिन्दति ।
योऽभिनन्दति तां लक्ष्मीं त्रैलोक्यमभिनन्दति ॥ ६४ ॥

जो स्त्री की निन्दा करता है वह मुझ लक्ष्मी की निन्दा करता है और जो उस महालक्ष्मी का अभिनन्दन करता है वह सारे त्रैलोक्य का अभिनन्दन करता है ॥ ६४ ॥

यो द्वेष्टि वनितां कांचित् स द्वेष्टि हरिवल्लभाम् ।
यो हरेर्वल्लभां द्वेष्टि स द्वेष्टि सकलं जगत् ॥ ६५ ॥

जो स्त्री से द्वेष करता है समझो वह हरिवल्लभा साक्षात् लक्ष्मी से द्वेष करता है और जो उन हरिवल्लभा से द्वेष करता है वह मानो सारे जगत् से द्वेष करता है ॥ ६५ ॥

ज्योत्स्नामिव स्त्रियं दृष्ट्वा यस्य चित्तं प्रसीदति ।
नापध्यायति यत्किंचित् स मे प्रियतमो मतः ॥ ६६ ॥

जिसका चित्त चन्द्रिका के समान स्त्री को देखकर प्रसन्न होता है और जो उसके प्रति बुरा विचार नहीं रखता, वह सबसे बढ़कर मेरा प्रिय है ॥ ६६ ॥

यथा नारायणे नास्ति मयि वा शक्र किल्विषम् ।
यथा गवि यथा विप्रे यथा वेदान्तवेदिनि ॥ ६७ ॥
वनितायां तथा शक्र दुरितं नैव विद्यते ।
अकल्मषा यथा गङ्गा यथा पुण्या सरस्वती ॥ ६८ ॥
अरुणा ह्यापगा यद्वत्तथा सीमन्तिनी वरा ।
यदस्मि जननी नाम त्रयाणां जगतामहम् ॥ ६९ ॥
तदिदं नार्यवष्टम्भात् सा हि मे परमं बलम् ।
त्रैलोक्यजननी देवी सर्वकामसमृद्धिनी ॥ ७० ॥

हे शक्र ! जिस प्रकार नारायण में और मुझ में रञ्चमात्र भी पाप वासना नही है जिस प्रकार गौ में और वेदान्तवेत्ता ब्राह्मण में रञ्चमात्र किल्विष नहीं रहता उसी प्रकार हे इन्द्र ! स्त्री जाति में भी पाप का लेश नहीं रहता । जिस प्रकार गङ्गा निष्पाप हैं, जिस प्रकार सरस्वती निष्पाप है, जिस प्रकार अरुणा नदी निष्पाप है, उसी प्रकार सीमन्तिनी स्त्री भी निष्पाप है । यतः मैं इस त्रिलोक की जन्मदात्री होने से उसकी जननी हूँ । नारी में रहने वाली इतनी वड़ा प्रशंसा ही उसका सबसे बड़ा बल है कि वह सारे त्रैलोक्य की जननी है, और समस्त कामनाओं की समृद्धिनी है ॥ ६७-७० ॥

मत्तनुर्वनिता साक्षाद्योगी कस्मान्न पूजयेत् ।
न कुर्याद् वृजिनं नार्याः कुवृत्तं न स्मरेत् स्त्रियाः ॥ ७१ ॥

यतः वनिता साक्षात् मेरा शरीर है अतः योगी क्यों न उस वनिता की पूजा करे । नारी में पाप वासना कदापि न लावे । उसके बुरे आचरण का कदापि विचार न करे ॥ ७१ ॥

ऋते पापात् प्रियं नार्याः कार्यं योगमभीप्सता ।
जननीमिव तां पश्येद्देवतामिव मामिव ॥ ७२ ॥

योग सिद्धि चाहने वाला पुरुष स्त्री में पाप वासना कदापि न करे । सर्वदा उसका प्रिय करे । उसे जननी के समान समझे और जैसे मुझे देवता समझा जाता है उसी प्रकार वनिता को भी देवता समझे ॥ ७२ ॥

यो द्वेष्टि वनितां मोहात्तत्साहाय्यं न चाचरेत् ।
इदं च शृणु देवेश यद्वक्ष्यामि प्रियोऽसि मे ॥ ७३ ॥

जो मोहवश वनिता में द्वेषबुद्धि रखे, उसकी कदापि सहायता न करे । हे देवेश ! यत: आप मेरे प्रिय हो, अत: जिस बात को मैं आपसे कह रही हूँ उसे सुनिए ॥ ७३ ॥

श्रुत्वा त्वयाप्यनुष्ठेयं नैव वाच्यं हि कस्यचित् ।
या रूपिणी वरारोहा काचिद् दृष्टिपथं गता ॥ ७४ ॥
तस्यां मां भावयेद्योगी तारिकां मनसा गृणन् ।
अलोलुपेन चित्तेन तस्या रूपमनुस्मरेत् ॥ ७५ ॥

उसे सुनकर आप भी उसी प्रकार का आचरण करना, किसी से यह बात प्रकाशित नहीं करना । यदि कोई स्वरूपवती स्त्री दृष्टिपथ में आ जावे तो योगी तारिका मन्त्र का स्मरण करते हुये उसमें मेरी भावना करे । उसके स्वरूप की लोलुपता रहित होकर निर्विकार चित्त से उसके रूप में (मन्त्र का) स्मरण करे ॥ ७४-७५ ॥

प्राणं सूर्यं परात्मानं नारीहृदयपूरुषम् ।
संस्मरेदनलं तत्र रूपलावण्यसम्पदम् ॥ ७६ ॥

स्त्री में रहने वाली रूप एवं सौन्दर्य रूप सम्पत्ति को प्राण, सूर्य, परात्मा नारी के हृदय में रहने वाला पुरुष तथा अग्नि समझे ॥ ७६ ॥

अशेषसम्पदोपेतां तां नारीं मामनुस्मरेत् ।
अनुस्मृत्य गृणन् ब्रह्म भावयेदेव मां धिया ॥ ७७ ॥

सम्पूर्ण लावण्य सम्पदा से संयुक्त नारी उसको मेरा ही स्वरूप समझे । उसका स्मरण करते हुये ॐ कार का स्मरण कर मेरा ध्यान करे ॥ ७७ ॥

ततः समाधिसम्पत्तौ तत्राविष्टा भवाम्यहम् ।
स्तब्धसर्वाङ्गविस्रंसो मदावेशस्य लक्षणम् ॥ ७८ ॥

ऐसा करने से मैं उनकी समाधि सम्पत्ति में स्वयं समाविष्ट हो जाती हूँ । जब साधक सर्वाङ्ग स्तब्ध होकर शिथिल हो गिरने लगता है वहीं मेरे आवेश का लक्षण है ॥ ७८ ॥

अलोलुपेन चित्तेन मां समाराध्य यत्नतः ।
विरमेदेव युञ्जानः पाप्मानं परिवर्जयन् ॥ ७९ ॥

इस प्रकार लोलुपता रहित होकर निर्विकार चित्त से यत्नपूर्वक मेरा समाराधन कर, पापों का परित्याग करता हुआ युञ्जान योगी विराम प्राप्त करे ॥ ७९ ॥

एतत्तु परदारेषु नैव कार्यं विजानता ।
अयं समाधिर्यत्रासीत् सानुरज्यति तद् ध्रुवम् ॥ ८० ॥

विद्वान् पुरुष इस समाधि योग का उपयोग दूसरे की स्त्री में न करे । क्योंकि यह समाधि जिसमें की जायेगी वह अवश्य ही उस पुरुष में आसक्त हो जायेगी ॥ ८० ॥

स्वस्त्रियामेव कुर्वीत साधारण्यामथापि वा ।
विप्लवोऽपि न दोषोऽत्र यतो मद्भावभावना ॥ ८१ ॥

इस प्रकार का ध्यान अपनी स्वरूपवती स्त्री में ही करे । अथवा साधारणी स्त्री में करे । इसमें विप्लव (गड़बड़ी) हो जाने से भी कोई दोष नहीं लगता क्योंकि वह भावना मेरे भाव से हुई है ॥ ८१ ॥

संस्पर्शजेषु भोगेषु यः संहर्षमहोदयः ।
मद्रूपं तदनुध्यायेदविक्षिप्तेन चेतसा ॥ ८२ ॥

इन्द्रियजन्य भोगों में जो प्रसन्नता प्राप्त होती है, उसमें भी विक्षेपरहित मन से मेरे रूप का ध्यान करे ॥ ८२ ॥

प्रशस्तविषयोत्थं यत् सुखं लेखनमन्थनात् ।
स्मरतस्तत्प्रहर्षो यस्तद्भावमनुशीलयेत् ॥ ८३ ॥

प्रशस्त विषयों के अच्छी तरह विचारपूर्वक लिख लेने पर जैसा सुख होता है उस सुख का स्मरण करते हुये जो सुख होता है उसी भाव का इस विषय सुख में भी अनुशीलन करे ॥ ८३ ॥

चक्षुषा विषये दृष्टे या प्रीतिरुपजायते ।
रसिते च श्रुते घ्राते सा मे सुखमयी तनुः ॥ ८४ ॥

चक्षु के द्वारा उसके विषय रूपादि के देखने से अथवा रसना से रस का स्वाद लेने में, कानों से शब्द को सुनने में तथा नाक द्वारा उसके विषय गन्ध के ग्रहण करने में जो सुख प्राप्त होता है वही मेरा सुखमयी शरीर है ॥ ८४॥

यदृच्छोपनतेष्वेवं शब्दस्पर्शरसादिषु ।
उपपत्तिरियं प्रोक्ता चेतो दमयतो यतेः ॥ ८५ ॥

अपने चित्त का दमन करने वाले यति के लिये हमने यदृच्छा से संप्राप्त शब्द, स्पर्श एवं रसादि के विषय में यह उपपत्ति (युक्ति) मैने कही है ॥ ८५॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आदिमन्तोऽन्तवन्तश्च न तेषु रमयेन्मनः ॥ ८६ ॥

ऐसे तो विषय और इन्द्रियों के संयोग से होने वाले सभी भोग दुःख के कारण होते हैं । आदिमान और अन्तवान् होते हैं । अतः बुद्धिमान् पुरुष का मन उनके विषय में सुख प्राप्त नहीं करता ॥ ८६ ॥

निरस्तरजसा ध्वस्ततमसा सत्त्ववर्तिना ।
यदन्तःकरणेनान्तर्व्यज्यते सुखमुत्तमम् ॥ ८७ ॥

रजोरहित एवं विध्वस्त तमो गुण वाले, इस प्रकार केवल सत्त्वगुण वाले अन्तःकरण से स्वयं जो सुख प्राप्त होता है-वही उत्तम सुख है ॥ ८७ ॥

आद्यन्तविधुरं तन्मे सुखं ज्ञानमयं वपुः ।
तत्तादृग्व्यज्यते नैव संस्पर्शैर्विषयाश्रितैः ॥ ८८ ॥

आद्यन्तरहित (नित्य एवं अविनाशी) वही ज्ञानमय सुख मेरा शरीर है । वैसा सुख विषयेन्द्रिय के संयोग से कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता ॥ ८८ ॥

अनुबध्नन्ति यद् दुःखं विषयाः सुखवाहिनः ।
मध्वन्तर्विषसंसृष्टं मधुरं यदि भक्षणे ॥ ८९ ॥
किं तेनानन्तरं यत्तद्व्यापादयति भक्षिणम् ।
क्रुद्धस्य फणिनश्छायां यः श्रयेदातपार्दितः ॥ ९० ॥

सुख देने वाले वे विषय अन्ततोगत्वा दुःख ही प्रदान करते हैं । जिस प्रकार मधुमिश्रित विष भक्षण काल में मधुर प्रतीत होता है । किन्तु अन्त परिणाम में वह खाने वाले को मार डालता है । यदि कोई धूप से संतृप्त होने पर किसी क्रुद्ध विषधर की फणि की छाया के सेवन करे तो वह स्वयं विनष्ट हो जाता है ॥ ८९-९० ॥

न सेवेत नरो भोगान् सुखाय स्पर्शसंभवान् ।
साध्यान् दुःखव्ययायासैः सुदर्शान् दुःखमिश्रितान्॥ ९१ ॥

अतः मनुष्य सुख प्राप्ति के लिये इन्द्रिय विषयजन्य भोगों का सेवन न करे । एक तो वह दुःख, व्यय और आयास साध्य है दूसरे देखने में अच्छा लगने पर भी दुःखमिश्रित है ॥ ९१ ॥

तनीयसः क्षयिष्णूंश्च कः श्रयेद्विषयान् सुखी ।

सुख चाहने वाला ऐसा कौन सा व्यक्ति होगा जो क्षणिक और क्षमिष्णु विषय सुख की कामना करेगा ॥ ९२- ॥

जप्यपूतमिताहारदिव्यसत्त्वतनूकृतौ ॥ ९२ ॥
रजस्तमोगुणौ क्षिण्वन् मत्प्रियाचारकर्मणा ।
योगी समाधये शश्वद्यत्नेन दमयेन्मनः ॥ ९३ ॥

जप से पवित्र मिताहार से दिव्य सत्त्वयुक्त शरीर बनावे, परन्तु रज और तमो गुणों को विनष्ट करे । मेरे अनुकूल आचरण कर्म करे । इस प्रकार योगी समाधि की प्राप्ति हेतु प्रयत्नपूर्वक अपने मन का दमन करे ॥ -९२-९३ ॥

जिते मनसि वै शश्वद्विश्वं तेन विजीयते ।
जिते मनसि शुद्धा मे तनुरुन्मिषति स्वयम् ॥ ९४ ॥

जिसने अपने मन को जीत लिया मानो उसने सारे विश्व को जीत लिया । मन के जीत लेने पर मेरा शुद्ध शरीर स्वयं उन्मेष करता है (अर्थात् विकसित होता है) ॥ ९४ ॥

मनोनिग्रहोपाया:

शक्रः—

समस्तचिदचिद्भेदतन्त्रयन्त्रविधायिनि ।
विधात्रि सर्वभोगानां नमस्ते पङ्कजासने ॥ ९५ ॥

इन्द्र ने कहा—हे समस्त चिदचिद्भेदतन्त्र एवं मन्त्र की विधायिनि ! हे सभी भोगों की धात्रि ! कमल वासिनि ! आपको नमस्कार ॥ ९५ ॥

विषयप्रवणं शश्वच्चपलं बलवद् दृढम् ।
आशु दूरगमव्यक्तं दम्यते केन तन्मनः ॥ ९६ ॥

यह मन विषय में प्रवण है, शश्वत् चपल है, बलवान् और दृढ़ है, शीघ्रता से बहुत दूर तक चला जाता है, अलक्षित है, अत: इस मन का दमन किस-किस कारण से संभव है ॥ ९६ ॥

श्रीः—

दुर्दमं दुर्धरं शश्वदणु दुर्बोधमुत्क्रमम् ।
वैराग्याभ्यासनिग्राह्यं तन्मनः शक्र चञ्चलम्॥ ९७ ॥

श्री ने कहा—हे इन्द्र ! यह मन अवश्य ही दुर्दम और दुर्धर है, अणु है, इसका उत्क्रमण ज्ञान से परे है । किन्तु ऐसा चञ्चल मन वैराग्य और अभ्यास के द्वारा व निग्रह के द्वारा वशीभूत होता है ॥ ९७ ॥

रागस्तु विषये रक्तिः स्वभावाभ्यासयोगजा।
तदभावश्च वैराग्यं तत्त्वज्ञानेन जन्यते ॥ ९८ ॥

विषय में स्वभाव और अभ्यास के योग से उत्पन्न होने वाली आसक्ति को राग कहा जाता है उस प्रकार राग के अभाव को वैराग्य कहते हैं, जो तत्त्वों के ज्ञान से उत्पन्न होता है ॥ ९८ ॥

दौरात्म्यं विषयाणां यत्तत्त्वज्ञानं तु तन्मतिः ।
चतुर्धा लक्षयेत्तच्च दौरात्म्यं प्रज्ञया सुधीः ॥ ९९ ॥

विषयों में दुष्टता रहती है, तत्त्वज्ञान से वैराग्य विषयक बुद्धि होती है, सुधी साधक को अपनी बुद्धि से विषयों की दुष्टता को चार प्रकार से समझना चाहिए ॥ ९९ ॥

यो यादृशो यतो यस्मै भावोऽयमिति चिन्तयेत् ।
विषया बन्धनात्मानो विषिण्वन्ति स्वसेविनः ॥ १०० ॥

वह जो है, जैसा है, जिससे है और जिसके लिये है—इस प्रकार उसके भावों को चार प्रकार से समझे क्योंकि विषय बाँधने वाले होते हैं, अतः वे अपने में आसक्त लोगों को बाँध लेते हैं ॥ १०० ॥

विमर्शिनी—विषिण्वन्ति = बध्नन्तीत्यर्थः । "षिञ् बन्धने" इति धातुः ॥ १०० ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तिमापन्नाः सर्वे ते सुखदुःखयोः ।
ते च नैव स्वसंसिद्धा विषया विषयैषिणाम् ॥ १०१ ॥

ये सभी विषय सुख और दुःख में अव्यक्त से व्यक्त होते हैं । विषयेच्छु जनों के लिये वे सभी विषय स्वयं सिद्ध नहीं है ॥ १०१ ॥

अनेकान्तव्ययायासदुःखसाधनजा हि ते ।
सुखमेव न ते कुर्युर्दुःखं च सुवते हि ते ॥ १०२ ॥

वे अनेकान्त (अनिश्चित) व्यय एवं आयास और दुःख तथा साधन से उत्पन्न होते हैं । अतः वे केवल सुख ही नही देते, बल्कि दुःख भी उत्पन्न करते हैं ॥ १०२ ॥

सुखं च तत्क्षणध्वंसि स्वदशादुःखसंमितम् ।
चित्ररूपमिदं चिन्त्यं भावे भावे विपश्चिता ॥ १०३ ॥

विषय से उत्पन्न होने वाला सुख क्षणध्वंसी है । किन्तु दुःख तो विषय की अवस्था तक रहता है । यह एक विचित्र बात है, बुद्धिमान् पुरुष को

प्रत्येक पदार्थों में इसे जानना चाहिये ॥ १०३ ॥

तत्त्वज्ञानमिदं प्रोक्तं संगृह्य च विगृह्य च ।
विषयेषु च रागस्तु सुखहेतुत्वनिश्चयात् ॥ १०४ ॥

अलग-अलग अथवा सामूहिक रूप से यह तत्त्वज्ञान कहा गया है । विषयों में सुख के हेतु का निश्चय करने से राग उत्पन्न होता है ॥ १०४ ॥

स मिथ्याज्ञानरूपत्वात्तत्त्वज्ञानैरपोह्यते ।
तद्विनिश्चयबाधे च हेतुत्वं नैव सिध्यति ॥ १०५ ॥

यह ज्ञान मिथ्या है, इसे तत्त्वज्ञान के द्वारा हटा देना चाहिये । जब उसके निश्चय का ही बाध हो गया हो, तब वह किस प्रकार हेतु सिद्ध हो सकता है ॥ १०५ ॥

अहेतून् विषयान् कश्चिन्नाददीत स्वसिद्धये ।
यदिदं तत्त्वविज्ञानं तस्य यच्छीलनं मुहुः ॥ १०६ ॥

कोई भी बुद्धिमान् अपने कार्य की सिद्धि के लिये अहेतुक विषय ग्रहण न करे । इस प्रकार का जो तत्त्वज्ञान है उसका अनुशीलन करना चाहिये ॥ १०६ ॥

सोऽभ्यास इति तत्त्वज्ञैस्तत्त्वशास्त्रेषु शब्द्यते ।

तत्त्वज्ञाता लोग इसी को तत्त्वशास्त्रों में अभ्यास के नाम से कहा करते हैं ॥ १०७- ॥

सूक्ष्मे महत्यणौ स्थूले स्थिरे च चलवस्तुनि ॥ १०७ ॥
यत्र तिष्ठति यच्चित्तं धार्यतेऽभ्यास एषु वै ।
वैराग्याभ्यासयोगेन यतमानेन योगिना ॥ १०८ ॥
दम्यते मन उद्दामं ततः शाम्यति तद् ध्रुवम् ।

सूक्ष्म महान् अणु स्थूल स्थिर और चलायमान वस्तुओं में जहाँ कहीं भी यह चित्त स्थिर होकर संस्थित रहे अथवा इसमें मन को लगावे यही अभ्यास है । इस प्रकार प्रयत्न करने वाला योगी वैराग्य और अभ्यास के योग से मन का दमन करे ऐसा करने से निश्चय ही मन शान्त होता है ॥-१०७-१०९-॥

शक्रः—

तत्त्वारविन्दसंदोहविहारचतुरक्रमे ॥ १०९ ॥
मधुजिन्मानसावासे नमस्ते पङ्कजासने ।
अभ्यासेन यथा चित्तं दम्यते बलवद् दृढम् ॥ ११० ॥

तं प्रदर्शय पन्थानं नमस्ते पद्मसंभवे ।

इन्द्र ने कहा—हे तत्त्वरूप अरविन्द के बिहार में चतुरतापूर्वक भ्रमण करने वाली ! मधुजित् के मानस में निवास करने वाली, हे पङ्कजासने ! आपको नमस्कार है । हे पद्मसंभवे ! यह बलवान् और दृढ़ चित्त जिस प्रकार जैसे अभ्यास से दमन किया जाता है, उस मार्ग का प्रदर्शन करे ॥ -१०९-१११-॥

श्रीः—

वियत्यूर्ध्वं तनूभूते जवात् पतति पत्रिणि ॥ १११ ॥
अरुन्धत्यां तथा सूक्ष्मे शनैश्चित्तं निरोधयेत् ।
शैले महति वा चित्तमनन्ते वा विभावयेत् ॥ ११२ ॥

लक्ष्मी ने कहा—आकाश में अत्यन्त ऊपर उड़ने वाला पक्षी का जिस प्रकार सूक्ष्म शरीर दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार बे रोक-टोक विषयों में भटकते हुये मन को सूक्ष्म (शिथिल) होने की अवस्था में धीरे-धीरे रोके । बड़े-बड़े पहाड़ में अथवा किसी अनन्त में चित्त को लगावे ॥ -१११-११२ ॥

विमर्शिनी—प्रथमं वस्तूनि यथा प्रतीयन्ते तथैव तेषु चित्तं निवेश्य, क्रमेण ततो वैराग्यमापाद्य, पश्चात् तत्त्वानुसन्धाने तन्निवेशनीयमितीममर्थं सदृष्टान्तमाह—वियतीत्यादिना ।

तनूभूत इति । दूरदेशोत्प्लवनेनाल्पपरिमाणतया दृश्य इत्यर्थः ॥१११-११२॥

परिभ्रमति वा चक्रे यत् सूक्ष्ममणु विद्यते ।
मनस्तत्रैव संयोज्य भ्रामयेद्भ्रमता समम् ॥ ११३ ॥

अथवा घूमते हुये कुलाल चक्र में, अथवा जो सूक्ष्म वा अणु पदार्थ हो उसी में मन को लगावे, उसके भ्रमण करने के साथ-साथ मन को भी उसके साथ घुमावे ॥ ११३ ॥

विमर्शिनी—एवं चक्रादिदृष्टान्तेऽपि ॥ ११३ ॥

तथाश्वत्थदलाग्रेण चलता चालयेन्मनः ।
तिष्ठति स्थापयेच्चित्तं गच्छता गमयेन्मनः ॥ ११४ ॥

अथवा अश्वत्थ के चञ्चल पत्ते के साथ मन को भी चलावे उसके स्थिर हो जाने पर मन को भी स्थिर करे, उसके चलने पर मन को भी चलावे ॥ ११४ ॥

प्रदर्शनार्थमुक्तस्ते प्रकारोऽयं पुरन्दर ।

अनेन दमयंश्चित्तं परं योगमवाप्स्यति ॥ ११५ ॥

हे शक्र ! इस प्रकार यदि आप चित्त का दमन करेंगे तो श्रेष्ठ योग को प्राप्त करेंगे । (यद्यपि और भी प्रकार है किन्तु) यह प्रकार हमने आपके लिये उदाहरण के रूप में प्रदर्शित किया है ॥ ११५ ॥

ईशेशितव्यसंभेदं यत्पुंरूपं परावरम् ।
सूर्यस्थं संस्मरेत्तत्तु स्त्रीरूपं पञ्चबिन्दुकम् ॥ ११६ ॥

ईश एवं ईशितव्य भेद वाला जो परावर पुरुष रूप है उसे सूर्य (हकार) में ध्यान करना चाहिये और जो स्त्री रूप है उसका पञ्च बिन्दु ईकार में ध्यान करना चाहिये ॥ ११६ ॥

इति ते तारिकारूपं सर्वतः सौम्य दर्शितम् ।
इत्थं विज्ञाततत्त्वस्य ज्ञेयं नैवान्यदिष्यते ॥ ११७ ॥

हे सौम्य ! इस प्रकार हमने सब प्रकार से आपको तारिका का स्वरूप प्रदर्शित किया । जिस साधक को ऐसा तत्त्व ज्ञान हो जाता है, उसे और कुछ श्रेय शेष नहीं रहता ॥ ११७ ॥

इतीयं पिण्डसिद्धिस्ते लेशतः शक्र दर्शिता ।
संज्ञामूर्तिविधानं च साधनं चाथ मे शृणु ॥ ११८ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे नानायोगप्रकाशो नाम त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

...

हे शक्र ! इस प्रकार हमने पिण्ड की सिद्धि का प्रकार आपके लिये प्रदर्शित किया । अब संज्ञामूर्त्ति का विधान और उसके साधन को मुझसे ध्यानपूर्वक सुनिए ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के नानायोगप्रकाश नामक तैंतालिसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ४३ ॥

...

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

रहस्यप्रकाशः

तारिकासंज्ञामन्त्रोद्धारः

शक्रः—

नमस्ते चिदचिद्वर्गसंरक्षणविचक्षणे ।
जगद्विधानशिल्पिन्यै विष्णुपत्न्यै नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥

इन्द्र ने कहा—चिदचिद् वर्ग के संरक्षण में विचक्षण तथा संसार की रचना की शिल्पिनि विष्णुपत्नि आपको नमस्कार है ॥ १ ॥

स्थूलसूक्ष्मपरात्मानो भेदाः पूर्वं प्रदर्शिताः ।
तारायां बीजपिण्डादिभेदं दर्शय मेऽम्बुजे ॥ २ ॥

आपने तारा के स्थूल, सूक्ष्म और परस्वरूप वाले भेदों को प्रदर्शित किया। अब हे, कमले ! तारा के बीज पिण्डादि भेदों को प्रदर्शित करे ॥ २ ॥

श्रीः—

एको नारायणः श्रीमान् पूर्णषाड्गुण्यविग्रहः ।
एकाहं परमा तस्य शक्तिः षाड्गुण्यविग्रहा ॥ ३ ॥

श्री ने कहा—समस्त षाड्गुण्य युक्त विग्रह वाले नारायण केवल एक हैं और षाड्गुण्य विग्रह वाली उनकी परमा शक्ति मैं भी एक ही हूँ ॥ ३ ॥

लोकाननुजिघृक्षन्ती शश्वज्ज्ञानक्रियात्मनाम् ।
साहं तारिकया तन्वा पोषयामि पुनामि च ॥ ४ ॥

मैं शश्वद् ज्ञानक्रिया से स्वयं समस्त लोकों पर अनुग्रह करती हूँ । वहीं

मैं तारिका शरीर से जगत् का पोषण करती हूँ और पवित्र भी करती हूँ ॥ ४॥

तस्याः परादिभावस्ते शक्र पूर्वं निदर्शितः।
बीजपिण्डादिकान् भेदान् गदन्त्या मे निशामय ॥ ५ ॥

हे शक्र ! उनका परादिभाव मैने पूर्व में प्रदर्शित कर दिया है । अब मैं उन तारिका के बीज पिण्डादि भेदों को कह रही हूँ उसे सुनिए ॥ ५ ॥

या परा दर्शिता पूर्वं यादृशी सा त्रिधात्मना ।
साहंता तादृशी शक्र तारिकाबीजमुच्यते ॥ ६ ॥

वह परा जैसी है वैसी वह तीन प्रकार की है और उसकी अहन्ता भी उसी प्रकार की है । अब हे शक्र ! तारिका बीज कह रही हूँ उसे सुनिए ॥ ६ ॥

सूर्यानलस्थिता विष्णुपिण्डव्योमेशशेखरा ।
पौरश्चरणिको योगस्तस्याः सिद्धिश्च दर्शिता ॥ ७ ॥

तारिका बीज—सूर्य हकार, अनल रकार उस पर स्थित व्योमेश बिन्दु युक्त विष्णु पिण्ड ईकार (ह्रीं) यह तारिका का पुरश्चरण के लिये योग है । इसकी सिद्धि का प्रकार पहले प्रदर्शित कर दिया गया है ॥ ७ ॥

विमर्शिनी—ह्रीं इति बीजमन्त्रः ॥ ७ ॥

संज्ञाख्या तारिकाया हि योगिभिः शक्र सेव्यते ।
तामद्यावदधानस्त्वं गदन्त्या मे निशामय ॥ ८ ॥

हे शक्र ! तारिका के संज्ञा नामक मन्त्र की सेवा योगी लोग करते हैं । अतः आप सावधान होकर सुनिए । मैं कह रही हूँ ॥ ८ ॥

शुद्धमेकमुपादाय स्वाहया शक्र योजयेत् ।
अयं संज्ञामनुर्योगिदेवब्रह्मादिपूजितः ॥ ९ ॥

तारिकासंज्ञामन्त्र—हे शक्र ! एक मात्र शुद्ध बीज को लेकर उसे स्वाहा के साथ संयुक्त करे। यह (श्रीं स्वाहा) संज्ञा मन्त्र कहा जाता है जो देवता, योगी और ब्राह्मणों से पूजित है ॥ ९ ॥

विमर्शिनी—शुद्धं; बीजमित्यर्थः ॥ ९ ॥

योगिभिर्यतमानैर्वा मया नारायणेन वा ।
शक्यः प्रभाव आख्यातुं संज्ञायास्त्रिदशेश्वर ॥ १० ॥

हे त्रिदशेश्वर ! इस संज्ञा मन्त्र का प्रभाव निरन्तर इसमें प्रयत्नशील

योगीजन, अथवा मैं, अथवा नारायण ही कहने में समर्थ हो सकते हैं ॥ १०॥

शुभानुबन्धमात्रं तु संज्ञेष्टं परमक्षरम् ।
पिण्डिताया इवास्याश्च सिद्धयः साधनानि च ॥ ११ ॥

यह परम अक्षर वाला संज्ञा का इष्ट मन्त्र शुभानुबन्ध मात्र है अर्थात् इसका सम्बन्ध केवल श्री के साथ है । इसलिये 'श्रीं स्वाहा' केवल इतना ही संज्ञा मन्त्र है । इसके समस्त सिद्धि और साधन पिण्डिता मन्त्र के समान ही हैं ॥ ११ ॥

विमर्शिनी—शुभः शकारः तत्संबन्ध एव विशेषः । श्रीं स्वाहा इति संज्ञामन्त्रः ॥ ११ ॥

स्मरन् सततमभ्यासात्तन्मयीकृतविग्रहः ।
योगी मन्मयतां प्राप्य मद्भावं प्रतिपद्यते ॥ १२ ॥

इस मन्त्र का सतत स्मरण करते हुये और इसके अभ्यास से योगी संज्ञामन्त्र विग्रह का स्वरूप बन जाता है । फिर वह मन्मय होकर अन्ततः मेरे भाव को प्राप्त कर लेता है ॥ १२ ॥

अहं वा बोधिता तेन साक्षात्कारमुपेयुषी ।
विदधे सकलं कामं स योगी यं यमिच्छति ॥ १३ ॥

अथवा इस प्रकार के योगी जन से उद्‌बोधित हुई मैं उसके प्रत्यक्ष हो जाती हूँ । फिर तो वह योगी जो-जो कामना करता है उन सारी कामनाओं को मैं पूर्ण कर देती हूँ ॥ १३ ॥

तारिकापदमन्त्रपाठः

इति संज्ञामनुः शक्र लेशतः संप्रदर्शितः ।
पदमन्त्रमिदानीं मे शृणु त्वं सर्वसाधकम् ॥ १४ ॥

हे शक्र ! इस प्रकार मैंने लेशमात्र संज्ञा मन्त्र का प्रदर्शन किया । अब सर्वसाधाक पदमन्त्र को आप मुझ से सुनिए ॥ १४ ॥

विभज्य नायमुद्धार्यो न च लेख्यस्तथापि च ।
अविप्लवाय रूपस्य स्वरूपमुपदिश्यते ॥ १५ ॥

इसको प्रविभक्त कर उद्धार नहीं किया जाता और न प्रविभक्त रूप से लिखा ही जाता है । इसलिये इसके स्वरूप को प्रविभक्त रूप से न कहकर इसका जैसा है वैसा स्वरूप उपदेश कर रही हूँ ॥ १५ ॥

पद मन्त्र—ॐ ३, ह्रीं ३, श्रीं ३, ॐ, आं ३, ह्रौं ३, हंसः ३, ॐ ह्रीं श्रीं नमो विष्णवे । ॐ ह्रीं श्रीं नमो नारायणाय । ॐ ह्रीं श्रीं नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ ह्रीं श्रीं,

जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन ।
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुष पूर्वज ॥

ॐ ह्रीं श्रीं भगवन् विष्णो नारायण वासुदेव पुण्डरीकाक्ष लक्ष्मीपते पुरुषोत्तम जगदादे जगन्मध्य जगन्निधन श्रीनिवास भगवन्तमभिगच्छामि । भगवन्तं प्रपद्ये । भगवन्तं गतोऽस्मि । भगवन्तमभ्यर्थये । भगवदनुध्यातोऽहम् । भगवत्परिकरभूतोऽहम् । भगवदनुज्ञातोऽहम् । भगवति सृष्टोऽहम् । भगवत् प्रसादात् भगवन्मयीं भगवतीं तारिकामयीं लक्ष्मीं पदैरावर्तयिष्यामि । तद्यथा— ॐ श्रीं ह्रीं गुरुभ्यो गुरुपत्नीभ्यः । ॐ श्रीं ह्रीं परमगुरुभ्यः परमगुरुपत्नीभ्यः । ॐ ह्रीं श्रीं परमेष्ठिने परमेष्ठिन्यै । ॐ ह्रीं श्रीं पूर्वसिद्धेभ्यः पूर्वसिद्धाभ्यः । ॐ ह्रीं श्रीं लक्ष्मीयोगिभ्यो लक्ष्मीयोगिनीभ्यो नमो नमः ।

ॐ ह्रीं श्रीं ईं नमः संसिद्धिसमृद्ध्यादिप्रदायै परमैकरस्यायै परमहंसि समस्तजनवाङ्मनसस्वात्मातिवर्तिन्यै निरारम्भस्तिमितनिरञ्जनपरमानन्दसंदोह-महार्णवस्वरूपे परपरायै विष्णुविष्णुपत्न्यै विविष्णु ईं स्वाहा ।

ॐ ह्रीं श्रीं ईं नमो निरन्तरप्रथमानप्रथमसामरस्यायै स्वस्वातन्त्र्य-समुन्मिषितनिमिषोन्मेषपरंपरारम्भे स्वच्छन्दस्पन्दमानविज्ञानवारिधये परसूक्ष्मायै विष्णुपत्न्यै मायायै ईं स्वाहा ।

ॐ श्रीं ह्रीं श्रीं ईं नमः स्वसंकल्पबलसमुन्मीलितभगवद्व्याप्तिभावस्वभावे स्वेच्छावेशविजृम्भमाणसत्ताविभूतिमूर्तिकारचतुरगुणग्रामयुगत्रिकमहोर्मिजालायै विष्णुपत्न्यै पञ्चबिन्दवे ईं स्वाहा ।

ॐ ह्रीं श्रीं हिं हिं हिं नमो नित्योदितमहानन्दपरमसुन्दरभगवद्विग्रहप्रकाशे विविधसिद्धाञ्जनास्पदे षाड्गुण्यप्रसरमयपरमसत्त्वरूपपरमव्योमप्रभावे विचित्रा-नन्दनिर्मलसुन्दरभोगजालप्रकारपरिणामप्रवीणस्वभावायै परमसूक्ष्मस्थूलरूप-सूक्ष्मायै विष्णुपत्न्यै पञ्चबिन्दवे हिं हिं हिं स्वाहा ।

ॐ ह्रीं श्रीं आं ह्रीं ह्रीं ह्रीं नमः स्वसंकल्पसमीरणसमीर्यमाणबहुविधजीव-कोशदृषत्पुञ्जायै कलितकालकाल्यविकल्पभेदफेनपिण्डनिवहायै विलास-निदर्शितभोक्तृभोग्यभोगोपकरणभोगसंपदेकमहासिन्धवे परमसूक्ष्मस्थूलरूप-स्थूलायै विष्णुपत्न्यै पञ्चबिन्दवे ह्रीं ह्रीं ह्रीं स्वाहा ।

ॐ ह्रीं श्रीं नमः समस्तजगदुपकारस्वीकृतबुद्धिमनोऽङ्गप्रत्यङ्गसुन्दरायै विधाचतुष्टयसमुन्मेषितसमस्तजनलक्ष्मीकीर्तिजयामायाप्रभावात्मसमस्तसंपदेक-

निधये समस्तशक्तिचक्रसूत्रधारायै समस्तजनभोगसौभाग्यदायिनि विविधविषयोपप्लवप्रशमनि नारायणाङ्कस्थितायै ॐ ह्रीं श्रीं नमो नारायणाय लक्ष्मीनारायणाभ्यां स्वाहा । श्रीं ह्रीं ॐ ।

विमर्शिनी—यह मन्त्र मूल ग्रन्थ में ॐ ३ से लेकर श्रीं ह्रीं ॐ पर्यन्त मूल में ५० पंक्तियो में है जिसकी हिन्दी मात्र 'नमस्कार है नमस्कार है' करके समझनी चाहिए । कृपया साधक इसे इसी प्रकार से जप करे ॥ १५ ॥

इति ते दर्शितः सोऽयं पदमन्त्रो महाद्भुतः ।
ग्राह्यो गुरुमुखादेव कृतदीक्षं मनीषिभिः ॥ १६ ॥

इस प्रकार हे इन्द्र ! हमने महाद्भुत पद मन्त्र आपको प्रदर्शित किया । इसे गुरु के मुख से ही ग्रहण करना चाहिये । मनीषी लोग इस मन्त्र की दीक्षा पहले से देते आये हैं ॥ १६ ॥

अस्यामधीयमानायामादर्श इव निर्मले ।
विद्यायां संप्रकाशेऽहं यावती यास्मि यादृशी ॥ १७ ॥

जैसे निर्मल आदर्श में प्रतिबिम्ब प्रकाशित होता है उसी प्रकार इस विद्या के स्वच्छ अन्त:करण द्वारा जप करने से मैं जितनी एवं जिस प्रकार की और जो हूँ, सब प्रकार से प्रकाशित (प्रत्यक्ष) हो जाती हूँ ॥ १७ ॥

पदमन्त्राणामङ्गन्यासादिकम्

संबोधितस्वतत्त्वार्था सर्वसिद्धाभिनन्दिता ।
अङ्गसंततिमस्यास्तु गदन्त्या मे निशामय ॥ १८ ॥

अब इस पदमन्त्र के अपने तत्त्वार्थ को सम्बोधित करने वाली तथा सभी सिद्धान्तों से अभिनन्दित अङ्ग सन्तति (अङ्गन्यास की विधि) को सुनिए ॥१८॥

प्रकाशानन्दसाराहं तदन्ते सर्वदर्शिनि ।
सत्सत्त्वव्यञ्जिके चाथ परब्रह्म तदन्तिके ॥ १९ ॥
ततो भगवतीत्येव विष्णुपत्नि तदन्तिके ।
ज्ञानं जातियुतं वाच्यं हन्मन्त्रोऽयं महाद्भुतः ॥ २० ॥

ॐ प्रकाशानन्दसारे, उसके वाद सर्वदर्शिनिसत्स्वत्वव्यञ्जिके, फिर परब्रह्मरूपे फिर भगवति विष्णुपत्नि, उसके बाद जाति युक्त ज्ञान शब्द । यह हृदय न्यास मन्त्र परम अद्भुत है। मन्त्र का स्वरूप—ॐ प्रकाशानन्दसारे सर्वदर्शिनि सत्स्वत्वव्यञ्जिके परब्रह्मरूपे भगवति विष्णुपत्नि ज्ञानाय हृदयाय नमः स्वाहा ॥ १९-२०॥

विमर्शिनी—हृन्मन्त्रोद्धारः—ॐ प्रकाशानन्दसारे सर्वदर्शिनि सत्सत्त्व-व्यञ्जिके परब्रह्मरूपे भगवति विष्णुपत्नि ज्ञानाय हृदयाय नमः । जातिः = स्वाहाशब्दः ॥ १९ ॥

अव्याहतानन्दगते तदन्ते परमेश्वरि ।
सर्वोपरि स्थिते शेषं हृन्मन्त्र इव जातियुक् ॥ २१ ॥

शिरःन्यासमन्त्र—अव्याहतानन्दगते इसके बाद परमेश्वरि सर्वोपरि स्थिते—इसके बाद शेष हृदय मन्त्र के समान शिरः न्यास का मन्त्र जानना चाहिये । मन्त्र का स्वरूप—अव्याहतानन्दगते परमेश्वरि सर्वोपरिस्थिते ज्ञानाय शिरसे नमः ॥ २१ ॥

विमर्शिनी—ॐ अव्याहतानन्दगते परमेश्वरि सर्वोपरिस्थिते ज्ञानाय शिरसे नमः ॥ २१ ॥

अहं च शक्तिसम्पूर्णे जगत्प्रकृतिके तथा ।
ज्ञानवैश्वानरशिखे शेषं पूर्ववदिष्यते ॥ २२ ॥

शिखामन्त्र—ॐ के साथ शक्तिसम्पूर्णे जगत्प्रकृतिके ज्ञानवैश्वानरशिखे शेष पूर्ववत् शिखा का मन्त्र है । मन्त्र का स्वरूप—ॐ शक्तिसम्पूर्णे जगत्प्रकृतिके वैश्वानर- शिखे शिखायां वौषट् ॥ २२ ॥

प्राणाप्राणमयोन्मेषमहास्पन्दमयीति च ।
सर्वाश्रमपदातीते कवचं पूर्वशेषवत् ॥ २३ ॥

कवचमन्त्र—प्राणापानमयोन्मेषमहास्पन्दमयी सर्वाश्रमपदातीते कवचं के बाद शेष पूर्ववत् कवच न्यास का मन्त्र है । मन्त्र का स्वरूप—प्राणापानमयोन्मेष-महास्पन्दमयी सर्वाश्रमपदातीते कवचाय हुम् ॥ २३ ॥

विकारविधुरे चाथ स्वस्वभावस्तथोच्यते ।
महावीर्यमयीत्येवमस्त्रं पूर्वोक्तशेषवत् ॥ २४ ॥

अस्त्रमन्त्र—विकारविधुरे के बाद स्वस्वभाव, के बाद महावीर्यमयी शेष पूर्ववत् यह अस्त्र न्यास का मन्त्र है । मन्त्र का स्वरूप—विकारविधुरे स्वस्वभाव महावीर्यमयी अस्त्राय फट् ॥ २४ ॥

परानपेक्षसामर्थ्ये सर्वप्रसविनीति च ।
अन्ते बोधमयीत्येवं नेत्रं पूर्वोक्तशेषवत् ॥ २५ ॥

नेत्रन्यासमन्त्र—परानपेक्षसामर्थ्ये सर्वप्रसविनी, इसके बाद वोधमयी शेष पूर्ववत् यह नेत्र न्यास का मन्त्र है । मन्त्र का स्वरूप—परानपेक्षसामर्थ्ये

सर्वप्रसविनि बोधमयि नेत्राभ्यां वौषट् ॥ २५ ॥

पदमन्त्रपरिवाराः

पञ्चके ब्रह्मणां कूटे शान्तानलविहारिणी ।
ब्रह्मश्रीर्नाम मायेयं व्योमेशकृतशेखरा ॥ २६ ॥

ब्राह्मश्रीमन्त्र—ब्रह्मकूट (ॐ) का उच्चारण पाँच बार, तदनन्तर शान्त शकार, अनल विहारिणी 'र', फिर माया ईकार, तदनन्तर शिखर पर व्योमेश बिन्दु—इस प्रकार ब्रह्मश्री का बीज मन्त्र है—ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ श्रीं ॥ २६ ॥

विमर्शिनी—ॐ ५ श्रीं इति ब्रह्मश्रीमन्त्रः ॥ २६ ॥

चतुष्के धारणाकूटे सूक्ष्मानलविहारिणी ।
धारणाश्रीरियं मायाव्योमेशकृतशेखरा ॥ २७ ॥

धारणाश्रीमन्त्रोद्धारः—धारणाकूट (अं) चार बार, फिर सूक्ष्म य, फिर अनलविहारिणी 'र', फिर माया ईकार व्योमेश बिन्दु से युक्त यह धारणा श्री मन्त्र बन जाता है । मन्त्र का स्वरूप—अं अं अं अं य्रीं ॥ २७ ॥

विमर्शिनी—धारणाश्रीमन्त्रोद्धार—अं अं अं अं य्रीं इति धारणाश्रीमन्त्रः ॥२७॥

प्रधानानलपीठस्था व्योमेशकृतशेखरा ।
पुरुषश्रीरियं ज्ञेया चेतनौघप्रसारिणी ॥ २८ ॥

पुरुषश्रीमन्त्रोद्धार—प्रधान म, अनल रेफ, पीठ ऋकार जो व्योम बिन्दु से संयुक्त हो यह पुरुष श्री मन्त्र है जो चेतना समूहों को फैलाता है । मन्त्र का स्वरूप—'म्रीं' ॥ २८ ॥

विमर्शिनी—पुरुषश्रीमन्त्रोद्धारः—म्रीं इति पुरुषश्रीमन्त्रः ॥ २८ ॥

ध्रुवानलस्थिता मायाव्योमेशकृतशेखरा ।
प्रधानश्रीरियं ज्ञेया सर्वचेतनकारिणी ॥ २९ ॥

प्रधानश्रीमन्त्रोद्धार—ध्रुव भकार, अनल रेफ जो माया ईकार व्योम बिन्दु से संयुक्त हो, यह प्रधान श्री मन्त्र है, जो सब में चेतन करने वाला है । मन्त्र का स्वरूप—भ्रीं ॥ २९ ॥

विमर्शिनी—प्रधानश्रीमन्त्रोद्धारः—भ्रीं इति प्रधानश्रीमन्त्रः ॥ २९ ॥

वामनादिपवित्रान्ते पवित्रानलगामिनी ।
अन्तःकरणश्रीर्मायाव्योमेशकृतशेखरा ॥ ३० ॥

अन्तःकरणश्रीमन्त्रोद्धार—आदि में वामन बं, इसके बाद पवित्रान्त फ, फिर पवित्र प जो रेफ युक्त हो इसके बाद माया और व्योम बिन्दु से युक्त हो यह अन्त:करण श्री मन्त्र है। मन्त्र का स्वरूप—'बं फं प्रीं' ॥ ३० ॥

विमर्शिनी—अन्त:करणश्रीमन्त्रोद्धार:—बं फं प्रीं इति अन्त:करणश्रीमन्त्र: ॥

नरादिताललक्ष्मान्ते स्रग्धरानलचारिणी ।
ज्ञानश्रीरियमुद्दिष्टा मायाव्योमेशभूषिता ॥ ३१ ॥

ज्ञानश्रीमन्त्रोद्धार—नरादितालक्ष्मान्त नं धं दं थं तं उसके बाद अनल युक्त स्रग्धरा त जो माया ई एवं बिन्दु से विभूषित हो यह ज्ञान श्री मन्त्र है। मन्त्र का स्वरूप—नं धं दं थं तं त्रीं ॥ ३१ ॥

विमर्शिनी—ज्ञानश्रीमन्त्रोद्धार:—नं धं दं थं तं त्रीं इति ज्ञानश्रीमन्त्र: ॥ ३१ ॥

कूटे वैकुण्ठपूर्वे तु विश्वाप्यायानलस्थिता ।
कर्मश्रीरियमुद्दिष्टा मायाव्योमेशभूषिता ॥ ३२ ॥

कर्मश्रीमन्त्रोद्धार—बैकुण्ठ 'ण' वह है पूर्व में जिसके, उसके कूट, पाँच अक्षर णं ढं डं ठं टं फिर विश्वाप्याय ट जो रेफ से संयुक्त हो और माया ईकार व्योमेश बिन्दु से युक्त हो इसे कर्मश्री मन्त्र कहा जाता है। मन्त्र का स्वरूप—'णं ढं डं ठं टं ट्रीं' ॥ ३२ ॥

विमर्शिनी—कर्मश्रीमन्त्रोद्धार:—णं ढं डं ठं टं ट्रीं इति कर्मश्रीमन्त्र: ॥३२॥

उत्तमादिकरालान्ते कपिलानलचारिणी ।
भूतश्रीरियमुद्दिष्टा मायाव्योमेशभूषिता ॥ ३३ ॥

भूतश्रीमन्त्रोद्धार—उत्तमादि ञ से लेकर कराल क के अन्त तक ञं झं जं छं चं ङं घं गं खं कं इसके बाद कपिल क् अनल र जो माया ईकार और व्योम बिन्दु से विभूषित हो 'क्रीं' यह भूतश्री मन्त्र है। मन्त्र का स्वरूप—ञं झं जं छं चं ङं घं गं खं कं क्रीं ॥ ३३ ॥

विमर्शिनी—भूतश्रीमन्त्रोद्धार:—ञं झं जं छं चं ङं घं गं खं कं क्रीं इति भूतश्रीमन्त्र: ॥ ३३ ॥

ब्रह्मश्रीपूर्विका एता अष्टौ पत्रदलाष्टगाः ।
पद्ममूर्तेस्तारिकायाः परिवाराः प्रकीर्तिताः ॥ ३४ ॥

ब्रह्मश्री से लेकर भूतश्री पर्यन्त ये सभी आठो पद्मों पर रहने वाले मन्त्र हैं। ये सभी पद्ममूर्त्ति वाली तारिका के परिवार कहे जाते हैं ॥ ३४ ॥

सर्वास्ताः पद्मगर्भाभाः प्रसन्नाननपङ्कजाः ।
बाहुद्वन्द्वे धारयन्त्यः प्रफुल्लं पङ्कजद्वयम् ॥ ३५ ॥

ध्यान—ये सभी पद्मगर्भ विसतन्तु के समान आभा वाली और प्रसन्न मुख कमल वाली हैं और सभी अपने दो बाहुओं में दो-दो कमल के पुष्प धारण किये हुई है ॥ ३५ ॥

ब्रह्मश्रीः पूर्वहस्ताभ्यां ब्रह्माञ्जलिकरी शुभा ।
पूर्वाभ्यां धारणालक्ष्मीः शुद्धाशुद्धविभाजिनी ॥ ३६ ॥

ब्रह्मश्री अपने पूर्व के हाथो से शुभ ब्रह्माञ्जलि बनाई हुई हैं । शुद्धाशुद्ध का विभाग करने वाली लक्ष्मी अपने पूर्व के दो हाथों में धारणा धारण की है ॥ ३६ ॥

पूर्वाभ्यां पुरुषश्रीस्तु प्रसादाञ्जलिकारिणी ।
पूर्वाभ्यां प्रकृतिश्रीस्तु पाशाङ्कुशविधारिणी ॥ ३७ ॥

पुरुष श्री अपने पूर्व के दो हाथों में प्रसादाञ्जलि बनाई हैं । प्रकृति श्री अपने पूर्व के दो हाथों में पाश और अंकुश धारण की हुई हैं ॥ ३७ ॥

अन्तःकरणलक्ष्मीस्तु तर्कमुद्राविधारिणी ।
अधोमुखे पाणितले कनिष्ठानामिकाद्वयम् ॥ ३८ ॥
कुञ्चयेद्धारयेदन्यदङ्गुल्योर्द्वितयं सह ।
विश्लिष्य धारयेत्तद्वदङ्गुष्ठं प्रोन्नतं बलात् ॥ ३९ ॥
उन्नते दक्षिणतले बहिर्मुखमवस्थिते ।
संनिवेशस्तथा कार्य एषा मुद्रा तु तार्किकी ॥ ४० ॥

अन्तःकरण लक्ष्मी पूर्व के दो हाथों में तर्कमुद्रा धारण की हुई हैं । दोनों पाणितल को नीचे कर कनिष्ठिका और अनामिका इन दोनों अंगुलियों को संकुचित कर अन्य दो अंगुलियों के साथ धारण करे और अंगूठे को सबसे अलग कर बलपूर्वक ऊँचा रखे दाहिने हाथ का तलवा बाहरी ओर से ऊँचा हो इस प्रकार यदि संनिवेश करे तो यह तर्कमुद्रा होती है ॥ ३८-४० ॥

तथाविधे करद्वन्द्वे व्याख्यामुद्रा तु या भवेत् ।
ज्ञानश्रियस्तु सा मुद्रा कर्मलक्ष्म्या निबोध मे ॥ ४१ ॥

दोनों हाथ को उसी प्रकार व्याख्या मुद्रा बना लेवे । यह ज्ञानश्री की मुद्रा कही जाती है और कर्मलक्ष्मी की मुद्रा को सुनिए ॥ ४१ ॥

करणव्यापृतौ पाणी ससंरम्भावुभौ सदा ।

एषा मुद्रा समुद्दिष्टा कर्मलक्ष्म्या महामते ॥ ४२ ॥

कार्य के प्रारम्भ के लिये उद्यत दोनों हाथों को करण में व्यापृत (संलग्न) कर देवें तो इस प्रकार की महामुद्रा कर्मलक्ष्मी की मुद्रा बन जाती है ॥ ४२॥

भूतलक्ष्म्याः करौ पूर्वौ नानाभोगप्रदायिनौ ।
महालक्ष्मीमयं कूटमेकं सर्वसुखावहम् ॥ ४३ ॥

भूतलक्ष्मी के लिये पूर्व के दोनों हाथ ही नाना प्रकार के भोग प्रदान करने वाले हैं। महालक्ष्मी का मात्र एक कूट हीं सब प्रकार का सुख देने वाला है ॥ ४३ ॥

शृणु मे सावधानेन चेतसा बलसूदन ।
गरुडादिकरालान्तं तं नरः प्रोद्धरेत्क्रमात् ॥ ४४ ॥
करालानलगां मायां सव्योमेशामथोच्चरेत् ।
महालक्ष्मीमयं कूटं महाश्रीरस्य देवता ॥ ४५ ॥

वे बलसूदन ! अब सावधान चित्त से मेरी बात सुनिए—

गरुड़ (क्ष) से लेकर कराल (क) के अन्त तक अक्षरों को पढ़कर अन्त में कराल क अनल र को मिला कर उसे ईकार और व्योम शून्य से संयुक्त कर देवे (क्रीं) । मन्त्र का स्वरूप—क्षं से आरम्भ कर कं पर्यन्त अक्षर पढ़कर अन्त में 'क्रीं' पढ़े । अर्थात् क्ष ह स ष श, व ल र य म भ ब फ प न ध द थ त ण ढ ड ठ ट ञ झ ज छ च ङ घ ग ख क क्रीं—यह महालक्ष्मीमय कूट है इसकी देवता महाश्री हैं ॥ ४४-४५ ॥

विमर्शिनी—महालक्ष्मीमन्त्रोद्धारः—क्षं इत्यारभ्य कं इति पर्यन्तं पठित्वा क्रीं इति पठेत् ॥ ४४ ॥

एकानेकस्वभावा सा साकारा च निराकृतिः ।
अनन्तवक्त्रानन्तपदा तथानन्तकरा परा ॥ ४६ ॥

वह महालक्ष्मी एक एवं अनेक स्वभाव वाली हैं । साकार और निराकार है । इनके अनन्त मुख, अनन्त पैर तथा अनन्त हाथ है, यही परा हैं ॥४६॥

आधाराधेयभावेन सर्वत्रावस्थिता सदा ।
नानावर्णा तथा नानाशस्त्रग्रामौघसंकुला ॥ ४७ ॥

यह आधार आधेय भाव से सर्वत्र अवस्थित रहती हैं । अनेक वर्ण वाली तथा अनेक शस्त्र समूहों से परिपूर्ण है ॥ ४७ ॥

क्रूरा सौम्या समासीना नानासम्पत्प्रकर्षिणी ।
सर्वत्र सुलभा ध्येया कमलोदरभास्वरा ॥ ४८ ॥

ये क्रूर हैं, सौम्य हैं, सर्वत्र समान हैं, अनेक सम्पत्तियों को प्रकृष्ट रूप से अपनी ओर खींचती है और यह सर्वत्र सुलभ हैं । इसलिये विसतन्तु के समान श्वेत रूप में इनका ध्यान करना चाहिये ॥ ४८ ॥

इयमेव विपर्यस्ता गरुडान्ता महामते ।
पूर्ववद्रूपतो ध्येया पूर्वोक्तफलदायिनी ॥ ४९ ॥

हे महामते ! उक्त मन्त्र का विलोम क से क्ष (= गरुड) पर्यन्त करे और पूर्वोक्त विसतन्तु के समान इनका ध्यान करे तो भी वे पूर्वोक्त फल प्रदान करती हैं ॥ ४९ ॥

स्वरद्विसप्तकं देव्याः किरणत्वेन संस्थितम् ।
बिन्दुराधारभावेन सृष्टिः स्वं रूपमूर्जितम् ॥ ५० ॥

चौदह स्वरों के अक्षर इनकी किरणे हैं, बिन्दु रूप आधार एवं आधेय भाव से तथा विसर्ग रूप सृष्टि से इनका रूप बड़ा तेजस्वी है ॥ ५० ॥

इति ते तारिकामूर्तिः पदाख्या संप्रदर्शिता ।
अवधानवदस्यां त्वं सदा चेतो निवेशय ॥ ५१ ॥

हे इन्द्र ! इस प्रकार पदस्वरूपा तारिका मूर्त्ति हमने प्रदर्शित किया । अतः आप सावधानी से अपना चित्त इन्ही में लगाइए ॥ ५१ ॥

तारिकामन्त्रमहिमा

शतकोटिप्रविस्ताराल्लक्ष्मीतन्त्रमहार्णवात् ।
अयं सारः समुद्धृत्य स्निग्धया दर्शितो मया ॥ ५२ ॥

सौ करोड़ के विस्तार वाले महालक्ष्मी तन्त्र रूप महासमुद्र से यह तारिका रूप मन्त्र सार को उद्धृत कर आपके ऊपर कृपापूर्वक मैंने उसे प्रदर्शित किया ॥ ५२ ॥

विमर्शिनी—शतेत्यादि । अनेन मूलभूतं लक्ष्मीतन्त्रं शतकोटिग्रन्थपरिमित-मित्युक्तं भवति ॥ ५२ ॥

अङ्कस्थायां मयि पुरा देवदेवो जनार्दनः ।
उज्जहारारविन्दाक्षो विद्यां मत्प्रीतये पराम् ॥ ५३ ॥

जब मैं देवाधिदेव जनार्दन के अङ्क में स्थित थी, तभी कमलनेत्र भगवान्

ने सबसे पहले मेरी प्रसन्नता के लिये इस विद्या को उद्धृत किया ॥ ५३ ॥

यथा हि चन्द्रिकां दृष्ट्वा नृणां चेतः प्रसीदति ।
विद्यामिमां तथा दृष्ट्वा योगिनां हृत्प्रसीदति ॥ ५४ ॥

जैसे चन्द्रिका को देखकर मनुष्यों का चित्त प्रसन्न होता है, उसी प्रकार योगियों का हृदय इस विद्या को जान कर प्रसन्न हो जाता है ॥ ५४ ॥

न यमादिपरिक्लेश आसनव्यसनं न च ।
न प्राणायामतः क्लेशो नैव किंचिदिहेष्यते ॥ ५५ ॥

इसमें यम नियमादि के पालन का क्लेश नहीं उठाना पड़ता । एकासन के बैठने का व्यसन (विपत्तिक क्लेश) नहीं करना पड़ता । प्राणायाम का क्लेश भी नहीं करना पड़ता । अतः किसी नियम के पालन का क्लेश इसमें नहीं है ॥ ५५ ॥

सुखासीनः प्रसन्नात्मा यथेष्टासनविग्रहः ।
अभ्यस्य मनसा विद्यामिमां सिद्धिं नियच्छति ॥ ५६ ॥

योगी लोग सुखासन से बैठकर अथवा यथेष्ट आसन पर अपने शरीर को रखकर इस विद्या का अभ्यास करने से सिद्धि प्राप्त करते हैं ॥ ५६ ॥

यथा नद्यो नदाश्चैव संप्लवन्ते महोदधौ ।
एवं सर्वाः परा विद्याः संप्लवन्ते पदात्मनि ॥ ५७ ॥

जैसे नद और नदियाँ सभी समुद्र में जाकर एकाकार हो जाती हैं उसी प्रकार सभी विद्यायें इस पदात्मा में एकाकार हो जाती है ॥ ५७ ॥

असंख्येयानि रत्नानि यथा नदनदीपतौ ।
असंख्येयानि तेजांसि पदमूर्तौ तथा विदुः ॥ ५८ ॥

जैसे नद नदीपति समुद्र में असंख्य रत्न भरे पड़े हैं, इसी प्रकार इस पदमूर्त्ति में भी असंख्य तेज भरा हुआ है—ऐसा विद्वानों का कथन है ॥ ५८॥

यथान्नं मधुसंसृष्टं मधु चान्नेन संयुतम् ।
एवं बीजादयो भावास्ताराया: प्रीतिदायिनः ॥ ५९ ॥

जैसे अन्न मधु से संस्पृष्ट हो अथवा मधु से अन्न संस्पृष्ट हो, इसी प्रकार बीजादि भाव भी तारा को प्रसन्न करने वाले हैं ॥ ५९ ॥

अहं नारायणाङ्कस्था सर्वलोकमहेश्वरी ।
सर्वसम्पन्मयी ध्येया पदमूर्तिर्विवक्षिता ॥ ६० ॥

पद मूर्त्ति का जप करने वालों को नारायण के अङ्क में रहने वाली सर्वलोक महेश्वरी सर्वसम्पत्मयी मुझ लक्ष्मी का ध्यान करना चाहिये ॥ ६० ॥

अहमेव पुनः शक्र परा करुणयोद्यता ।
साधकानां हितार्थाय मनसो भावनाय च ॥ ६१ ॥
अखण्डा परिपूर्णा हि चतुर्धात्मानमात्मना ।
इमां विद्यामयीं मूर्तिं विभजामि हितैषीणी ॥ ६२ ॥

हे शक्र ! पुनः पराभूता मैंने ही लोक कल्याण के लिये उद्यत होकर साधकों के हित के लिये उनके मन की भावना के लिये अखण्ड और परिपूर्ण होने पर भी अपने स्वरूप भूता इस विद्यामयी मूर्त्ति को स्वयं चार भागों में प्रविभक्त किया है ॥ ६१-६२ ॥

विमर्शिनी—चतुर्धेति । लक्ष्मीकीर्तिजयामायाख्याश्चतस्रो विद्या अनन्तराध्याये वक्ष्यन्ते ॥ ६२ ॥

विभक्तानां तु मूर्तीनां मन्मयीनां पुरन्दर ।
विधिं चतसृणां त्वं मे यथावच्छ्रोतुमर्हसि ॥ ६३ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे रहस्यप्रकाशो नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

...

अब हे पुरन्दर ! चार भागों में प्रविभक्त उन मन्मयी मूर्त्तियों के चारों भागों की यथावत् विधि का श्रवण करे ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के रहस्यप्रकाश नामक चौवालिसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ४४ ॥

...

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

मूर्तिप्रकाशः

लक्ष्म्यादिमूर्तिमहिमा

श्रीः—

अहं नारायणी देवी पूर्वेषामपि पूर्वजा ।
साक्षाद्भगवतो विष्णोर्लक्ष्मीः श्रीरनपायिनी ॥ १ ॥

श्री ने कहा—मैं सभी पूर्व में उत्पन्न होने वालों से पूर्व में उत्पन्न हुई हूँ। मैं भगवान् विष्णु की अनपायिनी (कभी पृथक् न रहने वाली) श्री हूँ ॥ १ ॥

विभजामि स्वया शक्त्या चतुर्धात्मानमात्मना ।
लक्ष्मीः कीर्तिर्जया माया चतस्रो मूर्तयश्च ताः ॥ २ ॥

मैं अपने को स्वयं अपनी शक्ति से चार भागों में प्रविभक्त करती हूँ । वे लक्ष्मी, कीर्त्ति, जया और माया नाम वाली मूर्त्तियाँ हैं ॥ २ ॥

या सा शक्तिः परा लक्ष्मीरहंताहं विभोर्हरेः ।
विभजन्ती स्वमात्मानं चतुर्धा जगतो हिते ॥ ३ ॥

जो वह परा नाम वाली शक्ति लक्ष्मी है, वही मैं सर्वव्यापक विष्णु की अहन्ता हूँ, जो मैं अपने को संसार के कल्याण के लिये चार भागों में प्रविभक्त करती हूँ ॥ ३ ॥

अहमेव पराहंता भवामि प्रथमा तनुः ।
लक्ष्मीर्नाम महाभागा सर्वैश्वर्यफलप्रदा ॥ ४ ॥

मैं परा अहन्ता ही लक्ष्मी नाम की प्रथम मूर्त्ति हूँ जो समस्त ऐश्वर्य रूप फल प्रदान करने वाली हूँ ॥ ४ ॥

कीतिर्नाम द्वितीया मे तनुः सत्कीर्तिदायिनी।
जया नाम तृतीया मे तनुर्विजयदायिनी ॥ ५ ॥

मेरी दूसरी मूर्त्ति कीर्त्ति है जो उत्तम कीर्त्ति प्रदान करने वाली है । तीसरी मूर्त्ति का नाम जया है जो सर्वत्र विजय प्रदान करने वाली है ॥ ५ ॥

माया नाम चतुर्थी मे सर्वाश्चर्यकरी तनुः ।
लक्ष्मीः कीतिर्जया मायेत्येवं नारायणाश्रयाः ॥ ६ ॥

चतुर्थी मेरी मूर्त्ति माया नाम वाली है, जो सब प्रकार के आश्चर्यों को उत्पन्न करती है । इस प्रकार लक्ष्मी, कीर्त्ति, जया और माया—ये सभी भगवान् नारायण के आश्रय मे रहती हैं ॥ ६ ॥

नारायणाश्रयाया मे मूर्तयः परमोज्ज्वलाः।
स्वशक्तिनिचयोपेता निराकारास्तु निष्कलाः ॥ ७ ॥

नारायण के आश्रय में रहने वाली ये मूर्त्तियाँ अत्यन्त प्रकाश उत्पन्न करने वाली हैं । अत: अपनी-अपनी शक्ति समूहों से परिपूर्ण हैं, एवं निराकार और निष्कल हैं ॥ ७ ॥

सूर्यस्य रश्मयो यद्वदूर्मयश्चाम्बुधेरिव ।
सर्वैश्वर्यप्रभावे तु लक्ष्मीर्लक्ष्मीपतेः स्थिता ॥ ८ ॥

जिस प्रकार रश्मियों के आश्रय सूर्य हैं, तरङ्गों का आश्रय समुद्र है, उसी प्रकार लक्ष्मीपति के समस्त ऐश्वर्य का प्रभाव महालक्ष्मी में स्थित है ॥ ८ ॥

विमर्शिनी—लक्ष्मीपतेः सर्वैश्वर्यं प्रभाव इत्यादिकं लक्ष्म्यायत्तमित्यर्थः । न चैतावता भगवत: पारतन्त्र्यं न्यूनता वा । गुणाहितो ह्यतिशयो गुणिनि प्राशस्त्यं वर्धयति । आहुश्चाभियुक्ता:—

"स्वत: श्रीस्त्वं विष्णोः त्वमसि तत एवैष भगवांस्-
त्वदायत्तर्द्धित्वेऽप्यभवदपराधीनविभव: ।
त्वया दीप्त्या रत्नं भवदपि महार्घं न विगुणं
न कुण्ठस्वातन्त्र्यं भवति च न चान्याहितगुणम् ॥" इति ॥ ८॥

नानाविशेषलक्ष्मीभिः कोटिसंख्याभिरावृता ।
कीर्तिस्तथाविधा नैव विभिन्ना विग्रहे विभोः ॥ ९ ॥

यह लक्ष्मी करोड़ो संख्या वाली अनेक प्रकार की विशिष्ट लक्ष्मियों से घिरी रहती है, कीर्त्ति वैसी नही हैं वह सर्वव्यापक विष्णु के विग्रह में विभिन्न रूप से निवास करती है ॥ ९ ॥

तन्नास्ति यन्न हि तया व्याप्तं सामान्यदेहया।
यस्य यत्र च या कीर्तिः स्वसामर्थ्यात्प्रजायते॥ १० ॥
सा सा रूपविशेषोऽस्याः सामान्यात्मन उत्थिता ।
जया जयेश्वरस्यैवं व्याप्तिभावेन संस्थिता॥ ११ ॥

उस सामान्य शरीर वाली कीर्त्ति से जगत् में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो व्याप्त न हो । जो कीर्त्ति जहाँ-जहाँ अपने सामर्थ्य से उत्पन्न होती है, वहाँ-वहाँ उसका विशेष रूप हो जाता है, यद्यपि वह सामान्य आत्मा से उत्पन्न होती है। जया शक्ति जयेश्वर में ही व्याप्त होकर स्थित रहती है ॥ १०-११ ॥

या काचिद्विद्यते माया जगत्यस्मिन् सुरादिषु ।
भगवन्माययोद्भूतां तां मां विद्धि सुरेश्वर ॥ १२ ॥

हे सुरेश्वर ! इस जगत् में तथा देवताओं में जो माया विद्यमान है, उस माया को भगवान् की माया से उत्पन्न हुई मुझे ही समझो ॥ १२ ॥

तदीयं निष्कलं रूपं मदीयं च विहाय वै।
कोऽस्मिंस्तत्त्वोदधौ चास्ति चतुर्धा सुरसत्तम ॥ १३ ॥
भगवच्छक्तिभिः सम्यगाभिर्योगविभाविताः ।
स्वालोकज्ञानसामर्थ्यात् साकारत्वमुपागताः ॥ १४ ॥

उस माया के निष्कल (निराकार) रूप वाली मुझे छोड़कर इस तत्त्वोदधि में और कौन है ? हे सुरसत्तम ! मैं इन्हीं भगवच्छक्तियों से विभावित (प्रभावित) होकर अपने प्रकाश के सामर्थ्य से इन चार रूपों में साकार रूप में प्राप्त हुई हूँ ॥ १३-१४ ॥

विमर्शिनी—चतुर्धा = वासुदेवसङ्कर्षणाद्यात्मना लक्ष्मीकीर्त्याद्यात्मना च ॥१३॥ योगविभाविता = लक्ष्मीकीर्त्यादयः ध्यातव्या इत्यन्वयः ॥ १४ ॥

लक्ष्मीस्वरूपमन्त्रादि

ध्यातव्याः साधकश्रेष्ठैरिज्याः पूज्याश्च सिद्धये ।
तासां ममादिभूताया लक्ष्म्या मूर्तिं निशामय ॥ १५ ॥

अतः साधक श्रेष्ठों को अपनी सिद्धि की प्राप्ति के लिये मेरे इन रूपों का ध्यान करना चाहिये, यजन करना चाहिये, पूजा करनी चाहिये । अब उन चार प्रकार की मूर्त्तियों में आदिभूता महालक्ष्मी के स्वरूप को सुनिए ॥ १५ ॥

विमर्शिनी—प्रथमं लक्ष्मीरूपमाह—तासामित्यादिना ॥ १५ ॥

सौम्यवक्त्रा सौम्यनेत्रा द्विभुजा चारुकुण्डला ।
पद्मगर्भोपमा कान्त्या मेखलादाममण्डिता ॥ १६ ॥

महालक्ष्मी ध्यान—महालक्ष्मी का मुख अत्यन्त सौम्य है । नेत्र भी सौम्य है । वे दो भुजाओं वाली है । मनोहर कुण्डल से युक्त कान्ति में विसतन्तु के समान स्वच्छ कान्ति वाली मेखलादि से शोभित हैं ॥ १६ ॥

श्वेतमाल्याम्बरधरा हारकेयूरमण्डिता ।
सर्वलक्षणसम्पन्ना पीनतुङ्गघनस्तनी ॥ १७ ॥

श्वेत वर्ण की माला और श्वेत वर्ण का वस्त्र धारण की हुई हार एवं केयूर से मण्डित है । सर्वलक्षणसम्पन्न तथा मोटे ऊँचे-ऊँचे स्तन वाली है ॥ १७ ॥

प्रबुद्धोत्पलविस्तीर्णलोचना सुस्मितानना ।
चरद्द्विरेफपटलतुल्यैर्युक्ता तथालकैः ॥ १८ ॥
ललाटे तिलकं चित्रं वहन्ती च मनोहरम् ।
आरक्ताधररत्ना च वंशमुक्ताफलद्विजा ॥ १९ ॥
अर्धचन्द्रललाटा च नीलकुञ्चितमूर्धजा ।
पाशाङ्कुशधरा देवी धर्मकामार्थमोक्षदा ॥ २० ॥

उनके नेत्र फूले हुये कमलों के समान विस्तीर्ण हैं, मन्द मुस्कान से युक्त मुख वाली है । चञ्चल भ्रमर समूहों के समान उनके केश अत्यन्त काले हैं, ललाट में चित्र तिलक को धारण किये हुये वे अत्यन्त शोभित हो रही हैं, अधर लाल वर्ण के रत्नों जैसा है और दाँत श्वेत मुक्तावली के समान शोभित हो रहे हैं । ललाट अर्धचन्द्र से युक्त हैं और केश नीले तथा घुङ्घराले हैं, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष देने वाली वह देवी हाथों में पाश अंकुश को धारण की हुई हैं ॥ १८-२० ॥

विमर्शिनी—चरन्तीति चराः = भ्रमणशीला इत्यर्थः ॥ १८ ॥

बद्धपद्मासना चैव मकुटोत्तमशोभिता ।
एवं ध्येयाहमीशाना लक्ष्मीव्यूहस्थिता सती ॥ २१ ॥

पद्मासन पर बैठी हुई वह देवी उत्तम मुकुट से शोभित हो रही हैं । साधकों को इस प्रकार लक्ष्मी व्यूह में स्थित मुझ ईश्वरी स्वरूपा का ध्यान करना चाहिये ॥ २१ ॥

मन्त्रमस्याः प्रवक्ष्यामि तं मे निगदितं शृणु ।
तारिका नाम यद्बीजं हृदयं तत्परं मम ॥ २२ ॥

पूर्वं प्रणवमादाय तदन्ते तां नियोजयेत् ।
द्व्यक्षरं तु ततो लक्ष्म्यै नमश्चान्ते नियोजयेत् ॥ २३ ॥
ततः परमशब्दं तु तदन्ते पुरुषेश्वरम् ।
आनन्दिनं च गरुडं वरुणं च समुद्धरेत् ॥ २४ ॥
स्थितायैपदमस्यान्ते भूयो मद्धृदयं पठेत् ।
अनुबीजं तदन्ते च मद्बीजं पुनरुत्तमम् ॥ २५ ॥
वह्निजायां तदन्ते च मूर्तिमन्त्रो ममेदृशः ।
विंशत्यर्णः स्मृतः सोऽयं साक्षाल्लक्ष्मीसमाह्वयः ॥ २६ ॥

महालक्ष्मी मन्त्र—हे इन्द्र ! इन महालक्ष्मी के मन्त्र को मैं कह रही हूँ उसे सुनिए । तारिका (ह्रीं) नाम का बीज मेरा उत्तम हृदय है, उसके पूर्व प्रणव लगावें, उसके बाद तारिका, उसके बाद दो अक्षर लक्ष्म्यै, अन्त में नमः शब्द, फिर परम शब्द, उसके बाद पुरुषेश्वर आनन्दी गरुड़ तथा वरुण शब्द ल क्षा व, इसके बाद स्थितायै, इसके अनन्तर पुनः मेरा हृदय ह्रीं, फिर अनुबीज श्रीं, फिर मेरा बीज ह्रीं, तदनन्तर वह्निजाया स्वाहा पढ़े, यह मेरा ऐसा मूर्त्ति मन्त्र है । यह साक्षात् लक्ष्मी नाम से कहा जाने वाला २० अक्षरों का मन्त्र है। मन्त्र का स्वरूप—ॐ ह्रीं लक्ष्म्यै नमः परमलक्षावस्थितायै ह्रीं श्रीं ह्रीं स्वाहा ॥ २२-२६ ॥

विमर्शिनी—तारिका ह्रीमन्त्रः ॥ २२ ॥ ॐ ह्रीं लक्ष्म्यै नमः परमलक्षा-वस्थितायै ह्रीं श्रीं ह्रीं स्वाहा इति विंशत्यक्षरो मूर्तिमन्त्रः ॥ २३-२६ ॥

अङ्गमन्त्रं निबोधास्या यथावद् वृत्रसूदन ।
शान्तमादाय तस्यान्ते विन्यसेत् पुरुषेश्वरम् ॥ २७ ॥
अनलं तदधःस्थं च पिण्डमेतत्त्रयं स्मृतम् ।
अन्ते युगादिमायोज्य ह्राद्यन्तस्वरषट्कयोः ॥ २८ ॥
चन्द्रिणं व्यापिनं चैव सर्वेषामुपरि न्यसेत् ।
विद्धि षड् हृदयादीनि तान्यस्त्रान्तानि वासव ॥ २९ ॥

हे वृत्रसूदन ! अब इन महालक्ष्मी के हृदयादि अङ्गमन्त्रों को यथावत श्रवण करे । शान्त, शकार, उससे युक्त पुरुषेश्वर लकार, उसके नीचे अनल रेफ, इन तीनों का पिण्ड, फिर आद्यन्तस्वर का ह्रस्व युगादि अकारादि को संयुक्त करे । उसके बाद व्यापी शून्य संयुक्त चन्द्री ट उच्चारण करे । हे वासव ! इस प्रकार हृदय से लेकर अस्त्र पर्यन्त न्यास का मन्त्र समझना चाहिये। उसका क्रम श्लृं श्लिृं श्लुं श्लृं श्लॄं श्लौं—इन प्रत्येक के आगे ट लगा देने से हृदयादि मन्त्र हो जाते हैं ॥ २७-२९ ॥

विमर्शिनी—प्रयोगविधि—ॐ श्लं टं ज्ञानाय हृदयाय नमः, ॐ श्लिं टं ऐश्वर्याय शिरसे स्वाहा ॐ श्लूं टं शक्तये शिखायै वौषट्, ॐ श्लृं टं बलाय कवचाय हुं, ॐ श्लें टं तेजसे नेत्राभ्याम् वौषट्, ॐश्लों टं वीर्याय अस्त्राय फट् ॥ २७-२९ ॥

विमर्शिनी—अङ्गमन्त्र इति । हृदयाद्यङ्गमन्त्र इत्यर्थः । मन्त्रानुद्धरति—शान्तमित्यादिना । श्लृं, श्लिं, श्लुं, श्लॄं, श्लॄं, श्लॄों इत्येतैः प्रत्येकं टं इति संयोजनेन मन्त्रा उद्धृता भवन्ति ॥ २७-२९ ॥

लक्ष्मीसखीस्वरूपमन्त्रादि

लक्ष्मीसखीनामधुना मन्त्रानेतान्निशामय ।
सत्यं तत्स्थं वराहं च मायान्तममृतं तथा ॥ ३० ॥
वरुणं रामयुक्तं च चत्वारो बीजनायकाः ।
चन्द्री व्यापी क्रमाद्योज्यौ सर्वेषां मूर्ध्नि वै ततः ॥ ३१ ॥

अब हे इन्द्र ! लक्ष्मी की सखियों के मन्त्रों को सुनिए । सत्यं ऋ, वराह व से संयुक्त ऋ वृं, मायान्त अमृत सिं, राम युक्त वरुण विं—ये बीज मन्त्र के नायक हैं इनके प्रत्येक के अन्त में व्यापी शून्य युक्त चन्द्री ट (टं) को जोड़ देवें । जैसे—ऋं टं, वृं टं, सिं टं, विं टं इत्यादि ॥ ३०-३१ ॥

विमर्शिनी—ऋद्धिः, वृद्धिः, समृद्धिः, विभूतिरिति चतस्रो लक्ष्मीसख्यः । तासां बीजमन्त्राः ऋं, वृं, सिं, विं इति प्रत्येकं टं इति सहिताः ॥ ३० ॥

ऋद्धिर्वृद्धिः समृद्धिश्च विभूतिश्च सखीगणः ।
तारं बीजं ततः संज्ञा स्वाहा चासां मनुः स्मृतः ॥ ३२ ॥

ऋद्धि, वृद्धि, समृद्धि और विभूति—ये चार महालक्ष्मी की सखियाँ हैं । तार (ॐ), फिर बीज, उसके बाद संज्ञा, फिर स्वाहा ये इनके मन्त्र हैं—यथा ॐ ऋं टं ऋद्ध्यै स्वाहा ॐ वृं टं वृद्ध्यै स्वाहा, ॐ सिं टं समृद्ध्यै स्वाहा, ॐ विं टं विभूत्यै स्वाहा ॥ ३२ ॥

विमर्शिनी—ॐ ऋं टं ऋद्ध्यै स्वाहा इत्यादयो मन्त्राः ॥ ३२ ॥

सख्यश्चतस्र एताः स्युर्द्विभुजाः सौम्यदर्शनाः ।
पद्मकोशप्रतीकाशाः श्रीवृक्षचमराङ्किताः ॥ ३३ ॥

लक्ष्मी की ये चारों सखियाँ दो भुजाओं वाली और दर्शन में सौम्य हैं । पद्मकोश के समान सुन्दर लालवर्ण वाली हैं और श्री वृक्ष के चमर से संयुक्त हैं ॥ ३३ ॥

पद्मासनोपविष्टाश्च प्रेक्षमाणा मदाननम् ।
एवं ध्येयास्तु सख्यस्ताश्चतुरोऽनुचराञ्शृणु ॥ ३४ ॥

ये सभी पद्मासन पर बैठी हुई मेरे मुख मण्डल की ओर देखती रहती हैं, इस प्रकार साधक को लक्ष्मी की सखियों का ध्यान करना चाहिये । हे इन्द्र ! अब लक्ष्मी के अनुचरों के विषय में सुनिए ॥ ३४ ॥

लक्ष्म्यनुचरस्वरूपमन्त्रादि

लावण्यः सुभगश्चैव सौभाग्यश्च तृतीयकः ।
चतुर्थः सौमनस्यश्च चत्वारोऽनुचरा मम ॥ ३५ ॥

प्रथम लावण्य द्वितीय सुभग तृतीय सौभाग्य और चर्तुथ सौमनस्य—ये मुझ लक्ष्मी के अनुचर हैं ॥ ३५ ॥

विमर्शिनी—लक्ष्म्यनुचरा लावण्यादयः ॥ ३५ ॥

चतुर्भुजाः सौम्यवक्त्रा नीलकौशेयवाससः ।
दधतः पद्मकुम्भौ च नलिनीध्वजमेव च ॥ ३६ ॥
प्रफुल्लामलवृक्षं च चतुर्भिः स्वभुजैः शुभैः ।
मन्त्रानेषां प्रवक्ष्यामि तत्त्वतस्तान्निबोध मे ॥ ३७ ॥

ये सभी चार भुजा वाले प्रसन्न मुख नील रेशमी वस्त्र धारण किये हुये कमल, कुम्भ, कमलिनी का ध्वज तथा फूले हुये अमल वृक्ष को अपने चारों हाथों में धारण किये हुये हैं । अब इनके मन्त्रों को मैं तत्त्वतः कह रही हूँ आप उसे सुनिए ॥ ३६-३७ ॥

विबुधस्त्वादिदेवाढ्यः सोमोऽथ भुवनस्थितिः ।
द्विधामृतं समादाय भूधराभ्यां नियोजयेत् ॥ ३८ ॥
चन्द्रिव्यापिसमेतानि स्मरेद्बीजानि तत्त्वतः ।
तारं बीजं ततः संज्ञा नमश्चान्ते मनोः स्मृतः ॥ ३९ ॥

आदिदेव आकार से संयुक्त विबुध ल (लां), भुवन उकार युक्त सोम स (सुं), दो बार अमृत सकार को लेकर दो भूधर औकार से संयुक्त करे (सौं सौं), फिर इन्हें व्यापी बिन्दु से संयुक्त चन्द्री टकार से संयुक्त करे (टं) । इस प्रकार तार, बीज, संज्ञा और अन्त में नमः लगा देवे तो वह उनके अनुचरों का मन्त्र हो जाता है ॥ ३८-३९ ॥

विमर्शिनी—मन्त्र का स्वरूप—ॐ लां टं लावण्याय नमः । ॐ सुं टं सुभगाय नमः । ॐ सौं टं सौभाग्याय नमः । ॐ सौ टं सौमनस्याय नमः ।

अनुचरमन्त्रा उच्यन्ते—विबुध इत्यादिना । लां, सुं, सौं, सौं, टं इति बीज-मन्त्राः ॥ ३८ ॥ ॐ लां टं लावण्याय नमः इत्यादयो मन्त्राः ॥ ३९ ॥

कीर्तिस्वरूपमन्त्रादि

एतत् साङ्गपरीवारं लक्ष्मीरूपं निदर्शितम् ।
कीर्त्याख्याया द्वितीयाया मूर्ते रूपादिकं शृणु ॥ ४० ॥

यहाँ तक हमने साङ्गपरिवार सहित लक्ष्मी के स्वरूप को प्रदर्शित किया। अब दूसरी कीर्त्ति आदि के रूपों को सुनिए ॥ ४० ॥

रूपेण सदृशी लक्ष्म्या वर्णतश्चम्पकप्रभा ।
शेषे लक्ष्मीसमा रूपे मूर्तिमन्त्रान्निबोध मे ॥ ४१ ॥

यह कीर्त्ति रूप में लक्ष्मी के समान ही रूप वाली है, इसके शरीर का वर्ण चम्पा के पुष्प के समान है और शेष सब लक्ष्मी के समान है । अब इनके मूर्त्तिमन्त्र को सुनिए ॥ ४१ ॥

तारं मद्धृदयं पश्चात् करालो विष्णुसंयुतः ।
स्रग्धरश्चानलारूढ ऐश्वर्यपरिभूषितः ॥ ४२ ॥
नमः सदोदितानन्दविग्रहायैपदं ततः ।
मद्बीजं कमलारूढमनलं विष्णुभूषितम् ॥ ४३ ॥
व्यापिना च समायुक्तमन्ते बीजमिदं स्मरेत् ।
स्वाहापदं मनुः सोऽयं विंशत्यर्णस्तु कीर्तितः ॥ ४४ ॥

तार ॐ, उसके बाद हृदय (ह्रीं), विष्णु (ईकार), संयुत् कराल ककार (क्रीं), स्रग्धर तकार जो रकार पर आरूढ़ हो और ऐश्वर्य (ऐकार) से परिभूषित हों (त्रैं) । इस प्रकार ॐ ह्रीं कीं त्रैं नमः, इसके बाद 'सदोदिता सदानन्द-विग्रहायै' फिर मेरा बीज ह्रीं, फिर कमल क पर अनल रेफ आरूढ़ हो, जो व्यापी बिन्दु तथा विष्णु ई से संयुक्त हो, यह बीज तथा अन्त में स्वाहा पद हो । इस प्रकार २० अक्षरों का यह मन्त्र बनता है । मन्त्र का स्वरूप—ॐ ह्रीं क्रीं त्रैं नमः सदोदितानन्द- विग्रहायै ह्रीं क्रीं स्वाहा ॥ ४२-४४ ॥

विमर्शिनी—ॐ ह्रीं क्रीं त्रैं नमः सदोदितानन्दविग्रहायै ह्रीं क्रीं स्वाहा इति विंशत्यर्णो मन्त्रः ॥ ४२ ॥

अङ्गमन्त्रान्निबोधाद्य गदन्त्या मे निशामय ।
करालमनलारूढं कृत्वा संयोज्य पूर्ववत् ॥ ४५ ॥

आनन्दाद्यैः स्वरैश्चन्द्रिव्यापियुक्तैः श्रियो यथा ।

अङ्गमन्त्रा इमे कीर्तेः सखीरूपमनूञ्छृणु ॥ ४६ ॥

अब अङ्ग मन्त्रों को कह रही हूँ उसे सुनिए । कराल ककार जो अनल 'र' पर आरूढ हो, आनन्दादि (आकारादि) स्वरों से पूर्ववत् संयुक्त लक्ष्मी मन्त्र के समान संयुक्त कर, चन्द्री टकार को व्यापी बिन्दु से संयुक्त करे,तो वह हृदयादि न्यास मन्त्र बन जाता है । यथा क्रां क्रीं क्रूं कृं क्रैं क्रौं,इसके बाद टं प्रत्येक में टं जोड़ देवें । ॐ क्रां टीं हृदयाय नमः इत्यादि । अब कीर्त्ति की सखियों उनके रूपों तथा उन सखी मन्त्रों को सुनिए ॥ ४५-४६ ॥

विमर्शिनी—अङ्गमन्त्राः क्रां क्रीं इत्यादिका लक्ष्म्या इव ज्ञेयाः ॥ ४५ ॥ सखीत्यादि । सखीः तासां रूपाणि मनूंश्च शृण्वित्यर्थः ॥ ४६ ॥

कीर्तिसखीस्वरूपमन्त्रादि

द्युतिः सरस्वती मेधा श्रुतिः सख्य इमाः स्मृताः ।
द्विभुजा हेमवर्णाभाः कीर्तिरूपाः स्मितानना: ॥ ४७ ॥

इन कीर्त्ति की द्युति, सरस्वती, मेधा और श्रुति ये चार सखियाँ हैं । ये सभी दो भुजाओं वाली, सुवर्ण के समान आभा वाली तथा कीर्त्ति के समान ही स्मित मुख वाली हैं ॥ ४७ ॥

सुपुस्तकं करे वामे दक्षिणे चामरं करे ।
मन्त्रान् कीर्तिसखीनां तु गदन्त्या मे निशामय ॥ ४८ ॥

बायें हाथ में पुस्तक और दाहिने हाथ में चामर धारण की हुई हैं । अब कीर्त्ति की सखियों का मन्त्र कह रही हूँ उसे सुनिए ॥ ४८ ॥

मदनं चामृतं चैव प्रधानं शङ्करं तथा ।
एतान् कृत्वानलारूढान् मायया परिभूषयेत् ॥ ४९ ॥

कीर्त्यनुचरस्वरूपमन्त्रादि

चन्द्रिणं व्यापिनं दद्यात् सखीमन्त्रानिमान् स्मरेत् ।
कीर्तेरनुचराणां तु नामरूपादिकं शृणु ॥ ५० ॥

मदन 'म', अमृत 'स', प्रधान 'म' और शङ्कर 'श'—इनको रेफ से संयुक्त करे, माया ईकार से भूषित करे, इसके बाद प्रत्येक के अन्त में व्यापी बिन्दु युक्त चन्द्र टकार रखे तो ये कीर्त्ति की सखियों के मन्त्र हो जाते हैं । यथा म्रींटं, स्रींटं म्रीं टं, श्रीं टं । अब कीर्त्ति के अनुचरों के नाम रूपादिकों को सुनिए ॥ ४९-५० ॥

विमर्शिनी—मदनमित्यादि । म्रीं, स्त्रीं, प्रीं, श्रीं, टं इति मन्त्राः ॥ ४९ ॥

वागीशो जयदश्चैव प्रसादस्त्राण एव च ।
ध्येयाः किंशुकवर्णाभाः कान्तरूपा मनोहराः ॥ ५१ ॥
श्वेताम्बराश्चतुर्हस्ताः सर्वाभरणभूषिताः ।
वामदक्षिणहस्ताभ्यां मुख्याभ्यां तेषु चिन्तयेत् ॥ ५२ ॥
शङ्खमिन्दुशताभं च कदम्बाख्यं महाद्रुमम् ।
सपुष्पं षट्पदोपेतमपराभ्यां निबोध मे ॥ ५३ ॥
पूर्णचन्द्रोपमं वामे दर्पणं दक्षिणे करे ।
मयूरव्यजनं शुभ्रं दधतश्चारुलोचनाः ॥ ५४ ॥

वागीश, जयद, प्रसाद और त्राण—ये कीर्त्ति के अनुचर हैं । ये सभी पलाश पुष्प के आकार वाले अत्यन्त कान्त स्वरूप एवं मनोहर है । इसी रूप में इनका ध्यान करना चाहिये । ये सभी श्वेत वस्त्र धारण किये हुये चार भुजाओं से संयुक्त हैं । सभी प्रकार के आभरणों से भूषित हैं । उनके मुख दाहिने और बायें हाथों में सैकड़ों चन्द्रमा के समान श्वेत वर्ण का शङ्ख और कदम्ब नामक महावृक्ष है, जो पुष्प युक्त तथा भ्रमरों से संयुक्त है । अब अन्य दो हाथों में धारण की गई वस्तुओं को सुनिए । बायें हाथ में पूर्ण चन्द्रमा के समान स्वच्छ दर्पण तथा दाहिने हाथ में मोरपङ्ख का पङ्खा लिये हुये हैं । इन सभी के नेत्र अत्यन्त सुन्दर है ॥ ५१-५४ ॥

विमर्शिनी—कीर्तेरनुचराः—वागीशादयः ॥ ५१ ॥

वराहमादिदेवाढ्यमप्रमेयं च केवलम् ।
पवित्रमनलारूढं स्त्रग्धरं च तथाविधम् ॥ ५५ ॥
आदिदेवान्वितं कृत्वा तेषामूर्ध्वं सुयोजयेत् ।
चन्द्रिणं व्यापिनं चान्ते मन्त्रा अनुचराश्रिताः ॥ ५६ ॥

वराह वकार जो आदिदेव आकार से संयुक्त हो, केवल अप्रमेय अ अनलारूढ पवित्रं र से युक्त प अर्थात् 'प्र', उसी प्रकार का स्त्रग्धर 'त्र', इनको आदिदेव आकार से संयुक्तकर, उसके बाद व्यापी शून्य युक्त चन्द्री टकार रखे। ये कीर्त्ति के अनुचरों के मन्त्र हैं । (वांटं, आंटं, प्रांटं, त्रांटं) ॥ ५५-५६ ॥

विमर्शिनी—वराहोः = वकारः । अप्रमेयः = अकारः । पवित्रं = पकारः । स्त्रग्धरः = तकारः ॥ ५५ ॥

जयास्वरूपमन्त्रादि

कीर्तेर्द्वितीयमूर्तेर्वै क्रमोऽयं परिकीर्तितः ।

रूपादिकं तृतीयाया जयाया मे निशामय॥ ५७ ॥

मेरी द्वितीय मूर्त्ति का यह क्रम कहा गया । अब मेरी तृतीय मूर्त्तिस्वरूपा जया के मन्त्र को सुनिए ॥ ५७ ॥

रूपेण सदृशी लक्ष्म्या जया परमशोभना ।
तारश्च तारिका चैव जन्महन्ता चतुर्गतिः ॥ ५८ ॥
आदिदेवान्वितः पश्चात् स एवैश्वर्यसंयुतः ।
तारमादाय तस्यान्ते कालं सपरमेश्वरम् ॥ ५९ ॥
व्यापको जन्महन्ता सरामोऽथ स्रग्धरस्तथा ।
आदिदेवान्वितो धर्ता प्रधानश्च तथाविधः ॥ ६० ॥
वरुणोऽथामृतस्थश्च धन्वी रामविभूषितः ।
वैराजश्चादिदेवाढ्यः शङ्ख ऐश्वर्यभूषितः ॥ ६१ ॥
तारिका शाश्वतोऽशेषभुवनाधारविष्णुमान् ।
व्योमेशभूषितश्चाथ वह्निपत्नी ततः परम् ॥ ६२ ॥
जयाया मूर्तिमन्त्रोऽयमङ्गमन्त्रान् निबोध मे ।
जन्महन्तारमादाय कालपावकभूषितम् ॥ ६३ ॥
स्वरैर्विभूषयेत् प्राग्वच्चन्द्रिव्यापिसमन्वितैः ।
अङ्गानि हृदयादीनि जयायास्तानि संस्मरेत् ॥ ६४ ॥

जया के मन्त्र—यह जया अत्यन्त शोभा वाली है । रूप में लक्ष्मी के समान है । तार प्रणव, तारिका ह्रीं मन्त्र, जनाहन्ता जकार और चतुर्गति यकार इनको आदिदेव आकार से संयुक्त कर पश्चात् फिर उसे ऐश्वर्य ऐकार से संयुक्त करे । फिर तार प्रणव को लेकर उसके अन्त में परमेश्वर विसर्ग युक्त काल मकार, व्यापक अकार, जन्महन्ता जकार राम इकार के सहित स्रग्धर तकार, आदिदेव आकार से युक्त धर्त्ता धकार उसी प्रकार प्रधान मकार, वरुण वकार, अमृता सकार, धन्वी थकार, जो राम इकार से विभूषित हो इसके बाद वैराज तकार जो आदिदेव आकार से संयुक्त हो, फिर ऐश्वर्य युक्त शङ्ख यकार, फिर तारिका ह्रीं, फिर शाश्वत जकार, फिर अशेषभुवनाधार रकार, जो विष्णुमान् इकार युक्त हो तथा व्योमेश अं से भूषित हो, तदनन्तर वह्निपत्नी स्वाहा । यह जया का मूर्त्ति मन्त्र है । अब मुझ से अङ्ग मन्त्रों को सुनिए । जया मूर्ति मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार है—ॐ ह्रीं जयायै ॐ महः अजिताधामावस्थितायै ह्रीं ज्रीं स्वाहा ।

जन्महन्ता जकार, जो कालपावक रेफ से भूषित हो । उसे पूर्व प्रकार के स्वरों से भूषित करे, फिर व्यापी बिन्दु युक्त चन्द्र ठकार रखे । उसे इस प्रकार

जया के इन मन्त्रों से हृदयादिन्यास करे । ज्रां ज्रीं ज्रूं ज्रृं ज्रैं ज्रौं प्रत्येक के बाद टं, यथा ॐ ज्रां टं हृदयाय नमः इत्यादि ॥ ५८-६४ ॥

विमर्शिनी—तारः प्रणवः । तारिका ह्रीं मन्त्रः । जन्महन्ता जकारः । चतुर्गतिः यकारः ॥ ५८ ॥ कालः मकारः । परमेश्वरः विसर्गः ॥ ५९ ॥ व्यापकः अकारः । रामः इकारः । धर्ता धकारः । प्रधानः मकारः ॥ ६० ॥ धन्वी थकारः । वैराजः तकारः । शङ्खः यकारः ॥ ६१ ॥ शाश्वतः जकारः । विष्णुः इकारः । व्योमेशः अनुस्वारः । वह्निपत्नी स्वाहाकाकरः ॥ ६२ ॥ कालपावकः रेफः ॥ ६३ ॥

जयासखीस्वरूपमन्त्रादि

जयन्ती विजया चैव तृतीया चापराजिता ।
सिद्धिश्चतुर्थी विज्ञेया जयासख्य इमाः स्मृताः ॥ ६५ ॥

प्रथम जयन्ती एवं द्वितीय विजया, तृतीय अपराजिता तथा चतुर्थ सिद्धि—इन्हें जया की सखियाँ समझनी चाहिये ॥ ६५ ॥

अजितं विष्णुसंयुक्तं वरुणं यचेद्धसंयुतम् ।
केवलव्यापकं चैव सोममिष्टविभूषितम् ॥ ६६ ॥
चन्द्रिव्यापिसमायुक्तं कृत्वा संयोज्य संज्ञया ।
स्वाहामन्ते समायोज्य सखीमन्त्रानिमान् स्मरेत् ॥ ६७ ॥

विष्णु इकार से संयुक्त अजित जकार, इद्ध इकार संयुक्त वरुण वकार, केवल व्यापक अकार, इष्ट इकार विभूषित सोम सकार, इसके बाद व्यापी बिन्दु से संयुक्त चन्द्र टकार, इनको संज्ञा से संयुक्त करे, अन्त में स्वाहा का संयोजन करे । इस प्रकार सखी मन्त्रों का स्मरण करना चाहिये । जिं, विं अंसिं प्रत्येक के बाद टम् बीज मन्त्र है । ॐ जिं टं जयन्त्यै स्वाहा, ॐ विं टं विजयायै स्वाहा इत्यादि ॥ ६६-६७ ॥

विमर्शिनी—अजितः = जकारः । वरुणः = वकारः । इद्धः = इकारः । सोमः = सकारः । इष्टः = इकारः ॥ ६६ ॥

नीलनीरदवर्णाभाः प्रसन्नवदनेक्षणोः ।
पीताम्बरधराः सर्वाः सख्यः कनककुण्डलाः ॥ ६८ ॥
सितचामरहस्ताश्च चित्रवेत्रलताकराः ।
निरीक्षमाणा वदनं जयाया अजितस्य च ॥ ६९ ॥

जया के सखियों के रूप—ये सभी सखियाँ नीले वर्ण के मेघ के समान

कान्ति वाली हैं । सभी के मुख और नेत्र प्रसन्नता युक्त हैं, सभी पीताम्बर धारण की हुई, सुवर्णमय कुण्डलों से विभूषित हैं, इन सभी के हाथों में श्वेत वर्ण का चामर तथा विचित्र प्रकार का वेंत हैं तथा ये सभी अजित और जया का मुख सदैव देखती रहती हैं ॥ ६८-६९ ॥

विमर्शिनी—जयासखीनां रूपमाह—नीलेत्यादिना ॥

जयानुचरस्वरूपमन्त्रादि

प्रतापी जयभद्रश्च तृतीयस्तु महाबलः ।
उत्साहश्चेति वर्गोऽयं जयानुचरसंज्ञितः ॥ ७० ॥

जया के अनुचर—प्रथम प्रतापी एवं द्वितीय जयभद्र, तीसरे महाबल और चौथे उत्साह—ये जया के अनुचरों के नाम हैं ॥ ७० ॥

विमर्शिनी—जयानुचरा उच्यन्ते—प्रतापीत्यादिना ॥ ७० ॥

रक्ताम्बरधराः सर्वे चतुर्हस्ता महाबलाः ।
धनुर्बाणकराश्चैव गदाचक्रधरास्तथा ॥ ७१ ॥

ये सभी लाल वर्ण का वस्त्र धारण किये हुये हैं । चार हाथों से युक्त और महाबलशाली हैं । धनुष, बाण, गदा और चक्र हाथों में धारण किये हुये हैं ॥ ७१ ॥

विमर्शिनी—जयानुचराणां रूपमाह—रक्तेत्यादि ॥ ७१ ॥

इत्थं तेऽनुचरा ज्ञेयाः पुष्पाभरणभूषिताः ।
पद्मनाभोऽनलारूढोऽजितः कालस्तथैव च ॥ ७२ ॥
उद्दामश्च सुरेशैते चन्द्रिव्यापिविभूषिताः ।
प्रणवाद्या नमोऽन्ताश्च संज्ञया च समन्विताः ॥ ७३ ॥

पुष्पाभरणों से विभूषित स्वरूप वाले जया के इस प्रकार के अनुचर हैं । हे सुरेश ! अनलारूढ़ पद्मनाभ प्र, उसी प्रकार अनलारूढ रेफ से अजित जकार, काल मकार, उद्दाम उकार, इसके बाद व्यापी बिन्दु से विभूषित चन्द्री 'टं', आदि में प्रणव, अन्त में नमः, जो संज्ञा से समन्वित हो । इस प्रकार प्रं ज्रं म्रं प्रत्येक के बाद 'टं' यह उन अनुचरों के बीजमन्त्र है ॥ ७२-७३ ॥

विमर्शिनी—प्रयोग विधि—ॐ प्रं टं प्रतापिने नमः, ज्रं टं जयभद्राय नमः इत्यादि । पद्मनाभः = पकारः । अजितः = जकारः । कालः = मकारः । उद्दामः = उकारः ॥ ७२ ॥

जयानुचरमन्त्रास्ते विज्ञेया वृत्रसूदन ।
अयं तृतीयमूर्त्तिर्मे जयाया विधिरद्भुतः ॥ ७४ ॥

हे वृत्रसूदन ! इस प्रकार जया के मन्त्रों को समझना चाहिये । यह लक्ष्मी की तृतीय मूर्त्ति जया की अद्भुत विधि है ॥ ७४ ॥

मायास्वरूपमन्त्रादि

चतुर्थ्याः संविधानं मे मायामूर्तेर्निशामय ।
सर्वाश्चर्यकरी देवी देवदेवस्य शार्ङ्गिणः ॥ ७५ ॥

अब हे इन्द्र ! मेरी चतुर्थ मूर्त्ति माया के विषय में सुनिए । यह देवाधिदेव विष्णु की सबसे बढ़कर आश्चर्य उत्पन्न करने वाली देवी है ॥ ७५ ॥

माया नाम महाशक्तिस्तुरीया मे तनुः परा ।
रूपेण सदृशी लक्ष्म्या मूर्तिमन्त्रं निशामय ॥ ७६ ॥

माया नाम वाली महाशक्ति मेरी चौथी मूर्त्ति है यह स्वरूप में लक्ष्मी के समान है । अब इन माया के मन्त्र को सुनिए ॥ ७६ ॥

आदाय तारकं पूर्वं तारिकां तदनु स्मरेत् ।
मायायै च नमः पश्चात् काल ओदनसंस्थितः ॥ ७७ ॥

माया मूर्तिमन्त्र—पहले तारक ॐ, इसके बाद तारिका ह्रीं का स्मरण करे । इसके पश्चात् 'मायायै नमः', इसके पश्चात् ओदन ओकार युक्त काल मकार ॥ ७७ ॥

विमर्शिनी—ओदनः = ओकारः ॥ ७७ ॥

वामभ्रूसंयुतः सूर्यः स्त्रग्धरो विष्णुभूषितः ।
केवलोऽसौ नरान्त्योऽथ मदनो गोपनान्वितः ॥ ७८ ॥
पुण्डरीकोऽनलारूढो रामवांस्तदनन्तरम् ।
ताललक्ष्मादिदेवाढ्यः शङ्ख ऐश्वर्यसंयुतः ॥ ७९ ॥
ततः कालोऽनलारूढो मायाव्यापिसमन्वितः ।
मायाबीजमिदं दिव्यं तारिकोर्ध्वस्थितं स्मरेत् ॥ ८० ॥
वह्निजाया तदन्ते स्याद्विंशत्यर्णो मनुः स्मृतः ।
अङ्गान्यस्य प्रवक्ष्यामि तानि मे त्वं निशामय ॥ ८१ ॥

इसके वाम भ्रू उकार से संयुक्त सूर्य तकार, विष्णु इकार युक्त स्त्रग्धर तकार, केवल नर नकार एवं गोपन आकार से युक्त मदन मकार, अनल रेफ

पर आरूढ़ पुण्डरीक शकार, जो रामवान् ईकार संयुक्त हो, फिर आदिदेवाढ्य आकार, उससे संयुक्त काललक्ष्मा तकार, फिर ऐश्वर्य ऐकार युक्त शङ्ख यकार, फिर अनल रेफ से युक्त तथा माया ईकार से युक्त एवं व्यापी बिन्दु से युक्त काल मकार । यह माया का बीज है । इसके बाद तारिका का स्मरण करे । इसके अन्त में वह्निजाया स्वाहा का उच्चारण करे, इस प्रकार यह २० अक्षर का माया मन्त्र कहा गया है । अब इसके बाद इसका अङ्गन्यास कहूँगा, उसे आप सुनिए ॥ ७८-८१ ॥

विमर्शिनी—मन्त्र का स्वरूप—ॐ ह्रीं मायायै नमः, मोहातीतनामाश्रितायै ह्रीं म्रीं स्वाहा (२०)। नरः = नकारः । मदनः = मकारः । गोपनः = आकारः ॥७८॥ पुण्डरीकः = शकारः । काललक्ष्मा = तकारः ॥ ७९ ॥

मायाबीजं समादाय गोपनाद्यैः स्वरैः क्रमात् ।
विभेद्य पूर्ववत् कार्या ह्यङ्गक्लृप्तिर्विपश्चिता ॥ ८२ ॥

माया बीज म्रीं को लेकर उसमें गोपनादि (आकारादि स्वरों से भिन्न कर, पूर्ववत् अङ्गादिन्यास करे) । ॐ म्रां हृदयाय नमः, ॐ म्रीं शिरसे स्वाहा इत्यादि ॥ ८२ ॥

मायासखीस्वरूपमन्त्रादि

मोहिनी भ्रामणी दुर्गा प्रेरणी च सुरेश्वर ।
मायासख्यश्चतस्रस्ता विज्ञेया रत्नभासुराः ॥ ८३ ॥

हे सुरेश्वर ! मोहिनी, भ्रामणी, दुर्गा और प्रेरणी—ये चार माया की सखियाँ हैं जो रत्नों से देदीप्यमान रहती हैं ॥ ८३ ॥

लावण्येन च वीर्येण सौन्दर्येण च तेजसा ।
मायातुल्या इमा देव्यः सितवस्त्रानुलेपनाः ॥ ८४ ॥

ये सभी लावण्य में, पराक्रम में, सौन्दर्य में और तेज में माया के समान ही हैं जो श्वेत वस्त्र और सुगन्धित द्रव्यों से संयुक्त हैं ॥ ८४ ॥

चामराङ्कुशहस्ताश्च बद्धपद्मासनस्थिताः ।
मन्त्रानासां प्रवक्ष्यामि शृणु त्वं बलसूदन ॥ ८५ ॥

ये अपने हाथों में चामर और अंकुश धारण की हुई हैं और पद्मासन बाँधकर स्थित रहती हैं । हे बलसूदन ! अब उनका मन्त्र कह रही हूँ सुनिए ॥ ८५ ॥

प्रधान ओदनारूढो ध्रुवो रेफादिदेववान् ।

दमनो भुवनारूढो योऽनलैश्वर्यसंयुतः ॥ ८६ ॥
चन्द्रिव्यापियुता ह्येते सर्वे प्रणवपीठगाः ।
संज्ञास्वाहायुजो मायासखीमन्त्रा इमे स्मृताः ॥ ८७ ॥

ओदन ओकर पर आरूढ़ प्रधान मकार मों, रेफ एवं आदि देववान् ध्रुव भकार भ्रां, भुवन उकार से संयुक्त दमन दकार दुं, अनल र ऐश्वर्य ऐ से संयुक्त पकार प्रैं, इसके बाद व्यापी बिन्दु से युक्त चन्द्र टकार टं, प्रणव उसके पश्चात् ये सभी मों भ्रां दुं प्रैं प्रत्येक के बाद टं, तदनन्तर संज्ञा, इसके बाद स्वाहा कहने पर इनके मन्त्र बन जाते हैं ॥ ८६-८७ ॥

विमर्शिनी—ॐ मों टं मोहिन्यै स्वाहा, ॐ भ्रां टं भ्रामण्यै स्वाहा, ॐ दुं टं दुर्गायै स्वाहा, ॐ प्रैं टं प्रेरण्यै स्वाहा । ध्रुवः = भकारः । भुवनम् = उकारः । दमनः = दकारः ॥ ८६ ॥

मायानुचरस्वरूपमन्त्रादि

मायामयो महामोहः शम्बरश्च कलीश्वरः ।
चत्वारोऽनुचरा एते काकालीकज्जलोपमाः ॥ ८८ ॥

मायामय, महामोह, शम्बर और कलीश्वर—ये चार माया के अनुचर हैं, जो कौओं के समूह के समान, भौरों के समान अथवा काजल के समान अत्यन्त काले हैं ॥ ८८ ॥

चतुर्भुजा महाकायाः सौम्यवक्त्राः स्मिताननाः ।
केयूराभरणोपेताः पीतकौशेयवाससः ॥ ८९ ॥

ये सभी चार भुजा वाले विशाल शरीर प्रसन्नमुख तथा हँसमुख हैं । केयूरादि आभूषणों से आभूषित तथा पीताम्बर धारण किये हुये हैं ॥ ८९ ॥

हारनूपुरसंयुक्ता नानाकुसुमभूषिताः ।
तुषारधूलिधवलाः खड्गपाशकरोद्यताः ॥ ९० ॥
बाणिं कार्मुकमन्यस्मिन्नातपत्रं करद्वये ।

ये माया के अनुचर हार एवं नूपुर धारण किये हुये, अनेक प्रकार के कुसुमों से भूषित है । सभी बर्फ की धूलि के समान श्वेत वर्ण वाले, दो हाथों में खड्ग, पाश, बाण, धनुष तथा अन्य दो हाथों में छाता धारण किये हुये हैं ॥ ९०-९१- ॥

प्रधानो गोपनोपेतः केवलस्सदनान्तरम् ॥ ९१ ॥
शङ्करः केवलश्चैव केवलः कमलस्तथा ।

चन्द्री व्यापी च सर्वेषां क्रमान्मूर्धसु विन्यसेत् ॥ ९२ ॥
तारकाद्या नमोऽन्ताश्च संज्ञया च समन्विताः ।

प्रधान मकार जो गोपन आकार से संयुक्त हो, मां उसके बाद केवल मकार मं, इसके बाद केवल शङ्कर श (शं), उसके बाद केवल कमल ककार कं, फिर व्यापी बिन्दु युक्त चन्द्री टकार से युक्त कर हृदयादि सब में न्यास करे ॥ -९१-९३- ॥

विमर्शिनी—यथा ॐ मां टं हृदयाय नमः, ॐ मं टं शिरसे स्वाहा इत्यादि मां मं शं कं इन सभी के बाद टं, ये मन्त्र है । इनके आदि में तारक ॐ, फिर संज्ञा, फिर नमः लगावे, यथा ॐ मां टं मायामयाय नमः, ॐ मं टं महामोहाय नमः, ॐ शं टं शम्बराय नमः, ॐ कं टं कलेश्वराय नमः ॥ ९१-९२ ॥

लक्ष्म्यादिमूर्तिमहिमा

मन्त्रा मायामयादीनां चतुर्णां बलसूदन ॥ ९३ ॥
सर्वेषामङ्गमन्त्राणां ध्यानं सामान्यमीरितम् ।
मुद्राश्चाङ्गसमेतानां देवानामपि वासव ॥ ९४ ॥
याः पुरस्तान्मया प्रोक्ता दर्शयेत्ता यथायथम् ।
एकैकशः समस्ता वा देवीरेता भजेन्नरः ॥ ९५ ॥

हे बलसूदन ! इस प्रकार चारो मायादिकों के मन्त्रों को, सभी के अङ्ग न्यास के मन्त्रों को तथा उनके ध्यान को हमने सामान्य रूप से कह दिया । हे इन्द्र ! अब अङ्ग समेत देवताओं की मुद्रायें जिन्हें मैने पहले ही प्रदर्शित की है उनको एक-एक के क्रम से अथवा सभी को एक साथ सामूहिक रूप से प्रदर्शित कर साधक देवी का भजन करे ॥ -९३-९५ ॥

यथामति यथोत्साहं युज्यते परया श्रिया ।
एताश्चतस्रस्तन्व्यो मे भगवत्किरणात्मिकाः ॥ ९६ ॥

यथामति यथोत्साह इस प्रकार भजन करने से साधक परा (अत्यन्त) श्री प्राप्त कर लेता है, उपर्युक्त लक्ष्मी, कीर्त्ति, जया और माया ये चारो ही हमारे शरीर हैं और भगवान् की किरण (प्रकाश) स्वरूपा है ॥ ९६ ॥

याभिः स भगवान् देवः पूर्णरूपोऽवतिष्ठते ।
एकैकस्या असंख्याताः शक्तयस्तत्तदात्मिकाः ॥ ९७ ॥

जिनके द्वारा भगवान् पूर्णरूप होकर स्थित रहते हैं, इन एक-एक की

तत्तत्स्वरूपा असंख्यात शक्तियाँ हैं ॥ ९७ ॥

अनन्तपरिवारास्ता इति शक्तिमयं जगत् ।
आसां चतसृणामेकां शक्तीनां परमेश्वरीम् ॥ ९८ ॥

ये शक्तियाँ अनन्त परिवार वाली हैं । बहुत क्या ? यह सारा जगत् ही शक्तिमय है । इनमें सर्वप्रधान इन चारों शक्तियों की परमेश्वरी मैं हूँ ॥ ९८ ॥

मूलभूतां पराहंतां विष्णोस्तद्धर्मधर्मिणीम् ।
सर्वशक्तिमयीं तां मां शक्तिचक्रस्य नायिकाम् ॥ ९९ ॥

इनकी मूलभूता पराहन्ता विष्णु की तद्धर्मधर्मिणी जो सर्वशक्तिमयी शक्ति है वह मैं हूँ । वहीं मैं शक्ति चक्र की नायिका हूँ ॥ ९९ ॥

प्रकाशानन्दयोरन्तरनुस्यूतामनुस्मरेत् ।
अग्नीषोमद्वयान्तःस्थां मध्यमार्गानुवर्तिनीम् ॥ १०० ॥

साधक प्रकाश और आनन्द के मध्य में अनुस्यूत हुई इन शक्तियों का ध्यान करे । जो शक्तियाँ अग्नि और सोम इन दोनों के मध्य में रहने वाली तथा मध्यम मार्ग का अनुसरण करने वाली हैं ॥ १०० ॥

अपराच्या मनोवृत्त्या मन्वीत मतिमान्नरः ।
अस्तमानाय्य सौषुम्ने मार्गे सूर्यनिशाकरौ ॥ १०१ ॥
अपराचीनया वृत्त्या कुर्वीत मयि संस्थितिम् ।

मतिमान् साधक इनमें अनन्य बुद्धि रखकर सूर्य और चन्द्रमा को सुषुम्ना मार्ग में अस्त कर इनका ध्यान करे । इस प्रकार अनन्य बुद्धि से मुझ में अपने मन की स्थिति रखे ॥ १०१-१०२- ॥

तत्सख्यादीनां मुद्राः

शक्रः—

देवदेवमये देवि सरसीरुहसंस्थिते ॥ १०२ ॥
मुद्रा देवीसखीनां च किङ्कराणां च मे वद ।

इन्द्र ने कहा—हे देवदेवमयि ! हे कमलासन पर विराजमान रहने वाली देवि ! अब देवी की, उनकी सखियों की और उन सखियों के अनुचरों की मुद्रा मुझे बतलाइये ॥ -१०२-१०३- ॥

श्रीः—

देवीनां दर्शिता मुद्राः पुरैव बलसूदन ॥ १०३ ॥

तत्सखीनामिदानीं तु षोडशानां निबोध मे।

श्री ने कहा—हे बलसूदन ! हमने देवी की मुद्रा तो पूर्व में ही प्रदर्शित कर दी है । उनकी १६ सखियों की मुद्रा मुझ से सुनिए ॥ -१०३-१०४-॥

संमुखौ तु करौ कृत्वा सुस्पष्टौ सुप्रसारितौ ॥ १०४ ॥
कनिष्ठानामिकाभ्यां वै युगलं युगलं हरेत् ।
मेलयेन्नखदेशाच्च यथा स्यादेकपिण्डवत् ॥ १०५ ॥

महायोनिमुद्रा—दोनों हाथ सुस्पष्ट रूप से फैला कर आमने-सामने रखे । कनिष्ठा और अनामिका दोनों अंगुलियों को दो-दो से अलग रखे । किन्तु नाखून के स्थान में उन्हें मिला देवे, जिससे वे सब पिण्ड के समान एकाकार हो जावे ॥ -१०४-१०५ ॥

अङ्गुलीभिश्चतसृभिः पाणिमध्ये निराश्रयम् ।
अङ्गुष्ठौ दण्डवत्कृत्वा प्रान्तलग्नौ प्रसारितौ ॥ १०६ ॥
अङ्गुलीनां चतसृणां विश्रान्तौ चोदरावधेः ।
सर्पकुण्डलवत्कृत्वा प्रयत्नात्तर्जनीद्वयम् ॥ १०७ ॥
प्रसार्य चाग्रतो लग्ने मध्यमे द्वे सुरेश्वर ।
कनीयस्यौ ऋजूभूते समारभ्य करद्वयम् ॥ १०८ ॥
कुर्याच्चैवातिसंलग्नं मणिबन्धावसानतः ।
ईषदङ्गुष्ठमूले तु मणिबन्धं करद्वयात् ॥ १०९ ॥

चारों अंगुलियों को हथेली पर निराश्रय रखे । अंगूठे को दण्डे के समान खड़ा करके दोनों को फैला दे । चारों अंगूलियों को पेट पर रक्खे । दोनों तर्जनी मध्यमा को फैला दे । दोनों कनीष्ठिका को सीधी रक्खे । मणिबन्ध तक इस प्रकार सभी को अति संलग्न करे । थोड़ा अंगुष्ठ मूल एवं मणिबन्ध दोनों को मिला दे ॥ १०६-१०९ ॥

कुर्याद्विकसितं चैव मुद्रैषा बलसूदन ।
महायोन्यभिधाना च त्रिलोकजननी परा ॥ ११० ॥

फिर उसे फैला देवे तो, हे बलसूदन ! यह महायोनि नाम की मुद्रा हो जाती है यही परा त्रिलोकजननी है ॥ ११० ॥

वशीकुर्याज्जगत् सर्वं कामतो यदि योजिता ।
अत्रानुष्ठानयत्ता स्त्री बद्ध्वा दूरात् प्रदर्शयेत् ॥ १११ ॥
मुनीनां गतसञ्ज्ञानां क्षोभं जनयते क्षणात् ।

पुरुषोऽत्राभियुक्तो वा दर्शयेद्वनितासु च ॥ ११२ ॥
निवृत्तकामधर्मासु चाबलास्वथवा मुनेः ।
क्षुभ्यन्त्यमदनास्ताश्च सकामायास्तु का कथा ॥ ११३ ॥

यदि किसी कामना से इस मुद्रा का संयोजन किया जाय तो वह सारे जगत् को वश में कर लेती है । इसके अनुष्ठान में लगी हुई स्त्री इस मुद्रा को बाँधकर दूर से ही प्रदर्शित करे तो और की तो बात क्या ? यह सर्वथा सङ्गरहित मुनियों के हृदय में भी क्षण भर में ही क्षोभ पैदा कर देती है, अथवा आसक्ति वाला पुरुष स्त्री को यह मुद्रा दिखावें तो जो स्त्रियाँ काम धर्म से रहित हैं, अथवा सर्वथा काम के बल (= कामासक्ति) से रहित हैं, वे भी क्षोभ को प्राप्त हो जाती हैं, तो फिर सकाम स्त्री के विषय में तो कहना ही क्या है ? ॥ १११-११३ ॥

एषा साधारणी मुद्रा सर्वासामपि वासव ।
वक्ष्येऽथानुचराणां तु षोडशानां समासतः ॥ ११४ ॥

हे वासव ! यह सभी सखियों के लिये साधारणी मुद्रा है । अब १६ अनुचरों की मुद्रायें संक्षेप में कहती हूँ ॥ ११४ ॥

पृष्ठलग्नौ करौ कृत्वा मोक्षयेत्तदनन्तरम् ।
प्रदेशिनीयुगं चैव कनिष्ठायुगलं तथा ॥ ११५ ॥
अधोमुखं तु सुस्पष्टं ताभ्यां मध्यं महामते ।
कनिष्ठिकाद्वयं लग्नं विरलं तर्जनीयुगम् ॥ ११६ ॥
मध्यमानामिकायां तु युग्मं युग्मं तु धारयेत् ।
एकलग्नं नखोद्देशाद्यावत्पर्व तु मध्यमम् ॥ ११७ ॥
ऊर्ध्ववक्त्रं सुरश्रेष्ठ समेन धरणेन तु ।
सुस्पष्टौ लम्बमानौ चाप्यङ्गुष्ठौ चाप्यधोमुखौ ॥ ११८ ॥
परस्परं तु दूरस्थौ मुद्रैषा सर्वकामदा ।
स्वस्वमन्त्रयुता कार्या सर्वेषामियमेकिका ॥ ११९ ॥

अनुचरों की मुद्रा का विधान—दोनों हथेलियों के पृष्ठों को सटा दे । दोनों तर्जनियों को पृथक् करे । फिर दोनों कनिष्ठिकाओं को भी अलग करे फिर उन कनिष्ठिकाओं को अधोमुख करके मिला दे । दोनों तर्जनियों को अलग रखते हुए मध्यमा एवं अनामिका को जोड़े हुए नखों तक अग्रभाग को मिला दे । दोनों अँगूठों को अधोमुख करके ऐसा खड़ा करे कि उनका मुख ऊपर की ओर हो और परस्पर दोनों ही दूर रहें, यह मुद्रा सारी कामनायें

प्रदान करती है । यह एक ही मुद्रा समस्त अनुचरों के लिये कही गई है । इसका विनियोग उन-उन अनुचरों के मन्त्र से करना चाहिये ॥ ११५-११९ ॥

साधारण्याविमे प्रोक्ते मुद्रे सख्यनुचारिणाम् ।
इत्थं सपरिवाराभिस्तां मां चतसृभिर्युताम् ॥ १२० ॥

हे इन्द्र ! सखियों के तथा उनके अनुचरों के लिये ये दो मुद्रायें हमने साधारण रूप से प्रदर्शित की है । इसी प्रकार परिवार सहित चारों सखियों की मुद्रायें समझना चाहिये ॥ १२० ॥

विमर्शिनी—चतसृभिरिति । लक्ष्मीकीर्तिजयामायाभिरित्यर्थ: ॥ १२० ॥

विभूतिभिरुपास्यैवं मामेवान्ते समश्नुते ।
विभूतयो ह्यनन्ता मे तत्त्वतात्त्विकसंश्रयाः ॥ १२१ ॥

साधक मेरी इन विभूतियों द्वारा मेरी उपासना कर अन्त में मुझे प्राप्त कर लेता है । तत्त्वों तथा तात्विकों में रहने वाली मेरी विभूतियों का पार नहीं है वे विभूतियाँ अनन्त हैं ॥ १२१ ॥

कोटिकोटिपरीवारा एकैकास्ताश्च वासव ।
एताः प्रधानभूतास्ताश्चतस्रः परिकीर्तिताः ॥ १२२ ॥

हे वासव ! इनमें एक विभूति करोड़ों परिवार वाली हैं, इनमें सबसे जो चार प्रधान हैं उनका वर्णन मैंने आपसे किया है ॥ १२२ ॥

इति मे मूर्तिमन्त्राणामङ्गमन्त्रादिभिः सह ।
कथितस्ते समुद्देशः साधनादीनि मे शृणु ॥ १२३ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे मूर्तिप्रकाशो
नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार अपनी मूत्तियों तथा अङ्ग मन्त्रों के सहित उद्देश मैंने प्रदर्शित किया अब साधन कहूँगी ॥ १२३ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के मूर्तिप्रकाश नामक पैतालिसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

लक्ष्मीमन्त्रसिद्धिप्रकाश

लक्ष्मीमन्त्रसाधनविधिः

श्रीः—

अनुक्रमेण देवेश लक्ष्म्यादीनां च साधनम् ।
विविधानि च कर्माणि तन्मन्त्रेभ्योऽवधारय ॥ १ ॥

श्री ने कहा—हे देवेश! अब लक्ष्मी आदि के साधन की विधि, तथा नाना प्रकार के उन कर्मों को जो उनके मन्त्रों से सम्पन्न किये जाते हैं, अब क्रमानुसार सुनिए ॥ १ ॥

विमर्शिनी—आदिशब्देन कीर्तिजयामाया गृह्यन्ते ॥ १ ॥

चतुरश्रं चतुर्द्वारं कृत्वा पूर्वोदितं पुरम् ।
तन्मध्येऽष्टदलं पद्मं लिखेच्छुक्लारुणप्रभम् ॥ २ ॥

पूर्व में कहे गए अनुसार चौकोर चार द्वार वाले भूपुर का निर्माण कर, उसमें शुक्ल तथा लाल वर्ण के अष्ट दल कमल का निर्माण करे ॥ २ ॥

विमर्शिनी—पुरनिर्माणमाह—चतुरश्रमित्यादिना ॥ २ ॥

सितानि चतुरालिख्य कोणेषु स्वस्तिकानि च ।
व्यापकत्वेन तु पुरा मणिबन्धमुखादितः ॥ ३ ॥
विन्यस्य मूलमन्त्रं च हस्ते देहे च केवलम् ।
पश्चादादौ च हस्ताभ्यां लक्ष्मीमन्त्रं तथा न्यसेत् ॥ ४ ॥

चार कमल दल श्वेत वर्ण का बनावें और कोणों में स्वस्तिक निर्माण करें, फिर मुख से लेकर मणिबन्ध पर्यन्त व्यापक 'अं' इस मन्त्र से न्यास

कर, तदनन्तर केवल मूलमन्त्र से हाथ और देह में न्यास करे । फिर दोनों हाथों में लक्ष्मी मन्त्र से न्यास करे ॥ ३-४ ॥

तदङ्गानि च विन्यस्य हस्ते देहे यथा पुरा ।
तस्यानुगचतुष्कं यद्देवीनां तदनु न्यसेत् ॥ ५ ॥
प्रदेशिन्यादितो हस्तद्वये तदनु विग्रहे ।
उत्तमाङ्गे तु हृन्मध्य ऊर्वोर्जानुद्वये तथा ॥ ६ ॥

फिर अङ्ग-न्यास कर, पूर्व की भाँति हाथ एवं देह में लक्ष्मी की अनुगामिनी, चारों ऋद्ध्यादि देवियों के मन्त्रों से, प्रदेशिनी से आरम्भ कर, दोनों हाथों में, उसके पश्चात् शरीर में, उत्तमाङ्ग (शिर) में, हृदय के मध्य में, दोनों ऊरू तथा दोनों जानुओं में न्यास करे ॥ ५-६ ॥

विमर्शिनी—अनुगेति = ऋद्ध्यादिचतुष्कमन्त्रमित्यर्थः ॥ ५ ॥

लावण्याद्यांश्च चतुरो ह्यनामादि करद्वये ।
अङ्गुष्ठान्तं च विन्यस्य हस्ते देहे च वासव ॥ ७ ॥

हे वासव ! इसके बाद लावण्यादि चार अनुचर के मन्त्रों से दोनों हाथों के अनामिका से लेकर अंगुष्ठ पर्यन्त न्यास कर हाथ और देह में न्यास करना चाहिए ॥ ७ ॥

विमर्शिनी—अनुचरमन्त्राणां न्यासमाह—लावण्याद्यानिति ॥ ७ ॥

दक्षिणे च तथा वामे स्कन्धे पक्षद्वये ततः ।
न्यासं कृत्वा यथान्यायं श्रीकामोऽथ यजेद्धृदि ॥ ८ ॥

इसके बाद दाहिने कन्धे, बायें कन्धे, दोनों पक्ष में न्यास कर न्यायानुसार लक्ष्मी की कामना वाला साधक हृदय में न्यास करे ॥ ८ ॥

लययागप्रयोगेण लक्ष्मीमन्त्रं तु केवलम् ।
कृत्वावलोकनाद्यं तु ततो बाह्ये तु विन्यसेत् ॥ ९ ॥

लय याग की प्रक्रिया के अनुसार केवल लक्ष्मी मन्त्र से अवलोकनादि कर बाहर न्यास करे ॥ ९ ॥

मूर्त्तिमन्त्रयुतं मूलं कर्णिकोपरि वासव ।
सकलाकलदेहं च सर्वमन्त्रान्वितं विभुम् ॥ १० ॥
तदुत्सङ्गगतां लक्ष्मीं स्वमन्त्रेणावतार्य च ।
पूर्वोक्तध्यानसंयुक्तो भोगमोक्षप्रसिद्धये ॥ ११ ॥

तदाग्नेये तदीशाने यातवीयेऽथ वायवे ।
चत्वारि हृदयादीनि नेत्रं केसरसंततौ ॥ १२ ॥
तदग्रे दक्षिणे पृष्ठे वामपार्श्वे क्रमान्न्यसेत् ।

फिर हे वासव ! कर्णिकाओं पर मूर्त्ति के मन्त्र युक्त मूल से न्यास करे । फिर जो साकार एवं निराकार देह वाले सभी मन्त्रों से समन्वित भगवान् विष्णु विभु हैं, उनके उत्सङ्ग में निवास करने वाली महालक्ष्मी को उनके मन्त्र से आवाहन करे और भोग तथा मोक्ष की सिद्धि के लिये पूर्वोक्त ध्यान से संयुक्त होकर उस कमल के आग्नेय, ईशान, नैर्ऋत्य और वायव्य कोण में, चार हृदय मन्त्रों से, नेत्र मन्त्र से, केशरसमूहों में, फिर कमल के आगे, दाहिने, पीछे और बायें क्रमशः ऋद्ध्यादि चतुष्टय से न्यास करे ॥ १०-१३- ॥

चतुष्टयं तु ऋद्ध्याद्यं द्विभुजं तु तथाकृति ॥ १३ ॥
पद्मगौरप्रतीकाशं श्रीवृक्षचमराङ्कितम् ।
पद्मासनेनोपविष्टं प्रेक्षमाणं तदाननम् ॥ १४ ॥

जिनकी आकृति दो भुजाओं वाली है, जिनके शरीर का वर्ण स्वच्छ खिले हुये कमल के समान हैं, जिनके हाथों में बिल्ववृक्ष का चमर है, जो पद्मासन पर विराजमान हुई महालक्ष्मी के मुख की ओर देख रही है ॥ -१३-१४ ॥

विमर्शिनी—कर्णिकोपरीति । अष्टदलपद्मकर्णिकोपरीत्यर्थः । अकलः = निष्कलः ॥ १० ॥

स्वस्तिकानां तदीशादिकोणस्थाने निवेश्य तु ।
लावण्याद्यचतुष्कं तु सौम्यवक्त्रं चतुर्भुजम् ॥ १५ ॥
नीलकौशेयवसनं पद्मकुम्भकरान्वितम् ।
नलिनीध्वजहस्तं च सफलामलवृक्षधृत् ॥ १६ ॥

फिर स्वतिकादि के ईशानादि चारों कोणों में लावण्यादि चार अनुचरो से न्यास करे । जो प्रसन्न मुख युक्त चार भुजाओं वाले हैं । नीले वर्ण का रेशमी वस्त्र धारण किये हुये, हाथों में पद्म, कुम्भ, कमलिनी का ध्वज और सफल अमलतास का वृक्ष धारण किये हुये है ऐसे अनुचरों का ध्यान करना चाहिए ॥ १५-१६ ॥

द्वारेष्वस्त्रं चतुर्दिक्षु न्यस्य पूज्य यथा पुरा ।
मूलमन्त्रयुतां देवीं लक्ष्मीं त्रिदशनन्दन ॥ १७ ॥
मुद्राश्च दर्शयेत् सर्वा यत्रयत्र हि याः स्मृताः ।

जप्त्वा कृत्वा ततो होमं सघृतैस्तु तिलाक्षतैः ॥ १८ ॥

फिर हे त्रिदशनन्दन ! द्वार के चारो दिशाओं में अस्त्र मन्त्र का सन्निवेश कर, मूल मन्त्र से संयुक्त उन महालक्ष्मी का पूर्व की भाँति पूजन कर, जहाँ-जहाँ जो स्थित हैं, उन्हें समस्त मुद्रा प्रदर्शित करे । फिर महालक्ष्मी के मन्त्र का जप कर घृत मिश्रित तिल एवं अक्षतों से हवन करे ॥ १७-१८ ॥

सामलैः श्रीफलैश्चैव सति लाभे तु पङ्कजैः ।
यथाशक्ति ह्यसंख्यैस्तु होमान्ते वृत्रसूदन ॥ १९ ॥
लक्ष्मीरूपस्ततो भूत्वा साधकः कृतनिश्चयः ।
जपेल्लक्षाणि वै पञ्च शुद्धाहारो जितेन्द्रियः ॥ २० ॥

आमलक (= आँवला) के फलों से, श्री (= बेल) फल से और यदि संभव हो सके तो कमल के पुष्पों से, असंख्य अथवा यथाशक्ति हवन करना चाहिए । फिर हे वृत्रसूदन ! होम के अन्त में साधक अच्छी तरह निश्चयपूर्वक स्वयं लक्ष्मी स्वरूप होकर शुद्धाहार करते हुये, इन्द्रियों को वश में करके एक लाख जप करे ॥ १९-२० ॥

होमं कुर्याज्जपान्ते तु क्रमाद्बिल्वामलाम्बुजैः ।
यथाशक्ति ह्यसंख्यैस्तु अयुतायुतसंख्यया ॥ २१ ॥

फिर क्रमशः बिल्वफल, आमलक फल एवं कमल(गट्टा) फलों से यथाशक्ति असंख्य अथवा दश हजार आहुतियों से होम करे ॥ २१ ॥

ददाति दर्शनं शक्र होमान्ते परमेश्वरी ।
पुत्र सिद्धास्मि ते ब्रूहि यत्ते मनसि चेप्सितम् ॥ २२ ॥

हे शक्र ! इस प्रकार होम कर लेने पर स्वयं परमेश्वरी दर्शन देती हैं और कहती हैं कि पुत्र ! मैं सिद्ध (प्रसन्न) हो गई जो आप मन में चाहते हो उसे कहिये ॥ २२ ॥

कुरु कार्याण्यभीष्टानि मन्मन्त्रेणाखिलानि च ।
अद्य प्रभृति निःशङ्को द्वन्द्वोपद्रववर्जितः ॥ २३ ॥

अब आप आज से बिना किसी संदेह के उपद्रव रहित हो इस मेरे मन्त्र से अपना सारा कार्य करे ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वा तु सा देवी याति यत्रागताशु वै ।
ततः कर्माणि वै कुर्याल्लक्ष्म्या अनुमते मम ॥ २४ ॥

इतना कहकर देवी जहाँ से आई थी जब वहीं चली जायँ, तब साधक मुझ लक्ष्मी की आज्ञा लेकर अपना कार्य करे ॥ २४ ॥

स एष तुष्टोऽभीष्टं तु श्रियं दद्याद्यथार्थिनाम् ।
संक्रुद्धो निर्धनं कुर्याद्वाङ्मात्रेण धनेश्वरम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार का सिद्ध साधक संतुष्ट होने पर याचकों को अभीष्ट अर्थ प्रदान करता है । क्रुद्ध होने पर अपनी वाणी मात्र से कुबेर को भी निर्धन बनाने में सक्षम हो जाता है ॥ २५ ॥

शुल्बं कुर्यात् सकृद्ध्यायन् मन्त्रजापाच्च हाटकम् ।
पूरयित्वाम्भसा कुम्भं क्षीरेण मधुनाथवा ॥ २६ ॥
निधाय दक्षिणे हस्ते वामं तदुपरि न्यसेत् ।
शतमष्टाधिकं मन्त्रं जपेद्ध्यानसमन्वितम् ॥ २७ ॥

एक बार ध्यान मात्र से क्रुद्ध साधक सब कुछ तहस-नहस कर देता है । प्रसन्न होने पर सुवर्ण प्रदान करता है । लक्ष्मी साधक जल से, दूध से अथवा मधु से घड़ा भरे । फिर उसे दाहिने हाथ पर रखकर बायें हाथ से उसे ढक कर महालक्ष्मी का ध्यान करते हुये १०८ बार जप करे ॥ २६-२७ ॥

रसेन्द्राभिनिवेशस्थो ह्येकचित्तः समाहितः ।
रसेन्द्रत्वं समायाति तत्कुम्भे त्वाहृतं जलम् ॥ २८ ॥

उस घट में रसेन्द्र का अभिनिवेश करते हुये एकाग्रचित्त से सावधानीपूर्वक जप करे । तो उस कुम्भ में रखा हुआ समस्त जल रसेन्द्र (कामना पूर्ण करने वाला) बन जाता है ॥ २८ ॥

सरसो लक्षवेधी स्याच्छस्त्रादीनां पुरन्दर ।
करोति कायममरं जरारोगविवर्जितम् ॥ २९ ॥

हे पुरन्दर ! वह रस समस्त शस्त्रादिकों के लक्ष्य का वेध कर देता है। वह रसेन्द्र शरीर को जरा मरण वर्जित रखकर साधक को अमर बना देता है ॥ २९ ॥

अङ्गुष्ठाकारमात्रं तु पुरा पाषाणमाहरेत् ।
दक्षिणोदरहस्तेन वामेन बदरीसमम् ॥ ३० ॥
अभिमन्त्र्य तु तौ मुष्टी द्वे शते षोडशाधिके ।
दक्षिणस्थं तु पाषाणं रत्नत्वमुपयाति च ॥ ३१ ॥

साधक अंगुष्ठ के आकार का पत्थर दाहिने हाथ के तलवे में ले आवे तथा बायें हाथ में बैर के आकार का पत्थर ले आवे । उन दोनों को अपने दोनों हाथ की मुट्ठी में दबाकर, दो सौ सोलह बार इस मन्त्र से अभिमन्त्रित

करे, तो दाहिने हाथ में रखा हुआ पत्थर रत्न हो जाता है ॥ ३०-३१ ॥

वामे मुक्ताफलत्वं च महामूल्ये तु ते उभे ।
यद्यदिच्छति जात्या वै तत्तद्रत्नं भवेत्तदा ॥ ३२ ॥

साधक के बायें हाथ का पत्थर मोती बन जाता है, और दोनों ही महा मूल्यवान् हो जाते हैं । साधक जिस जाति (= द्रव्य) को मुट्ठी में लेकर ऐसा करता है वह वैसा-वैसा रत्न बन जाता है ॥ ३२ ॥

तथा मुक्ताफलं तत्तत् प्रतिभाति करोति च ।
गोगजाश्वसमुद्भूतमस्थि चादाय पाणिना ॥ ३३ ॥
शतार्धं मन्त्रितं कृत्वा प्रवालत्वं प्रयाति तत् ।
शताभिमन्त्रितं कृत्वा त्रपु सीसं तथायसम् ॥ ३४ ॥
जायते कलधौतं तु रजतं वातिनिर्मलम् ।

अथवा साधक की इच्छानुसार वह पत्थर मुक्ता फल हो जाता है जैसा वह चाहता है वह वैसा ही बन जाता है, अथवा साधक उसे वैसा बना देता है । गौ, हाथी, घोड़े की हड्डी हाथ में लेकर यदि साधक ५० बार जप करे तो वह मूँगा बन जाता है । त्रपु सीसा तथा लोहा हाथ में लेकर सौ बार इस मन्त्र से अभिमन्त्रित करे तो वह सोना, अथवा अत्यन्त निर्मल चाँदी हो जाता है ॥ ३३-३५- ॥

यद्यद् गृहीत्वा देवेन्द्र यं यं धातुं समीहते ॥ ३५ ॥
क्रुद्धो वा परितुष्टश्च तत्तत् कुर्यात्तु सोऽन्यथा ।
एवमश्ममयानां तु अन्यत्वमुपपद्यते ॥ ३६ ॥

हे देवेन्द्र ! वह साधक जिस किसी भी वस्तु को लेकर, जिस धातु के निर्माण की इच्छा करता है, क्रुद्ध होने पर अथवा प्रसन्न होने पर अन्य का अन्य बना देता है । इस प्रकार मन्त्रसिद्धि से पत्थर का रत्नादि अन्यत्व स्वरूप उत्पन्न हो जाता है ॥ -३५-३६ ॥

विमर्शिनी—कृत्वेति । धारयति चेदिति शेषः ॥ ३४ ॥

या या मनसि वै यस्य विभूतिः प्रतिभाति च ।
तां तां ददाति तस्याशु धनधान्यगवादिकाम् ॥ ३७ ॥

जिसके मन में जिस-जिस विभूति की कामना होती है, वह साधक उसे उन-उन विभूतियों को शीघ्र प्रदान तो करता ही है, धन-धान्य, गवादि (पशु-धन) भी देता है ॥ ३७ ॥

लिखित्वा भूर्जपत्रे तु यागन्यासक्रमेण तु ।
रोचनाकुङ्कुमाभ्यां तु सन्धारयति यः सदा ॥ ३८ ॥
सुवर्णवेष्टितं चाङ्गे लक्ष्मीमन्त्रं शतक्रतो ।
तस्यायुषो भवेद् वृद्धिः सर्वत्र विजयी महान् ॥ ३९ ॥

यागन्यास के क्रम से भोजपत्र पर रोचना और कुंकुम से लक्ष्मी मन्त्र को लिखकर जो उस मन्त्र को सुवर्ण से वेष्टित कर अपने अङ्ग में धारण करता है हे इन्द्र ! उसके आयु की वृद्धि हो जाती है और वह सर्वत्र महान् विजय को प्राप्त करता है ॥ ३८-३९ ॥

विमर्शिनी—रोचनाकुङ्कुमाभ्यामिति । लिखित्वेति पूर्वेणान्वयः ॥ ३८ ॥

प्राप्नुयान्महतीं पूजां यत्र यत्र च संविशेत् ।
इदमाराधनं प्रोक्तं श्रीकामानां विशेषतः ।
लक्ष्म्यास्त्रिदशशार्दूल मम या प्रथमा तनुः ॥ ४० ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे लक्ष्मीमन्त्रसिद्धिप्रकाशो
नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

वह जहाँ-जहाँ बैठता है वहाँ-वहाँ महती पूजा को प्राप्त करता है । यह महाश्री का आराधनक्रम लक्ष्मी की कामना करने वालों के लिये विशेष रूप से कहा गया है । हे त्रिदशशार्दूल ! क्योंकि यह महालक्ष्मी मेरा विशेष शरीर है ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के लक्ष्मीमन्त्रसिद्धिप्रकाश नामक छियालिसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

कीर्तिमन्त्रसिद्धिप्रकाशः

कीर्तिमन्त्रसाधनविधिः

व्यूहानां प्रथमा लक्ष्मीर्मत्संज्ञैवोदिता हि या ।
तस्याः सिद्धिरियं प्रोक्ता द्वितीयाया निशामय ॥ १ ॥

श्री ने कहा—व्यूहों में सर्वप्रथम यह महालक्ष्मी जो मेरी ही संज्ञा है उनकी सिद्धि का प्रकार हमने आपसे कहा । अब आप दूसरी कीर्त्ति के विषय में सुनिए ॥ १ ॥

न्यासोपायं पद्मयागं सर्वं विद्धि पुरोदितम् ।
पूर्वोक्तं मण्डलं कृत्वा सितपीतं तदन्तरे ॥ २ ॥
किंतु वै पङ्कजं कुर्याद्विन्यसेत्तदनन्तरम् ।
विभोरुत्सङ्गगां कीर्तिं हृदादीनि यथा पुरा ॥ ३ ॥
क्रमाद्ध्यानं सखीनां च यथा तदवधारय ।

हे इन्द्र ! न्यास का प्रकार और अष्टदल कमल का याग जैसा पहले कहा जा चुका है सब उसी प्रकार समझना चाहिये । पूर्वोक्त मण्डल बनाकर उसके बीच में श्वेत और पीत वर्ण का कमल बनावे । उसी प्रकार उस अष्टदल में न्यास करे । भगवान् विष्णु के हृदय में रहने वाली कीर्त्ति का स्थापन तथा हृदादि न्यास करे । इसके बाद जिस प्रकार कीर्त्ति की सखियों का ध्यान किया जाता है उसे सुनिए ॥ २-४- ॥

द्विभुजा हेमवर्णा च कीर्तिरूपा स्मितानना ॥ ४ ॥
सुपुस्तकं करे वामे दक्षिणे चामरं करे ।
ध्यायेत् किंशुकवर्णाभं कान्तरूपं मनोरमम् ॥ ५ ॥

कीर्त्ति की सभी सखियाँ रूप में कीर्त्ति के समान ही है । वे दो भुजाओं वाली, सुवर्ण के समान कान्तिमती और प्रसन्न मुख रहने वाली हैं । उनके बायें हाथ में पुस्तक और दाहिने हाथ में चामर विद्यमान है । इसके बाद कीर्त्ति के चारों अनुचरों का ध्यान करे जिनके शरीर की कान्ति पलाश पुष्प के सदृश मनोहर और रक्तवर्ण की है ॥ -४-५ ॥

तत्रानुगचतुष्कं तु चतुर्हस्तं सितात्म्बरम् ।
वामदक्षिणहस्ताभ्यां मुख्याभ्यां तेषु चिन्तयेत् ॥ ६ ॥
शङ्खमिन्दुशताभं च कदम्बाख्यं महाद्रुमम् ।
सपुष्पं षट्पदोपेतमपराभ्यां निबोध मे ॥ ७ ॥

वे सभी चार हाथ वाले श्वेत वस्त्र धारण किये हुये हैं । उनके बायें और दाहिने हाथ में क्रमशः सैकड़ों चन्द्रमा के समान स्वच्छ वर्ण वाला शङ्ख तथा पुष्प सहित भ्रमर समूहों के गुञ्जार से युक्त कदम्ब का वृक्ष है और अन्य दोनों हाथों के विषय में, हे इन्द्र ! सुनिए ॥ ६-७ ॥

पूर्णचन्द्रोपमं वामे दर्पणं दक्षिणे करे ।
मयूरव्यजनं शुभ्रं ध्यात्वैवं दर्शयेत्ततः ॥ ८ ॥

उनके ऊपर बायें हाथ में पूर्ण चन्द्रमा के समान स्वच्छ दर्पण और अन्य दाहिने हाथ में मयूर पङ्ख का बना हुआ व्यजन (पङ्खा) है । इस प्रकार उनका ध्यान कर दर्पणादि प्रदर्शित करे ॥ ८ ॥

मुद्राः सर्वाः प्रतिस्वं याः साधकः पूजयेत्ततः ।
अर्घ्यपुष्पादिना सम्यग्जप्त्वा शक्त्याथ होमयेत् ॥ ९ ॥

उनके अनुरूप सभी मुद्रायें प्रदर्शित कर साधक अर्घ्यादि उपचारों से उनकी पूजा करे । तदनन्तर जप करे, फिर शक्ति के अनुसार होम करे ॥ ९॥

तिलानि चाज्यसिक्तानि गन्धशाल्यन्वितानि च ।
देवीरूपं तु होमान्ते कृत्वा पुष्पाञ्जनाम्बरैः ॥ १० ॥
एकान्ते विजने स्थित्वा मौनी मूलफलाशनः ।
जपेल्लक्षत्रयं मन्त्रं जपान्ते होममाचरेत् ॥ ११ ॥

घृत मिश्रित तिल और गन्धयुक्त शाली आदि पदार्थों से हवन का विधान है । होम करने के पश्चात् फूल अञ्जन तथा अम्बर धारण कर देवी स्वरूप होकर किसी एकान्त निर्जन स्थान में स्थित होकर मौन धारण करे । मूल फल भक्षण करे तथा एक लाख की संख्या में जप करे और जप के अन्त में होम करे ॥ १०-११ ॥

लक्षैकसंख्यं देवेन्द्र तण्डुलैस्तिलमिश्रितैः ।
कापिलेन घृतेनैव तादृक्क्षीरयुतेन च ॥ १२ ॥
एकैकं च हृदादीनां सहस्रं चाथ होमयेत् ।
दद्यात्पूर्णाहुतिं पश्चात् क्षीरेणाज्यान्वितेन च ॥ १३ ॥

हे देवेन्द्र ! तिल तण्डुल मिश्रित कपिला गाय के घृत तथा दूध से एक लाख की संख्या में होम करे । तदनन्तर एक एक हृदादि मन्त्रों से सहस्र की संख्या में होम करे । फिर घृत मिश्रित दूध से पूर्णाहुति प्रदान करे ॥१२-१३॥

पतितायां तु पूर्णायामायाति परमेश्वरी ।
साधुसाध्विति वै ब्रूते स्थित्वाग्रे साधकस्य तु ॥ १४ ॥

पूर्णाहुति हो जाने पर परमेश्वरी कीर्त्ति स्वयं आ जाती है और साधक के आगे खड़ी होकर 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' ऐसा कहती है ॥ १४ ॥

एह्येहि परमं धाम त्यजेदं भौतिकं पुरम् ।
उपभुङ्क्ष्वामरान् भोगान् मर्त्यमध्यगतोऽपि च ॥ १५ ॥

आओ-आओ, इस परम धाम में पधारो, इस भौतिक शरीर को छोड़ मनुष्य के मध्य में रहकर तथा देवलोक में भी रहकर देव सुलभ भोग को भोगो ॥ १५ ॥

मदीयेनाखिलं कर्म मन्त्रेण कुरु साधक ।
एवमुक्त्वा तु सा देवी गगनं च व्रजेत्ततः ॥ १६ ॥

हे साधक ! आप अपना सारा कार्य मेरे मन्त्र से करे । तदनन्तर इतना कह कर वह देवी आकाश में अन्तर्हित हो जाती है ॥ १६ ॥

साधकः कीर्तिमन्त्रेण कुर्यात् कर्म यथेप्सितम् ।
ददाति यस्य यत्किंचित्तत्तस्याप्यक्षयं भवेत् ॥ १७ ॥

साधक इसके बाद अपना सारा कार्य कीर्त्ति मन्त्र से सम्पन्न करे । भगवती कीर्त्ति इससे प्रसन्न होकर उसे जो कुछ भी देती है, वह सब अक्षय हो जाता है ॥ १७ ॥

तेनासौ लभते कीर्तिं यावच्चन्द्रार्कतारकम् ।

कीर्त्ति के द्वारा दी हुई उस वस्तु से साधक जितने दिन तक सूर्य और चन्द्रमा विद्यमान हैं, उतने दिनों तक वह स्थायी कीर्त्ति प्राप्त करता है ॥१८-॥

प्रचण्डानां मनुष्याणां मध्यस्थो यदि बुध्यते ॥ १८ ॥

वक्ति संसदि वा किंचित् प्राप्नुयाद्विपुलं यशः ।
अभिभूय जनान् सर्वानुत्कृष्टत्वं प्रपद्यते ॥ १९ ॥

बड़े-बड़े प्रचण्ड विद्वानों महात्माओं मनुष्यों के मध्य में पहुँच कर वह जो कुछ भी उनकी सभा में बोलता है उससे उसको महान् यश प्राप्त होता है । वह समस्त लोगों को तिरस्कृत कर सर्वोत्कृष्टता प्राप्त करता है ॥ -१८-१९ ॥

जप्त्वा सिद्धान्नभाण्डं तु स्वल्पकालेऽन्नसङ्कटे।
यदेच्छति जनानां तु यथेच्छमशनं भवेत् ॥ २० ॥

ऐसा साधक अन्न सङ्कट उपस्थित होने पर स्वल्प काल में जप कर सिद्धान्न भाण्ड प्राप्त कर लेता है, जिसमें वह जितने मनुष्यों को जितना चाहे उतना अन्न प्रदान कर सकता है ॥ २० ॥

ददाति चाक्षयं तस्य सप्ताहमनिशं यदि ।
प्राप्नुयान्महतीं कीर्तिं यावदाभूतसंप्लवम् ॥ २१ ॥
सुभिक्षे लवमात्रं तु आदाय कनकस्य च ।
परिजप्य सहस्रं तु विधिना परितः स्थितम् ॥ २२ ॥
प्रयाति तत् प्रभूतत्त्वं दीयतेऽर्थिजनस्य च ।
अव्युच्छिन्नं द्विसप्ताहं संशयं नाधिगच्छति ॥ २३ ॥

यदि वह सप्ताह पर्यन्त निरन्तर उस अन्न का दान करता रहे तो उसे महान् यश की प्राप्ति होती है । विधिपूर्वक सहस्र संख्या में सुभिक्ष होने की स्थिति में यदि सुवर्ण का लव मात्र हाथ में ले कर जप करे तो उसके चारों ओर प्रभूत सुवर्ण हो जाता है, जिसे वह साधक बिना संशय के उस सुवर्ण का दान अर्थिजनों को, बिना किसी व्यवधान के निरन्तर दो सप्ताह पर्यन्त कर सकता है ॥ २१-२३ ॥

तेनासौ महतीं कीर्तिं प्राप्नुयाल्लोकसत्कृताम् ।
आदाय तोयकलशं नागेन्द्रभवनह्रदात् ॥ २४ ॥
प्रयायान्मरुभूमिं वै तत्र निम्ने तु भूतले ।
निक्षिपेत् पर्वताग्रे वा सहस्रपरिमन्त्रितम् ॥ २५ ॥
स पन्नगेश्वरस्तत्र परिवारसमन्वितः ।
रक्षन्नुदकमातिष्ठेद्यावत्तिष्ठति मेदिनी ॥ २६ ॥
तेनासौ महतीं लोके कीर्तिमाप्नोति वासव ।
काले तु बीजरोही च यदि देवो न वर्षति ॥ २७ ॥

आदाय मृत्कणं हस्ते तटाकजलमर्दितम् ।

तन्मध्यस्थं च वा क्लिन्नं परिजप्य शतत्रयम् ॥ २८ ॥
मुखवातैस्तु संतप्तं कृत्वा कीर्तिमनुं स्मरेत् ।
प्रक्षिपेद् गगने तद्वै मेघत्वं प्रतिपद्यते ॥ २९ ॥

ऐसा करने से वह लोक में निष्कलङ्क कीर्त्ति प्राप्त कर लेता है । किसी साँप के बिल से जल पूर्ण कलश लेकर किसी मरुस्थल में जाकर उसे गड्ढे में गाड़ देवे, अथवा पर्वत की चोटी पर स्थापित कर देवे । फिर सहस्र संख्या में कीर्त्ति मन्त्र का जप करे तो वहाँ वह सर्प हो अपने परिवार के साथ जाकर, जब तक यह पृथ्वी है तावत्काल पर्यन्त उस कलश की रक्षा करता है । हे वासव ! इससे भी उसे महान् कीर्त्ति प्राप्त होती है । यदि बीज वपन के समय वर्षा न हो, तब बीज को बोने के लिये तालाब के जल से परिशुद्ध मिट्टी का कण हाथ में लेकर, अथवा उसके मिट्टी के आर्द्र जल कण को ही लेकर तीन सौ बार जप करे । फिर अपने मुख के वायु से उसे गर्म कर कीर्त्ति मन्त्र का स्मरण करते हुये आकाश में उसे फेंक दे । तब वह संतप्त मिट्टी का कण आकाश में जाकर बादल बन जाता है ॥ २४-२९ ॥

पूरयेन्मेदिनीं सर्वां जलेन जलदस्तु सः ।
तदाज्ञया वसेत्तावत्तस्मिन् देशे स मेघराट् ॥ ३० ॥

वह मेघ इतनी अधिक वर्षा करता है कि सारी पृथ्वी ही उस जल से पूर्ण हो जाती है । वह मेघराट् उसकी आज्ञा पर्यन्त उस देश में निवास करता है ॥ ३० ॥

वर्षंस्तदुपयोग्यं च यावत् सम्पद्यते जलम् ।
तेनासौ महतीं कीर्तिं प्राप्नुयाच्च त्रिलोकगाम् ॥ ३१ ॥

वह मेघ उस प्रदेश में उतने काल तक रहता है, जब तक उस प्रदेश में जल की आवश्यकता होती है । इससे भी उसे त्रिलोक व्यापी कीर्त्ति की प्राप्ति होती है ॥ ३१ ॥

सम्पादयति तत्तस्य यस्य यन्मनसेप्सितम् ।
प्रभावं मन्त्रराजस्य कीर्त्याख्यस्य सुरोत्तम ॥ ३२ ॥

इस प्रकार साधक कीर्त्ति मन्त्र के अनुष्ठान से जो-जो चाहता है सभी मनोवाञ्छित कामनायें पूर्ण कर लेता है । हे सुरोत्तम ! यह कीर्त्ति नामक मन्त्रराज का प्रभाव है ॥ ३२ ॥

लिखितं पूर्ववद्बद्ध्वा हस्ते वा दक्षिणे करे ।
प्राप्नुयान्महतीं कीर्तिं पूजामृद्धिं सरस्वतीम् ॥ ३३ ॥

इस कीर्त्ति मन्त्र को पूर्ववत् रोचना और कुंकुम से भूर्जपत्र पर लिखकर दाहिने हाथ में बाँधे तो उसे बहुत बड़ी कीर्त्ति, पूजा एवं समृद्धि और सरस्वती की कृपा प्राप्त होती है ॥ ३३ ॥

एतत् संक्षेपतः प्रोक्तं कीर्तेर्मन्त्रस्य वासव ।
द्वितीयाया विधानं मे तन्वास्तनुभृतां वर ॥ ३४ ॥

हे वासव ! हे सर्वश्रेष्ठ ! इस प्रकार हमने संक्षेप में स्वकीय द्वितीय शरीर वाली कीर्त्ति मन्त्र का विधान कह दिया ॥ ३४ ॥

एतद्विधानमातिष्ठन् कीर्तिमन्त्रस्य शोभनम् ।
प्राप्नुयाद्विमलां कीर्तिं संततेरपि भूतिदाम् ॥ ३५ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे कीर्तिमन्त्रसिद्धिप्रकाशो नाम सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

...

साधक कीर्त्ति मन्त्र के इस शुभावह विधान का आचरण करते हुये वह विमल कीर्त्ति प्राप्त करता है, जो सर्वदा भूति प्रदान करने वाली है, उसका भी विवरण मैंने कहा ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के कीर्तिमन्त्रसिद्धिप्रकाश नामक सैतालिसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ४७ ॥

...

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

जयामन्त्रसिद्धिप्रकाशः

जयामन्त्रसाधनविधिः

श्रीरुवाचः—

विधिं तृतीयतन्वा मे जयाया वृत्रसूदन ।
शृणु सिद्धिप्रकारं च सिद्धसङ्घैरभिष्टुतम् ॥ १ ॥

श्री ने कहा—हे वृत्रसूदन ! अब मेरी तृतीय शरीर वाली जया की सिद्धि का प्रकार सुनिए । जिसकी प्रशंसा सिद्ध समूह करते आये हैं ॥ १ ॥

कृत्वा तु पूर्ववन्न्यासमिष्ट्वा च हृदये जयाम् ।
मण्डलं पूर्ववत् कृत्वा तन्मध्ये पङ्कजं लिखेत् ॥ २ ॥

साधक पूर्व की भाँति न्यास कर हृदय में जया का यजन करे । पूर्ववत् मण्डल निर्माण करे । उसके मध्य में अष्टदल कमल बनावे ॥ २ ॥

नीलोत्पलाभतुल्येन रजसा च सुपत्रकम् ।
तत्रोत्सङ्गगतां विष्णोर्हृदयाद्योजयेज्जयाम् ॥ ३ ॥

नील कमल के समान नीले रङ्ग से उसके पत्तों का निर्माण करे । उस पर विष्णु के अङ्क में रहने वाली जया का संस्थापन करे ॥ ३ ॥

कर्णिकोपरि मन्त्रांश्च न्यसेत् पूर्वक्रमेण तु ।
किंतु ध्यानानि सर्वेषां यथावदवधारय ॥ ४ ॥

पूर्व क्रम के अनुसार कर्णिकाओं में जया मन्त्र का न्यास करे । तदनन्तर उनकी सभी सखियों तथा अनुचरों का ध्यान इस प्रकार करे ॥ ४ ॥

नीलनीरदवर्णाश्च प्रसन्नवदनेक्षणाः ।
पीताम्बरधराः सर्वाः सख्यः कनककुण्डलाः ॥ ५ ॥

जया की सभी सखियाँ नील वर्ण के मेघ के समान कान्ति वाली हैं, उनके मुख और नेत्र प्रसन्न हैं, सभी पीताम्बर पहने कनक कुण्डलों से विभूषित हैं ॥ ५ ॥

सितचामरहस्ताश्च चित्रवेत्रलतोद्यताः ।
निरीक्षमाणा वदनं जयाया अजितस्य च ॥ ६ ॥

ये सभी श्वेत वर्ण का चामर तथा विचित्र वेत्र की लता लिये हुये खड़ी हैं और जया तथा अजित भगवान् के मुख मण्डल की ओर देख रही हैं ॥ ६ ॥

कुन्दकुड्मलवर्णाभाः प्रसन्नमुखपङ्कजाः ।
रक्ताम्बरधराश्चैव चतुर्हस्ता महाबलाः ॥ ७ ॥

उनके अनुचर कुन्द की कलियों के समान स्वच्छ, कान्तिमान्, प्रसन्न मुख, लाल वर्ण का वस्त्र पहने हुये महा बलवान् चार हाथों वाले हैं ॥ ७ ॥

धनुर्बाणकराश्चैव गदाचक्रकरान्विताः ।
चत्वारोऽनुचरा ध्येयाः पुष्पाभरणभूषिताः ॥ ८ ॥

वे अपने हाथों में धनुष, बाण, गदा और चक्र लिये हुये हैं । पुष्पाभरण से भूषित हैं । इस प्रकार उनके चारों अनुचरों का ध्यान करना चाहिये ॥ ८॥

सर्वाश्च दर्शयेन्मुद्राः प्रतिस्वं याः प्रकीर्तिताः ।
पूजयेच्च ततो भक्त्या होमं कुर्यादनन्तरम् ॥ ९ ॥

इन सभी को उनके स्वरूप के अनुसार जैसा जैसा पहले कहा जा चुका है वैसी-वैसी मुद्रा प्रदर्शित करनी चाहिये । तदनन्तर धूप नैवेद्यादि द्रव्यों से उनकी भक्तिपूर्वक पूजा करे । फिर होम करे ॥ ९ ॥

तिलैः सिद्धार्थकोपेतैर्हविषा गुल्गुलेन च ।
होमावसाने मन्त्री स्वं कृत्वा रूपं जयात्मकम् ॥ १० ॥

सिद्धार्थक (= पीली सरसों) युक्त तिल, जो गुगुल मिश्रित हो, उससे हवन करना चाहिये । होम के अन्त में मन्त्रज्ञ साधक अपना रूप जया के आकार का बनावे ॥ १० ॥

जयाहमिति वै बुद्ध्वा चेतसोपस्थितं महत् ।
तीरस्थानं समासाद्य निःशङ्कं जनवर्जितम् ॥ ११ ॥

अपने मन में जया को उपस्थित कर स्वयं अपने को जया समझते हुये जनवर्जित किसी महान् तीर के समीप निःशङ्क हो वहाँ जावे ॥ ११ ॥

वर्मणास्त्रेण दिग्बन्धं कृत्वा दुष्टनिबर्हणम् ।
प्रारभेत जपं पश्चात् पयोऽन्नफलभुक् सदा ॥ १२ ॥

वर्म अस्त्र से दिग्बन्धन कर दुष्टों का संहार करे । फिर सर्वदा दूध अन्न एवं फल का आहार कर जप प्रारम्भ करे ॥ १२ ॥

प्रणिपत्य हरिं भक्त्या प्राक् स्वमन्त्रेण वासव ।
एकान्तशीलो लघ्वाशी मौनी ध्यानपरायणः ॥ १३ ॥

हे वासव ! भगवान् के स्वमन्त्र से पहले भक्तिपूर्वक उन्हें प्रणाम करे । इस प्रकार एकान्तवासी, लघुभोजी, मौनी और ध्यान परायण रहे ॥ १३ ॥

जपेल्लक्षचतुष्कं तु जपान्ते होममाचरेत् ।
समित् प्रादेशमात्रा तु रक्तचन्दनसंभवा ॥ १४ ॥

इस प्रकार रहकर चार लाख जप करे । जप के अन्त में होम करे । यह होम लाल चन्दन की प्रादेश मात्र की समिधओं से करना चाहिये ॥ १४ ॥

तासामयुतमव्यग्रो घृताक्तानां तु होमयेत् ।
सिद्धार्थैर्नियुते द्वे च मधुमिश्रैर्महामते ॥ १५ ॥

घृत में डुबोयी हुई इस प्रकार की समिधाओं से दश हजार की संख्या में हवन करे । हे महामतिमान् ! तदनन्तर मधु मिश्रित सिद्धार्थों से दो बार दश-दश लाख हवन करे ॥ १५ ॥

अयुतं नियुतं चाथ जुहुयादसितैस्तिलैः ।
मधुत्रितयसंयुक्तैरन्ते पूर्णाहुतित्रयम् ॥ १६ ॥

फिर दश हजार और दश लाख की संख्या में काली तिल से होम करे। अन्त में त्रिमधु (मधु, दूध और घृत) से मिश्रित हवि द्वारा तीन बार हवन कर पूर्णाहुति करे ॥ १६ ॥

मधुक्षीरघृतैः शक्र क्रमेण परिहोमयेत् ।
ततो भगवती देवी समायाति जया स्वयम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार मधु क्षीर एवं घृत से, हे शक्र ! क्रमशः हवन करे । इससे स्वयं भगवती जया देवी साधक के पास आ जाती हैं ॥ १७ ॥

सिद्धास्मीति च ते पुत्र मन्मन्त्रेण समाचर ।

यदभीष्टं तु वै कार्यं निःशङ्को विगतज्वरः ॥ १८ ॥

हे पुत्र ! मैं आपके द्वारा सिद्ध कर ली गई हूँ । अब आप मेरे मन्त्र द्वारा निःशङ्क विगतज्वर होकर अपना अभीष्ट कार्य करें ॥ १८ ॥

इत्युक्त्वादर्शनं याति शक्तिर्नारायणात्मिका ।
ततः कर्माणि कुर्वीत विविधानि त्वनेकशः ॥ १९ ॥

नारायण की वह महाशक्ति इतना कह कर अन्तर्धान हो जाती है । तदनन्तर साधक भी विविध कर्म उनके मन्त्रों से अनेक बार करे ॥ १९ ॥

लोकेऽस्मिन् यान्यभीष्टानि स्वात्मनश्च परस्य वा ।
तत्राप्युद्देशतो वक्ष्ये शृणु तत्त्वेन वज्रधृत् ॥ २० ॥

अब इस लोक में अपने तथा अन्यों के जितने अभीष्ट कार्य हैं, उन्हें संक्षेप में कहती हूँ । हे वज्रभृत् ! आप उसे सावधान होकर सुनिए ॥ २० ॥

ज्वालावद्रसनां ध्यायेद्देवीमन्त्रेण साधकः ।
उद्ग्राहयति वै यस्य यस्मिन् यस्मिन् हि वस्तुनि ॥ २१ ॥

जया मन्त्र का साधक अपनी रसना में ज्वाला के समान किसी तैजस का ध्यान करे और जिसे शत्रु के जिस-जिस वस्तु में अनुराग हो उसे जीभ को समर्पित करे ॥ २१ ॥

विजित्य न्यायतस्तं वै जयमाप्नोत्ययत्नतः ।
गजाश्वशस्त्रभृत्पूर्णमपि सैन्यं बलान्वितम् ॥ २२ ॥
दृष्ट्वान्यस्य समायुक्तं हन्तुमभ्युद्यतं रणे ।
परिजप्य धनुः खड्गं खेटकं बाणपञ्चकम् ॥ २३ ॥
प्रेरयेद्यस्य वै दत्त्वा स गत्वा तु चमूमुखम् ।
विदारयति चैकाकी जयमाप्नोति शाश्वतम् ॥ २४ ॥

ऐसा करने से न्यायपूर्वक उस वस्तु वाले शत्रू को वह बिना प्रयत्न के जीत लेता है । हाथी घोड़ा समस्त अस्त्र-शस्त्रों से परिपूर्ण बलवान् सेनाओं को, अन्यों को मारने के लिये रण में उपस्थित देखकर, जया मन्त्र का जाप कर वह साधक, जिसे धनुष, तलवार, ढाल एवं पाँच बाण प्रदान कर युद्ध के लिये प्रेरित करे तो वह शत्रु की मुख्य सेना में जाकर अकेले ही सारे शत्रु सैन्य को विदीर्ण कर शाश्वत जय प्राप्त कर लेता है ॥ २२-२४ ॥

ध्यात्वा दक्षिणपाणिस्थं त्रिकोणं चाग्निमण्डलम् ।

तन्मध्ये चिन्तयेद्देवीं परिवारसमन्विताम् ॥ २५ ॥

मत्तेभसिंहसर्पाणामशनीनां च दर्शने ।
क्षिप्रं पराङ्मुखा यान्ति दृष्ट्वा हस्ततलं तु तत् ॥ २६ ॥

साधक अपने हाथ में त्रिकोण अग्निमण्डल का ध्यान कर यदि उस अग्नि मण्डल के मध्य में परिवार समन्वित भगवती जया का ध्यान करे तो उसके पाणी तल को देखने मात्र से ही शत्रु इस प्रकार से विमुख होकर भाग खड़े होते हैं जैसे कोई मदमत्त हाथी, सिंह और साँप को देखकर भाग जाता है ॥ २५-२६ ॥

खादिरं मुसलं स्पृष्ट्वा चादाय शतमन्त्रितम् ।
कृत्वा गत्वा बिलद्वारं चतुर्वर्णं जयान्वितम् ॥ २७ ॥
मुसलाहननान्यष्टौ दद्यात् तत्र शनैः शनैः ।
देवीमन्त्रेण देवेश स्वास्त्रसम्पुटितेन तु ॥ २८ ॥
फट्कारान्तेन तु ततो बिलयन्त्रं यजेदथ ।
समस्तजनसंयुक्तो विशेत् साधकसत्तमः ॥ २९ ॥

खैर के बने हुये मुशल का स्पर्श कर सौ बार उसे चारों सखियों समेत जया के मन्त्र से अभिमन्त्रित करे । फिर बिल के द्वार पर जाकर उस मुशल से धीरे-धीरे आठ बार फट्कारान्त अस्त्र मन्त्र से सम्पुटित देवी मन्त्र से प्रहार करे । इस प्रकार बिल यन्त्र के स्थान पर यजन करने से वह उत्तम साधक अपने समस्त जनों के साथ उस बिल में प्रवेश कर जाता है ॥ २७-२९ ॥

भित्त्वा यन्त्राण्यनेकानि जित्वा दानवपुङ्गवान् ।
जनानां योजनं तत्र कृत्वा कान्तागणैः सह ॥ ३० ॥
पीत्वा तु सात्त्विकं पानं स्वहस्तेन महाबलः ।
स निर्याति स्वमार्गेण तेनैव स्वनिवेशनम् ॥ ३१ ॥

वहाँ वह साधक शत्रु के अनेक प्रकार के यन्त्रों का भेदन कर, बड़े-बड़े दानवों को जीतकर, स्त्रियों के साथ अपने जनों को वहाँ नियुक्तकर, अपने हाथ से सात्त्विक पानकर, पुनः उसी मार्ग से अपने घर सकुशल लौट आता है ॥ ३०-३१ ॥

करोति यदि देवेश मतिं मन्त्री जगत्त्रये ।
जयं प्रत्यविचारेण गदाचक्रकरोद्यतः ॥ ३२ ॥
पाशाङ्कुशधरो वाथ जयं प्राप्नोति नान्यथा ।
लिखेद्रोचनया भूर्जे कुङ्कुमेन घनेन च ॥ ३३ ॥
सम्पुटीकृत्य वै नाम निधाय जनमध्यगम् ।

तदा सुजयमाप्नोति दिव्यैः सर्वैस्तु लीलया ॥ ३४ ॥

इस प्रकार मन्त्रज्ञ साधक तीनों जगत् में जिसे जीतने की इच्छा करे, तो वह अपने हाथ में गदा और चक्र लेकर, अथवा पाश अंकुश धारण कर बिना किसी प्रकार के विचार के उस शत्रु को जीत लेता है । यह बात झूठी नहीं है । यदि रोचना, कुंकुम और कपूर से भूर्जपत्र पर इस मन्त्र से सम्पुटित शत्रु का नाम लिखकर धारण करे तो वह समस्त लोगों के देखते-देखते लीलापूर्वक समस्त शत्रु सेना पर विजय प्राप्त कर लेता है ॥ ३२-३४ ॥

विलिख्य चन्दनेनैव पयसा कुङ्कुमेन च ।
धारयेद्यो गले वक्त्रे करे वामेऽथ दक्षिणे ॥ ३५ ॥
सर्वदा तु जयं शक्र संप्राप्नोत्यविचारतः ।
जयार्थं त्रिदशेशान मन्त्रं वै यत्र कुत्रचित् ॥ ३६ ॥
मन्त्री प्रयोजयेच्छश्वत् तत्र तत्राप्नुयाज्जयम् ।
जया नाम तृतीया मे या तनुः परिकीर्तिता ।
तस्या विधानमित्येतत् तव शक्र प्रदर्शितम् ॥ ३७ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे जयामन्त्रसिद्धिप्रकाशो नामाष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

...❀...

चन्दन कुंकुम और दूध से इस यन्त्र को लिखकर जो गले, मुख अथवा दाहिने हाथ में अथवा वायें हाथ में धारण करे तो हे इन्द्र ! वह सर्वदा अनायास जय प्राप्त कर लेता है । हे इन्द्र ! मन्त्रज्ञ साधक अपने विजय के लिये जहाँ कही भी इस मन्त्र का प्रयोग करे तो वहाँ वह अवश्य जय प्राप्त कर लेता है । यह जया नाम वाली जो मेरी तृतीय शरीर कही जाती है, हे शक्र ! उसका विधान, मैंने आपके लिये प्रदर्शित किया ॥ ३५-३७ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के जयामन्त्रसिद्धिप्रकाश नामक अड़तालिसवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ४८ ॥

...❀...

एकोनपञ्चाशोऽध्यायः

प्रतिष्ठाविधानम्

मायामन्त्रसाधनविधिः

श्रीः—

चतुर्थी या तनुर्मान्त्री मायाख्या मम वासव ।
तस्या विधानमधुना शृणु मन्त्रक्रियान्वितम् ॥ १ ॥

श्री ने कहा—हे वासव ! मेरा चौथा शरीर जिसका माया नाम है, अब मन्त्र क्रिया से युक्त उसका विधान सुनिए ॥ १ ॥

मूर्त्यङ्गसखिदासाख्यां मायीयां मन्त्रसंततिम् ।
स्वहस्ते पूर्ववन्न्यस्य विग्रहे तदनन्तरम् ॥ २ ॥

माया से सम्बन्धित मूर्त्यङ्ग, उनकी सखियाँ तथा उनके अनुचरों वाले मन्त्रों से पहले अपने हाथ में न्यास करना चाहिए । फिर अपने शरीर में न्यास करना चाहिए ॥ २ ॥

हृदयान्तर्गतां चेष्ट्वा भोगैः सर्वैश्च पूर्ववत् ।
बाह्ये तु मण्डलं कृत्वा मध्ये च कमलं शुभम् ॥ ३ ॥

उनको सभी प्रकार से भोगों से हृदय के मध्य पूजन कर पूर्ववत् मण्डल बनावे और उसके मध्य में कल्याणकारी कमल का भी निर्माण करे ॥ ३ ॥

तत्रोत्सङ्गगतां विष्णोर्हृदयादवतार्य च ।
आराधयेत्ततो मायामङ्गसख्यादिसंयुताम् ॥ ४ ॥

फिर उस कमल पर विष्णु के हृत्कमल से अवतीर्ण माया की, उनकी अङ्गभूत सखियों तथा अनुचरों के साथ कमल पर स्थापित कर उनकी (माया) की आराधना करनी चाहिए ॥ ४ ॥

भ्रामण्याद्यास्ततो ध्येया: सख्य: कमललोचना: ।
सिताम्बरधरा दिव्याश्चतस्रो रत्नभासुरा: ॥ ५ ॥

तदनन्तर कमल के समान नेत्रों वाली भ्रामणी आदि सखियों का ध्यान करे । ये चारों सभी सखियाँ श्वेत वस्त्र धारण की हुई, दिव्य स्वरूप वाली और रत्नों से जगमगा रही हैं ॥ ५ ॥

चामराङ्कुशहस्ताश्च बद्धपद्मासनस्थिता: ।
मायामयादयो ध्येयाश्चत्वारोऽनुचरास्तथा ॥ ६ ॥

इन सभी के हाथों में चामर और अंकुश है, अत: ये दो भुजाओं वाली हैं । सभी पद्मासन पर आसीन हैं । तदनन्तर माया के मयादि चारों अनुचरों का ध्यान करना चाहिये ॥ ६ ॥

विमर्शिनी—चामराङ्कुशहस्ता इत्यनेन द्विभुजत्वं द्योत्यते । मायामयादयोऽनुचरा: पञ्चचत्वारिंशाध्यायेऽत्रैव नाम्ना निर्दिष्टा: ॥ ६ ॥

सम्पूर्णसर्वावयवा: स्निग्धालिकुलसंनिभा: ।
चतुर्भुजा महाकाया: सौम्यवक्त्रा: स्मिताननाः ॥ ७ ॥

ये सभी अपने अङ्गावयवों से सम्पूर्ण हैं, चिकने और काले भौरों के समान काले वर्ण वाले हैं । चार भुजाओं से संयुक्त विशालकाय है । इनका मुख मण्डल स्मित युक्त और प्रसन्नता से परिपूर्ण है ॥ ७ ॥

केयूराभरणोपेता: पीताम्बरधरास्तथा ।
हारनूपुरसंयुक्ता नानाकुसुममण्डिता: ॥ ८ ॥

सभी केयूर के आभरण से भूषित पीताम्बर पहने हुये हैं । हार एवं नूपुर से संयुक्त अनेक प्रकार के पुष्पों से मण्डित है ॥ ८ ॥

तुषारधूलिधवला: खड्गपाशकरोद्धृता: ।
बाणं कार्मुकमन्यस्मिन्नातपत्रं करद्वये ॥ ९ ॥
दर्शयित्वा तथा मुद्रा यस्य यस्य हि या: स्मृता: ।
होमं तदनु कुर्वीत तिलै: सिद्धार्थकान्वितै: ॥ १० ॥

सभी बर्फ की धूलि के समान श्वेत वर्ण वाले हैं । अपने दो हाथों में खड्ग, पाश, बाण और धनुष धारण किये हुये तथा शेष दो हाथों में छाता धारण किये हुये हैं । इस प्रकार अनुचरों का ध्यान कर जिस अनुचर के लिये जो मुद्रा विहित है उस मुद्रा को प्रदर्शित करे । इसके बाद सिद्धार्थक युक्त तिल का होम करे ॥ ९-१० ॥

ततो नियममाश्रित्य कृत्वा तदनु वासव ।
देवीरूपं स्वमात्मानं भावेनाव्यभिचारिणा ॥ ११ ॥
प्रयायाद्विजनस्थानं प्रौढोत्तरसहायवान् ।
जपेल्लक्षाणि वै सप्त पूर्वोक्तविधिना व्रती ॥ १२ ॥

हे वासव ! इसके पश्चात् अव्यभिचार भाव से अपने को देवी रूप बनाकर, नियम का पालन करते हुये, किसी प्रौढ़ अवस्था से परे व्यक्ति को अपना सहायक बनाकर निर्जन स्थान में जावे । फिर व्रत का आचरण करते हुये पूर्वोक्त विधान से सात लाख जप करे ॥ ११-१२ ॥

क्षीरमूलफलाहारो देशकालवशात्तु वै ।
अयाचितैकभिक्षाशी यावकेनापि वर्तयन् ॥ १३ ॥

जप काल में कन्द-मूल, दूध और फल का आहार करे, अथवा देशकाल के अनुसार अयाचित अन्न अथवा भिक्षा प्राप्त अन्न का, अथवा केवल यावक (तिन्नी का चावल) अन्न का भक्षण करे ॥ १३ ॥

स्वशिष्यसाधितं वान्नं मन्त्रपूतमसैन्धवम् ।
तैलमांसविनिर्मुक्तं संध्याकाले ह्युपस्थिते ॥ १४ ॥
आतृप्तेरभिभुञ्जीत भावितं मधुसर्पिषा ।
जपान्ते विधिवन्मन्त्री होमं कुर्यात् प्रयत्नतः ॥ १५ ॥

अथवा अपने शिष्य द्वारा पकाया हुआ अन्न जो तैल मांसरहित तथा सैन्धव रहित हो । मधु घृत संयुक्त और मन्त्र से पवित्र हो । उसे सायङ्काल के समय तृप्ति पर्यन्त भोजन करे । जप के पूर्ण हो जाने पर मन्त्रज्ञ साधक प्रयत्नपूर्वक होम करे ॥ १४-१५ ॥

बलां मोटां तथा मांसीं चक्राङ्गीं नागकेसरम् ।
चन्दनं कुङ्कुमक्षोदं रजनीचूर्णमेव च ॥ १६ ॥
मेलयेत् सुघृतानां च तिलानां मधुना ततः ।
भावयेत् सघृतेनैव त्रिलक्षं जुहुयात् ततः ॥ १७ ॥

बला, मोटा, जटामांसी, चक्राङ्गी, नागकेसर, चन्दन, कुंकुम का चूर्ण, हरदी का चूर्ण, उत्तम प्रकार के घी तथा तिल में मिला देवे । फिर उसको मधु से मिश्रित करे । फिर देवी के मन्त्रों से घृतयुक्त उन हविःपदार्थों से तीन लाख की संख्या में होम करे ॥ १६-१७ ॥

मध्यमानामिकाभ्यां च साङ्गुष्ठाभ्यां पुरन्दर ।

अन्तेऽयुतत्रयं चैव समिधां परिहोमयेत् ॥ १८ ॥
प्राग्राजार्कतरूत्थानां खादिराणां ततः परम् ।
सुरदारुमयीनां च तृतीयमयुतं ततः ॥ १९ ॥

हे इन्द्र ! फिर अंगुष्ठ सहित अनामिका और मध्यमा युक्त अंगुलियों से दश-दश हजार की तीन बार आहुति देवे तथा कर्णिकार वृक्ष एवं खदिर वृक्ष की समिधाओं से तथा तृतीय बार की दश हजार आहुति देवदार वृक्ष की समिधाओं से देवे ॥ १८-१९ ॥

विमर्शिनी—राजतरु: = कर्णिकार: । सुरदारु: = देवदारु: ॥ १९ ॥

दद्यात् पूर्णाहुतिं सम्यक् सुशुद्धेनान्तरात्मना ।
पतितायां तु पूर्णायामायाति गगनान्तरात् ॥ २० ॥
परिवारान्विता माया भाषते साधु साध्विति ।
कुरु कार्यमभीष्टं च मन्मन्त्रेणाधुना व्रज ॥ २१ ॥

ये सभी आहुतियाँ अच्छी प्रकार से अत्यन्त शुद्ध अन्तरात्मा द्वारा देनी चाहिये । तदनन्तर पूर्णाहुति के पूर्ण हो जाने पर आकाश मार्ग से माया देवी अपने परिवार के साथ आकर साधक से कहती हैं—आप धन्य हो, धन्य हो । मेरे मन्त्र के द्वारा आप अपना समस्त अभीष्ट कार्य सम्पन्न करो । अब घर चले जाओ ॥ २०-२१ ॥

इदमुक्त्वा व्रजेत् तूर्णं देवी विष्णुनिकेतनम् ।
ततस्तु साधकवरः कर्माणि विविधानि च ॥ २२ ॥
प्रारभेताञ्जसा शक्र यान्यभीष्टानि चेतसा ।
आत्मार्थे वा परार्थे वा लेशतस्तानि मे शृणु ॥ २३ ॥

इतना कहकर वह देवी विष्णु लोक को चली जाती है । तब श्रेष्ठ साधक जो मन में अभीष्ट हो ऐसे अनेक कार्यों को अनायास प्रारम्भ करे । वे कार्य जो अपने लिये तथा दूसरों के लिये चाहे जैसें हों, उनके विषय में लेशमात्र सुनिए ॥ २२-२३ ॥

प्रजप्यामलकं बिल्वं सकृन्नृपगृहं विशेत् ।
कोशस्याग्रे विनिक्षिप्य यत्र यत्र स्थितः स तु ॥ २४ ॥
गगनात् प्रपतेत् तूर्णं यद्यद्वित्तं समीहते ।
यद्यच्चाभरणं श्लाघ्यं यद्यद्वा वसनं शुभम् ॥ २५ ॥

जप करने के बाद आमलक फल तथा बिल्व फल लेकर एक बार राजा

के गृह में प्रवेश करे और जहाँ-तहाँ स्थित होकर राजा के कोश के आगे उसे फेंक देवें । उसी समय वह जितना धन चाहता हो, उतना धन आकाश मण्डल से गिरता है, वह उसे जिन-जिन बहुमूल्य आभूषणों और वस्त्रों की आवश्यकता होती है, आकाश मण्डल से उसको उतनी परिमाण वाली वस्तु प्राप्त हो जाती है ॥ २४-२५ ॥

एवं वै व्रीहिगुलिकां तथैव तिलतण्डुलम् ।
क्षिपेद्धान्यकुले पूर्णे गोष्ठागारेऽथ खातके ॥ २६ ॥
राजकीये तथात्मीये यत्र यत्र स्थितस्ततः ।
यद्यत् समीहते धान्यं सस्यं वा तण्डुलान्वितम् ॥ २७ ॥
तत्तदग्रेऽथ गगनात् पतत्येव यथेप्सितम् ।
एवमेव तु सिद्धान्नगुलिकां परिजप्य च ॥ २८ ॥
क्षिप्त्वा महानसोद्देशे सिद्धान्नं कर्षयेत् क्षणात् ।
गुलिकां गोमयेनैव कृत्वा तु बदरीसमाम् ॥ २९ ॥
निक्षिप्य गोव्रजस्यान्तः सप्तवाराभिमन्त्रिताम् ।
ध्यानमात्रात् क्षणस्यान्ते दधिक्षीराज्यपूरितान् ॥ ३० ॥
भाण्डांश्च पृष्ठतः पश्येद्यत्र यत्र स्थितो व्रती ।

इसी प्रकार व्रीहि (धान) की गोली अथवा तिलमिश्रित चावल की गोली बनाकर राजकीय अथवा अपने स्थान में, धान्य पूर्ण स्थान में, गोष्ठागार में, खाई में, जहाँ-जहाँ वह स्थित हो, वहाँ-वहाँ फेंक दे तो जितने धान्य की, सस्य की या तण्डुल की उसे आवश्यकता होती है उतने-उतने परिमाण में वह वस्तु आकाश मण्डल से प्राप्त हो जाती है । इसी प्रकार सिद्धान्न की गोली बनाकर मन्त्र जप कर यदि भोजन गृह में फेंक देवे तो वह गुलिका में उतने सिद्धान्न का आकर्षण क्षणमात्र में कर लेती है । गोबर की गोली बेर के फल के समान बनाकर उसे सात बार माया मन्त्र से अभिमन्त्रित कर गोशाला में फेंक देवे तो ध्यान के बाद एक ही क्षण में दही दूध घी से परिपूर्ण भाण्ड उसके पीछे जहाँ-जहाँ वह व्रती स्थित है उसके पीछे पड़ा हुआ दिखाई पड़ता है ॥ २६-३१- ॥

प्रजप्य बदरं सम्यक् फलमन्यत्तु वा क्वचित्॥ ३१ ॥
क्षिपेन्मधुवने राज्ञः फलाकृष्टिं करोति च ।

साधक यदि बैर का फल अथवा अन्य फल ले कर माया मन्त्र का जप करके यदि राजा के मधुवन में फेंक दे तो वह बहुत से फलों से लद जाता है ॥ -३१-३२- ॥

सुपुष्पवाटिकायां तु पुष्पमेकं विनिर्दिशेत् ॥ ३२ ॥
जप्त्वा वारत्रयं मन्त्री पुष्पाण्याकर्षयेत् क्षणात् ।

यदि साधक एक फूल लेकर तीन बार इस मन्त्र का जप कर किसी सुपुष्पित वाटिका में प्रक्षेप करे तो क्षणभर में और अधिक पुष्पों से लद जाता है ॥ -३२-३३- ॥

यत्र यत्र तदङ्गोत्थं सप्तजप्तं विनिक्षिपेत् ॥ ३३ ॥
तत्र तत्र तु तत् तिष्ठेत् सङ्कल्पे तु कृते सति ।
यथेच्छं तु समाकृष्टं तत्र तत्र तु तद् व्रजेत् ॥ ३४ ॥
न चापि साधकवरः सऋणो जायते क्वचित् ।

अपने शरीर के किसी अङ्ग में पुष्प को रखकर सात बार जप कर, उस पुष्प को जहाँ-जहाँ प्रक्षिप्त करे तो सङ्कल्प के द्वारा वह साधक स्वयं ही उस स्थान पर पहुँच जाता है और उस फूल का सात बार जप कर जिसे आकृष्ट करे तो वह स्वयं ही साधक के पास आ जाता है । वह श्रेष्ठ साधक किसी का ऋणी नही होता ॥ -३३-३५- ॥

कृत्वाङ्गारकणं चैव शतं जप्तं समाहितः ॥ ३५ ॥
क्षिपेत् सलिलमध्ये तु ज्वलत् तद् दृश्यते जलम् ।
कुशाग्रस्थं जलकणं शतवाराभिमन्त्रितम् ॥ ३६ ॥
कृत्वा हुताशराशौ तु ज्वलमाने विनिक्षिपेत् ।
भवेत् पानीयमिव च स वह्निर्दृश्यते क्षणात् ॥ ३७ ॥

अङ्गार को कण बनाकर समाहित चित्त हो, सौ बार माया मन्त्र का जप करे । फिर उसे जल के मध्य में प्रक्षेप कर दे तो वह जल जलता हुआ दिखाई पड़ता है । कुशा के अग्रभाग में स्थित जल लेकर सौ बार माया मन्त्र से अभिमन्त्रित कर जलती हुई अग्नि की राशि में, उस जल को प्रक्षिप्त करे तो वह हुताशन राशि क्षण भर में पानी के जैसी दिखाई पड़ती है ॥-३५-३७॥

वालुकापरिपूर्णं चाप्यरण्यं तु तृणोज्झितम् ।
दृष्ट्वा तत्र विनिक्षिप्य तृणं द्विशतमन्त्रितम् ॥ ३८ ॥
पुष्पपत्रसमाकीर्णं पत्रपल्लवसंकुलम् ।
कुर्यान्नन्दनतुल्यं तत् तोयराशिसमावृतम् ॥ ३९ ॥
नानाविहगसम्पूर्णं पत्तनोपवनान्वितम् ।
पुरप्राकारसम्पूर्णं देवतायतनान्वितम् ॥ ४० ॥

गेयवेदध्वनियुत ललनाभिश्च शोभितम् ।

नृपाणामेतदाश्चर्यं दर्शनीयं सदैव हि ॥ ४१ ॥

बालुका राशि से परिपूर्ण स्थान अथवा सर्वथा तृणरहित अरण्य स्थान देखकर वहाँ दो सौ बार मायाभिमन्त्रित तृण को फेंक देवे तो वह स्थान पुष्पपत्र से आच्छादित एवं पत्र पल्लव से संकुल होकर सद्यः नन्दन वन के समान दिखाई पड़ने लगता है । चारों ओर जल से घिर जाता है, नाना प्रकार के पक्षियों से परिपूर्ण नगर एवं उपवन से सुशोभित, पुर प्राकार से परिपूर्ण, अनेक देवताओं के आयतन से अलंकृत हो जाता है । वहाँ गाना बजाना तथा वेदों की ध्वनि होने लगती है । वह स्थान ललनाओं से सुशोभित हो जाता है और वह सर्वदा दर्शन के योग्य हो जाता है, जिसे देखकर राजा भी आश्चर्यचकित हो जाता है ॥ ३८-४१ ॥

तनूदकेष्वरण्येषु निरन्नेषु सदैव हि ।
इच्छयापस्तथान्नानि भोगांश्च विविधानपि ॥ ४२ ॥
करोति मन्त्रितैर्लोष्टैर्गोमयेनाष्टसंख्यया ।

इसी प्रकार इस माया मन्त्र से आठ बार अभिमन्त्रित लोष्ठ (ढेला) अथवा गोमय के गोली जहाँ अल्प जल हो अथवा जहाँ अन्न न हो वहाँ प्रक्षेप कर देने पर वह स्थान इच्छानुसार जल और अन्न तथा नाना प्रकार के भोगों को उत्पन्न कर देता है ॥ ४२-४३- ॥

अरिवर्गे गृहीतास्त्रे संमुखे सति तिष्ठति ॥ ४३ ॥
क्रोधाच्चैव तथोद्युक्त एकाकी यदि तिष्ठति ।
जपमानस्तु वै मन्त्रं सङ्कल्प्य मनसा महत् ॥ ४४ ॥
आत्मीयं च बलं पत्तिस्यन्दनाश्वगजाकुलम् ।
तस्य सम्पद्यते क्षिप्रं चमूर्घोरपराक्रमा ॥ ४५ ॥
दृष्ट्वा तां विमुखं याति हतौजस्कं रिपोर्बलम् ।

यदि शत्रु वर्ग शस्त्र लेकर सामने खड़ा हो उस समय वह साधक क्रोधपूर्वक उसका प्रतीकार करने के लिये मन्त्र से सङ्कल्प कर एवं इस मन्त्र का जप करते हुये अकेले ही उद्यत हो जाए । तब उस साधक के लिये बल, पैदल, रथ, घोड़ा एवं हाथी से संयुक्त घोर पराक्रम करने वाली सेना स्वयं ही उपस्थित हो जाती है। जिसको देखकर शत्रुओं की सेना उत्साहरहित होकर भाग जाती है ॥ ४३-४६- ॥

करोति शक्र यत्किंचिन्मनसा मन्त्रमुच्चरन् ॥ ४६ ॥
व्यलीकं सत्यभूतं च तत्तथा परिदृश्यते ।

दृष्ट्वा तु पादपं शुष्कं ताडयेच्चरणेन तु ॥ ४७ ॥
जपमानो महामन्त्रं स स्यात् पुष्पफलाकुलः ।
पत्रपुष्पफलोपेतं पाणिभ्यां मन्त्रमुच्चरन् ॥ ४८ ॥
पीडयेत् पादपं मन्त्री स शोषमधिगच्छति ।

हे शक्र ! इस प्रकार मन से मन्त्र का उच्चारण करता हुआ साधक झूठ या सत्य जैसा भी सङ्कल्प कर जप करता है, उसे उसके सामने ही वह सब कुछ दिखलाई पड़ने लग जाता है । यदि वह सूखे वृक्ष को देखकर मन्त्र का जप कर उसे चरण से प्रहार करे तो वह सद्य पुष्पो एवं फलों से लद जाता है । किं बहुना मन्त्रज्ञ सिद्ध साधक इस मन्त्र का जप करते हुये अपने सङ्कल्प द्वारा पुष्प समन्वित वृक्ष को अपने हाथों से दबा दे तो वह सद्यः शुष्क हो जाता है ॥ -४६-४९- ॥

पर्वताग्रस्थितो मन्त्रं तन्नाशार्थं जपेद्यदि ॥ ४९ ॥
पतेदधस्ताच्छैलस्तु यावदिच्छति साधकः ।
तुष्टः प्रोत्थापयेत् पश्चात् पातालात् वर्ततोत्तमम् ॥ ५० ॥

यदि किसी पर्वत के विनाश के लिये साधक पर्वत के अग्रभाग में स्थित होकर इस मन्त्र का जप करे, तो वह पर्वत उसकी इच्छानुसार विशीर्ण हो नीचे गिर जाता है । प्रसन्न होने पर वह पाताल में गए हुये और उस पर्वत को भी ऊपर उठाने की क्षमता रखता है ॥ -४९-५० ॥

चान्दनेन रसेनैव मन्त्रं पद्मोदरे न्यसेत् ।
पत्रेष्वङ्गानि चालिख्य सुशुभे दिवसे ततः ॥ ५१ ॥
पूजयित्वाथ पुष्पाद्यैर्वेष्टनैर्वेष्टयेत्तथा ।
पूर्ववद् धारयेद्यन्त्रं तस्य सर्वा विभूतयः ॥ ५२ ॥

किसी अच्छे दिन में चन्दन के रस से यदि कमल के मध्य में इस मन्त्र का न्यास करे और उसके पत्रों पर हृदयादि अङ्गन्यास लिख देवे । तदनन्तर पुष्पादि द्वारा उसका पूजन कर, किसी वेष्टन से वेष्टित कर उस यन्त्र को धारण करे तो उसे समस्त विभूतियाँ अनायास प्राप्त हो जाती हैं ॥ ५१-५२ ॥

सम्यगाविर्भवन्त्यत्र लोके निष्कण्टकः स च।
सुभगश्चैव दीर्घायुः परत्र सुखमाप्नुयात् ॥ ५३ ॥

माया महामन्त्र का साधक सौभाग्यशाली, दीर्घायु, इस लोक और परलोक में सर्वत्र सुखी तथा निष्कण्टक रहता है ॥ ५३ ॥

मूर्तेश्चतुर्थ्या वृत्रारे प्रभावोऽयं महाद्भुतः ।
लेशतो दर्शितस्तस्याः साकल्य मम दुर्वचम् ॥ ५४ ॥

हे वृत्रारे ! इस चतुर्थमूर्त्ति माया का यह अद्‌भुत प्रभाव मैने लेशमात्र आपके सामने वर्णन किया । इनके समस्त प्रभाव का वर्णन तो हमारी वाणी से परे है ॥ ५४ ॥

देवीचतुष्टयस्यैष सिद्धिसङ्गः समासतः ।
किंचित्तु लेशतः प्रोक्तः साधकानां हिताप्तये ॥ ५५ ॥

हे इन्द्र ! इस प्रकार हमने साधकों के हित के लिये चार देवियों (लक्ष्मी, कीर्त्ति, जया और माया) की सिद्धि के उपाय लेशमात्र संक्षेप में प्रदर्शित किये ॥ ५५ ॥

तेभ्यो दिव्यानि भौतानि प्रयच्छति शुभानि च ।
विमलां च मनःशुद्धिमन्ते च परमं पदम् ॥ ५६ ॥

ये देवी चतुष्टयी प्रसन्न होने पर देव लोक की तथा इस भूत लोक की समस्त कल्याणकारी वस्तुयें प्रदान करती हैं । विमल बुद्धि प्रदान करती है और अन्त में परम पद प्रदान करती है ॥ ५६ ॥

प्रकाशयति भक्तानां वैष्णवं चाविनाशितम् ।
विस्तीर्णामिति मां लक्ष्मीमियतीभिर्विभूतिभिः ॥ ५७ ॥
भजेत विविधैर्भावैः क्षेमं कृत्वा मनःस्थितम् ।

वह अपने भक्तों को अविनाशिनी भक्ति प्रदान करती है और इतनी विभूति प्रदान करती हैं कि वह मुझ लक्ष्मी को सर्वत्र विस्तीर्ण कर देता है । इसलिये साधक अपने मन को स्थिर कर तत्तद् भावों से मेरा भजन करे ॥ ५७-५८-॥

शक्रः—
नमो देवादिदेव्यै ते नमो वैकुण्ठवल्लभे ॥ ५८ ॥
कस्मिन् लक्ष्ये मनः कृत्वा भजेयं त्वां सरोरुहे ।

इन्द्र ने कहा—आप देवों की आदिदेवी को नमस्कार है हे विष्णुवल्लभे, आपको नमस्कार है । हे कमलास्वरूपे ! मैं किस लक्ष्य में अपना मन स्थिर कर तुम्हारा भजन करूँ ॥ -५८-५९- ॥

श्रीः—
एको नारायणो हंसः षाड्गुण्यामृतवारिधिः ॥ ५९ ॥
तस्याहं परमा शक्तिर्विष्णोरनपगामिनी ।

साहमङ्कस्थिता तस्य यथा ते पूर्वमीरिता ॥ ६० ॥

श्री ने कहा—एक मात्र नारायण ही षाड्गुण्य के समुद्र हैं । मैं उन नारायण की उनमें नित्य निवास करने वाली शक्ति हूँ और में उनके अङ्क में रहती हूँ । जैसा कि पहले भी आपसे कह चुकी हूँ ॥ -५९-६० ॥

लक्षं तदेव ते शक्र मनसः स्थैर्यकारणम् ।
सर्वलक्षणसम्पन्नां सुवर्णरजतादिभिः ॥ ६१ ॥
निर्माय मां विभोरङ्कस्थायिनीं शास्त्रदर्शनात् ।
प्रतिष्ठाप्य विधानेन तैस्तैर्भावैर्भजस्व माम् ॥ ६२ ॥

हे शक्र ! आपके मन की स्थिरता का एकमात्र लक्ष्य इस प्रकार का होना चाहिये । सुवर्ण रजतादि के द्वारा सर्वलक्षण सम्पन्ना शास्त्रीय रीति से विष्णु के अङ्क में स्थित मेरी मूर्त्ति का निर्माण कराकर विधानपूर्वक प्रतिष्ठा कर उन-उन भावों से मेरा भजन करे ॥ ६१-६२ ॥

लक्ष्मीनारायणमूर्तिप्रतिष्ठाविधिः

शक्रः—

नमस्ते जगदावासे मनोनयननन्दिनि ।
युवयोः स्थापनं कीदृग्बिम्बे षाड्गुण्यनिर्मिते ॥ ६३ ॥

इन्द्र ने कहा—हे जगदावासे ! हे मन और नेत्रों को आनन्द देने वाली ! आप दोनों का किस प्रकार के षाड्गुण्य से निर्मित बिम्ब में (मन की) स्थापना करे ॥ ६३ ॥

श्रीः—

सर्वभूतो यथा विष्णुर्देवः षाड्गुण्यविग्रहः ।
सर्वभूतात्मभूतस्था तादृश्येवाहमद्भुता ॥ ६४ ॥

श्री ने कहा—षाड्गुण्य विग्रह स्वरूप भगवान् विष्णु तो सभी प्राणियों में हैं ही और सम्पूर्ण भूतों की आत्मा में स्थित अद्भुत स्वरूप वाली मैं भी सभी प्राणियों में निवास करती ही हूँ ॥ ६४ ॥

प्रतिष्ठितायाः सर्वत्र मम नारायणस्य च ।
वस्तुतः का प्रतिष्ठा स्यात् सर्वं यद्वैष्णवं यशः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार हम और भगवान् नारायण सर्वत्र प्रतिष्ठित हैं । अतः उनकी प्रतिष्ठा का प्रश्न नहीं उठता । विष्णु का यश तो सारे जगत् में फैला हुआ ही है ॥ ६५ ॥

तमिमं वास्तवं भावमारूढं मानसं यतेः ।
अर्चा प्रतिष्ठा चेत्येते विकल्पाः प्रविजृम्भिताः ॥ ६६ ॥

यति साधक के मन में यह वास्तविक भाव तो सर्वदा आरूढ ही रहता है । अर्चा और प्रतिष्ठा तो उसके विकल्प के रूप में कहे गए हैं ॥ ६६ ॥

शृणु तत्र प्रतिष्ठां मे यथावद्बलसूदन ।
यया विहितया देही कृतार्थत्वं प्रपद्यते ॥ ६७ ॥

हे बलसूदन ! अब मेरी प्रतिष्ठा के विषय में जिस प्रकार वह की जाती है उसे यथावत् रूप से सुनिए । जिस प्रतिष्ठा और अर्चा के करने से प्राणी अपने को कृतार्थ बना देता है ॥ ६७ ॥

निर्माप्य शास्त्रतः सम्यग्योगोक्तं रूपमावयोः ।
सूक्ताभ्यां सपवित्राभ्यां स्नापयेत् तीर्थवारिणा ॥ ६८ ॥
आच्छाद्य नववस्त्रेण विप्रैरध्यापयेत् सह ।
विमलैर्धर्मतत्त्वज्ञैस्त्रयीसात्त्वतशास्त्रयोः ॥ ६९ ॥

शास्त्र में कही गई प्रक्रिया के अनुसार हम दोनों की मूर्त्ति का निर्माण करे। फिर पवित्र पुरुषसूक्त एवं श्रीसूक्त के द्वारा तीर्थ के जल से स्नान करावे। वेद एवं सात्त्वतशास्त्र की रीति से शुद्धान्तःकरण वाले धर्म तत्त्वज्ञ ब्राह्मणों के वेद पाठ के साथ उस मूर्त्ति को नवीन वस्त्र से आच्छादित करे ॥ ६८-६९ ॥

तारकं तारिकां चैव तथैवाप्यनुतारिकाम् ।
सूक्तं च शाकुनं चैवाप्यधीयीरन् पवित्रवत्॥ ७० ॥

ब्राह्मण उस समय तारक (ॐ) तारिका (ह्रीं) तथा अनुतारिका (श्रीं) ऋग्वेदोक्त शाकुन सूक्त (ऋ० २।४२।१) का पवित्रतापूर्वक पाठ करे ॥ ७० ॥

विमर्शिनी—शाकुनं सूक्तम् ऋग्वेदे (म०२.सू०४२.ऋ.१) द्रष्टव्यम् ॥ ७०॥

सूर्यस्यास्तमयं प्राप्य तद्बिम्बं वस्त्रवेष्टितम् ।
ऋतं चेत्यादिसूक्तेन तथा सारस्वतेन च॥ ७१ ॥
ऋग्भिर्हिरण्यवर्णाभिः कुर्याद्वार्यधिवासनम् ।
उद्गते विमले सूर्ये कुर्याद्दिक्स्थापनं ततः ॥ ७२ ॥

जब सूर्य के अस्त का काल उपस्थित हो, तब वस्त्र से वेष्टित उस विम्ब (मूर्त्ति) को 'ऋतं च' इस सूक्त से और सारस्वत सूक्त से तथा 'हिरण्यवर्णाम्' इत्यादि ऋचाओं से जलाधिवासन करे । पुनः दूसरे दिन जब सूर्योदय का काल उपस्थित हो तब दिक्स्थापन करे ॥ ७१-७२ ॥

उत्तिष्ठ ब्राह्मण इति प्राप्येयुश्च वेदिकाम् ।
अपनीय ततो वस्त्रं स्नापयेच्छुद्धवारिणा ॥ ७३ ॥

फिर वे ब्राह्मण 'उत्तिष्ठ ब्राह्मण' इत्यादि मन्त्र से उस मूर्त्ति को वेदी पर स्थापित करे । फिर वस्त्र हटाकर शुद्ध जल से उसे स्नान करावे ॥ ७३ ॥

याम्ये च वेदिभागे तु मृद्वास्तरणशोभिते ।
बिम्बं पूर्वशिरस्कं तु शाययेज्जपपूर्वकम् ॥ ७४ ॥

इसके बाद वेदी के दक्षिण भाग में, जिसपर अत्यन्त कोमल शय्या बिछी हो उस स्थान पर उस विम्ब (मूर्त्ति) को जप करते हुये पूर्व शिर कर शयन करा देवें ॥ ७४ ॥

ततः शलाकां सौवर्णीं गृहीत्वास्त्राभिमन्त्रिताम् ।
उल्लिखेन्नयने नेत्रमन्त्रजापी शलाकया ॥ ७५ ॥
स्नातः शुद्धाम्बरः शिल्पी दिव्यदृष्ट्यावलोकितः ।
अस्त्रमन्त्रितशस्त्रेण नेत्रे प्रकटतां नयेत् ॥ ७६ ॥

फिर शिल्पी (कारीगर) स्नान कर शुद्ध वस्त्र धारण कर अस्त्र मन्त्र से अभिमन्त्रित सुवर्ण की शलाका द्वारा नेत्र मन्त्र का ज़प करते हुये उस मूर्त्ति के दोनों नेत्रों को उद्‌घाटित करे । फिर भगवान् की दिव्य दृष्टि से अवलोकन किया जाता हुआ शिल्पी दोनों नेत्रों को प्रकट करे ॥ ७५-७६ ॥

पूरयेन्मधुसर्पिर्भ्यां तत्पात्रे च प्रदर्शयेत् ।
सालङ्कारं धेनुयुग्मं तस्मिन् काले निवेदयेत् ॥ ७७ ॥

फिर उन नेत्रों में घी और मधु लगावे, जिसे किसी पात्र में प्रदर्शित करे। उस काल में प्रतिष्ठापक सालङ्कार दो गोओं का दान करे ॥ ७७ ॥

नयनोन्मीलनीयं तत् सर्वं दद्यात्तु शिल्पिने ।
ततः सितेन सूत्रेण बद्ध्वा राजीः सुवाससि ॥ ७८ ॥
बध्नीयात्तारया तस्य कौतुकं दक्षिणे करे ।
भद्रपीठे समारोप्य तथा बिम्बं तु सुस्थिरे ॥ ७९ ॥
आधारादिक्रमोपेते सम्यग्भावेन पूजिते ।
ततो बिम्बं निरीक्षेत धिया षाड्गुण्यपूरितम् ॥ ८० ॥

नेत्र के निमीलन के लिये किया गया सारा दान पदार्थ शिल्पी को ही दे देना चाहिए । फिर उत्तम वस्त्र में श्वेत सूत द्वारा राई बाँधकर उस मूर्त्ति के दाहिने हाथ में तार (ॐ) मन्त्र द्वारा कौतुक (कङ्कण) बाँधे । फिर उस बिम्ब

को भद्रपीठ पर किसी निश्चित स्थान पर जो आधारादि क्रम से भली प्रकार पूजित हो, वहाँ स्थापित करे । तब षाड्गुण्य से परिपूर्ण उस मूर्त्ति का स्वयं निरीक्षण करना चाहिए ॥ ७८-८० ॥

विमर्शिनी—राजिः = कृष्णसर्षपः ॥ ७८ ॥

ताडयित्वास्त्रमन्त्रेण कवचेनावकुण्ठ्य च ।
सर्वौषध्युदकेनैव स्नापयेत् केवलेन च ॥ ८१ ॥

फिर अस्त्र मन्त्र से ताड़ित करे, कवच मन्त्र से अवगुण्ठित करे, तदनन्तर केवल सर्वौषधि के जल से मूर्त्ति को स्नान करावे ॥ ८१ ॥

संमृज्याहतवस्त्रेण कौतुकं मोचयेत्ततः ।
मन्त्रविच्चक्रमन्त्रेण दद्यादर्घ्यं तु मूर्धनि ॥ ८२ ॥

तदनन्तर मूर्त्ति का शरीर नवीन वस्त्र से पोंछकर कौतुक (कङ्कण) हटा देवे । फिर मन्त्रवेत्ता आचार्य चक्रमन्त्र से शिर पर अर्घ्य प्रदान करे ॥ ८२ ॥

भावयित्वा ततो बिम्बं बिम्बं चारुरुचेरिव ।
पूजितैर्मन्त्रितैः शुद्धैः कलशैर्द्रव्यपूरितैः ॥ ८३ ॥
षोडशच्छदपद्मोत्थपत्रषोडशकस्थितैः ।
प्रथमं पञ्चगव्येन गोमूत्रेण द्वितीयकम् ॥ ८४ ॥
तृतीयं गोमयाम्भोभिस्तुर्यं त्रेताग्निभस्मना ।
गजगोवृषशृङ्गाग्रवल्मीकोर्व्यम्बुना परम् ॥ ८५ ॥
शालिक्षेत्रनदीपद्मवनाद्युर्व्यम्बुना परम् ।
सप्तमं सर्षपाम्भोभिः सर्वौषधिभिरष्टमम् ॥ ८६ ॥
क्षीरेण नवमं दध्ना दशमं सर्पिषा परम् ।
द्वादशं मधुना सर्वबीजाम्भोभिस्त्रयोदशम् ॥ ८७ ॥
फलैः परं परं धान्यैः सुगन्धाद्भिस्तु षोडशम् ।
अभिमन्त्र्य हृदा पूर्णमेकैकं कलशं पुरा ॥ ८९ ॥
स्नापयेन्मूलमन्त्रेण तैः षोडशभिरादरात् ।
उदकान्तरितैः सार्घ्यपुष्पधूपप्रदीपकैः ॥ ८९ ॥

फिर बिम्ब की भावना करते हुये उसके तेज से परिपूर्ण सोलह पत्ते वाले कमल के एक-एक पत्तों पर स्थापित सोलह कलश, जो तद्-तद् द्रव्यों से परिपूर्ण हों, मन्त्र द्वारा पूजित हो, शुद्ध हों, जिनमें प्रथम कलश में पञ्चगव्य, द्वितीय में गोमूत्र, तृतीय में गोमय का जल, चतुर्थ में आहवनीयादि तीन प्रकार

की अग्नियों का भस्म, पाँचवें में गज वलीवर्द के शृङ्ग के अग्रभाग का जल और वल्मीकि मिट्टी का जल, छठवें में शाली क्षेत्र, नदी एवं कमलवन की मिट्टी का जल, सातवें में सर्षप का जल, आठवें में सर्वौषधि का जल, नवम में दूध, दशम में दही, ग्यारहवें में घी, बारहवें में मधु, तेरहवें कलश में सर्व बीज का जल, चौदहवें में फल, पन्द्रहवें में धान्य और सोलहवें कलश में सुगन्धित जल भरा हो। उसे हृद मन्त्र से अभिमन्त्रित करे, फिर मूल मन्त्र से एक-एक कलश द्वारा क्रमशः सोलह कलशों से भक्तिपूर्वक विम्ब को स्नान करावे। फिर उदकान्तर से स्नान करावे तथा अर्घ्य सहित पुष्प, धूप और दीपक प्रदान करे ॥ ८३-८९ ॥

मसूरमाषगोधूमचूर्णैरथ विघृष्य च ।
प्रक्षाल्य पयसा मूर्ध्नि तारिकां विन्यसेत् पराम् ॥ ९० ॥

फिर मस्तक पर मसूर माष और गोधूम का चूर्ण रगड़कर उसे जल से प्रक्षालित कर मूर्धा स्थान पर तारिका (ह्रीं) मन्त्र से न्यास करे ॥ ९० ॥

ततः सूक्ष्मां ततः स्थूलां स्थानेष्वेषु क्रमात् सुधीः ।
मूर्ध्नि वक्त्रेंऽसयोः कर्णे हृदि नाभौ तु पृष्ठतः ॥ ९१ ॥
कटिमूले तथोर्वोश्च जानुगुल्फेऽथ पादयोः ।
तारकं विन्यसेदेवं तथैवाप्यनुतारिकाम् ॥ ९२ ॥

फिर सुधी साधक इन-इन स्थानों पर प्रथम सूक्ष्म, तदनन्तर स्थूल न्यास इस प्रकार करे—शिर, मुख, दोनों कन्धा, कान, हृदय, नाभि, पीठ, कटिमूल, दोनों ऊरू, दोनों जानु, दोनों गुल्फ और दोनों पैरों में प्रथम तारक (ह्रीं) मन्त्र से उसके बाद अनुतारिका (श्रीं) मन्त्र से न्यास करे ॥ ९१-९२ ॥

न्यस्यैवं पौरुषं सूक्तं न्यसेच्छ्रीसूक्तमप्यथ ।
शिरो मे श्रीर्यजुर्भिश्च न्यसेल्लिङ्गानुरूपकम् ॥ ९३ ॥

इस प्रकार न्यास के अनन्तर पुनः पुरुष सूक्त से, फिर श्रीसूक्त से न्यास करना चाहिए। फिर शिरो में 'श्री' इत्यादि यजुर्वेद के मन्त्रों से लिङ्गानुरूप न्यास करना चाहिए ॥ ९३ ॥

विमर्शिनी—शिरो मे श्रीरित्यादि यजुः तैत्तिरीयब्राह्मणे (२-६-५-३) द्रष्टव्यम् ॥ ९३ ॥

कुर्याच्च होतृविन्यासं यथा प्रोक्तं यजुर्मये ।
एवं विन्यस्य पुरुषे मयि पश्चात् समाचरेत् ॥ ९४ ॥

तदनन्तर यजुर्वेद में जैसा कहा गया है, उस रीति से होतृविन्यास करे

(दश होत्रादि मन्त्र तैत्तिरीयारण्यक में पढ़े गए हैं)। इस प्रकार पुरुष विम्ब में न्यास कर पश्चात् मेरे बिम्ब रूप मूर्त्ति में न्यास करे ॥ ९४ ॥

विमर्शिनी—होतृविन्यासमिति । दशहोत्रादयो मन्त्राः तैत्तिरीयारण्यके पठिताः । तेषां विन्यासमित्यर्थः ॥ ९४ ॥

विन्यस्य पूर्वं श्रीसूक्तं शिरो मे श्रीर्यजूंषि च ।
ततश्च होतृविन्यासं विधायैवं तनुद्वये॥ ९५ ॥
कुण्डे पूर्वविधानान्ते जुहुयात् सर्वशान्तये ।
उक्ताश्च वर्तमानाश्च यावन्त्यो मन्त्रजातयः ॥ ९६ ॥
जुहुयात् तावतीभिस्तु सर्वदोषप्रशान्तये ।
ऋचः पूर्वदिशाभागे दक्षिणस्यां यजूंषि च ॥ ९७ ॥
प्रतीच्यां चैव सामानि सौम्य आथर्वणानि च ।
समीपे सात्त्वतान्मन्त्रानेवमध्यापयेद् द्विजान् ॥ ९८ ॥

सर्वप्रथम श्रीसूक्त का न्यास करे । फिर 'शिरो में श्रीः' इस यजुर्वेद के मन्त्र का न्यास करे । फिर दोनों शरीर में (पुरुष और श्री) में होतृविन्यास कर पूर्व विधान कर लेने के पश्चात् सर्वशान्ति के लिये पहले कहे गए, फिर वर्त्तमान, जितनी भी मन्त्र जातियाँ हैं, उन सभी मन्त्रों से दोषों की शान्ति के लिये हवन करे । पूर्व दिशा भाग में ऋग्वेद के मन्त्रों से, दक्षिण में यजुर्वेद के मन्त्रों से, पश्चिम में साम के मन्त्रों से, उत्तर में अथर्ववेद के मन्त्रों से, समीप में सात्वत मन्त्रों से इस प्रकार ब्राह्मणों के द्वारा आहुति प्रदान करे ॥९५-९८॥

पूर्वं षोडशपत्राब्जकर्णिकास्थैश्चतुर्दिशम् ।
कलशैः स्नापयेन्मन्त्रैस्तारतारानुतारवत् ॥ ९९ ॥

षोडश पत्र वाले कमल के कर्णिकाओं पर चारो दिशाओं में स्थापित कलशों द्वारा तार (ॐ) तारा (ह्रीं) अनुतार (श्रीं) मन्त्रों से स्नान करावे ॥९९॥

वसवस्त्वेति मन्त्रेण पुष्पाम्भःकलशेन तु ।
रुद्रास्त्वा गन्धतोयेन स्वर्णाम्भःकलशेन तु॥ १०० ॥
आदित्यास्त्वेति विश्वेति रत्नोदकलशेन तु ।
तारतारानुताराभिरभिषिञ्चेच्च मन्त्रवित् ॥ १०१ ॥

'वसवस्त्वेति' मन्त्र से पुष्प के जल वाले कलश से, 'रुद्रास्त्वा' इस मन्त्र से गन्धतोय वाले कलश से, सुवर्ण जल वाले कलश से 'आदित्यास्त्वेति' इस मन्त्र से । फिर 'विश्वेति' मन्त्र से तार (ॐ), तारा (ह्रीं) और अनुतारा (श्रीं) इस मन्त्र से मन्त्रवेत्ता अभिषेक करे ॥ १००-१०१ ॥

विमर्शिनी—वसवस्त्वेति । रुद्रास्त्वेति । (तैत्तिरीयब्राह्मणम् २.७.१५.५) ॥१००॥ आदित्यास्त्वेति । विश्वेति । (तैत्तिरीयब्राह्मणम् २.७.१५.५) ॥ १०१ ॥

ततः शुद्धोदमादाय परादित्रिविधात्मना ।
तारया त्वभिषिच्याथ तथार्घ्यं मूर्ध्नि निक्षिपेत् ॥ १०२ ॥

फिर शुद्धोदक लेकर परादित्रिविधात्मना (ॐ) पूर्वक तारा (ह्रीं) मन्त्र से अभिषेक कर शिर पर अर्घ्य डाल देवे ॥ १०२ ॥

समालभ्य ततो बिम्बं चन्दनाद्यनुलेपनैः ।
वासःप्रभृतिभिर्भोगैः प्रापणान्तैः समर्चयेत् ॥ १०३ ॥

फिर विम्ब में अच्छी तरह चन्दनादि का अनुलेपन कर वस्त्र से लेकर प्रापण (नैवेद्य) पर्यन्त समस्त उपचारों से अर्चना करे ॥ १०३ ॥

मुद्रां बद्ध्वार्चयेत् पश्चात् पीठं ब्रह्मशिलान्वितम् ।
समस्ताध्वमयं पीठं ध्यायेद्वैष्णवमुज्ज्वलम् ॥ १०४ ॥

तदनन्तर मुद्रा द्वारा अर्चना करे । इसके बाद ब्रह्मशिलामय पीठ तथा समस्त अध्वमय पीठ का उज्ज्वल वैष्णव रूप में ध्यान करे ॥ १०४ ॥

आधारशक्तिभूतां च दिव्यां ब्रह्मशिलां स्मरेत् ।
पीठब्रह्मशिले त्वेवं सहभावेन निर्मिते ॥ १०५ ॥
पृथग्विनिर्मिते ते च कुर्यात्तु शयनोत्तरे ।
शयनं स्थिरबिम्बस्य वक्ष्यमाणं विधीयते ॥ १०६ ॥

ब्रह्मशिला का ध्यान दिव्य आधार शक्ति के रूप में करे । फिर पीठ और ब्रह्मशिला जो एक साथ निर्माण किये गए हैं, उन्हें शयन के उत्तर में अलग-अलग कर आगे कही गई विधि के अनुसार स्थिर विम्ब का उस पर शयन करा देवे ॥ १०५-१०६ ॥

प्रासादगमनं चैव पीठब्रह्मशिलास्थितिः ।
तत्प्रतिष्ठापनं चैव बिम्बस्यावाहनं ततः ॥ १०७ ॥

तदनन्तर प्रासाद में जावे । फिर पीठ और ब्रह्मशिला को स्थापित कर उसका प्रतिष्ठापन करे । तदनन्तर विम्ब का आवाहन करे ॥ १०७ ॥

द्वादशाङ्गकलान्यासस्त्र्यहाद्युत्सवसाधनम् ।
तथावभृथकर्मादि सर्वमेतद्विधीयते ॥ १०८ ॥

तदनन्तर द्वादशाङ्ग कलान्यास, त्र्यहादि उत्सवसाधन तथा अवभृथ कर्मादि

सारा कार्य सम्पादन करे ॥ १०८ ॥

चलबिम्बप्रतिष्ठां च चतुष्कलशसेचने ।
आराध्यावाहनं कुर्याद्यथा तदवधारय ॥ १०९ ॥

अब चार कलशों से स्नान सम्पन्न करा लेने के पश्चात् जिस प्रकार आराधन तथा आवाहन के द्वारा चल विम्ब की प्रतिष्ठा की जाती है उसकी विधि को सुनिए ॥ १०९ ॥

कार्यमावाहनात् पूर्वं भोगानां त्रितयं क्रमात् ।
स्वरूपेऽविकृते शुद्धे निस्तरङ्गे निरामये ॥ ११० ॥
परातीते गुरुः स्थित्वा पुनः स्वहृदयाम्बुजे ।
शक्तिं सत्तामयीं विष्णोरनुरूपामनुस्मरेत् ॥ १११ ॥

आवाहन से पूर्व तीन प्रकार का भोग क्रमश: एकत्रित करना चाहिए । फिर अविकृत, शुद्ध, निस्तरङ्ग, निरामय, परातीत में गुरु को स्थित कर पुन: अपने हृदय कमल में विष्णु के अनुरूप सत्तामयी शक्ति का ध्यान करना चाहिए ॥ ११०-१११ ॥

ईश्वरसन्ध्यानयोगकथनम्

यद्बिम्बं संस्कृतं पूर्वं तन्मयं तदनुस्मरेत् ।
अग्नीषोममयौ भावौ स्वदेहस्थावनुस्मरेत् ॥ ११२ ॥

तदनन्तर जिस विम्ब का संस्कार किया गया है, उसको उसी स्वरूप में स्मरण करे । फिर अग्नीषोममय भाव को अपने देह में स्थित होने का ध्यान करना चाहिए ॥ ११२ ॥

ऊर्ध्वाधोव्यापकत्वेन स्थितौ परमभास्वरौ ।
यथात्मनि तथा बिम्बे यथा बिम्बे तथात्मनि ॥ ११३ ॥

जो परम तेजस्वी रूप में ऊपर और नीचे सर्वत्र व्यापक रूप से वर्त्तमान है । वे जिस प्रकार आत्मा में वर्त्तमान हैं, उसी प्रकार विम्ब में भी और जिस प्रकार विम्ब में विद्यमान हैं, उस प्रकार आत्मा में भी विद्यमान हैं ॥ ११३ ॥

दक्षिणेन ततो यायादग्निमार्गेण देहतः ।
प्रविशेद्वाममार्गेण बिम्बस्य हृदयं धिया ॥ ११४ ॥

फिर अपने शरीर को दक्षिण भाग में रहने वाले अग्निमार्ग से निकाल कर बुद्धि द्वारा उस विम्ब के हृदय में वामभाग से उसमें प्रवेश करे ॥ ११४॥

यथात्मनात्मा हृदये स्वानुभूतो ह्यनूपमः ।
तथा तद्धृदयान्तःस्थमात्मानमनुसंस्मरेत् ॥ ११५ ॥

जैसे स्वयं अपने हृदय में उपमारहित उस परमात्मा का अनुभव किया गया था उसी प्रकार उस विम्ब के हृदय स्थल में भी उस परमात्मा का स्मरण करना चाहिए ॥ ११५ ॥

दृष्ट्वा स्वरश्मिखचितमानन्दापूरितं महः ।
तस्मिंस्तस्मिन् परब्रह्मण्यैकध्यं तस्य चिन्तयेत् ॥ ११६ ॥

फिर उस विम्ब के हृदय में अपने तेज समूहों वाले आनन्दपूर्ण एवं अनिर्वचनीय तेज का दर्शन कर उन-उन स्थानों में परब्रह्म से उसकी एकता स्थापित कर ध्यान करे ॥ ११६ ॥

एवमेकार्णवीकृत्य वैष्णवं तत् परं महः ।
तिष्ठेत् समादधानस्तदस्पन्दं स्वमनो दधत् ॥ ११७ ॥

इस प्रकार उस वैष्णव अनिर्वचनीय तेज को एकार्णवी कृत कर उसके स्पन्द को धारण कर स्थिर मन से स्थित हो जावे ॥ ११७ ॥

मनसि स्पन्दमानेऽथ स्मृत्वा तं स्वं धिया पुनः ।
बिम्बाद् दक्षिणमार्गेण बहिर्निष्क्रम्य मेधया ॥ ११८ ॥
संविशेद्वामभागेन स्वमेव हृदयाम्बुजम् ।
योगोऽयं द्रव्यबिम्बस्य नाडीवृन्दप्रवर्तकः ॥ ११९ ॥

यदि मन स्पन्दन (चाञ्चल्य) करता हो तो उसे पुनः बुद्धि द्वारा स्मरण करे। फिर विम्ब के दक्षिण भाग से मेधा द्वारा निकाल कर वाम मार्ग द्वारा अपने हृदय में प्रवेश करे । यह योग द्रव्य विम्ब में नाड़ी समूहों का प्रवर्त्तन करता है ॥ ११८-११९ ॥

विमर्शिनी—नाडीवृन्देति । अत्रेदं पारमेश्वरसंहितावचनमनुसन्धेयम्—

"योगोऽयं मुनिशार्दूल बिम्बस्य द्रव्यजस्य च ।
आपादमूर्धपर्यन्तं नाडीवृन्दस्य व्यञ्जकः ॥
येन सर्वेशिता विप्र बिम्बस्यास्य प्रजायते ।
तं योगमधुना वच्मि एकाग्रमवधारय ॥"

(१५-४४७,४४८) इति ॥ ११९ ॥

योगान्तरमथातिष्ठेत् तस्य सर्वेशितात्यये ।

ध्यायीतातो हृदम्भोजात् तारिकां तारिणीं गृणन् ॥ १२० ॥

फिर उस विम्ब की सर्वेशित्व की प्राप्ति के लिये दूसरा योग करे । तदर्थ सबको पार लगाने वाली तारिका मन्त्र का इस प्रकार ध्यान करे ॥ १२० ॥

यायादूर्ध्वप्रवाहेण परं पदमनामयम् ।
ततः स्मरेत् परं तच्च भोगं प्राप्तं स्वयेच्छया ॥ १२१ ॥

हृदय रूप कमल से ऊपर की ओर जाकर अनामय परम पद तक जावे । फिर वहाँ अपनी इच्छानुसार भोग प्राप्त करने वाले पर का ध्यान करे ॥१२१॥

ततस्तत्स्पन्दमादाय विज्ञानैश्वर्यशक्तिमत् ।
अनाकुलं पुनर्यायात् पथा तेन हृदम्बुजम् ॥ १२२ ॥

फिर वहाँ से विज्ञान, ऐश्वर्य और शक्तिमान् स्पन्द ग्रहण कर, निर्भय होकर, उसी मार्ग से हृदय कमल में लौट आवे ॥ १२२ ॥

विमर्शिनी—स्पन्दं = क्षोभम् । तथा च पारमेश्वरे—

"अव्युच्छिन्नोऽप्यथोऽक्षुब्धः स्वेच्छया क्षोभमेति च ।"

(१५-४५१) इति ॥ १२२ ॥

दक्षिणेन विनिष्क्रम्य परस्परसहायवान् ।
तद्बिम्बहृदयाम्भोजं वामेनैव तु संविशेत् ॥ १२३ ॥

फिर एक दूसरे की सहायता से अपने हृदय कमल के दाहिने मार्ग से निकल कर विम्ब के हृदय कमल में उसके वाम मार्ग से प्रविष्ट हो जाना चाहिए ॥ १२३ ॥

ध्यात्वा पूर्ववदेकत्वं विनिष्क्रम्योर्ध्वमार्गतः ।
द्वादशान्तं समाविश्य पूर्ववत् स्पन्दमेत्य च ॥ १२४ ॥
यथाबिम्बं हृदम्भोजं तेनैव प्रविशेत् सुधीः ।
ततोऽग्निना विनिष्क्रम्य सव्येन हृदयं विशेत् ॥ १२५ ॥

फिर उससे एकात्मयता का ध्यान कर ऊपर के मार्ग से निकलकर द्वादशान्त में पहुँचकर, पूर्व की भाँति वहाँ से भी स्पन्दन प्राप्तकर, सुधी साधक उसी मार्ग से विम्ब के हृदयाम्भोज में प्रविष्ट हो जावे । फिर अग्नि मार्ग से निकल कर, बायें से हृदय में प्रवेश करे ॥ १२४-१२५ ॥

स्मरेत् स्पन्दमथैश्वर्यं स्वचक्षुर्द्वयगोलकम् ।
परस्परं निरीक्ष्याथ तन्वानावेकतामिव ॥ १२६ ॥
अन्योन्यालोकनाभ्यां तावनुविद्धावनुस्मरेत् ।

एतदीश्वरसन्धानं नाम योगोऽनुवर्णितः ॥ १२७ ॥

तदनन्तर अपने दोनों नेत्रों के गोलकों को स्पन्द और ऐश्वर्य रूप में ध्यान करे । फिर परस्पर देखकर दोनों को एक रूप में मिलाकर एक दूसरे को अवलोकन के द्वारा परस्पर अनुस्यूत रूप में ध्यान करे । हे इन्द्र ! यहाँ तक हमने ईश्वर सन्धान नामक योग का वर्णन किया ॥ १२६-१२७ ॥

येन सर्वेषु बिम्बेषु सर्वेशित्वं सदा भवेत् ।
अथ शब्दानुसन्धानं मन्त्रबिम्बैकता हि या ॥ १२८ ॥

इस प्रकार के योगानुष्ठान से सभी प्रकार के बिम्बों में सर्वदा के लिये सर्वेशिता प्राप्त हो जाती है । अब शब्दानुसन्धान योग कहती हूँ, जिससे मन्त्र और विम्ब की एकता हो जाती है ॥ १२८ ॥

शब्दानुसन्धानयोगकथनम्

सा स्मृता वैष्णवी सूक्ष्मा शक्तिर्विष्णोर्निरञ्जना ।
तत्सामान्यमयो भूत्वा तस्मिन् स्वं लोपयेद् ध्वनिम् ॥ १२९ ॥

उस विष्णु की निरञ्जना शक्ति सूक्ष्मा वैष्णवी स्वरूपा है अतः साधक सामान्यमय होते हुये भी उसमें अपनी ध्वनि का लोप कर देवे ॥ १२९ ॥

सर्वसङ्कल्पहीनं तच्छब्दमात्रविवर्जितम् ।
शान्तं विद्धि परं सूक्ष्मं तत्परं बोधनिर्मितम् ॥ १३० ॥

जिस निरञ्जना शक्ति में ध्वनि का लोप किया जाता है, वह सर्व सङ्कल्पहीन, समस्त, शब्दरहित, शान्त, बोधमात्र से ज्ञात एवं अत्यन्त सूक्ष्म 'पर' कही जाती है ॥ १३० ॥

ततः शब्दार्थसंस्कारसार्धस्पन्दोद्यमो हि यः ।
तत् स्मरेत् परमं सूक्ष्मं पश्यन्तीपदमुन्मिषत् ॥ १३१ ॥

तदनन्तर शब्दार्थ संस्कार के साथ स्पन्दन पूर्वक जो उद्योग है, उस उद्योग के प्रगट होने से पहले अत्यन्त सूक्ष्म पश्यन्ती पद के रूप में ध्यान करना चाहिए ॥ १३१ ॥

सङ्कल्पपदवीरूढस्तत्तत्संस्काररञ्जितः ।
स्वकं वाच्यं पृथक्कृत्य तदुद्दिश्योदयो हि यः ॥ १३२ ॥
शाब्दं तन्मध्यमं रूपं स्मरेद्धृत्पद्ममध्यगम् ।

जब वह पश्यन्ती शब्द स्वरूप सङ्कल्प की पदवी पर आरूढ़ होता है

और तत्-तत् शब्दों के संस्कार से रञ्जित हो जाता है तथा अपने वाच्य अर्थ को अलग कर वाच्यार्थ के उद्देश्य से उदीयमान (प्रगट रूप) होता है । तब उसे शब्द का मध्यम स्वरूप कहते हैं, उसका ध्यान हृदय कमल में करना चाहिए ॥ १३२-१३३- ॥

नानास्थानप्रयत्नोत्थैः करणश्वसनेरितैः ॥ १३३ ॥
तरङ्गैर्व्यक्तिमायाति स्फुटो वर्णपदादिकैः ।
यो वाचकस्वरूपेण तत्पदं वैखरीं विदुः ॥ १३४ ॥

इसके बाद अनेक कण्ठादि स्थान तथा आभ्यन्तरादि प्रयत्न से एवं करण और श्वास की प्रेरणा के तरङ्ग से स्पष्ट रूप में वर्ण, पद और वाक्य रूप में वाच्य-वाचक रूप से जो अभिव्यक्त होता है तब उसे वैखरी वाणी स्वरूप में कहा जाता है ॥ -१३३-१३४ ॥

बोधशब्दात्मकं तस्मात् परसूक्ष्मादिभेदवत् ।
वपुरित्यनुसन्धाय तद्बिम्बं भावयेत् ततः ॥ १३५ ॥

फिर परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी भेद वाले उस बोधात्मक शब्द को बिम्ब के शरीर में स्थापित कर उस विम्ब का ध्यान करे ॥ १३५ ॥

शब्दसंहारयोगेन स्वं वपुस्तच्च बिम्बकम् ।
निष्कम्पबोधशब्दात्म स्मृत्वा तद्द्वितयं तथा ॥ १३६ ॥

फिर शब्द संहार के योग से अपने शरीर और उस विम्ब को इन दोनों को निष्कम्पबोध शब्दात्मा के रूप में ध्यान करे ॥ १३६ ॥

पूर्वोक्तक्रमयोगेन शब्दब्रह्म ह्यनाहतम् ।
पश्यन्त्यादिक्रमेणैव शब्दबिम्बमयं स्मरेत् ॥ १३७ ॥

फिर पूर्वोक्त परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के क्रम से उस विम्ब को अनाहत शब्द ब्रह्ममय रूप में ध्यान करे ॥ १३७ ॥

एवं शब्दानुसन्धानं कृत्वा मन्त्रानुसंहितम् ।
आरभेत सुधीः कर्म तस्य योगोऽयमुच्यते ॥ १३८ ॥

इस प्रकार विम्ब में मन्त्र के साथ शब्दानुसन्धान कर बुद्धिमान् साधक पुनः कर्म का आरम्भ करे । अब उसकी प्रक्रिया कहती हूँ ॥ १३८ ॥

कर्मयोगकथनम्

अनाहतं परं नाभौ पश्यन्तीपदमागतम् ।

नालसूत्रमिवान्तःस्थं मध्यमे हृदयाम्बुजे ॥ १३९ ॥
स्थित्वा तद्वैखरीद्वारा बिम्बान्तः संविशत् स्मरेत् ।
स्फुरन्नादस्वरूपं च मन्त्रैर्व्याप्तं तथाखिलैः ॥ १४० ॥
मन्त्रात्मानं जगन्नाथं बिम्बहृन्मध्यगं स्मरेत् ।
एवं संस्थापितं बिम्बं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥ १४१ ॥
आवाहनं ततः कुर्याद् बिम्बेऽस्मिन् हरिमेधसः ।
पूर्वमावाहयामीति तथा सर्वाङ्गमन्त्रतः ॥ १४२ ॥

नाभि में स्थित अनाहत 'पर पद' पश्यन्ती पद में प्राप्त होकर, अन्तः-करण में स्थित नाल सूत्र के समान हृदयाम्बुज के मध्य में स्थित होकर, वैखरी द्वारा विम्ब के भीतर प्रवेश कर रहा है—ऐसा ध्यान करे । इस प्रकार नाद स्वरूप में स्फुरित होने वाले सम्पूर्ण मन्त्रों से व्याप्त मन्त्रात्मा जगन्नाथ का विम्ब के भीतर स्मरण करे । इस प्रकार से संस्थापित बिम्ब भुक्ति और मुक्ति दोनों फल प्रदान करता है । इसके बाद उस विम्ब में 'पूर्वमावाहयामि' तथा 'सर्वाङ्ग मन्त्र' से भगवान् का आवाहन करे ॥ १३९-१४२ ॥

प्रवेशनिर्गमौ लक्ष्म्याः स्मरेद्देवस्य देहतः ।
ऋग्भिः पञ्चभिराद्याभिस्तस्या आवाहनं स्मृतम् ॥ १४३ ॥

उस समय भगवान् के शरीर से लक्ष्मी का प्रवेश और निर्गम का ध्यान करे । श्रीसूक्त के आदि भूत पाँच ऋचाओं से लक्ष्मी के आवाहन का विधान कहा गया है ॥ १४३ ॥

द्वादशाङ्गकलान्यासं देवन्यासवदाचरेत् ।
भवतं नः सुमनसाविति द्वावनुसान्त्वयेत् ॥ १४४ ॥

फिर पूर्व में कहे गए देवन्यास की तरह लक्ष्मी में भी द्वादशाङ्ग कलान्यास करे । फिर 'भवतं नः सुमनसौ' इस मन्त्र से उन्हें स्थापित करे ॥ १४४ ॥

एतावती चले बिम्बे प्रतिष्ठान्यत्र तु स्थिरे ।
कुर्यात् पूर्वोक्तमार्गेण सात्त्वतादिविधानवित् ॥ १४५ ॥

चल विम्ब में मात्र इतनी प्रतिष्ठा हो जाती है । अन्यत्र स्थिर बिम्ब में सात्त्वत विधानवेत्ता साधक पूर्वोक्त क्रम से प्रतिष्ठा करे ॥ १४५ ॥

यदेतदनुसन्धानत्रितयं पूर्वमीरितम् ।
एतदेव प्रतिष्ठानमुभयत्रेति मे मतिः ॥ १४६ ॥

हमने पूर्व में नाडी प्रवर्तक अनुसन्धान, ईश्वरानुसन्धान और शब्दानुसन्धान

जो तीन अनुसन्धान कहा है, ये तीनों अनुसन्धान चल और स्थिर दोनों प्रकार की प्रतिष्ठा में करना चाहिये—ऐसा अपना मत है ॥ १४६ ॥

इत्थं संस्कारसम्पन्ने तद्बिम्बद्वितये सुधीः ।
लक्ष्मीं लक्ष्मीपतिं चैव धिया पश्यन्नुपस्थितौ ॥ १४७ ॥

इस प्रकार लक्ष्मी-नारायणात्मक दोनों विम्बों के संस्कार सम्पन्न हो जाने पर सुधी साधक उसमें लक्ष्मी और लक्ष्मीपति का मन से ध्यान करे ॥ १४७॥

तन्मनाश्चैव तद्भक्तस्तद्याजी तज्जपोद्यतः ।
तद्योगी सततं भूत्वा तावेवान्ते प्रपद्यते ॥ १४८ ॥

इस प्रकार प्रतिष्ठा करने वाले साधक को लक्ष्मीनारायण में मन लगाना चाहिए । उनमें भक्ति करे, उनका पूजन करे, उनके मन्त्रों का जाप करे, तथा सतत उनके योग से युक्त रहे तो अन्त में वह लक्ष्मीनारायण को प्राप्त कर लेता है ॥ १४८ ॥

प्रतिष्ठेयमिति प्रोक्ता साक्षाज्ज्ञानमयी परा ।
ज्ञानं विना न चैवान्यन्नराणां तारकं स्मृतम् ॥ १४९ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे प्रतिष्ठाविधानं
नामैकोनपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

...∽❀∽...

हे इन्द्र ! हमने यह परा साक्षात् ज्ञानमयी प्रतिष्ठा आप से कह दी, क्योंकि ज्ञान को छोड़कर कोई अन्य उपाय मनुष्यों को तरण-तारण करने वाला नहीं है ॥ १४९ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के प्रतिष्ठाविधान नामक उनचासवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ४९ ॥

...∽❀∽...

पञ्चाशोऽध्यायः

श्रीसूक्तप्रभावप्रकाशः

लक्ष्मीनारायणार्चने श्रीसूक्तविधानम्

शक्रः—

विश्वारणे नमस्तुभ्यं नमो विश्वविभूतये ।
सर्वासामपि सिद्धीनां नमस्ते मूलहेतवे ॥ १ ॥

इन्द्र ने कहा—विश्व की अरणिभूते ! (उत्पत्तिस्थानभूते) आपको नमस्कार है, विश्वविभूतिस्वरूपे आपको नमस्कार है । सभी सिद्धियों की मूलभूते आपको नमस्कार है ॥ १ ॥

विमर्शिनी—विश्वारणे । विश्वोत्पत्तिस्थानभूते इत्यर्थः ॥ १ ॥

आदिदेवात्मभूतायै नारायणकुटुम्बिनि ।
समस्तजगदाराध्ये नमस्ते पद्मयोनये ॥ २ ॥

आदिदेव महाविष्णु की प्राणबल्लभे आपको नमस्कार है । नारायण की कुटम्बिनि आपको नमस्कार है । समस्त जगत् की अराध्यभूते तथा कमल से उत्पन्न होने वाली आपको नमस्कार है ॥ २ ॥

विमर्शिनी—आत्मभूतायै = प्राणवल्लभायै इत्यर्थः ॥ २ ॥

त्वत्प्रसादाच्छ्रुता मन्त्रास्त्वदीयाः सिद्धयो मया ।
आराधनं च सर्वेषां यथावदवधारितम् ॥ ३ ॥

आपकी कृपा से मैने आपके मन्त्रों को तथा आपकी सिद्धियों को सुना और सबकी आराधना की विधि भी मैने यथावत् निश्चयपूर्वक जान लिया ॥३॥

इदानीं श्रोतुमिच्छामि त्वद्वक्त्राम्बुजनिःसृतम् ।
त्वत्सूक्तस्य विधिं कृत्स्नमुपसन्नोऽस्म्यधीहि भो ॥ ४ ॥

अब इस समय मैं आपके मुखकमल से निर्गत आपके श्रीसूक्त की सम्पूर्ण विधि सुनना चाहता हूँ । मैं आपकी शरण में हूँ, हे भगवति ! मुझ को आप बतलाइये ॥ ४ ॥

विमर्शिनी—त्वत्सूक्तस्य = श्रीसूक्तस्य ॥ ४ ॥

श्रीः—

देवो नारायणो नाम जगतस्तस्थुषस्पतिः ।
आत्मा च सर्वलोकानां षाड्गुण्यानन्दविग्रहः ॥ ५ ॥

श्री ने कहा—इस स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् के एक मात्र भगवान् नारायण स्वामी हैं । समस्त लोक के आत्मा हैं । उनका शरीर, ज्ञान, ऐश्वर्य, वीर्य एवं तेज आदि षड्गुणों से परिपूर्ण है ॥ ५ ॥

सर्वप्रकृतिरीशानः सर्वज्ञः सर्वकार्यकृत् ।
निरनिष्टोऽनवद्यश्च सर्वकल्याणसंश्रयः ॥ ६ ॥

वे सबकी प्रकृति अर्थात् उपादान कारण हैं, ईश्वर हैं, सर्वज्ञ एवं सर्वकार्यकर्त्ता हैं, किसी का अनिष्ट न करने वाले सर्वथा निर्दोष तथा सभी कल्याणों के आश्रय हैं ॥ ६ ॥

विमर्शिनी—प्रकृतिः = उपादानकारणम् ॥ ६ ॥

तमसां तेजसां चैव भासकः स्वप्रकाशतः ।
अन्तर्यामी नियन्ता च भावाभावविभावितः ॥ ७ ॥

वे अपने तेज (प्रकाश) से तम और तेज दोनों के भासक हैं (तस्य भासा सर्वमिदं विभाति) । सबके अन्तःकरण में रहने वाले, सबके नियन्ता तथा भाव एवं अभाव दोनों रूपों से जाने जाते हैं ॥ ७ ॥

विमर्शिनी—"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति श्रुत्यर्थोपबृंहणमत्र । भावाभावेति । भावाभावपदार्थरूपतया निर्धारित इत्यर्थः ॥ ७ ॥

शक्तिमान् सकलाधारः सर्वशक्तिर्मदीश्वरः ।
तस्याहं परमा शक्तिरेका श्रीर्नाम शाश्वती ॥ ८ ॥

शक्तिमान् है, सबके आधार हैं, सम्पूर्ण शक्तियों से परिपूर्ण ईश्वर हैं, मैं उन नारायण की श्री नाम वाली एकमात्र परमा शक्ति हूँ ॥ ८ ॥

निरस्तनिखिलावद्या सर्वकामदुघा विभोः ।
आत्मभित्तिसमुन्मीलच्छुद्धाशुद्धाध्ववर्गिणी ॥ ९ ॥

मैं सर्वदोषरहित तथा उन विभु की सारी कामनायें पूर्ण करने वाली हूँ अर्थात् मेरे कारण ही वे समस्त अवाप्तकाम हैं । मैं इस शुद्धाशुद्ध रूप सारे प्रपञ्च का एकमात्र अवलम्बन हूँ ॥ ९ ॥

विमर्शिनी—सर्वकामेति । मयैव सः अवाप्तसमस्तकाम इति भावः । आत्मभित्तीति । शुद्धाशुद्धरूपः प्रपञ्चः सर्वोऽपि मदेकावलम्बन इत्यर्थः ॥ ९ ॥

अनुव्रता हृषीकेशं सर्वतः समतां गता ।
तावावां परमे व्योम्नि पितरौ जगतः परौ ॥ १० ॥

मैं उन हृषीकेश के पीछे-पीछे चलने वाली हूँ और सर्वत्र समभाव से विद्यमान हूँ । इस प्रकार हम और वे नारायण जगत् के परम पिता हैं । वहीं हम दोनों और परम व्योम में निवास करने वाली हूँ ॥ १० ॥

अनुग्रहाय लोकानां स्थितौ स्वः परया श्रिया ।
कदाचित्कृपयाविष्टौ जीवानां हितकाम्यया ॥ ११ ॥
सुखिनः स्युरिमे जीवाः प्राप्नुयुर्नौ कथं त्विति ।
उपायान्वेषणायत्तौ परमेण समाधिना ॥ १२ ॥

वहाँ हम लोग समस्त लोक के अनुग्रह के लिये अपनी परमश्री के साथ निवास करते हैं । किसी समय कृपाविष्ट होकर जीवों का हित करने के लिये ये जीव किस प्रकार से सुखी हों जावें तथा कैसे हम लोगों को प्राप्त कर लेवें—इस विचार से अत्यन्त समाहित चित्त होकर उपाय के अन्वेषण में तत्पर हो गए ॥ ११-१२ ॥

विमर्शिनी—समाधिना = ध्यानेन ॥ १२ ॥

मथ्नीवः स्मातिगम्भीरं शब्दब्रह्ममहोदधिम् ।
मथ्यमानात्ततस्तस्मात् सामर्ग्यजुषसंकुलात् ॥ १३ ॥
तत् सूक्तमिथुनं दिव्यं दध्नो घृतमिवोत्थितम् ।
अनाहतमसंदिग्धमनस्पष्टमनश्वरम् ॥ १४ ॥

तब शब्दब्रह्मरूप महासमुद्र का, जो अत्यन्त गम्भीर है, उसका वे मन्थन करने लगे । तदनन्तर सोम, ऋक्, यजुः समुदाय स्वरूप उस शब्द महोदधि के मन्थन से जिस प्रकार दही से घृत निकलता है, उसी प्रकार उससे दिव्य सूक्त मिथुन (पुरुषसूक्त एवं श्रीसूक्त) की उत्पत्ति हुई जो अनाहत (अव्याहत) असंदिग्ध अत्यन्त स्पष्ट तथा अनश्वर थे ॥ १३-१४ ॥

विमर्शिनी—मथ्नीवः स्मेति । अमथ्नीवेत्यर्थः ॥ १३ ॥ सूक्तमिथुनम्; पुंसूक्तं श्रीसूक्तं च । अनाहतम् = अव्याहतम् । अनस्पष्टम् = अतिस्पष्टम् ॥ १४ ॥

सर्वैश्वर्यगुणोपेतमनाकुलपदाक्षरम् ।
आद्योस्तथान्तयोः शश्वदन्योन्याक्षरमिश्रितम् ॥ १५ ॥

वे सूक्त मिथुन सर्वैश्वर्य और सर्वगुणों से संयुक्त थे । उनके पद और अक्षर अत्यन्त स्पष्ट थे, दोनों आदि में तथा दोनों अन्त में निरन्तर एक दूसरे अक्षर मिले हुये थे ॥ १५ ॥

शक्तिशक्तिमदाविद्धं तत्तदक्षरमिश्रितम् ।
तत्र पुंलक्षणं सूक्तं सद्ब्रह्मगुणभूषितम् ॥ १६ ॥
स्वीचकारारविन्दाक्षः स्वमहिम्नि प्रतिष्ठितम् ।
तत्र स्त्रीलक्षणं सूक्तं सद्ब्रह्मगुणभूषितम् ॥ १७ ॥
स्वीचकाराहमव्यग्रा स्वमहिम्नि प्रतिष्ठितम् ।
ते एते परमे सूक्ते महर्षिगणसेविते ॥ १८ ॥

वे शक्ति और शक्तिमान् से आविद्ध थे और उनके उन-उन अक्षरों से मिश्रित भी थे । उसमें सद् ब्रह्म गुणभूषित जो पुंलक्षण (पुरुष लक्षण) वाला सूक्त था उसे अरविन्दाक्ष भगवान् विष्णु ने उस पुरुषसूक्त के मन्त्रद्रष्टा होने के कारण, ऋषि होने से तथा तत्प्रतिपाद्य होने से, उसके देवता होने के कारण, उसे और उसे अपनी महिमा में प्रतिष्ठित होते देखकर स्वयं अपने लिये स्वीकार कर लिया तथा दूसरा सूक्त जो सद्ब्रह्म के गुणों से विभूषित था तथा स्त्री लक्षण से युक्त था । मेरी अपनी महिमा में प्रतिष्ठित था उसके द्रष्टा होने से, ऋषि होने के कारण, तथा श्री प्रतिपाद्य होने से देवता होने के कारण, मैंने उसे निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया । इन दोनों सूक्तों की महर्षिगण निरन्तर सेवा करते हैं ॥ १६-१८ ॥

विमर्शिनी—स्वीचकारेति । तन्मन्त्रद्रष्टृतया तदृषित्वेन तत्प्रतिपाद्यत्वेन तद्देवतात्वेन चात्मानमभावयदित्यर्थः । अरविन्दाक्ष इत्यनेन—"तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी"—इति श्रुत्युपवर्णित इति सूच्यते ॥ १७ ॥

अधीते च विमृष्टे च नयेतां परमां गतिम् ।
विहितानि विधानानि कल्पकृद्भिः पुरातनैः ॥ १९ ॥

ये दोनों सूक्त शब्दतः अध्ययन करने पर तथा अर्थतः विचार करने पर मनुष्यों को परमगति प्रदान करते हैं । कल्पवेत्ता पुरातन शौनकादि ऋषियों ने इनके पाठ के लिये विहित विधानों का निर्माण किया है ॥ १९ ॥

विमर्शिनी—अधीते = शब्दतः । विमृष्टै = अर्थतः । कल्पकृद्भिः = शौनकादिभिः ॥ १९ ॥

अघोराण्यमराध्यक्ष तानि तानि सहस्रशः ।
तत्र संप्रति मत्सूक्तविधानं विहितं शृणु ॥ २० ॥

हे अमराध्यक्ष इन्द्र ! ये सूक्त फल प्रदान की दशा की तरह साधनदशा में भी उन-उन सहस्रों सौभाग्य को प्रदान करते हैं । उसमें सर्वप्रथम मेरे सूक्त के विधान को श्रवण करे ॥ २० ॥

विमर्शिनी—अघोराणि । फलदशायामिव साधन(प्रयोग)दशायामपि परमभोग्यानीत्यर्थः ॥ २० ॥

मामेवास्य मुनिं विद्याच्छन्दः श्रीर्नाम कथ्यते ।
देवता सकलाधारा विष्णुपत्न्यहमीश्वरी ॥ २१ ॥

इस श्रीसूक्त का स्वयं मैं ही ऋषि हूँ । इसके छन्द का नाम 'श्री' कहा जाता है । इसकी देवता भी सम्पूर्ण जगत् की आधारभूत सर्वेश्वरी विष्णु पत्नी मैं ही हूँ ॥ २१ ॥

विनियोगोऽस्य सूक्तस्य लक्ष्मीनारायणार्चने ।
अङ्कस्थां भावयेल्लक्ष्मीं विष्णोर्मां परमेश्वरीम् ॥ २२ ॥

इस सूक्त का विनियोग लक्ष्मीनारायण के अर्चा में करना चाहिये । विनियोग कर लेने के बाद साधक मुझ लक्ष्मी का ध्यान विष्णु के अङ्क में स्थित परमेश्वरी के रूप में इस प्रकार करे ॥ २२ ॥

विमर्शिनी—अङ्कस्थामिति = वामाङ्कस्थामित्यर्थः ॥

वामेनालिङ्गितां शश्वद्बाहुना परमात्मना ।
तदंसलग्नबाहुं च दिव्यपङ्कजधारिणीम् ॥ २३ ॥
अथ मामर्चयेदृग्भिः प्रयतः परमेश्वरीम् ।
वामोत्सङ्गनिषण्णां मां देवदेवस्य शार्ङ्गिणः ॥ २४ ॥

परमात्मा के वाम बाहु से आलिङ्गित तथा परमात्मा के कन्धे पर स्वयं अपनी बाहु रखे हुये, दिव्य पङ्कज धारण की हुई, देवाधिदेव विष्णु के वामअङ्क में बैठी हुई मुझ परमेश्वरी का ध्यान कर साधक एकाग्रचित्त से श्रीसूक्त की ऋचाओं द्वारा मेरा अर्चन करे ॥ २३-२४ ॥

कुर्यात् प्रथमया चर्चा त्वावाहनमतन्द्रितः ।

द्वितीययासनं दद्याद् देवदेवस्य शार्ङ्गिणः ॥ २५ ॥

सावधान होकर श्रीसूक्त की प्रथम ऋचा से देवाधिदेव विष्णु का आवाहन करे । फिर द्वितीय ऋचा से आसन प्रदान करे ॥ २५ ॥

तृतीययार्घ्यमीशाने पाद्यं चापि प्रकल्पयेत् ।
चतुर्थ्याचमनं चैव पञ्चम्या चोपहारकम् ॥ २६ ॥
षष्ठ्या स्नानं प्रकुर्वीत सह नौ साधकोत्तमः ।
सप्तम्या वाससी दद्यादष्टम्या भूषणानि च ॥ २७ ॥

तीसरी ऋचा से अर्घ्य प्रदान करे और पाद्य भी देवे । चौथी ऋचा से आचमन करावे, पञ्चमी ऋचा से उपहार प्रदान करे । फिर साधक षष्ठी ऋचा से हम दोनों को साथ-साथ स्नान करावे । सप्तमी ऋचा से दो वस्त्र तथा अष्टमी ऋचा से भूषण प्रदान करे ॥ २६-२७ ॥

गन्धं दद्यान्नवम्या तु दशम्या सुमनश्चयम् ।
पराभ्यां धूपदीपौ तु परया मधुपर्ककम् ॥ २८ ॥

नवमी ऋचा से गन्ध, दशमी ऋचा से पुष्पमाला, इसके बाद ग्यारहवीं एवं बारहवीं ऋचाओं से धूप और दीप, फिर तेरहवीं ऋचा से मधुपर्क प्रदान करना चाहिए ॥ २८ ॥

विमर्शिनी—पराभ्यामिति । एकादशीद्वादशीभ्यामृग्भ्यामित्यर्थः ॥ २८ ॥

प्रापणं च चतुर्दश्या पञ्चदश्या नमस्क्रियाः ।
तारिकामनुतारं च प्रयुञ्जीयादथान्ततः ॥ २९ ॥

चौदहवीं ऋचा से नैवेद्य, पन्द्रहवीं ऋचा से नमस्कार करे, फिर अन्त में तारिका ह्रीं और अनुतारिका श्रीं का प्रयोग करे ॥ २९ ॥

विमर्शिनी—तारिकामित्यादि । ह्रीं श्रीं इति मन्त्रद्वयमित्यर्थः ॥ २९ ॥

प्रत्यृचं नियतो मन्त्री जपेच्छक्त्या यथाविधि ।
सूक्तस्य विलयं पश्चात्तारिकायामनुस्मरेत् ॥ ३० ॥

मन्त्र साधक प्रत्येक ऋचाओं के अनन्तर नियमपूर्वक शास्त्रानुसार अपनी शक्ति के अनुकूल जप भी करे । फिर समस्त सूक्तों की समाप्ति तारिका (ह्रीं श्रीं) में कर उनका स्मरण करे ॥ ३० ॥

तारिकास्थौ च नौ ध्यात्वा स्मरेत् सर्वगतिं च नौ।
ऋग्भिश्चतसृभिर्यद्वा पूर्वमावाहनक्रिया ॥ ३१ ॥

अब पूजा का पक्षान्तर (दूसरा पक्ष) कहते हैं—इसके बाद उस तारिका में

हम दोनों की स्थिति है, इस प्रकार ध्यान कर हम दोनों ही सबको गति देने वाले हैं, ऐसा ध्यान करना चाहिए अथवा पूर्व की चार ऋचाओं द्वारा आवाहन करना चाहिए ॥ ३१ ॥

विमर्शिनी—पक्षान्तरमाह—ऋग्भिरिति ॥ ३१ ॥

पञ्चम्या तु प्रपद्येत श्रियं मां शुद्धचेतसा ।
आप इत्यनया कुर्यादर्घ्यपाद्याचमक्रियाः ॥ ३२ ॥

पञ्चम ऋचा से साधक शुद्ध चित्त हो मेरी शरण में आवे । इसके बाद 'आप: सृजन्तु स्निग्धानि' इस १२वीं ऋचा से अर्घ्य, पाद्य एवं आचमनादि क्रिया करावे ॥ ३२ ॥

विमर्शिनी—आप इति । "आप: सृजन्तु" इत्यादिद्वादश्येत्यर्थ: ॥ ३२ ॥

आर्द्रामिति च मत्स्नानं कर्दमेनेति चाम्बरम् ।
गन्धद्वारेति गन्धाः स्युरुपैतु स्यादलंकृतिः ॥ ३३ ॥

'आर्द्रा पुष्करिणी पुष्टिम्' इस तेरहवीं ऋचा से मुझे स्नान करावे । फिर 'कर्दमेन प्रजा भूता' इस ग्यारहवीं ऋचा से वस्त्र समर्पित करे । 'गन्ध द्वारा' इस नवीं ऋचा से गन्ध और 'उपैतु मां देवसख' इस सातवीं ऋचा से अलङ्कार समर्पित करे ॥ ३३ ॥

विमर्शिनी—आर्द्रामित्यादि । त्रयोदश्या चतुर्दश्या चेत्यर्थ: । कर्दमेनेति । एकादश्येत्यर्थ: । गन्धद्वारेति । नवम्येत्यर्थ: । उपैत्विति । सप्तम्येत्यर्थ: ॥ ३३॥

कां सोऽस्मि धूपदीपौ च षष्ठ्या चैवोपहारकम् ।
मनसः काममित्येवं मधुपर्कं प्रकल्पयेत् ॥ ३४ ॥

'कां सोऽस्मि' इस चौथी ऋचा से धूप दीप देवे । फिर 'आदित्यवर्णे' इस छठीं ऋचा से उपहार समर्पित करे । 'मनस: काममाकूतिं' इस दशवीं ऋचा से मधुपर्क प्रदान करे ॥ ३४ ॥

विमर्शिनी—कां सोऽस्मीति । चतुर्थ्येत्यर्थ: । अस्या आचमनेऽप्युपयोग: पूर्वमुक्त: । षष्ठ्येति । "आदित्यवर्णे" इत्यनयेत्यर्थ: । मनस इति = दशम्येत्यर्थ: ॥ ३४ ॥

क्षुत्पिपासामिति ह्येषा प्रापणप्रतिपादिका ।
अन्त्यया तु नमस्कारः शिष्टं पूर्ववदाचरेत् ॥ ३५ ॥

फिर 'क्षुत्पिपासामलां' इस अष्टम ऋचा से नैवेद्यादि समर्पित करे । तदनन्तर 'तां म आवह' इत्यादि पन्द्रहवीं अन्तिम ऋचा से नमस्कार समर्पित

करे । शेष उपचार पूर्ववत् करे ॥ ३५ ॥

विमर्शिनी—क्षुदित्यादि । अष्टम्येत्यर्थ: । अन्त्ययेति । "तां म आवह" इति पञ्चदश्येत्यर्थ: ॥ ३५ ॥

श्रिय: हिरण्यवर्णेत्यादित्रिपञ्चाशन्नाम्नां निर्वचनम्

सूक्तेऽस्मिन् मम नामानि पञ्चाशत् त्रीणि चाप्युत ।
तेषां निरुक्तिं मत्तस्त्वं शृणु जम्भनिषूदन ॥ ३६ ॥

हे इन्द्र ! इस श्रीसूक्त में मेरे ५३ नाम आये हैं । अत: हे जम्भनिषूदन मेरे उन-उन नामों की निरुक्ति मुझ से सुनिए ॥ ३६ ॥

विमर्शिनी—पञ्चाशत् त्रीणीति = त्रिपञ्चाशदित्यर्थ: ॥ ३६ ॥

निहिता सर्वभूतेषु रणे भृङ्गवधूरिव ।
जनयन्ती परं नादं तैलधारावदच्युतम् ॥ ३७ ॥
निमेषोन्मेषयोर्मध्ये सूर्याचन्द्रमसो: स्थिता ।
मूलमाधारमारभ्य द्विषट्कान्तमुपेयुषी ॥ ३८ ॥
उदितानेकसाहस्रसूर्यवह्नीन्दुसंनिभा ।
चक्रकात् पवनाधाराच्छान्ता पश्याथ मध्यमा ॥ ३९ ॥
वैखरीस्थानमासाद्य तत्राष्टस्थानवर्तिनी ।
वर्णानां जननी भूत्वा भोगान् प्रस्नौमि गौरिव ॥ ४० ॥
हिरण्यवर्णेत्येवं मां प्रजापतिरुदारधी: ।
स्तुत्वा तु मत्प्रसादात् स योगानां धर्ममूचिवान् ॥ ४१ ॥
प्रणवादिर्नमोऽन्तोऽयं मन्त्रो मम नवाक्षर: ।
शब्दब्रह्ममय: साक्षाद्योगिनां योगसाधक: ॥ ४२ ॥

सर्वप्रथम **हिरण्यवर्णा इस शब्द की निरुक्ति** कहती हूँ—हि शब्द का अर्थ है—निहितेति । मैं नेत्र के पलकों के खुलने और बन्द करने मात्र समय में शत्रुओं को मार कर तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से भ्रमरी के समान नाद करती हुई सूर्य और चन्द्रमा में स्थित रहती हूँ । इसलिये मैं हिरण्या हूँ ।

अब **वर्ण शब्द की निरुक्ति** करती हूँ—आधार शक्ति से द्वादशान्त में जाकर उदीयमान अनेक सहस्र सूर्य अग्नि तथा चन्द्रमा के वर्ण के समान हो जाती हूँ । इसलिये मैं हिरण्य वर्णा हूँ । आधार चक्र से उठकर वायु के वेग से शान्ता (परा) पश्यन्ती और मध्यमा से वैखरी स्थान प्राप्त कर कण्ठादि

आठ स्थानों में निवास करने वाली समस्त वर्णों की माता हूँ, शब्दधेनु स्वरूप गौ बन कर अनेक भोगों को दूध के रूप में प्रस्तुत करती हूँ । इसलिये उदारबुद्धि वाले प्रजापति ने मुझ को हिरण्यवर्णा शब्द से स्तुति कर मेरी प्रसन्नता से योग धर्म का निरूपण किया है । अतः 'ॐ हिरण्यवर्णायै नमः'—यह मेरा नव अक्षरों वाला मन्त्र है । जो साक्षात् शब्द ब्रह्ममय है और योगियों के योग का साधक है ॥ ३७-४२ ॥

विमर्शिनी—निहितेत्यादिना हिरण्यवर्णेतिनामनिरुक्तिः । हिशब्दार्थो निहितेति । रणे; शब्दं करोमीत्यर्थः । तादात्विकनादस्य विवरणम्—भृङ्गवधूरिवेति । अच्युतम्; अविच्छिन्नमित्यर्थः ॥ ३७ ॥ वर्णशब्दं निर्वक्ति—चक्रकादिति । आधारचक्रादित्यर्थः । शान्ता = परेत्यर्थः । पश्या = पश्यन्ती ॥ ३९ ॥ वैखरीस्थानम् = कण्ठादीन्यष्टौ ॥ ४० ॥ ॐ हिरण्यवर्णायै नमः—इति नवाक्षरो मन्त्रः ॥ ४२ ॥

दूराद् दूरतरं यामि हरिणी योगिमानसात् ।
भक्त्या बध्नन्ति निजया योगिनो मां यतव्रताः ॥ ४३ ॥
षष्टिरष्टौ सहस्राणि योगिनो मत्परायणाः ।
हरिणीं मामनुध्याय प्रत्याहारं परं गताः ॥ ४४ ॥

अब **हरिणी शब्द का निर्वचन** करती हूँ—मैं हरिणी के समान योगियों के मन से निकलकर बहुत दूर चली जाती हूँ । अब हृ धातु का बन्धन अर्थ में निर्वचन करते हैं । नियमवान् योगी मुझे अपनी भक्ति से अपने हृदय में बाँध लेते हैं इसलिये हरिणी हूँ ।

यहाँ तक हरिणी के दो निर्वचन हुये अब अन्य निर्वचन कहती हूँ—मुझ में तल्लीन ६८ हजार योगीजन हरिणी स्वरूप में मेरा ध्यान कर प्रत्याहार (मोक्ष) को प्राप्त हो गए, इसलिये हरिणी हूँ ॥ ४३-४४ ॥

विमर्शिनी—हरिणीति नाम निरुच्यतेऽत्र । हरिणीवत् दूरधावनादिति, हरन्ति बध्नन्ति योगिन एनामिति च निर्वचनद्वयम् ॥ ४३ ॥

हरिणाजिनसंवीतां हरिणाजिनसंस्तराम् ।
हरिणाश्लिष्टमध्यां तां हरिणायतलोचनाम् ॥ ४५ ॥

मैं हरिण के चर्म से आच्छादित रहती हूँ इसलिये हरिणी हूँ । हरिण के चर्म के आसन पर आसीन रहती हूँ इसलिये हरिणी हूँ । मेरा मध्य भाग हरि से आश्लिष्ट है इसलिये हरिणी हूँ । मेरा नेत्र हरिणी के नेत्र के समान विशाल है, इसलिये मैं हरिणी हूँ ॥ ४५ ॥

विमर्शिनी—निर्वचनान्तरमाह—हरीत्यादि । हरिणास्येवाश्लिष्टमसंसृष्टं मध्यं

यस्याः, हरिणा विष्णुना आश्लिष्टं मध्यं यस्या इति वा निर्वचनम् ॥ ४५ ॥

हरिणीं मामनुस्मृत्य परां शान्तिमवाप्नुयात्।
हरिं नयामि कार्येषु नीये च हरिणा स्वयम्॥ ४६ ॥

मुझे हरिणी रूप में ध्यान कर लोग शान्ति प्राप्त करते हैं, इसलिये मैं हरिणी हूँ । मैं समस्त कार्यों में हरि का उपयोग करती हूँ, इसलिये मैं हरिणी हूँ अथवा हरि स्वयं अपने कार्यों में मेरा विनियोग करते हैं, इसलिये मैं हरिणी हूँ ॥ ४६ ॥

विमर्शिनी—निर्वचनान्तरं हरिमिति । "यदिङ्गितपराधीनो विधत्तेऽखिलम्" इत्यभियुक्ताः ॥ ४६ ॥

सदा हरिणभासाहं हारिणी दुरितं सताम् ।
प्रणवादिर्नमोऽन्तश्च मन्त्रोऽयं मे षडक्षरः ॥ ४७ ॥

मेरी शरीर की कान्ति हरिणी के समान है, इसलिये मैं हरिणी हूँ । मैं सज्जनों के पाप का हरण कर लेती हूँ, इसलिये मैं हरिणी हूँ । 'ॐ हरिण्यै नमः'—इस प्रकार आदि में प्रणव तथा अन्त में नमः लगाने से यह छह अक्षरों वाला मेरा मन्त्र हो जाता है ॥ ४७ ॥

विमर्शिनी—हरिणभासेति हारिणीति च निर्वचनद्वयम् । ॐ हरिण्यै नमः इति षडक्षरो मन्त्रः ॥ ४७ ॥

सर्वार्थसाधकः साक्षाद्योगसाधनमुत्तमम् ।
सौवर्णैः कल्पिता नित्यं मम माला सरोरुहैः ॥ ४८ ॥

अब **सुवर्ण रजतस्रजाम् का निर्वचन** करती हैं—इसमें सुवर्ण स्रक् और रजत स्रक् दो नाम हैं । यतः मेरी माला सुवर्ण वर्ण वाले कमलों से गूँथी हुई है जो सर्वथा योगियों की साधक तथा योगसाधन के कार्य में सर्वश्रेष्ठ है, इसलिये मैं सुवर्ण स्रक् हूँ ॥ ४८ ॥

विमर्शिनी—सुवर्णस्रक् रजतस्रगिति नामद्वयम् ॥ ४८ ॥

सृजामि शोभनान् वर्णान् सुष्ठु विश्वं वृणामि वा।
सृताश्चाभिमयाजस्रं बद्धमुक्तादयो ह्यजाः ॥ ४९ ॥

मैं शोभन वर्णों का सृजन करती हूँ, अथवा अच्छी प्रकार से मैं विश्व (विष्णु) का पतिरूप में वरण करती हूँ, अथवा इस विश्व को अपने वास स्थान के लिये वरण करती हूँ, इसलिये मैं सुवर्णा हूँ ॥ ४९ ॥

विमर्शिनी—सृजामीत्यादिना निर्वचनान्तरम् । सुष्ठु विश्वमित्यादिना तृतीयं

निर्वचनम् । "विश्वं विष्णुः" इति नामपाठात् विष्णुं पतित्वेन वृणे इति वा, विश्वं लोकं वासस्थानतया वृणे इति वा निर्वचनं भाव्यम् । स्रक्शब्दनिर्वचनमाह—सृजा इति ॥ ४९ ॥

सुवर्णस्रजमित्येवं गुह्यकानामधीश्वरः ।
मेरौ चिरमुपस्थाय धनेशत्वमवाप्तवान् ॥ ५० ॥

अब **स्रक् शब्द का निर्वचन** करती है । अनेक बद्ध मुक्त रूप माया का मैंने निर्माण किया है इसलिये मैं स्रक् हूँ । गुह्यक गणों के अधीश्वर कुबेर ने मेरु पर्वत पर चिरकाल तक अधिष्ठित रहकर सुवर्णस्रजम् इस नाम से मेरा उपस्थान कर धनेशत्व प्राप्त किया है, इसलिये मैं सुवर्णस्रक् हूँ ॥ ५० ॥

विमर्शिनी—उपाख्यानमुच्यते—गुह्यकानामिति ॥ ५० ॥

राजतैर्मे स्रजः पद्मै राजन्ते च स्रजोऽमलाः ।
राजिताश्च स्रजः सर्वे स्रष्टारो जगतां मया ॥ ५१ ॥

यतः मेरी माला कमलों से शोभा पाती है, अथवा मेरी माला स्वयं शोभित होती है अथवा जगत् के सम्पूर्ण स्रष्टा मेरे द्वारा निर्मित होने के कारण माला के समान शोभा पाते हैं इसलिये मैं रजतस्रक् हूँ ॥ ५१ ॥

विमर्शिनी—रजतस्रगिति नाम निरुच्यते—राजतैरिति । निर्वचनान्तरं राजन्त इति । राजिता इति च निर्वचनान्तरम् ॥ ५१ ॥

रजतस्रजमित्येव रुद्राणां प्रवरः पुरा ।
कैलासे समुपस्थाय रजताधिपतां ययौ ॥ ५२ ॥

एकादश रुद्रों के अधिपति श्री महादेव ने 'रजतस्रजाम्' इस नाम से मेरा उपस्थान कर कैलाशपर्वत पर अधिष्ठित होकर रजताधिपतित्व प्राप्त किया है, इसलिये मैं रजतस्रक् हूँ ॥ ५२ ॥

विमर्शिनी—उपाख्यानमुच्यते—रुद्राणामिति ॥ ५२ ॥

अष्टाक्षराविमौ मन्त्रौ सतारौ नमसा युतौ ।
जपार्चनहुतध्यानादभीष्टं साधयिष्यतः ॥ ५३ ॥

तार ॐ के सहित अन्त में नमः से युक्त 'ॐ सुवर्णस्रजे नमः', 'ॐ रजतस्रजे नमः', इस प्रकार आठ-आठ अक्षर के मेरे दो नाम हैं जो जप अर्चन, हवन तथा ध्यान मात्र से समस्त अभीष्टों को पूर्ण कर देते हैं ॥ ५३॥

विमर्शिनी—ॐ सुवर्णस्रजे नमः । ॐ रजतस्रजे नमः ॥ ५३ ॥

चंक्रम्यमाणा भक्तानां द्रावयामि च दुष्कृतम् ।
चन्द्रवत् सततं चित्तं भक्तानां द्रावयामि च ॥ ५४ ॥

अब **चन्द्रा शब्द का निर्वचन** करती है—मैं चङ्क्रमण करती हुई अपने भक्तों के सारे पापों को दूर भगा देती हूँ तथा अपने भक्तों के चित्त को चन्द्रमा के समान आर्द्र (दयालु द्रवीभूत) बना देती हूँ इसलिये चन्द्रा हूँ ॥ ५४ ॥

विमर्शिनी—चन्द्रेति नाम निरुच्यते—चंक्रम्यमाणेति । क्रम्धातोर्यङि चंक्रम्येति रूपम् । तत्र चं इति पदमादाय द्रा इत्यनेन योगे चन्द्रेति भवति । द्रा इति पदं निर्वक्ति—द्रावयामीति । द्रा इत्यस्यैव निर्वचनान्तरं चन्द्रवदिति ॥ ५४ ॥

उदेमि योगिनामन्तरानन्दस्पन्दलक्षणा ।
चतुर्थीं तु दशां तेषां चन्द्रवद्भासयामि च ॥ ५५ ॥

चन्द्र शब्द का अब अन्य निर्वचन करती हैं—योगियों के अन्तरात्मा में आनन्द स्पन्द के लक्षण से युक्त होकर मैं उदय प्राप्त करती हूँ । उन योगियों की तुरीयावस्था को मैं स्वयं चन्द्रमा के समान भासित करती हूँ, इसलिये चन्द्रा हूँ ॥ ५५ ॥

विमर्शिनी—निर्वचनान्तरमाह—उदेमीति । चतुर्थी दशा तुरीयावस्था ॥ ५५॥

योगान्तरायनिहतो वसिष्ठः परमो मुनिः ।
अन्तश्चन्द्रमयीं शुद्धां चिदानन्दमहोदधिम् ॥ ५६ ॥
नाडीस्थां मामनुस्मृत्य पुनः स्वं योगमाप्तवान् ।
आनन्दजनकः सद्यो मन्त्रोऽयं मे षडक्षरः ॥ ५७ ॥
भवदावाग्निदग्धानां निर्वृतिं प्रकरोत्ययम् ।

महामुनि वशिष्ठ योग में अन्तराय (विघ्न) उपस्थित होने के कारण योग में अवरुद्ध हो गए । तब चिदानन्द महा उदधि में रहने वाली शुद्ध चन्द्रमयी नाड़ी में निवास करने वाली मेरा ध्यान कर योग के सारे अन्तरायों को दूर कर पुनः अपने योग को प्राप्त कर लिया । अतः आनन्द का जनक यह छह अक्षरों वाला मेरा मन्त्र है—'ॐ चन्द्रायै नमः', जो कि संसार के त्रिताप से जलने वालों को सद्यः सुख प्राप्त कराता है ॥ ५६-५८- ॥

विमर्शिनी—उपाख्यानमुखेन निर्वचनान्तरमाह—योगेत्यादिना ॥ ५६ ॥ ॐ चन्द्रायै नमः—इति षडक्षरो मन्त्रः ॥ ५७ ॥

आधाराब्जाद् द्विषद्कान्तं सूर्यभासा हिरणमयी ॥ ५८ ॥
उदेमि सततं प्रोक्ता शब्दसङ्कल्पकोरकैः ।

प्रकृतेश्च परे व्योम्नि मण्डले च त्रयीमये ॥ ५९ ॥
हिरण्मयेऽवतिष्ठेऽहं हिताय जगतां सदा ।
तां मां हिरण्मयीत्येवं मुनयो वेदपारगाः ॥ ६० ॥

अब **हिरण्मयी नाम का निर्वचन** करती है—मूलाधार से आरम्भ कर द्वादशान्त पर्यन्त मैं हिरण्यमयी के रूप में सूर्य की किरणों के समान भासित होती हुई सतत् उदय प्राप्त करती हूँ । इसलिये शब्द सङ्कल्प करने वालों ने मेरा नाम हिरण्मयी रखा है । मैं हिरण्मय प्रकृति से परे आकाश में तथा त्रयीमय मण्डल में जगत् के कल्याण के लिये निवास करती हूँ । इसलिये वेदपारगामी मुनि लोग मुझे हिरण्मयी नाम से कहते हैं ॥ -५८-६० ॥

विमर्शिनी—हिरण्मयीति नाम निरुच्यते—आधारेत्यादि । द्विषट्कान्तम्; द्वादशान्तम् । सूर्यभासा = सूर्यस्येव भासा यस्या इति आकारान्तः शब्दः ॥५८॥ शब्दसङ्कल्पाः पश्यन्त्यादयः । तदात्मनोदेमीति इत्थंभूतलक्षणे तृतीया । निरुक्त्यन्तरं प्रकृतेरित्यादि ॥ ५९ ॥

स्तुत्वा समाप्नुवन् कामं योगिनो योगमुत्तमम् ।
सप्ताक्षरो ह्ययं मन्त्रः सर्वकामार्थसाधकः ॥ ६१ ॥

योगी लोग इस नाम से मेरी स्तुति कर उत्तम योग प्राप्त करते हैं । 'ॐ हिरण्मय्यै नमः'—यह सात अक्षर वाला मेरा मन्त्र है जो समस्त मनोरथों को पूर्ण कर देता है ॥ ६१ ॥

विमर्शिनी—ॐ हिरण्मय्यै नमः इति सप्ताक्षरो मन्त्रः ॥ ६१ ॥

साक्षिणी सर्वभूतानां लक्षयामि शुभाशुभम् ।
लक्ष्मीश्चास्मि हरेर्नित्यं लक्ष्यं सर्वमितेरहम् ॥ ६२ ॥

यहाँ से आरम्भ कर सात श्लोकों तक लक्ष्मी का निर्वचन है । अब दर्शन अर्थ वाले **लक्ष धातु से लक्ष्मी का निर्वचन** करते हैं—

साक्षिणी का अर्थ है—मैं सभी प्राणियों की साक्षिणी हूँ । उनके शुभाशुभ को देखती हूँ । लक्ष्मी का अर्थ है—भगवान् विष्णु की सर्व सम्पत्ति ही हूँ और समस्त प्रमिति (ज्ञान) का लक्ष्य हूँ ॥ ६२ ॥

विमर्शिनी—इत आरभ्य सप्त श्लोकाः लक्ष्मीनामनिर्वचनपराः । दर्शनार्थात् लक्षधातोर्निर्वचनमाह—साक्षिणीति । लक्ष्मीश्चेति । हरेः लक्ष्मीः सर्वसम्पदित्यर्थः । अत्र "श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते" "अप्रमेयं हि तत्तेजो यस्य सा जनकात्मजा" इत्यादिकं भाव्यम् । लक्ष्यमिति । सर्वप्रमितेः प्रमेयेत्यर्थः ॥ ६२ ॥

ददती क्षेपणी चास्मि नित्या त्रिप्रेरणी तथा ।
तथा ज्ञानस्वरूपाहं लक्षणीया मितौ मितौ ॥ ६३ ॥

अब **क्षिप् धातु से लक्ष्मी का निर्वचन** करते हैं—मैं ही देने वालों को तीन तीन बार प्रेरणा करने वाली हूँ तथा मैं मिति (शब्द) 'माङ् माने शब्दे च' में ज्ञानस्वरूप लक्षण से जानी जाती हूँ इसलिये लक्ष्मी हूँ । (अर्थात् लक्ष्मी शब्द ला दाने तथा क्षिप् प्रेरणे से निष्पन्न है) ॥ ६३ ॥

विमर्शिनी—क्षिप्धातोर्निर्वचनमाह—क्षेपणीति । तस्यैव विवरणं त्रिप्रेरणीति । कायवाङ्मनसानां प्रेरयित्रीत्यर्थः । अत्र "ला दाने" "क्षिप प्रेरणे" इति धातुद्वया-न्निष्पत्तिरभिप्रेता तथाहं ज्ञानस्वरूपा लक्षणीया ॥ ६३ ॥

लये निवासे निर्माणे प्रेरणी प्रकृतेरहम् ।
लक्षणाख्यस्य भावस्य कलाकाष्ठादिरूपिणी ॥ ६४ ॥

मैं इस जगत् के सृष्टि, स्थिति और संहार के लिये प्रकृति को प्रेरित करने वाली हूँ इसलिये लक्ष्मी हूँ । सभी लक्षणात्मक भावों की प्रेरिका हूँ इसलिये लक्ष्मी हूँ ॥ ६४ ॥

विमर्शिनी—लये इति । सृष्टिस्थितिसंहारेषु प्रकृतिं प्रेरयामीति लक्ष्मीरहम् । लक्ष्यन्ते प्रमीयन्ते इति लक्षणानि सर्वे भावाः । तेषां क्षेपणी इति निरुक्तिः ॥६४॥

अव्यक्तव्यक्तसत्त्वस्था प्रेरयित्री सदास्म्यहम् ।
लक्षं नयामि चात्मानं लामि चान्ते क्षिपामि च ॥ ६५ ॥

अव्यक्त और व्यक्त सत्त्वों में रहकर मैं उन्हें सदैव प्रेरित करती हूँ इसलिये लक्ष्मी हूँ । मैं अपने को लक्ष तक पहुँचाती हूँ और अन्त में उसी में लीन हो जाती हूँ । फिर प्रेरणा करती हूँ इसलिये लक्ष्मी हूँ । (यह निर्वचन ली धातु तथा क्षिप् धातु से किया गया है) ॥ ६५ ॥

विमर्शिनी—लक्षमित्यादि निरुक्त्यन्तरम् तथा लामीत्यपि । लीना भवामी-त्यर्थः । क्षिपामि = प्रेरयामि । अत्र लीधातुं क्षिपधातुं चादाय निर्वचनम् ॥ ६५॥

क्षिपामि क्षपयाम्येका क्षिणोमि दुरितं सताम् ।
क्षमे क्षमा हि भूतानां मिमे मन्ये च मामि च॥ ६६ ॥

मैं स्वयम् प्रेरित करती हूँ, प्रेरणा कराती हूँ, सज्जनों के पापों को नष्ट करती हूँ । क्षमा करती हूँ, क्षमा स्वरूपा हूँ, सभी प्राणियों का संहार करती हूँ, सबकी गति हूँ । सबका मान करती हूँ । सबको प्रमाणित करती हूँ, इसलिये लक्ष्मी हूँ ॥ ६६ ॥

विमर्शिनी—निर्वचनान्तरमाह—क्षिपामीति । क्षमाधातोः व्युत्पत्तिमाह—क्षमे इति । मीशब्दव्युत्पत्तिमाह—मिमे इत्यादिना ॥ ६६ ॥

इत्येतान् मयि दृष्ट्वार्थान् परमर्षिरुदारधीः ।
लक्ष्मीर्लक्षय मेत्येव कपिलो मुनिरुक्तवान् ॥ ६७ ॥

मुझ में इतने अर्थों को देखकर उदार बुद्धि वाले महर्षि कपिल ने कहा था—'हे लक्ष्मी ! मेरी ओर अपनी कृपा कटाक्ष से देखो' ॥ ६७ ॥

विमर्शिनी—हे लक्ष्मीः मा = मां, लक्षय = कटाक्षयेति कपिलो मुनिरुवाचेत्यर्थः ॥ ६७ ॥

पञ्चाक्षरो ह्ययं मन्त्रः पातालगतिसाधनः ।
दिव्यान्तरिक्षभौमानां भोगानामुपपादनः ॥ ६८ ॥

'ॐ लक्ष्म्यै नमः'—यह पाँच अक्षर का मेरा मन्त्र है जो पाताल तक पहुँचने की गति देता है । यह दिव्य अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी पर्यन्त समस्त भोगों का साधन है ॥ ६८ ॥

विमर्शिनी—ॐ लक्ष्म्यै नमः इति पञ्चाक्षरो मन्त्रः ॥ ६८ ॥

तनुर्ज्ञानमयी सा मे विष्णोर्हृदि च वर्तते ।
आत्मज्ञानमिदं पुण्यं योगज्ञानमिदं परम् ॥ ६९ ॥

अब 'अनपायिनी' का निर्वचन करते हैं । मैं ज्ञानमय शरीर से विष्णु के हृदय में निवास करती है, मैं विष्णु को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहती इसलिये मैं अनपायिनी हूँ । यही पुण्य आत्मज्ञान है, यही सर्वश्रेष्ठ योग ज्ञान है ॥ ६९॥

विमर्शिनी—अनपगामिनीति नाम निर्वक्ति—तनुरिति । विष्णोरनपायित्वात् अनपगामिनीति नाम ॥ ६९ ॥

भानामिव गता कान्तिः शीतरश्मौ सदा तथा ।
शक्तिः शक्तिमतो विष्णोः स्थिताहमनपायिनी ॥ ७० ॥

अब **अनपायिनी का अन्य निर्वचन** करते हैं—जैसे समस्त प्रकाशों की शक्ति चन्द्रमा में एकत्रित होकर स्थिर हो जाती है, उसी प्रकार शक्तिमान् महाविष्णु की शक्ति भी मुझ में स्थित है । इसलिये भी मैं अनपायिनी हूँ ॥ ७० ॥

अपश्चाहमयाम्येका द्रवो भूत्वा गुणो महान् ।
अपावाहयमादौ च मुनिं भूत्वा सरस्वती ॥ ७१ ॥

सारस्वते जले पूर्वं विश्वामित्रोदिता सती ।
अपोवाह वसिष्ठं तं सत्यसन्धा सरस्वती ॥ ७२ ॥
ऋषयः प्राहुरेवं मां वसिष्ठे स्रोतसा हृते ।
सत्ये सत्यप्रियं पाहि वसिष्ठं शात्रवादिति ॥ ७३ ॥

अब अनपायिनी के नाम में इतिहास कहते हैं—मैं अकेली ही महान् गुणों से युक्त द्रव रूप होकर जल रूप में परिणत हो जाती हूँ । पूर्वकाल में मैं विश्वामित्र के कहने से सरस्वती नदी बनकर महामुनि वशिष्ठ को अपने जल में बहा ले गई थी क्योंकि सरस्वती सत्यसन्धा है । इस प्रकार सरस्वती के जल से महर्षि वशिष्ठ के अपहृत कर लिये जाने पर मुनियों ने सरस्वती स्वरूपा मुझ से कहा—भगवति सरस्वति ! आप जैसे सत्यप्रिय हो, उसी प्रकार महर्षि वशिष्ठ भी सत्यप्रिय हैं । अतः विश्वामित्र रूप शत्रु से महर्षि वशिष्ठ की रक्षा करे ॥ ७१-७३ ॥

विमर्शिनी—निर्वचनान्तरमाह—अपश्चेति । अप्सु द्रवाख्यो गुणोऽहम् । तस्मात् ताभ्यो नापैमीत्यर्थः । निर्विचनान्तरमाह—अपावाहयमिति । अपोपसर्गात् वाहयतेर्लङ् ॥ ७१ ॥ विश्वामित्रेणोक्ता सती तत्प्रतिद्वन्द्विनं वसिष्ठं जले अहमपोवाहेति लिट् ॥ ७२ ॥ एवमपगामिनीशब्दं निष्पाद्याधुना तद्विपर्यय-वाचितामाह—ऋषय इति । शात्रवात् पाहीति मां प्राहुरित्यन्वयः ॥ ७३ ॥

साहं सरस्वती भूत्वा तमपोवाह शात्रवात् ।
ऋषयो नाम चक्रुर्मे तदा ह्यनपगामिनीम् ॥ ७४ ॥

वही मैं सरस्वती बनकर महर्षि वशिष्ठ को अपने जल से बाहर निकाल कर विश्वामित्र रूप शत्रु से उनकी रक्षा की थी । इसलिये महर्षियों ने मेरा नाम 'अनपगामिनी' रख दिया । मन्त्र—ॐ अनपगामिन्यै नमः ॥ ७४ ॥

विमर्शिनी—अहं तं वसिष्ठं शात्रवादपोवाह अपावाहयम्; अपासारय-मित्यर्थः ॥ ७४ ॥

नवाक्षरो ह्ययं मन्त्रः सर्वापद्विनिवारणः ।
अश्वा पूर्वाहनी चास्मि वसामि च पुरे सदा ॥ ७५ ॥

नव अक्षर वाला यह मन्त्र सभी आपत्तियों को दूर भगा देता है । अश्वपूर्वारथमध्यां हस्तिनादप्रबोधिनी अश्वापूर्वाहनी । मैं बुद्ध्यादि पुरों में अश्व रूपा एवं पूरूपा अर्थात् वाहनी रूपा हूँ और वहीं उन-उन रूपों में निवास भी करती हूँ । बुद्धि को अनेकानेक विषयों में आकृष्ट कर दौड़ाती रहती हूँ, इसलिये अश्वा हूँ । प्राण में निवास करने के कारण पूः हूँ । आत्मा बनकर शरीर का

वहन करती हूँ, इसलिये वाहनी हूँ ॥ ७५ ॥

विमर्शिनी—ॐ अनपगामिन्यै नमः । अहं बुद्ध्यादिरूपे पुरे अश्वरूपा पूरूपा वाहनी चास्मि । तत्र वसामि च । बुद्धिं नानाविषयेष्वाकृष्य धावनात् अश्वा । प्राणावासस्थानभूता पूः । आत्मतया शरीरवहनात् वाहनी । अतः अश्व-पूर्वेति नाम ॥ ७५ ॥

बुद्धिप्राणशरीराख्ये त्रिविधे त्रिविधात्मना ।
अश्वानां हेषवन्नादं योगारम्भे करोमि च ॥ ७६ ॥

इस प्रकार बुद्धि प्राण और शरीर इन तीनों में तीन रूप से निवास करने के कारण मैं अश्वा, पू. और वाहनी हूँ । अब इसका पक्षान्तर कहते हैं—मैं योगारम्भ में सबसे पहले घोड़े की तरह हेषा (हिनहिनाती) शब्द करती हूँ, इसलिये अश्वा हूँ । मन्त्र—ॐ अश्वपूर्वायै नमः ॥ ७६ ॥

विमर्शिनी—पक्षान्तरमाह—अश्वानामिति । पूर्वं योगारम्भे अश्वेव नदामि । अश्वपूर्वायै नमः ॥ ७६ ॥

नाडीमध्यं समायाता करोमि रथवद् ध्वनिम् ।
व्योमरन्ध्रमनुप्राप्ता हस्तिनादविनादिनी ॥ ७७ ॥

अब **रथमध्या का निर्वचन** करती हैं—यतः मैं नाड़ी मध्य में पहुँचकर रथ के समान ध्वनि उत्पन्न करती हूँ, इसलिये रथमध्या के नाम से जानी जाती हूँ। मन्त्र—ॐ रथमध्यायै नमः । जब व्योम रन्ध्र में पहुँच जाती हूँ, तब हाथी की तरह चिग्घाड़ती हूँ, इसलिये हस्तिनाद प्रबोधिनी कही जाती हूँ । मन्त्र—ॐ हस्तिनादप्रबोधिन्यै नमः ॥ ७७ ॥

विमर्शिनी—रथमध्यानामनिर्वचनम्—नाडीति । हस्तिनादप्रबोधिनीति नाम निर्वक्ति—व्योमेत्यादि । ॐ अश्वपूर्वायै नमः । ॐ रथमध्यायै नमः । ॐ हस्तिनादप्रबोधिन्यै नमः ॥ ७७ ॥

योगिनो यतमाना मां त्रिधैवं प्रतिपेदिरे ।
आद्यावष्टाक्षरौ मन्त्रावन्त्य एकादशाक्षरः ॥ ७८ ॥

मुझे प्राप्त करने में प्रयत्नशील महामुनियों ने इस प्रकार मेरा तीन नामकरण किया । जिसमें आदि के दो मन्त्र आठ अक्षर के हैं और अन्तिम एकादश अक्षर का है ॥ ७८ ॥

अभीप्सितप्रदा ह्येते त्रयो मन्त्रा हि मन्मयाः ।
शृणोमि करुणां वाचं शृणामि दुरितं सताम् ॥ ७९ ॥

अब **श्री नाम का निर्वचन** करती हैं—मैं करुणापूर्ण बात सुनती हूँ (श्रु श्रवणे) । सज्जनों का पाप नष्ट करती हूँ (शृ हिंसायाम्) ॥ ७९ ॥

विमर्शिनी—श्रीनामनिर्वचनमारभते—शृणोमीत्यादिना । "श्रु श्रवणे" "शृ हिंसायाम्" "शृ विस्तारे" इति धातवः ॥ ७९ ॥

श‍ृणामि च गुणैर्विश्वं शरणं चास्मि शाश्वतम् ।
शरीरं च हरेरस्मि श्रद्धया चेप्सिता सुरैः ॥ ८० ॥

मैं अपने गुणों से विश्व का विस्तार करती हूँ (शृ विस्तारे) । मैं सबको निरन्तर शरण देती हूँ । मैं विष्णु का शरीर हूँ, देवता लोग श्रद्धापूर्वक मुझे चाहते हैं ॥ ८० ॥

विमर्शिनी—यहाँ 'शकार और रकार लेकर ईकार से संयुक्त करने पर श्री शब्द की निष्पत्ति कही गई है । श्रद्धयेति । अस्मात् शकारं रेफं चादाय ईप्सितपदादीकारं संयोज्य श्रीशब्द इति भावः ॥ ८० ॥

शान्ताधारपदस्थास्मि पश्या रन्ती च नाभिजा ।
प्रेरणी च धियां मध्या सृष्टिर्वक्त्रे तथार्णसाम् ॥ ८१ ॥

मूलाधार में मैं शान्ता हूँ । नाभि से उत्पन्न पश्या हूँ, रन्ती हूँ, धिया प्रेरणी और मध्या हूँ, तथा मुख में समस्त वर्णों की सृष्टिभूता वैखरी हूँ ॥८१॥

विमर्शिनी—यहाँ शान्ता पद का 'श' रन्ती पद का 'रेफ' प्रेरणी पद का ईकार लेकर 'श्री' का निर्वचन किया गया है । शान्तेत्यादि । शान्तापदात् शकारं, रन्तीपदात् रेफं, प्रेरणीपदादीकारं चादाय श्रीशब्द इति भावः । अर्णसां वर्णानां सृष्टिरिति वैखरीरूपमुच्यते ॥ ८१ ॥

चतुःस्थानस्थिता चैवं शान्तापश्यादिभेदिनी ।
श्रयामि श्रयणीयास्मि शक्तिभी रेमि रामि च॥ ८२ ॥

इस प्रकार शान्ता (परा), पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी भेदों से मैं आधारादि चार स्थानों में स्थित रहती हूँ । विष्णु का आश्रय ग्रहण करती हूँ इसलिये श्रया हूँ, जयादि शक्तियों से सेव्य हूँ, इसलिये श्रयणीया हूँ । आश्रितों के पापों को नष्ट करती हूँ (रेमि) और उन्हें समस्त कामनायें प्रदान करती हूँ । (रामि) ॥ ८२ ॥

विमर्शिनी—श्रयामि विष्णुम् । श्रयणीया; शक्तिभिः जयादिभिः सेव्या । रेमि = आश्रितपापानि क्षिणोमि । रामि = सर्वान् कामान् ददामि ॥ ८२ ॥

इति त्र्यन्ततत्त्वज्ञाः श्रियं मां विदुरञ्जसा ॥ ८३ ॥

अपनी शक्ति से प्रकाश करती हूँ (उज्ज्वलिनी)। साक्षात् मङ्गलस्वरूपा हूँ (शंतमा)। सबको रति प्रदान करती हूँ (रतिस्वरूपा)। सबकी ईप्सिता (प्रार्थनीया) हूँ। यहाँ भी शंतमा रति और ईप्सिता इन तीन पदों से शकार, रेफ और ईकार लेकर श्री शब्द की निष्पत्ति अभिप्रेत है। इसलिये वेदान्त के तत्त्वज्ञों ने मुझे श्री कहा है ॥ ८३ ॥

विमर्शिनी—शक्तेः प्रकाशयित्री। शंतमा = मङ्गलतमा। रतिरूपा। ईप्सिता = प्रार्थनीया। अत्रापि पदत्रयात् शकाररेफेकारान् संयोज्य श्रीशब्दनिष्पत्तिरभिप्रेतात्र प्रयोज्यम् ॥ ८३ ॥

अपि नाथो विभूतिर्मे त्रैलोक्यं सेश्वरामरम्।
परां मदीयवर्णस्य कलां नार्हति षोडशीम् ॥ ८४ ॥

त्रैलोक्य की प्रभुता समस्त विभूतियों, ईश्वर और सोलहवीं देवता समेत सारा त्रैलोक्य मेरे मन्त्र वर्णों के इस परा कला की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं कर सकते ॥ ८४ ॥

आद्ये पदत्रये वर्णाः श्रींह्रीमोमिति मन्मयाः।
एष वैभिश्चतुर्भिस्तैर्मदीयं धार्यते वपुः ॥ ८५ ॥

आद्य श्री पद में शर ई ये तीन वर्ण जो श्रीं फिर ह्रीं ओम् ये मेरे स्वरूप हैं। इसके बाद श्रियै नमः यह मन्त्र, ये चार ही मेरे शरीर को धारण किये हुये हैं। (श्रीं, ह्री, ॐ, ॐ श्रियै नमः) ॥ ८५ ॥

विमर्शिनी—एष वेति। ॐ श्रियै नमः इति मन्त्रश्चेत्यर्थः। एभिश्चतुर्भिरिति। श्रीं, ह्रीं, ॐ, ॐ श्रियै नमः इत्येतैश्चतुर्भिरित्यर्थः ॥ ८५ ॥

एकैकशो द्विशो वापि त्रिशो वा सर्व एव वा।
जप्तार्चितहुतध्याताः साधयेयुरभीप्सितम् ॥ ८६ ॥

इनमें एक-एक, अथवा दो-दो, अथवा तीन-तीन, अथवा सभी वर्ण का जप करने से, अर्चना करने से और ध्यान करने से ये साधक के सभी अभीष्टों को पूरा करते हैं ॥ ८६ ॥

प्रयत्नेनैव गोप्यं तदेतद्रत्नचतुष्टयम्।
अन्योन्यफलितं सर्वैरशेषैरधिकं गुणैः ॥ ८७ ॥

ये चारों ही चार रत्न हैं। इसलिये प्रयत्नपूर्वक इनको गुप्त ही रखे। इनमें एक-एक वर्ण अन्य सभी के फल प्रदान करते हैं। फिर सम्पूर्ण वर्ण

जो गुणों में अधिक हैं वे तो अधिकाधिक फल प्रदान करते ही हैं ॥ ८७॥

मिमे मीयेऽखिलैर्मानैर्मयि माति जगत् क्षये ।
आत्मेश्वरवती चाहं व्याप्तायां मयि मेति धीः ॥ ८८ ॥

अब **'मा' का निर्वचन** करती है—मैं सबको जहाँ-तहाँ प्रक्षिप्त करती हूँ। (मिङ् प्रक्षेपणे स्वादि मिमे लिट् लकार) मैं समस्त लोकों की हिंसा करती हूँ। (मीङ् हिंसायाम् दिवादि मीये) जगत् के क्षय होने पर सारा जगत् मुझ में समा जाता है। इसलिये माति हूँ (मा माने भ्वादि)। मैं स्वयं ईश्वरी हूँ, सारे जगत् में मेरे व्याप्त होने के कारण यह मेरा है—ऐसी बुद्धि होती है, अतः मा हूँ (अस्मत् शब्द से निष्पन्न है)॥ ८८ ॥

विमर्शिनी—मेति नामनिर्वचनम्—मिमे इत्यादिना । सर्वं प्रमिनोमि । मीये; प्रमीये । माति; परिमितं भवति । आत्मेत्यादि; अस्मच्छब्दान्निष्पन्नं मशब्दमादायार्थ उपवर्ण्यते । मेति धीरिति । अहमर्थधीरित्यर्थः ॥ ८८ ॥

आत्मवच्चेप्सितात्यर्थमतो मां मद्विदो विदुः ।
पञ्चाक्षरो ह्ययं मन्त्रः सर्वकामफलप्रदः ॥ ८९ ॥

मुझे सब लोग अपनी आत्मा के समान चाहते हैं । इसलिये लोग मुझे 'मा' कहते हैं । 'ॐ मायै नमः' यह पाँच अक्षर का मन्त्र है जो सारी कामनाओं को पूर्ण करता है ॥ ८९ ॥

विमर्शिनी—आत्मवदिति । म इव मेति व्युत्पत्तिरिति भावः । ॐ मायै नमः ॥ ८९ ॥

प्रदात्री सर्वकामानामवित्री सर्वकर्मणाम् ।
देवस्य दयिता चास्मि देवीं मां मुनयो विदुः ॥ ९० ॥
पञ्चाक्षरो ह्ययं मन्त्रो भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ।

अब **देवी शब्द की व्युत्पत्ति** करती हैं—मैं सभी कामनायें प्रदान करती हूँ और समस्त कर्मों की रक्षा करती हूँ, देवाधिदेव की दयिता हूँ (देव शब्द से पुंयोग में ङीष्) इसलिये मुनियों ने मुझे देवी कहा है (दा दाने अव् रक्षणे) 'ॐ देव्यै नमः' पाँच अक्षरों वाला यह महामन्त्र भुक्ति मुक्ति रूप फलप्रदान करने वाला है ॥ ९०-९१- ॥

विमर्शिनी—देवीशब्दं निर्वक्ति—प्रदात्रीति । दाधातुमवधातुं चादाय निरुच्यते । देवस्य दयितेति । पुंयोगे ङीषिति भावः । ॐ देव्यै नमः ॥ ९० ॥

शब्दाये सर्वभूतानामन्तःस्था चिन्मयी सदा ॥ ९१ ॥

अब **'कां सोऽस्मिताम्' यहाँ 'कां'** यह पृथक पद है अब उसका निर्वचन करती हैं--चिन्मयी मैं सभी प्राणियों के भीतर रहकर शब्द करती हूँ। इसलिये 'काम्' हूँ (कै शब्दे भ्वादिगणीय धातु है) ॥ -९१ ॥

विमर्शिनी—"कां सोऽस्मिताम्" इत्यत्र कामिति पृथक् पदम्। केति नाम निर्वक्ति—शब्दाये इति। शब्दं करोमीत्यर्थः ॥ ९१ ॥

कायै च निखिलैर्वेदैरन्विष्ये केति चाखिलैः।
ब्रह्मरूपधरा चाहं जटामण्डलधारिणी ॥ ९२ ॥
सृजामि विविधान् भावान्स्वाध्यायाध्यायतत्परान्।
अतः कामिति मां प्राहुर्मुनयो वेदपारगाः ॥ ९३ ॥
पञ्चाक्षरो ह्ययं मन्त्रः स्वाध्यायफलदायकः।

निखिल वेदों से प्रतिपाद्य उस परब्रह्म को, वह कौन है ? उसे सब प्रकार से अन्वेषण करती हूँ, इसलिये 'काम्' हूँ। मैं जटा मण्डल धारण कर (क = ब्रह्म) ब्रह्म स्वरूप से स्वाध्याय के अध्ययन में तत्पर अनेक लोगों की सृष्टि करती हूँ। इसलिये वेद पारगामी महर्षियो ने मुझे 'काम्' कहा है। 'ॐ कायै नमः'—यह पाँच अक्षर वाला मन्त्र है जो स्वाध्याय का फल देने वाला है ॥ ९२-९४- ॥

विमर्शिनी—कायै इति प्रतिपाद्ये इत्यर्थः। किंशब्दमादायाह—अन्विष्ये इति। क इति ब्रह्मणो नामेति मत्वाह—ब्रह्मेत्यादि। ॐ कायै नमः ॥ ९२ ॥

उदिति ब्रह्मणो नाम विकस्तिस्तस्य तु स्मितम् ॥ ९४ ॥
मय्यायत्ता विकस्तिः सा सोस्मितां मां ततो विदुः।
सप्ताक्षरो ह्ययं मन्त्रो विकस्तिं भूयसीं वहेत् ॥ ९५ ॥

अब **सोस्मिता का निर्वचन** करती हैं—(स उत स्मिता) 'उत्' यह ब्रह्म का नाम है। यह सारा जगत् का विकास वृहत्त्व उसका स्मित् है। इस प्रकार 'उत्स्मित्' रूप निष्पन्न होता है। उस उत्स्मित के सहित जो है, वह सोस्मित है। उस ब्रह्म का सोस्मित मेरे आधीन है। अतः मैं सोस्मिता हूँ। 'ॐ सोस्मितायै नमः' ॥ यह सात अक्षर वाला मन्त्र साधक का बहुत बड़ा विकास करता है ॥ -९४-९५ ॥

विमर्शिनी—सोस्मितेति नाम निर्वक्ति—उदितीति। "तस्योदिति नाम" इति श्रुत्यर्थोऽत्राभिप्रेतः। तस्य ब्रह्मणो या विकस्तिर्विकासो बृहत्त्वमिति यावत्; सा विकस्तिरेव स्मितम्। उस्मितमिति रूपम्। तेन सहिता सोस्मिता। भगवतो नारायणस्य यत् बृहत्त्वं, तत् एतदायत्तमित्युक्तं भवति। यदाहुः—"अपाङ्ग

भूयांसो यदुपरि परं ब्रह्म तदभूत्'' इति । ॐ सोस्मितायै नमः ॥ ९४ ॥

हिता च रमणीया च मदीया प्रकृतिः परा ।
तां सत्त्वरूपामालम्ब्य तरन्ति मुनयस्तमः ॥ ९६ ॥
अतो हिरण्यप्राकारामृषयो मामुपासते ।
दशाक्षरो ह्ययं मन्त्रः सर्वकामसमृद्धिदः ॥ ९७ ॥

अब **'हिरण्यप्रकाराम्' का निर्वचन** करती हैं—मेरी परा प्रकृति सबके लिये हितकारिणी एवं रमणीय है । उसके सत्त्वस्वरूप का ध्यान कर मुनि लोग अज्ञान को नष्ट कर देते हैं । इसलिये ऋषि लोग मुझे हिरण्यप्राकार के रूप में उपासना करते हैं । यहाँ प्राकार शब्द प्रकृति का वाचक है । 'ॐ हिरण्यप्राकारायै नमः' दश अक्षर का यह महामन्त्र समस्त कामनाओं को समृद्धि प्रदान करता है ॥ ९६-९७ ॥

विमर्शिनी—हिरण्यप्राकारेति नाम निरुच्यते—हिता चेति । प्राकारशब्दः प्रकृतिपरः । ॐ हिरण्यप्रकारायै नमः ॥ ९६ ॥

आरादशेषदोषाणां द्राविणी मामुपेयुषाम् ।
अधोमुखाच्छिरःपद्मात् स्रुतयामृतधारया ॥ ९८ ॥
अभिषिक्ता सदार्द्रास्मि दययार्द्रान्तरास्मि च ।

अब **'आर्द्राम्' का निर्वचन** करती हैं—मैं अपने शरण में आये हुये भक्तों के अशेष पापों को दूर कर देती हूँ, इसलिये आर्द्रा हूँ । शिर में रहने वाले अधोमुख पद्मों से गिरने वाली अमृत धारा से मैं सदैव अभिषिक्त रहने के कारण मैं सदा ही आर्द रहती हूँ । इसलिये आर्द्रा हूँ । अन्तःकरण में रहने वाली दया से मैं आर्द्र (कृपामयी) रहती हूँ । इसलिये आर्द्रा हूँ ॥ ९८-९९- ॥

विमर्शिनी—आद्रेति नाम निर्वक्ति—आरादिति । दूरे इत्यर्थः । निर्वचनान्तरम् —अधोमुखादिति ॥ ९८ ॥ ज्वलन्तीति नाम निर्वक्ति—ज्वलामीति ॥ ९९ ॥

ज्वलामि सर्वभूतान्तर्गगने परमे सदा ॥ ९९ ॥
शुद्धा निरञ्जना सत्या भासयन्ती जगत् त्विषा ।
अशिखा त्रिशिखा चाहं पञ्चपञ्चशिखावती ॥ १०० ॥
सप्तधा च पुनस्त्रेधा ज्वलामि वपुषि स्थिता ।
षडक्षराविमौ मन्त्रौ निर्वृत्यौज्ज्वल्यदायकौ ॥ १०१ ॥

अब **'ज्वलन्ती' का निर्वचन** करती हैं—मैं समस्त प्राणियों के हृदयाकाश में सर्वदा जलती रहती हूँ इसलिये ज्वलन्ती हूँ । मैं शुद्धा, निरञ्जना और सत्या हूँ । अपनी त्विषा से सारे जगत् को भासित करती हूँ, इसलिये ज्वलन्ती हूँ ।

मैं परा रूप से अशिखा हूँ । मध्यमा, पश्यन्ती एवं वैखरी रूप से त्रिशिखा हूँ। कादिम पर्यन्त वर्णों से २५ पञ्चविंशति शिखा हूँ । यकारादि सकारान्त वर्णों से सप्त शिखा हूँ । 'ह ल क्ष' इन तीन वर्णों से त्रिशिखा हूँ । इस प्रकार शरीर में ज्वाला रूप से स्थित रहती हूँ । 'ॐ आर्द्रायै नमः, ॐ ज्वलन्त्यै नमः' इस प्रकार ये दोनों मन्त्र छह-छह अक्षरों के हैं । जो निर्वृत्ति (शान्ति) और औज्ज्वल्य (तेज) के दायक हैं ॥ -९९-१०१ ॥

विमर्शिनी—शब्दब्रह्मस्वरूपत्वमाह—शुद्धेति । अशिखेति परारूपमुच्यते । पश्यन्तीमध्यमावैखरीभेदेन त्रिशिखा । स्पर्शात्मना पञ्चविंशतिशिखा ॥ १०० ॥ यादिसान्तधारणाव्यूहात्मना सप्तधा । हलक्षात्मना त्रिधा चेत्यर्थः । ॐ आर्द्रायै नमः । ॐ ज्वलन्त्यै नमः इति मन्त्रोद्धारः ॥ १०१ ॥

हरौ प्रीतिमती नित्यं तृप्ता भक्तेषु नित्यदा ।
प्राकृतैश्च विना भोगैर्नित्यतृप्तास्म्यहं स्वतः ॥ १०२ ॥

अब **तृप्ता नाम का निर्वचन** करती हैं—मैं विष्णु में प्रीति रखती हूँ । इसलिये तृप्ता हूँ । भक्तों में नित्य तृप्त रहती हूँ । इसलिये तृप्ता हूँ (तृप प्रीतौ, तृप् तृप्तौ) मैं प्राकृत भोगों के बिना स्वतः ही तृप्त रहती हूँ । इसलिये तृप्ता हूँ ॥ १०२ ॥

विमर्शिनी—तृप्तेते नाम्नो निर्वचनमाह—हराविति । प्राकृतैर्विनेति = अप्राकृतैरित्यर्थः । ॐ तृप्तायै नमः ॥ १०२ ॥

तां मां तृप्तामनुध्याय मुनयो वेदपारगाः ।
ज्ञानमूलां परां तृप्तिं नित्यां प्राप्ताः सुधामयीम् ॥ १०३ ॥
षडक्षरो ह्ययं मन्त्रस्तर्पयत्यखिलं जगत् ।

वेदपारगामी महर्षिगणों ने स्वतः तृप्त रहने वाली मेरा ध्यान कर ज्ञान ही जिसका मूल है, ऐसी सुधामयी तृप्ति प्राप्त किया था । इसलिये मैं तृप्ता हूँ । 'ॐ तृप्तायै नमः'—इस प्रकार से यह छह अक्षर का मन्त्र सारे जगत् को तृप्त करता है ॥ १०३-१०४- ॥

तर्पयामि गुणैर्विष्णुमात्मानं तद्गुणैरपि ॥ १०४ ॥

अब **'तर्पयन्ती' का निर्वचन** करती हैं—मैं अपने गुणों से विष्णु को तृप्त करती हूँ और उन भगवान् विष्णु के गुणों से स्वयं भी तृप्त रहती हूँ । इसलिये तर्पयन्ती हूँ ॥ -१०४ ॥

विमर्शिनी—तर्पयन्तीति नामाह—तर्पयामीति । तर्पणं च बहूनां बहुभिः साधनैर्वर्णयति—गुणैरित्यादिना ॥ १०४ ॥

द्विसप्तत्या सहस्रेण नाडीनां देहसागरम् ।
तर्पयामि रसैर्नित्यं प्राणानां प्रेरणावशात् ॥ १०५ ॥

मैं बहत्तर हजार नाड़ियो से शरीर रूप समुद्र को तृप्त करती हूँ और नाड़ियों में प्रेरणा उत्पन्न करके रसों से प्राण को तृप्त करती हूँ । इसलिये तर्पयन्ती हूँ ॥ १०५ ॥

विमर्शिनी—देहे द्वासप्ततिर्नाड्यः योगशास्त्रप्रसिद्धाः । अत्र देहस्य = सागरत्वेन, नाडीनां = नदीत्वेन, प्राणानां = वायुत्वेन, रसानां = जलत्वेन चाध्यवसायो विवक्षितः ॥ १०५ ॥

सौषुम्नेनाध्वना नित्यं परं भावमुपेयुषाम् ।
बिम्बभावमुपेताहं विमले योगदर्पणे ॥ १०६ ॥
आत्मबिम्बसमुद्भूतैः परमार्थैः सुधारसैः ।
चिन्मयैस्तर्पयाम्यन्तर्योगिनां सत्त्वमुत्तमम् ॥ १०७ ॥

मैं सुषुम्ना मार्ग से नित्य परभाव को प्राप्त होने वाले योगियों के विमल योग रूप दर्पण में विम्ब भाव को प्राप्त कर अपने विम्ब से उत्पन्न चिन्मय सुधा रसों से योगियों के अत्यन्त उत्तम सत्त्व (बल, तेज, पराक्रम एवं वीर्य) को तृप्त करती रहती हूँ । इसलिये तर्पयन्ती हूँ ॥ १०६-१०७ ॥

विमर्शिनी—प्रकारान्तरमाह—सौषुम्नेनेति ॥ १०६ ॥

प्रकृत्यादि विशेषान्तं परिणामोन्मुखं सदा ।
कार्यभावं समापन्नमक्षिण्वन्ती निजैर्बलैः ॥ १०८ ॥

अब प्रकारान्तर कहती है—मैं परिणाम उत्पन्न करने के लिये उद्यत प्रकृति से लेकर विशेष पर्यन्त पदार्थों को कार्यभाव में प्राप्त होने पर उन्हें अपने बल से कभी विनष्ट नहीं होने देती ॥ १०८ ॥

आपगाभिरिवाम्भोधिं प्राणाधानेन तर्पये ।
स्नेहेनेव सदा दीपं प्राणिनां करणानि च ॥ १०९ ॥

अब उसी को प्रकारान्तर से कहती हैं—नदियों से समुद्र के समान अथवा स्नेह से दीप के समान प्राणियों के प्राण के आधान से उनके करणों (इन्द्रियों) को तृप्त करती हूँ, इसलिये तर्पयन्ती हूँ ॥ १०९ ॥

विमर्शिनी—प्रकारान्तरमाह—प्रकृत्यादीति । सदा परिणामोन्मुखमित्यनेन प्रकृतेः नित्यपरिणामस्वभावत्वमुक्तं भवति ॥ १०८ ॥ तात्पर्यान्तरमाह—स्नेहेनेति ॥ १०९॥

निजसंविद्रसेनैव तर्पयाम्यक्षयात्मना ।

तर्पयन्तीति मां प्राहुर्योगिनो योगपारगाः ॥ ११० ॥
सप्ताक्षरो ह्ययं मन्त्रस्तर्पयत्यखिलं जगत् ।

अथवा उन्हें अपने अक्षय स्वरूप से तथा अपने संवित् ज्ञान रस से तृप्त करती हूँ । इसलिये योग के पारगामी योगी जन मुझे तर्पयन्ती कहते हैं । 'ॐ तर्पयन्त्यै नमः' यह सात अक्षरों का मन्त्र है जो सारे संसार को तृप्त करता है ॥ ११०-१११- ॥

विमर्शिनी—ॐ तर्पयन्त्यै नमः ॥ ११० ॥

पद्यमानं मिनोतीति कालं पद्मं प्रचक्षते ॥ १११ ॥

अब **'पद्मे स्थितां' का निर्वचन** करती है—जो पद्यमान नित्य प्रवाह रूप से धारा की तरह वर्त्तमान का परिच्छेद करता है । इसलिये काल को पद्म कहा जाता है ॥ -१११ ॥

विमर्शिनी—पद्मे स्थितेति नाम निर्वक्ति—पद्यमानमिति । सकलं प्रमेय-मित्यर्थः । मिनोति; परिच्छिनत्ति । ॐ पद्मे स्थितायै नमः ॥ १११ ॥

कालमप्यखिलं शश्वत् कलयन्ती स्थिता सदा ।
स्तुत्वा त्वनेन नाम्ना मां कालातीतः कृती भवेत् ॥ ११२ ॥

मैं उस सम्पूर्ण काल को निरन्तर प्रवाहित करती हुई उस पर स्थित रहती हूँ इसलिये 'पद्मे स्थिता' हूँ । इस नाम से स्तुति करने वाला पुरुष काल से सर्वथा परे होकर कालातीत हो जाता है । 'ॐ पद्मे स्थितायै नमः' ॥ ११२॥

पुंप्रधानेश्वरान्नित्यं वर्णयाम्यात्मतेजसा ।
पद्माकारैश्च वर्णैर्मे भूषिता तनुरुत्तमैः ॥ ११३ ॥

मैं अपने तेज से पुरुष प्रधान ईश्वर रूप पद्म के वर्ण की आकार वाली हूँ । यतः पद्माकार वर्ण से मेरा सारा शरीर सुशोभित है । अतः पद्म वर्णा हूँ । मन्त्र का स्वरूप—'ॐ पद्मवर्णायै नमः' ॥ ११३ ॥

विमर्शिनी—पद्यमानत्वात् पुंप्रधानेश्वराः पद्मशब्दार्थाः । तात्पर्यान्तरं पद्माकारैरिति । ॐ पद्मवर्णायै नमः ॥ ११३ ॥

पद्मवर्णेति मां स्तुत्वा शास्त्रवैशद्यमाप्नुयात् ।

साधक पद्मवर्णा इस नाम से मेरी स्तुति कर शास्त्र में पाण्डित्य प्राप्त करते हैं ॥ ११४- ॥

विमर्शिनी—चन्द्रेति नाम निरुच्यते—[illegible] इति । ॐ चन्द्रायै नमः इति

मन्त्र: ॥ ११४ ॥

उद्गत: प्रथमो योंऽशु: क्षीरसागरमन्थने ॥ ११४ ॥
चन्द्राख्य: स मदीयोंऽशुरुद्गच्छन्त्या: पुर:सर: ।
ऋषयो मत्प्रभावज्ञा मां तु चन्द्रां प्रचक्षते ॥ ११५ ॥

अब **चन्द्र नाम का निर्वचन** करते हैं—क्षीर सागर के मन्थन काल में सर्वप्रथम जो प्रकाश उत्पन्न हुआ । वह चन्द्र नामक मेरा तेज सबसे ऊपर चला गया । अत: मेरे प्रभाव को जानने वाले ऋषियों ने मेरा नाम चन्द्रा रख दिया ॥ -११४-११५ ॥

य: स चन्द्रो मदंशूनां कोटिकोट्यंशकोटिज: ।
षडक्षरो ह्ययं मन्त्रो मनोवैमल्यदायक: ॥ ११६ ॥

यह चन्द्रमा तो मेरे उन अशुओं के करोड़ों के करोड़हवें अंश से उत्पन्न हुआ है । 'ॐ चन्द्रायै नम:'—यह छह अक्षरों का महामन्त्र मन को निर्मल बनाता है ॥ ११६ ॥

प्रकृष्यमाणा भासो मे सर्वावस्थासु सर्वदा ।
येनेच्छति तिरोधातुं तन्मे भासा तिरोहितम् ॥ ११७ ॥

अब **'प्रभासाम्' इस नाम का निर्वचन** करती हैं—मेरा भास (प्रकाश) सभी अवस्थाओं में सर्वदा सभी तेजों को प्रचण्ड रूप से अपनी ओर खींच लेता है । सूर्यादि जो दूसरे तेजों को तिरोहित करना चाहते हैं वे भी उस तेज के आगे तिरोहित हो जाते हैं ॥ ११७ ॥

विमर्शिनी—प्रकृष्यमाणा इत्यादि । प्रभासानामनिर्वचनमत्र । भासां प्रकर्षमेवाह—येनेति । सूर्यादिर्येन तेजसान्येषां तेजस्तिरयितुमिच्छति, तदपि मत्तेजसा तिरोधीयते ॥ ११७ ॥

यथा हि स्वशिरश्छाया स्वपदा नैव लङ्घ्यते ।
सा पदादग्रतो याति येन लङ्घनमिच्छति ॥ ११८ ॥

जैसे अपने शिर की छाया अपने पैर से लाँघी नहीं जा सकती, जो पैर उसे लाँघना चाहता है उस पैर से वह आगे ही विद्यमान होकर चलती है । इसलिये प्रकृष्ट होने के कारण मैं प्रभासा हूँ ॥ ११८ ॥

विमर्शिनी—अप्रधृष्यत्वे लौकिकं निदर्शनमाह—यथेति ॥ ११८ ॥

नित्योदितचिदानन्दा मत्प्रभा: सततोज्ज्वला: ।
श्रद्धा सोमप्रभोऽग्नं च वीर्यं चुविरिति क्रमात् ॥ ११९ ॥

भोग्यशक्तिप्रभा एता अस्यन्ती षट्सु वह्निषु ।
प्रभासा मुनिभिः प्रोच्ये तन्त्रवेदान्तपारगैः ॥ १२० ॥
सप्ताक्षरो ह्ययं मन्त्रस्तेजःसंततिसाधकः ।

मेरी प्रभा नित्य उदीयमान है, चिदानन्द स्वरूपा है और सतत् प्रकाशित रहने वाली है । श्रद्धा, सोम, अप् (जल) अन्न, वीर्य और हवि—ये क्रमशः भोग शक्ति की प्रभायें हैं । मैं इन्हें स्वर्गादि रूप छह अग्नियों में प्रक्षिप्त करती हूँ, इसलिये तन्त्र वेदान्त पारगामी ऋषियो के द्वारा मैं 'प्रभा अस्यति प्रक्षिपति' —इस व्युत्पत्ति से प्रभासा कही गई हूँ । 'ॐ प्रभासायै नमः'—वह सात अक्षर का मन्त्र है जो तेज और संतान प्रदान करता है ॥ ११९-१२१- ॥

विमर्शिनी—प्रकारान्तरमाह—नित्येत्यादि श्रद्धामित्यादि । एतच्च छान्दोग्ये प्रसिद्धम् । द्वितीयान्तानां श्रद्धामित्यादीनाम् अस्यन्तीत्युत्तरेणान्वयः ॥ ११९ ॥ षट्सु वह्निषु; स्वर्गादिष्वित्यर्थः । प्रभा अस्यतीति व्युत्पत्तिः । ॐ प्रभासायै नमः ॥ १२० ॥

यशो यदुज्ज्वलं लोके विद्यादानादिसंभवम् ॥ १२१ ॥

अब **यशसा की निरुक्ति** कहते हैं—लोक में जो विद्या दान आदि सत्कार्यों से उत्पन्न होता है वही उज्ज्वल यश कहा जाता है ॥ -१२१ ॥

विमर्शिनी—यशसेति नाम निरुच्यते—यश इति ॥ १२१ ॥

मदीयं तद्यशस्तच्च नानारूपं विभज्यते ।
मामेव भाजनं विद्धि यशसस्तेजसः श्रियः ॥ १२२ ॥
अतो यशस्विनीं तां मां यशसेति विदुर्बुधाः ।
स्वाक्षरो ह्ययं मन्त्रो यशोदो जपतो भवेत् ॥ १२३ ॥

मेरा वही यश अनेक रूपों में प्रविभक्त हुआ है । उस यश, तेज और श्री का एकमात्र भाजन मैं हूँ, हे इन्द्र ! ऐसा समझो । इस यश के कारण ही बुद्धिमानों ने मुझे यशस्विनी कहा है । इससे मालूम होता है कि सूक्त में 'यशसाम्' यही पाठ गृहीत है । जबकि अन्यत्र 'यशसा ज्वलन्ती' ऐसा पाठ मिलता है 'ॐ यशसायै नमः'—यह सात अक्षर के मन्त्र का जप यश प्रदान करने वाला है ॥ १२२-१२३ ॥

विमर्शिनी—तच्च यशश्च नानारूपं भवति । तदेवाह—यशस इत्यादिना ॥ ॐ यशसायै नमः । एतदनुसारेण—

"चन्द्रां प्रभासां यशसां ज्वलन्तीम्"

इति सूक्तपाठः ॥ १२२-१२३ ॥

स्वर्गपर्जन्यभू पुंस्त्रीवैश्वानरविभागतः ।
आददाना हविः प्राप्तं श्रद्धासोमादिसंज्ञितम् ॥ १२४ ॥
षोढात्मानं विभज्याहमग्निभावमुपागता ।
ज्वलन्ती मुनिभिर्गीता भोक्तृशक्तिप्रभोज्ज्वला ॥ १२५ ॥

अब **ज्वलन्ती नाम का निर्वचन** करती है—यतः मैं स्वर्ग, पर्जन्य, भू, पुरुष, स्त्री और वैश्वानर विभागों में श्रद्धा सोम अप् (जल) अन्न और वीर्य एवं हविष्य संज्ञक प्राप्त हवि ग्रहण करती हुई अपने को छह भागों में विभक्त कर अग्निभाव को प्राप्त हुई हूँ । इसलिये मुनियों ने भोक्तृ शक्ति की प्रभा से उज्ज्वल ज्वलन्ती नाम से कहा है इसलिये मैं ज्वलन्ती हूँ ॥ १२४-१२५ ॥

विमर्शिनी—(यह श्लोक) 'प्रभासा' लक्षण वाले ११९-१२० श्लोकों से कुछ भी भिन्न नही है । मन्त्र का स्वरूप—'ॐ ज्वलन्त्यै नमः' । ज्वलन्तीति नाम निर्वक्ति—स्वर्गेत्यादिना ॥ १२४ ॥ भोक्तृशक्तीत्यनेन भोग्यशक्तितात्पर्यकप्रभासानामवैलक्षण्यं प्रतिपादितं भवति । ॐ ज्वलन्त्यै नमः ॥ १२५ ॥

अग्नीषोमविभागेन विश्वमेवं भजाम्यहम् ।
मन्त्रेणानेन मां स्तुत्वा साधयेद्यदभीप्सितम् ॥ १२६ ॥

मैं इसी प्रकार अग्नीषोम के विभाग से विश्व की रचना करती हूँ । इस मन्त्र से मेरी स्तुति कर साधक अपना अभीष्ट पूरा करे ॥ १२६ ॥

देवेन हरिणा जुष्टा सदा देवैश्च सेविता ।
देवाश्च मामुपाश्रित्य विषयान् प्रत्यवस्थिताः ॥ १२७ ॥

अब **'देवजुष्टाम्' पद का निर्वचन** करती है—देवाधिदेव भगवान् विष्णु मुझ में प्रेम करते हैं और देवता लोग मेरी सेवा करते हैं, इन्द्रियाँ मेरा आश्रय लेकर विषयों में ही आसक्त रहती हैं ॥ १२७ ॥

विमर्शिनी—देवजुष्टानामनिर्वचनं देवेनेत्यादिना । देवशब्दस्येन्द्रियपरत्वमादायोच्यते—देवाश्चेति ॥ १२७ ॥

परिणामविशेषत्वात् प्रकृतेस्ते ह्यचेतनाः ।
अतो मच्छक्तिमादाय शुद्धसंवित्क्रियामयीम् ॥ १२८ ॥
विषयेषु प्रवर्तन्ते श्रोत्रवाङ्मनआदयः ।
वृत्त्यर्थं सेवितामक्षैर्देवजुष्टां तु मां विदुः ॥ १२९ ॥

प्रकृति के विशेष परिणाम के कारण वे अचेतन हैं तथा मेरी शुद्ध विज्ञान क्रिया रूपा शक्ति को लेकर वे श्रोत्र, वाङ्, मन आदि विषयों में प्रवृत्त होते

हैं। ये इन्द्रियाँ विषयों में व्याप्त सलंग्न होने के लिये ही मेरी सेवा करती हैं, इसलिये मुझे 'देवजुष्टां' कहा जाता है ॥ १२८-१२९ ॥

विमर्शिनी—देवशब्दस्येन्द्रियपरत्वादाह—श्रोत्रेत्यादि । वृत्त्यर्थे = विषयव्यापृतिरूपार्थे । अक्षैः = इन्द्रियैः । ॐ देवजुष्टायै नमः ॥ १२९ ॥

सर्वशक्तिप्रदानमन्तर्देवजुष्टामवस्थिताम् ।
शश्वन्मामनुसंचिन्त्य देवान् विजयतेऽखिलान्॥ १३० ॥

अन्तःकरण में संस्थित इन्द्रियों से सेवित सर्वशक्तिप्रदा निरन्तर मेरा ध्यान कर इन्द्रियों ने देवताओं को भी जीत लिया है । इसलिये मैं देवजुष्टा हूँ । मन्त्र है—'ॐ देवजुष्टायै नमः' ॥ १३० ॥

मत्त एवोद्गतानीह विज्ञानानि महर्षिणाम् ।
शक्तयश्च क्रियाश्चैव यास्ता उच्चावचा नृणाम् ॥ १३१ ॥
विशृङ्खलेष्टदां चापि मामुदारां विदुर्बुधाः ।
सप्ताक्षरो ह्ययं मन्त्रः सर्वमिष्टं प्रयच्छति ॥ १३२ ॥

अब **'उदारा' का निर्वचन** करती हैं—महर्षियों के समस्त विज्ञान, मनुष्यों की सारी शक्तियाँ और समस्त ऊँची-नीची क्रियायें मुझ से ही उत्पन्न हुई हैं । मैं प्रतिकूल तथा अनुकूल दोनों ही प्रदान करती हूँ । इसलिये बुद्धिमानों ने मुझे 'उदारा' कहा है । 'ॐ उदारायै नमः' । सात अक्षर का यह मन्त्र समस्त अभीष्ट प्रदान करता है ॥ १३१-१३२ ॥

विमर्शिनी—उदारानामनिरुक्तिः मत्त एवेत्यादिना । ॐ उदारायै नमः इति मन्त्रोद्धारः ॥ १३१ ॥

तनोमि पञ्च कृत्यानि ताये च जगदात्मना ।
तां मां तामिति तत्त्वज्ञाः प्राहुर्वेदान्तपारगाः ॥ १३३ ॥
पञ्चाक्षरो ह्ययं मन्त्रस्तनोति शुभविस्तृतिम् ।

अब **'तां पद्मनेमिम्' का निर्वचन** करती हैं—इसमें 'ताम्' यह पृथक् नाम है । मैं सृष्टि तिथत्यादि पञ्चकृत्यों का निर्माण करती हूँ । जगदात्मा रूप से सर्वत्र विस्तृत रहती हूँ । (तायृ संतानपालनयोः) इसलिये वेदान्त पारगामी महर्षियो ने मुझे 'ता' कहा है । 'ॐ तायै नमः' यह पाँच अक्षर का महामन्त्र है, जिसका जप करने से कल्याण का विस्तार होता है ॥ १३३-१३४- ॥

विमर्शिनी—"तां पद्मनेमीम्" इत्यत्र तामिति पृथक् नामाभिप्रेत्य निर्वचनमाह—तनोमीति । पञ्च कृत्यानि सर्गादीनि । ताये = विस्तृता भवामीत्यर्थः । "तायृ संतानपालनयोः" इति धातुः । ॐ तायै नमः ॥ १३३ ॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव नयामि स्वेन तेजसा ॥ १३४ ॥
कालाच्चापि बहिर्भूत्वा पद्मनेमीं ततो विदुः ।
सप्ताक्षरो ह्ययं मन्त्रः सर्वसम्पत्समृद्धिदः ॥ १३५ ॥

अब **'पद्मनेमि' का निर्वचन** करती हैं—मैं अपने तेज से प्रकृति और पुरुष का उन्नयन करती हूँ । इसलिये पद्म हूँ । काल से बाहर होने के कारण 'नेमि' हूँ, इसलिये पद्मनेमि कही जाती हूँ । 'ॐ पद्मनेम्यै नमः' । यह सात अक्षर का मन्त्र समस्त सिद्धि प्रदान करता है ॥ -१३४-१३५ ॥

विमर्शिनी—यहाँ पद धातु का अर्थ नयामि किया गया है, नेमि का 'बहि' अर्थ किया गया है । पद्मनेमिनाम का निर्वचनम्—प्रकृतिमित्यादि से करते हैं । नयामि यह पदधात्वर्थः है । नेमिशब्दार्थ का है । बहि पद्मनेमीनाम-निर्वचनम्—प्रकृतिमित्यादिना । नयामीति पदधात्वर्थः । नेमिशब्दार्थः बहिरिति । ॐ पद्मनेम्यै नमः ॥ १३४ ॥

आदित्यं वर्णयाम्येका तेजसा यशसा श्रिया ।
आदित्यस्था च वर्णात्मा भूत्वा दिव्या त्रयीमयी ॥ १३६ ॥
प्रकाशयन्ती सर्वार्थानतीतानागतानपि ।
पितृदेवमनुष्याणां चक्षुरस्मि सनातनम् ॥ १३७ ॥

अब **'आदित्य वर्णे' का निर्वचन** करती हैं—मैं तेज, यश और श्री के कारण आदित्य को तेजस्वी बनाती हूँ । (वर्ण = तेज) वर्ण शब्द का अक्षर अर्थ मान कर कहती हैं—मैं आदित्य में स्थित वर्णात्मा (अक्षरात्मा) दिव्य त्रयीमयी वेदस्वरूपा हूँ और उसके अक्षर से अतीत अनागत सभी अर्थों का प्रकाशन करती हूँ । इसलिये आदित्य वर्णा हूँ । पितर, देव और मनुष्यों का सनातन चक्षु हूँ । इसलिये आदित्य हूँ ॥ १३६-१३७ ॥

विमर्शिनी—आदित्यवर्णेति नामाह—आदित्यमिति । वर्णयामि = वर्णवन्तं तेजस्विनं करोमि । वर्णशब्दस्याक्षरपरत्वमभिसन्धायाह—वर्णात्मेति ॥ १३६ ॥ चक्षुरिति ।'' चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः'' इति श्रुत्यर्थो ज्ञातव्यः ॥ १३७ ॥

आदिभूतश्च वर्णो मे तारः प्रथमवाचकः ।
तत्र शान्तोदितानन्दा नन्दाम्यात्मानमात्मना ॥ १३८ ॥

मेरा आदिभूत वर्ण तार (ॐ) है, जो प्रथम सिद्ध अर्थ का वाचक है । उसमें मैं अपने रूप से शान्ता, उदिता और आनन्दा होकर आनन्दित होती रहती हूँ ॥ १३८ ॥

विमर्शिनी—यहाँ 'आदौ ष्वः सिद्धः' इस व्युत्पत्ति को मानकर अर्थ किया

गया है । आदौ त्यः सिद्ध इत्यर्थं मत्वाह—आदिभूत इति ॥ १३८ ॥

तैलधारावदच्छिन्ना दीर्घघण्टानिनादिनी ।
प्रणवस्य शिखा सूक्ष्मा सा मे शब्दमयी तनुः ॥ १३९ ॥

तैलधारा के समान अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होने वाली, बड़े घण्टा के समान निनाद करने वाली, जो प्रणव की सूक्ष्म शिखा है, वही मेरा शब्दमय शरीर है ॥ १३९ ॥

तत्र ब्रह्मणि निष्णातो मां द्रागधिगमिष्यति ।
आदित्यवर्णजातं मे शब्दमय्या उपस्थितम् ॥ १४० ॥

इस ब्रह्मरूपा प्रणवशिखा में स्नान करने वाला भक्त मुझे शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है । मुझ शब्दमयी से आदित्यवर्णजात उपस्थित हो जाता है । अर्थात् प्रणव मात्र से सारे वर्णों की उपस्थिति हो जाती है ॥ १४० ॥

विमर्शिनी—तत्र ब्रह्मणीति = प्रणवशिखायामित्यर्थः । आदित्यवर्णजातं = प्रणवाज्जातं सर्वमपि वाङ्मयमित्यर्थः । ॐ आदित्यवर्णायै नमः ॥ १४० ॥

शान्तापश्यादिरूपेण वैखरी वर्णनादिनी ।
दुहाना सकलानर्थान् धेनुः कामदुघा स्थिता ॥ १४१ ॥

शान्ता, पश्यादि रूप से जब भी मैं वैखरी वर्ण के रूप में प्रगट होती हूँ । तब सभी अर्थ रूप दूध देने वाली कामदुघा धेनु के रूप में स्थित हो जाती हूँ ॥ १४१ ॥

एतानादित्यवर्णेति मय्यर्थानृषयो विदुः ।
नवाक्षरो ह्ययं मन्त्रः सर्वकामप्रपूरकः ॥ १४२ ॥

वैखरी रूप मुझ में रहने वाले समस्त अर्थों को देखकर ऋषियों ने मुझे 'आदित्यवर्णे' कहा है । नव अक्षर का यह मन्त्र समस्त कामनाओं को प्रदान करता है । मन्त्र का स्वरूप—'आदित्यवर्णायै नमः' ॥ १४२ ॥

किरन्ती किरणान् लोके किरन्ती चोत्तरोत्तरम् ।
वायुना देवमित्रेण मणिनाधारवह्निना ॥ १४३ ॥

अब **कीर्त्ति नाम का निर्वचन** करते हैं—मैं देवमित्र वायु के साथ किरणों को यत्र तत्र प्रक्षिप्त करती हूँ, इसलिये कीर्त्ति हूँ । मैं मणिना अर्थात् मूलाधार स्थित अग्नि से शब्दों को परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप उत्तरोत्तर क्रम से प्रगट करती हूँ, इसलिये कीर्त्ति हूँ । 'देवसख' यहाँ तृतीयार्थ में प्रथमा है, विभक्ति व्यत्यय है । मणिना का अर्थ आधार वह्नि है ॥ १४३ ॥

विमर्शिनी—कीर्तिनामनिर्वचनम्—किरन्तीत्यादि । कृ विक्षेपे । विक्षेप: किरणानां शब्दनां च तत्र शब्दानामाह—उत्तरोत्तरमिति । पश्यन्तीमध्यमावैखरी-रूपेणेत्यर्थ: । श्रुतौ "देवसख:" इति व्यत्ययेन तृतीयार्थे प्रथमा । मणिनेत्यस्य विवरणम्—आधारवह्निनेति ॥ १४३ ॥

शनैर्विश्रम्य विश्रम्य पत्रेषु जलजन्मनाम् ।
द्वादशानां ततश्चोर्ध्वं भजामि द्वादशान्तिमम् ॥ १४४ ॥

मैं १२ बारह कमल पत्रों पर क्रमश: विश्राम करती हुई सबसे ऊपर द्वादशान्त में पहुँच जाती हूँ ॥ १४४ ॥

विमर्शिनी—यहाँ 'उपैतु' का अर्थ भजामि शब्द से किया गया है । श्रुतौ "उपैतु" इत्यस्यार्थवर्णनम्—भजामीति । ॐ कीर्त्यै नम: ॥ १४४ ॥

कीर्तयन्ति तत: कीर्तिं मुनयो मां मनीषिण: ।
पञ्चाक्षरो ह्ययं मन्त्रो योगवैमल्यदायक: ॥ १४५ ॥

इसलिये मनीषी मुनिगण मुझे कीर्त्ति कहते हैं । पाँच अक्षर का यह मन्त्र योग को निर्मल बना देने वाला है । मन्त्र है—'ॐ कीर्त्यै नम:' ॥ १४५ ॥

ऋद्धास्म्यहं गुणैर्विष्णोरर्धयामि च योगिन: ।
पत्रेषु योगपद्मानामाधारान्तरचारिणाम् ॥ १४६ ॥
उत्तरोत्तरमृध्यामि भजन्ती विस्तृतिं पराम् ।
ऋद्धिं वृद्धास्तत: प्राहुर्योगिनो योगदीपिनीम् ॥ १४७ ॥

अब **'ऋद्धि' नाम का निर्वचन** करती हैं । मैं विष्णु के गुणों से वृद्धि प्राप्त करती हूँ । योगीजनों को प्रसन्न करती हूँ । आधार के भीतर रहने वाले योगपद्म के पत्रों पर मैं उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त करती हूँ । विस्तार करती हूँ, इसलिये वृद्ध लोग मुझे ऋद्धि कहते हैं तथा योगीजन मुझे योगदीपिनी कहा करते हैं । मन्त्र का स्वरूप—'ॐ ऋद्ध्यै नम:' ॥ १४६-१४७ ॥

विमर्शिनी—ऋद्धिरिति नाम निर्वक्ति—ऋद्धेति । समृद्धेत्यर्थ: । अर्धयामि = प्रीणयामि । वृद्धिमेवाह—पत्रेष्विति ॥ १४६ ॥ ऋध्यामि; वृद्धिं प्राप्नोमि । ॐ ऋद्ध्यै नम: ॥ १४७ ॥

गन्धादय: पृथिव्याद्या द्वाराणि मम वेदने ।
सर्वेषां पुण्यगन्धानां द्वारभूतास्मि शाश्वती ॥ १४८ ॥

अब **'गन्ध द्वारा' का निर्वचन** करती हैं—यहाँ गन्ध शब्द से रूप, रस, शब्द और स्पर्श सभी का ग्रहण है । पृथ्व्यादि उसके आश्रय हैं, इसी बात का

प्रतिपादन करते हैं । मुझे जानने के लिये गन्धादि तथा पृथ्व्यादि द्वार हैं, मैं सभी पुष्प गन्धो की शाश्वती द्वारभूता हूँ । इसीलिये वेदान्तपारगामी ब्राह्मण मुझे 'गन्धद्वारा' कहते हैं । मन्त्र का स्वरूप—गन्धद्वारायै नमः ॥ १४८ ॥

विमर्शिनी—गन्धशब्दो रूपरसादीनामप्युपलक्षकस्तदाश्रयपृथिव्यादीनि लक्षयति । "अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्" इत्यत्रान्नमयकोशो ब्रह्मज्ञानद्वारत्वेन श्रुतौ विहितः । "पृथिवी वा अन्नम्" इति श्रुतिरेवान्नशब्दं पृथिवीपरमाचष्टे । अतो देवीज्ञाने पृथिव्यादयो द्वारभूयमापद्यन्ते । ॐ गन्धद्वारायै नमः ॥ १४८ ॥

गन्धद्वारेति मां प्राहुर्विप्रा वेदान्तपारगाः ।
दुराधर्षास्मि सर्वेषां दैत्यदानवरक्षसाम् ॥ १४९ ॥
शुद्धा संवित् क्रिया चाहं नार्हा कैरपि बाधितुम् ।
सर्वेषामात्मभूताया मम संवित्क्रियात्मनः ॥ १५०॥
ज्ञातृत्वमपि कर्तृत्वं यो नामापनिनीषति ।
ज्ञाता कर्ता निषेधस्य स निर्वक्ष्यति तत् कथम् ॥ १५१ ॥

अब **'दुराधर्षा' का निर्वचन** करते हैं—मैं सभी दैत्य, दानव और राक्षसों के लिये दुराधर्ष हूँ (दुराधर्ष = अजेय) । मैं शुद्धा संवित् और शुद्धा क्रिया हूँ। कोई भी मेरा बाध नही कर सकता । सभी की आत्मभूत और सभी की क्रियात्मा वाले मेरे ज्ञातृत्व तथा मेरे कर्त्तृत्व का जो अपनयन करता है वह मेरे निषेध का ज्ञाता तथा कर्त्ता मुझे किस प्रकार समझ सकता है ॥ १४९-१५१॥

विमर्शिनी—तत् = अपनयनम् ॥ १५१ ॥

शक्तो धर्षयितुं कश्चिन्नैव संविद्गतिं मम ।
तदभावा विचिन्त्यैवं ह्यभावे संविदेव सा ॥ १५२ ॥

मेरी संवित् की गति का कोई धर्षण नहीं कर सकता । जब मेरे धर्षण का अभाव है तब धर्षणाभाव में मेरा संवित् निश्चय है ही ॥ १५२ ॥

दुराधर्षेति मां प्राहुः सांख्यज्ञानविचक्षणाः ।
अष्टाक्षरो ह्ययं मन्त्रस्तमोगतिविमोचनः ॥ १५३ ॥

सांख्य ज्ञान के विद्वान् इसीलिये मुझे दुराधर्ष कहते हैं । आठ अक्षर का यह मन्त्र मनुष्यों के समस्त अज्ञान को दूर करने वाला है । मन्त्र का स्वरूप—ॐ दुराधर्षायै नमः ॥ १५३ ॥

विमर्शिनी—तदभावा = धर्षणाभावरूपेत्यर्थः । ॐ दुराधर्षायै नमः ॥ १५३ ॥

नित्येन विष्णुना पुष्टा नित्यं पुष्टा च सद्गुणैः ।

विषयैर्मे विना पुष्टा नित्यं संवित् परा तनुः ॥ १५४ ॥

अब **'नित्य पुष्टा' का निर्वचन** करते हैं—नित्यरूपेण वर्त्तमान महाविष्णु मेरा पोषण करते हैं। उनके ज्ञान शक्त्यादि सद्‌गुणों से मैं पुष्ट होती हूँ। मेरा नित्य सवित् स्वरूप परा शरीर विषय के बिना पुष्ट होता है ॥ १५४ ॥

विमर्शिनी—नित्यपुष्टानामनिर्वचनम्—नित्येनेत्यादिना । सद्‌गुणैः = ज्ञान-शक्त्यादिगुणैः । विषयैर्विनापि मे संविद्रूपा परा तनुः पुष्टेत्यन्वयः । ॐ नित्य-पुष्टायै नमः ॥ १५४ ॥

सैव पुष्णाति विषयानजडाभिर्जडात्मनः ।
नित्यपुष्टां तु मां प्राहुः सिद्धाः संविद्विचक्षणाः ॥ १५५ ॥
अष्टाक्षरो ह्ययं मन्त्रो नित्यं पुष्णाति संविदम् ।

वह नित्य संवित् स्वरूप मेरा शरीर अपनी चेतनाओं से जड़ात्मा विषयों का पोषण करता है। इसलिये ज्ञानी लोग मुझे नित्यपुष्टा कहते हैं। आठ अक्षर का यह महामन्त्र सिद्ध भी साधक के ज्ञान को पुष्ट करता है। मन्त्र का स्वरूप—'ॐ नित्यपुष्टायै नमः' ॥ १५५-१५६- ॥

करिणो नाम कर्तारस्त्रिशुद्धास्त्रिक्रियापराः ॥ १५६ ॥

अब **'करीषणीम्' का निर्वचन** करती हैं—कृ धातु से निष्पन्न करी शब्द का अर्थ करने वाले (कर्त्तार) है, जो काय एवं वाणी और मन इन तीनों से शुद्ध हों तथा यजन, दान, अध्ययन रूप तीनों क्रियाओं से शुद्ध हो, मैं उन्हें सदा देखना चाहती हूँ। (इष् आभीक्ष्णे), इसलिये करीषणी हूँ ॥ -१५६ ॥

विमर्शिनी—करीषिणीति नाम निर्वक्ति—करिण इति । कर्तार इति । करिन्शब्दः कृधातोर्निष्पन्न इति भावः । त्रिशुद्धाः; कायवाङ्मनसशुद्धाः । त्रिक्रियाः; यजनदानाध्ययनरूपाः ॥ १५६ ॥

तानिच्छामि सदा द्रष्टुं मनसा यामि तान् सदा ।
हिमशैलेन्द्रसङ्काशा गजेन्द्रा मम वाहनाः ॥ १५७ ॥
तैरीश्वरा सदा यामि कर्त्री चान्तवती सदा ।
करीषिणीति मां तेन तत्त्वज्ञाः संप्रचक्षते ॥ १५८ ॥
सप्ताक्षरो ह्ययं मन्त्रः सर्वकामसमृद्धिदः ।

अब इच्छार्थ क 'कम्' धातु से अर्थ करती है मैं उन्हें मन से चाहती हूँ, इसलिये करीषणी हूँ (कमु इच्छायाम्)। बड़े-बड़े बर्फ के पहाड़ों के समान श्वेत वर्ण वाले ऊँचे गजेन्द्र मेरे वाहन हैं। मैं उनकी मालकिन होकर उनसे चलती हूँ। इसलिये करीषणी हूँ। करि शब्द का प्रसिद्ध अर्थ गज है तथा

इष् गतौ धातु से निष्पन्न यहाँ करीषणी का अर्थ है । मैं समस्त सृष्टि की कर्मी हूँ । (डुकृञ् करणे) मैं समस्त सृष्टि का अन्त करने वाली हूँ (कृञ् हिंसायाम्) । इसलिये तत्त्वज्ञ लोग मुझे 'करीषणीम्' कहते हैं । यह सात अक्षर का मन्त्र समस्त कामनाओं की सिद्धि प्रदान करता है । 'ॐ करीषिण्यै नमः' ॥ १५७-१५९- ॥

विमर्शिनी—इच्छार्थककमुधातुमादायार्थमाह—तानिच्छामीति । ''इष गतौ'' इत्येतदभिसन्धायाह—मनसा ययामीति । करिशब्दस्य गजपरत्वप्रसिद्धिमभिप्रेत्याह—गजेन्द्रा इति । ॐ करीषिण्यै नमः ॥ १५७ ॥

भूतानामीश्वरा चास्मि प्रियेणेशेन सर्वदा ॥ १५९ ॥

अब **'ईश्वरीम्' का निर्वचन** करती हैं—मैं अपने प्रियतम विष्णु के साथ चेतना चेतनात्मक समस्त प्राणियों की ईश्वरी हूँ । (ईश धातु वरच् प्रत्यय ईश्वरी) ॥ -१५९ ॥

विमर्श—ईश्वरीति नाम निराह—भूतानामित्यादिना । ईश्वरेति = ईष्टे इत्यर्थे ''स्थेशभास'' इत्यादिना वरचि रूपम् । भूतशब्दो निखिलचेतनाचेतनपरः । प्रियेणे-शेनेति सहयोगे तृतीया । वनिता; ध्यातेत्यर्थः । ॐ ईश्वर्यै नमः ॥ १५९ ॥

वरदा भुवनेशाना वनिता च सदाखिलैः ।
वृद्धिदा वर्धमाना च क्षपणी च सदांहसाम् ॥ १६० ॥

मैं सभी लोगों द्वारा ध्यान किये जाने पर वरदान देती हूँ, मैं समस्त भुवन की ईशानी हूँ, मैं बुद्धि देती हूँ, स्वयं बढ़ती रहती हूँ और भक्तजनों के पापों को दूर करती हूँ ॥ १६० ॥

ईश्वरीत्येव मे नाम तेन वेदे निरूपितम् ।
षडक्षरो ह्ययं मन्त्रः सर्वैश्वर्यसमृद्धिदः ॥ १६१ ॥

इसलिये वेदों में मुझे ईश्वरी नाम से कहा गया है । छह अक्षर का यह मन्त्र सम्पूर्ण ऐश्वर्य और समृद्धि प्रदान करता है । ॐ ईश्वर्यै नमः ॥ १६१ ॥

भौमान्तरिक्षदिव्याख्या ये चाप्यप्राकृताः परे ।
सदानन्दमयास्त्वेते सर्वे कामा मयि श्रिताः ॥ १६२ ॥

अब **'मनसः काम' इस नाम का निर्वचन** करती हैं—भौम, अन्तरिक्ष एवं दिव्य लोक में जितने भी अप्राकृतिक सदानन्ददायी काम हैं, वे सभी मुझ परा में स्थित हैं ॥ १६२ ॥

मनोरथानां सर्वेषां पराहं विभ्रमस्थली ।
विष्णोश्च मनस: काम: साहं सर्वातिशायिनी ॥ १६३ ॥

मैं सभी प्रकार के मनोरथों से परे हूँ । मैं भगवान् विष्णु के मन में रहने वाला काम हूँ और उन भगवान् विष्णु की सर्वातिशायिनी विभ्रमस्थली (विलास का स्थान) हूँ ॥ १६३ ॥

विमर्शिनी—मनस: काम इति नाम्नो निर्वचनान्तरमाह—मनोरथानामिति । ॐ मनस: कामाय नम: ॥ १६३ ॥

मनस: काम इत्येव तेन मां तुष्टुवु: सुरा: ।
नवाक्षरो ह्ययं मन्त्र: सर्वकामसमृद्धिद: ॥ १६४ ॥

इस कारण देवता लोगों ने मेरी 'मनस: काम' इस नाम से स्तुति की है। अत: नव अक्षर का यह मन्त्र सम्पूर्ण कामनाओं की समृद्धि प्रदान करता है। मन्त्र का स्वरूप—'ॐ मनस: कामाय नम:' ॥ १६४ ॥

लौकिक्योऽप्यथ वैदिक्यस्तथा बाह्यागमोद्भवा:।
निर्घोषा घोषवत्यश्च या वाच: परिकीर्तिता: ॥ १६५ ॥
मामभिप्रेत्य सर्वासां तासामुच्चारणक्रिया ।
मामभिप्रयते सर्वो जन: सर्वात्मना स्थिताम् ॥ १६६ ॥
तेन तेन प्रकारेण वाचामुच्चारणक्रमे ।
आकूतिर्वचसां तेन वेदज्ञैरस्मि भाविता ॥ १६७ ॥

अब **वाच आकूति का निर्वचन** करती हैं—लौकिक एवं वैदिक तथा बाह्य आगमों में प्रयुक्त की जाने वाली घोषरहित अथवा घोषयुक्त जितनी भी वाणी नाम से कही जाती हैं उन सभी वाणियों के उच्चारण की क्रिया मेरे उद्देश्य से ही होती है । इस प्रकार सर्वात्मना स्थित समस्त जनों के अभिप्राय की भूमि मैं ही हूँ अर्थात् उन-उन वाणी के उच्चारण के क्रम में समस्त वाङ्मय की तात्पर्य भूमि मैं ही हूँ । 'ॐ वाच आकूत्यै नम:' । इसलिये वेदज्ञो ने मुझे 'वाच आकूति' इस नाम से कहा है । आठ अक्षर का यह मन्त्र सभी शब्दों और अर्थों की सिद्धि प्रदान करता है ॥ १६५-१६७ ॥

विमर्शिनी—विमर्शिनी—वाच आकूतिरिति नाम निर्वक्ति—लौकिक्य इति ॥ १६५ ॥ अभिप्रेत्येति । आकूतिशब्दोऽभिप्रायपर इति भाव: । सर्ववचसां तात्पर्यभूमिरित्यर्थ: । ॐ वाच आकूत्यै नम: ॥ १६६ ॥

अष्टाक्षरो ह्ययं मन्त्र: सर्वशब्दार्थसिद्धिद: ।
सच्च त्यच्च जगद् द्वेधा यत् प्रमाणेन दृश्यते॥ १६८ ॥

तत् सर्वमहमस्मीति सत्यं मामृषयोऽब्रुवन् ।
षडक्षरो ह्ययं मन्त्रः सर्वसत्यफलप्रदः ॥ १६९ ॥

अब **सत्य नाम का निर्वचन** करती हैं—यह सारा जगत् सभी प्रमाणों से सत् (सत्ता वाला) है और त्यच्च स्वयंसिद्ध भी है । इस प्रकार जगत् दो प्रकार का है । वह सब मैं ही हूँ । इसलिये महर्षियों ने मुझे सत्य नाम से कहा है। छह अक्षर का यह मन्त्र समस्त सत्य का फल प्रदान करता है । 'ॐ सत्याय नमः' ॥ १६८-१६९ ॥

विमर्शिनी—सत्यमिति नाम निराह—सच्चेति । "सच्च त्यच्चाभवत्" इति श्रुतिरत्राभिप्रेता । ॐ सत्याय नमः ॥ १६८ ॥

पश्यन्ति पशवो जीवा विधाभिस्तिसृभिः स्थिताः ।
तेषां रूपं तु यच्छक्र चैतन्यं हयवर्जितम् ॥ १७० ॥

अब **'पशूनां रूपम्' का निर्वचन** करती हैं—यहाँ पशु शब्द जीव परक है। यतः समस्त जीव देव, तिर्यङ् एवं मनुष्य रूप तीन दृष्टियों से अथवा बद्ध, मुक्त एवं नित्यरूप—इन तीन दृष्टियों से देखते हैं ॥ १७० ॥

विमर्शिनी—पशूनां रूपमिति नाम निराह—पश्यन्तीति । पशुशब्दो जीवपरः । तिसृभिर्विधाभिरिति । देवतिर्यङ्भनुप्यरूपाभिः, बद्धमुक्तनित्यरूपाभिर्वेत्यर्थः ॥ १७० ॥

तद्रूपमहमेवास्मि चिद्घनानन्दरूपिणी ।
मच्छक्तिलेशास्ते सर्वे जीवाश्चिच्छक्तिसंज्ञकाः ॥ १७१ ॥

हे शक्र ! उनका चेतन तथा चेतनवर्जित अचेतन रूप वह सब चिद्-घनानन्दरूपिणी मैं ही हूँ । चेतन नाम से कहे जाने वाले समस्त जीव मेरी शक्ति के लेशमात्र हैं ॥ १७१ ॥

आग्नेयी या हि मच्छक्तिः सा हि जाता तथा तथा ।
पशूनां रूपमित्येवं सांख्या मां संप्रचक्षते ॥ १७२ ॥
नवाक्षरो ह्ययं मन्त्रः सम्यग्ज्ञानफलप्रदः ।

मेरी आग्नेयी शक्ति ही तत् एवं तच्चेतन तथा अचेतन रूप में प्रगट है। इसीलिये सांख्य शास्त्र के ज्ञाता लोग मुझे 'पशूनां रूपम्' इस नाम से अभिहित करते हैं । नव अक्षरों का यह मन्त्र सम्यग् ज्ञान के फल को प्रदान करता है। मन्त्र का स्वरूप—'ॐ पशूनां रूपाय नमः' ॥ १७२-१७३- ॥

विमर्शिनी—आग्नेयी शक्तिः; भोक्तृशक्तिः । मन्त्रः—ॐ पशूनां रूपाय नमः ॥ १७२ ॥

त्रैगुण्यं षड्गुणोत्थं च द्विधान्नं परिकीर्तितम् ॥ १७३ ॥

अब **'अन्नस्य यशः' इस नाम का निर्वचन** करती हैं—अन्न दो प्रकार का कहा गया है प्रथम त्रैगुण्य अन्न जो समस्त प्राकृतभोग्य स्वरूप है दूसरा षाड्गुण्य अन्न जो अप्राकृत भोग्य वाला है ॥ -१७३ ॥

विमर्शिनी—अन्नस्य यश इति नाम निराह—त्रैगुण्यमिति । त्रैगुण्यमन्नं प्राकृतभोग्यजातम् । षाड्गुण्यमन्नम् अप्राकृतभोग्यजातम्; यदिभप्रेत्य "अहमन्नादो-ऽहमन्नादोऽहमन्नादः" इति मुक्तानां गानं श्रुतिराह ॥ १७३ ॥

त्रैगुण्यमनुबद्धानामितरेषामथेतरत् ।
द्विविधस्यापि चान्नस्य यद्यशो रूपमुत्तमम् ॥ १७४ ॥
तदहं सर्वभूतात्मा तत्त्वज्ञैः परिकीर्तिता ।
प्राकृताप्राकृता भोगा मच्छक्तिप्रविजृम्भिताः ॥ १७५ ॥

अनुबद्ध जीव का त्रैगुण्य रूप अन्न है तथा मुक्त जीवों का षाड्गुण्य अन्न है । इन दोनों प्रकार के अन्नों का जो यश उत्तम स्वरूप वह सब सर्वभूतात्मा मैं ही हूँ । इसीलिए तत्त्वज्ञ महामुनियों ने कहा है—प्राकृत और अप्राकृत भोग मेरी शक्ति से ही बढ़ते हैं ॥ १७४-१७५ ॥

सोमशक्तिर्मदीया या सा हि जाता तथा तथा ।
अन्नस्य यश इत्येव मां विदुस्तत्त्वचिनतकाः ॥ १७६ ॥
नवाक्षरो ह्ययं मन्त्रो भोगसर्वस्वदायकः ।

ये दोनों प्राकृत एवं अप्राकृत अन्न मेरी सोमात्मक शक्ति से ही तत्तद् रूपों में उत्पन्न हुये हैं । इसलिये तत्त्व चिन्तकों ने मुझे अन्नस्य यशः ऐसा ही कहा है। नव अक्षरों का यह मन्त्र सम्पूर्ण भोगों को देने वाला है । मन्त्र का स्वरूप—'अन्नस्य यशसे नमः' इति ॥ १७६-१७७- ॥

विमर्शिनी—सोमशक्तिः; भोग्यशक्तिः । ॐ अन्नस्य यशसे नमः ॥ १७६॥

मिमे षडध्वनो व्यग्रा मीये मानैस्तथाखिलैः ॥ १७७ ॥
मितिश्च सर्वमानानां माति चान्तर्ममाखिलम् ।

अब मातरं पद्ममालिनीम् इस पद में आये हुये माता पद के **मा का निर्वचन** करती हैं—मैं भुवन, पद, मन्त्र, तत्त्व, कला और वर्ण वाले षडध्वा मन्त्रों को अलग-अलग करती हूँ (मिमे) । अपने सम्पूर्ण मानों से जगत् का संहार करती हूँ । (मीये मीङ हिंसायाम् दिवादि) । सभी मानों में ज्ञान रूप मान मैं हूँ । सारा जगत् मेरे कुक्षि में परिमिति रूप से समा जाता है इसलिये मैं मा हूँ । यहाँ तक मा का निर्वचन हुआ ॥ -१७७-१७८- ॥

विमर्शिनी—"मातरं पद्ममालिनीम्" इत्यत्रत्यं मातेति नाम निर्वक्ति—मिमे इति । भुवनपदमन्त्रतत्त्वकलावर्णाख्यान् षडध्वनः परिच्छिनद्मीत्यर्थः ॥ १७७ ॥

तारयामि जगत् सर्वमपारं भवसागरम् ॥ १७८ ॥

अब माता पद के **तृ शब्द का निर्वचन** करती हैं । मैं सारे जगत् को अपार भवसागर से उस पार पहुँचा देती हूँ । इसलिये 'त्' हूँ ॥ -१७८ ॥

विमर्शिनी—मितिः = ज्ञानम् । माति = परिमितं वर्तते । एवं माशब्दार्थ-मुक्त्वा तृशब्दार्थमाह—तारयामीति । "तृ प्लवनतरणयोः" इति धातुः ॥ १७८ ॥

उत्तीर्णा सर्वदोषाब्धेः प्लवे भूतेषु चेतसा ।
प्लावयामि जगद्विश्वं पयसा मेघतां गता ॥ १७९ ॥

सम्पूर्ण दोषात्मक समुद्र को पार कर जाती हूँ इसलिये तृ हूँ । प्राणियों में चित्त रूप से प्लवन करती हूँ । जल के मेघ बन कर समस्त विश्व को डुबो देती हूँ । इसलिये 'तृ' हूँ । (तृ प्लवनतरणयोः) ॥ १७९ ॥

विमर्शिनी—प्लवनार्थमाह—प्लावयामीति । ॐ मात्रे नमः ॥ १७९ ॥

प्रियं हितं च सर्वेषां चिन्तयामि करोमि च ।
तेन मां सर्वभूतानां मातरं योगिनो विदुः ॥ १८० ॥
पञ्चाक्षरो ह्ययं मन्त्रः सर्वभोगसमृद्धिदः ।

मैं समस्त प्राणियों के हित का चिन्तन करती हूँ । उनका हित भी करती हूँ । इसलिये योगीजन मुझे सम्पूर्ण भूतों की माता कहते हैं । पाँच अक्षर का यह मन्त्र सम्पूर्ण भोगों की समृद्धि प्रदान करता है । मन्त्र का स्वरूप—'ॐ मात्रे नमः' ॥ १८०-१८१- ॥

सुषुम्ना नाम या नाडी नाडीचक्रस्य नायिका ॥ १८१ ॥
मुक्तियानं महायानं योगियानमिति श्रुता ।
शक्तिर्या वैष्णवी सूक्ष्मा मन्मयी परिकीर्तिता ॥ १८२ ॥
सङ्कल्पविषयः सर्वो यामालम्ब्यावतिष्ठते ।
ऊर्ध्वं चाधश्च या भित्त्वा प्रतिजीवं वपुर्गतिम् ॥ १८३ ॥
व्याप्ता परममाकाशं सा सुषुम्नेति गीयते ।
मुक्तयेऽखिलजीवानां संसाराखिलखेदिनाम् ॥ १८४ ॥

अब सुषुम्ना के पर्याय वाचक नामों के साथ-साथ पद्ममालिनी शब्द के विषय में कहते हैं । सुषुम्ना नाम की नाडी समस्त नाडी समूहों की नायिका है । इसे मुक्तियान, महायान और योगियान कहा जाता है जो मन्मयी है जिसे

सूक्ष्म वैष्णवी शक्ति भी कहा जाता है । समस्त सङ्कल्प के विषय जिसके सहारे उत्पन्न होकर स्थित रहते हैं जो अपनी गति से प्रत्येक जीवों के शरीर के ऊर्ध्व और अधो भाग का भेदन कर परमाकाश पर्यन्त सर्वत्र व्याप्त रहती है उसी को सुषुम्ना कहते हैं, जो संसार के समस्त दुःखों से खिन्न समस्त जीवों की मुक्ति के लिये बनी है ॥ -१८१-१८४ ॥

विमर्शिनी—सुषुम्नापर्यायनामान्याह—मुक्तियानमिति ॥ १८२ ॥

साहं सुषुम्नारूपेण वर्ते देहेषु देहिनाम् ।
आ वस्तिशीर्षादा मूर्ध्नस्तस्यां शक्तौ पुरन्दर ॥ १८५ ॥
आधाराख्यानि पद्मानि द्वात्रिंशत् संस्थितानि वै ।
पद्मानां मालया व्याप्ता ततोऽहं पद्ममालिनी ॥ १८६ ॥

मैं ही सुषुम्ना नाड़ी के रूप में समस्त जीवों के देह में बस्ति भाग से लेकर शिरःपर्यन्त तथा शिर से लेकर वस्ति पर्यन्त, जहाँ आधार से लेकर मध्य में ३२ कमल हैं उन पद्मों की माला से व्याप्त होकर स्थित रहती हूँ, इसलिये पद्ममालिनी कही जाती हूँ ॥ १८५-१८६ ॥

विमर्शिनी—परममाकाशम् = ब्रह्मरन्ध्रम् ॥ १८४ ॥ वस्तिः = नाभेरधोभागः ॥ १८५ ॥ द्वात्रिंशदिति । योगशास्त्रप्रसिद्धानि आधारपद्मानि ॥ १८६ ॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव कालं चैव सनातनम् ।
धारयामि स्वरूपेण ततोऽहं पद्ममालिनी ॥ १८७ ॥
अष्टाक्षरो ह्ययं मन्त्रः सर्वकर्मफलप्रदः ।

मैं प्रकृति पुरुष और सनातन काल को अपने कमल स्वरूप से धारण करती हूँ इसलिये पद्ममालिनी हूँ । आठ अक्षर का यह मन्त्र समस्त कर्मों का फल प्रदान करता है । मन्त्र—ॐ पद्ममालिन्यै नमः ॥ १८७-१८८- ॥

विमर्शिनी—प्रकृत्यादीनां पद्मशब्दार्थत्वं पूर्वमेवोक्तम् । मन्त्रस्वरूपम्—ॐ पद्ममालिन्यै नमः इत्यष्टाक्षरो मन्त्रः ॥ १८७ ॥

पोषं करोमि सर्वेषां रूपेण यशसा श्रिया॥ १८८ ॥

अब **पुष्करिणी नाम का निर्वचन** करती हैं—यहाँ पुष् धातु और कृ धातु को लेकर निरुक्ति की गई है । मैं सभी का रूप से, यश से और श्री से पोषण करती हूँ ॥ -१८८ ॥

विमर्शिनी—पुष्करिणीनाम निर्वक्ति—पोषमिति । पुष्धातुं कृधातुं चादाय निरुक्तिर्विवक्षिता ॥ १८८ ॥

पुष्करं च नयाम्येका कालाख्यं पद्मरूपकम् ।
तेन पुष्करिणीत्येवमृषयो मां प्रचक्षते ॥ १८९ ॥
सप्ताक्षरो ह्ययं मन्त्रः सर्वपोषफलप्रदः ।

मैं अकेली पद्मरूपक काल नामक पुष्कर का उन्नयन करती हूँ इसीलिये ऋषियो ने मुझे 'पुष्करिणी' कहा है । सात अक्षर का यह मन्त्र सबके पोषण का फल प्रदान करता है । मन्त्र—'ॐ पुष्करिण्यै नमः' ॥ १८९-१९०-॥

विमर्शिनी—पद्मपर्यायात् पुष्करशब्दात् व्युत्पत्तिमाह—पुष्करमिति । ॐ पुष्करिण्यै नमः ॥ १८९-१९० ॥

इष्टास्मि सर्वदेवानां सङ्गता हरिणा सदा ॥ १९० ॥

अब **यष्टि नाम का निर्वचन** करती हैं—मैं सभी देवों से पूजित हूँ (यज् धातु पूजा अर्थ में है) सर्वदा विष्णु के साथ रहती हूँ । (यज् धातु सङ्गतिकरण अर्थ में है) ॥ -१९० ॥

विमर्शिनी—यष्टिरिति नामाह—इष्टासमीति । सर्वदेवैः पूजितेत्यर्थः ॥ १९०॥

दात्री च सर्वकामानामखिलस्यावलम्बनम् ।
मामालम्ब्यावतिष्ठन्ते प्रधानपुरुषादयः ॥ १९१ ॥

सभी कामनायें प्रदान करती हूँ (यज् धातु दान् अर्थ में है) समस्त जीवों का अवलम्बन हूँ । इतना ही नही प्रधान और पुरुष भी मेरा अवलम्बन लेकर स्थित हैं ॥ १९१ ॥

विमर्शिनी—लोक में प्रसिद्ध यष्टि शब्द छड़ी अर्थात् दण्ड के अर्थ में है किन्तु यहाँ संगति अर्थ है ॥ १९१ ॥

यष्टिशब्दस्य दण्डार्थकत्वाभिप्रायेणाह—अवलम्बनमिति । मन्त्र- स्वरूपम्—ॐ यष्टये नमः ॥ १९१ ॥

यष्टिरित्येवमृषयो मां ततः संप्रचक्षते ।
षडक्षरो ह्ययं मन्त्रः सर्वयोगफलप्रदः ॥ १९२ ॥

इस कारण महर्षि लोग मुझे 'यष्टि' कहते हैं । यह छह अक्षर का मन्त्र सारे योगों के फलों को देने वाला है । 'ॐ यष्टयै नमः' ॥ १९२ ॥

पिङ्गलास्मि स्वया भासा प्रतप्तकनकाभया ।
पिङ्गाय चाप्यदां पूर्वं यक्षेशाय महाश्रियम् ॥ १९३ ॥
यक्षेशो मां पुरा शक्र पिङ्गलेत्येवमूचिवान् ।

सप्ताक्षरो ह्ययं मन्त्रो योगतेजः समृद्धिदः ॥ १९४ ॥

अब **पिङ्गला का निर्वचन** करती हैं—अपने तेज से मैं तपाये हुये सोने के आभा की भाँति पिङ्गल वर्ण की हूँ, इसलिये पिङ्गला कही जाती हूँ। पूर्वकाल में मैंने पिङ्गनामक यक्षेश्वर को महान् समृद्धि प्रदान की थी, इसलिये पिङ्गला हूँ। (पिङ्गाय लाति ददातीति पिङ्गला ला दाने) हे शक्र ! पूर्वकाल में यक्षेश्वर कुबेर ने मुझे पिङ्गला नाम से अभिहित किया था, इसलिये पिङ्गला हूँ। सात अक्षर का यह मन्त्र योग और तेज की समृद्धि प्रदान करता है। मन्त्र का स्वरूप—'ॐ पिङ्गलायै नमः' ॥ १९३-१९४ ॥

विमर्शिनी—पिङ्गलानामाह—पिङ्गायेति । "ला दाने" इति धातुमभिसन्धायाह—अदामिति । ॐ पिङ्गलायै नमः ॥ १९३ ॥

तोषयामि गुणैर्विष्णुं तुष्यामि च हरेर्गुणैः ।
मयि तुष्टिः समस्तानामीडितायां स्वकर्मभिः ॥ १९५ ॥
तुष्टिर्निरूपिता तेन साहं योगाब्धिपारगैः ।
षडक्षरो ह्ययं मन्त्रो मनःसंतोषदायकः ॥ १९६ ॥

अब **तुष्टि का निर्वचन** करती हूँ—मैं अपने गुणों से विष्णु को संतुष्ट करती हूँ तथा विष्णु के गुणों से स्वयं भी संतुष्ट रहती हूँ। अपने अपने कर्मों से मुझे संस्तुत कर लिये जाने पर सबकी संतुष्टि हो जाती है। इसलिये योग रूप समुद्र को पार करने वाले मुझे 'तुष्टि' कहते हैं। छह अक्षरों वाला यह मन्त्र मन को संतुष्टि प्रदान करता है। 'ॐ तुष्टये नमः' ॥ १९५-१९६ ॥

विमर्शिनी—तुष्टिनामनिर्वचनम्—तोषयामीत्यादिना । ॐ तुष्टये नमः इति षडक्षरो मन्त्रः ॥ १९५ ॥

सुवर्णयामि संसिद्धानपरं परमेव वा ।
अनिदंप्रथमा वर्णाः शोभना मम वाचकाः ॥ १९७ ॥

अब **सुवर्ण नाम का निर्वचन** करती हैं—सुवर्णयामि सुवः नयामि आर्ष णत्वम् । मैं संसिद्ध लोगों को अपर सुव = अर्थात् स्वर्ग लोक एवं परसुव अर्थात् परम पद पहुँचाती हूँ इसलिये सुवर्णा हूँ।

अब 'सुशोभना वर्णा वाचका यस्याः' इस बहुब्रीहि समास द्वारा व्युत्पत्ति से कहते हैं—मेरा वाचक वर्ण शोभा युक्त है जिसे इदमित्थं रूप से कहा नहीं जा सकता । इसलिये मैं सुवर्णा हूँ ॥ १९७ ॥

विमर्शिनी—सुवर्णेति नाम निराह—सुवर्णयामीति । सुवः नयामीति छेदः । आर्षं णत्वम् । अपरं सुवः स्वर्गः । परं सुवः परमपदम् । सु शोभनाः वर्णा

वाचका: यस्या इति व्युत्पत्तिमाह—अनिदमित्यादि ॥ १९७ ॥

नित्या सरस्वती भूत्वा शोभनं वर्णयाम्यहम् ।
सुवर्णेति ततो विप्रैस्तत्त्वज्ञैः परिकीर्तिता ॥ १९८ ॥
सप्ताक्षरो ह्ययं मन्त्रः सर्वसम्पत्समृद्धिदः ।

मैं नित्या सरस्वती बनकर सर्वोत्तम शोभन वर्णों से वर्णन करती हूँ इसलिये तत्त्वज्ञ ब्राह्मणों ने मुझे सुवर्ण कहा है । सात अक्षर का यह मन्त्र सर्वसम्पत्ति एवं समृद्धि प्रदान करता है । ॐ सुवर्णायै नमः ॥ १९८-१९९-॥

विमर्शिनी—अर्थान्तरमाह—शोभनमित्यादि । ॐ सुवर्णायै नमः ॥ १९८॥

हैमं च पर्वतं दिव्यं चन्द्रार्कग्रहपूरितम् ॥ १९९ ॥

अब **हेममालिनी का निर्वचन** करते हैं—सुवर्ण शृङ्गों वाला महामेरु नाम का पर्वत है जो सूर्य चन्द्रमा आदि ग्रहों से परिपूर्ण है ॥ -१९९ ॥

विमर्शिनी—हेममालिनीति नाम निरुच्यते—हैममिति । महामेरुमित्यर्थः । ॐ हेममालिन्यै नमः ॥ १९९ ॥

धारयामि धरा भूत्वा वेधसः स्थितिसिद्धये ।
तुष्टाव मां पुरा तेन विरिञ्चो हेममालिनीम् ॥ २०० ॥
अष्टाक्षरो ह्ययं मन्त्रो मानवानां धृतिप्रदः ।

मैं वेधा (ब्रह्मा) की स्थिति (मर्यादा) की सिद्धि (रक्षा) के लिये पृथ्वी बनकर उसे धारण करती हूँ । इसलिये पहले ब्रह्मदेव ने 'हेममालिनी' शब्द से मेरी स्तुति की । इसलिये मैं हेममालिनी कही जाती हूँ । आठ अक्षरों वाला यह मन्त्र मानवों को धैर्य प्रदान करता है । मन्त्र का स्वरूप—ॐ हेम मालिन्यै नमः ॥ २००-२०१- ॥

हिताय सर्वजीवानां प्रसूये तत्त्वपद्धतिम् ॥ २०१ ॥
रमयामि पुनस्तत्र भुक्त्या मुक्त्या यथार्हतः ।
नियच्छामि तथा कालैः सजीवां तत्त्वपद्धतिम् ॥ २०२ ॥

अब **'सूर्या' नाम का निर्वचन** करती हैं—सभी जीवों के कल्याण के लिये तत्त्व पद्धति (२५ तत्त्व) को उत्पन्न करती हूँ । इसलिये सूर्या हूँ । (षूङ् प्राणिप्रसवे) अब 'र' का अर्थ करती हैं—फिर उन जीवों को जो जैसा है उसे उस प्रकार अधिकारी को भोग और मोक्ष देकर रमण कराती हूँ । रमु क्रीडायाम् । 'य' का अर्थ करती हैं—सजीव तत्त्वपद्धति को काल से नियन्त्रित करती हूँ इसलिये 'य' हूँ (यत्रि सङ्कोचे) ॥ २०१-२०२ ॥

विमर्शिनी—सूर्येति नाम निर्वक्ति—हितायेति । प्रसूये इति सू-शब्दार्थः ॥ २०१ ॥ रमयामीति रेफार्थः । यथार्हतः; अधिकारिभेदेनेत्यर्थः । नियच्छामीति यकारार्थः ॥ २०२ ॥

सूरिभ्यश्च हिता नित्यं सूर्यरूपार्कमण्डले ।
सूर्येति सूरिभिः प्रोक्ता ततोऽहं तत्त्वचिन्तकैः ॥ २०३ ॥
षडक्षरो ह्ययं मन्त्रो भोगमोक्षफलप्रदः ।
इति नाम्नां त्रिपञ्चाशत् सूक्तस्थानां प्रकीर्तिता ॥ २०४ ॥

सूर्य का अर्थ करती हैं—अर्क मण्डल में सूर्य रूप होकर विद्वानों का हित करती हूँ, इसलिये तत्त्व के विचार करने वाले विद्वानों ने मुझे 'सूर्या' कहा है । यहाँ हित अर्थ में यत् प्रत्यय है । छह अक्षर का यह मन्त्र भोग और मोक्ष रूप फल प्रदान करता है । मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार है—ॐ सूर्यायै नमः (इस प्रकार श्रीसूक्तस्थ ५३ शब्दों का निर्वचन किया गया)॥ २०३-२०४॥

विमर्शिनी—अर्थान्तरमाह—सूरिभ्यश्चेति । हितेति; यत्प्रत्ययार्थ इति भावः । ॐ सूर्यायै नमः ॥ २०३ ॥

श्रीसूक्तमहिमा

कृतार्थयन्ति मां प्राप्य धीराः स्वैः स्वैरभीप्सितैः ।
यद्यप्येषां मया प्रोक्ता व्यवस्था फलगोचरा ॥ २०५ ॥
न तावदेव माहात्म्यमेषां चिन्त्यं विपश्चिता ।
आ मोक्षान्निर्विचारेण सर्वा सर्वफलप्रदा ॥ २०६ ॥

धीर लोग इस श्री सूक्त से मुझे प्राप्त कर अपने अपने अभीष्ट की प्राप्ति से अपने को कृतार्थ कर लेते हैं । यद्यपि मैंने श्रीसूक्त की यह व्यवस्था फल प्राप्ति की दृष्टि से कही हैं । किन्तु बुद्धिमानों को श्रीसूक्त का मात्र इतना ही माहात्म्य है ऐसा नही सोचना चाहिये । श्रीसूक्त में कहे गए ये सभी नाम मोक्ष पर्यन्त समस्त फल प्रदान करते हैं ॥ २०५-२०६ ॥

नामावली यतो ह्यस्याः श्रीरहं देवता परा ।
नक्षत्राणि यथा व्योम्नि यथा रत्नानि वारिधौ॥ २०७ ॥
वसुधायां यथा भोगा यथा कामाः सुरद्रुमे ।
महिमानो यथा गोषु तेजांसि ब्राह्मणे यथा ॥ २०८ ॥
यथानन्ता गुणा दिव्या देवदेवे जनार्दने ।
महिमानो ह्यसीमानस्तथास्मिन् सूक्तके मम ॥ २०९ ॥

यत: यह नामावली है इसकी श्रीस्वरूपा मैं देवता हूँ । जिस प्रकार आकाश में नक्षत्रों की गणना नहीं की जा सकती, समुद्र में रत्नों की, पृथ्वी में भोगों की एवं कल्पवृक्ष में कामनाओं के प्रदान की, गौ के महिमा की और ब्राह्मण में तेजस्विता की गणना नहीं की जा सकती अथवा जिस प्रकार भगवान् जनार्दन में अनन्त गुण है उसी प्रकार इस श्री सूक्त में हमारी अनन्त महिमा भरी हुई है ॥ २०७-२०९ ॥

यावान् हि भगवान् काल: कलाकाष्ठादिलक्षण:।
तावता नैव शक्नोमि वक्तुं सूक्तगुणानहम् ॥ २१० ॥

कला काष्ठादि लक्षण वाले भगवान् काल जितने दिन तक वर्त्तमान हैं उतने काल पर्यन्त यदि मैं गणना करती रहूँ तो भी इस श्रीसूक्त की महिमा की गणना संभव नही है ॥ २१० ॥

सैषा वेदविदां निष्ठा सैषा तन्त्रविदां गति: ।
मां प्रपद्येत सततं सूक्तेनानेन मानव:॥ २११ ॥

यही वेदवेत्ताओं की निष्ठा है, तत्त्ववेत्ताओं का यही ज्ञान है कि मनुष्य इस श्रीसूक्त के जप से मुझे प्राप्त करे ॥ २११ ॥

विमर्शिनी—सैषेत्यस्य प्रतिसंबन्धी यदिति शब्द अध्याहार्य: । मां प्रपद्येतेति यत् सैषेति निष्ठाशब्दानुगुण: स्त्रीलिङ्गनिर्देश:; "शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य" इतिवत् ॥ २११ ॥

श्रीप्रपत्तिनिरूपणम्

सूक्तार्थमनुसंस्मृत्य चिरं सूक्तमधीत्य च ।
लब्धे चित्तप्रसादे तु मां प्रपद्येत वै गतिम् ॥ २१२ ॥

शरणागति—साधक सूक्त के अर्थ का विचार कर तथा सूक्त का चिरकाल तक शब्दत: अध्ययन कर जब चित्त में प्रसन्नता प्राप्त कर लेता है, तब उसे मेरा ज्ञान हो जाता है जिससे वह मुझे प्राप्त कर लेता है ॥ २१२॥

प्रपद्यमानो मां नित्यं देवं वा पुरुषोत्तमम् ।
इत्येवमनुसंदध्याच्छ्रद्दधानो जितेन्द्रिय:॥ २१३ ॥

साधक को मेरा प्रपदन (शरण) प्राप्त कर अथवा भगवान् पुरुषोत्तम का शरण प्राप्त कर इस प्रकार से जितेन्द्रिय होकर श्रद्धापूर्वक मेरा अनुसन्धान करना चाहिए ॥ २१३ ॥

विमर्शिनी—इत्येवमिति । वक्ष्यमाणरीत्येत्यर्थ: ॥ २१३ ॥

प्रातिकूल्यं परित्यक्तमानुकूल्यं च संश्रितम् ।
मया सर्वेषु भूतेषु यथाशक्ति यथामति ॥ २१४ ॥

मैंने सभी प्राणियों में यथाशक्ति यथामति प्रतिकूल भाव का त्याग कर दिया । अनुकूल भाव का आश्रय लिया है ॥ २१४ ॥

विमर्शिनी—प्रातिकूल्यमित्यादिना सप्तदशेऽध्याये प्रोक्तान्यङ्गान्यत्र स्मार्यन्तेति विवेक: ॥ २१४ ॥

अपायेभ्यो निवृत्तोऽस्मि पातकेभ्यो भवोदधौ ।
तथाप्यत्र प्रवृत्तिर्या त्वत्स्मृते: सापि नश्यतु ॥ २१५ ॥

सभी प्रकार के अनर्थकारी पापों से निवृत्त हो चुका हूँ तथापि हे भगवति ! मेरी जो इसमें अभी तक स्मृति बनी हुई है वह भी नष्ट हो जावे ॥ २१५ ॥

अलसस्याल्पशक्तेश्च यथावच्चाविजानत: ।
उपायाश्चोदिता: शास्त्रैर्न मे स्युस्तारकास्त्रय: ॥ २१६ ॥

मैं आलसी और अल्पशक्ति हूँ, ठीक तरह से कर्त्तत्याकर्त्तव्य का ज्ञान भी मुझ में नही है । शास्त्रों में ऐसे भवसागर पार करने के लिये जो तीन उपाय कर्म, ज्ञान और भक्ति बताए गए हैं वे मुझे तरण तारण करने में समर्थ नहीं हैं ॥ २१६ ॥

विमर्शिनी—त्रय: = कर्मज्ञानभक्त्यादय उपाया इत्यर्थ: ॥ २१६ ॥

तथाप्यत्र प्रवृत्तिर्या त्वदाज्ञापालनं तु तत् ।
ततोऽहमनुपायत्वात् कृपणोऽकिञ्चनोऽगति: ॥ २१७ ॥

इतना जानकर भी जो (मैं उन शास्त्रविहित उपायो में) प्रवृत्त हुआ हूँ वह तो आपकी आज्ञा का पालन कर रहा हूँ । अत: उपायरहित होने से मुझ कृपण एवं दरिद्र की गति आप ही हैं ॥ २१७ ॥

विमर्शिनी—शास्त्रों में मोक्ष के विहित उपाय, यथा—यज्ञ, दान, तप, उपवास के द्वारा ब्राह्मण जिसे प्राप्त करना चाहते हैं उस ॐकार का ध्यान करे और अपने को ॐकार से संयुक्त करे । मैं मुक्त होने की इच्छा से आपके शरणागत हूँ । नियमत: आप कर्म करे । मेरे शरण में आओ और श्री के शरण में प्राप्त होना चाहिये इत्यादि शास्त्रविहित उपायों के पालन में असमर्थ हूँ ॥ २१७ ॥

तथापीति । चोदितानामनुपायत्वेऽपीत्यर्थ: । अत्र: उपायेषु । आज्ञापरिपालनमिति । "ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन" "ओमित्येवं ध्यायथ"

''ओमित्यात्मानं युञ्जीत'' ''मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये'' ''नियतं कुरु कर्म त्वम्'' ''मामेकं शरणं व्रज'' ''प्रपद्येन्नियतः श्रियम्'' इत्यादिविधिरूपाज्ञापरिपालन -मित्यर्थः ॥ २१७ ॥

छायामाश्रित्य वर्तेऽहं त्वदीयां तापहारिणीम् ।
निरुपाधिः स्वतन्त्रा च स्वामिनी नः कृपानिधिः ॥ २१८ ॥

हे मातः ! मै केवल तापहारिणी आपकी कृपा का आश्रय लेकर जी रहा हूँ । उपाधिरहित स्वतन्त्र कृपा की निधि तुम्हीं मेरी स्वामिनी हो ॥ २१८ ॥

विमर्शिनी—छायामिति = त्वत्कृपामिति यावत् ॥ २१८ ॥

त्वमेव सर्वशास्त्रेषु शरणत्वेन गीयसे ।
आत्मात्मीयं च यत्किंचिद् दुस्त्यजं दुर्भरं मतम् ॥ २१९ ॥
तत् सर्वं तव विन्यस्तं शुभयोः पादपद्मयोः ।
उपेयायास्तव प्राप्त्यै त्वामुपायं तथा वृणे ॥ २२० ॥

हे मातः ! समस्त शास्त्रों में शरण प्रदातृत्व रूप से आपका गान किया गया है। मैं स्वयं और जो मेरा है, जो सर्वथा दुस्त्यज है और जो दुर्भर है, हे मातः ! आत्मा आत्मीय वह रूप से सब मैंने आपके कल्याणकारी चरणों में समर्पित कर दिया है क्योंकि तुम्ही उपेय (उपाय से प्राप्त होने वाली) हो, आपकी प्राप्ति के लिये मैंने इस उपाय का वरण किया है ॥ २१९-२२० ॥

विमर्शिनी—सर्वं विन्यस्तमित्यनेनात्मात्मीयनिक्षेप उच्यते ॥ २२० ॥

उपायो भव मे देवि शरणं भव मेऽम्बुजे ।
प्लुष्य मे दुरितं सर्वं पुष्य मे त्वद्गतां धियम् ॥ २२१ ॥

अतः हे देवि ! आप मेरा उपाय बनो । हे अम्बुजे ! आप मुझे शरण प्रदान करें, मेरा समस्त पाप नष्ट करें, जिस प्रकार मेरी बुद्धि आपकी शरण में बनी रहे मेरी इस प्रकार की बुद्धि को और अधिक पुष्ट करे ॥ २२१ ॥

विमर्शिनी—पुष्य धियमित्यनेन फलभक्तिः प्रार्थ्यते ॥ २२१ ॥

इत्येवमनुसन्धाय मां प्रपद्येत वै गतम् ।
आदिदेवं जगन्नाथमीशं वा पुरुषोत्तमम् ॥ २२२ ॥

साधक को इस प्रकार का अनुसन्धान कर अपनी गति के लिये मेरी शरण में अथवा आदि देव पुरुषोत्तम भगवान् जगन्नाथ के शरण में प्राप्त हो जाना चाहिए ॥ २२२ ॥

श्रीसूक्तलक्ष्मीतन्त्रयोः फलश्रुतिः

परं स्वस्त्ययनं शक्र सर्वालक्ष्मीनिबर्हणम् ।
श्रावयेत् कर्मकालेषु मत्सूक्तस्य विधिं नरः ॥ २२३ ॥

श्रीसूक्त की फलश्रुति—हे शक्र ! यह श्रीसूक्त अत्यन्त कल्याणकारक है, समस्त दरिद्रता को दूर करने वाला है । अतः कर्मकाल में मनुष्य इस श्रीसूक्त की विधि अन्यों को भी सुनावे ॥ २२३ ॥

समर्थयति कर्माणि श्रोतारं पोषयत्युत ।
निर्णुदत्यखिलां मायामलक्ष्मीं च मलैः सह ॥ २२४ ॥

यह श्रीसूक्त फल प्रदान में मनुष्यों को समर्थ बनाता है,सुनने वाले को पुष्ट करता है । प्रकृति के सभी सम्बन्धों को तथा मल के सहित दरिद्रता को नष्ट कर देता है ॥ २२४ ॥

विमर्शिनी—समर्थयति; फलप्रदानसमर्थानि करोति । मायाम् = प्रकृति-संबन्धम् । अलक्ष्मीं च मलैः सहेत्यनेन "क्षुत्पिपासामलां ज्येष्ठामलक्ष्मीं नाशयाम्यहम्" इति श्रीसूक्तार्थः स्मार्यते ॥ २२४ ॥

एतदभ्यस्यमानं हि कर्मणा मनसा गिरा ।
त्रायते महतः पापाच्छ्रियं चावहति ध्रुवम् ॥ २२५ ॥

यह श्रीसूक्त कर्म मन और वाणी से अभ्यास किये जाने पर बहुत बड़े-बड़े पापों से रक्षा करता है और निश्चित रूप से अभीष्ट श्री प्रदान करता है ॥ २२५ ॥

विमर्शिनी—त्रायत इत्यादिना अनिष्टनिवृत्तिरिष्टप्राप्तिश्चोच्यते ॥ २२५ ॥

इति ते कथितं शक्र तन्त्रमेतदनुत्तमम् ।
यत्र सर्वाणि वर्तन्ते विज्ञानानि विपश्चिताम् ॥ २२६ ॥

हे शक्र ! इस प्रकार मैंने यह उत्तमोत्तम लक्ष्मी तन्त्र आपसे कहा । जिसमें विद्वानों के समस्त विज्ञान वर्त्तमान है ॥ २२६ ॥

मोक्षशास्त्रं यथा श्रेष्ठं शास्त्राणां विविधात्मनाम् ।
द्विपदां ब्राह्मणः श्रेष्ठो यथा गौश्च चतुष्पदाम् ॥ २२७ ॥

जिस प्रकार अनेक प्रकार के शास्त्रों में मोक्ष शास्त्र श्रेष्ठ है । दो पद वालों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है, चार पद वालों में गौ श्रेष्ठ है ॥ २२७ ॥

लोहानां कनकं श्रेष्ठं रत्नानां कौस्तुभो यथा ।

माता श्रेष्ठा गुरूणां च पुत्रः प्रवदतां यथा ॥ २२८ ॥

लोहा में सुवर्ण श्रेष्ठ है, रत्नों में कौस्तुभ श्रेष्ठ है, पूज्य वर्गों में सर्वाधिक माता श्रेष्ठ है, बोलने वालों में पुत्र श्रेष्ठ है ॥ २२८ ॥

इन्द्रियाणां मनः श्रेष्ठं चलतां च मरुद्यथा ।
मेरुः श्रेष्ठो गिरीणां च त्रिस्रोताः सरितां यथा ॥ २२९ ॥

इन्द्रियों में मन श्रेष्ठ है, चलने वालों में वायु श्रेष्ठ है, पर्वतों में सुमेरु श्रेष्ठ है, नदियों में एवं तीन स्वर्ग, मर्त्य (पातालस्थ) तीन धाराओं वाली गङ्गा श्रेष्ठ है ॥ २२९ ॥

आश्रमाणां गृहस्थश्च वसिष्ठो जपतां यथा ।
तत्त्वानां सर्वसंन्यासो धीर्लाभानां यथोत्तमा ॥ २३० ॥

आश्रमियो में गुहस्थ, जप करने वालों में महामुनि वशिष्ठ, तत्त्वो में सर्वसन्यास तथा लाभों में बुद्धि का लाभ जिस प्रकार श्रेष्ठ है ॥ २३० ॥

विमर्शिनी—आश्रमाणामिति । आश्रमिणामित्यर्थः ।

तथोत्तममिदं तन्त्रं तन्त्राणां तत्त्ववादिनाम् ।
भगवान् वासुदेवोऽस्मिन् विष्णुर्नारायणो गुरुः ॥ २३१ ॥
अहं च कीर्तितौ सम्यक् स्वरूपगुणवैभवैः ।
अस्यां हि मन्मतौ सक्ता विशुद्धज्ञाननिश्चया: ॥ २३२ ॥

उसी प्रकार तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले आगम एवं तन्त्रों में यह लक्ष्मीतन्त्र सर्वोत्तम है । इस तन्त्र में स्वरूप, गुण एवं वैभव सहित भगवान् नारायण, सर्व गुरु स्वरूप वासुदेव तथा मैं स्वयं प्रतिपादित की गई हूँ । मेरा मत प्रतिपादन करने वाली इस निःश्रेणिका (सीढी) में निश्चय ही विशुद्ध ज्ञान स्थित है ॥ २३१-२३२ ॥

एतां निश्रेणिकां गृह्य ह्यारोहन्ति परं पदम् ।
तन्त्राणां परमं तन्त्रं मुद्रितं मत्समाख्यया ॥ २३३ ॥

इस सीढ़ी का आश्रय लेकर भक्त जन परम पद तक पहुँच जाते हैं । वस्तुतः यह लक्ष्मीतन्त्र सभी तन्त्रों में श्रेष्ठ है क्योंकि इस पर मेरा आख्यान मुद्रित है ॥ २३३ ॥

नाव्रतस्नायिने देयं न कृतघ्नाय वै तथा ।
न चातन्त्रविदे नित्यं नासूयादूषिताय च ॥ २३४ ॥

जो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन बिना किये ही शास्त्रीय रीति से स्नातक न हो, जो कृतघ्न हो, जो तन्त्र में श्रद्धा न रखता हो, जो निन्दनीय हो, दूषित हो, उसे इस तन्त्र का उपदेश कदापि न करे ॥ २३४ ॥

नावासुदेवभक्ताय न चाभक्तिमते मयि ।
देयमेतत् सुशीलाय सुस्नाताय तपस्विने ॥ २३५ ॥

जो भगवान् वासुदेव का भक्त न हो ऐसे अवैष्णव को, जो मुझ में भक्ति न रखता हो ऐसे शक्तिरहित को भी इस तन्त्र का उपदेश न करे । यह तन्त्र शीलवान् को, सुस्नात को तथा तपस्वी को देना चाहिये ॥ २३५ ॥

निर्णीतवेदतन्त्राय मद्भक्ताय विशेषतः ।
भूयसीं वहते भक्तिं वासुदेवे जनार्दने ॥ २३६ ॥
शुचिव्रताय दक्षाय सदनुष्ठानशीलिने ।
एतत्ते कथितं सर्वं यत्पृष्टाहमिह त्वया ॥
प्रीताहं त्वयि देवेश किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २३७ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रे श्रीसूक्तप्रभावप्रकाशो नाम पञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५० ॥

जो वेद तन्त्र में सुपरीक्षित हो, विशेष कर मुझ लक्ष्मी में भक्ति रखता हो, किं बहुना, भगवान् वासुदेव में जिसकी अधिकाधिक भक्ति हो, जो शुचितापूर्वक व्रत का आचरण करने वाला, दक्ष तथा उत्तम अनुष्ठान करने का अभ्यास किया हो, उसी को यह तन्त्र देना चाहिये ।

हे शक्र ! आपने जो पूछा था वह सब मैंने कह दिया । हे देवेश ! मैं आप पर प्रसन्न हूँ अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ २३६-२३७ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्र के श्रीसूक्तप्रभावप्रकाश नामक पचासवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशोऽध्यायः

तन्त्रार्थसंग्रहः

लक्ष्मीतन्त्रार्थसंग्रहकथनप्रार्थना

उत्पत्तिप्रलयौ चैषां फलं चैवावधारितम् ।
प्रतिपत्तिविशेषाश्च येषु तेषु यथा तथा ॥ १ ॥

इन्द्र ने कहा—हे देवि ! मैंने उत्पत्ति, प्रलय तथा इनके फल को समझ लिया है । जिनमें जो जो विशेष बातें थीं, उनमें और वह जिस प्रकार थी मैंने उसे भी समझ लिया है ॥ १ ॥

नित्यानि पञ्च कृत्यानि कादाचित्कानि चैव ते ।
चर्यापादक्रियापादौ पादौ च ज्ञानयोगयोः ॥ २ ॥

नित्य पञ्चकृत्यों को तथा आपके किसी किसी समय विशेष में लिये गए अवतारों को तथा तन्त्र के चर्यापाद, क्रियापाद, ज्ञानपाद एवं योगपादों को भी सुना ॥ २ ॥

इति नानाविधं तन्त्रं चतुष्पादोपबृंहितम् ।
पुराकृत्या पुराकल्पैरितिहासैश्च संमितम् ॥ ३ ॥
रहस्यानेकसंभेदं नानावाक्योपशोभितम् ।
लक्ष्मीतन्त्राह्वयं सम्यक् सद्यः प्रत्यायकं नृणाम् ॥ ४ ॥

इस प्रकार उपर्युक्त चारो पादों से परिवर्द्धित, अनेक प्रकार के तन्त्रों, पुराकल्पों और इतिहासों से जो युक्त हैं, ऐसे रहस्यों के अनेक भेदों वाले, अनेक प्रकार के विशेष वाक्यों से शोभित यह लक्ष्मीतन्त्र नाम वाला तन्त्र मनुष्यों को सद्यः विश्वसित करने वाला है ॥ ३-४ ॥

मया समाहितेनैव यथावदवधारितम् ।

अम्य विस्तृतरूपत्वात् सम्यक्कालविपर्ययात् ॥ ५ ॥
चेतसोऽल्पबलत्वाच्च यथावन्नैव भासते ।
अस्मान्महार्णवाद्देवि त्वज्ज्ञानपरिपूरितात् ॥ ६ ॥
सर्वतः सारमुद्धृत्य लोकानां हितकाम्यया ।
तन्त्रसंक्षेपमाख्याहि नमस्ते पद्मसंभवे ॥ ७ ॥

इसे यद्यपि मैने बहुत सावधानी से जैसा कहा गया उसी प्रकार आपने सुना । किन्तु इसका स्वरूप बहुत विस्तृत होने से और काल के विपर्यय होने से तथा चित्त की अल्पशक्तिता होने से जैसा चाहिये था वैसा वह मुझे भासित नहीं हुआ । हे देवि ! आप अपने ज्ञान से परिपूर्ण इस तन्त्र सागर से सब प्रकार का सार उद्धृत कर संसार के हित की कामना से संक्षेप में कहिये । हे पद्मसंभवे ! आपको नमस्कार ॥ ५-७ ॥

नारदः—

इति सञ्चोदिता देवी वत्सेनेव पयस्विनी ।
स्निह्यता मनसा पद्मा पाकशासनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

नारद ने कहा—जिस प्रकार वत्स अपनी दूध देने वाली माता को दूध के लिये प्रेरित करता है, उसी प्रकार इन्द्र द्वारा प्रेरित भगवती पद्मा महालक्ष्मी ने स्नेहिल चित्त से इन्द्र से कहा ॥ ८ ॥

श्रीः—

साधु संबोधिता सम्यग् वत्स वृत्रनिषूदन ।
श्रृणु संक्षेपमाख्यामि तन्त्रादस्मात् समुद्धृतम् ॥ ९ ॥

श्री ने कहा—हे वत्स ! वृत्रनिषूदन ! आपने मुझे ठीक-ठीक याद दिलाया । अब आप इस तन्त्र से उद्धृत सार को संक्षेप में सुनिए ॥ ९ ॥

शुद्धभावाः

अहंता सर्वभूतानामहमस्मि सनातनी ।
आरोहेणावरोहेण विश्वसिद्धिकरी स्मृता ॥ १० ॥

मैं सभी प्राणियों में सनातन से विद्यमान रहने वाली अहन्ता हूँ । आरोहण और अवरोहण के क्रम से विश्व की सिद्धि करती हूँ । सञ्चालन करने वाली हूँ ॥ १० ॥

परमं यदहंताख्यं तुर्यातीतं तदुच्यते ।
परं ब्रह्म परं धाम लक्ष्मीनारायणं तु तत् ॥ ११ ॥

जो सबसे श्रेष्ठ अहन्ता है, उसे तुर्यातीत कहते हैं, वह परब्रह्म एवं परंधाम तथा लक्ष्मीनारायण स्वरूप है ॥ ११ ॥

न तत्र प्रविभागो नौ भवद्भावव्यवस्थितौ ।
उन्मेषस्तत्र यो नाम यथा चन्द्रोदयेऽम्बुधौ ॥ १२ ॥
अहं नारायणी शक्तिः सिसृक्षालक्षणा तथा ।
तुर्यावस्था च सा मे स्यात् परिणामोद्भवात्मिका ॥ १३ ॥

उस लक्ष्मीनारायणात्मक परं ब्रह्म में हम दोनों में किसी प्रकार का भेद नहीं है । जिस प्रकार चन्द्रोदय काल में समुद्र में ज्वार उठता है, उसी प्रकार नारायण में जो उन्मेष है वही अहन्ता नारायणी शक्ति है । सृष्टि की इच्छा ही उस उन्मेष का लक्षण है । मेरी परिणामोद्भवात्मिका जो शक्ति है, वह मेरी तुर्यावस्था है । मैं जब सृष्टि रूप में परिणत (बदल जाती हूँ) होती हूँ तब उसे परिणामोद्भवावस्था कहते हैं ॥ १२-१३ ॥

शुद्धाशुद्धमयो भावः सर्वोऽप्यन्तर्गतस्तदा ।
व्यूहाश्च विभवाश्चैव तथा व्यूहान्तरादिकाः ॥ १४ ॥

उस समय सभी शुद्धाशुद्धभाव, व्यूह, विभव तथा अन्य व्यूहान्तर उसके अन्तर्गत रहते हैं ॥ १४ ॥

अयं शुद्धमयो भावो यच्चान्यद्भगवन्मयम् ।
व्यूहे च विभवे चैव तथा व्यूहान्तरादिके ॥ १५ ॥
सुषुप्ताद्या अवस्था मे प्रत्येकं चैवमुन्नयेत् ।

जो अन्य भगवन्मय है यह शुद्धमय भाव है । व्यूह में, विभव में तथा अन्य व्यूहान्तरो में, इसी प्रकार मेरे सुषुप्तादि अवस्था को शुद्धमय भाव के रूप में समझना चाहिये ॥ १५-१६- ॥

अव्यक्तमहदाद्याश्च तथा वैकारिकं जगत् ॥ १६ ॥

अशुद्धभावाः

शुद्धेतरस्त्वयं भावस्तिस्रोऽवस्थाश्च तत्र वै ।
प्रत्येकमुन्नयेच्चैवं तत्र तत्र दिवस्पते ॥ १७ ॥

अव्यक्त, महदादि तथा वैकारिक समस्त जगत् ये भाव शुद्धेतर कहे जाते हैं । हे दिवस्पते ! उसमें तीन अवस्थायें प्रत्येक के क्रम से वहाँ-वहाँ जाननी चाहिये ॥ -१६-१७ ॥

प्रकारान्तरेण शुद्धाशुद्धभावाः

भूते स्थिते च विज्ञेया दशा एताश्चतुर्विधाः ।
अपरोऽस्ति क्रमस्त्वेवं शुद्धाशुद्धमयेऽध्वनि ॥ १८ ॥

पञ्चभूत की स्थिति में ये चारो जाग्रदादि दशायें जाननी चाहिये और शुद्धाशुद्धमय अध्वा में इस प्रकार दूसरा क्रम समझना चाहिये ॥ १८ ॥

प्रमातृकरणज्ञेयेष्वारोहेषु मदात्मके ।
शून्यप्राणादिभेदेन क्रमान्मातृगणा दश ॥ १९ ॥

मदात्मक प्रमातृकरण ज्ञेय रूप आरोह में शून्य प्राणादि भेद से क्रमशः दश मातृगण होते हैं ॥ १९ ॥

करणं द्विविधं विद्धि बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
उभयोरपि तावद्धि तूष्णींभावादिके क्रमे ॥ २० ॥
ज्ञेयं बहुविधं प्रोक्तं तत्राप्येवं समुन्नयेत् ।
तुर्यातीतत्त्वमेतेषां भगवद्भाववेदनम् ॥ २१ ॥

हे इन्द्र ! करण दो प्रकार का समझो । इनके बाह्य और अभ्यन्तर दो भेद होते हैं । उन दोनों में तब तक तूष्णींभावादि क्रम में ज्ञेय अनेक प्रकार के होते है, ऐसा समझना चाहिये । इनके भगवद्भाव विषयक ज्ञान ही तूर्यातीतत्त्व है ॥ २०-२१ ॥

अवरोहोऽयमुद्दिष्ट आरोहमपि मे श्रृणु ।
चरमां कोटिमारभ्य मदन्तोऽभूद्व्यवस्थितः ॥ २२ ॥

सृष्टि का आरोहक्रम—हमने सृष्टि का यह अवरोह क्रम वर्णन किया । आरोह क्रम को सुनिए । यह आरोह क्रम अन्तिम कोटि से आरम्भ कर मेरे पर्यन्त व्यवस्थित है ॥ २२ ॥

आरोहः स तु विज्ञेयः शुद्धाशुद्धमयेऽध्वनि ।
आरोहमवरोहं च संततं भावयन्नरः ॥ २३ ॥

जो शुद्धाशुद्धमय अध्वा में होता है उसे आरोह क्रम समझना चाहिये । इस प्रकार के आरोह और अवरोह क्रम की भावना करने वाला मनुष्य का चित्त मुझ में आसक्त हो जाता है ॥ २३ ॥

मच्चित्तो मद्गतप्राणो मद्भावं समुपाश्नुते ।
आकारकालदेशान्मे परिच्छेदोऽस्ति नैव च ॥ २४ ॥

उसके प्राण मुझ में स्थिर हो जाते है और वह मेरे भाव का आस्वादन करने लगता है । आकार, काल और देश से मेरा परिच्छेद नहीं हो सकता ॥ २४ ॥

मयैव ज्ञानरूपिण्या व्याप्तास्ते पाकशासन ।
आत्मभित्तौ जगत् सर्वमिच्छयोन्मीलयाम्यहम् ॥ २५ ॥

हे पाकशासन ! उनसे मेरा परिच्छेद तो दूर रहा । वे सभी ज्ञानस्वरूपा मुझ से ही व्याप्त है । मैं अपनी आत्मभित्ति में सारे जगत् को चित्र रूप में लिख लेती हूँ ॥ २५ ॥

तद्रूपतारतम्येन ग्राह्यग्राहकसंस्थितिः ।
वाच्यात्मपरिणामोऽयं लेशतस्ते प्रदर्शितः ॥ २६ ॥

उनके रूप के तारतम्य से ग्राह्य एवं ग्राहक की स्थिति होती है । इस प्रकार वाच्यात्म का यह परिणाम, लेशमात्र प्रदर्शित किया ॥ २६ ॥

वाचकात्मानमस्य त्वं समाहितमनाः शृणु ।
शुद्धसंविन्मयी पूर्वं विवर्ते प्राणरूपतः ॥ २७ ॥

अब हे इन्द्र ! इसके वाचक स्वरूप को सावधनी से सुनिए । शुद्ध सविन्मयी मैं पूर्व में प्राण रूप से वर्त्तमान रहती हूँ ॥ २७ ॥

तत्तत्स्थानप्रसङ्गेन विवर्ते शब्दतस्तथा ।
शान्ता सूक्ष्मा तथा मध्या वैखरीति विवेकिनी ॥ २८ ॥

मैं तत्-तत् स्थान के प्रसङ्ग से शब्दरूप में विवर्तित होती हूँ, जो शान्ता, सूक्ष्मा तथा मध्या एवं वैखरी रूप से परिज्ञात होती है ॥ २८ ॥

चतूरूपं चतूरूपवाचि वाच्यं स्वनिर्मितम् ।
शान्ता विवर्तमानाहं प्रपद्ये सूक्ष्मसंस्थितिम् ॥ २९ ॥

इन वाचक के चार रूप तथा वाणियों के स्वनिर्मित वाच्य के (अर्थ) के भी चार रूप होते हैं । शान्ता में वर्त्तमान रहकर मैं सूक्ष्मस्थिति में प्राप्त हो जाती हूँ ॥ २९ ॥

शक्तिर्नाद इति द्वेधा सूक्ष्मरूपव्यवस्थितिः ।
सूक्ष्मा विवर्तमानाहं प्रपद्ये मध्यमां स्थितिम् ॥ ३० ॥

उस सूक्ष्म रूप की व्यवस्थिति शक्ति और नाद दो रूपो में होती है । इस प्रकार से सूक्ष्मा में वर्त्तमान रहकर मैं मध्यमा की स्थिति में प्राप्त हो जाती हूँ ॥ ३० ॥

बिन्दुसंस्कारसम्पत्तिः सावस्थाक्षरसंततेः ।
मध्या विवर्तमानाहं प्रपद्ये वैखरीस्थितिम्॥ ३१ ॥
पञ्चाशदादिभेदेन सावस्थाक्षरसंततेः ।
आरोहमवरोहं च संततं भावयन्निमौ ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः शब्दातीतं प्रपद्यते ॥ ३२ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रोद्धारे तन्त्रार्थसंग्रहे
एकपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

...❦...

उस समय अक्षरों की संतति की अवस्था बिन्दु और संस्कार मात्र सम्पत्ति रहती है । फिर मध्यमा में वर्त्तमान मैं वैखरी की स्थिति में प्राप्त हो जाती हूँ। उस समय अक्षर संतति की अवस्था ५० रूपों में हो जाती है । मेरे इस आरोह तथा अवरोह की भावना करने वाला साधक शब्दब्रह्म में निष्णात होकर शब्दातीत परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥ ३१-३२ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्रोद्धार के तन्त्रार्थसंग्रह में इक्यावनवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ५१ ॥

...❦...

द्विपञ्चाशोऽध्यायः

तन्त्रार्थसंग्रहः

सर्वस्य शब्दप्रपञ्चस्य मन्त्रात्मकत्वम्

श्रीः—

अथ मन्त्रमयं मार्गं शृणु वत्स पुरन्दर ।
प्रकाशानन्दरूपाहं पूर्णाहंता हरेरहम् ॥ १ ॥

श्री ने कहा—हे वत्स इन्द्र ! अब मन्त्रमय मार्ग को सुनिए । मैं भगवान् विष्णु की प्रकाशानन्दरूपा पूर्णाहन्ता हूँ ॥ १ ॥

मन्त्रमातेति मां विद्धि प्राणाख्यां शुद्धचिन्मयीम् ।
उद्यन्ति मत्त एवैते यान्ति चास्तं मयि ध्रुवम् ॥ २ ॥

मैं शुद्ध चिन्मयी प्राण नाम से कही जाने वाली मन्त्रों की माता हूँ, ये सभी मन्त्र मुझ में उत्पन्न होते हैं और मुझ में ही अन्त को भी प्राप्त हो जाते हैं ॥ २ ॥

अहं च बलमेतेषां मद्रूपत्वं विदन्ति ते ।
एकधा च द्विधा चैव त्रिधा चैवाहमूर्जिता ॥ ३ ॥
चतुर्धा पञ्चधा षोढा सप्तधा चाष्टधा तथा ।
तथा षोडशधा चैव पञ्चविंशतिधा तथा ॥ ४ ॥
पञ्चाशद्धा पुनश्चैव पुनश्चाहं त्रिषष्टिधा ।
उदेमि बहुधा चैव चिन्तामणिरिवेश्वरी ॥ ५ ॥

मैं ही इनका बल हूँ । ये मन्त्र मेरे स्वरूप को जानते हैं । मैं एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ, फिर १६, फिर २५, फिर ५०, पुनः ६३ प्रकारों तथा बहुत प्रकारों से उदय प्राप्त करती हूँ जैसे ईश्वरी स्वयं चिन्तामणि बनकर अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती है ॥ ३-५ ॥

स्वराश्च व्यञ्जनाश्चैव स्वरव्यञ्जनसंहतिः ।
अक्षराणि पदान्येवं वाक्यप्रकरणैः सह ॥ ६ ॥
आह्निकाध्याययोश्चैव शास्त्रतन्त्रव्यवस्थितिः ।
आगमा बहुधा चैव बाह्याबाह्यव्यवस्थितिः ॥ ७ ॥
लौकिका वैदिकाश्चैवं भाषाश्च विविधास्तथा ।
मन्त्ररूपमिदं विद्धि सर्वं मद्रूपवेदिनाम् ॥ ८ ॥

स्वर व्यञ्जन अलग-अलग तथा परस्पर मिले हुये स्वर व्यञ्जन वाक्य प्रकरणो के साथ अक्षर, पद आह्निक कर्म में, स्वाध्याय में, शास्त्र, तन्त्र में व्यवस्थित रूप से पढ़े गए अनेक प्रकार के आगम और बाह्य तथा अबाह्य रूप से व्यवस्थित अनेक प्रकार की लौकिक वैदिक भाषायें ये सभी मेरे स्वरूप जानने वाले मन्त्रों के भेद हैं ॥ ६-८ ॥

बीजमन्त्राः

भावनातारतम्येन ग्राह्यग्राहकसंस्थितिः ।
आसत्तिविप्रकर्षौ च भावनातारतम्यतः ॥ ९ ॥

भावना के तारतम्य से इनकी ग्राह्य ग्राहक स्थिति होती है । भावना के तारतम्य से इनमें सामीप्य तथा दूरी का विप्रकर्ष होता रहता है ॥ ९ ॥

बीजं पिण्डं पदं संज्ञेत्येवं मन्त्राश्चतुर्विधाः ।
तेषां प्रधानतो विद्धि पञ्च रत्नानि वासव ॥ १० ॥

बीज, पिण्ड, पद और संज्ञा भेद से मन्त्र चार प्रकार के होते हैं । हे वासव ! उन मन्त्रों में प्रधान रूप से पाँच रत्न हैं ऐसा समझो ॥ १० ॥

मत्सूक्ते तानि बीजानि दध्नि सर्पिरिवाहितम् ।
सूर्यसोमाग्निखण्डोत्थं नादवत् पाकशासन ॥ ११ ॥

बीज रूप मन्त्र मेरे सूक्त में दही के भीतर रहने वाले घृत के समान संरक्षित हैं । हे पाकशासन ! ये सूर्य, सोम और अग्नि खण्डो से उत्पन्न नाद के समान हैं ॥ ११ ॥

यदत्र सूर्यरूपं तज्जाग्रत्पदमुदाहृतम् ।
वह्निः स्वाप्नं सुषुप्तिश्च सोमो माया पराह्वया ॥ १२ ॥

इन मन्त्रों में जो सूर्य स्वरूप हैं वे सर्वश्रेष्ठ जाग्रत्पद कहे जाते हैं । वह्नि स्वाप्न है और सुषुप्ति सोम है जिसका दूसरा नाम माया है, वह सोमांश है ॥ १२ ॥

खण्डं यदिन्दुखण्डाख्यं तुर्यं नादस्ततः परम् ।
शक्तिः शान्तात्मिकावस्था नादस्यैव तु संस्थितिः ॥ १३ ॥

जो इन्दु खण्ड नाम से कहा जाता है, उस खण्ड सुषुप्ति के बाद तुरीया, उसके बाद नाद की संस्थिति है । जो नाद का स्वरूप है वही शान्तावस्था है ॥ १३ ॥

ततः परं तु यद् ब्रह्म लक्ष्मीनारायणं तु तत् ।
स्वराणां षट्चतुःषट्कं सूर्याग्नीन्दुसमुद्गतम् ॥ १४ ॥

उस नाद के बाद जो ब्रह्म रूप से वर्त्तमान है वही लक्ष्मीनारायण है । जो १६ प्रकार के स्वर हैं, वे सूर्य, अग्नि एवं सोम से उत्पन्न हुये हैं ॥१४॥

शेषा वर्णाः स्वरोत्पन्ना इतीयं वर्णसंस्थितिः ।
इतीदं परमं बीजं सर्वकामफलप्रदम् ॥ १५ ॥

शेष व्यञ्जन वर्ण स्वरों से उत्पन्न हुये हैं । इस प्रकार की वर्णों की स्थिति कही गई है । यही सबसे बड़ा (मातृका रूप) बीज है जो समस्त कामनाओं के फल को प्रदान करता है ॥ १५ ॥

पुत्रदं पुत्रकामानां राज्यकामस्य राज्यदम् ।
भूतिदं भूतिकामानां मोक्षकामस्य मोक्षदम् ॥ १६ ॥

पुत्र की कामना करने वाले को पुत्र तथा राज्य की कामना करने वालों को राज्य प्रदान करता है । ऐश्वर्य चाहने वालों को ऐश्वर्य तथा मोक्ष की कामना करने वालों को मोक्ष प्रदान करता है ॥ १६ ॥

विध्वंसयति शत्रूंश्चाप्याकर्षयति वाञ्छितम् ।
चिन्तामणिरिदं नाम नैव चिन्तामणिर्मणिः ॥ १७ ॥

यह शत्रुओं का विनाश करता है और वाञ्छित फल को आकृष्ट करता है इस प्रकार उस चिन्तामणि को चिन्तामणि नही कहा जाता किन्तु इसी का नाम चिन्तामणि है ॥ १७ ॥

तस्यैव चानुगं बीजं शकाद्यं सर्वकामदम् ।
युग्मैर्मायाक्षरादेशैराद्यन्तस्वरषट्कयोः ॥ १८ ॥
अङ्गक्लृप्तिरियं कार्या जातिमुद्रासमन्विता ।
शिष्टबीजचतुष्कस्याप्येवमेव व्यवस्थितिः ॥ १९ ॥

सम्पूर्ण कामनाओं को प्रदान करने वाले श एवं क आदि बीज इसी का

अनुगमन करते हैं । स्वर के आदि और अन्त में रहने वाले छह वर्णों से तथा दो माया (इ) अक्षर के साथ इसमें अङ्गन्यास करे । साथ ही जातिमुद्रा (अङ्गन्यास की मुद्रा) भी प्रदर्शित करे । शेष जो चार बीज हैं उनका भी यही क्रम है ॥ १८-१९ ॥

पूर्णाहंतासमावेशादादिबीजसमन्वयात् ।
नानाविधो मन्त्रगणो मदीयत्वं प्रपद्यते ॥ २० ॥

पूर्णाहन्ता के समावेश से आदि बीज को समन्वित कर देने से यह मन्त्र अनेक प्रकार का हो जाता है जो मेरा ही स्वरूप हो जाता है ॥ २० ॥

मन्त्राणां देवता या सा सा मच्छक्त्यधिनिष्ठिता।
मद्भावभाविनी चैव तस्माद्ध्येयास्मि तत्र वै॥ २१ ॥

मन्त्रों की जितनी देवतायें हैं वे सब मेरी शक्ति के ही अधीनस्थ है । ये सभी देवता मेरी ही भावना करने वाली हैं । इसलिये प्रधान होने के कारण मेरा ही ध्यान करना चाहिये ॥ २१ ॥

तां तां वै देवतां तत्र नारीरूपामनुस्मरेत् ।
तत्तद्वर्णायुधाकारभूषणादिसमन्विताः ॥ २२ ॥

साधक मन्त्रों की उन अधिष्ठात्रीदेवियों को नारीरूप में जो तत्तद्वर्ण आयुधा आकार और भूषणों से सुशोभित है उसी रूप में स्मरण करे ॥ २२ ॥

मदीयत्वं समासाद्य ताः शीघ्रफलदास्तथा ।
इति ते मन्त्रमार्गोऽयं लेशतः शक्र वर्णितः ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रोद्धारे तन्त्रार्थसंग्रहे
द्विपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

उन मन्त्राधिष्ठात्री देवताओं में मेरी भावना करने से वे शीघ्र फल देने वाली हो जाती हैं । हे शक्र ! इस प्रकार लक्ष्मीतन्त्र में हमने लेशमात्र इस मन्त्र मार्ग का वर्णन किया ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्रोद्धार के तन्त्रार्थसंग्रह में बावनवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशोऽध्यायः

तन्त्रार्थसंग्रहः

क्रियापादार्थसंग्रह

श्रीः—

क्रियापादं प्रवक्ष्यामि संक्षेपेण पुरन्दर ।
परिच्युतमलः स्नातो यथावच्छास्त्रदर्शनात् ॥ १ ॥
एकान्तं स्थानमासाद्य स्थानशुद्धिपुरःसरम् ।
ज्ञानभावनया शक्र भूतशुद्धिं समाचरेत् ॥ २ ॥

श्री ने कहा—हे पुरन्दर ! अब संक्षेप में आगमस्थ क्रिया पाद कहती हूँ। साधक बाहरी तथा भीतरी मन्त्रों से रहित होकर शास्त्रीय विधि के अनुसार स्नान कर किसी एकान्त स्थान में जाकर सर्वप्रथम स्थान शुद्धि करे । तदनन्तर ज्ञान (मानस) भावना से भूत शुद्धि करे ॥ १-२ ॥

पृथिव्यादि प्रकृत्यन्तं यत् प्रकृत्यष्टकं विदुः ।
स्थूलसूक्ष्मविभेदेन तत्र रूपद्वयं स्मृतम् ॥ ३ ॥

'भूमिरापोऽनलो वायुः' के अनुसार जो आठ प्रकृतियाँ कही गई हैं, उनके स्थूल और सूक्ष्म रूप से दो भेद हो जाते हैं ॥ ३ ॥

चक्षुर्गोचरसंस्थानं स्थूलरूपं तु वर्ण्यते ।
कारणाकारता तत्र सूक्ष्मं तन्मात्रमुच्यते ॥ ४ ॥

जो स्थान चक्षु से गोचर हो उसे स्थूल कहा जाता है । जो केवल कारण के आकार वाला हो उसे सूक्ष्म या मात्रा कहा जाता है ॥ ४ ॥

स्थूलसूक्ष्मविभेदेन तत्त्वमेतद् द्विरष्टकम् ।
विषयेन्द्रियवृत्तीस्तु तत्र तत्र निवेशयेत् ॥ ५ ॥

इस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म के भेद से उस प्रकृति के १६ भेद हो जाते

हैं । उसमें विषय इन्द्रिय और वृत्तियों का सन्निवेश करे ॥ ५ ॥

उपस्थघ्राणगन्धादिपञ्चकेषु त्रयं त्रयम् ।
पृथिव्यादिमहाभूतपञ्चकैस्तत्क्रमान्नयेत् ॥ ६ ॥

उपस्थिादि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, घ्राण आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और गन्धादि पाँच विषय, इनमें से प्रत्येक तीन-तीन को पृथ्व्यादि पाँच महाभूतों के साथ एक-एक के क्रम से लय करे ॥ ६ ॥

विमर्शिनी—यथा—उपस्थं घ्राणं गन्धं पृथ्व्यां लयं करोमि । यहाँ का पाठ ३५वें अध्याय में आये छठवें श्लोक से भिन्न है ।

यहाँ उपस्थ के स्थान में पायू पाठ होना चाहिये, क्योंकि गन्ध की कर्मेन्द्रियाँ वही है और व वर्गादि वर्ग का निर्देश भी नही है । इसी प्रकार—उपस्थं रसनां रसं सलिले लयं करोमि इत्यादि ।

इसी प्रकार मांसं मेदो इत्यादि ३५वें अध्याय का १३वाँ श्लोक यहाँ के ९वें श्लोक से भिन्न है । यहाँ मांसं मेदोऽसृक्रेतो पाठ है और वहाँ मांसं मेदस्तथा स्मृत्वा रसो व्योमाक्षरत्र पाठ है । किन्तु अर्थ की दृष्टि से ५३वें अध्याय का नवा श्लोक का पाठ शुद्ध प्रतीत होता है । इसी तरह और भी विचार करना चाहिये ॥ ६ ॥

मनोऽभिमान इत्येतदहङ्कारे शमं नयेत् ।
प्राणमध्यवसायं च बुद्धितत्त्वे निगूहयेत् ॥ ७ ॥
सत्त्वं रजस्तमश्चापि मूलाव्यक्ते शमं नयेत् ।
द्विरष्टके तु वर्गेऽस्मिन् मूलाष्टकमनुस्मरेत् ॥ ८ ॥

मन और अभिमान को अहङ्कार में लय करे । प्राण और अध्यवसाय को बुद्धि तत्त्व में लीन करे । सत्त्व, रज और तम को मूल अव्यक्त तत्त्व में लय करना चाहिए । इन सोलह प्रकार की प्रकृतियों में (वक्ष्यमाण) मूल अष्ट प्रकृति सूक्ष्म स्वरूपा का ध्यान करे ॥ ८ ॥

तत्तत्संज्ञा ध्रुवाद्या हुंफडन्ताः पाकशासन ।
मांसं मेदस्तथासृक् च रेतो व्योमाक्षरत्रयम् ॥ ९ ॥
परं परं बिन्दुयुतं सूक्ष्माष्टकमनुस्मरेत् ।
अस्मिन् बीजाष्टके मायामिन्दुखण्डेन संयुताम् ॥ १० ॥

हे पाकशासन ! आदि में ध्रुव (ॐ), अन्त में हुं फट् और बीच में तत् संज्ञा—इस प्रकार मांस, मेद, असृक्, रेत, आकाश, प्रधान और अव्यक्त इसके बाद बिन्दु युत् पर बल इन सूक्ष्म आठ प्रकृतियों का स्मरण करे । इन सूक्ष्म

प्रकृतियों के आठो बीजों में इन्द्र खण्ड अनुस्वार से युक्त माया ईकार को संयुक्त करे ॥ ९-१० ॥

मन्त्रानिमान् विजानीयाच्छक्त्यष्टकगतान् बुधः ।
निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ॥ ११ ॥
शान्त्यतीताभिमाना च प्राणा गुणवती तथा ।
पृथिव्यादिप्रकृत्यन्ताः शक्तीरेताः स्मरेद् बुधः ॥ १२ ॥

बुद्धिमान पुरुष इन मन्त्रों को शक्त्यष्टक के अन्तर्गत समझे । १. निवृत्ति, २. प्रतिष्ठा, ३. विद्या, ४. शान्ति, ५. शान्त्यतीता, ६. अभिमाना, ७. प्राणा और ८. गुणवती—ये पृथिव्यादि से लेकर प्रकृति पर्यन्त आठ शक्तियाँ है इनका स्मरण करे ॥ ११-१२ ॥

बीजाष्टके तु तत्रैव वह्निमायार्धचन्द्रकान् ।
संयोज्य मन्त्रान् जानीयादधिष्ठातृगतानिमान् ॥ १३ ॥

वही उन बीजाष्टकों में वह्नि र, माया ई, उस पर अर्द्धचन्द्र श्री को संयुक्त कर निष्पन्न मन्त्रों को अधिष्ठात्री देवता के रूप में समझे ॥ १३ ॥

कालाग्न्यर्कसहस्राभां निर्धूमाङ्गारसंनिभाम् ।
मां स्मृत्वा मन्मुखोत्थेन वह्निना निर्दहेद् भुवम् ॥ १४ ॥
सोमायुताभमद्वक्त्रजेन सिञ्चेत्तथाम्बुना ।
स्थानशुद्धिर्भवेदेवं भूतशुद्धिमतः शृणु ॥ १५ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रोद्धारे तन्त्रार्थसंग्रहे
त्रिपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

अब भूतशुद्धि का विशेष प्रकार कहते हैं—सहस्रों कालाग्नि के समान आभा वाली, निर्धूम एवं अङ्गार के समान दहकती हुई मेरा ध्यान कर मेरे मुख से निकली हुई अग्नि से उस पृथ्वी तत्त्व को जला देवे । फिर दश हजार सोम के समान शीतल जल से उसका सिञ्चन करे । इस प्रकार स्थान शुद्धि की जाती है । अब भूतशुद्धि का प्रकार सुनिए ॥ १४-१५ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्रोद्धार के तन्त्रार्थसंग्रह तिरपनवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ५३ ॥

चतुष्पञ्चाशोऽध्यायः

तन्त्रार्थसंग्रहः

भूतशुद्धिः

श्रीः—

चतुरश्रां समां पीतां वज्रचिह्नां वसुंधराम् ।
मन्त्रेणाकृश्य देहान्तः स्वस्थाने च लयं नयेत् ॥ १ ॥

श्री ने कहा—समतल, पीतवर्ण वाली, चौकोर, वज्र चिह्न वाली पृथ्वी को मन्त्र द्वारा शरीर के भीतर आकृष्ट कर उसे अपने स्थान में लय करे । फिर उसे उसके बीज (ॐ लं) मन्त्र से गन्ध मात्रा में अस्त करे ॥ १ ॥

गन्धमात्रे ततस्तच्च स्वबीजेनास्तमानयेत् ।
स्वबीजेन निवृत्तौ तां स्वमन्त्रेणास्तमानयेत् ॥ २ ॥

फिर उन दोनों पृथ्वी और तन्मात्रा वाले गन्ध को दोनों को अपने मन्त्र से अस्त करे ॥ २ ॥

मय्यधिष्ठानभूतायां मां च बाह्येऽम्भसि क्षिपेत् ।
मन्त्रेणार्धेन्दुसङ्काशं पद्माङ्कं तच्च देहतः ॥ ३ ॥
स्वस्थानस्थं लयं नीत्वा रसमात्रे स्वमन्त्रतः ।
मन्त्रेण तत्प्रतिष्ठायां तच्च मय्यानयेल्लयम् ॥ ४ ॥
मां च वह्निमनावृत्त्या प्रकृत्या च ततः क्रमात् ।
सर्वत्र नैकं बुध्येत मच्छक्तेर्विलयं बुधः ॥ ५ ॥

फिर (पृथ्वी सहित गन्ध मात्रा को) मेरे अधिष्ठानभूत वाहरी जल में फेंक देवे । फिर कमल चिह्न वाले अर्द्धचन्द्राकार उस जल को अपने स्थान स्थित जल में लीन कर रस मात्रा में उसके मन्त्र से लीन करे । फिर उसे जल में प्रतिष्ठित रहने वाली मुझ में लीन करे । इस प्रकार उसे वह्नि में लीन करे ।

इसी क्रम से प्रकृति में क्रमपूर्वक सबको लीन करे। बुद्धिमान् पुरुष मेरी शक्ति का विलय एक समान न समझे ॥ ३-५ ॥

यथा हि सर्पिरासिञ्चेत् क्षीरे तन्मथनोद्भवम् ।
सर्पिरन्यत्र च क्षीरे तत्सर्पिरपि चान्यकम् ॥ ६ ॥
एवमा प्रकृतेः शक्तिमधिष्ठात्रीं स्मरेद् बुधः ।

जैसे दूध के मन्थन से उत्पन्न घृत का दूध में आसिञ्चन किया जाता है, जैसे दूध में मिला हुआ घृत अन्य है और अलग होने वाला घृत अलग है। इसी प्रकार प्रकृति पर्यन्त सभी अधिष्ठात्री देवताओं का बुद्धिमान् अलग-अलग ध्यान करे ॥ ६-७- ॥

एवं मां परमां शक्तिं शक्तिसप्तकसंयुताम् ॥ ७ ॥
द्वादशान्तान्तमुन्नीय मन्त्रमय्यां मयि क्षिपेत् ।
अग्नीषोमार्ककोट्याभा सर्वतोऽक्षिशिरोमुखी ॥ ८ ॥
सर्वजीवोपकाराय सा मे मन्त्रमयी तनुः ।

इसी प्रकार शक्ति सप्तक संयुक्त मुझ परमा शक्ति को द्वादशान्त में ले जाकर मन्त्र स्वरूप वाली मुझ में लीन कर देवे। वह मेरा मन्त्रमय शरीर करोड़ो अग्नि, करोड़ों सूर्य तथा करोड़ो चन्द्रमा के समान आभा वाला है। उसके नेत्र, शिर और मुख सर्वत्र वर्त्तमान हैं। यह मेरा मन्त्रमय शरीर समस्त जीवों के उपकार करने के लिये है ॥ -७-९- ॥

शक्रः—

कानि स्थानानि देहेऽस्मिन् यत्र कार्यो लयः क्रमात् ॥ ९ ॥
कीदृशानि च बिम्बानि भूरादीनां वदाम्बुजे ।

इन्द्र ने कहा—हे मातः! इस शरीर में कौन-कौन स्थान हैं जहाँ इन प्रकृतियों का क्रमशः लय करे और हे कमल से उत्पन्न होने वाली! इन पृथ्व्यादिको का बिम्ब किस आकार का है उसे बतलाइये ॥ -९-१०- ॥

देहे भूतादिस्थानानि

श्रीः—

आ जानुतो भुवः स्थानमा कट्याः पयसः स्मृतम् ॥ १० ॥
आ नाभेस्तेजसः स्थानं वायोः स्थानं तदा हृदः ।
आ कण्ठान्नभसः स्थानमा बिलाच्चाप्यहंकृतेः ॥ ११ ॥
आ भ्रुवोर्महतः स्थानमाकाशे तु परं स्मृतम् ।

चतुरश्रं भवेद्बिम्बं वज्राङ्कं पार्थिवं महत् ॥ १२ ॥

श्री ने कहा—नीचे से लेकर जानु पर्यन्त पृथ्वी का स्थान है । जानु से लेकर कटि पर्यन्त जल का स्थान है । कटि से लेकर नाभि तक तेज का स्थान है । नाभि से लेकर हृदय तक वायु का स्थान है । हृदय से कण्ठ पर्यन्त आकाश का स्थान है तथा कण्ठ से लेकर मुख, कान एवं नासिका तक अहङ्कार का स्थान है । वहाँ संभ्रू पर्यन्त महत्तत्त्व का स्थान है । उसके बाद आकाश में परब्रह्म का स्थान है । महान् पार्थिव विम्ब वज्राङ्क है और चौकोर है ॥ -१०-१२ ॥

अर्धेन्दुसदृशं शुक्लं पद्माङ्कं पयसः स्मृतम् ।
त्रिकोणं स्वस्तिकाङ्कं च रक्तं तेजस उच्यते ॥ १३ ॥

जल कमल के चिह्न वाली है, जो शुक्ल वर्ण का अर्धचन्द्राकार है । तेज स्वस्तिक के चिन्ह के समान है । वह त्रिकोण और रक्त है ॥ १३ ॥

धूम्रं षड्बिन्दुसंयुक्तं वृत्तं वायव्यमुच्यते ।
अञ्जनाभं तथाकाशं बिम्बमात्रं स्मृतं पदम् ॥ १४ ॥

वायु का वर्ण धूम्र है, वह षड् बिन्दु से संयुक्त है तथा वृत्ताकार (गोला) है । आकाश अञ्जन के समान काला है वह केवल विम्ब मात्र है ॥ १४ ॥

एवं तत्त्वोपसंहारे कृते हृत्कोटरोद्गतम् ।
ज्ञानरज्ज्ववलम्बं च सुषुम्नामध्यमार्गगम् ॥ १५ ॥
ऊर्ध्वमात्मन उन्नीय शक्तिसोपानपङ्क्तिभिः ।
द्वादशान्तं महापद्ममध्यस्थायां मयि क्षिपेत् ॥ १६ ॥

इस प्रकार तत्त्वों के उपसंहार करने के पश्चात्, हृत्कोटर से ऊपर जाने वाले, सुषुम्ना के मध्य में रहने वाले ज्ञान रज्जु को पकड़कर शक्ति सोपान की पङ्क्तियों से अपनी आत्मा को ऊपर ले जाकर द्वादशान्त में रहने वाले महापद्म के मध्य में रहने वाली मुझ में लीन कर देवे ॥ १५-१६ ॥

द्वादशान्तं महापद्मं सहस्रदलसंयुतम् ।
सूर्यकोटिसहस्राभमिन्दुकोट्ययुतप्रभम् ॥ १७ ॥

यह द्वादशान्त महापद्म सहस्र दलों से संयुक्त है, करोड़ों सहस्र सूर्य के समान आभा वाला है और कोटि अयुत चन्द्रमा के समान इसकी कान्ति की प्रभा है ॥ १७ ॥

अग्नीषोमद्वयान्तःस्था महानन्दमयी तनुः ।

अनिर्देश्योपमा संविन्मात्रा सा मामिका तनुः ॥ १८ ॥

यह मेरा महानन्दमय शरीर अग्नी और सोम दोनों के मध्य में रहने वाला है, उसकी उपमा नहीं दी जा सकती वह संविन्माया है ॥ १८ ॥

अंशतः प्रसरन्त्यस्या जीवानन्दा सरिद्वरा ।
स्वानन्दमेनमानीय महानन्दमयीं नयेत् ॥ १९ ॥

इस प्रकार के मेरे शरीर के अंश मात्र से जीवानन्दा सरिद्वरा फैलती रहती है । इस सरित् रूप स्वान्द को महानन्द में लीन करना चाहिए ॥ १९ ॥

ततो लवणकूटाभं पिण्डमस्मन्मुखोद्गतैः ।
महाज्वालावलीजालैश्चिन्मयैः परितो दहेत् ॥ २० ॥
रक्ततामरसः षष्ठो बिन्दुमान् देहपावकः ।
सोममय्या ममास्योत्थैः पीयूषैः प्लावयेत्ततः ॥ २१ ॥

इस प्रकार जीवात्मा को द्वादशान्त में ले जाने के बाद लवण पर्वत के समान निस्तेज उस शरीर पिण्ड को मेरे मुख से उत्पन्न चिन्मय महाज्वालावली की ज्वाला में अच्छी प्रकार से जला देवे । ह्रीं और नमः के मध्य में सरस 'ध' जो षष्ठ 'ऊकार' तथा देहपावक 'रेफ' और बिन्दु से युक्त हो । इस प्रकार 'ॐ ह्रीं धूं नमः' यह जलाने वाली अग्नि का मन्त्र है उससे उस शरीर को जला देवे । तदनन्तर सोममयी मेरे मुख से उत्पन्न 'टं यं' इस अमृत मन्त्र से उसे जीवित करे ॥ २०-२१ ॥

सिसृक्षाया ममोद्यन्त्या संवित्प्राणोपगूढया ।
प्रेरितास्ताः स्मरेच्छक्तीर्मन्त्रमय्यां तनौ स्थिताः ॥ २२ ॥

सृष्टि की इच्छा करने वाली, मेरे उद्यत हो जाने पर संवित् प्राण से आच्छन्न, मेरे द्वारा प्रेरित, मेरे मन्त्रमय शरीर में स्थित उन मेरी शक्तियों का स्मरण करे ॥ २२ ॥

ततस्ताभिः स्वशक्तीभिश्चोदनद्वारपूर्वकम् ।
प्रकृत्यादि विशेषान्तं निर्मितं संस्मरेत् क्रमात् ॥ २३ ॥

इसके बाद उन स्वशक्तियों की प्रेरणा के द्वारा उस शरीर को क्रमशः प्रकृत्यादि विशेषान्त तत्त्वों से निर्मित रूप में ध्यान करे ॥ २३ ॥

ततः पिण्डसमुत्पत्तिं कारणव्यञ्जनोज्ज्वलम् ।
एवं पिण्डं समुत्पाद्य शुद्धलक्ष्मीमयं महत् ॥ २४ ॥
पूर्वोक्तगतिमार्गेण व्युत्क्रमेणानयेद्धृदि ।

महानन्दात् स्वमात्मानं संविदानन्दलक्षणम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार कारण के चिह्नों से प्रकाशित पिण्ड की उत्पत्ति का ध्यान करे। इस प्रकार शुद्ध लक्ष्मीमय पिण्ड उत्पन्न कर व्युत्क्रम से पूर्वोक्त मार्ग द्वारा महानन्द से सच्चिदानन्द लक्षण अपने को हृदय में ले आवे ॥ २४-२५ ॥

ततः करशरीरेषु मन्त्रन्यासं समाचरेत् ।
अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तमङ्गुलीस्थेषु पर्वसु ॥ २६ ॥
तलयोः पृष्ठयोश्चैव करयोरुभयोरपि ।
नाभितश्चाङ्घ्रिपर्यन्तं नाभेरा मूर्धतस्तथा ॥ २७ ॥
न्यस्य संधिषु मद्बीजं हृदाद्यङ्गानि च न्यसेत् ।
पुनर्हृदादिषट्केन नाभिपृष्ठकरोरुषु ॥ २८ ॥
जङ्घापदोश्च ज्ञानादि षाड्गुण्यं विन्यसेद् बुधः ।

तदनन्तर हाथ और शरीर में मन्त्र न्यास करना चाहिए। अंगुष्ठ से लेकर कनिष्ठान्त अंगुलियों के पर्वों में, दोनों तलो में, दोनों हाथों के पृष्ठ भाग में, दोनों हाथों में, फिर नाभि से चरण पर्यन्त और पुनः नाभि से शिर पर्यन्त, इसी प्रकार संधियों में मेरे बीज का न्यास कर हृदयादि अङ्गो में न्यास करना चाहिए। फिर हृदयादि छह मन्त्रों के साथ ज्ञान, ऐश्वर्य, तेज, बल एवं वीर्यादि षाड्गुण्य का नाभि, पृष्ठ, हाथ, ऊरू, जङ्घा एवं पैर में बुद्धिमान् साधक को न्यास करना चाहिए ॥ २६-२९- ॥

एवमुत्पादिते देहे शुद्धे लक्ष्मीमये शुभे ।
आधारषट्कविन्यासं ज्ञानदृष्ट्या समाचरेत् ॥ २९ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रोद्धारे तन्त्रार्थसंग्रहे
चतुष्पञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

...•...

इस प्रकार शुद्ध कल्याणकारी लक्ष्मीमय शरीर उत्पन्न कर लेने पर साधक ज्ञान दृष्टि से आधार षट्क में न्यास करे ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्रोद्धार के तन्त्रार्थसंग्रह
चौवनवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा'
नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ५४ ॥

...•...

पञ्चपञ्चाशोऽध्यायः

तन्त्रार्थसंग्रहः

आधारविन्यासः

श्रीः—

आधारान् संप्रवक्ष्यामि शृणु त्वं पाकशासन ।
अथ मेढ्रान्तरे मेढ्रे नाभिमध्ये धनाधिप ॥ १ ॥
हृदि कूपे भ्रुवोर्मध्ये षट् पद्मानि स्मरेद् बुधः ।
वेदै रसैः प्रजानाथैरर्कैश्चैव विकारकैः ॥ २ ॥
अश्विभ्यां च दलैर्युक्तान् सूर्यकोटिसमप्रभान् ।
कादिहान्तैः स्वरैः सूर्यवर्णान्ताभ्यां च संयुतान् ॥ ३ ॥

श्री ने कहा—हे पाकशासन ! हे धनाधिप अब आधारों को कहती हूँ । आप सुनिए । अण्डकोश के मध्य भाग में, मेढ्र (लिङ्ग में), नाभिमध्य में, हृदय रूप कूप में तथा दोनो भ्रुवों के मध्य में—इन छह आधारस्थानों में बुद्धिमान् पुरुष छह कमलों का स्मरण करे । प्रथम पद्म में चार, द्वितीय में छह, तृतीय में १०, चौथे में १२, पाँचवें में १६ और छठे में दो दल हैं । ये सभी दल करोड़ों सूर्य के समान कान्तिमान् हैं और ककार से लेकर हकारान्त ३४ व्यञ्जन वर्णों, तथा अकार से लेकर विसर्गान्त सोलह स्वरों से संयुक्त हैं ॥ १-३ ॥

विमर्शिनी—सूर्यान्त वर्ण में द्विवचन हैं सूर्य हकार वर्ण को कहते हैं विसर्ग का उच्चारण भी हकार की तरह ही होता है इसलिये विसर्ग का अर्थ हकार किया गया है ॥ १-३ ॥

पङ्कजेष्वेषु मां देवीं रत्नदीपाकृतिं स्मरेत् ।
यत्र यत्र भवेद्वाञ्छा तत्रस्थो योगमभ्यसेत् ॥ ४ ॥

साधक इन छह कमलों पर रत्नदीप की आकृति में मेरा स्मरण करे। इस प्रकार मेरा स्मरण करते हुये जहाँ-जहाँ उसकी इच्छा हो वहाँ-वहाँ योग का अभ्यास करे ॥ ४ ॥

प्रथमाधारमारभ्य द्वादशान्ताम्बुजातताम् ।
एकां दीपाकृतिं ध्यायेद्देहस्थामादिकां पराम् ॥ ५ ॥

प्रथमाधार से प्रारम्भ कर द्वादशान्त में रहने वाले कमलों तक शरीर में आदि परा स्वरूपा एक दीपाकृति का ही स्मरण करना चाहिये ॥ ५ ॥

क्रमोत्क्रमाभ्यां स्मरतस्तामिमां चिन्मयीं पराम् ।
यदा लयं मनो याति सा सत्ता वैष्णवी परा ॥ ६ ॥

क्रम एवं उत्क्रम (नीचे से ऊपर तथा ऊपर से नीचे) इस चिन्मयी कला का स्मरण करते हुये जहाँ मन लय को प्राप्त हो जावे वही परा वैष्णवी सत्ता समझनी चाहिये ॥ ६ ॥

देहबन्धे च वाञ्छा चेद्देहं त्वं मामकं शृणु ।
एकस्मिन् हृदये तोयं माहेन्द्रं मण्डपं स्मरेत् ॥ ७ ॥
चतुर्द्वारयुतं तत्र संस्मरेद् द्वारपालिकाः ।
बलाकिनीं पुरः श्यामां वनमालां तथापरे ॥ ८ ॥
श्वेतां विभीषिकां पश्चादुक्तवर्णामनुस्मरेत् ।
उत्तरे शाङ्करीं शक्र धूम्रवर्णामनुस्मरेत् ॥ ९ ॥

यदि देहबन्ध की इच्छा हो तो हे इन्द्र ! मेरे देह के विषय में सुनिए। एक हृदय में जल स्वरूप माहेन्द्र मण्डप का स्मरण करे, जिसमें चार द्वार हों, उन द्वारों पर द्वारपालिकाओं का स्मरण करे। पूर्वद्वार पर वलाकिनी, दक्षिण में श्यामवर्ण वाली वनमाला, पश्चिम में श्वेत वर्ण वाली विभीषिका तथा उत्तर द्वार पर धूम्रवर्णा शाङ्करी का स्मरण करे ॥ ७-९ ॥

तत्र मण्डपमध्ये तु सहस्रादित्यसंनिभम् ।
अष्टपत्रं स्मरेत् पद्मं कर्णिकाकेसरोज्ज्वलम् ॥ १० ॥

तदनन्तर उस मण्डप के मध्य में सहस्रों सूर्य के समान प्रभा वाले, कर्णिका एवं केशरों से उज्ज्वल वर्ण वाले अष्ट पत्र कमल का स्मरण करना चाहिए ॥ १० ॥

पूर्वे दले वासुदेवं सङ्कर्षं चैव दक्षिणे ।
प्रद्युम्नं पश्चिमे पत्रे त्वनिरुद्धमथोत्तरे ॥ ११ ॥

उस अष्टपत्र कमल के पूर्व दिशा में रहने वाले पत्र पर वासुदेव का, दक्षिण दिशा में स्थित पत्र पर सङ्कर्षण का, पश्चिम दल पर प्रद्युम्न का तथा उत्तर दिशा के पत्र पर अनिरुद्ध का स्मरण करे ॥ ११ ॥

शङ्खचक्रधरान् सर्वान् वनमालाविभूषितान् ।
युगानुसारिकान्तींश्च स्मरेदभिमुखान् मम ॥ १२ ॥

ये सभी शङ्ख चक्र धारण किये हुये वनमाला से विभूषित हैं । युग के अनुसार तत्तद्वर्ण की कान्ति से संयुक्त है । उन्हें मेरे समक्ष स्थित हुये ध्यान करे ॥ १२ ॥

गुल्गुलुं च गुरुण्यं च मदनं शललं तथा ।
गजेन्द्रान् संस्मरेत् कोणे सुधां मामभिषिञ्चतः ॥ १३ ॥

फिर कोणों पर स्थित कलशसुधा से मेरा अभिषेक करने वाले गुल्गुलु, गुरुण्य, मदन तथा सलिल नामक चार गजेन्द्रों का स्मरण करे ॥ १३ ॥

कर्णिकाबीजमध्यस्थां सर्वलोकमहेश्वरीम् ।
मां स्मरेत्तप्तहेमाभां पङ्कजद्वयधारिणीम् ॥ १४ ॥

तदनन्तर कर्णिका के बीज के मध्य में रहने वाली तप्त सुवर्ण के समान देदीप्यमान, अपने दो हाथो में दो कमल धारण की हुई मुझ सर्वलोक महेश्वरी का स्मरण करे ॥ १४ ॥

वरदाभयहस्तां च सर्वाभरणभूषिताम् ।
अनिर्देश्यामनौपम्यां विष्णुपत्नीमनिन्दिताम् ॥ १५ ॥

अपने हाथों में वर और अभय मुद्रा धारण की हुई, सर्वाभरण से विभूषिता, अनिर्वचनीया एवं अनौपम्या—इस प्रकार की स्वरूप वाली मुझ विष्णुपत्नी का स्मरण करे ॥ १५ ॥

स्मितज्योत्स्नानुगैर्दिव्यैरसितापाङ्गसंभवैः ।
सिञ्चन्तीं किरणैः शीतैस्तप्ततप्तं जगत्त्रयम् ॥ १६ ॥

अपने मन्द-मन्द मुस्कुराहट की तथा दिव्य एवं तीक्ष्ण कटाक्षों की शीतल किरणों से त्रिताप में जलते हुये तीनों जगत् के प्राणियों का सिञ्चन करती हुई मेरा ध्यान करे ॥ १६ ॥

उत्पाद्य ज्ञानतो भोगांस्तैर्यजेत् परमेश्वरीम् ।
ब्रह्मानन्दमयैः सम्यङ् मन्मयैर्दोषवर्जितैः ॥ १७ ॥

तदनन्तर इस प्रकार की स्वरूप वाली मुझ परमेश्वरी का साधक ज्ञान से भोगों को उत्पन्न कर ब्रह्मानन्दमय मत्स्वरूप वाले तथा सर्वथा दोषरहित उन भोगों से मेरा यजन करे ॥ १७ ॥

यद्वा नारायणाङ्कस्थां तत्सङ्गाह्लादभूषिताम् ।
करेण दक्षिणेनेशमाश्लिष्यन्तीं निरन्तरम् ॥ १८ ॥
प्रतिपत्तिस्तु कर्तव्या तदा वैमानिकी तनौ ।
दाम्पत्यं तदमीमांस्यमावयोः श्रुतिगह्वरम् ॥ १९ ॥
बीजस्य स्थान........................... ।

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रोद्धारे तन्त्रार्थसंग्रहे (अपूर्ण)[१] पञ्चपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

अथवा भगवान् नारायण के अङ्क में स्थित रहने वाली, उनके आश्लेष से अपार आह्लाद से भूषित होते हुए तथा अपने दाहिने हाथ से निरन्तर उनका आश्लेष करती हुई—इस प्रकार का ध्यान साधक को अपने यज्ञमय शरीर में करना चाहिए । श्रुति के गह्वर में रहने वाले सर्वथा गुप्त हम दोनों का दाम्पत्य भाव तो विचार से सर्वथा परे है ॥ १८-१९ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्रोद्धार के तन्त्रार्थसंग्रह में पचपनवें अध्याय (अपूर्ण) की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ५५ ॥

---

१. इस अपूर्ण पञ्चपञ्चाशोऽध्याय के बाद से लेकर पूरा षट्पञ्चाशोऽध्याय तथा सप्तपञ्चाशोऽध्याय का कुछ प्रारम्भ का अंश उपलब्ध नहीं है ।

सप्तपञ्चाशोऽध्यायः

तन्त्रार्थसंग्रहः

परापश्यन्त्यादिस्वरूपम्

श्रीरुवाचः—

सृष्टिकर्त्ता च को देवः स्थितिकर्ता च भावगा ।
त्रिमूर्तिस्त्वधिका शक्तिरित्ययं परमो जपः ॥ १ ॥

लक्ष्मीजी ने कहा—सृष्टिकर्त्ता देवता कौन है ? उनकी स्थिति कहाँ है ? उनका कर्त्ता कौन है ? क्या वे भावरूप हैं ? देवों की त्रिमूर्त्ति से अधिक शक्ति ही श्रेष्ठ है और उनका जप करना ही अन्तिम सत्य है ।

शब्दार्थप्रविभागेन द्विधा लक्ष्मीः प्रवर्तते ।
शान्ता पश्याथ मध्या च वैखरी चेति संज्ञया ॥ २ ॥

शान्ता, पश्या, मध्यमा और वैखरी संज्ञा से यह लक्ष्मी इस सृष्टि में शब्द और अर्थ के भेद से दो प्रकार से प्रवृत्त होती है ॥ २ ॥

शब्दोन्मेषश्चतुर्धायमर्थोन्मेषस्तथाविधः ।
प्रत्यस्तमितसंस्कारा स्वरवर्णादिवर्जिता ॥ ३ ॥
शाब्दी या संस्थितिः प्राच्या सा शान्ता शान्तसाधना ।
अर्थबोधकरूपं यच्छब्दशक्तेरसंस्कृतम् ॥ ४ ॥

शब्द के चार प्रकार के उन्मेष होते हैं । इसी प्रकार अर्थ के भी चार उन्मेष होते हैं । जिसमें संस्कार अस्तमित रहते हैं तथा जो स्वर एवं व्यञ्जन के भेद से रहित होती है । इस प्रकार पूर्वकाल में रहने वाली जो शब्दों की

संस्थिति है और जो सभी प्रकार के साधनों से युक्त होती है उसे शान्ता लक्ष्मी कहा जाता है । जो शब्द शक्ति से सर्वथा असंस्कृत होकर स्थित है, किन्तु उनका स्वरूप अर्थ का बोधक होता है ॥ ३-४ ॥

केवलो यः समुन्मेषः पश्यन्ती सा प्रकीर्तिता ।
अर्थबोधकरूपं यत् स शब्दः परिकीर्तितः ॥ ५ ॥
न हिंसयन्ति संस्कारा यदा मध्याथ सा तदा ।
एवं संस्कारसम्पन्ना विकल्पशतशालिनी ॥ ६ ॥
विविधं रमते वैषु यतो न प्राकृतीष्वथ ।
रूपं शकलशः कृत्वा स्थानेष्वष्टसु सा तदा ॥ ७ ॥
वैखरी नाम सा वाच्या विविधं वक्ति वर्णिनी ।
शान्ता नाम परा या सा सर्वत्र समतां गता ॥ ८ ॥

ऐसा जो समुन्मेष है उसे **पश्यन्ती** कहा जाता है । जब वह अर्थ बोधक शब्द स्वरूप में परिणत हो जाता है और जिसे संस्कार हनन नहीं करते तब उस समुन्मेष को **मध्या** कहा जाता है ।

इस प्रकार संस्कार से सम्पन्न, सैकड़ो विकल्पों से परिपूर्ण, अपने रूप को खण्ड-खण्ड करके आठो कण्ठादि स्थान में विविध प्रकार से रमण करने लगती है, तब उसे **वैखरी** कहते हैं, वह अनेक प्रकार के शब्दों को कहती है । इसमें जिसका नाम शान्ता है और जो परा है वह सर्वत्र समान रूप से रहती है ॥ ५-८ ॥

कोटिकोटिसहस्रांशस्तस्या वागथ मध्यमा ।
कोटिकोटिसहस्रांशस्तस्या वागथ वैखरी ॥ ९ ॥

उसके करोड़ो करोड़ो के सहस्रांश वाली मध्यमा वाक् होती है । उसके भी करोड़ों करोड़ के हजारवाँ भाग वाली वैखरी होती है ॥ ९ ॥

वर्णाः पदानि वाक्यानि त्रिविधा वैखरीगतिः ।
सङ्कोचं क्रमशो याति सेयं वर्णादिवर्त्मना ॥ १० ॥

वर्ण, पद और वाक्य भेद से वैखरी के तीन भेद होते हैं । इस प्रकार वह परा वाक् वर्णादि मार्ग से क्रमशः संकुचित होती जाती है ॥ १० ॥

इयं चतुर्विधा शक्तिः प्रतिलोमानुलोमजा ।
चतुर्धा सोदयं याति शान्तापश्यादिभिः क्रमात् ॥ ११ ॥
चतुर्धास्तमयं याति वैखरीमध्यमादिभिः ।
व्यक्ता व्यक्तसमाव्यक्ता सा विज्ञेया त्रिधा पुनः ॥ १२ ॥

प्रतिलोम (उल्टे) अनुलोम (सीधे) क्रम से यह (परा) शक्ति चार प्रकार की कही गई । शान्ता, फिर पश्या, फिर मध्यमा, फिर वैखरी इस अनुलोम क्रम से यह उदय को प्राप्त होती है और वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती तथा परा इस प्रतिलोम क्रम से यह अस्त होती है । फिर वह वाणी व्यक्त, अव्यक्त और समाव्यक्त भेद से तीन प्रकार की होती है ॥ ११-१२ ॥

व्यक्ता प्राणिशरीरस्था योदेत्यस्तमुपैति च ।
वीणावेणुमृदङ्गाद्यैर्व्यक्ता तद्व्यज्यते हि या ॥ १३ ॥
विवक्षाकरणोद्योगैः प्राणिभिः साथ तत्समा ।
मरुदाघट्टनात् सिन्धुसरिद्गिरिदरीमुखैः ॥ १४ ॥
व्यज्यते शब्दशक्तिर्या सा त्वव्यक्ता समीरिता ।
उदयेऽस्तमये चासां पूर्वोक्तौ व्युत्क्रमोत्क्रमौ ॥ १५ ॥

व्यक्ता वाणी प्राणियों के शरीर में रहती है जो उदय तथा अस्तता को प्राप्त होती रहती है । वीणा, वेणु और मृदङ्गादि वाद्य यन्त्रों के द्वारा जो वाणी रूप में व्यक्त की जाती है, वह भी व्यक्ता है, क्योंकि वह प्राणी के विवक्षाकरण के उद्योग से उत्पन्न होती है, इसलिये वह भी उसके समान है । वायु के रगड़ से समुद्र, सरिता तथा गुफाओं से जो शब्दशक्ति निकलती है वह अव्यक्ता कही जाती है । इनके उदय तथा अस्त में व्युत्क्रम तथा उत्क्रम पूर्व में ही कह दिया गया है ॥ १३-१५ ॥

वाच्यं चतुर्विधं ज्ञेयं शान्तादिप्रविभागवत् ।
एवं व्यवस्थिता शक्तिस्तारिकेति निरूपणम् ॥ १६ ॥

वाच्य (अर्थ) के भी वाचक शब्द के शान्तादि भेद के समान चार प्रकार के भेद होते हैं । इस प्रकार की व्यवस्थित शक्ति तारिका (ह्रीं) होती है । अब इसका निरूपण हो चुका है ॥ १६ ॥

जपोऽसौ मध्यमो नाम परितो वर्णवर्णनम् ।
वर्णरूपा च शक्तिर्या या च संयोगसंभवा ॥ १७ ॥
शक्तिनद्धानुविद्धा या विवक्षासंभवा च या ।
एतच्छक्तिचतुष्कं तद्विनिर्णयपुरःसरम् ॥ १८ ॥

धीरे-धीरे तत्-तत् स्थान जनक शब्दों का उच्चारण करना यह मध्यम जप का लक्षण है । तत् स्थानों के संयोग से उत्पन्न होने वाली शक्ति वर्णरूपा कही गई है । इस प्रकार संयोग से नद्धा एवं अनुविद्धा और विवक्षा संभवा भी शक्ति होती है । यह निर्णय पुरःसर चार शक्तियाँ कही गई ॥ १७-१८ ॥

अर्थाध्यासस्तु शब्दे यश्चरमोऽसौ प्रकीर्तितः ।
वाच्यं बुद्ध्वा पृथग् बुद्ध्वा तां त्रिधाकारसंस्थिताम् ॥ १९ ॥

जो वाक्य के अन्तिम शब्द से उत्पन्न होता है वह अर्थाध्यास कहा जाता है । वाच्य (अर्थ) को समझकर उसके पदों को पृथक् अर्थ समझ कर उस शक्ति को ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप में तीन प्रकार वाला समझे ॥ १९ ॥

तत्संबोधो हि यो मन्त्रैः स जपस्तु परावरः ।
लक्ष्मीतन्त्रे समुद्दिष्टा त्वग्नीषोममयी हि या ॥ २० ॥

मन्त्र के द्वारा इस प्रकार का ज्ञानपूर्वक जो जप किया जाता है वह सर्वश्रेष्ठ है । वही उस प्रकार की शक्ति का प्रतिपादन लक्ष्मीतन्त्र में अग्नीषोममयी के रूप में किया गया है ॥ २० ॥

तत्तद्रूपमतिक्रम्य वाच्यवाचकसंज्ञितम् ।
लक्ष्मीमयीं निशां तीर्त्वा तारिकारूपरूपिणीम् ॥ २१ ॥
निस्तरङ्गमहानन्दसंवित्तारामहोदधौ ।
विशोध्य सकलान् मन्त्रांस्तद्भावन्याससंयुतः ॥ २२ ॥
तानुपास्य ततस्तस्यां तत्तदाप्यायनोज्ज्वलान् ।
तत्सामान्यविशेषाभ्यां भावयेन्मन्त्रदेवताम् ॥ २३ ॥

साधक वाच्य वाचक संज्ञा रूप तत्तद् रूपों का अतिक्रमण कर तारिका रूप रूपिणी लक्ष्मीमयी निशा को पार कर उस निस्तरङ्ग, महानन्द, संवित्, तारा (ह्रीं रूप) महोदधि में मन्त्रों के भाव न्यास से संयुक्त होकर, सम्पूर्ण मन्त्रों का संशोधन कर, तत्-तत् आप्यायन (संबर्द्धन) में उज्ज्वल मन्त्रों की उस महाशक्ति में उपासना करे और सामान्य विशेष रूप से मन्त्र के देवता की भावना करे । इस प्रकार मन्त्र एवं देवता के ध्यान से संयुक्त होकर मन्त्र का जप करे तो इस प्रकार का जप भी सर्वश्रेष्ठ है ॥ २१-२३ ॥

तथा युक्तो जपेन्मन्त्रान् नित्योऽयं पूजितो जपः ।
तत्तच्छास्त्रोक्तसंस्थानसंस्कारक्रमशालिनीः ॥ २४ ॥
तैस्तैर्भावैः समेताश्च भावयन्मन्त्रदेवताः ।
जपेत सर्वदर्शी यज्जपोऽयं परमः स्मृतः ॥ २५ ॥

तत्तच्छास्त्रोक्त संस्थान के संस्कार से क्रमशालिनी मन्त्र देवता का उन-उन भावों समेत भावना करते हुये सर्वदर्शी साधक जप करे तो यह जप उत्तम कहा जाता है ॥ २४-२५ ॥

ग्रन्थोपसंहारः

नारदः—

इदं रहस्यं परमं नापात्रे देयमित्युत ।
उक्त्वा विद्युदिवाकाशे सादर्शनमुपेयुषी ॥ २६ ॥
वित्तं प्राप्य परं शक्रो मुमुदे विगतज्वरः ।

नारद जी ने कहा—यह लक्ष्मीतन्त्र परम रहस्य है । इसे अपात्र में कदापि न देवे । इतना कहकर भगवती आकाश में बिजली के समान अन्तर्द्धान हो गई । इधर इन्द्र भी महालक्ष्मी की कृपा से वित्त प्राप्त कर अत्यन्त प्रसन्न हो गए ॥ २६-२७- ॥

अत्रिः—

इत्युक्त्वा भगवान् भद्रे नारदो विरराम ह ॥ २७ ॥
पूजिता पुरुहूतेन सुभगा श्रीर्वरानने ।
इन्द्रोऽपि विस्मितः शश्वद्ब्रह्मणः सदनं ययौ ॥ २८ ॥

अत्रि ने कहा—हे भद्रे अनसूये ! इतना कहकर देवर्षि नारद विरत हो गए । हे वरानने ! इन्द्र के द्वारा सौभाग्यवती श्री महालक्ष्मी पूजित हुई । तदनन्तर इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न होकर ब्रह्मलोक चले गए ॥ -२७-२८ ॥

पृष्टश्च ब्रह्मणा तस्मै प्रोवाच विधिवत्तदा ।
ब्रह्मा प्रजापतिभ्यश्च पृष्टः प्रोवाच तत्त्ववित् ॥ २९ ॥

ब्रह्मा के द्वारा पूछे जाने पर उन्होंने लक्ष्मीतन्त्र को सविधि प्रतिपादित किया । तब तत्त्ववेत्ता ब्रह्मदेव ने प्रजापतियों द्वारा पूछे जाने पर उन्हें इस लक्ष्मीतन्त्र का उपदेश किया ॥ २९ ॥

मुनयो नारदेनाथ श्राविता मलयाचले ।
अङ्गिराः श्रावयामास पावकं तन्त्रमुत्तमम् ॥ ३० ॥

नारद ने इस लक्ष्मीतन्त्र को मलयाचल पर मुनियों को सुनाया । अङ्गिरा ने इस उत्तम तन्त्र को अग्नि से कहा था ॥ ३० ॥

कात्यायनं पावकश्च स च गौतममाश्रमे ।
गौतमोऽथ भरद्वाजं स च गर्गं महामुनिम् ॥ ३१ ॥

पावक ने कात्यायन को और कात्यायन ने अपने आश्रम में गौतम को, गौतम ने भारद्वाज को और भरद्वाज ने महामुनि गर्ग को इस लक्ष्मीतन्त्र को सुनाया था ॥ ३१ ॥

असितं देवलं गर्गो जैगीषव्यं मुनिं स च ।
स मुनिः श्रावयामास पितॄन् भेजेऽथ लोभजित् ॥ ३२ ॥

गर्ग ने असित देवल को, उन्होंने जैगीषव्य को, लाभ को जीतने वाले जैगीषव्य महामुनि ने पितरों को सुनाया था जिन्होंने उनकी बहुत सेवा की थी ॥ ३२ ॥

एकाञ्जनानामपिकोपितृ मानसी दुहिता च या।
सा सुतं श्रावयामास पाराशर्यं महामुनिम् ॥ ३३ ॥

पितरों की मानसी कन्या जिसे एकाञ्जना (काली सत्यवती) कहा जाता है, उसने पराशर से उत्पन्न अपने पुत्र वेदव्यास को इसे सुनाया था ॥ ३३ ॥

पाराशर्यः सुतं चापि शुकं योगिनमुत्तमम् ।
श्रावयामास च शुकः स्वर्भान्वाख्यं प्रजापतिम् ॥ ३४ ॥

पराशर पुत्र व्यास ने अपने योगी पुत्र शुकदेव को सुनाया था और शुकदेव ने स्वर्भानु नामक प्रजापति को सुनाया ॥ ३४ ॥

वसिष्ठोऽरुन्धतीं प्राज्ञां नारदस्य शशास सा ।
तन्त्रं लक्ष्म्यास्ततः प्रापुर्योगिनः कपिलादयः ॥ ३५ ॥

वशिष्ठ ने महा बुद्धिमती अरुन्धती को और उस अरुन्धती ने नारद को इस लक्ष्मीतन्त्र का उपदेश किया था । फिर उन नारद से कपिलादि योगियों ने इस लक्ष्मीतन्त्र को प्राप्त किया ॥ ३५ ॥

पार्वतीं श्रावयामास शङ्करश्चन्द्रशेखरः ।
हिरण्यगर्भो योगानां वक्ता चापि सरस्वतीम् ॥ ३६ ॥

चन्द्रशेखर सदाशिव ने इस तन्त्र को भगवती पार्वती को सुनाया था, योगों के वक्ता हिरण्यगर्भ ने सरस्वती को सुनाया था ॥ ३६ ॥

पतिव्रता हि या देव्यो देवब्रह्मर्षियोगिनाम् ।
तासां पारायणं शश्वल्लक्ष्मीतन्त्रमिति स्मृतम् ॥ ३७ ॥

देवर्षि एवं ब्रह्मर्षि और योगीजनों की पतिव्रतायें जितनी भी देवियाँ हैं उनका यह लक्ष्मीतन्त्र पारायण ही शाश्वत स्वरूप है ऐसा कहा जाता है ॥३७॥

सकाशाद्ब्रह्मणः श्रुत्वा मया ते कथितं बुधे ।
इष्टासि मे प्रिया चेति न किंचिदवशेषितम् ॥ ३८ ॥

हे बुद्धिमति अनसूये ! ब्रह्मा के द्वारा इस तन्त्र को सुनकर मैंने आपसे

कहा है । आप मेरी इष्ट हो एवं मेरी प्रिया भी हो, इसलिये कुछ शेष नहीं रखा सब कुछ विस्तारपूर्वक सुना दिया ॥ ३८ ॥

भूयस्त्वं शृणु संक्षेपमनसूयेऽनसूयया ।
श्रुत्वा च कुरु यत्नेन रक्ष चाप्यप्रमादिनी ॥ ३९ ॥

हे अनसूये ! फिर आप असूया रहित होकर संक्षेप में इस लक्ष्मीतन्त्र को सुनिए और सुनकर उसके अनुसार अनुष्ठान करे और प्रयत्नपूर्वक सावधानी से इसकी रक्षा करे ॥ ३९ ॥

लक्ष्मीनारायणाकारा भवित्री ते मनःस्थितिः ।
अपायान् सम्परित्यज्य पातकान् भवसागरे ॥ ४० ॥

ऐसा करने से आपकी मानसिक स्थिति लक्ष्मीनारायण के आकार की हो जायेगी । इस भवसागर में समस्त त्याज्य पापों का परित्याग करे ॥ ४० ॥

दैवाद्वा यदि वा मोहादपायस्य परिप्लवे ।
भजमाना तथा चैव लक्ष्मीनारायणावुभौ ॥ ४१ ॥
शश्वच्चाशु कृतान् सर्वानपायान् जहती स्वयम् ।
अलुब्धा करणे तेषां लोकसंग्रहणे रता ॥ ४२ ॥
आकिञ्चन्यं समारोप्य बुद्ध्यैव दृढया स्वयम् ।

अथवा यदि दैवी कारण वश, अथवा मोहवश, यदि आप अपाय (पाप) के चक्कर में पड़ भी जाओ तो भी आप शाश्वत् लक्ष्मीनारायण का भजन करते हुये निरन्तर तथा शीघ्रतापूर्वक अपने द्वारा किये गए स्वयं अपायों (पापों) का परित्याग करे । इस प्रकार जब आपकी रुचि उस प्रकार के पापों को करने में नहीं रहेगी, तब लोक संग्रह कार्य में लगकर आप अपनी दृढ़ बुद्धि से स्वयं अपने में इस प्रकार के अकिश्चन्य (दैन्य) का आरोप करे ॥ ४१-४३- ॥

सर्वदा सर्वदेशेषु सर्वावस्थासु सर्वथा ॥ ४३ ॥
रक्षिष्यति हरिः श्रीमानाश्रितानिति निश्चयात् ।
आत्मात्मीयं परं सर्वं निक्षिप्य श्रीपतेः पदे ॥ ४४ ॥

'सर्वदा सभी देश में सभी अवस्थाओं में सर्वथा श्रीमान् हरि हमारी रक्षा करेंगें' इस प्रकार के दैन्य भाव के निश्चय से अपने को तथा अपने से सम्बन्ध रखने वाले सभी को भगवान् के श्री चरणों में समर्पित कर दो ॥ -४३-४४ ॥

उपायं वृणु लक्ष्मीशं तमुपेयं विचिन्तय ।

इति ते सकलं भद्रे शास्त्रशास्त्रार्थतत्फलम् ॥ ४५ ॥

दर्शितं परमं तत्त्वं सावधानेन चेतसा ।
सरहस्यं ससंक्षेपं लक्ष्मीतन्त्रमिदं परम् ॥ ४६ ॥

लक्ष्मीनारायण को अपने उपाय स्वरूप में वरण करे । उन उपेय लक्ष्मीनारायण का स्मरण करे । हे भद्रे ! इस प्रकार हमने शास्त्र, शास्त्रार्थ और शास्त्र का सारा फल, जो परम तत्त्व स्वरूप है, उस लक्ष्मीतन्त्र को रहस्य के सहित संक्षेप में सावधान चित्त होकर आपको सुनाया ॥ ४५-४६ ॥

नावासुदेवभक्ताय त्वया देयं कथञ्चन ।
लक्ष्मीर्लक्ष्मीपतिश्चैव चेतसोऽनपगामिनौ ॥ ४७ ॥
यस्य तस्मै त्वया वाच्यं यत्तदेतदनुत्तमम् ।
नास्तिकानां समीपे तु नैवाध्येयमिदं भवेत् ॥ ४८ ॥

लक्ष्मीतन्त्र का अधिकारी—यह लक्ष्मीतन्त्र जो वासुदेव का भक्त नहीं है उसे किसी प्रकार आप को नहीं देना चाहिए । लक्ष्मी और लक्ष्मीपति जिसके चित्त से कभी दूर न होते हों ऐसे विष्णु भक्त को इस सर्वश्रेष्ठ लक्ष्मीतन्त्र का उपदेश करना चाहिए । नास्तिकों के समीप तो इस लक्ष्मीतन्त्र का अध्ययन भी कदापि नहीं करना चाहिये ॥ ४७-४८ ॥

नाव्रतस्नायिनां तद्वन्न मातापितृविद्विषाम् ।
नानाशास्त्रद्विषां चैव न गुरुद्वेषिणां तथा ॥ ४९ ॥
दाम्पत्यविद्विषां चैव वनिताविद्विषां तथा ।

जो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन बिना किये स्नातक बना हो उसे तथा माता-पिता से विद्वेष करने वाले को इस लक्ष्मीतन्त्र का उपदेश नहीं करना चाहिये । इसी प्रकार शास्त्र से विद्वेष करने वालों को, गुरु से विद्वोष करने वालों को, दाम्पत्य में विद्वेष करने वालों को, स्त्री से विद्वेष करने वालों को, इस लक्ष्मीतन्त्र का उपदेश नहीं करना चाहिये ॥ ४९-५०- ॥

यो हि वेदव्रतस्नातो मातापितृगुरुप्रियः ॥ ५० ॥
अनिन्दकश्च शास्त्राणां परापरविधानवित् ।
आस्तिकः श्रद्दधानश्च लक्ष्मीलक्ष्मीपतिप्रियः ॥ ५१ ॥

जो वेदव्रत का पालन कर स्नातक हुआ है, माता-पिता और गुरुजनों से प्रेम करने वाला है, शास्त्र की निन्दा नहीं करने वाला है, पर और अपर विधान का वेत्ता है, आस्तिक और श्रद्धालु है तथा लक्ष्मी और लक्ष्मीपति का प्रिय है ॥ -५०-५१ ॥

क्रियायशविभागस्तन्त्रान्तरविधानवित् ।

साङ्गयोगविधानज्ञः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित् ॥ ५२ ॥

क्रिया यज्ञ के विभाग का ज्ञाता, अन्य तन्त्रों के विधान का वेत्ता, अङ्ग सहित समस्त योगों के विधान का जानकार तथा जो सर्वशास्त्रार्थ के तत्त्व का वेत्ता है उसे लक्ष्मीतन्त्र का उपदेश करना चाहिये ॥ ५२ ॥

वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो वेत्ता पशुपतेर्मतम् ।
ऊहापोहविधानज्ञो मानतर्कपदार्थवित् ॥ ५३ ॥
सर्वाध्यात्मिकशास्त्रार्थतत्त्ववित् प्राप्तुमर्हति ।
ॐ नमो वासुदेवाय तस्मै श्रीर्यस्य सा प्रिया ॥ ५४ ॥

जो वेद वेदाङ्ग का तत्त्वज्ञ, पाशुपत मत का ज्ञाता, ऊहापोह के विधान का जानकार तथा प्रमाण और तर्क के अनुसार पदार्थ का वेत्ता है और जो समस्त आध्यात्मिक शास्त्रार्थ के तत्त्व का वेत्ता है वही इस लक्ष्मीतन्त्र के प्राप्ति का अधिकारी है । हम ॐकार स्वरूप उन वासुदेव को नमस्कार करते हैं जिनको लक्ष्मी अत्यन्त प्रिय है ॥ ५३-५४ ॥

ॐ नमो विष्णुपत्न्यै च यस्या नारायणः प्रियः ।
नमो नित्यानवद्याय जगतः सर्वहितवे ।
ज्ञानाय निस्तरङ्गाय लक्ष्मीनारायणात्मने ॥ ५५ ॥

॥ इति श्रीपाञ्चरात्रसारे लक्ष्मीतन्त्रोद्धारे (तन्त्रार्थसंग्रहे) रहस्यशास्त्रार्थसारो नाम सप्तपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

...✿...

ॐकार स्वरूपा उन विष्णुपत्नी को नमस्कार है जिनको नारायण अत्यन्त प्रिय हैं । उन नित्य एवं अनवद्य (पापरहित) लक्ष्मीनारायण को नमस्कार है जो जगत् के सब प्रकार से हेतु हैं और सर्वथा चाञ्चल्यरहित (नित्य) ज्ञान के स्वरूप हैं ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीपाञ्चरात्र सार रूप लक्ष्मीतन्त्रोद्धार के तन्त्रार्थसंग्रह में सत्तावनवें अध्याय की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सुधा' नामक हिन्दी टीका समाप्त हुई ॥ ५७ ॥

...✿...

परिशिष्ट (क)

लक्ष्मीतन्त्रान्तर्गत वैदिक मन्त्र विधान

लक्ष्मीतन्त्र में वैदिक मन्त्रों का भी प्रयोग वर्णित है जो निम्न रूप से यहाँ संग्रहीत हैं—

				अ०	श्लोक
अथर्ववेद	६.११५.३	द्रुपदादिव	लक्ष्मीतन्त्र	४२	११-१४
ऋग्वेद	१.२२.२०		लक्ष्मीतन्त्र	२	
ऋग्वेद	२.१.१३		लक्ष्मीतन्त्र	२९	
ऋग्वेद	२.४२.		लक्ष्मीतन्त्र	२४	
ऋग्वेद	३.६२.१०	गायत्रीमन्त्र	लक्ष्मीतन्त्र	४२	
ऋग्वेद	३.६२.१०		लक्ष्मीतन्त्र	२९	२७-३०
ऋग्वेद	६.६१		लक्ष्मीतन्त्र	४९	
ऋग्वेद	१०.९०.१	ऋतञ्च सत्यञ्च	लक्ष्मीतन्त्र	२९	
ऋग्वेद	१०.९०.१		लक्ष्मीतन्त्र	३६	
ऋग्वेद	१०.१९०.१	आपो हि ष्ठा	लक्ष्मीतन्त्र	४२	११-१४
ऋग्वेद	१०.१९०.१		लक्ष्मीतन्त्र	४९	
ऋग्वेद खिल	५.८७		लक्ष्मीतन्त्र	२९	
ऋग्वेद खिल	५.८७		लक्ष्मीतन्त्र	३६	
ऋग्वेद खिल	५.८७		लक्ष्मीतन्त्र	४९,५०	
तै०ब्रा०	२.६.५.३		लक्ष्मीतन्त्र	४९	
तै०ब्रा०	२.७.१५.५		लक्ष्मीतन्त्र	४९	
तै०आ०	१.१०.१		लक्ष्मीतन्त्र	२९	
तै०आ०	३.२.११		लक्ष्मीतन्त्र	२९	
तै०आ०	४.५.		लक्ष्मीतन्त्र	२९	
तै०आ०	१०.१५.१		लक्ष्मीतन्त्र	२९	

तान्त्रिक अघमर्षण मन्त्र का प्रयोग वैदिक अघमर्षण मन्त्र से कुछ भिन्न है। इसमें हं यं रं लं वं ये बीज तीन बार पढ़े जाते हैं। फिर तत्त्व मुद्रा भी प्रदर्शित करते हैं। वाचस्पत्यम् में इसे देखना चाहिये।
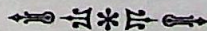
परिशिष्ट (ख)

लक्ष्मीतन्त्र का मन्त्र विधान

१.	**वैष्णवमन्त्र या व्यापकमन्त्र** (अ०२४।३६)	'ॐ'
२.	**षडक्षरमन्त्र**	ॐ नमो विष्णवे ।
३.	**अष्टाक्षर मन्त्र**	ॐ नमो नारायणाय ।
४.	**द्वादशाक्षर मन्त्र**	ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।
५.	**ओम् का पदमन्त्र**— (अ०२४।३६)	ॐ जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन । नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुष पूर्वज ॥
६.	**प्रासादमन्त्र** (अ० १८)	ॐ हौं ।
७.	**हंसमन्त्र** (अ० २४)	ॐ नमो हंसाय स्वाहा वौषट् हुँ फट् ।
८.	**नारायणमूर्तिमन्त्र** (अ० २१)	ॐ क्षिं क्षिः नमः नारायणाय विश्वात्मने ह्रीं स्वाहा ।
९.	**विष्णुगायत्री**	ॐ नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि । तन्नो विष्णुः प्रचोदयात् ।
१०.	**अजपामन्त्र** (अ० ३०)	सोऽहं ।
११.	**सुदर्शनमन्त्र** (अ० २९-३१)	

१.	सुदर्शनबीजमन्त्र	सहस्रार ईं ।
२.	सुदर्शनपिण्डमन्त्र	सहस्रार ।
३.	सुदर्शनअष्टाक्षरमन्त्र	ॐ सहस्रार हुँ फट् ।
४.	सुदर्शनसमज्ञामन्त्र	ॐ सं हं श्रं रं हुं फट् ।
५.	सुदर्शनपदमन्त्र	ॐ व्रः क्रः फट् हुं फट् फट् फट् कालचक्राय स्वाहा ।
६.	प्रवर्तकाग्निपिण्डमन्त्र	ॐ ग्रुँ ।
७.	निवर्तकाग्निपिण्डमन्त्र	ॐ व्रुं ।
८.	सुदर्शनगायत्रीमन्त्र	ॐ नमश्चक्राय विद्महे सहस्रज्वालाय धीमहि । तन्नो चक्रः प्रचोदयात् ।

९. शक्तिग्रासमन्त्र — ॐ प्रं महासुदर्शन चक्रराज महाधुग अस्तगतसर्वदुष्टभयङ्कर छिन्धि छिन्धि भिन्धि भिन्धि विदार्य विदार्य परमन्त्रान् ग्रस ग्रस भक्षय भक्षय भूतानि त्रासय त्रासय हुं फट् स्वाहा ।

१२. छः प्रधान बीजमन्त्र (प्रणव के अतिरिक्त अ० २६, २७)

ताराबीजमन्त्र	ह्रीं
अनुताराबीजमन्त्र	त्रीं
वाग्भवाबीजमन्त्र	ऐं
कामबीजमन्त्र	क्लीं
सरस्वतीबीजमन्त्र	औः
महालक्ष्मीबीजमन्त्र	क्ष्म्रीं

ये मन्त्र लक्ष्मी एवं नारायण की पूजा में प्रयुक्त होते हैं (अ० ३३,३८)

१३. (क) ताराअङ्गमन्त्र (अ० ३३)—

१. हृन्मन्त्र	ॐ ह्रां ज्ञानाय हृदयाय नमः ।
२. शिरोमन्त्र	ॐ ह्रीं ऐश्वर्याय शिरसे स्वाहा ।
३. शिखामन्त्र	ॐ ह्रूं शक्तये शिखायै वौषट् ।
४. कवचमन्त्र	ॐ ह्रैं बलाय कवचाय हुं ।
५. नेत्रमन्त्र	ॐ ह्रौं तेजसे नेत्राभ्यां वौषट् ।
६. अस्त्रमन्त्र	ॐ ह्रः वीर्याय अस्त्राय फट् ।

(ख) तारा उपाङ्ग मन्त्र—

१. ॐ ह्रीं ज्ञानाय उदानाय नमः ।
२. ॐ ह्रीं शक्तये पृष्ठाय नमः ।
३. ॐ ह्रीं बलाय बाहुभ्यां नमः ।
४. ॐ ह्रीं ऐश्वर्यायां ऊरुभ्यां नमः ।
५. ॐ ह्रीं वीर्याय जानुभ्यां नमः ।
६. ॐ ह्रीं तेजसे चरणाभ्यां नमः ।

१४. आभूषण एवं आयुध के मन्त्र—

१. कौस्तुभमन्त्र	ॐ ठं ह्रूं ठं नमः प्रभात्मने कौस्तुभाय स्वाहा ।
२. वनमालामन्त्र	ॐ ल्भ्वीं नमः स्थलजलोद्भूतभूषिते वनमाले स्वाहा ।
३. श्रीनिवासपद्ममन्त्र	ॐ ब्सुं नमः श्रीनिवासपद्माय स्वाहा ।
४. पाशमन्त्र	ॐ प्रां कस्थ कस्थ ठठ वरपाशाय स्वाहा ।

५. अङ्कुशमन्त्र ॐ ळं क्रं निशितघोणाय अङ्कुशाय स्वाहा ।

१५. छः आधार मन्त्र (अ० ३३. २९-३९)—

१. ॐ ह्रीं आधारशक्त्यै नमः ।

२. ॐ ह्रूं कालाग्निकूर्माय नमः ।

३. ॐ ह्रां अनन्ताय नमः ।

४. ॐ क्ष्म्लां वसुधायै नमः ।

५. ॐ स्वां क्षीरार्णवाय नमः ।

६. ॐ पु. आधारपद्माय नमः ।

१६. सोलह आधारेशमन्त्र (३३.४०-४३)—

१. ॐ धृं धर्माय नमः ।	१. ॐ जृं अधर्माय नमः ।
२. ॐ धृं ज्ञानाय नमः ।	२. ॐ जृं अज्ञानाय नमः ।
३. ॐ ध्लृं वैराग्याय नमः ।	३. ॐ ज्लृं अवैराग्याय नमः।
४. ॐ ध्लृं ऐश्वर्याय नमः ।	४. ॐ ज्लृं अनैश्वर्याय नमः ।
१. ॐ वृं ऋचे नमः ।	१. ॐ लृं कृताय नमः ।
२. ॐ वृं यजुषे नमः ।	२. ॐ लृं त्रेताय नमः ।
३. ॐ व्लृं सामाय नमः ।	३. ॐ ल्लृं द्वापराय नमः ।
४. ॐ व्लृं अथर्वाय नमः ।	४. ॐ ल्लृं कलियुगाय नमः ।

१७. अव्यक्तपद्ममन्त्र (अ० ३३-४५-४८)—ॐ ब्सुं अव्यक्तपद्माय नमः ।

१८. मण्डलत्रयमन्त्र—

१. सूर्यमण्डल मन्त्र ॐ सूर्यमण्डलाय नमः ।

२. इन्दुमण्डल मन्त्र ॐ इन्दुमण्डलाय नमः ।

३. अग्निमण्डल मन्त्र ॐ अग्निमण्डलाय नमः ।

१९. चिद्भासनमन्त्र— अहं सः ।

२०. क्षेत्रपालमन्त्र (अ० ३३.४९-६०)—

१. ॐ क्ष्रां क्षेत्रयालाय नमः ।

२. ॐ श्रीं श्रियै नमः ।

३. ॐ च्रों चण्डाय नमः ।

४. ॐ प्रों प्रचण्डाय नमः ।

५. ॐ ज्रों जयाय नमः ।

६. ॐ व्रों विजयाय नमः ।

७. ॐ ग्रीं गङ्गायै नमः ।

८. ॐ श्रीं यमुनायै नमः ।

९. ॐ श्रूं शङ्खनिधये नमः ।
१०. ॐ प्रूं पद्मनिधये नमः ।

२१. **गणेशमन्त्र**—ॐ गूं गणपतये नमः ।
गणेश के **अङ्ग मन्त्र**—
१. ॐ गां हृदयाय नमः ।
२. ॐ गीं शिरसे नमः ।
३. ॐ गूं शिखायै वौषट् ।
४. ॐ गैं कवचाय हुं ।
५. ॐ गौं नेत्राय वौषट् ।
६. ॐ गः अस्त्राय फट् ।

२२. **वागीश्वरीमन्त्र** (अ० ३३.६४-६८) — ॐ क्ष्रीं ह्रीं स्र्यां स्र्यां अ—क्ष (अकारादि-क्षकारान्ता वर्णाः) वागीश्वर्यै नमः ।
वागीश्वरी अङ्गमन्त्र (अ० ३३.६९-७०) — ॐ स्र्यां हृदयाय नमः ।

२३. **गुरुमन्त्र**— ॐ ॐ ॐ गुं गुरवे नमः ।
परमगुरुमन्त्र— ॐ ॐ ॐ पं परमगुरवे नमः ।
परमेष्ठीगुरुमन्त्र— ॐ ॐ ॐ पां परमेष्ठिने नमः ।

२४. **पितृमन्त्र**— ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ श्रूं स्वधा पितृभ्यो नमः ।

२५. **आदिसिद्धमन्त्र**— ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ आदिसिद्धेभ्यो नमः ।

२६. **लोकेशमन्त्र** (अ० ३३.७८-८८) — ॐ ह्लां इन्द्राय नमः
लोकेशआयुधमन्त्र (अ० ३३.८९-९८) —
ॐ ज्र्रूः कुलिशाय नमः
ॐ ज्र्रीः शक्तये नमः
ॐ ड्मूः दण्डाय नमः
ॐ ट्म्रूः खड्गाय नमः
ॐ ट्शाः पाशाय नमः
ॐ ज्वाः ध्वजाय नमः
ॐ ह्रूः मुसलाय नमः
ॐ र्जूः शूलाय नमः
ॐ क्रोः सीराय नमः
ॐ न्वाः पद्माय नमः

२७. विश्वक्सेन मन्त्र— ॐ ह्रूँ वौं ज्ञानदाय नमः ।

१. सुरभिमन्त्र ॐ स्वीं सुरभ्यै नमः

२. आवाहनमन्त्र ॐ ॐ ह्रीं ह्रीं परमधामावस्थिते मदनुग्रहाभियोगोद्यते इहावतरेहाभिमतसिद्धिदे मन्त्रशरीरे ॐ ह्रीं नमो नमः

३. अर्घ्यमन्त्र ॐ ह्रीं हं हं हं ह्रीं ह्रीं ह्रीं इदमिदमिदमर्घ्यं गृहाण स्वाहा

४. प्रसादनमन्त्र ॐ ईं ह्रीं ईं हंसपरे परमेशे प्रसीद ॐ ह्रीं नमः

५. विसर्जनमन्त्र ॐ ह्रीं भगवति मन्त्रमूर्ते स्वपदं समासादय समासादय क्षमस्व क्षमस्व ॐ ह्रीं नमो नमः

२८. तारा पद मन्त्र—

ॐ ३, ह्रीं ३, श्रीं ३, ॐ, आं ३, हौं ३, हंसः ३, ॐ ह्रीं श्रीं नमो विष्णवे । ॐ ह्रीं श्रीं नमो नारायणाय । ॐ ह्रीं श्रीं नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ ह्रीं श्रीं,

जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन ।
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुष पूर्वज ॥

ॐ ह्रीं श्रीं भगवन् विष्णो नारायण वासुदेव पुण्डरीकाक्ष लक्ष्मीपते पुरुषोत्तम जगदादे जगन्मध्य जगन्निधन श्रीनिवास भगवन्तमभिगच्छामि । भगवन्तं प्रपद्ये । भगवन्तं गतोऽस्मि । भगवन्तमभ्यर्थये । भगवदनुध्यातोऽहम् । भगवत्परिकरभूतोऽहम् । भगवदनुज्ञातोऽहम् । भगवति सृष्टोऽहम् । भगवत् प्रसादात् भगवन्मयीं भगवतीं तारिकामयीं लक्ष्मीं पदैरावर्तयिष्यामि । तद्यथा—ॐ श्रीं ह्रीं गुरुभ्यो गुरुपत्नीभ्यः । ॐ श्रीं ह्रीं परमगुरुभ्यः परमगुरुपत्नीभ्यः । ॐ ह्रीं श्रीं परमेष्ठिने परमेष्ठिन्यै । ॐ ह्रीं श्रीं पूर्वसिद्धेभ्यः पूर्वसिद्धाभ्यः । ॐ ह्रीं श्रीं लक्ष्मीयोगिभ्यो लक्ष्मीयोगिनीभ्यो नमो नमः ।

ॐ ह्रीं श्रीं ईं नमः संसिद्धिसमृद्ध्यादिप्रदायै परमैकरस्यायै परमहंसि समस्तजनवाङ्मनसस्वात्मातिवर्तिन्यै निरारम्भस्तिमितनिरञ्जनपरमानन्दसंदोहमहार्णवस्वरूपे परपरायै विष्णुविष्णुपत्न्यै विविष्णु ईं स्वाहा ।

ॐ ह्रीं श्रीं ईं नमो निरन्तरप्रथमानप्रथमसामरस्यायै स्वस्वातन्त्र्यसमुन्मिषित-

निमिषोन्मेषपरंपरारम्भे स्वच्छन्दस्पन्दमानविज्ञानवारिधये परसूक्ष्मायै विष्णुपत्न्यै मायायै ईं स्वाहा ।

ॐ श्रीं ह्रीं श्रीं ईं नमः स्वसंकल्पबलसमुन्मीलितभगवद्व्याप्तिभावस्वभावे स्वेच्छावेशविजृम्भमाणसत्ताविभूतिमूर्तिकारचतुरगुणग्रामयुगत्रिकमहोर्मिजालायै विष्णुपत्न्यै पञ्चबिन्दवे ईं स्वाहा ।

ॐ ह्रीं श्रीं हिं हिं हिं नमो नित्योदितमहानन्दपरमसुन्दरभगवद्विग्रहप्रकाशे विविधसिद्धाञ्जनास्पदे षाड्गुण्यप्रसरमयपरमसत्त्वरूपपरमव्योमप्रभावे विचित्रानन्दनिर्मल-सुन्दरभोगजालप्रकारपरिणामप्रवीणस्वभावायै परमसूक्ष्मस्थूलरूपसूक्ष्मायै विष्णुपत्न्यै पञ्चबिन्दवे हिं हिं हिं स्वाहा ।

ॐ ह्रीं श्रीं आं ह्रीं ह्रीं ह्रीं नमः स्वसंकल्पसमीरणसमीर्यमाणबहुविधजीव-कोशदृषत्पुञ्जायै कलितकालकाल्यविकल्पभेदफेनपिण्डनिवहायै विलासनिदर्शितभोक्तृ-भोग्यभोगोपकरणभोगसंपदेकमहासिन्धवे परमसूक्ष्मस्थूलरूपस्थूलायै विष्णुपत्न्यै पञ्च-बिन्दवे ह्रीं ह्रीं ह्रीं स्वाहा ।

ॐ ह्रीं श्रीं नमः समस्तजगदुपकारस्वीकृतबुद्धिमनोऽङ्गप्रत्यङ्गसुन्दरायै विधा-चतुष्टयसमुन्मेषितसमस्तजनलक्ष्मीकीर्तिजयामायाप्रभावात्मसमस्तसंपदेकनिधये समस्त-शक्तिचक्रसूत्रधारायै समस्तजनभोगसौभाग्यदायिनि विविधविषयोपपल्वप्रशमनि नारायणाङ्कस्थितायै ॐ ह्रीं श्रीं नमो नारायणाय लक्ष्मीनारायणाभ्यां स्वाहा । श्रीं ह्रीं ॐ ।

२८. गरुड मन्त्र— ॐ खं खगानन्दाय नमः ।

इसी प्रकार मातृकापीठ पर मन्त्रमातृका (अ. २३) ॐ ह्रीं नमः । मन्त्रमातृका के लिए उपचार मन्त्र—ॐ नमो मन्त्र मातृके इदं अर्घ्यं गृहाण । मन्त्रमातृका का प्रणाम मन्त्र—ॐ पद्मस्थे पद्मनिलये पद्मे पद्माक्षवल्लभे सर्व-तत्त्वकृताधारे मन्त्राणां जननी ईश्वरी व्याकुरु त्वं परं दिव्यं रूपं लक्ष्मीमयं मम ।

नित्यपूजा के लिए मन्त्रों को अट्ठाइस एवं तीस अध्याय में देखना चाहिए । भूतशुद्धि के लिए पैंतीसवें अध्याय में मन्त्र है । इसी अध्याय में दस प्रकृति मन्त्र हैं, दस (प्रकृति) शक्ति के मन्त्र, शक्तियों के दस गन्ध रसादि मन्त्र, दाहक मन्त्र, प्लावक मन्त्र और हस्तन्यास मन्त्र है । आवाहन मन्त्र अर्घ्य मन्त्र प्रसादन मन्त्र और विसर्जन मन्त्र के लिए अध्याय ३३, ३७ और ३८ देखना चाहिए । छत्तीस अध्याय में नारायण आवाहन मन्त्र और अन्य उपचार मन्त्र भी हैं । सत्रहवें अध्याय में पञ्चोपनिषद् मन्त्र, उन्तीसवें में गायत्री शिरः

मन्त्र, चालिसवें अध्याय में बोधन मन्त्र, तारिका विद्या के ध्यान में प्रयुक्त अन्य तारिका मन्त्र, तारिका मूर्ति मन्त्रों को देखना चाहिए । यहीं पर तारा पद मन्त्र है जो अधिक बड़ा है । तारिका अंग मन्त्र, तारिका परिवार मन्त्र । महालक्ष्मी मन्त्र, लक्ष्मी का मूर्ति मन्त्र—ॐ ह्रीं लक्ष्म्यै नमः परमलक्ष्मावस्थितायै ह्रीं श्रीं ह्रीं स्वाहा । लक्ष्मी अंग मन्त्र, लक्ष्मी की सखियों के मन्त्र, लक्ष्मी के अनुचरों के मन्त्र । कीर्ति का मूर्ति मन्त्र—ॐ ह्रीं क्लीं त्रैं कीर्त्यै नमः सदोनन्दितान्दविग्रहाय क्लीं ह्रीं स्वाहा । कीर्ति के अंग मन्त्र, कीर्ति के सखियों के मन्त्र, कीर्ति के अनुचरों के मन्त्र हैं । जया का मूर्ति मन्त्र—ॐ ह्रीं जयायै ॐ नमः अजितधामावस्थितायै ह्रीं ज्रीं स्वाहा । जया अंग मन्त्र—जया की सखी का मन्त्र, जया के अनुचर-मन्त्र । माया का मूर्ति मन्त्र—ॐ ह्रीं मायायै नमः मोहातीतनामाश्रितायै ह्री म्रीं स्वाहा । माया के अंग मन्त्र, माया के सखी का मन्त्र, माया के अनुचर का मन्त्र, श्रीसूक्त समूह मन्त्र ५०वें अध्याय में देखना चाहिए ।

श्लोकार्धानुक्रमणिका

अ

य

व

चक्राब्ज-मण्डलम्

नव-पद्म-मण्डलम्

पूजित देवताओं की सूची

१. लक्ष्मी-नारायण (नारायण की गोद में लक्ष्मी विराजमान हैं)	५. माया	१२. विभीषिका	१९. वरुण
२. लक्ष्मी (शक्ति)	६. हृदय	१३. शंकरी	२०. वायु
३. कीर्त्ति	७. शिर	१४. गरुड	२१. सोम
४. जया	८. शिखा	१५. इन्द्र	२२. ईशान
	९. वर्ण	१६. अग्नि	२३. विष्वक्सेन
	१०. बलाकिका	१७. यम	
	११. वर्णमालिका	१८. नैर्ऋत्य	

नव-नाभ-मण्डलम्

पूर्व
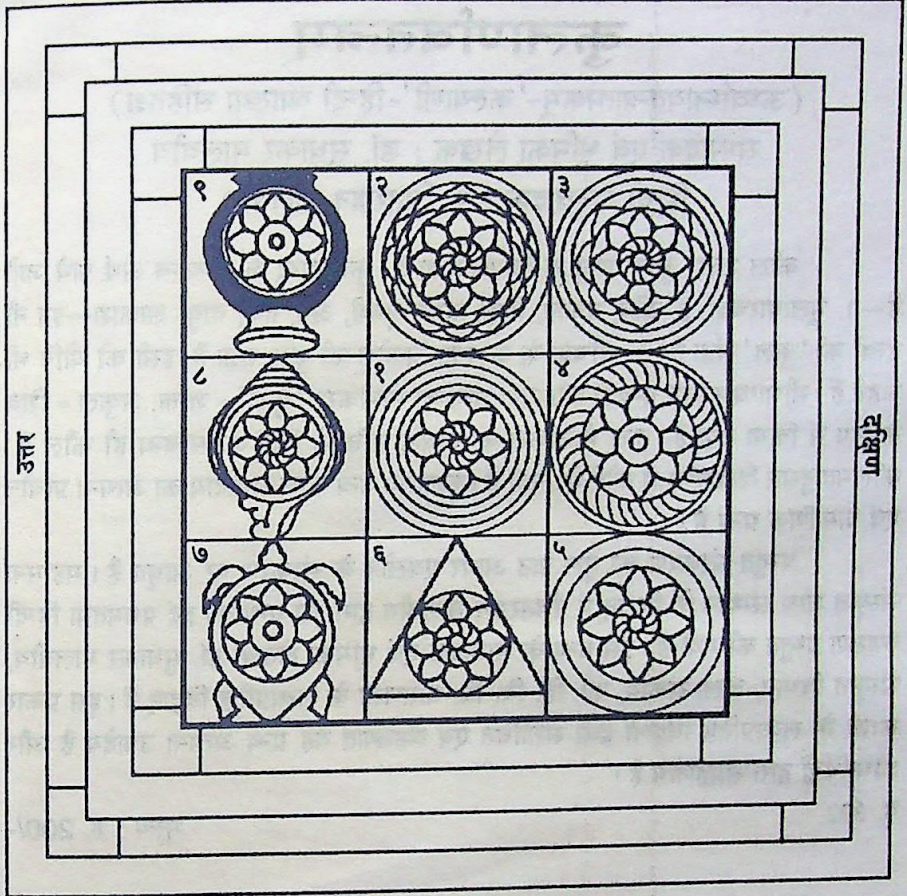
पश्चिम

	चक्र का नाम		पूजित देवता का नाम
१.	वृत्त बिम्ब	—	वासुदेव का स्थान
२.	पद्ममाला बिम्ब	—	संकर्षण का स्थान
३.	चक्र बिम्ब	—	प्रद्युम्न का स्थान
४.	सूर्य बिम्ब	—	अनिरुद्ध का स्थान
५.	चन्द्र बिम्ब	—	नारायण का स्थान
६.	त्रिकोण बिम्ब	—	विराट् का स्थान
७.	कूर्म बिम्ब	—	विष्णु का स्थान
८.	शंख बिम्ब	—	नरसिंह का स्थान
९.	कैलास बिम्ब	—	वाराह का स्थान

कुलार्णवतन्त्रम्

(ऊर्ध्वाम्नायतन्त्रात्मकम्-'कल्याणी'-हिन्दी व्याख्या सहितश्च)

सम्पादक एवं भूमिका लेखक : डॉ. सुधाकर मालवीय

हिन्दी अनुवादक : पं. चितरञ्जन मालवीय

कौल शब्द 'कुल' शब्द से निष्पन्न होता है। कुल शब्द के अन्यान्य अर्थ पाये जाते हैं—1. मूलाधारचक्र, 2. जीव, प्रकृति, दिक्, काल, पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश—इन नौ तत्त्वों की 'कुल' संज्ञा है। ३. श्रीचक्र के अन्तर्गत त्रिकोण की कुल संज्ञा है, इसी को योनि भी कहते हैं। सौभाग्यभास्कर ग्रन्थ में कौलमार्ग शब्द का स्पष्टीकरण 'कुल' = शक्ति, अकुल = शिव के रूप में किया गया है। कुल से अकुल का अर्थात् शक्ति से शिव का सम्बन्ध ही कौल है। कौलमतानुसार शिवशक्ति में कोई भेद नहीं है। कुलार्णव तन्त्र कौल सम्प्रदाय का अत्यन्त प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है।

प्रस्तुत संस्करण का मूल पाठ आर्थर एवलोन के संस्करण पर आधृत है। महामना संस्कृत शोध संस्थान के विद्वान् पं. चितरञ्जन मालवीय द्वारा इस ग्रन्थ की इदं प्रथमतया हिन्दी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। इस ग्रन्थ के सम्पादक एवं भूमिका लेखक डॉ. सुधाकर मालवीय, संस्कृत विभाग, कला संकाय, का. हि. वि. वि. वाराणसी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं। इस प्रकार काशी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों द्वारा संशोधित एवं व्याख्यात यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है और शोधार्थियों द्वारा संग्रहणीय है।

पृ. 392 मूल्य : रु. 200/-

लक्ष्मीतन्त्रम्

पाञ्चरात्र सार रूप **लक्ष्मीतन्त्र** आगमशास्त्र का अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है। लक्ष्मीतन्त्र के सत्तावन अध्यायों में मुख्यतः लक्ष्मी का महात्म्य ही प्रतिपादित है। लक्ष्मी भगवान विष्णु की शक्ति होने से उनके समकक्ष ही नहीं बल्कि उनसे भी अधिक हैं। आगम की प्राच्यपरम्परानुसार लक्ष्मी विष्णु की प्रकृति हैं और दिव्य शक्ति है। वह विष्णु के छः रूपों में प्रकट होती है-१. ज्ञान (Knowledge), २. ऐश्वर्य (Sovereignty), ३. शक्ति (Potency), ४. बल (Strength), ५. (Virility), ६. तेजस् (Splendour).

परा और अपरा शक्ति से ही विश्व का निर्माण हुआ है। श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और पाञ्चरात्र आगम के अनुसार परमात्मा की तीन शक्तियाँ हैं-श्रीदेवी, भूदेवी और नीला देवी। ये तीनों देवियाँ शील, शक्ति और सौन्दर्य की प्रतीक हैं। ऋगवेद के दशम मण्डल एवं शुक्ल यजुर्वेद में **पुरुष सूक्त, श्रीसूक्त, भूसूक्त तथा नीलासूक्त** आए हैं।

लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार ऋगवेद के **पुरुषसूक्त** एवं **श्रीसूक्त** की उत्पत्ति क्रमशः विष्णु एवं लक्ष्मी के द्वारा बताई गई है। षडैश्वर्य सम्पन्न भगवान् नारायण, जो समस्त जगत् की आत्मा है और उनकी शाश्वत् शक्ति ने शब्दब्रह्म का मन्थन कर समाधि की अवस्था में दो सुक्तों की प्राप्ति की। इस शब्दब्रह्म के मन्थन से विष्णु भगवान ने पुरुषसूक्त की प्राप्ति की तथा लक्ष्मी ने श्रीसूक्त को अपनाया।

महालक्ष्मी को देवियों में सबसे प्रधान माना जाता है। देव्यथर्वशीर्ष उपनिषद् मे **'महालक्ष्म्यै च विद्महे सर्वशक्त्यै च धीमाहि। तन्नो देवी प्रचोदयात्'** कहा गया है और देवी आराधना का प्रधान ग्रन्थ **'दुर्गा-सप्तशति'** भी **'सर्वस्याद्या महालक्ष्मी'** आदि नामों में इन्हीं को मुल प्रकृति मानता है।

भगवती की विधिवत् आराधना से जीवन का चरम उत्कर्ष उपलब्ध होता है। इस विधिवत् आराधना की प्रक्रिया ही पाञ्चरात्र आगमगत लक्ष्मीतन्त्र में प्रस्तुत है।

अपरं च प्राप्तिस्थानम्
चौखम्बा कृष्णदास अकादमी
पोस्ट बॉक्स नं० १११८
के. ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास
वाराणसी - २२१००१ (भारत)
फोन : २३३
e-mail: cssoffice @ satyam.net.in

Cover Designed By Pratyush Chatterjee

ISBN: 81-7080-119-2

Rs. 450/-